प्रकाशक : हिंदी साहित्य भंडार,
गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ

मुद्रक : नव भारत प्रेस, लखनऊ

मूल्य : बीस रुपए

डॉ. दीनदयालु गुप्त को

सादर, सविनय

निवेदन

हिंदी के कृष्णभक्त कवियो मे सूरदास सर्वश्रेष्ठ है और हिंदी के समस्त कवियों मे केवल गोस्वामी तुलसीदास ही उनके समकक्ष माने जाते हैं। इन्ही महाकवि सूरदास की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत प्रबध मे किया गया है। यद्यपि पिछले लगभग पद्रह वर्षो मे सूर-साहित्य पर कई आलोचनात्मक ग्रथ लिखे जा चुके है तथापि उनके काव्य के अनेक पक्षो को विस्तार से लिखने की आवश्यकता अभी बनी ही हुई है। प्रस्तुत प्रबध सूरदास की भाषा के अध्ययन की दिशा मे एक प्रयास है। सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम प्रतिष्ठित कवि हैं—ऐसी स्थिति मे उनकी भाषा के अध्ययन की उपयोगिता और भी बढ जाती है।

यह प्रबध सात अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश के रूप मे है। इसमे ब्रजभाषा और सूरदास की भाषा के अध्ययन के इतिहास की रूपरेखा दी गयी है। इसके आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज के पूर्व सूरदास की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन नही किया गया था और इस दिशा मे प्रस्तुत प्रबध सर्वथा मौलिक प्रयास है। इस प्रकार का अध्ययन न किये जाने के कारणो पर सक्षेप मे विचार करने के पश्चात्, प्रथम अध्याय मे ही, प्रस्तुत प्रबंध का क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय से ग्रथ का मुख्य भाग आरंभ होता है। यह अध्याय दो भागो मे विभाजिन है। प्रथम मे ब्रज और ब्रजभाषा का सक्षिप्त परिचय, ब्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार और साहित्य मे उसके प्रयोग का आरभ आदि विषयो पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग मे सूरदास के पूर्ववर्ती हिंदी कवियो की कृतियो मे प्राप्त ब्रजभाषा-रूप की चर्चा है। इसके पश्चात्, सूरदास और ब्रजभाषा के सबध पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय भी दो भागो मे विभाजित है। पहले भाग मे ब्रजभाषा के ध्वनि-समूह और सूरदास के तत्सबधी प्रयोग दिये गये हैं। इसके अंतर्गत स्वरो के सामान्य, अनुच्चरित, सानुनासिक और सयुक्त प्रयोगो पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार व्यजनो के भी सामान्य और सयुक्त रूपो पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग मे सूरदास के शब्द-समूह का वर्गीकरण करते हुए पूर्ववर्ती भाषाओ, सम-कालीन बोलियो और विभाषाओ एव देशी-विदेशी भाषाओ के शब्दो के साथ-साथ देशज और अनुकरणात्मक शब्दो की भी चर्चा की गयी है। सूरदास के तत्सम शब्द-प्रयोग के अध्ययन की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व का है; क्योंकि प्रबध के

अगले अध्यायो मे सूरदास के अर्द्धतत्सम और तद्भव प्रयोगो की ही चर्चा विशेष रूप से की गयी है।

चतुर्थ अध्याय ने प्रबंध का सबसे अधिक भाग घेर लिया है। इसमे सूरदास की भाषा का व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। कवि के सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय-प्रयोगो की विशेषताओ के साथ साथ उसकी वाक्य-विन्यास-पद्धति पर भी इसमे विचार किया गया है। इस भाग के सबध मे इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि विभिन्न शब्द-भेदो-उपभेदो के उदाहरणार्थ सकलित अनेक रूप इसमे ऐसे दिये गये है जिनकी चर्चा अभी तक व्रजभाषा-व्याकरणो मे भी नही की गयी है।

पचम अध्याय पुन दो भागो मे विभाजित है। प्रथम मे सूरदास की भाषा के व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय मे शास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम के अन्तर्गत विषय, पात्र और मनोभावो के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूपो तथा विभिन्न पात्र-पात्रियो के सवादो और प्रसगो एव सूक्तियो की भाषा की विवेचना है। द्वितीय भाग मे सूर-काव्य मे प्रयुक्त विभिन्न छद, शब्द-शक्ति, अलकार, गुण, वृत्ति, रीति और रस-भेदो के अनुसार भाषा-रूपो की समीक्षा की गयी है। इस अध्याय के अत मे शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से सूरदास की भाषा के खटकनेवाले प्रयोगो के भी कुछ उदाहरण दिये गये है।

षष्ठ अध्याय मे सास्कृतिक दृष्टि से सूरदास की भाषा का अध्ययन है। इसमे सूर-साहित्य की मुख्यत ऐसी शब्दावली का अध्ययन किया गया है जो तत्कालीन जन-जीवन और सास्कृतिक विचारो का परिचय कराने मे सहायक हो सकती है। भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण की जानकारी तो इस शब्दावली से होती ही है, तत्कालीन खानपान, वस्त्राभूषण, व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ, खेल-व्यायाम, वाणिज्य-व्यवसाय आदि का सक्षप्ति परिचय भी उससे मिलता है। साथ साथ कवि के समकालीन जनसमुदाय के सामाजिक, पौराणिक और धार्मिक विश्वासो, पर्वोत्सवो, सस्कारो आदि पर भी इस अध्याय से प्रकाश पडता है।

सप्तम अध्याय 'उपसहार' के रूप मे है जिसमे समकालीन और परवर्ती व्रजभाषा-कवियो से सूरदास की भाषा की सक्षेप मे तुलना की गयी है और अत मे व्रजभाषा की समृद्धि मे सूरदास के योगदान का मूल्याकन किया गया है।

प्रबध के अन्त मे प्रथम परिशिष्ट के अन्तर्गत सूर-काव्य मे प्रयुक्त शब्दो की सख्या पर विचार किया गया है। सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—इनमे से सर्व-नाम और क्रिया-रूप.कवि-विशेष की भाषा का अध्ययन करते समय अपेक्षाकृत अधिक महत्व के समझे जाते है। अतएव इस परिशिष्ट मे भी सूरदास की भाषा मे प्रयुक्त संज्ञा, विशेषण और अव्यय शब्दो की सख्या सामूहिक रूप से बताना ही पर्याप्त समझा गया है, और सर्वनाम एव क्रिया-रूपो की निश्चित सख्या देने का प्रयास किया गया है। सर्वनाम के मूल और विकृत रूपो की गणना चौथे अध्याय के आधार पर की गयी है और क्रिया-

रूपो की सख्या पर विचार करने के पश्चात् सूर के लगभग एक हजार ऐसे क्रिया-शब्दों की सूची दी गयी है जिनके विकृत रूपो का प्रयोग सूर-काव्य मे निस्सकोच किया गया है। द्वितीय परिशिष्ट मे सूर-साहित्य और उसकी सपादन-समस्या की चर्चा है।

प्रस्तुत प्रवन्ध मे सूर-काव्य से लगभग नौ हजार उदाहरण दिये गये है। प्राय: प्रत्येक स्थल पर उदाहरणो की संख्या विशेष उद्देश्य से घटायी-वढायी गयी है। जिस शब्द-रूप के साथ चार या अधिक उदाहरण दिये गये हैं, उसका प्रयोग सूरदास के समस्त काव्य मे समझना चाहिए और जिसके तीन उदाहरण दिये गये हैं, वह रूप सर्वत्र तो नही मिलता, फिर भी उसका प्रयोग वहुत अधिक किया गया है। दो उदाहरण ऐसे शब्दो के साथ दिये गये हैं जिनका प्रयोग सूरदास ने अधिक नही किया है और एक उदाहरण वहुत कम अथवा अपवादस्वरूप प्रयुक्त होनेवाले रूपो के साथ दिया गया है। इस प्रकार उदाहरणो की सख्या से ही परोक्ष रूप से पता चल जाता है कि कवि का वह विशिष्ट प्रयोग है या सामान्य, उसके काव्य मे वह अधिक प्रयुक्त हुआ है या कम अथवा अपवादस्वरूप ही। इन पक्तियो के लेखक का निश्चित मत है कि ऐसा करने से प्रवन्ध के कलेवर की थोडी-वृद्धि भले ही हुई हो, परन्तु इससे अनेक उपयोगी सूचनाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। प्रबन्ध का कलेवर अवाछनीय रूप से वढने न देने के लिए उदाहरणो का उतना ही अश सर्वत्र उद्धृत किया गया है जितना स्थल-विशेष पर विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि अधिकाश स्थलो पर पूरा-पूरा पद या चरण न देकर केवल एक शब्द, वाक्याश या उपवाक्य का ही उद्धृत करना पर्याप्त समझा गया है। भापा-विज्ञान, व्याकरण अथवा साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो की परिभाषाएँ भी अनावश्यक समझकर प्रस्तुत प्रवन्ध मे नही दी गयी हैं।

उदाहरणो के सकलन के सम्वन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ एक से अधिक चरण या पद उद्धृत किये गये हैं वहाँ प्राय सदैव इसका ध्यान रखा गया है कि वे सभी, एक ही स्कध के न होकर विभिन्न स्कधो से दिये जायँ। यदि कारणवश कही एक ही स्कन्ध के उदाहरण देने पडे हैं, तब उनका सकलन विभिन्न प्रसगो से किया गया है। 'सूरसागर' के दशम स्कध पूर्वार्द्ध से संकलित उदाहरण, इस पद्धति को अपनाने के कारण वहुत रोचक और उपयोगी हो गये है। प्रवन्ध के समस्त उदाहरणो को व्यवस्थित क्रम से ही देने का सर्वत्र प्रयत्न किया गया है। अधिकाश स्थलो पर तो अकारादि क्रम का निर्वाह किया गया है, परन्तु जहाँ यह क्रम नही निभ सका है, वहाँ स्कन्ध और पद-सख्या के क्रम का ध्यान रखा गया है। ऐसा करने मे लेखक को कुछ समय अवश्य अधिक देना पडा, परन्तु इससे उदाहरण ढूँढने मे निश्चय ही विशेष सुविधा होगी।

'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर-सारावली' की प्रामाणिकता यद्यपि अभी सर्वमान्य नही है, तथापि प्रस्तुत प्रवन्ध मे यत्र-तत्र उनकी भी भाषा की चर्चा की गयी है; क्योकि विद्वानो का एक वर्ग इन दोनो को सूरदास की ही रचनाएँ मानता है। 'सूर-सागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के जिन सस्करणो को लेखक ने अध्ययन का

आधार बनाया है वे क्रमश नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई, और पुस्तकभण्डार, लहरियामराय से प्रकाशित हैं। अन्य स्थानो से प्रकाशित इन ग्रथों के दूसरे संस्करणो से भी कही कही उदाहरण दिये गये हैं, परन्तु ऐसा प्राय उन्हीं स्थलो पर किया गया है जहाँ पाठ मे पूर्वनिर्देशित सस्करणो मे कुछ भिन्नता या विशेपता दिखाने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

प्रस्तुत अध्ययन से यह तात्पर्य भी नही समझना चाहिए कि सूरदास के समकालीन और परवर्ती, अष्टछाप-सप्रदाय और अन्य व्रजभापा - कवियो की भापा-सेवा का महत्व लेखक की दृष्टि मे कम है। वस्तुत किसी भी साहित्यिक भापा का निर्माण दस-बीस वर्पों मे नही होता और न यह कार्य किसी एक व्यक्ति के लिए सभव ही है, चाहे वह कितना भी बडा लेखक या कवि क्यो न हो। अतएव सूरदास के समकालीन और परवर्ती, सभी व्रजभापा-कवियो के सम्मिलित उद्योग से ही इस भापा की समृद्धि-वृद्धि होना मानना युक्तिसगत है। सूरदास का इसमे विशेप योग यही था कि उनकी रचना ने व्रजभापा की व्यापकता और उसके परिष्कार को द्रुत गति प्रदान की। व्रजभापा के प्रति भक्तो, गायको और काव्य-प्रेमियो की आकर्पणवृत्ति को स्नेह और सम्मानपूर्ण वनाने मे भी सूरदास की सफलता अद्वितीय है, यद्यपि इसके लिए भूमि तैयार करने के कार्य-सपादन मे दूसरो का योग भी कम महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता।

अत मे लेखक उन सभी विद्वानो के प्रति हृदय से कृतज्ञ है जिन्होंने समय समय पर उसकी सहायता की है। विशेष रूप से लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर दीनदयालु गुप्त का लेखक श्रद्धापूर्वक आभार मानता है जिनके कृपापूर्ण स्नेह का वह पिछले वारह वर्पों से पात्र रहा है और जिनके कृपापूर्ण निर्देशन और सौहार्दपूर्ण प्रोत्साहन से ही यह प्रबध इस रूप मे प्रस्तुत किया जा सका है। प्रसिद्ध विद्वान और साहित्यप्रेमी डाक्टर वलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डाक्टर भवानीशकर याज्ञिक, लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के रीडर डाक्टर भगीरथ मिश्र एव सहयोगी अध्यापक श्री रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल का भी लेखक वहुत कृतज्ञ है। इन महानुभावो ने प्रवध की विषय-सूची अथवा पाडुलिपि देखकर बहुमूल्य सुझाव दिये थे। जिन विद्वानो के ग्रथो से इस प्रवध मे सहायता ली गयी है, उनके, विशेपकर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। प्रवंध की 'नामानुक्रमणिका' प्रस्तुत करने का श्रेय, लखनऊ विश्वविद्यालय की रिसर्च स्कालर सुश्री मायारानी टडन, एम० ए०, तथा मेरी पुत्री कृष्णा टडन को है जिसके लिए मैं उन्हें सस्नेह आशीर्वाद देता हूँ।

— लेखक

विषय-सूची

(ख) शास्त्रीय दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

सकेत-सूची

ना० प्र० सभा	नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।
लहरी०	'साहित्यलहरी', लहरियामराय।
सा०	'सूरसागर', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
सागर	'सूरसागर', नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।
सा० नकि०	'सूरसागर', नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
सा० वे०	'सूरसागर', वेंकटेश्वर प्रेस, बबई।
सा० बे०	'सक्षिप्त सूरसागर', डा० बेनीप्रसाद।
सारा०	'सूरसागर-सारावली', नवलकिशोर प्रेस और वेंकटेश्वर प्रेस के आरभ मे प्रकाशित।

सकेत-चिह्न

क ह्रस्व रूप।

ख अनुच्चरित रूप।

पूर्वरूप से पररूप मे परिवर्तन-सूचक।

पररूप से पूर्वरूप मे परिवर्तन-सूचक

१. व्रजभाषा और सूर की भाषा के अध्ययन का इतिहास

विषयप्रवेश--

प्रामाणिक पाठ के अभाव मे प्राचीन कवियो की कृतियो के विधिवत् अध्ययन मे कठिनाई पडती है। स्थूल रूप से यह अभाव उन सभी वातो की जानकारी मे वाधक सिद्ध होता है जिनका सवध अत साक्ष्य से है। पाठ की अप्रामाणिकता के दो रूप होते है। एक, पाठ का अशुद्ध रूप और दूसरा, प्रक्षिप्त अग । कवि के दृष्टिकोण,उद्देश्य, आदर्श, पाडित्य आदि से अवगत विज्ञ आलोचक को किसी ग्रथ के प्रक्षिप्त अथवा अप्रामाणिक भागो का पता लगाने मे अधिक कठिनाई नही होती। अतएव सदेहात्मक अंशो को निकाल देने के वाद शेप भाग मे केवल पाठ की अशुद्धता का दोष रह जाता है, जिसके वने रहने पर भी भापा-अध्ययन-कार्य किसी सीमा तक किया जा सकता है। भाषा के अध्ययन के प्रमुख पक्ष, उसका इतिहास, तत्कालीन स्थिति का प्रभाव, शब्द-भाडार, साहित्यिक और आलकारिक विशेपताएँ, वाक्य-विन्यास, व्याकरण के नियमो का निर्वाह आदि है। इनमे से प्रथम पाँच विपयो का अध्येता, प्रामाणिक पाठ के अभाव मे भी, किसी न किसी प्रकार अपना काम चला लेता है, परन्तु अतिम अर्थात् व्याकरण-विषयक अध्ययन के कुछ पक्षो के सूक्ष्म अध्ययन मे, वैसी स्थिति मे, कुछ वाधा अवश्य पडती है। आज से लगभग पद्रह वर्ष पूर्व तक, सूर-काव्य का सर्वमान्य प्रामाणिक पाठ सुलभ न होने के कारण उनकी भापा का अध्ययन उचित रीति से नही हो सका। फिर भी, हिंदी के विद्वानो ने इस दिशा मे जो कार्य किया, उसका मूल्याकन करने के पूर्व उक्त कठिनाई को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

सूर-साहित्य के आलोचको ने उनकी काव्य-कला के विभिन्न अगो पर प्रकाश डालते समय भाषा के सवध मे, प्रसगवश ही विचार किया है। स्वतत्र रूप सें और विस्तार के साथ सूरदास की भापा के विषय मे किसी भी विद्वान ने अपने विचार प्रकट नही किये हैं। व्रजभाषा और उसके व्याकरण की विवेचना एव सूरदास और उनके काव्य की आलोचना के रूप मे जो सामग्री आज तक प्रकाश मे आयी है, स्थूल रूप से उसे तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

क हिंदी भापा के इतिहास और व्रजभाषा के व्याकरण।

ख. सूर-काव्य के भूमिका-सहित स्फुट सकलन।

ग सूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन ।

क. हिन्दी भापा के इतिहास और व्रजभापा के व्याकरण—

किसी भापा का इतिहास और उसका व्याकरण, दो स्वतंत्र विपय है। परतु हिंदी मे प्रकाशित तत्संबधी अधिकाश ग्रथो मे सामान्यतया दोनो पर सम्मिलित या मिश्रित रूप से विचार किया गया है। आरभ मे, हिंदी ही नही, भारतीय भापाओ से भी सबधित इस प्रकार के ग्रथ पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रस्तुत किये गये, परन्तु कुछ समय पश्चात् भारतीय लेखको का भी ध्यान इधर गया। हिंदी के साहित्यिको ने उन्नीसवी शताब्दी मे तो, सभवत साधनहीनता के कारण, इस क्षेत्र मे कोई महत्वपूर्ण कार्य नही किया, परतु बीसवी शताब्दी मे कुछ सतोपजनक कार्य अवश्य हुआ। हिन्दी भापा और उसके व्याकरण पर प्रत्यक्ष रूप मे और व्रजभापा-विकास तथा उसके व्याकरण पर परोक्ष रूप से जिन हिन्दी-अहिन्दी ग्रथो मे विचार किया गया है, काल-क्रमानुसार उनमे से प्रमुख का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. तुहफ़तुल 'हिन्द' (व्रजभापा व्याकरण) – मिर्जा खाँ-कृत यह प्राचीन व्याकरण औरगजेब के समय मे फारसी भापा मे लिखा गया था। इसकी सूचना सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने सन् १७८४ मे दी थी[१]। डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १६७५ से कुछ पूर्व होना चाहिए[२]। इस ग्रथ का एक सस्करण मार्च १९३५ मे शातिनिकेतन के श्री एम जियाउद्दीन ने 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभापा' के नाम से प्रकाशित किया था। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, इसका 'व्रजभाषा व्याकरण नाम ही भ्रामक है, क्योकि प्राचीन व्रजभापा का ठीक ज्ञान कराने मे यह ग्रथ बिलकुल भी सहायक नही होता'[३]। फिर भी, हमारी सम्मति मे, यदि इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो जाय, तो प्राचीन हिन्दी भापा-रूपो से सम्बन्धित कुछ विपयो की जानकारी मे इससे अवश्य सहायता मिलेगी।

२ हिन्दुस्तानी व्याकरण—जैकब जोशुआ केटलेयर की यह पुस्तक सन् १७१५ के लगभग लिखी गयी थी। डेविड मिलिअस ने सन् १७४३ मे इसका प्रकाशन किया था[४]। डा० चटर्जी के अनुसार यह 'लेडेन' से प्रकाशित की गयी थी[५]। व्रजभाषा से सम्बन्धित सामग्री इसमे नगण्य ही है और पुस्तक भी अब अप्राप्य है।

३. व्रजभापा व्याकरण—सन् १८११ मे प्रकाशित लल्लूलाल के इस ग्रथ का नाम,

---

१. 'एशियाटिक रिसर्चेज' मे प्रकाशित 'आन दि म्युजिकल मोड्स आव दि हिंदूज' शीर्षक लेख, जिल्द ३, पृ० १।
२ शातिनिकेतन से प्रकाशित 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ९।
३ 'व्रजभाषा व्याकरण' का 'वक्तव्य', पृ० २।
४. 'व्रजभारती', वर्ष ९, अक १, पृ० ५।
५. 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० xi।

डा० ग्रियर्सन के अनुसार 'मसादिरे भाषा' था[1]। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने, सभवत विपय के अनुसार, इसे 'व्रजभापा व्याकरण' कहा है[2]। श्री कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' मे लल्लूलाल के नाम से 'कवायद हिन्दी' नामक व्याकरण की चर्चा की गयी है। ये दोनो ग्रथ सम्भत एक ही है। यह पुस्तक अव अप्राप्य है।

४. **'कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज आव इण्डिया'**—श्री जॉन वीम्स-कृत यह ग्रथ तीन भागो मे प्रकाशित हुआ था—'ध्वनि' शीर्पक प्रथम भाग सन् १८७२ मे, 'सज्ञा और सर्वनाम' शीर्पक द्वितीय भाग सन् १८७५ मे और 'क्रिया' शीर्षक तृतीय भाग सन् १८७९ मे। ग्रथ के आरम्भ मे लगभग सवा सौ पृष्ठो की भूमिका भी है। इस ग्रथ का दूसरा सशोधित सस्करण आज तक नही प्रकाशित हो सका है और न किसी अन्य लेखक ने ही इम ग्रथ की तरह का हिन्दी, पजाबी, सिन्धी, गुजराती मराठी उडिया तथा बगाली भापाओ का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन ही प्रस्तुत किया है। अतएव इस ग्रथ का मान आज भी पूर्ववत् है, यद्यपि व्रजभापा-विपयक सामग्री इसमे अपेक्षाकृत वहुत कम है।

५. **'ग्रैमर आव दि हिन्दी लैंग्वेज'**—भारतीय आर्यभापाओ मे केवल हिन्दी से सम्वन्धित यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रथ है जो सन् १८७६ मे प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक श्री कैलाग थे। इस ग्रन्थ मे खडीवोली के तत्कालीन नवविकसित साहित्यिक रूप के साथ-साथ व्रजभापा और अवधी का तो तुलनात्मक व्याकरणिक अध्ययन है ही, राजस्थानी विहारी और मध्य पहाडी भापाओ के नियम भी स्थान-स्थान पर दिये हुए है। प्रत्येक अध्याय के अन्त मे दिया गया व्याकरण-रूपो का विकास भी इसकी एक विशेपता है। सन् १९३८ मे इसका सशोधित-परिवर्द्धित सस्करण प्रकाशित हुआ। हिन्दी व्याकरण का विधिवत् अध्ययन करनेवालो के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रथ है।

६. **'ग्रैमर आव दि ईस्टर्न हिन्दी'**—श्री रूडल्फ हार्नली-कृत यह ग्रथ सन् १८८० मे प्रकाशित हुआ था। यद्यपि विद्वान लेखक इसमे पूर्वी हिन्दी अर्थात् विहारी और हिन्दी के व्याकरण की ही विस्तृत विवेचना करना चाहता था, तथापि प्रसगवश अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभापाओ से सम्वन्धित विचार भी यत्र-तत्र इसमे प्रकट किये गये हैं। यही इस ग्रथ के महत्व का कारण है।

७. **'सेविन ग्रैमर्स आव विहारी लैंग्वेजेज'**—सन् १८८३ से १८८७ तक प्रकाशित सर जार्ज अव्राहम ग्रियर्सन के इस ग्रथ मे यद्यपि विहारी भापा के ही व्याकरण की चर्चा मुख्य रूप से है तथापि यत्र-तत्र कुछ उदाहरण हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के भी मिल जाते है।

८. **प्राचीन भारतीय लिपिमाला**—म म गौरीशकर हीराचन्द ओझा-कृत यह महत्वपूर्ण ग्रथ सन् १८९४ मे पहली वार प्रकागित हुआ था। इसका दूसरा सस्करण चार

---

१. 'व्रजभारती', वर्ष ९, अक १, पृ० ५।

२. 'व्रजभापा व्याकरण' का 'वक्तव्य', पृ० १।

वर्ष बाद छपा था। देवनागरी लिपि और अंको के इतिहास की दृष्टि से यह ग्रथ बहुत महत्व का है, परन्तु इसमे भाषा की चर्चा नही के बराबर है।

९. 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया'—सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने सन् १८९४ से सन् १९२७ तक अर्थात् लगभग तेंतीस वर्षो के परिश्रम से यह ग्रथ ग्यारह बडी-बडी जिल्दो मे तैयार किया था। इसकी पहली जिल्द के प्रथम भाग मे ग्रथ की विस्तृत भूमिका है, छठी जिल्द मे पूर्वी हिन्दी और नवी जिल्द के पहले भाग मे पश्चिमी हिन्दी की सोदाहरण विवेचना है। इस वृहत् ग्रथ मे हिन्दी की प्रमुख भाषाओ के ही नही, उत्तरी भारत की प्राय समस्त भाषाओ, विभाषाओ और मुख्य-मुख्य बोलियो के भी व्याकरण की रूपरेखा उदाहरण-सहित प्रस्तुत की गयी है। प्रमुख भाषाओ-विभाषाओ के क्षेत्र-सम्बन्धी नक्शे प्रत्येक जिल्द मे दिये हुए है जिनके कारण ग्रथ का मूल्य बहुत बढ गया है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इस समय भी यह ग्रथ प्रामाणिक माना जाता है।

१०. हिन्दी व्याकरण—सन् १९२० मे प्रकाशित श्री कामताप्रसाद गुरु का यह ग्रथ खडी बोली के साहित्यिक रूप का व्याकरण है। इसमे व्रजभाषा, अवधी आदि की चर्चा प्रसगवश ही कही-कही पर है।

११ 'ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव दि बेगाली लैंग्वेज'—सन् १९२६ मे प्रकाशित डा० सुनीति कुमार चटर्जी का यह ग्रथ बगाली भाषा के सबध मे होने पर भी प्राय सभी आर्य-भाषाओ के अध्ययनो की रूपरेखा तैयार करने के विषय मे उपयोगी रहा है। इसमे प्रकाशित आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ का, जिनमे हिन्दी भी है, इतिहास प्राय सभी भाषा-अध्येताओ के काम का है।

१२. हिन्दी भाषा और साहित्य—सन् १९३० मे प्रकाशित बा० श्यामसुदर दास के इस ग्रथ के पूर्वार्द्ध मे हिन्दी भाषा का जो विकास दिया हुआ था, वह सन् १९२५ मे प्रकाशित बाबू जी के 'भाषा-विज्ञान' नामक ग्रथ का अतिम अध्याय था। इस भाग के लिखने मे तद्विषयक प्राय सभी सामग्री का उपयोग तो अवश्य किया गया था, परन्तु विषय के प्रतिपादन मे एक प्रकार से मौलिकता थी और इस रूप मे अपने ढग का हिन्दी मे यह सर्वप्रथम प्रयास था।

१३ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—प० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के इस ग्रथ के आरम्भ मे हिन्दी भाषा का विकास दिया हुआ है। विषय के प्रतिपादन मे स्पष्टता और व्रजभाषा-विकास की स्वतंत्र चर्चा होने पर भी आज यह ग्रथ सामान्य मूल्य का ही है।

१४. 'इवोल्यूशन आव अवधी'—डा० बाबूराम सक्सेना का यह ग्रथ सन् १९३१ मे प्रयाग विश्वविद्यालय की डी लिट् की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। सन् १९३८ मे यह पुस्तक रूप मे प्रकाशित हुआ। हिन्दी की किसी एक साहित्यिक भाषा के विकास पर यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था जिसमे वैज्ञानिक, साहित्यिक,

ऐतिहासिक और व्याकरणिक दृष्टियो से अवधी भाषा का विस्तृत विवेचन है। व्रज-भाषा और खडी वोली के अध्ययनो के लिए भी यह ग्रथ उपयोगी है।

१५. **हिन्दी भापा का इतिहास**—डा० धीरेन्द्र वर्मा के इस ग्रथ का प्रथम सस्करण सन् १९३३ मे, द्वितीय सन् १९४० मे और तृतीय सन् १९४९ मे प्रकाशित हुआ। पूर्व प्रकाशित सभी प्रामाणिक सामग्री का अध्ययन और मनन करने के पश्चात् विद्वान लेखक ने इस ग्रथ का प्रणयन किया था। साथ ही, लेखक के निजी अन्वेषण का परिचय भी इसमे मिलता है। आधुनिक साहित्यिक खडी वोली के ही व्याकरण और स्वरूप की विवेचना यद्यपि इसमे प्रधान रूप से की गयी है, तथापि व्रज और अवधी से सवधित ऐतिहासिक सामग्री का भी इसमे सर्वथा अभाव नही है। प्रस्तुत प्रवध के लिए यही इसकी उपयोगिता है।

१६. **'ला ऐंदो एरियन'**—जूल व्लाक-कृत यह ग्रथ सन् १९३४ मे फ्रेच भाषा मे प्रकाशित हुआ था। भारतीय आर्यभापाओ के सवध मे उपलब्ध सामग्री का पूर्ण उपयोग किये जाने के कारण यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी काम का है।

१७. **'ल लाग व्रज'**—डा० धीरेन्द्र वर्मा का यह ग्रथ फ्रेच भाषा मे सन् १९३५ मे प्रकाशित हुआ था। इसी पर डा० वर्मा को पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि मिली थी। डा० सक्सेना के 'अवधी के विकास' की तरह व्रजभाषा-सवधी यह प्रथम वैज्ञानिक विवेचन था जो प्रस्तुत प्रवध-जैसे व्रजभापा-विषयक ग्रथो के लिए आदर्श रूप है।

१८. **भाषा रहस्य (प्रथम भाग)**—बा श्याम सुदर दास और श्री पद्म नारायण आचार्य-कृत यह ग्रथ सन् १९३५ मे प्रकाशित हुआ। इसमे 'ध्वनि' का विस्तृत विवेचन है। प्राचीन भारतीय विद्वानो के साथ साथ पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिको के मतो का भी समावेश इसमे किया गया है।

१९. **व्रजभाषा व्याकरण**—डा० धीरेन्द्र वर्मा की यह पुस्तक सन् १९३७ मे छपी थी। साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण की दृष्टि से यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था। इसका दूसरा सस्करण भी छप चुका है।

२०. **व्रजभाषा का व्याकरण**—प० किशोरीदास वाजपेयी की यह पुस्तक सन् १९४३ मे प्रकाशित हुई थी। इसको लेखक ने 'विवेचनात्मक पद्धति पर एक मौलिक रचना' कहा है। व्रजभाषा-व्याकरण-संवधी काम की कुछ बातें इसमे अवश्य है, परतु पूर्व प्रकाशित तद्विषयक मतो के खडन और अपने विचारो के मडन के लिए लेखक ने ऐसी भाषा-शैली का प्रयोग किया है कि प्रतिष्ठित विद्वानो ने इसकी एक प्रकार से उपेक्षा ही की है। इस ग्रथ मे एक खटकनेवाली बात यह है कि अधिकाश स्थलो पर लेखक ने अपने वाक्य गढकर विषय का विवेचन किया है। इससे अपना मत तो वे अवश्य दे सके हैं, परतु विशिष्ट कवियो के प्रयोगो मे उसकी पुष्टि नही हो सकी है। फिर भी इसमे कई बातें उपयोगी हैं।

२१ व्रजभाषा—डा० धीरेन्द्र वर्मा की फ्रेंच मे प्रकाशित थीसिस 'ला लाग व्रज' का यह हिन्दी रूपातर सन् १९५४ मे प्रकाशित हुआ था। इस ग्रथ मे विद्वान लेखक के लगभग पद्रह वर्षो के व्रजभाषा-विषयक अध्ययन का सार सगृहीत है। मध्य-कालीन साहित्यिक व्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन की दृष्टि मे भी यह ग्रथ बहुत महत्व का है।

ऊपर केवल ऐसे ग्रथो के ही नाम दिये गये है जिनके लेखक प्रतिष्ठित विद्वान है, जिनका उल्लेख महत्वपूर्ण ग्रथो मे हुआ है अथवा जिनसे हिन्दी के लेखको ने तद्विषयक ग्रथ-रचना की प्रेरणा ली है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे महत्वपूर्ण स्फुट लेख भी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके है—यथा डा० ग्रियर्सन का 'आधुनिक भारतीय भाषाओ मे बलात्मक स्वराघात'[1] और श्री टर्नर का 'गुजराती ध्वनि समूह'[2]—जिनसे हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक-लेखको ने बराबर सहायता ली है। यहाँ हिन्दी के उन छोटे-मोटे व्याकरणो की चर्चा करना आवश्यक नही समझा गया है जो पिछले सौ वर्षो मे समय समय पर, मुख्यत विद्यार्थियो के लिए, प्रकाशित होते रहे है और आज जिनमे से अधिकाश अप्राप्य है।

उक्त ग्रथो के आधार पर हिन्दी भाषा का विस्तृत इतिहास और व्रजभाषा-व्याकरण का तो अध्ययन किया जा सकता है, परतु सूरदास की व्रजभाषा के अध्ययन और विवेचन मे इनमे से अधिकाश ग्रथो से कोई सहायता नही मिलती। इसके कई कारण है। सबसे पहले तो दो-एक ग्रथो को छोडकर सबमे व्रजभाषा की कम, हिंदी के इतिहास और उसके खडीबोली-रूप की विवेचना अधिक की गयी है। दूसरे, सन् १९३० के पहले तक साहित्यिक व्रजभाषा पर स्वतत्र वैज्ञानिक विवेचनात्मक ग्रथ लिखने की ओर लेखको का ध्यान ही नहीं गया था और जिन लेखको ने उसकी चर्चा की भी उनमे से अधिकाश ने उन प्रकाशित और प्राप्त, परतु पाठ-शुद्धता की दृष्टि से असपादित, ग्रथो के आधार पर अपने विचार प्रकट किये जो सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी मे लिखे गये थे। तीसरी बात यह कि सूरदास की काव्य-भाषा का विवेचन उस परिस्थिति मे सभव था भी नहीं, क्योकि कवि-विशेष की भाषा का विस्तृत अध्ययन करने की परिपाटी का तब तक प्रचलन ही नही हुआ था। अतएव यदि किसी लेखक ने सूर की भाषा पर विचार भी किया तो बहुत चलताऊ ढग से और सो भी बहुत प्रचलित पदो को ध्यान मे रखकर। यह ठीक है कि सन् १८६५ के पश्चात् 'सूरसागर' सुलभ था और यदि कोई उसकी भाषा का अध्ययन करना चाहता तो उसे विशेष कठिनाई नही होती, परतु कोई लेखक इस प्रकार के अध्ययन की ओर इस कारण प्रवृत्त न हुआ कि केवल भाषा-अध्ययन को इतना महत्व देने के लिए उस समय के साहित्यिक प्रस्तुत नही थे। बीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थाश मे भी इस प्रकार के

---

१. 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', सन् १८९५, पृ० १०९।

२. 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', सन् १९२१, पृ० ३२९ और ५०५।

अध्ययन की प्रगति नही हो सकी, क्योकि उस युग मे स्वात-सुखाय साहित्य-सेवा मे सलग्न रहनेवाले इने-गिने प्रतिष्ठित व्यक्तियो के साथ साथ वे लोग प्रवृत्त होते थे जिनका सबध अच्छे विद्यालयो मे था। हिन्दी को उस समय तक विश्वविद्यालयो की उच्च कक्षाओ मे स्थान नही मिला था। अतएव सामूहिक रूप से हिन्दी भाषा का इतिहास लिखने का तो कुछ विद्वानो ने प्रयास भी किया, जो आज की दृष्टि से बहुत साधारण है, परन्तु हिन्दी भाषा के तीन प्रमुख साहित्यिक रूपो मे से किसी एक के प्रतिष्ठित कवि की भाषा के विस्तृत और सागोपाग अध्ययन की ओर किसी का ध्यान न जा सका। अतएव उक्त ग्रथो मे विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के साथ-साथ व्रजभाषा के वैज्ञानिक, व्याकरणिक और ऐतिहासिक अध्ययन की जो रूपरेखा दी हुई है, उससे सूरदास की काव्यभाषा के विवेचन की सकेत-सूची मात्र बनाने मे सहायता मिल सकती है, उसकी सपूर्ण प्रामाणिक विवेचना किसी भी प्रस्तुत प्रबध-जैसे ग्रथ-लेखक को निजी ढग पर ही करनी पडेगी।

ख. भूमिका सहित सूर-काव्य के स्फुट संकलन—

पिछले लगभग चालीस वर्षों मे सूर-साहित्य के छोटे-बडे अनेक सकलन ऐसे प्रकाशित हुए है जिनमे सपादको ने आरम्भ मे कवि और उसके काव्य के सबध मे भी विचार प्रकट किये है। ऐसे कुछ प्राप्त सकलनो के नाम अकार-क्रम से नीचे दिये जाते हैं—

क्रम सख्या	सकलन का नाम	संपादक का नाम	भूमिका की पृष्ठ सख्या
१	भ्रमरगीत-सार	प० रामचन्द्र शुक्ल	७८
२	सक्षिप्त सूरसागर	श्री वियोगी हरि	..
३.	सक्षिप्त सूरसागर	डा० वेनी प्रसाद	३९
४	सूर-कृत गोपी-विरह और भँवरगीत	प्रेमनारायण टडन	८०
५	सूर-पचरत्न	ला० भगवान दीन	१६४
६.	सूर-प्रभा	डा० दीनदयालु गुप्त	४०
७.	सूर-रामायण	प्रेमनारायण टडन	१२
८.	सूर-विनयपदावली	श्री प्रभुदयाल मीतल	३६
९	सूर-शतक	भारतेंदु हरिश्चद्र	अज्ञात[1]
१०	सूर-शतक	श्री श्रीनाथ पाडेय	१०
११	सूर-सुषमा	प० नददुलारे वाजपेयी	१९

'सूर-पचरत्न' की भूमिका को छोडकर प्राय इन सभी सकलनो मे सूर की जीवनी

---

१. क. 'सूरसागर', (वेंकटेश्वर प्रेस) की भूमिका, पृ० ९।
ख. 'साहित्यलहरी', खड्गविलास प्रेस, पृ० १६५।

और उनकी काव्य-कला पर ही मुख्यत विचार किया गया है। 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका मे भाषा-सबधी कुछ उपयोगी सामग्री अवश्य दी गयी है, परतु इसके विद्वान सपादक का ध्यान सूरदास की भाव-व्यजना-विषयक विशेषताओ के सोदाहरण विवेचन की ओर जितना रहा है उतना कवि की भाषा का आलोचनात्मक परिचय देने की ओर नही। 'गोपी-विरह और भँवरगीत' की भूमिका मे इन पक्तियो के लेखक ने 'सूरदास की भाषा' शीर्षक पाँच-सात पृष्ठो की एक टिप्पणी दी है, पर उसमे भी तद्विषयक मोटी-मोटी विशेषताएँ ही बतायी गयी है, कोई मौलिक बात नही है। डा० दीनदयालु गुप्त की 'सूर-प्रभा' के आरभ मे, 'काव्य-परिचय' के अतर्गत, भाषा-सबधी विचार प्रकट किये गये है जो इस दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है कि किन्ही कारणो से उनके वृहताकार महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय' मे सूर की काव्य-कला और भाषा की विस्तृत विवेचना नही है, परतु उपयुक्त स्थान न होने के कारण विद्वान लेखक को तीन-चार पृष्ठ लिखकर ही सतोष करना पडा है। वस्तुत उक्त प्राय सभी ग्रथ विद्यार्थियो की आवश्यकता को ध्यान मे रखकर समय समय पर प्रस्तुत किये गये है और उनकी भूमिकाओ मे कवि और काव्य-सबधी वे ही बाते बतायी गयी है जो विद्यार्थियो के लिए उपयोगी हो और जिनमे उनमे सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने की रुचि जाग्रत हो।

केवल 'सूर-पचरत्न' के सपादक लाला भगवानदीन ने, अन्य संकलन-कर्ताओ के सीमित दृष्टकोण से ऊपर उठकर, अपने सकलन की भूमिका मे, व्रजभाषा की उत्पत्ति और विकास, उसकी पहचान और उपयोगिता पर, सक्षेप मे प्रकाश डालने के उपरात सूरदास की भाषा-शैली की परिचयात्मक आलोचना की है। यद्यपि व्रजभाषा-उत्पत्ति की कहानी के रूप मे उन्होने हिन्दी भाषा के जन्म की गाथा ही दी है और 'व्रजभाषा की पहचान'-सबधी नियम पडित रामचन्द्र शुक्ल के 'बुद्धचरित' की भूमिका के आधार पर लिखे है[1] तथा सूरदास की भाषा का विवेचन बहुत सक्षेप मे किया है, तथापि आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व जब यह सकलन प्रकाशित हुआ था, तब निश्चय ही उसके सपादक के व्रजभाषा-अध्ययन पर हिन्दी-ससार मुग्ध हो गया होगा। अतएव स्पष्ट है कि 'सूर-पचरत्न' के अतिरिक्त अन्य किसी सकलन की भूमिका सूरदास की भाषा के अध्ययन मे, किसी भी रूप मे सहायक नही हो सकती।

ग. सूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन—

नवल किशोर प्रेस, लखनऊ और वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई के 'सूरसागर' प्रकाशित हो जाने के पश्चात् सूरदास के काव्य की आलोचना का कार्य आरभ हो गया था। बाबू राधाकृष्ण दास ने 'सूरसागर' के आरभ मे कवि के जीवन-चरित् और काव्य-परिचय-रूप मे जो विचार प्रकट किये थे, वस्तुत उन्ही से इस विषय का सूत्रपात समझना चाहिए। डा० जनार्दन मिश्र ने जब सूर-काव्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया,

१. 'सूर-पचरत्न' की भूमिका, छठा सस्करण, पृ० २२।

तब अन्य विद्वानो का ध्यान भी इस ओर गया। फलस्वरूप सूरदास और उनके काव्य के सम्बन्ध मे जो ग्रथ अब तक प्रकाशित हुए है उनमे से प्रमुख का जिनका परिचय प्रकाशन-क्रम से यहाँ दिया जाता है—

१. **सूरदास**—अँग्रेजी मे प्रकाशित डा० जनार्दन मिश्र की यह पुस्तक सूर-साहित्य की समालोचना का सभवत प्रथम मौलिक और स्वतत्र प्रयास था। कवि के जीवन चरित्, उसकी रचनाओ और वल्लभाचार्य तथा सूरदास के धार्मिक सिद्धातो, की परिचयात्मक विवेचना इस ग्रथ मे विशेष रूप से की गयी है, परन्तु सूरदास की भाषा के सबध मे सामान्य रूप से ही विचार किया गया है।

२. **सूर : एक अध्ययन**—सन् १९३८ मे प्रकाशित श्री शिखरचद जैन की इस पुस्तक मे सूर-साहित्य की सामान्य आलोचना है। इसमे दो-तीन पृष्ठो मे ही कवि की भाषा का परिचय दिया गया है।

३. **भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास**—श्री नलिनीमोहन सान्याल की यह पुस्तक सन् १९३८ मे प्रकाशित हुई थी। इस मे कवि के जीवन-चरित् के साथ-साथ वात्सल्य-चित्रण, माखन-चोरी, सयोग-लीला, राम- लीला, भ्रमरगीत आदि सूर-साहित्य के अंगो का सामान्य परिचय दिया गया है। भाषा-सबंधी विस्तृत विवेचना सान्याल जी का ध्येय नही है।

४. **सूरदास**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस ग्रथ का सपादन प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सन् १९४३ मे किया था। पाँच वर्ष बाद इसका तृतीय सशोधित परिवर्द्धित सस्करण भी प्रकाश मे आया। भक्ति का विकास, श्री वल्लभाचार्य, सूरदास का जीवनवृत्त और उनके काव्य की आलोचना, इस ग्रथ के प्रमुख विषय है। अतिम के अतर्गत कवि की भाषा की आलोचना भी है; परन्तु यह अश एक प्रकार से 'भ्रमरगीत-सार' के सशोधित सस्करण की भूमिका के रूप मे प्रकाशित है और इसमे भाषा-सबधी कोई नयी बात नही दी गयी है।

५ **सूर-सौरभ**—श्री (अब डाक्टर) मुशीराम शर्मा की इस पुस्तक का द्वितीय सस्करण सन् १९४३ मे और तृतीय १९४९ मे प्रकाशित हुआ था। सूरदास और उनके काव्य की, उक्त सभी ग्रथो से अधिक विस्तृत समीक्षा इसमे मिलती है। कवि की जीवनी और उसके ग्रथो की प्रामाणिकता पर तो इसमे बहुत विस्तार से विचार किया गया है, परन्तु भाषा की चर्चा बहुत सक्षेप मे की गयी है जिसमे उसकी सामान्य विशेषताओ पर ही प्रकाश डाला गया है। इधर शर्मा जी ने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' नामक गवेषणात्मक प्रबध प्रकाशित कराया है। विषय की भिन्नता के कारण इसमे भी सूर की भाषा का विवेचन नही-सा है।

६ **सूर : जीवनी और ग्रंथ**—यह छोटी सी पुस्तक इन पक्तियो के लेखक ने सन् १९४३ मे लिखी थी। जैसा नाम से स्पष्ट है, इस पुस्तक मे सूरदास की भाषा-समीक्षा,

लेखक का अभीष्ट नहीं था, केवल 'परिशिष्ट' के छह-सात पृष्ठों में कवि की भाषा का सामान्य परिचय दिया गया है ।

७ **सूर-साहित्य की भूमिका**—श्री रामरतन भटनागर और वाचस्पति पाठक की इस पुस्तक का द्वितीय सस्करण सन् १९४५ मे प्रकाश मे आया था । कवि की भाषा-सबंधी जो परिचयात्मक आलोचना इस पुस्तक मे दी गयी है, वह सशोधित-परिवर्द्धित रूप मे भटनागर जी की सन् १९५२ मे प्रकाशित 'सूर-समीक्षा' नामक ग्रथ मे मिल जाती है । अतएव 'भूमिका' की भाषा-विषयक चर्चा का कोई महत्व नहीं रह जाता ।

८ **सूर-साहित्य**—पडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह पुस्तक सन् १९४६ मे प्रकाशित हुई थी । सूरदास का परिचय और उनके काव्य का महत्व, इसका वर्ण्य विषय है, परन्तु भाषा के सबध मे सागोपाग विवेचन इसमे भी नहीं है ।

९ **अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय**—सन् १९४७ मे प्रकाशित डा० दीनदयालु गुप्त के इस महत्वपूर्ण ग्रथ मे सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य सात कवियो के जीवन चरित्र, ग्रथ, और दार्शनिक विचारो के गवेषणात्मक विस्तृत परिचय के साथ-साथ विद्वतापूर्ण समीक्षा भी दी गयी है । सूरदास के जीवन-चरित् और उनकी रचनाओ की प्रामाणिकता पर विशेष विस्तार से विचार किये जाने पर भी विशेष कारणो से सूर-काव्य की समीक्षा इसमे नही की गयी है, नन्ददास की भाषा के साथ सूरदास की भाषा पर कुछ प्रकाश अवश्य डाला गया है ।

१० **सूरदास**—डा० ब्रजेश्वर वर्मा के इस ग्रथ का द्वितीय सस्करण सन् १९५० मे प्रकाशित हुआ था । वस्तुत सूर-साहित्य के सागोपाग अध्ययन के विचार से यह एक महत्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है । कवि की भाषा-समीक्षा की दृष्टि से द्वितीय सस्करण की विशेषता यह है कि इसमे 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' की भाषाओ का भी वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन जोडा गया है[1] । 'भाषा-शैली और छद' शीर्षक इसका एक परिच्छेद पतालीस पृष्ठो का है जिसमे केवल भाषा की चर्चा लगभग एक चौथाई भाग मे है । सूर-साहित्य के किसी भी समीक्षात्मक ग्रथ मे कवि की भाषा के सबध मे यद्यपि इतने विस्तार से विचार नही किया गया है और डा० वर्मा के ग्रथ की विषय-सूची के अनुसार, अनुपात के विचार से भी, यह विस्तार उपयुक्त ही समझा जायगा, तथापि सभवत स्थान-सकोच और काव्य के अनेक अंगो मे से केवल एक होने के कारण भाषा और उससे सबधित विषयो को, एक प्रकार से, छू भर लिया गया है, ब्रजभाषा की उत्पत्ति और विकास, सूर की ब्रजभाषा को देन, सूर का व्याकरणिक दृष्टिकोण आदि आवश्यक प्रसगो पर प्रकाश डालने का लेखक को अवकाश नही मिल सका है । सभवत उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गये प्रबंध की निर्दिष्ट सीमाएँ ही इसका कारण हैं ।

---

१. 'सूरदास' की 'प्रस्तावना, पृ० ६ ।

११. सूर-निर्णय—श्री द्वारका दास पारिख और श्री प्रभुदयाल मीतल के सन् १९४९ मे प्रकाशित इस ग्रथ मे सूरदास के जीवन, ग्रथ, सिद्धात और काव्य की निर्णयात्मक समीक्षा देने का उल्लेख लेखक द्वय ने मुखपृष्ठ पर ही किया है। जीवन चरित्र और ग्रथ-सबधी समीक्षा के लिए तो 'निर्णयात्मक' विशेषण किसी सीमा तक सार्थक मानने की लेखको को स्वतत्रता हो सकती है, परन्तु सिद्धात और काव्य की सक्षिप्त विवेचना को 'निर्णयात्मक' कहने का तात्पर्य स्पष्ट नही होता। जो हो, 'काव्य-निर्णय' शीर्षक परिच्छेद के अतर्गत केवल तीन-चार पृष्ठो मे ही सूर-काव्य की भाषा पर इस ग्रथ मे विचार किया गया है और उसमे भी कवि का ब्रजभाषा संबधी कोई उदाहरण न देकर केवल उसकी खडीबोली-मिश्रित भाषा का एक लंबा उद्धरण दिया गया है जिसकी प्रामाणिकता ही सदिग्ध है ।

१२. महाकवि-सूरदास—सन् १९५२ मे प्रकाशित प० नददुलारे वाजपेयी के इस ग्रथ मे, सूरदास के काव्य, जीवन, भक्ति-सिद्धातो आदि का अतरग विवेचन है, परन्तु भाषा के सबध मे विचार इसमे भी नही किया गया है।

१३. सूर-समीक्षा—डा० रामरतन भटनागर का यह ग्रथ भी सन् १९५२ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे सूर की भाषा-शैली का परिचय आठ पृष्ठो मे दिया गया है। 'सूरसागर' के पदो मे कवि की भाषा के कितने रूप मिलते हैं, सक्षेप मे यही दिखाना लेखक का उद्देश्य है और उसने कोई नयी बात नही दी है।

१४. सूरदास—डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल की इस छोटी सी पुस्तक का संपादन उनके स्वर्गवास के पश्चात डा० भगीरथ मिश्र ने किया था। सूरदास का केवल जीवन-चरित्र ही इसमे दिया हुआ है।

१५. सूर-समीक्षा—डा० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' की यह पुस्तक सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थी। इसमे सूर-काव्य की कुछ विशेषताओ पर तो गभीरता से विचार किया गया है, परन्तु भाषा के सबध मे सामान्य बाते ही दी गयी हैं।

१६. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश शर्मा का यह ग्रथ सन् १९५५ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे भी सूरदास की भाषा की चर्चा पद्रह-सोलह पृष्ठो मे ही है और कोई नयी बात नही दी गयी है।

उक्त प्राय सभी ग्रथ सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने के लिए तो उपयोगी है, परन्तु कवि की भाषा का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक नही हैं। कवि सूर की जीवनी और ग्रथो की प्रामाणिकता की समस्या ने इनमे से अधिकाश ग्रथो का इतना अधिक भाग घेर लिया है कि काव्य के सभी अगो पर पर्याप्त विस्तार से विचार नही किया जा सका है। अतएव सूर-काव्य की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन करने मे उक्त ग्रथो से विशेष सहायता नही मिल सकती।

सूरदास की ब्रजभाषा के अध्ययन की रूपरेखा का जो परिचय ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि इस महाकवि की भाषा का अध्ययन जिस विस्तार से होना चाहिए था,

अभी तक नही हो सका है। काव्य-भाषा का अध्ययन ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्याकरणिक, व्यावहारिक और सास्कृतिक दृष्टियो से किया जाना चाहिए। इनमे से कुछ पक्षो पर ही हमारे आलोचको ने बहुत सक्षेप मे विचार किया है। अतएव उक्त सभी दृष्टियो से सूरदास की व्रजभाषा के विस्तृत और सागोपाग अध्ययन का कार्य अभी शेष है।

सूर की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन न होने के कारण—

यहाँ स्वभावत प्रश्न होता है कि जब सूर-साहित्य का सम्मान साहित्य-प्रेमियो मे दिनो-दिन बढता जाता है और पिछले लगभग पचीस वर्षो से उनकी काव्य-कला के विभिन्न पक्षो पर अनुसधानपूर्ण प्रबध और ग्रथ लिखे जा रहे है, तब व्रजभाषा के इस सर्वप्रथम अभिनन्दनीय कवि की भाषा का सर्वांगीण और विस्तृत अध्ययन क्यो नही किया गया? प्रस्तुत प्रबध के लेखक की सम्मति मे इसके निम्नलिखित पाँच प्रमुख कारण हो सकते हैं—

क—सूर-काव्य का बहुत समय तक कोई अच्छा सस्करण सुलभ नही रहा। लखनऊ और बम्बई से 'सूरसागर' और 'सारावली' के जो सस्करण प्रकाशित हुए थे वे भी अधिक समय तक सर्वसुलभ नही रहे।

ख—सूर-काव्य के प्रामाणिक पाठ का अभाव आरभ से ही बना रहा। भाषा के अध्ययन का कार्य तभी प्रारभ होता है जब कवि-विशेष की रचनाओ का प्रामाणिक पाठ उपलब्ध हो। अतएव उक्त 'सूरसागरो' के प्रकाशित सस्करणो के समाप्त हो जाने के पश्चात् सूर-काव्य के समालोचक बहुत समय तक उनकी रचनाओ के प्रामाणिक पाठ की प्रतीक्षा मे रहे।

ग—डा० बाबूराम सक्सेना-कृत 'अवधी भाषा का विकास' नामक विद्वत्तापूर्ण अँग्रेजी ग्रथ के प्रकाशित होने के पश्चात् भी व्रजभाषा का कोई वृहत् इतिहास सुलभ न था जो समालोचको को सूर-काव्य की भाषा का विस्तृत अध्ययन करने की प्रेरणा देता। डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'ला लाँग व्रज' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रथ फ्रेंच भाषा मे होने के कारण एक प्रकार से अप्राप्त ही रहा।

घ—व्रजभाषा का कोई सपूर्ण व्याकरण भी सुलभ न था जो सूरदास की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन करने के लिए समालोचको को प्रोत्साहित करता।

च—सबसे प्रधान बात यह थी कि हिन्दी के अधिकाश समालोचको की मनोवृत्ति प्रारभ से ही कवियो की भाव-व्यजना-विषयक विशेषताओ का सोदाहरण परिचय देने की ओर जितनी रही, उतनी भाषा के सर्वांगीण विवेचन की ओर नही। यही कारण है कि किसी भी प्रतिष्ठित कवि की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नही किया जा सका है।[1] यही मनोवृत्ति सूरदास की भाषा के सागोपाग विवेचन मे बाधक रही है।

---

१. डा० देवकी नदन श्रीवास्तव ने 'तुलसी की भाषा' पर प्रबध लिखकर लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. उपाधि पायी है। यह प्रबध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है—लेखक।

प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य और क्षेत्र—

महाकवि सूरदास की भाषा के विस्तृत और सर्वांगीण अध्ययन का जो कार्य हिन्दी मे अभी तक नही हो सका है, उसकी पूर्ति का एक प्रयास करना प्रस्तुत ग्रथ का उद्देश्य है। साहित्यिक या काव्य-भाषा-सम्बन्धी विवेचन के जितने पक्ष हो सकते हैं—यथा ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्याकरणिक, शास्त्रीय, व्यावहारिक और सास्कृतिक – उन सभी को लेकर इस प्रकार के कार्य को संपन्न करने की आवश्यकता तो निर्विवाद है ही, परन्तु सूर-साहित्य का सर्वमान्य प्रामाणिक सस्करण सुलभ न होने के कारण लेखक का दायित्व बहुत बढ जाता है। 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' की प्राचीन प्रतियो की तो अभी खोज नही हुई है, 'सूरसागर' की छोटी-बडी हस्तलिखित प्रतियो की सख्या ही तीन दर्जन से ऊपर है जो विभिन्न विद्वानो के पास और अनेक साहित्यिक सस्थाओ तथा पुस्तकालयो मे सुरक्षित है। इनके पाठो को मिलाकर प्रामाणिक पाठ तक पहुँचना, एक व्यक्ति का नही, कई अध्येताओ की समिति का कार्य है। अतएव लखनऊ, बम्बई और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'सूरसागरो' का पाठ बहुत सामान्य दृष्टि से मिलाते हुए ही सूरदास की भाषा का यह अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।



१. व्रजभाषा-विकास और सूर का भाषा-ज्ञान

व्रज और व्रजभाषा—

हिंदी के 'व्रज' शब्द का तत्सम रूप 'व्रज' है जो 'व्रज्' (=जाना) धातु से बना है। मध्यदेश और उसकी भाषा का विशेष अध्ययन करके डा० धीरेन्द्र वर्मा इस निष्कर्ष[1] पर पहुचे है कि 'व्रज' शब्द का पहली बार प्रयोग 'ऋग्वेद-सहिता' मे मिलता है[2], किंतु यहाँ यह शब्द ढोरो के चरागाह या बाडे अथवा पशु-समूह के अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। कुछ-कुछ इसमे मिलता-जुलता अर्थ सस्कृत की एक प्राचीन उक्ति—व्रजति गावो यस्मिन्नित व्रज—का भी है जिसके अनुसार 'व्रज' उस स्थान को कहा गया है जहाँ नित्य गाएँ चलती या चरती हो[3]। डा० धीरेंद्र वर्मा के अनुसार, 'हरिवश आदि पौराणिक साहित्य मे भी इस शब्द का प्रयोग मथुरा के निकटस्थ नद के व्रज अर्थात् गोष्ठ-विशेष के अर्थ मे ही हुआ है'[4]। कालातर मे, मथुरा का चतुर्दिक प्रदेश व्रज या व्रजमडल के नाम से प्रसिद्ध हो गया जिसके अन्तर्गत बारह वन[5] और चौबीस

---

१. 'नाम-माहात्म्य' का 'श्रीव्रजाक', अगस्त १९४० मे 'व्रजभाषा' शीर्षक लेख और 'व्रजभाषा-व्याकरण' की भूमिका, पृ ९।

२. जैसे ऋग्वेद म० २, सू० ३८, म० ८, म० ५, सू० ३५, म० ४, म० १०, सू० ४, म० २ इत्यादि—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९।

३ डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ५।

४. जैसे—तद् व्रजस्थानमधिकम् शुशुमे काननावृतम् (हरिवश, विष्णुपर्व, अ० ९, श्लो० ३०) और कस्मान्मुकुदो भगवान् पितुर्गेहाद्व्रज गत (भागवत, स्क० १०, अ० १, श्लो० ९९)।

—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९ की पादटिप्पणी स० २।

५ क व्रज के बारह वन—मधु, ताल, कुमुद, बहुला, काम, खदिर, वृन्दा, भद्र, भाडीर, बेल, लोह और महावन।

—'मथुरा मेम्वायर', (ग्राउज), पृ० ८०-८१।

ख 'सूरसागर-सारावली' मे भी वनो के नाम दिये गये हैं—

यहि विधि क्रीडत गोकुल मे हरि निज बृन्दावन धाम।
मधुबन और कुमुदबन सुदर बहुलावन अभिराम।
नदग्राम सकेत खिदरबन और कामवन धाम।
लोहबन माठ बेलबन सुदर भद्र बृहद गन ग्राम॥

—'सारावली', छद १०८८-८९, पृ० ९८।

उपवन[1] कहे गये है तथा जिसकी परिधि चौरासी कोस की मानी गयी है[2]। इनका विस्तृत विवरण डा० गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' नामक ग्रथ मे दिया है[3]।

हिंदी-साहित्य मे व्रज या व्रज शब्द सबसे पहले मथुरा के निकटवर्ती प्रदेश अर्थात् व्रज-मडल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है[4]। यह बडे आश्चर्य की बात है कि हिंदी भाषा और साहित्य के प्रथम दो विकास-कालो मे यहाँ की भाषा को 'व्रजभाषा' सज्ञा नहीं दी गयी। परतु इतना निश्चित है कि कम से कम सस्कृत से, जन-भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए, किसी न किसी शब्द का प्रयोग अवश्य किया जाता होगा और वह शब्द है 'भाषा'। हिंदी के प्राचीन कवियो ने जब-जब भाषा-विशेष के अर्थ मे इसका प्रयोग किया, तब-तब उनका आशय जन-साधारण मे प्रचलित उस बोली या विभाषा मे रहा जो साहित्यिक भाषा की विशेषताओ से युक्त हो चुकी थी, जिसमे साहित्य-रचना भी होती थी और जो सस्कृत से भिन्न थी[5]। अतएव दसवी शताब्दी से लेकर आज तक

---

१. व्रज के चौबीस उपवन —गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नदगाँव, सकेत, परमभद्र, अरींग, शेषशायी, माट, ऊँचागाँव, खेलवन, श्रीकुड, गधर्ववन, परसौली, बिलछू, बछबन, आदिबद्री, करहला, अजनोख, पिसायोबन, कोकिलावन, दधिबन, कोटबन, और रावलवन। —'मथुरा मेम्वायर', (ग्राउज), पृ० ८०-८१।

२. व्रजमंडल के विस्तार के सबध मे ये दो कथन विशेष प्रसिद्ध हैं—

क. इत बरहद इत सोननद, उत सूरसेन को गाँव।
व्रज चौरासी कोस मे मथुरा मंडल माँह॥

ख. पूर्वं ह्यास्यवनं नीय पश्चिमस्योपहारिकं।
दक्षिणे जह्नुसज्ञाकं भुवनाख्यं तथोत्तरे।

३. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ७।

४. क. सो एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु अडेल ते व्रज को पाव धारे।
—'चौरासी वैष्णव की वार्ता', पृ० १७२।

ख. एक समय गोविंददास अंतरी ग्राम से व्रज को आये।
—'२५२ वैष्णव की वार्ता', पृ० १।

५. डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रसंग में लिखा है—'बहुत समय तक वैदिक सस्कृत से भेद करने के लिए लौकिक सस्कृत 'भाषा' कहलाती थी। बाद को लौकिक सस्कृत से भेद करने के लिए प्राकृत तथा अपभ्रंश और फिर प्राकृत तथा अपभ्रंश से भेद दिखलाने के लिए आधुनिक आर्यभाषाएँ 'भाषा' नाम से पुकारी गयीं। 'भाषा' शब्द वास्तव मे समकालीन बोली जानेवाली भाषा के अर्थ मे बराबर प्रयुक्त हुआ है—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० १० और ११, पादटिप्पणी २। मेरी सम्मति मे हिंदी की उत्पत्ति और उसके विकास पर प्रकाश डालते समय आधुनिक विद्वानों ने भले ही 'भाषा' शब्द का प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश से भेद दिखाने के लिए किया हो, परंतु कबीर, तुलसी, केशव आदि का 'भाषा' शब्द से आशय केवल सस्कृत से ही उसका अंतर सूचित करना रहा होगा, प्राकृत और अपभ्रंश से नहीं—लेखक।

१. व्रजभाषा-विकास और सूर का भाषा-ज्ञान

व्रज और व्रजभाषा—

हिंदी के 'व्रज' शब्द का तत्सम रूप 'व्रज' है जो 'व्रज्' (= जाना) धातु से बना है। मध्यदेश और उसकी भाषा का विशेष अध्ययन करके डा० धीरेन्द्र वर्मा इस निष्कर्ष[1] पर पहुँचे हैं कि 'व्रज' शब्द का पहली बार प्रयोग 'ऋग्वेद-संहिता' में मिलता है[2], किंतु यहाँ यह शब्द ढोरों के चरागाह या बाड़े अथवा पशु-समूह के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ-कुछ इससे मिलता-जुलता अर्थ संस्कृत की एक प्राचीन उक्ति—व्रजंति गावो यस्मिन्निति व्रज —का भी है जिसके अनुसार 'व्रज' उस स्थान को कहा गया है जहाँ नित्य गाएँ चलती या चरती हों[3]। डा० धीरेंद्र वर्मा के अनुसार, 'हरिवंश आदि पौराणिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग मथुरा के निकटस्थ नंद के व्रज अर्थात् गोष्ठ-विशेष के अर्थ में ही हुआ है'[4]। कालांतर में, मथुरा का चतुर्दिक प्रदेश व्रज या व्रजमंडल के नाम से प्रसिद्ध हो गया जिसके अंतर्गत बारह वन[5] और चौबीस

---

१. 'नाम-माहात्म्य' का 'श्रीव्रजांक', अगस्त १९४० में 'व्रजभाषा' शीर्षक लेख और 'व्रजभाषा-व्याकरण' की भूमिका, पृ ९।

२. जैसे ऋग्वेद म० २, सू० ३८, मं० ८, मं० ५, सू० ३५, मं० ४; मं० १०, सू० ४, मं० २ इत्यादि—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९।

३ डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ५।

४. जैसे—तद् व्रजस्थानमधिकम् शुशुभे काननावृतम् (हरिवंश, विष्णुपर्व, अ० ९, श्लो० ३०) और कस्मान्मुकुंदो भगवान् पितुर्गेहाद्व्रजं गत (भागवत, स्क० १०, अ० १, श्लो० ९९)।

—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९ की पादटिप्पणी सं० २।

५ क व्रज के बारह वन—मधु, ताल, कुमुद, बहुला, काम, खदिर, वृन्दा, भद्र, भांडीर, बेल, लोह और महावन।

—'मथुरा मेम्वायर', (ग्राउज), पृ० ८०-८१।

ख 'सूरसागर-सारावली' में भी वनों के नाम दिये गये हैं—

यहि बिधि क्रीडत गोकुल में हरि निज बृन्दावन धाम।
मधुबन और कुमुदबन सुंदर बहुलाबन अभिराम।
नवग्राम संकेत खिदरबन और कामबन धाम।
लोहबन माठ बेलबन सुंदर भद्र बृहद गन ग्राम॥

—'सारावली', छंद १०८८-८९, पृ० ९८।

जिस स्थान और जिस समय मे जो भापा जन-साधारण मे प्रचलित रही, उसी के लिए 'भापा' शब्द का प्रयोग किया गया । गोस्वामी तुलसीदास जब 'का भापा का संस्कृत'[1] कहते हैं, तब उनका आशय सामान्य जन-भापा से है, परतु 'रामचरितमानस', के सबध मे 'भापा भनिति भोरि मति भोरी'[2] कहते समय 'भापा' मे उनका तात्पर्य अवधी से है, यद्यपि उनके अनेक ग्रथ व्रजभापा मे भी है । इसी प्रकार नददास 'ताही ते यह कथा जथामति भापा कीनी'[3] और केशवदास के—

उपज्यो तेहि कुल मदमति सठ कवि केसवदास ।
रामचद्र की चद्रिका भापा करी प्रकाम ॥[4]

+ + + +

भापा बोलि न जानही जिनके कुल के दास ।
भापा कवि भो मदमति तेहि कुल केसवदास ॥[5]

कथनो मे 'भापा' शब्द से आशय व्रजभापा से है । इसी प्रकार बीसवी शताब्दी के सस्कृतज्ञ पडित जब आधुनिक हिंदी को 'भापा कहते है, तब वे इसके द्वारा खडीबोली-रूप की ओर ही सकेत करते हैं ।

व्रज-मंडल या प्रदेश की साहित्यिक भापा के अर्थ मे 'व्रजभापा' शब्द का प्रयोग कदाचित् सबसे पहले भिखारीदास (कविता-काल सन् १७२५ से १७५०) -कृत 'काव्य-निर्णय' मे हुआ है—

भाषा व्रजभाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ ।
मिलै सस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ[6] ॥

इसी के साथ-साथ अपने उक्त ग्रथ मे भिखारीदास ने अवधी के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग किया गया है—

व्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि ।
सहज पारसीहू मिलै, षट बिधि कवित बखानि[7] ॥

इन दोनो अवतरणो से यह भी स्पष्ट होता है कि व्रजभाषा के सबध मे उन्होने एक बात और भी लक्ष्य की थी । वह यह कि व्रजभाषा, कम से कम उनके समय मे, अपने शुद्ध रूप मे प्रचलित नही थी और उसमे अनेक भाषाओ के शब्द मिल गये थे जिन्हे

---

१. 'दोहावली', दोहा ५७२ ।
२. 'रामचरितमानस', 'बालकांड', दोहा ९ ।
३. 'रासपचाध्यायी', अ. १, पृ० ४० ।
४. 'रामचद्रिका', पहला 'प्रकाश', दोहा ५ ।
५. 'कविप्रिया', पृ० २१, छ० ७ ।
६. 'भिखारीदास', 'काव्य-निर्णय, पृ० ६ ।
७. भिखारीदास, 'काव्य-निर्णय', पृ० ६ ।

जिस स्थान और जिस समय मे जो भाषा जन-साधारण मे प्रचलित रही, उसी के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया। गोस्वामी तुलसीदास जब 'का भाषा का संस्कृत'[1] कहते है, तब उनका आशय सामान्य जन-भाषा से है, परतु 'रामचरितमानस', के सबध मे 'भाषा भनिति भोरि मति भोरी'[2] कहते समय 'भाषा' मे उनका तात्पर्य अवधी से है, यद्यपि उनके अनेक ग्रथ व्रजभाषा मे भी हैं। इसी प्रकार नददास 'ताही ते यह कथा जथामति भाषा कीनी'[3] और केशवदास के—

उपज्यो तेहि कुल मदमति मठ कवि केसवदास।
रामचद्र की चद्रिका भाषा करी प्रकास॥[4]

\+ \+ \+ \+

भाषा बोलि न जानही जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास॥[5]

कथनो मे 'भाषा' शब्द से आशय व्रजभाषा से है। इसी प्रकार बीसवी शताब्दी के सस्कृतज्ञ पडित जब आधुनिक हिंदी को 'भाषा' कहते है, तब वे इसके द्वारा खडीबोली-रूप की ओर ही सकेत करते हैं।

व्रज-मडल या प्रदेश की साहित्यिक भाषा के अर्थ मे 'व्रजभाषा' शब्द का प्रयोग कदाचित् सबसे पहले भिखारीदास (कविता-काल सन् १७२५ से १७५०) -कृत 'काव्य-निर्णय' मे हुआ है—

भाषा व्रजभाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै सस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ[6]॥

इसी के साथ-साथ अपने उक्त ग्रथ मे भिखारीदास ने अवधी के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग किया गया है—

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि।
सहज पारसीहू मिलै, षट बिधि कवित बखानि[7]॥

इन दोनो अवतरणो से यह भी स्पष्ट होता है कि व्रजभाषा के सबध मे उन्होने एक बात और भी लक्ष्य की थी। वह यह कि व्रजभाषा, कम से कम उनके समय मे, अपने शुद्ध रूप मे प्रचलित नही थी और उसमे अनेक भाषाओ के शब्द मिल गये थे जिन्हे

---

१. 'दोहावली', दोहा ५७२।
२. 'रामचरितमानस', 'बालकाड', दोहा ९।
३. 'रासपचाध्यायी', अ. १, पृ० ४०।
४. 'रामचद्रिका', पहला 'प्रकाश', दोहा ५।
५. 'कविप्रिया', पृ० २१, छ० ७।
६. 'भिखारीदास', 'काव्य-निर्णय, पृ० ६।
७. भिखारीदास, 'काव्य-निर्णय', पृ० ६।

जिस स्थान और जिस समय मे जो भाषा जन-साधारण मे प्रचलित [illegible]

उसने आत्मसात् कर लिया था। भिखारीदास के पश्चात् ब्रज-प्रदेश की बोली का यह नामकरण साहित्य-जगत् मे स्वीकृत हो गया और आज उसका यह नाम उत्तरी भारत मे सर्वत्र व्यवहृत होता है।

ब्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार—

मथुरा नगर एक प्रकार से ब्रजमडल का केन्द्र स्थान है। इसके आसपास का भू-भाग प्राचीनकाल से श्रीकृष्ण के पितामह शूरसेन के नाम पर 'शौरसेन प्रदेश' कहलाता रहा है। इतिहासकारो के अनुसार, मथुरा नगरी इस प्रदेश की राजधानी थी[1]। सातवी शताब्दी तक इस प्रदेश का विस्तार बहुत बढ गया था और पश्चिम मे सिंधु नदी तथा दक्षिण मे नरवर और शिवपुरी तक इसकी सीमाएँ पहुँच गयी थी। उस समय भरतपुर, बरौली, धौलपुर, ग्वालियर आदि भी इसी के अतर्गत थे[2]। मिर्जाखाँ के 'तुहफतुल हिंद' नामक ब्रजभाषा व्याकरण मे ग्वालियर के अतिरिक्त चद्रवार[3] भी ब्रजभाषी प्रदेश मे ही माना गया है[4]।

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने धार्मिक दृष्टि से आधुनिक ब्रजमडल की सीमाओ के संबध मे विचार करके, वर्तमान ज्ञात स्थानो और वनो के आधार पर, उसकी रूपरेखा इस प्रकार दी है—'उत्तर मे गुडगांव जिले की हद पर स्थित भुवनवन और कोटवन, पश्चिम मे भरतपुर राज्य के कामवन और चरण पहाडी, पूर्व मे अलीगढ के बरहद और हास्यवन (वर्तमान हसाइन) तथा दक्षिण की हद आगरे के निकट तक'[5]। इसी प्रसग मे उनका कथन है कि यदि मथुरा को केन्द्र मानकर उक्त स्थानो को स्पर्श करता हुआ एक गोला खीचा जाय तो ब्रज की प्रसिद्ध चौरासी कोस की यात्रा की परिधि का मडल बनता है और उसके अतर्गत ब्रज के सभी मुख्य स्थान आ जाते है[6]। उक्त मडल के अतर्गत डॉक्टर गुप्त द्वारा जो स्थान लाये गये है, उनको भाषा या बोली की दृष्टि से नही, प्रत्युत श्रीकृष्ण की सगुण लीलाओ को ध्यान मे रखकर और प्रसिद्ध तीर्थ या धाम के रूप मे प्रख्यात मान कर, यात्रा की सुविधा के उद्देश्य से, एक मंडलाकार परिधि द्वारा सबधित कर दिया गया है जिसका महत्त्व धार्मिक अधिक है। साधारणतया इस मडल

---

१. श्री नंदलाल डे-कृत 'दी ज्योग्रैफिकल डिक्शनरी आव एनशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया' सन् १८९९—'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय में उद्धृत, पृ० ३।

२. 'हिंदी की प्रादेशिक भाषाएँ', सन् १९४९, पृ० २७।

३. चदवार, छदवार या जनवार जिला आगरे से पचीस मील पूर्व मथुरा से इटावा के मार्ग पर जमुना नदी के किनारे है जिसमे अधिकांशतः चौहानों की बस्ती है।

—'आइने अकबरी', जैरेट, पृ १८३।

४. श्री जियाउद्दीन, 'ए ग्रैमर आव ब्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ७।

...और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

...र वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

उसने आत्मसात् कर लिया था। भिखारीदास के पश्चात् व्रज-प्रदेश की बोली का यह नामकरण साहित्य-जगत् मे स्वीकृत हो गया और आज उसका यह नाम उत्तरी भारत मे सर्वत्र व्यवहृत होता है।

व्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार—

मथुरा नगर एक प्रकार से व्रजमडल का केन्द्र स्थान है। इसके आसपास का भू-भाग प्राचीनकाल से श्रीकृष्ण के पितामह शूरसेन के नाम पर 'शौरसेन प्रदेश' कहलाता रहा है। इतिहासकारो के अनुसार, मथुरा नगरी इस प्रदेश की राजधानी थी[1]। सातवी शताब्दी तक इस प्रदेश का विस्तार बहुत बढ गया था और पश्चिम मे सिंधु नदी तथा दक्षिण मे नरवर और शिवपुरी तक इसकी सीमाएँ पहुँच गयी थी। उस समय भरतपुर, बरौली, धौलपुर, ग्वालियर आदि भी इसी के अतर्गत थे[2]। मिर्जाखाँ के 'तुहफतुल हिंद' नामक व्रजभाषा व्याकरण मे ग्वालियर के अतिरिक्त चद्रवार[3] भी व्रजभाषी प्रदेश मे ही माना गया है[4]।

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने धार्मिक दृष्टि से आधुनिक व्रजमडल की सीमाओ के सबध मे विचार करके, वर्तमान ज्ञात स्थानो और वनो के आधार पर, उसकी रूपरेखा इस प्रकार दी है—'उत्तर मे गुडगांव जिले की हद पर स्थित भुवनवन और कोटवन, पश्चिम मे भरतपुर राज्य के कामवन और चरण पहाडी, पूर्व मे अलीगढ के बरहद और हास्यवन (वर्तमान हसाइन) तथा दक्षिण की हद आगरे के निकट तक'[5]। इसी प्रसग मे उनका कथन है कि यदि मथुरा को केन्द्र मानकर उक्त स्थानो को स्पर्श करता हुआ एक गोला खीचा जाय तो व्रज की प्रसिद्ध चौरासी कोस की यात्रा की परिधि का मडल बनता है और उसके अतर्गत व्रज के सभी मुख्य स्थान आ जाते हैं[6]। उक्त मडल के अतर्गत डॉक्टर गुप्त द्वारा जो स्थान लाये गये हैं, उनको भाषा या बोली की दृष्टि से नही, प्रत्युत श्रीकृष्ण की सगुण लीलाओ को ध्यान मे रखकर और प्रसिद्ध तीर्थ या धाम के रूप मे प्रख्यात मान कर, यात्रा की सुविधा के उद्देश्य से, एक मंडलाकार परिधि द्वारा सबधित कर दिया गया है जिसका महत्त्व धार्मिक अधिक है। साधारणतया इस मडल

---

१. श्री नंदलाल डे-कृत 'दी ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी आव एनशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया' सन् १८९९—'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय मे उद्धृत, पृ० ३।
२. 'हिंदी की प्रादेशिक भाषाएँ', सन् १९४९, पृ० २७।
३. चंदवार, छंदवार या जनवार जिला आगरे से पचीस मील पूर्व मथुरा से इटावा के मार्ग पर जमुना नदी के किनारे है जिसमे अधिकाशतः चौहानो की बस्ती है।

—'आइने अकबरी', जैरेट, पृ १८३।

४. श्री जियाउद्दीन, 'ए ग्रैमर आव व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ७।
५. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।
६. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

मे अतर्वर्ती प्रदेश मे तो व्रजभाषा बोली ही जाती है, उसका क्षेत्र-विस्तार इस परिधि के बाहर भी है। वस्तुत व्रजभाषा का विशुद्ध रूप मथुरा, आगरा, एटा, अलीगढ, धौलपुर आदि स्थानो मे पाया जाता है।

व्रजमडल के चारो ओर अर्थात् गगा-यमुना के मध्यवर्ती[1] और यमुना के दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेश मे बोली जानेवाली भाषा भी व्रज की बोली ही है, यद्यपि स्थान के व्यवधान के फलस्वरूप उसपर थोडा-बहुत अन्य भाषाओ का प्रभाव भी पडने लगता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, 'गुडगाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग मे इसमे राजस्थानी तथा बुदेली की कुछ-कुछ झलक आने लगती है। बुलन्दशहर, बदायूँ और नैनीताल की तराई मे खडीबोली का प्रभाव शुरू हो जाता है तथा एटा, मैनपुरी और बरेली जिलो मे कुछ कन्नौजीपन आने लगता है। वास्तव मे पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कन्नौजी की अपेक्षा व्रजभाषा के अधिक निकट है'[2]। वस्तुत व्रजभाषा ने अपने क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए निकटवर्ती सभी प्रमुख बोलियो और विभाषाओ की उन मुख्य-मुख्य विशेषताओ को अपना लिया जो उसको अधिक सौष्ठव अथवा काव्यभाषोचित गुण प्रदान करने मे सहायक हो सकती थी। साहित्यिक भाषा के लिए इस प्रकार की ग्रहण-शीलता अनिवार्य होती है, इसी से उसमे जीवन-शक्ति बढती है और तभी वह जीवित भाषा कहलाने की अधिकारिणी बनती है। परन्तु इसका एक परिणाम यह भी होता है कि विशुद्ध बोली से उसका सबध क्रमश कम होता जाता है। व्रजमडल की विशुद्ध बोली और साहित्यिक व्रजभाषा मे किस प्रकार अतर होना आरभ हुआ, यह बात सूरदास के समय से ही स्पष्ट होने लगती है। व्रजभाषा-भाषी होने और जीवन भर उसी क्षेत्र मे रहकर रचना करने के कारण सूरदास ने उसके प्रकृत स्वरूप की रक्षा अवश्य की, फिर भी उनकी भाषा सर्वत्र ठेठ बोली की विशुद्धता से युक्त नही है। और उनके परवर्ती कवियो ने तो विभिन्न स्थानगत विशेषताओ का उसमे समावेश करके व्रजभाषा की व्यजना-शक्ति बढाने का जो प्रयत्न सोलहवी शताब्दी से आरम्भ किया, उसकी निरतरता का क्रम लगभग तीन सौ वर्ष तक अनवरत गति से चलता रहा। इसी कारण वह सूरदास की भाषा से, आगे चलकर, बहुत सी बातो मे भिन्न हो गयी। फिर भी साहित्यिक व्रजभाषा का मूलाधार व्रजप्रदेश की सामान्य बोली ही रही और अन्य विभाषाओ तथा भाषाओ की विशेषताओ का समावेश उसमे इतनी सहज गति से किया गया कि सामान्य पाठक को प्रथम और अतिम विकास-कालो के भाषा-रूपो मे अटपटापन नही जान पडता।

व्रजभाषा मे केवल व्रजप्रदेशीय कवियो ने ही रचनाएँ की हो, सो बात भी नही है। सूरदास और उनके समकालीन कुछ कवि अवश्य व्रजभाषी थे, धीरे-धीरे

---

१. मिर्जाखाँ के 'तुहफतुल हिंद' नामक व्याकरण मे भी गगा-यमुना के बीच के प्रदेश को 'व्रजभाषा-प्रात' कहा गया है। देखिए—भूमिका, विश्वभारती सस्करण, सन् १९३५, पृ० ७।

२ 'हिंदी भाषा का इतिहास', भूमिका, पृ० ६५।

समीपवर्ती प्रदेशो के साथ-साथ व्रजभाषा मे रचना करनेवाले दूरस्थ क्षेत्रीय कवियो की सख्या भी बढ़ने लगी। इनमे से अधिकाश कवियो ने व्रजभूमि मे रहकर नही, उसके साहित्यिक रूप का अध्ययन करके ही व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त किया था और तदनतर वे काव्य-रचना मे प्रवृत्त हुए थे। उनकी इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ही सन् १७४६ मे भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' मे लिखा था कि व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्रज-वास की आवश्यकता नही है, केवल उसके कवियो की वाणी का विधिवत् अध्ययन कर लेने से ही काम चल सकता है—

व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानो,
ऐसे - ऐसे कविन्ह की वानीहूँ से जानिए।

बात यह थी कि व्रजभाषा का प्रचार उस समय तक पूर्व बिहार से पश्चिम मे उदयपुर तक और उत्तर मे कमायूँ-गढवाल से दक्षिण मे महाराष्ट्र तक हो गया था। इस विस्तृत भू-भाग मे अनेक बोलियाँ, विभाषाएँ और प्रातीय भाषाएँ थी, परन्तु पाठको के बहुल व्यापक समुदाय से आदर पाने का लोभ तत्कालीन कवियो को व्रजभाषा मे ही रचना करने को प्रवृत्त करता था। जो कवि व्रजप्रदेश के आदिवासी नही थे, उनकी मातृभाषा निश्चय ही भिन्न थी। कन्नौजी, बुन्देली आदि बोलनेवाले तो मातृभाषा को व्रजभाषा से किसी सीमा तक मिलता-जुलता मान भी सकते थे, परन्तु दिल्ली, गढवाल, बनारस, रीवाँ, उदयपुर, गुजरात आदि स्थानो मे और उनके समीपवर्ती प्रदेशो मे बसनेवाले कवियो की मातृभाषा और व्रजभाषा मे पर्याप्त अतर था। फिर भी व्रजभाषा मे सफलतापूर्वक रचना करके इन्होने सिद्ध कर दिया कि उनके समय तक यह उत्तरी भारत की सबसे व्यापक काव्यभाषा थी और इसकी पुष्टि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नही है।

व्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग–

किसी भाषा का निर्माण दो-चार वर्षो मे नही होता, सामान्य बोल-चाल की विभाषा से साहित्यिक भाषा बनने मे दो-तीन शताब्दियाँ तक लग जाती है। इस व्यवधान मे जो रचनाएँ होती है, प्राय उनकी भाषा मे दोनो रूपो का मिश्रण रहता है। आरंभ मे पूर्व प्रचलित साहित्यिक भाषा के साथ-साथ विकासोन्मुख नवभाषा के थोड़े प्रयोग ही

---

१. भिखारीदास के छंद की प्रारंभिक पंक्तियाँ ये हैं—

सूर, केसव, मडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामनि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए।
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
—'काव्य-निर्णय', पृ० ६।

मिलते हैं, परन्तु धीरे-धीरे इनकी सख्या वढती जाती है और अत मे अनुपात का क्रम वदल कर नवीन भापा, काव्य या साहित्यिक भापा के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है। व्रजभापा के विकास का क्रम भी यही है। परन्तु इस विपय मे प्रामाणिक रूप से विचार करने के सावन आज इस कारण उपलव्व नही है कि अपभ्रश साहित्य की ओर हमारे विद्वानो का ध्यान पिछले पचीस-तीस वर्षों मे ही गया है और अभी तक उसके इने-गिने ग्रथो का ही प्रकाशन सभव हो सका है। भारत की सभी आधुनिक भापाएँ जव अपभ्रश से ही विकसित हुई हैं तब इसके प्रामाणिक ग्रथ प्रकाशित हो जाने पर ही हिन्दी भापा की उत्पत्ति और उसके व्रजभापा आदि रूपो के विकास के सबध मे नयी वातो का सम्यक ज्ञान हो सकेगा[१]।

अपभ्रश साहित्य मे हिंदी भापा के प्राचीन रूप किस अश तक मिलते हैं, यह दिखाने का सर्वप्रथम प्रयास कदाचित् स्वर्गीय प० श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने किया था और उन्होने 'पुरानी हिंदी' शीर्षक एक लेखमाला भी प्रकाशित की थी[२]। इसके लिए उन्होंने प्राकृत, अपभ्रश आदि भाषाओ के ग्रथो से ऐसे उदाहरण सकलित किये थे जिनमे हिंदी-रूपो के बीज विद्यमान है। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है, 'इस पुरानी हिन्दी (१२वी से १४वी शताब्दी) मे, प्राकृत तथा अपभ्रशपन की मात्रा पर्याप्त है, इसके अतिरिक्त आधुनिकता का जो थोडा पुट इस भापा मे मिलता है वह राजस्थानी-गुजराती भापाओ के प्राचीन रूप की ओर सकेत करता है जैसे 'स' भविष्य का प्रयोग, मूर्द्धन्य वर्णों के प्रयोग की ओर झुकाव आदि। व्रजभापा अथवा वास्तविक हिन्दी का प्राचीन रूप हमे करीब-करीब विलकुल भी नही मिलता'[३]। वस्तुत उन उदाहरणो मे व्रजभापा के दो-चार प्रयोग ही यत्र-तत्र दिखायी देते है और वे भी अपने शुद्ध रूप मे नही, केवल ऐसे रूप मे जो इस बात के द्योतक है कि उन शब्दो की प्रकृति अपभ्रशत्व को छोडकर व्रजभापत्व को अपनाने की ओर झुक रही है। दो-एक उदाहरण यहाँ कथन की पुष्टि मे उद्धृत हैं[४]—

अ अम्मणिओ सदेसडओ तारय कन्ह कहिज्ज ।
जग दालिद्दिह डुब्बिउँ बलिबधणह मुहिज्ज[५] ॥

आ जेह आसावरि देहा दिन्हउ। सुस्थिर डाहरज्जा लिन्हउ[६]।

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'श्री महावीर स्मृति ग्रथ' मे प्रकाशित जैन विद्या-सबधी लेख', शीर्षक निवध, पृ० १७३।

२. प० चद्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेखमाला, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २।

३. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० २९।

४. प० रामचद्र शुक्ल के 'बुद्ध-चरित' मे उद्धृत, पृ० २-३।

५ भावार्थ—'हमारा सदेसा तारक (तारनेवाले) को कहना। जग दारिद्रय मे डूबा है, वलि के बधन छोड दीजिए।

६. भावार्थ—'जिसने आसावरि देश दिया, सुस्थिर डाहर राज्य लिया।

इ जइ यह रावण जाइयउ दहमुह इक्कु सरीर[1]।

ई झाली तुट्टी कि न मुउ कि न हुयउ छार पुंज।
हिंडइ दोरी बंधीअउ जिम मक्कड तिम मुंज[2]।

ये उद्धरण सन् ११८४ मे श्री सोमप्रभाचार्य-कृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध' और सन् १३०४ मे जैनाचार्य मेरुतुंग-कृत 'प्रबंध-चिंतामणि' नामक ग्रंथो के है। इनमे प्रयुक्त संदेसडओ (संदेसडो), डुब्बिड (डूब्यो), दिन्हउ (दीन्हो), लिन्हउ (लान्हो), जाइयउ (जायो), हुयउ (हुओ), बंधीअउ (बंध्यो) आदि रूप इस बात के द्योतक है कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी मे ही प्राचीन ढंग की कविता मे ऐसे शब्दो का प्रयोग होने लगा था, जो व्रजभाषा के, किसी सीमा तक, आदि रूप माने जा सकते है। धीरे-धीरे इन शब्दो का प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढती ही गयी, क्योकि बोलचाल के सामान्य व्यवहार मे तो इनका प्रयोग होता ही होगा, मौखिक गीत-परंपरा मे भी इनकी प्रधानता रही होगी। अस्तु।

हिंदी साहित्य का आरंभ सिद्धो और योगियो[3] तथा जैनाचार्यो की रचनाओ से होता है। इन वर्गो की नवी-दसवी शताब्दियो मे लिखी गयी रचनाओ की भाषा जैसे इस बात की द्योतक है कि अपभ्रंश नाम से प्रचलित साहित्यिक भाषा मे तो रचना होती ही थी, साथ-साथ जनसाधारण की तत्कालीन बोली भी व्यंजना-शक्ति का अर्जन करके साहित्य-रचना के योग्य बनने मे लगी हुई थी। सिद्धो की भाषा को 'सध्या भाषा' कहा गया है जिसका संकेत है कि जिस भाषा मे उनकी रचनाएँ है वह मध्याह्न और अपराह्न का विकास-काल देखने के पश्चात् अब अवस्था के सध्या काल मे पहुँच चुकी है। बिहार प्रदेश मे बहुत काल तक रहने के कारण जिस प्रकार सिद्धो की भाषा मे अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित मगही के कुछ शब्द अधिक मिलते है, वैसे ही गुजरात प्रांत से संबंधित होने के कारण अधिकांश जैनाचार्यो की भाषा मे नागर अपभ्रंश से विकसित हुई तत्कालीन प्रांतीय भाषा का आदिकालीन रूप स्पष्ट दिखायी देता है, तथापि सामूहिक रूप से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के लेखको और कवियो की भाषा एक प्रकार से वही थी जिसका प्रचार पश्चिम मे गुजरात और

---

१. भावार्थ—जब यह दसमुँह और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ।

२. भावार्थ—टूट पड़ी हुई आग से क्यो न मरा, क्षार पुंज क्यो न हो गया जैसे डोरी मे बंधा बंदर, वैसे घूमता है मंजु।

३. सिद्धो और योगियों के साहित्य की ओर हिंदी-जगत का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने का श्रेय डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल [क.नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९३०, भाग ११, अंक ४, मे प्रकाशित, 'हिंदी कविता मे योगप्रवाह' शीर्षक लेख। ख. सन् १९४२ मे प्रकाशित 'गोरखबानी' नामक ग्रंथ] और श्री राहुल सांकृत्यायन [क. 'पुरातत्व निबंधावली, सन् १९३७ और ख 'हिंदी काव्यधारा', सन् १९४५] को है—लेखक।

राजपूताने से लेकर पूर्व मे विहार तक था। व्रजभाषा अपने स्वतत्र रूप मे इस समय तक इतनी विकसित नही हो सकी थी कि उसमे काव्य-रचना की जा सकती। यह दूसरी वात है कि व्रजप्रदेश मे मौखिक पद और गीत उसमे गाये जाते रहे हो, परतु एक तो उनका कोई उदाहरण आज उपलब्ध नही है और दूसरे, उसका स्वरूप भी प्रातीय प्रभाव से युक्त रहा होगा जिसके प्रमाण सिद्धो, योगियो और जैनाचार्यो की रचनाओ मे यत्र-तत्र मिलते हैं।

सूर के पूर्ववर्ती कवि और व्रजभाषा—

'वीरगाथाकाल मे राजस्थान, दिल्ली, कन्नौज, और महोवा साहित्य-रचना के प्रमुख केंद्र थे। साहित्यकारो मे एक वर्ग चारणो का था और दूसरे मे अन्य सभी कवियो को समझना चाहिए जो केवल पुरस्कार-प्राप्ति के लिए साहित्य या काव्य-रचना नही करते थे। प्रथम वर्ग के कवियों अर्थात् चारणो का साहित्य डिंगल भाषा[1] मे है जो राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी, जिसमे पूर्व प्रचलित अपभ्रश का भी मेल था और जो तत्कालीन वातावरण के अनुरूप वीररस की रचनाओ के लिए उपयुक्त समझी जाती थी। वीरगाथाकाल की अधिकाश महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी भाषा मे मिलती हैं। नरपति नाल्ह-कृत 'वीसलदेव रासो'[2] 'चद्रवरदायी-कृत 'पृथ्वीराज रासो', जगनिक-कृत 'आल्हाखड' आदि जो काव्य इस युग मे रचे गये, उनमे व्रजभाषा के इतने अधिक शब्द-रूप मिलते हैं कि उनकी भाषा को इतिहासज्ञो ने वहुत वाद की माना है। 'वीसलदेव रासो' के रचनाकाल के सबध मे विद्वानो मे मतभेद है[3]।

---

१ डिंगल भाषा के सम्बन्ध मे मुंशी देवी प्रसाद का यह कथन है—'मारवाडी भाषा मे 'गलल' का अर्थ वात या वोली है। 'डीगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पांगला' पगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाडी कविता को वहुत ऊँचे स्वरों मे पढ़ते हैं और व्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मद स्वरों मे पढी जाती है। इसीलिए डिंगल और पिंगल सज्ञा हो गयी जिसको दूसरे शब्दो मे ऊँची-नीची वोली की कविता कह सकते हैं—'चाँद', नवम्बर १९२९ मे प्रकाशित 'भाट और चारणो का हिंदी भाषा सम्बन्धी काम' शीर्षक लेख, पृ २०५।

२ श्री नरोत्तम स्वामी के अनुसार इस ग्रथ का ठीक नाम 'वीसलदे-रास' है। देखिए—'वीसल दे-रास' शीर्षक उनका लेख, 'कल्पना', सितम्बर १९५३, पृ ७०७।

३. लाला सीताराम और श्री नरोत्तम स्वामी (त्रैमासिक 'आलोचना' वर्ष २, अक २ जनवरी १९५३ मे प्रकाशित 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' शीर्षक लेख, पृ. ११०) स० १२७२ (सन् १२१५), मिश्रबधु स १२२०, सत्यजीवन वर्मा, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल स १२१२, गजराज ओझा (नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अक १ पृ ९९) और डा० रामकुमार वर्मा ('आलोचनात्मक इतिहास', पृ २१०) स० १०७३, 'वीसलदेव रासो' का रचनाकाल मानते हैं। श्रीअगरचन्द नाहटा ने इसे तेरहवी शताब्दी की रचना कहा है ('राजस्थानी', भाग

श्रीसत्यजीवन वर्मा ने जिस प्रति के आधार पर इसका सपादन किया था, वह सवत् १९५९ की थी[1], परतु इसकी सवसे प्राचीन प्रति सवत् १६६९ की लिखी मिलती है[2]। श्री नरोत्तमस्वामी ने इस काव्य की सवत् १६३३ की एक प्रति फूलचद झावक सग्रह (कलोधी) मे होने का उल्लेख किया है[3]। इस ग्रथ की भापा को श्री सत्यजीवन वर्मा ने खडीवोली की नानी-दादी कहा है, क्योकि इसमे उन्हे खडीवोली की प्रमुख विशेषताएँ मिलती है। प० रामचद्र शुक्ल ने इस काव्य मे कही-कही पर व्रजभाषा और खडीवोली को मिलाने का प्रयत्न किया जाना लिखा है[4]। उनका यह कथन इस दृष्टि से ही ठीक माना जा सकता है कि गेय होने के कारण इस काव्य की भाषा मे वरावर परिवर्तन होता गया। वस्तुत इस ग्रथ की भापा राजस्थानी है और प्रारभिक प्रतियो मे इसका प्राचीन रूप सुरक्षित है।

'पृथ्वीराजरासो' के रचनाकाल के सवध मे भी इसी प्रकार विद्वानो मे वहुत मतभेद है। इस ग्रथ की प्राचीनतम प्रति सवत् १६४२ की लिखी मिलती है[5]। प्रो० रमाकात त्रिपाठी ने चदवरदायी के वशधर नानूराम के पास सवत् १४५५ की लिखी एक प्रति होने की वात आज से लगभग तीस वर्प पूर्व कही थी[6]। परतु वह प्रति न अभी तक प्रकाश मे आयी है और न उसकी परीक्षा ही की जा सकी है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'रासो' की नौ प्राचीन प्रतियो के देखने का उल्लेख किया है,[7] परतु उनमे केवल एक सवत् १७६० की है, शेप का लिपिकाल या तो अज्ञात है या इसके वाद का है। 'रासो' की कुछ अन्य प्रतियो का उल्लेख श्रीनरोत्तम-

---

३, अक ३, पृ २२)। श्री गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने वीसलदेव का समय संवत् १०३० से १०५६ माना है (हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृ ३५८); परन्तु 'वीसलदेव रासो' की रचना वे हम्मीरदेव के समय मे होना मानते हैं ('राजपूताने का इतिहास', भूमिका, पृ. १९)। यदि इस काव्य मे प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रियाओ के आधार पर नरपति नाल्ह को वीसलदेव का समकालीन स्वीकार कर लिया जाय तो संवत् १०७३ तिथि ही किसी सीमा तक ठीक हो सकती है—लेखक।

१. 'बीसलदेव रासो' का नागरी-प्रचारिणी सभा से संवत् १९८१ मे प्रकाशित संस्करण।
२. डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ. २७।
३. मासिक 'कल्पना', सितम्बर १९५३ मे प्रकाशित 'बीसलदे-रास' शीर्षक उनका लेख, पृ. ७०९।
४. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. ४४।
५. डा. धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ २७।
६. 'चाँद' के 'मारवाड़ी अंक', वर्ष ८, खंड १, नवम्बर १९२९ मे प्रकाशित उनका 'महाकवि चंद के वंशधर शीर्षक लेख, पृ १४९।
७. श्री मोतीलाल मेनारिया द्वारा संपादित 'राजस्थान मे हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज', प्रथम भाग, पृ. ५५-७०।

स्वामी ने वृहत्, मध्यम, लघु और लघुतम रूपातर के नाम मे किया है, उनमे भी सबसे प्राचीन प्रति सवत् १७२३ की ही है[१]। श्री उदय सिंह भटनागर ने भी इस महाकाव्य की चारप्रतियो के मिलने की बात लिखी है जिनमे से एक अपूर्ण प्रति का लिपिकाल अनुमान के आधार पर उन्होने सवत् १४०० माना है, दूसरी सवत् १७६१ की लिखी हुई है और शेष दोनो इसके बाद की हैं[२]। इनमे मे प्रथम अपूर्ण प्रति महत्व की जान पडती है, परन्तु सुलभ न होने के कारण उसके सबध मे कुछ कहना अभी कठिन है। 'रासो' मे दिये हुए विवरण और उसकी भाषा आदि देखकर श्री गौरीशकर हीराचद ओझा इसका रचनाकाल सवत् १५१७ और १७७२ के बीच मे मानते है[३]। अन्य विद्वानो मे से अधिकाश ने ओझा जी के मत का ही समर्थन किया है। परतु मिश्रबधु और बाबू श्यामसुदरदास का मत इनसे भिन्न है और उनका कहना है कि इस महत्वपूर्ण ग्रथ मे प्रक्षिप्त अश कितना भी हो, है यह अवश्य प्रामाणिक ग्रथ। जो हो, इतना निश्चित है कि 'रासो' की वर्तमान प्राप्त प्रतियो मे ब्रजभाषा शब्दो की ही अधिकता है[४]।

जगनिक-कृत 'आल्हाखड' के सबध मे प्राय सभी विद्वान एकमत है कि इसका जो संस्करण आज प्राप्त है, वह बहुत बाद का, लगभग बिलकुल आधुनिक ही, है और इसके आधार पर उसके मूल रूप के सबध मे कुछ भी नही कहा जा सकता।

यह सब होने पर भी इस युग के ग्रथो की प्राप्त प्रतियाँ देखकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि राजस्थानी के साहित्यिक रूप डिंगल मे काव्य-रचना करनेवाले कवि भी ब्रजभाषा के प्राचीन रूप से परिचित अवश्य थे और कभी कभी उसके शब्द और प्रयोग अपनाने मे सकोच नही करते थे। 'डिंगल' की ध्वनि पर उत्तरप्रदेशीय तत्कालीन काव्यभाषा—प्रारभिक ब्रजभाषा—का 'पिंगल'[५] नामकरण भी राजपूताने मे ही इसी युग मे हुआ और यह भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। राजस्थान के चारणेतर साहित्यिक प्राय पिंगल मे काव्य-रचना भी करते थे।

इस समय की ब्रजभाषा के प्रारभिक उदाहरण अमीर खुसरो (सन् १२५३—१३२४) की कुछ रचनाओ के रूप मे ही आज उपलब्ध हैं[६] जिन्हे देखकर

---

१ 'राजस्थान-भारती', भाग १, अक १, अप्रैल १९४६।

२ 'राजस्थान मे हस्तलिखित हिन्दी ग्रथों की खोज',—तृतीय भाग, पृ ९०—१०१।

३ 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १० मे प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक लेख, पृ ६२।

४ जर्नल आव दि बेंगाल एशियाटिक सोसाइटी', सन् १८७३ मे प्रकाशित बीम्स का 'रासो की भाषा' सम्बन्धी लेख, भाग १, पृ. १६५।

५ 'पिंगल दि नेम गिवेन इन राजपूताना टु दि ब्रजभाषा डायलेक्ट आव वेस्टर्न हिंदी' - श्री एफ ई के—'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर', पृ ३।

६ श्री ब्रजरत्न दास का 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक लेख, 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अक ३।

डा० कादिरी जैसे विद्वानो ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि इनकी जवान व्रजभाषा से मिलती-जुलती है[१]। डा० रामकुमार वर्मा ने खुसरो के गीतो - दोहो की भाषा मे शब्द व्रजभाषा के माने है तथा क्रिया और कारकचिह्न खडीवोली के । इसी कारण वे उसे व्रजभाषा न कहकर खडीवोली मानना ही अधिक समीचीन समझते है[२]। डा० धीरेंद्र वर्मा का भी मत है कि एक तो खुसरो की रचनाएँ जिस रूप मे आज मिलती हैं, वह बहुत आधुनिक हैं, पुराना नही, और दूसरे, उनकी अधिकाश रचनाएँ व्रजभाषा मे न होकर खडीवोली मे है[३]। इन दोनो वातो से सभवत. सभी विद्वान सहमत होगे। दिल्ली के ग्यारह वादशाहो का उत्थान-पतन देखनेवाले इस कवि के लिए दिल्ली-मेरठ की जन-भाषा मे रचना करना तो स्वाभाविक भी था, परतु व्रजभाषा से वह सर्वथा अपरिचित रहा हो, सो वात भी नहीं हो सकती। अरवी, फारसी और हिंदी मे कोश-रचना करनेवाला व्रजभाषा के, साहित्यिक न सही, सामान्य प्रचलित रूप से भी अपरिचित रहा हो, यह वात जरा अटपटी जान पडती है। अतएव, इन पक्तियो के लेखक की सम्मति मे, खुसरो की हिंदी - रचनाओ को स्थूल रूप से दो वर्गो मे रखा जा सकता है—उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ और दोसखुने दिल्ली-मेरठ की खडीवोली मे है जिसमे अरवी-फारसी के शब्द भी मिलते है तथा दोहो और पदो की भाषा मिश्रित व्रजभाषा है, यद्यपि शुक्ल जी ने इसे 'विलकुल व्रजभाषा अर्थात् मुख-प्रचलित काव्यभाषा' कहा है[४]। इस दूसरे रूप को शुद्ध व्रजभाषा भले ही न कहा जाय, परन्तु इसमे कोई सदेह नही कि उसमे खडीवोली के खडेपन को कम करने के लिए ही व्रजभाषा के मधुर शब्दो और प्रयोगो को निसकोच अपनाया गया है।

ऊपर अपभ्रश रचनाओ के जो उद्धरण दिये गये है, उनमे भी व्रजभाषा-रूपो के वीज विद्यमान है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन साहित्यकारो का परिचय इस विकासोन्मुख जन-भाषा से अवश्य था। यह भाषा यद्यपि, 'उनकी दृष्टि मे, रचना के योग्य नही वन पायी थी, तथापि मौखिक गीतो और सामान्य सूक्तियो की रचना के लिए उसका प्रयोग अवश्य किया जाता होगा। यही कारण है कि खुसरो ने भी अपनी तत्सवधी रचनाएँ मिश्रित व्रजभाषा मे की। उनके लगभग डेढ सौ वर्ष पश्चात् की व्रजभाषा-रचनाओ के नमूने भी आज प्राप्त नही है[५]। परन्तु सोलहवी

---

१. डा. सैयद महीउद्दीन कादरी, 'उर्दू शहपारे', जिल्द अव्वल, मकतबए इब्राहीमिया, हैदरावाद, दखन), पृ. १०।

२. 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० १८०-८१।

३. 'व्रजभाषा- व्याकरण', पृ. २९।

४. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिदी साहित्य का इतिहास', पृ. ६९।

५. गोरखनाथ और विद्यापति की जो रचनाएँ आज प्राप्त है उनमे व्रजभाषा के दो-चार प्रयोग भले ही मिलते हो; परन्तु यह सर्वमान्य है कि इन दोनो की रचनाएँ किसी भी रूप मे व्रजभाषा की नहीं हैं—लेखक।

शताब्दी की जो व्रजभाषा-कविता आज मिलती है उसके आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस व्यवधान-काल मे यह नवविकसित भाषा अपनी नीव दृढ करके लोकप्रिय हो गयी और क्षेत्र की व्यापकता के साथ साथ उसकी व्यजना-शक्ति भी वढती गयी। व्रजभाषा मे इन सब विशेषताओ का समावेश करके उसे सर्वमान्य काव्यभाषा के प्रतिष्ठित पद पर असीन करने का श्रेय उन अज्ञातनामा कवियो को है न तो जिनका कुछ विवरण ही आज ज्ञात है और न जिनकी रचनाओ से ही हम परिचित है।

भक्ति-आदोलन के पुनर्प्रचलन के साथ व्रजभाषा का भाग्य भी चमक उठा[1]। भक्त-कवियो मे सबसे पहले महाराष्ट्र के नामदेव का उल्लेख करना है जिनका जन्म सवत् १३२७[2] (सन् १२७०) और देहात सवत् १४०७[3] (सन् १३५०) मे हुआ। इनकी कविता मराठी और हिदी, दोनो भाषाओ मे मिलती है। हिदी कविता मे व्रजभाषा और खडीवोली, दोनो ही रूप मिलते है जिनको देखकर शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि सगुण भक्ति के पदो की भाषा तो व्रज या परपरागत काव्य-भाषा है, पर 'निर्गुन वानी' की भाषा नाथपथियो द्वारा गृहीत खडीवोली या सधुक्कडी भाषा[4]।

उक्त परपरा के दूसरे कवि प्रसिद्ध सत कबीर (सन् १३९८-१४९४)[5] है जिनके पद प्राय व्रजभाषा मे मिलते हैं यद्यपि काशी की स्थानीय बोली का भी उन्होने स्वभावत व्यवहार किया है। उनके कुछ पदो की भाषा तो सूरदास की सामान्य भाषा से मिलती जुलती है[6]। सभवत इसी भाषा-साम्य के कारण प्राचीन भाषा-सग्रहो मे कबीर के

१ डा धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि व्रजभाषा से सबध रखनेवाली पंद्रहवीं शताब्दी तक की प्रकाशित प्रामाणिक सामग्री अभी शून्य के बराबर है ('व्रजभाषा व्याकरण' पृ ३१)। अतएव अमीर खुसरो, कबीर आदि की जो रचनाएँ आज प्रकाशित हैं उनकी भाषा बहुत-कुछ आधुनिक है। हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकार और प्राचीन ग्रथों के सपादक इस कथन से बहुत-कुछ सहमत तो हैं, परन्तु किसी प्राचीन प्रति की प्राप्ति न होने से उन्होंने उपलब्ध सस्करणों की भाषा की ही अलोचना की है और वैसा ही प्रस्तुत प्रबध मे करने को इन पक्तियो का लेखक भी विवश है—लेखक।

२ सर आर जी भडारकर, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ ९२।

३ श्री एम ए मेकलिफ, 'दि सिख रेलिजन, भाग ६, पृ ३४।

४ प० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी 'साहित्य का इतिहास, पृ. ८५।

५ डॉ० रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. ३५४।

६ ऐसा एक पद देखिए:—

हो बलियाँ कब देखौंगी तोहि।
अह निसि आतुर दरसन कारन, ऐसी व्यापै मोहि॥

नाम से उद्धृत है 'हरि भजन को परवान'[1] से आरभ होनेवाला पद 'सूरसागर' मे पहुँचकर[2] सूरदास के नाम से प्रचलित हो गया अथवा यह भी सभव है कि मूल पद सूरदास का हो और बाद मे कबीर के नाम से प्रचलित हो गया हो। डा० श्यामसुन्दरदास ने 'कबीर-ग्रथावली' का सपादन जिस प्रति के आधार पर किया था वह सवत् १५६१ (सन् १५०४) की लिखी कही गयी है[3]। इस ग्रथावली मे भोजपुरी रूपो को देख कर डा० राम कुमार वर्मा की धारणा है कि कबीर की अधिकाश मूल रचना भोज-पुरी मे होगी, क्योकि शिक्षित न होने के कारण अन्य किसी भाषा मे रचना करना उनके लिए सभव न था और कालातर मे केवल भोजपुरी शब्दो के रूप बदलकर उनका व्रजभाषा और खडीबोली मे अनुवाद कर लिया गया जिसके फलस्वरूप ही पश्चिमी पजाब से बगाल और हिमालय से गुजरात-मालवा तक उनकी रचना का प्रचार हो सका था[4]। इस प्रसग मे, किसी विवाद मे न पड कर, इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह मत यदि पूर्ण सत्य मान लिया जाय तो भी कबीर की रचनाओ का व्रजभाषा मे अनुवाद-कार्य उनके जीवन-काल अथवा उसके कुछ समय पश्चात ही हो जाना चाहिए, क्योकि उनकी रचनाएँ सोलहवी शताब्दी का आरभ होने तक सारे उत्तरी भारत मे प्रचलित हो गयी थी[5]। अतएव कबीर की रमैनियो, शब्दो अथवा पदो की व्रजभाषा के आधार पर इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह भाषा उस समय तक भोजपुरी क्षेत्र के बाहर पूर्णत प्रचलित हो गयी थी, और उसमे साहित्य-रचना भी की जाने लगी थी यद्यपि किसी प्रतिभासपन्न कवि ने उसे लगन से अपनाकर सर्वमान्य साहित्यिक भाषा का रूप नही दिया था।

कबीर के पश्चात् सत-कवियो मे केवल गुरु नानक की चर्चा और करना है, क्योकि उनका समय सूरदास से पहले पड़ता है। गुरुनानक (सन् १४६९–१५३९) की कुछ

नैंन हमारे तुम्हकूँ चाहै, रती न मानै हारि।
विरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु विचारि॥
सुनहु हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु अधीर।
तुम्ह धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काचै भाड़ैं नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छतां तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

—'कबीर-ग्रंथावली' (संवत् २००८) पदावली भाग' पद सं० ३०५, पृ० ११०।

१. 'कबीर-ग्रंथावली' (सवद् २००८), पद स० ३०, पृ. १९०।

२. 'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद २३५।

३. 'कबीर-ग्रंथावली', संवत् २००८, भूमिका, पृ० १।

४. 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ३७२।

५. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का 'हिंदी साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव' शीर्षक लेख, त्रैमासिक 'आलोचना', वर्ष २, अक २, जनवरी १९५३, पृ० ५३।

रचनाएँ सिखो के प्रसिद्ध धर्म-ग्रथ, 'ग्रथ-साहब' मे मिलती है। इस ग्रथ का सकलन सवत् १६६१ (सन् १६०४) मे हुआ था। व्रजभापा और खडीवोली, ये दोनो भापाएँ, अपने विशुद्ध रूप मे, उस समय के पूर्व पजाव प्रदेश मे नही फैली थी और न सगृहीत रचनाओ के पर्यटन-प्रिय कर्त्ताओ की दृष्टि मे ही भापा की विशुद्धता का बहुत अधिक मूल्य था। अतएव खडीवोली, व्रजभापा, पजावी, राजस्थानी आदि का मिश्रित रूप ही 'ग्रथ-साहब' की अधिकाश रचनाओ मे मिलता है। गुरु नानक की मिश्रित व्रजभापा-रचनाएँ भी इस दृष्टि मे महत्वपूर्ण हैं कि उनके आधार पर पद्रहवी शताब्दी मे पजाव मे व्रजभापा का थोडा-बहुत प्रचार हो जाना सहज ही सिद्ध हो जाता है और यह भी स्पष्ट होता है कि वहाँ की जनता इस भापा को अवश्य समझ लेती थी। कबीर की तरह गुरु नानक का अपढ होना भी इमी वात की पुष्टि करता है कि व्रजभापा का ज्ञान उन्हे सम्यक अध्ययन द्वारा नही, भक्तो की मौखिक वाणियो से ही, हुआ था। पजाव-निवासी होने के कारण, पजावी और खडीवोली प्रयोगो के रहत हुए भी, उनकी व्रजभापा कबीर से अधिक सीधी-सादी है।

उक्त कवियो के अतिरिक्त व्रजभापा मे रचना करनेवाले सूरदास के पूर्ववर्ती दो अन्य कवियो का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने किया है। एक है मुल्ला दाउद[1] जिनका आविर्भाव-काल डा० वडथ्वाल द्वारा निर्धारित सन् १४४०[2] न होकर मिश्रबधुओ द्वारा निर्णीत सन् १३८५[3] होना चाहिए। इस कवि की 'चदावन' या 'चन्दाबत' नामक रचना अभी तक अप्राप्य है। अतएव उसकी भाषा के सम्वन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। दूसरा कवि लालचदास हलवाई है जिसकी 'भापा भागवत' अथवा 'हरिचरित्र'[4] नामक रचना दोहे-चौपाइयो मे है। कुछ विद्वानो ने

---

१. पडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास', पृ० १४७।

२ डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, 'दि निर्गुण स्कूल आव हिंदी पोएट्री', पृ० १०।

३ 'मिश्रबधु-विनोद', प्रथम भाग, पृ० १५५।

४. नागरी-प्रचारिणी सभा की त्रैमासिक खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-७-८, सख्या १८९ मे लालचदास कवि के नाम से 'हरिचरित्र' नामक ग्रथ का उल्लेख हुआ है और 'मिश्रबधु-विनोद', भाग १, पृ० २८९, पर 'भागवत भाषा' नामक ग्रथ का। परतु दोनो नामो से प्राप्त प्रतियो का मिलान करके डा० दीनदयालु गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक ग्रथ के ही उक्त दो नाम हैं ('अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय', पृ० २१)। सभा के उक्त विवरण मे कवि की विद्यमानता का सवत् १५९५ दिया गया है। 'विनोद' मे ग्रथ का रचनाकाल सवत् १५८७ बताया गया है और डा० गुप्त ने एक प्रति मे रचना-काल सवत् १५०० लिखा रहना बताया है। सवतो का यह अतर विचारणीय है—लेखक।

इसकी भाषा व्रज वतायी है[1] और कुछ ने अवधी[2]। काव्य-कला और भाषा, दोनो दृष्टियो से यह वहुत ही साधारण रचना है। तात्पर्य यह कि अमीर खुसरो, नामदेव, कवीर और नानक की ही कुछ रचनाओ मे सूरदास के पूर्व की व्रजभाषा के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। इन कवियो की भाषा व्रजप्रदेश की शुद्ध वोली न होकर सामान्य और परपरागत काव्य-भाषा थी जो उत्तरी भारत मे ग्यारहवी-वारहवी शताव्दी से प्रचलित थी, परन्तु जिसका कोई रूप उस समय तक निश्चित नही हुआ था। वास्तव मे सत-कवियो का पर्यटन-प्रेम और उनमे से अधिकाश मे शिक्षा का अभाव उक्त प्रचलित भाषा को शुद्ध व्रजप्रदेशीय तो वना ही नही सका, उसे साहित्यिक रूप देने मे भी सर्वथा असमर्थ रहा। फिर भी उनकी रचनाओ से एक वडे महत्व की वात यह मालूम होती है कि सूरदास के पूर्व ही व्रजभाषा केवल अपने प्रदेश की ही भाषा नही थी, प्रत्युत पजाव, राजपूताना महाराष्ट्र और पश्चिमी विहार के कवि भी उससे परिचित थे और अपनी-अपनी प्रातीय भाषा के साथ-साथ मिश्रित व्रजभाषा मे भी रचना किया करते थे, यद्यपि उनकी भाषा स्वभावत स्थानीय प्रभावो से युक्त थी और ऐसा होना तत्कालीन परिस्थिति मे सर्वथा स्वाभाविक भी था।

साराश यह है कि सूरदास ही हिन्दी के पहले प्रतिष्ठित कवि थे जिन्होने व्रजप्रदेशीय होने और अधता के कारण किसी अन्य भाषा का समुचित ज्ञान न रहने से व्रजभाषा को ही काव्य-रचना के लिए अपनाया। डा० धीरेन्द्र वर्मा के मत से, 'व्रजभाषा का साहित्य मे प्रयोग वास्तव मे वल्लभ-सप्रदाय के प्रभाव के कारण आरम्भ हुआ। इलाहावाद के निकट मुख्य केन्द्र अरैल (अडैल) के अतिरिक्त जिस समय श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य को व्रज जाकर गोकुल तथा गोवर्द्धन को अपना द्वितीय केन्द्र वनाने की प्रेरणा हुई, उसी तिथि से व्रज की प्रादेशिक वोली के भाग्य पलटे। सवत् १५५६ वैशाख सुदी ३ आदित्यवार को गोवर्द्धन मे श्रीनाथ जी के विशाल मदिर की नीव रक्खी गयी थी। यही तिथि साहित्यिक व्रजभाषा के शिलान्यास की तिथि भी मानी जा सकती है'[3]। इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से भेट होने के पूर्व ही सूरदास अनेक विनय-पदो की रचना कर चुके थे और आचार्य जी से भेट होने पर उन्होने 'हरि हौ सव पतितनि को नायक'[4] और 'प्रभु, हौ सव पतितनि कौ टीकौ'[5] से आरम्भ होनेवाले पद गाये भी थे यद्यपि वह रचना सामान्य व्रजभाषा मे थी[6]।

---

१. क. श्री द्वारिकादास पारीख और श्री प्रभुदयाल मीतल, द्वारा लिखित 'सूर - निर्णय', पृ० २८०।
   ख. श्री मिश्रवधु-विनोद', प्रथम भाग, पृ० २५६-५७।
२. प० रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० २४०।
३. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ११।
४. पूरा पद देखिए—'सूरसागर', प्रथम स्कध, पद १४६, पृ० ४८।
५. पूरा पद देखिए—'सूरसागर', प्रथम स्कध, पद १३८, पृ० ४५।
६. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', संवत् १९८५, पृ० २७३-७४।

वल्लभ-सप्रदाय मे सूरदास के दीक्षित होने का समय डा दीनदयालु गुप्त के अनुसार सवत् १५६६ (सन्१५०९) होना चाहिए[1]। इसी समय के आसपास पूरणमल खत्री के दान से निर्मित उक्त अपूर्ण मदिर मे श्रीनाथ जी का पाटोत्सव हुआ और सूरदास को कीर्तन-सेवा सौंपी गयी,[2] यद्यपि मदिर पूर्ण हुआ दस वर्ष बाद सवत् १५७६ (सन् १५१९) मे । अतएव सवत् १५६६ के पश्चात् से सूरदास श्रीकृष्ण-लीला के नित्य नये पद बनाने लगे । अष्टछापी कवि सूरदास का देहान्त अब तक हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास लेखक ने सवत् १६२० के पूर्व नही माना है[3] । अतएव इस बात से सभी सहमत होगे कि सूरदास लगभग पचास वर्ष तक निरन्तर काव्य-साधना मे लगे रहे । महाप्रभु द्वारा कवि को सौंपा हुआ नित्य कीर्तन का कार्य तो उन्हे इसके लिए बराबर प्रेरित करता ही रहा, उनकी अधता भी अन्य स्थानीय विभिन्न आयोजनो और यात्राओ मे साधारणतया बाधक होकर इष्टदेव के लीला-गान द्वारा सरस्वती-साधना की निरन्तरता का क्रम अटूट रखने के लिए ही उन्हे सदैव उत्साहित करती रही ।

सूर और व्रजभाषा का संबंध—

शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित होने के कारण उसकी उत्तराधिकारिणी व्रजभाषा को उसका व्यापक क्षेत्र तो मिला ही, उसकी कुछ विशेषताएँ सहज ही प्राप्त हो गयी । सूरदास के विनय-पदो मे व्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप मिलता है और श्रीकृष्ण के रूप वर्णन, तथा सयोग-वियोग शृगार आदि सबधी पदो मे कवि-प्रदत्त प्रौढ रूप जिसके आधार पर सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा के विकास मे उनका क्या योग रहा तथा उसको सजाने-सवॉरने और उसकी व्यजना-शक्ति बढाने मे उन्होने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया । व्रजभाषा का संस्कार करने मे भी उन्होने सदैव कवि-जनोचित उदारता से काम लिया तथा विषय के क्षेत्र मे रामकथा के साथ-साथ अन्य अवतारो की गाथा को अपनाकर उन्होने अपने स्वभाव की जिस असकीर्णता-जनित सहिष्णुता का परिचय दिया था, भाषा के क्षेत्र मे भी उन्होने उसको बराबर बनाये रखा । उनके पदो की भाषा व्रजजनपदीय होते हुए भी साहित्यिक है और साहित्यिक होते

---

१. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २१३ ।

२ 'पाछे आचार्य जी आपु कहे, जो सूर, तुमको पुष्टि मारग सिद्धात फलित भयो है, तासो अब तुम श्रीगोबर्धन के यहां समय समय के कीर्तन करो—'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० १९ ।

३. प० रामचद्र शुक्ल सवत् १६२० के आसपास ('हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० १९५), डा० दीनदयालु गुप्त सवत् १६३८-३९ मे ('अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २१९) और डा० रामकुमार वर्मा सवत् १६४१ मे ('हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ७४८) सूरदास की मृत्यु होना अनुमान करते हैं । अन्य प्राय सभी इतिहासकारों ने इन्हीं तिथियों मे से एक का समर्थन किया है—लेखक ।

हुए भी व्रजजनपदीय। किसी एक रूप को दृढता से पकडे रहने का अनुदार दुराग्रह उनकी भाषा मे कही नही दिखायी देता।

अव प्रश्न यह है कि सूरदास ने व्रजभाषा पर इतना अधिकार किस प्रकार प्राप्त किया। सामान्यत उसी भाषा पर किसी लेखक या कवि का पूर्ण रचनात्मक अधिकार हो पाता है, नियमित शिक्षा द्वारा जिसका उसने विधिवत् अध्ययन किया हो। यद्यपि अपढ व्यक्तियो ने भी समय-समय पर पर्याप्त रचना की है और विशेष प्रतिभाजनित होने के कारण वह अभीष्ट प्रभावशालिनी भी हुई है, तथापि इसमे कोई सदेह नही कि भाषा-सौष्ठव, व्याकरण-सम्मतता और विन्यास-व्यवस्था की दृष्टि से उसमे कुछ न कुछ खटकने वाली बातें भी रहती है। इस कथन की पुष्टि कबीर-जैसे सत-कवियो की भाषा से होती है। इसी प्रकार यो तो यह भी सत्य है कि अध्यवसायपूर्वक और लगन के साथ यदि कार्य किया जाय तो किसी अपरिचित या नयी भाषा मे लिखने की कुशलता प्राप्त कर ली जाती है, परतु जिस भाषा मे लिखने की योग्यता लाने का प्रयत्न किया जा रहा हो वह अपनी मातृभाषा या उससे सबध रखनेवाली अथवा उसकी प्रकृति से मेल खानेवाली भी हो तव यह कार्य अधिक सुगम हो जाता है एव दक्षता व्यापक और ठोस होती है, यद्यपि अध्ययन और अभ्यास इसके लिए भी अपेक्षित है। आशय यह है कि किसी भाषा मे लिखने का अधिकारी वनने के लिए उसकी कृतियो का विधिवत् अध्ययन प्रत्येक दशा मे आवश्यक होता है, चाहे वह मातृभाषा हो अथवा सर्वथा नयी भाषा। जैसा पीछे कहा जा चुका है, व्रजभाषा मे तत्सवधी योग्यता प्राप्त करने के लिए भिखारीदास ने भी व्रजप्रदेश मे जाकर वसने पर जोर नही दिया था, प्रत्युत प्राप्त कवियो की वाणी के नियमित अध्ययन को उसका प्रमुख साधन वताया था[1]। वस्तुत उनका तात्पर्य उन व्यक्तियो से था जो व्रजमडल के निवासी नही थे और इसलिए व्रजभाषा जिनकी मातृभाषा नही थी। परतु जन्म से ही किसी भाषा के क्षेत्र मे वसनेवाले, मातृ भाषा के रूप मे उससे परिचित रहनेवाले भी निरन्तर अभ्यास के अभाव मे उसमे रचना करने मे पूर्ण कुशल नही हो पाते। इसी से कवि की भाषा-विषयक सफलता के लिए प्रतिभा के साथ अभ्यास को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। अतएव, सूरदास की जन्म-भूमि, उनके वासस्थान, उनके अध्ययन, अभ्यास और दृष्टिकोण आदि के सवध मे भी यही विचार कर लेना आवश्यक है।

सूर की जन्मभूमि—

सूरदास के जन्मस्थान के सवध मे एक प्राचीन उल्लेख श्री हरिराय-कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के 'भावप्रकाश' मे सीही ग्राम के पक्ष मे मिलता है[2]। इस ग्राम को

---

१. व्रजभाषा हेत व्रजवास ही न अनुमानौं,
ऐसे-ऐसे कविन की बानी हूँ जो जानिए।
—'काव्य-निर्णय', पृ० ६।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३।

उन्होने दिल्ली से चार कोस व्रज की ओर स्थित कहा है[1]। कुछ विद्वान पहले आगरा से मथुरा जाने वाली सडक पर स्थित 'रुनकता' नामक स्थान को उनकी जन्मभूमि मानते थे,[2] परन्तु डा० दीनदयालु गुप्त की खोज के पश्चात् सबने अपना मत बदल दिया और सूर-साहित्य के सभी विद्वान आज सीही ग्राम को ही सूरदास का जन्मस्थान मानते हैं। 'साहित्यलहरी' के वंश-विवरण वाले पद मे रचयिता के पिता का वास-स्थान आगरे का निकटवर्ती 'गोपाचल' नामक स्थान कहा गया है—आगरे रहि गोपचल मे,रह्यो ता सुत वीर[3]। इस गोपाचल को सूर-साहित्य के कुछ आलोचको ने भ्रम मे गऊघाट मान लिया है[4], परन्तु एक तो उक्त पद की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे सदेह है और दूसरे, 'साहित्यलहरी' के कथन से यह भी नही सिद्ध होता कि सूरदास का जन्म भी उसी समय हुआ था जब उनके पिता गोपाचल[5] मे रहते थे।

सूर के अन्य वासस्थान—

श्री हरिराय-कृत उक्त वार्ता के 'भाव-प्रकाश' के अनुसार सूरदास जी छ वर्ष की अवस्था तक सीही ग्राम मे रहे और उसके बाद इससे चार कोस दूर एक तालाब के किनारे अठारह वर्ष की अवस्था तक[6]। तदनतर वैराग्य होने पर एक दिन वे व्रजप्रदेश की ओर चल दिये और यमुना के किनारे, आगरा-मथुरा के बीच स्थित गऊघाट नामक स्थान पर आकर रहने लगे[7]। यहाँ से एक मील दूर रेणुका नामक स्थान है, जहाँ वे कभी-कभी जाया करते थे। गऊघाट पर वे महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के समय तक रहे। यह घटना लगभग सवत् १५६६ की है[8]। इस समय सूरदास की आयु ३१-३२ वर्ष की थी।

वल्लभ-सप्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् सूरदास जी को श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा का कार्य सौंपा गया। तब से वे गोवर्द्धन पर रहने लगे और आजीवन वही रहे जिसकी पुष्टि उनकी इन पक्तियो से होती है—

---

१ 'दिल्ली के पास चार कोस उरे मे एक सीही ग्राम है'—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे 'अष्टसखान की वार्ता', पृ० २।

२ प० रामचद्र शुक्ल और बाबू श्यामसुदरदास, दोनो ने पहले अपने इतिहासो मे रुनकता को ही सूरदास का जन्मस्थान लिखा था, परतु बाद को बाबू श्यामसुदरदास ने अपने ग्रथ के नये सस्करण मे सीही ग्राम को स्वीकार कर लिया ('हिंदी साहित्य', पृ० २८२) और शुक्ल जी ने परिवर्द्धित सस्करण मे स्थान का उल्लेख ही नहीं किया है—लेखक।

३ 'साहित्यलहरी', पद ११८, पृ० १३८।

४ डा० मुशीराम शर्मा, 'सूर-सौरभ', प्रथम भाग, पृ० १८-१९।

५. 'गोपाचल' से तात्पर्य गोवर्द्धन या ग्वालियर से हो सकता है—लेखक।

६ 'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० ९।

७ 'अष्छटाप' (कांकरौली), पृ० १०।

८. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २१३।

(नंदजू) मेरैं मन आनद भयौ, मै गोवर्धन तैं आयौ।
तुम्हरैं पुत्र भयौ, हौ सुनि कैं, अति आतुर उठि धायौ ॥

× × × ×

हौं तौ तेरे घर कौ ढाढी, सूरदास मोहिं नाऊँ[1]॥

बीच-बीच मे, श्रीकृष्ण के विविध लीलोत्सवो मे, वे मथुरा और गोकुल तक आते-जाते रहे, किसी अन्य स्थान पर उनके जाने का कोई उल्लेख नही मिलता। सम्राट अकबर से उनकी भेंट भी मथुरा मे ही होना लिखा गया है[2]। 'सूरसागर' के अनेक पदो मे वृन्दावन के श्रद्धापूर्ण वर्णन से यह ज्ञात होता है कि वे वृन्दावन भी गये थे। वस्तुत. वृन्दावन वल्लभ-सप्रदाय का केन्द्र नही है। इस सप्रदाय का न वहाँ कोई मदिर है, न कोई गद्दी। वहाँ तो निंबार्क, माध्व, चैतन्य, हरिदासी और राधा-वल्लभीय सप्रदायो के मन्दिर और गद्दियाँ हैं। सूरदास के समय मे भी वल्लभ-सप्रदाय का वहाँ कोई प्रचार-स्थान नही था; वैसे सभी भक्तजन वृन्दावन आते-जाते रहते थे। अतएव सूरदास का वहाँ जाना तो सभव हो सकता है, परन्तु वहाँ अधिक समय तक वे रहे हो, ऐसा नही कहा जा सकता। इष्टदेव के अनन्य भक्त और भक्ति-उपासना मे ही जीवन का सर्वोपरि आनन्द और उसकी सार्थकता माननेवाले परम उपासक के लिए उन्ही के समीप रहकर कीर्तन-सेवा मे लगे रहना स्वाभाविक भी जान पडता है। उनका देहात गोवर्द्धन के निकट ही परासौली—'परम रासस्थली'—नामक स्थान पर हुआ, जहाँ प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण ने रासलीला की थी।

व्रजभाषा सूर की मातृभाषा थी—

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूरदास का जन्म व्रजभाषा-प्रदेश मे हुआ और उनका समस्त जीवन भी व्रज-क्षेत्र मे बीता। इसलिए व्रजभाषा उनकी मातृ-भाषा थी जिसकी पुष्टि उनकी रचनाओ से भी होती है,[3] और आजीवन वे उसी को बोलते भी रहे। वल्लभ-सप्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व का जीवन अर्थात् आयु के प्रारभिक तीस-बत्तीस वर्ष उन्होने ऐसे व्यक्तियो के सपर्क मे बिताये जिनमे से कुछ तो व्रजप्रदेश के निवासी होने के कारण ठेठ व्रजभाषा-भाषी थे, कुछ व्रजभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषी साधु थे। तदनतर उनका सबध ऐसे व्यक्तियो से बढा जो सस्कृत भाषा के विद्वान थे, उसके ग्रथो का नियमित रूप से पारायण करते थे और भक्तो-उपासको के लिए कथा-वार्ता, टीका-व्याख्या आदि मे पर्याप्त समय दिया करते थे। कुछ समय के बाद वे अष्टछाप के उन कवियो से भी घिरे रहने लगे जो उन्ही की तरह श्रीकृष्ण-लीलाओ का गान किया करते थे और चर्मचक्षुओ से युक्त रहने के कारण शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन, अध्ययन-पारायण आदि से लाभ उठाने का भी जिनको सूरदास की अपेक्षा कही अधिक अवसर था।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कध, पद ३५।
२. 'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० २४।
३. डा० जनार्दन मिश्र, 'सूरदास', पृ० ३२।

सूर की शिक्षा-दीक्षा—

किसी कवि के ज्ञान और पाडित्य का परिचय उसकी रचनाओ मे होता है। पश्चात्, जिज्ञासु पाठक उनके मूल स्रोत का पता लगाना चाहता है। सूरदास के सबध मे इस प्रकार की छान-बीन का विशेष अवसर ही नही रह जाता, क्योकि जब तक उनके जन्माध होने के विवाद का अत नही हो जाता तब तक निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि उन्हे किस प्रकार की और कितनी शिक्षा नियमित रूप से मिली थी तथा पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन उन्होने किस प्रकार और कितना किया था। सूरदास की अधता के सबध मे यहाँ तक तो सभी विद्वान एकमत है कि आयु का बहुत अधिक भाग उन्होने अधे रहकर ही बिताया, विवाद का विषय केवल यह है कि वे जन्माध थे अथवा बाद मे अधे हुए। सूर-काव्य की निम्नलिखित पक्तियाँ उनकी अधता की ओर सकेत करती हैं—

१ सूरदास सौं कहा निहोरौ, नैननि हूँ की हानि[1]।
२ सूर कूर आँधरौ, मैं द्वार पर्यौ गाऊँ[2]।
३ काटौ न फद मो अध के, अब बिलब कारन कवन[3]।
४. सूरजदास अध अपराधी सो काहै बिसरायौ[4]।
५ सूर कहा कहै दुबिधि आँधरौ, बिना मोल कौ चेरौ[5]।
६ इहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के नयन द्वै रहैं, नर देह पाऊँ[6]।
७ द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।
बिनु देखे कल परत नही छिनु, एते पर कीन्ही यह टेऊ[7]।

बहि साक्ष्यो मे भी दो वर्ग है—किसी ने सूरदास को केवल नेत्रविहीन लिखा है, यद्यपि उससे आशय कवि के जन्मान्ध होने से ही जान पडता है और किसी ने स्पष्ट ही उनकी जन्माधता का उल्लेख कर दिया है। बहि साक्ष्यो मे निम्नलिखित उल्लेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—

१. जन्माधो सूरदासोऽभूत[8]।
२ बाहर नैन बिहीन सो भीतर नैन बिसाल।
तिन्है न जग कछु देखिबौ, लखि हरि-रूप निहाल[9]।
३ प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरि-लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी[10]।

---

१. सा १-१३५। २ सा १-१६६। ३ सा १-१८०। ४ सा. १-१९०।
५ सा १-१६६। ६ सा १६२४।
७ 'सूरसागर', पद २४६८।
८ श्रीनाथ भट्ट-कृत 'सस्कृत मणिमाला', श्लोक १।
९ श्रीप्राणनाथ कवि-कृत 'अष्टसखामृत'।
१०. भक्तप्रवर नाभादास जी।

४. जन्महि ते है नैन बिहीना। दिव्य दृष्टि देखहि सुख भीना[1]।

५. जन्म अंध दृग ज्योति बिहीना[2]।

६ क. सो सूरदास जी के जन्मत ही सो नेत्र नाही है और नेत्रन को आकार गढ़ेला कछु नाही। ऊपर भोह मात्र है[3]।

ख. जन्मे पाछे नेत्र जायँ तिनको आँधरो कहिये, सूर न कहिये और ये तो सूर है[4]।

साराश यह कि अन और वहि साक्ष्य सूरदास की अधता के सबध मे तो एकमत है ही, उनकी जन्माधता की ओर भी उनमें प्राय सकेत किया गया है। परतु सूर-साहित्य के आधुनिक आलोचक, जिनमे सर्वश्री मिश्रबधु[5], श्यामसुन्दरदास[6], डा० वेनीप्रसाद[7], जनार्दन मिश्र[8], डा० दीनदयालु गुप्त,[9] नददुलारे वाजपेयी[10], व्रजेश्वर वर्मा,[11] रामरतन भटनागर[12] आदि मुख्य है, उनके काव्य मे विविध रसो के अनुरूप मानवीय हाव-भाव, प्राकृतिक दृश्यो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रतथा विभिन्न रगो के वर्णन देखकर अनुमान करते है कि वे जन्माध नही हो सकते,[13] अवस्था पाकर ही अधे हुए होगे। इस तर्क का उत्तर भी कुछ आलोचको[14] ने यह कहकर दिया है कि सूरदास सामान्य व्यक्ति नही थे कि लौकिक जगत के सामान्य दृश्य देखने के लिए उन्हे चर्म-चक्षुओ की आवश्यकता पडती। वे दिव्यदृष्टि-सपन्न उच्च कोटि के महात्मा थे जिनके ज्ञान-चक्षुओ मे वहि और अतर्जगत के क्रिया-कलाप देखने की भी सामर्थ्य थी। परब्रह्म की अनुकपा से

---

१. महाराज रघुराज सिंह-कृत 'रामरसिकावली'।

२. मियाँसिंह-कृत 'भक्त-विनोद'।

३. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग (श्रीहरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश'), कांकरौली, पृ० ४।

४. —'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग (श्री हरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश'), कांकरौली, पृ० ५।

५. 'हिंदी-नवरत्न', पृ० २३०।

६. 'हिंदी-साहित्य', पृ० १८५।

७. 'सक्षिप्त सूरसागर', भूमिका, पृ० ६।

८. 'सूरदास' (अँगरेजी)' भूमिका, पृ० २७।

९. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' प्रथम भाग, पृ० ८२ और २०२।]

१०. 'सूर-संदर्भ', भूमिका, पृ० ३४।

११. 'सूरदास', पृ० ३१।

१२. 'सूर-साहित्य की भूमिका', पृ० १३।

१३. डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने अपने 'सूरदास' मे पहले तो लिखा है—'अवश्य ही वे जन्मांध नहीं थे' और दूसरे ही पृष्ठ में इसका विरोध-सा किया है—'अधिक संभव यही जान पडता है कि वे जन्मांध थे'—पृ० १० और ११।

१४. डा० मुंशीराम शर्मा, 'सूर-सौरभ', प्रथम भाग, पृ० २४।

कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की अलौकिक दिव्य दृष्टि प्राप्त कर सकता है। इसकी पुष्टि स्वय सूरदास के कुछ कथनो से होती है—

१. चरन कमल वदौ हरि राई।
   जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अधे को सव कुछ दरसाई[1]।
२ हरि जू तुम तै कहा न होई।
   वोलै गुंग पगु गिरि लघै अरु आवै अधौ जग जोई[2]।

वस्तुत ब्रह्म की कृपा से सच्चा भक्त स्वय-प्रकाश हो जाता है और तव उसे चर्म-चक्षुओ की आवश्यकता ही नही रह जाती। परतु दिव्य दृष्टि-सम्पन्नता की यह अलौकिक महिमा सर्वसाधारण के अनुभव की वात नही है और न साहित्यिक तथ्यो के नीरस और शुष्क अनुसधान मे सलग्न व्यक्ति का सामान्यत इन पर विश्वास ही जमता है। वह तो कारण-कार्य के प्रत्यक्ष और सर्वसिद्ध उन तथ्यपूर्ण कथनो मे विश्वास करता है जो सर्वानुकूल हो और जिनके कारण किसी सत्यान्वेषक पर यह आरोप भी न लगाया जा सके कि वह *आर्ष वाक्यो या आर्ष निष्कर्षो अथवा सच्चे साधु-सतो की* अलौकिक क्षमता के प्रति अविश्वस्त है।

अतएव समस्त अत और वाह्य प्रमाणो पर विचार करके प्रस्तुत पक्तियो का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि सूरदास जन्माध ही थे। यदि वे वाद मे अधे हुए होते तो इस सवध मे कोई न कोई उल्लेख या सकेत स्वय उन्ही के काव्य मे, और चर्चा अथवा किंवदती समकालीन अथवा परवर्ती वाह्य साक्ष्यो मे अवश्य मिलती। कारण, कवि के जीवन की यह इतनी महत्वपूर्ण घटना होती कि सासरिकता से कितना भी विरक्त होने पर वह इससे अप्रभावित न रह पाता और वहुत सभव है कि उसने कवि की जीवन-धारा को ही परिवर्तित कर दिया होता और तव निश्चित है कि वहि साक्ष्य भी इस सवध मे मौन नही रह सकते थे। नेत्रहीनता सामान्य ही नही, विशिष्ट व्यक्ति के लिए भी, विधि का भयकर अभिशाप है जिसकी वेदना को बिलख-बिलख कर कहने पर ही वह थोडे संतोष का लाभ कर सकता है। जन्म से ही नेत्रहीन प्राणी से कही अधिक मर्मातक छटपटाहट का अनुभव इस सर्वोत्तम इद्रिय को बाद में खोनेवाला करता है। अतएव यदि सूरदास बाद मे अंधे हुए होते तो इस शाप या वरदान को—शाप इस कारण कि वह नेत्रेंद्रिय-सुख से वचित रहा और वरदान इसलिए कि आँखें न होने से ही वह अनेक लौकिक प्रलोभनो और व्यसनो से सहज ही बचा रह सका—कवि ने मूक रहकर ही न ग्रहण कर लिया होता, प्रत्युत अँगरेजी कवि मिल्टन की भाँति उसने उस बात की चर्चा अवश्य की होती। हमारे आलोचक सूरदास के काव्य मे विविध वर्णों, प्राकृतिक दृश्यो, मानवीय हाव-भावो आदि का चित्रण देखकर उनके जन्माध न होने के पक्ष मे यह तर्क उपस्थित करते हैं कि *जन्म से नेत्रहीन कवि को इन सबका ज्ञान कैसे हुआ होगा*। इस विषय मे निवेदन है कि

---

१. सा. १-१। २ सा १-९५।

प्रतिभासपन्न कवि के सबध मे इस प्रकार की शका नही की जा सकती, विशेषकर उस समय जब कवि ऐसे वातावरण मे जीवन भर रहा जिसमे हर पहर कथा-वार्ता, कीर्तन-चर्चा, पूजा-पाठ आदि सबका एक ही विषय हो, कवियो, सगीतज्ञो और गायको की गोष्ठी उसी के वर्णन मे रत हो, ज्ञानी-योगी उसी के ध्यान मे सलग्न हो तथा कथावाचको, टीका-व्याख्याकारो, विद्वानो और अध्येताओ का समय उसी के अध्ययन, मनन और विश्लेषण मे व्यतीत होता हो।

सूर-साहित्य के सभी मर्मज्ञ इस विषय मे एकमत है कि उसके रचयिता का ज्ञान और अनुभव बहुत गभीर और विस्तृत था, परतु यह सब सहज दैवी प्रतिभा तथा अध्यवसाय की देन थी अथवा नियमित अध्ययन और विधिवत् शिक्षा का फल, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। उनके कुछ आलोचको का मत है कि सूरदास को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपेक्षित अवसर मिला होगा[1]। और एक महाशय ने तो यह भी लिख दिया है कि सूरदास काव्यशास्त्र के पडित थे और उन्होने पुराणो का अच्छा अध्ययन किया था[2]। परतु न तो उन्होंने इसका कोई प्रमाण दिया है और न उनके समकालीन अथवा परवर्ती किसी भक्त या लेखक ने ही इस सबध मे कोई उल्लेख किया है। हरिराय जी ने सूरदास के पद बनाने[3]—और गान-विद्या मे बहुत चतुर होने[4]—की बात कही है, परतु इनका ज्ञान उन्हे कैसे हुआ, किससे उन्होने पद बनाना सीखा, सगीत का कैसे अभ्यास किया अथवा सामान्य शिक्षा कितनी पायी, इस सबध मे वे भी मौन है। मियासिह-कृत 'भक्त-विनोद' मे माता-पिता के साथ बालक सूरदास का ब्रज-यात्रा को जाना और वहाँ वैष्णवो के साथ ही रहने लगना, लिखा है, परतु डा० दीनदयालु गुप्त-जैसे विद्वान उसे प्रामाणिक नही मानते[5]। ऐसी स्थिति मे यही जान पडता है कि छोटी ही अवस्था मे गृह त्याग कर, सीही ग्राम से चार कोस दूर, तालाब के किनारे सूरदास बस गये और जन्माध होने के कारण ससार के आकर्षणो, प्रलोभनो और व्यसनो से दूर रहकर स्वत सरस्वती की साधना मे प्रवृत्त हुए। तालाब के किनारे विश्राम लेनेवाले किसी साधु, महात्मा या गायक ने कभी उनको सगीत सबधी कोई निर्देश दे दिया हो तो दूसरी बात, अन्यथा यह उनकी निजी लगन और साधना थी जिसने उन्हे इतनी सफलता प्रदान की। हरिराय जी ने उनके कठ की कोमलता की सराहना भी की है—'सूर को कठ बहुत कोमल हतो'[6]। इस दैवी कृपा से भी चर्म-चक्षुविहीन उस युवक को बहुत

---

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, 'सूरदास', पृ० १५।
२. पं० रामनरेश त्रिपाठी, 'कविता कौमुदी', पहला भाग, (सं० १९९०), पृ० १७६।
३. 'अष्टछाप', काँकरौली, पृ० ९।
४. 'अष्टछाप', काँकरौली, पृ० १०।
५. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० १२४।
६. 'अष्टछाप', काँकरौली, पृ० १०।

उत्साह मिला होगा। तभी, वैराग्य होने पर, जब यह अपना समस्त लौकिक ऐश्वर्य और सुख-साधन त्याग कर गऊघाट पर आ बसा, उसकी काव्य और सगीत-साधना के लिए पहले से भी अधिक अवकाश मिलने लगा। अपनी प्रतिभा का आभास उसे मिल चुका था, अब आवश्यकता उसके नियमित और निरन्तर विकास की थी जिसमे वह तीस- बत्तीस वर्ष की आयु तक निरतर लगा रहा।

साराश यह है कि किसी पाठशाला मे अथवा गुरु के समीप रहकर सूरदास को नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नही मिला। अपने सपर्क मे आनेवाले सामान्य और विशिष्ट जन-समुदाय के वार्तालाप से ही उन्होने किसी सीमा तक ज्ञानार्जन किया। साधु-सतो के समय-समय पर समागम ने उनको विशेष प्रेरणा प्रदान की। प्रसिद्ध सत कबीरदास ने भी सत्सग के आधार पर ही ज्ञान-वृद्धि की थी, परन्तु स्थिति के अन्तर ने दोनो के स्वभावो और मार्गो को समान न रहने दिया। कबीरदास की शारीरिक पूर्णता ने उन्हे पर्यटन-प्रिय के साथ-साथ अक्खड बनाकर जहाँ उनकी ज्ञान-विषयक सचय-वृत्ति को खडनात्मक रूप भी दिया, वहाँ सूरदास की शारीरिक अपूर्णता ने उन्हे निरीहावस्था मे डालकर एक ही स्थान पर पर्याप्त समय तक तटस्थ और अविरोधी रूप से काल-यापन करते हुए उपयोगी तत्वो के चयन के लिए सदैव सतर्क रहने को प्रेरित किया। फलस्वरूप विस्तृत जन-समुदाय के बीच रहनेवाले कबीरदास की खडन-मडनात्मक और समाज-सुधारक वृत्ति प्रखर हुई, तो सूरदास एकात जीवन मे ब्रह्म के लोकरजनात्मक रूप का अन्तर्दृष्टि से दर्शन करते हुए, कभी अपनी अकिंचनता का गान करके उसे द्रवित करने मे लगे और कभी उसकी मनोरम लीलाओ के वर्णन द्वारा अत सुख-वृद्धि मे।

आयु के लगभग एक चौथाई भाग तक एकात साधना मे लगे रहने के पश्चात् सूरदास की भेंट वल्लभाचार्य जी से हुई। लौकिक सुख-साधनो से विरक्त इस युवक की विनम्रता से सन्तुष्ट होकर महाप्रभु ने उसे अपनी शरण मे लिया और दीक्षा दी। हरिराय जी के अनुसार, आचार्य जी ने सबसे पहले 'श्रीमद्भागवत' की स्वरचित 'सुबोधिनी टीका' का ज्ञान कराया[1] और अपने संप्रदाय का रहस्य भी समझाया[2]। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' मे एक स्थान पर श्री गोसाई जी का सस्कृत भाषा मे एक पालना रचकर सूरदास जी को सिखाने का उल्लेख मिलता है[3]। इससे यह नही समझना चाहिए

---

१. "सो सगरी 'श्रीसुबोधिनी' जी को ज्ञान श्री आचार्य जी ने सूरदास के हृदय मे स्थापन कियो तब भगवल्लीला-जस वर्णन करिबे को सामर्थ्य भयो"
—'चौरासी वार्ता,' हरिराय-कृत 'भावप्रकाश', 'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० १३।

२. श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ।
—'सूर-सारावली' (वेंकटेश्वर प्रेस), छद ११०२, पृ० ३८।

३. 'श्री गुसाई जी ने एक पालना सस्कृत मे कीयो सो पालना सूरदास जी को सिखायो। सो पालना सूरदास जी ने श्री नवनीत प्रिया जी झूलत हुते ता समय गायो। सो पद—राग रामकली—'प्रेम पर्यंक शयन'। यह पद सूरदास जी ने सपूर्ण करिके

कि सूरदास जी को सस्कृत भाषा का भी ज्ञान था। इसका सकेत केवल इतना ही हो सकता है कि वे बहुत तीक्ष्ण बुद्धि-सम्पन्न थे और इसी से सस्कृत के पद का उन्होने साराश स्वय समझ लिया जैसा ऐसे वातावरण मे रहनेवाले के लिए कठिन नही होता, तथा उसी का आधार लेकर तद्विषयक रचना भी प्रस्तुत कर दी।

हरिराय जी ने सूरदास को, 'सगुन बताइवे मे चतुर' लिखा है[1]। 'सूरसागर' की कुछ पक्तियो से[2] ज्ञात होता है कि ज्योतिष विद्या मे उनकी गति अवश्य थी, परन्तु इसका भी उन्होने विधिवत् अध्ययन किया होगा, ऐसा नही जान पडता। उस विद्या के किसी जानकार के सत्सग से उन्होने उसका कुछ परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा, यही तत्कालीन स्थिति मे सभव था। चर्मचक्षुओ के अभाव मे अन्य इद्रियो की शक्ति सामान्यतया बहुत विकसित हो जाती है और सयम-साधना के फलस्वरूप उनकी आत्मिक क्षमता का विशेप रूप मे वृद्धि पा जाना भी सभव है। अतएव अधावस्था मे जनसाधारण को आकर्षित और प्रभावित करने के लिए पद गाने और शकुन बतलाने मे उन्होने ख्याति प्राप्त करके उक्त दैवी अभिशाप-जन्य न्यूनता की यथासाध्य पूर्ति का मानवोचित प्रयत्न ही किया।

वल्लभ-सप्रदाय मे दीक्षित होने के अनन्तर सूरदास को ऐसा काव्यमय वातावरण प्राप्त हुआ कि उससे उनकी कवि-वृत्ति को प्रस्फुटित और विकसित होने की निरतर प्रेरणा मिलने लगी। अष्टछाप के आठो कवियो मे सूरदास सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और वे 'पुष्टि मार्ग के जहाज'[3] के रूप मे प्रतिष्ठित थे। परन्तु इस बात का उन्हे अभिमान न था और अन्य सखाओ[4] से उन्हे बडा स्नेह था। मदिर के उत्सवो के अतिरिक्त भी

गाय सुनायो श्री नवनीतप्रिय जी को। पाछे या पद के भाव के अनुसार बहुत पद कीये'।

—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', पृ० २८३।

१ 'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० १०।

२. (नद जू) आदि जोतिषी तुम्हरे घर को पुत्र-जन्म सुनि आयौ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ।

—'सूरसागर', १०-८६।

३. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३२।

४. 'श्री मद्भागवत' मे श्रीकृष्ण ने अपने सखाओ को संबोधित करते हुए उनके ये नाम बताये हैं —

हे कृष्ण स्तोक, हे अंशो, श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्य वरूथप॥

दशम् स्कंध (पूर्वार्द्ध), अध्याय २२, श्लोक ३१, पृ० २७३।

इनमे से प्रथम आठ कृष्ण के ऋषभ तक के रूप में अष्टछाप के आठो कवि संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। सूरदास इनमे मुख्य थे और उन्हे कृष्ण कहा गया है—लेखक।

सूरदास इन सखाओ से मिलते-जुलते और धर्म तथा काव्य-चर्चा किया करते थे । अष्टछाप मे कई वैष्णवो के साथ सूरदास जी का परमानददास के घर जाना लिखा गया है[1] जो उक्त कथन का एक प्रमाण माना जा सकता है। इसी प्रकार नददास का छह मास तक परासौली मे सूरदास जी के साथ रहने का भी उल्लेख मिलता है[2]। 'वार्ता' के अनुसार सूरदास जी ने कृष्णदास अधिकारी को एक बार इस लिए टोका भी था कि इनकी रचना मे उनके भावो की छाया आ जाती है । कृष्णदास ने इस पर एक ऐसा पद रचने का निश्चय किया जिसमे उनकी छाया न आ सके और वह ऐसे विषय का हो जो सूरदास ने छुआ न हो[3]। यह प्रसग भी सकेत करता है कि अष्टछापी कवि एक दूसरे से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रेरणा लिया करते थे ।

आशय यह है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य मे भेंट होने मे पूर्व सूरदास काव्य-रचना अवश्य करते थे, स्व-दैन्य-प्रकाशन मात्र उनका ध्येय होने के कारण उस समय की कविता काव्य-कला के समस्त आडवरो मे रहित होती थी। अपने सरल और अनावरित रूप मे, शात रस की दृष्टि से, भक्तो का सर्वस्व होने पर भी इस काल की रचना मे रसात्मक लालित्य, काव्यात्मक चमत्कार और भाषा की प्राजलता की एक प्रकार से कमी ही माननी चाहिए। श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा का सौभाग्य प्राप्त करने के पश्चात् इन अभावो को दूर करने मे सूरदास इस कारण भी सफल हो सके कि अब वे साहित्यिक वातावरण के मध्य मे थे जहाँ प्रतिदिन कवियो और सगीताचार्यो के समक्ष अपनी अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए सभी को प्रस्तुत रहना पडता था। सूर-साहित्य मे रचना-शैली की विविधता भी इस बात का प्रमाण है कि सूरदास इस प्रकार की गोष्ठियो मे सरुचि भाग लेने को सदैव प्रस्तुत रहते थे।

विनय-पदो की रचना मे सूरदास की प्रतिभा का प्रर्याप्त निखार परिमित विषय की एकरसता के कारण भी न हो सका। श्रीकृष्ण-लीला-गान का निर्देश पाने के पश्चात् जो सरस विषय उन्हे प्राप्त हो गया, उसमे उनकी पूर्ण तल्लीनता हो गयी। जीवन के एकाकीपन मे सासारिक सघर्ष और क्रिया-कलाप से तटस्थ, आत्मनिवेदन मे सलग्न कवि, महाप्रभु द्वारा जीवात्मा-रूपिणी गोपियो को स्व-साहचर्य से अपार आनद देनेवाले रसिकप्रवर श्रीकृष्ण का आश्रय लेने की प्रेरणा पा, भटकते हुए-से जैसे राजमार्ग पर आ गया। लीलाबिहारी की भक्तवत्सलता की महिमा गाते-गाते

---

१. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ८९ ।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३४० ।

३. 'एक दिन सूरदास जी ने कृष्णदास सों कही जो कृष्णदास तुमने जितने पद किये तामे मेरी छाया आवत है। तब कृष्णदास ने कही जो अब के ऐसो पद करूँ सो तामे तिहारी छाया न आवे। पाछे कृष्णदास एकांत मे बैठि कै विचार किये एकाग्र मन करिकै, जो सूरदास जो वस्तु न गाये होंय सो गावनो यह विचार' ।

—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० २०५-६ ।

तन्मय हो जाने पर सूरदास की अतरात्मा की वीणा से जो सगीतमय ध्वनि निसृत हुई उसमे हृदय की असीम मुग्धता थी। यह ऐसा आकर्षक विषय था जिसने परिवार के समस्त सुखो का सोल्लास अनुभव कवि को करा दिया। सुख-दुखमय जीवन की विविध परिस्थितियो की अनेकरूपता ने कवि को उन पर एक से अधिक दृष्टिकोणो से विचार करने का अवसर दिया। फलस्वरूप नवोन्मेपशालिनी प्रतिभा के बल पर कवि ने एक प्रसग पर अनेकानेक उक्तियाँ प्रस्तुत कर दी जिसके लिए विविध शैलियो के उपयुक्त भाषा-रूपो को अपनाने मे कवि समर्थ हो सका।

सूरदास के प्रादुर्भाव के समय उत्तरी भारत के गिने-चुने स्थान ही भारतीय भक्ति-उपासना के प्रमुख केंद्र रह गये थे। व्रज और उसका समीपवर्ती प्रदेश कृष्णभक्ति का सर्वोपरि स्थान था। राधावल्लभी, हरिदासी आदि अनेक सप्रदायो के भक्त और उपासक दूर-दूर प्रदेशो से समय-समय पर वहाँ आते रहते थे और कुछ तो वहाँ सदा बने रहते थे। सभव है, सूरदास को प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा इन सप्रदायो के भी भक्तो से मिली हो। परतु उनकी वृत्ति केवल अनुकरणात्मक नही थी। चर्मचक्षुओ का अभाव होते हुए भी प्रत्येक विषय को मौलिक कोण से देखने की पैनी अतर्दृष्टि उनके पास थी जिसके आश्रय से हर प्रसग और भाव को सर्वथा नवीन रूप देने मे वे पूर्ण सफल हो सके।

सूर का ज्ञान और पांडित्य—

सूरदास की शिक्षा-दीक्षा भले ही व्यवस्थित न रही हो और नियमित अध्ययन का भी अवसर उन्हे चाहे न मिला हो, परन्तु निरतर अध्यवसायपूर्ण अभ्यास और विस्तृत अनुभव के आधार पर जो काव्य उन्होने रचा उससे उनके अगाध ज्ञान और प्रकाड पाडित्य का स्पष्ट परिचय मिलता है। सूरदास व्यावहारिक ज्ञान-सपन्न थे, साथ-साथ 'सूरसागर' मे हमे उनके तीन रूप प्रत्यक्ष दिखायी देते है—कवि, सगीतकार और साप्रदायिक सिद्धात-व्याख्याता रूप। इन तीनो क्षेत्रो मे इस अध कवि की कुशलता आज के पाठक को चमत्कृत करती है और चकित भी।

अ. कवि-रूप—काव्यकार के लिए भावुकता के अतिरिक्त वर्ण्य विषय तथा जड़ और चेतन प्रकृति के सभी तत्वो का पूर्ण परिज्ञान अपेक्षित है। सूरदास उच्च कोटि के कवि, प्रकृति के पुजारी एव मानव स्वभाव के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यो के ज्ञाता थे। काव्य के विविध प्रकारो के अनेक सुदर उदाहरण उनके साहित्य मे उपलब्ध हैं। अलकार, रस, वृत्ति, गुण आदि काव्यगत आवश्यक तत्वो का उन्हे अच्छा ज्ञान था। इन विषयो की यद्यपि शास्त्रीय व्याख्या उन्होंने नही की, तथापि उनके काव्य मे इनका समावेश इस बात का स्पष्टत परिचायक है कि वे उनके मर्मज्ञ थे। ब्रजभाषा ही नही, उसके निकटवर्ती प्रदेशो मे प्रचलित देशी-विदेशी अन्य भाषाओ की भी उनको सामान्य जानकारी थी और सभी के उपयुक्त तथा काव्योपयोगी प्रयोग उनकी रचनाओ मे मिलते हैं। इससे भी उनकी पर्यवेक्षक प्रकृति और ग्रहणशीलता का परिचय मिलता प्राप्त होता है।

आ. संगीतज्ञ-रूप—संगीत पर सूरदास का अद्भुत अधिकार था। महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने के पूर्व ही वे सगीत-कुशलता के लिए विख्यात हो गये थे। उनके पद सुनकर आचार्य जी का उनको दीक्षा देने के लिए सुगमता से प्रस्तुत हो जाना भी परोक्ष रूप से इस बात की ओर सकेत करता है कि वे उनके कण्ठ-माधुर्य और सगीत-कौशल पर मुग्ध हो गये थे। आगे चलकर महाप्रभु का श्रीनाथ जी के मदिर की कीर्तन-सेवा सूरदास जी को सौंपना भी इस कथन की पुष्टि करता है। सगीत के शास्त्रीय ग्रथो मे उनके पदो का सादर सगृहीत किया जाना तथा समकालीन और परवर्ती कुशल और प्रतिष्ठित गायको का उनके पद गाने के लिए कठस्थ करना भी इस बात का प्रमाण है कि भावपूर्णता के गुण से युक्त होने के साथ-साथ वे शास्त्रीय नियमो की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष हैं। सगीत-शास्त्र मे वर्णित प्राय सभी राग-रागिनियो के पद तो 'सूरसागर' मे मिलते ही हैं, विषय और वातावरण के उपयुक्त राग का चयन भी उनके तद्विषयक ज्ञान का परिचायक है।

इ साम्प्रदायिक सिद्धात-व्याख्याता-रूप—वल्लभ-सप्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व रचे गये सूरदास के विनय-पदो से पता चलता है कि जीवन की क्षणभगुरता तथा लौकिक सुख-साधनो की निस्सारता से वे परिचित हो चुके थे। सीही ग्राम से निकलकर अठारह वर्ष की अवस्था मे स्वामी[1] बन जाने और बहुत-सा वैभव एकत्र कर लेने के पश्चात् उनको वैराग्य होना और कुछ सेवको के साथ मथुरा की ओर उनका चल देना[2] सिद्ध करता है कि दूसरो के ज्ञानोपदेश से नही, प्रत्युत परिवारवालो की निर्धनता और निर्ममता[3], मनुष्य जाति की स्वार्थांधता, पाप-लिप्सा और अर्थ-परायणता तथा समस्त दृश्य जगत की अनित्यता एव नश्वरता देखकर अत प्रेरणा से उन्होने वैराग्य लिया था। ऐसे व्यक्ति की विचारधारा मे पूर्वासक्ति के प्रति पश्चाताप और आत्मग्लानि से सम्बन्ध रखनेवाली दार्शनिकता की पुट से युक्त विरक्ति का भाव मिलना सर्वथा स्वाभाविक है और यही बात हम उनके विनय-पदो मे देखते है।

---

१. 'सो सूरदास स्वामी कहवाये, बहुत मनुष्य इनके सेवक भये। जाके कठी बाँधनी होय सो सूरदास को सेवक होये,—।
—श्रीहरिराय-कृत 'भावप्रकाश' ('अष्टछाप', काँकरौली), पृ० ९।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), दूसरा भाग, पृ० १०।

३. सूरदास के पिता की निर्धनता और निर्ममता की पुष्टि श्री हरिराय-कृत 'भावप्रकाश' के इस अवतरण से होती है—'जो देखो एक तो विधाता ने हमको निष्कचन कियो और दूसरे घर मे ऐसो (नेत्र-आकार हीन) पुत्र जन्म्यो। जो अब याकी कौन तो टहल करैगो और कौन याकी लाठी पकरैगो ? सो या प्रकार ब्राह्मण ने अपने मन में बहुत दुख पायो'।
—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ५।

महाप्रभु वल्लभाचार्य प्रथम ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे जिन्हे सूरदास ने आदर और श्रद्धा का दृष्टि से देखा। आचार्य जी ने अष्टाक्षर मत्र—श्रीकृष्ण शरण मम—सुनाकर उनसे समर्पण कराया[1]। पश्चात् सगुण भक्ति और भगवल्लीला का महत्व, अपने सम्प्रदाय की उपासना-विधि का तत्व और रहस्य समझाने के लिए आचार्य जी ने सूरदास को 'श्रीमदभागवत्' के दशम स्कध की अनुक्रमणिका तथा स्व-रचित 'सुवोधिनी टीका' सुनायी[2]। इन ग्रंथो के पारायण से सूरदास जी सगुण ब्रह्म की लीलाओ का अनुभव हृदय मे करने लगे और उसका वर्णन करने की क्षमता भी सहज ही उन्हे प्राप्त हो गयी[3]।

---

१. दीक्षा के दो रूप वल्लभ-संप्रदाय मे प्रचलित हैं—प्रथम, नाम-दीक्षा जिसमे अष्टाक्षर मंत्र—श्रीकृष्णः शरणं मम—कान मे तीन वार सुनाया जाता है और द्वितीय, समर्पण-दीक्षा जिसमे व्यक्ति स्त्री, पुत्र, परिवार, धन-धान्य अर्थात् लौकिक संवधियो और ऐश्वर्यों से व्यक्त अपने सर्वस्व के साथ शरीर और आत्मा को भी श्रीकृष्ण को समर्पित करके दास-भाव स्वीकार करता है। सूरदास की रचनाओ में दोनो प्रकार की दीक्षाओ के सकेत मिलते है—

क. नाम-दीक्षा की ओर संकेत—

अजहूँ सावधान किन होहि।
माया विषम भुजंगिनि कौ विष उतर्यौ नाहिंन तोहि।
कृष्न सुमंत्र जियावन मूरी, जिन जन मरत जिवायौ।
बारंबार निकट स्रवननि ह्वै, गुरु गारुड़ी सुनायौ॥—सा० २-३२।

ख. समर्पण-दीक्षा की ओर संकेत—

इहिं विधि कहा घटैगौ तेरौ।
नंदनंदन करि घर कौ ठाकुर, आपुन ह्वै रहु चरौ॥
कहा भयौ जौ संपति वाढ़ी कियौ बहुत घर घेरौ।
....
जो वनिता—सुत जूथ सकेले हय-गय विभव घनेरौ।
सबै समर्पौ सूर स्याम कौं, यह साँचौ मत मेरौ॥ सा० १-२६६।

२. 'अष्टाक्षर मंत्र सुनायो तासो सूरदास के सगरे जनम के दोष मिटाये और सात भक्ति भई। पाछे ब्रह्म संबंध करवायो, तासो सात भक्ति और नवधा भक्ति की सिद्धि भई। सो रही प्रेमलक्षणा, सो दसम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाये। तव संपूरन पुरुषोत्तम की लीला सूरदास के हृदय मे स्थापन भई, सो प्रेमलक्षणा भक्ति सिद्धि भई'—'भाव-प्रकाश' (प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग), पृ० १३।

३. "सो सगरी 'श्रीसुवोधिनी' जी को ज्ञान श्रीआचार्य जी ने सूरदास के हृदय मे स्थापन कियो। तव भगवत्लीला-जस वर्णन करिवे को सामर्थ्य भयौ। तब अनुक्रमणिका तें सगरी लीला हृदय मे स्फुरी।"
—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीयभाग, पृ० १३।

उक्त वातो से उनकी बुद्धि की कुशाग्रता और विपय की हृदयगमशीलता पर तो प्रकाश पडता ही है, यह भी स्पष्ट होता है कि तीस-वत्तीस वर्ष की अवस्था तक विरक्त जीवन विताने के कारण उनका हृदय इष्टदेव के प्रति निष्ठा के भाव को सजग करने मे समर्थ हो गया था तथा अनन्य भक्त का आदर्श और समर्पणमय जीवन विताने की योग्यता भी उनमे आ गयी थी। इसी समय से स्वय को महाप्रभु के चरणो मे डालने मे ही उन्होने जीवन की चरम सार्थकता समझी और शेष आयु आचार्य जी के निर्देशानुसार विताने का निश्चय किया। पश्चात्, उन्होने 'श्रीमदभागवत' के लीला-सवधी विपयो का ध्यान रखते हुए हजारो पद वनाये। 'श्रीमद्भागवत' भक्ति-विपयक प्रामाणिक ग्रथ है, इसी प्रकार सूरदास के काव्य का भी साप्रदायिक भक्तो मे वडा मान रहा है। 'वार्त्ता'-कार ने तो उसे ज्ञान-वैराग्य विपयक भक्ति-भेदो मे युक्त माना है[1] और हरिराय जी ने उनके 'मन रे, माधव सो करि प्रीति'[2] वाले पद के सुप्रभाव की ओर सकेत करते हुए एक अच्छा खासा प्रमाण-पत्र दे डाला है—'सो यह पद कैसो है, जो या पद को सुमिरन रहै तव भगवत् अनुग्रह होय और मन कूं वोध होय और ससार सो वैराग्य होय श्रीभगवान् के चरणारविंद मे मन लगै। तव दु सग से भय होय, सत्सग मे मन लगे। सो देहादिक मे ते स्नेह घटै लौकिक आसक्ति छूटै। जो भगवान् को प्रेम है सो अलौकिक है, ताके ऊपर प्रीति वढै'[3]।

सूर-साहित्य का अध्ययन करके हम वल्लभ-सप्रदाय के धार्मिक और दार्शनिक नियमो और सिद्धातो की रूपरेखा की स्पष्ट जानकारी पा सकते हैं। परन्तु सूरदास भावुक भक्त और कवि थे, दार्शनिक विवेचक नही। उन्होने हृदय से साप्रदायिक सिद्धातो का मर्म समझा था, मस्तिष्क द्वारा उनका विधिवत् मनन और चितन नही किया था। अतएव उनका काव्य इस बात का तो परिचायक है कि जिस सप्रदाय मे वे दीक्षित थे उसके सिद्धातो का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान उन्होने अवश्य प्राप्त कर लिया था और पूरी निष्ठा से उनको आचरित करने को भी वे सदैव प्रस्तुत रहते थे, अपने समय मे प्रचलित विविध मत-पथो के साधारण सिद्धातो से भी वे परिचित थे। परन्तु उनकी शारीरिक स्थिति जहाँ उन्हे साप्रदायिक नियमो-सिद्धातो के 'प्रचारक' वनने का लोभ सवरण करने को विवश कर रही थी, वहाँ महाप्रभु द्वारा सौंपा हुआ कीर्तन और लीला-वर्णन का सेवा-कार्य इसी दायित्व के शक्ति भर निर्वाह के लिए उत्साहित कर रहा था। दार्शनिक और सैद्धान्तिक विवेचन को उन्होने एक प्रकार से अनधिकार पूर्ण चेष्टा समझा और उनका भावुक हृदय उनके पारिभाषिक प्रतिपादन की गम्भीरता और शुष्कता से दूर रह कर ही सतुष्ट

---

१. 'सूरदास ने सहस्र विधि पद किये हैं। तामे ज्ञान-वैराग्य के न्यारे न्यारे भक्ति-भेद अनेक भगवद् अवतार, सो तिन सबन की लीला को बरनन कियो है'। —'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० २३।

२. सा० १-३२५। यह लम्बा पद 'सूर-पच्चीसी' नाम से प्रसिद्ध है।

३. 'भाव-प्रकाश', 'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग', पृ० २५।

रहा, क्योकि उस स्थिति मे उन्होने अत्यन्त सरस और कोमल भावपूर्ण रचना द्वारा साप्रदायिक भक्तो और उपासको को ही नही, मानव मात्र को अपने इष्टदेव के प्रति सहज ही आकर्षित करके, उनकी मनोरम और हृदय-मुग्धकारी लीलाओ का प्रशसक और गायक बना दिया। इस दृष्टि से सैद्धातिक और दार्शनिक विवेचना न करने पर भी सूरदास का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसका प्रभाव भी अधिक व्यापक और स्थायी है।

———

३. सूर की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन

(क) व्रजभाषा का ध्वनि-समूह और सूर के प्रयोग

व्रजभाषा का ध्वनि समूह—

व्रजभाषा की सामान्य ध्वनियाँ, जो हिन्दी की अन्य बोलियो की ध्वनियो से मिलती जुलती हैं, इस प्रकार हैं—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ए‍ ओ औ‍ ऐ=अए औ=अओ।

व्यंजन—कठ्य क् ख् ग् घ्
तालव्य च् छ् ज् झ्
मूर्द्धन्य ट् ठ् ड् ढ्
दत्य त् थ् द् ध्
ओष्ठय प् फ् ब् भ्
अनुनासिक (ङ्) (ञ्) (ण्) न् (न्ह) म् (म्ह) और अनुस्वर = ं।
अतस्थ य् र् (र्ह) ल् (ल्ह) व्
ऊष्म (श्) (ष्) स् ह और विसर्ग ।
नयी ध्वनियाँ ड़् ढ़्

उक्त ध्वनि-समूह मे कोष्ठक मे लिखे लिपि-चिह्न अप्रधान हैं और शेष प्रधान। अप्रधान चिह्नो की स्थिति तो स्पष्ट करने की आवश्यकता है ही, प्रधान वर्णो मे से भी कुछ के विषय मे विशेष व्याख्या अपेक्षित है।

स्वर और सूरदास के प्रयोग—

'ऋ' व्रजभाषा का अप्रधान स्वर है। इसके स्थान पर सूरदास तथा व्रजभाषा के अन्य कवियो ने 'रि' अथवा 'इर्' का प्रयोग किया है। यदि सर्वत्र ऐसा किया गया होता और 'ऋ' की मात्रा (ृ) का भी प्रयोग न किया जाता तब तो व्रजभाषा के ध्वनि-समूह से 'ऋ' को सर्वथा बहिष्कृत किया जा सकता था, परंतु ऐसा हुआ नही है और अनेक शब्दो मे 'ऋ' की मात्रा तो सुरक्षित है ही, उसका भी प्रयोग हुआ है। सभा के ही 'सूरसागर' मे यद्यपि 'ऋचा' और 'ऋतु' के स्थान पर 'रिचा'[1] और रितु'[2] दिये

---

१. सा. ४०३६। २. सा. १०–३२८।

गये है; तथापि 'ऋतु',[1] 'ऋन',[2] 'ऋषिनि'[3] आदि में 'ऋ' भी सुरक्षित है और 'सूरसागर' के पुराने सस्करणो मे तो उक्त शब्दो के अतिरिक्त 'ऋच्छ'[4] जैसे अपेक्षाकृत कम प्रचलित शब्दो में भी 'ऋ' दिखायी देती है। इसी प्रकार कृत[5], कृपा[6], गृह[7], तृषा[8], दृढ[9], भृगु[10] मृतक[11] आदि अनेक शब्दो मे उसकी मात्रा भी मिलती है। यह हो सकता है कि 'ऋ' का प्रयोग ब्रजभाषा की प्रकृति न समझनेवाले लिपिकारो ने किया हो, परतु उसकी मात्रा के सबध मे यह बात निश्चित है कि स्वय कवियो ने अनेक तत्सम शब्दो को उनके मूल रूप मे ही अपना लिया जिनमे 'ऋ' की मात्रा सुरक्षित है, यद्यपि इसका उच्चारण 'रि' या 'इर्' से मिलता-जुलता ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'ऋ' के प्रयोग को यदि लिपिकारो आदि की सामान्य भूल ही मान लिया जाय, तो भी उसकी मात्रा के ही प्रयोग-बाहुल्य के आधार पर इसे ब्रजभाषा के स्वरो मे गौण स्थान की अधिकारिणी अवश्य मानना चाहिए।

स्वरो के अनुच्चरित और लघूच्चरित प्रयोग—'सूरसागर' के अनेक पदो मे चरण की मात्रा पूर्ति हो जाने पर गणना की दृष्टि से, 'अ' के अनुच्चरित प्रयोग मिलते हैं, जैसे—कपिलऽवतार[12], कुटुँबऽवगाहे[13], क्योऽव[14], देहऽभिमान[15], प्रतापऽधिकाई[16], विमुखऽरु[17], भागवतऽनुसार[18]। इनके अतिरिक्त सूर-काव्य मे कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते है जिनमे लघुमात्रिक व्यजन का भी, जिसमे 'अ' सयुक्त रहा है, मात्रा की दृष्टि से, उच्चारण नही किया जाता। ऐसे प्रयोग मे अनुच्चरित व्यजन अर्द्धाक्षर माना जाता है। जैसे—नृप कह्यो मत्र जत्र कछु आहि[19], अति विपरीत तृनावर्त्त आयौ[20]। सूरदास प्रभु तुम्हारे गहत ही एक एक तैं होत बियौ[21]। आपु बँधावत भक्तनि छोरत वेद विदित भई बानी[22]।

अ की तरह अनुच्चरित इ और उ के उदाहरण समस्त सूर-काव्य मे बहुत कम मिलेंगे, जैसे—इनहिं स्वाद जो लुब्ध सूर सोइ जानत चाखनहारौ[23]। परतु साथ-साथ प्रयुक्त दो अनुच्चरित 'इ' का सूरसागर' मे एक बहुत रोचक उदाहरण मिलता है—

वा भय तैं मोहिं इनहि उबार्यौ[24]।

'सूरसागर' में ऊ के लघूच्चरित रूप के प्रयोग बहुत कम मिलते है, शेष स्वरो के कुछ उदाहरण यहाँ सकलित हैं—

---

१. सा. ३४६९। २. सा. १—१९६। ३. सा. १-३४१। ४. सा. वें. ९-१०४।
५. सा. ७-२। ६. सा. १-१। ७. सा. १-९। ८. सा. १-१-९।
९. सा. १०-१६४। १०. सा. १-३। ११. सा. ७-२। १२. सा. ३-१२।
१३. सा. ३-१३। १४. सा. ३६६। १५. सा. ३-१३। १६. सा. १-२२९।
१७. सा. १-१२६। १८. सा. ३-१२। १९. सा. ७-२। २० सा. १०-७७।
२१. सा. १०-१४३। २२. सा. १०-३४३। २३. सा. १०-१३५। २४. सा. ६-४।

१. आ के लघूच्चरित प्रयोग—कहा कमी जाके राम धनी[1]। बद्दे पतित पासगहु नाही अजामिल कौन विचारी[2]। सत्य भक्तनहिं तारिवे की लीला विस्तारी[3]। कहा जानै कै वा मुवी (रे) ऐसे कुमति कुमीच[4]। राजा इक पण्डित पौरि तुम्हारी[5]।

२. ई के लघूच्चरित प्रयोग—तिनकी साखि देखि हिरनाकुस-रावन-कुटुंब भई ख्वारी[6]। अब आज तैं आप आगैं दई लै आइए चराइ[7]। माया-मोह-लोभ कै लीन्हे जानी न वृंदावन रजधानी[8]। मातु-पिता-भैया मिले (रे) नई रुचि नई पहिचानि[9]।

३. ए के लघूच्चरित प्रयोग—प्रभु तेरौ वचन भरोसौ साँचौ[10]। दर-दर लोभै लागि लिए डोलति नाना स्वाँग बनावै[11]। किते दिन हरि-सुमिरन विनु खोए[12]। नहिं रुचि पथ पदादि डरनि छकि पच एकादस ठानै[13]।

४. ऐ के लघूच्चरित प्रयोग—इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर बपुरे की कहा गनी[14]। और को है तारिबै कौं कहौ कृपा ताता[15]। और हैं आजकाल के राजा मैं तिनमैं सुलतान[16]।

५. ओ के लघूच्चरित प्रयोग—अर्थ काम दोउ रहे दुवारैं धर्म-मोक्ष सिर नावैं[17]। जो कोउ प्रीति करै पद-अंबुज उर मंडत निरमोलक हार[18]। पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ धर्म-सुधन लुटयौ[19]। कपट लोभ वाके दोउ भैया ते घर के अधिकारी[20]।

६. औ के लघूच्चरित प्रयोग—अंबरीष कौ साप देन गयौ बहुरि पठायौ ताकौं[21]। मरियत लाज पाँच पतितनि मैं हौ अब कहौ घटि कातैं[22]। तो कहौ कहाँ

---

१. सा. १-३९। २. सा. १-१३१। ३. सा. १-१७६। ४. सा. १-३३५। ५. सा. ८-१४। ६. सा. १-३४। ७. सा. १-५१। ८. सा. १-१४९। ९. सा. १-३२५। १०. सा. १-३२। ११. सा. १-४२। १२. सा. १-५२। १३. सा. १-६०। १४. सा. १-३९। १५. सा. १-१२३। १६. सा. १-१४५। १७. सा. १-४०। १८. सा. १-४१। १९. सा. १-६४। २०. सा. १-१७३। २१. सा. १-११३। २२. सा. १-१३७।

जाइ करुनामय कृपिन करम कौ मारौ[१] । महा कुबुधि कुटिल अपराधी औगुन भरि लियौ भारी ।[२] हरि जू सौं अब मैं कहा कहौ[३] ।

दीर्घ वर्णो का लघु रूप मे उच्चरित होना कवि की भाषा का एक दोष कहा जा सकता है। सूरदास के बहुत कम पदो मे इस प्रकार के प्रयोग मिलते है , परतु बिलकुल न हो, सो बात भी नही है। जिन पक्तियो मे इस प्रकार के प्रयोग है, उनमे से अधिकाश ऐसी है जिनमे एक या दो दीर्घ स्वर लघु रूप मे पाये जाते है। परतु खोज करने पर कुछ ऐसे उदाहरण भी मिल जाते है जिनमे चार से सात तक लघूच्चरित दीर्घाक्षर मिल जाते है, जैसे—

तनकहि तनक जु सूर निकट आवै तनक कृपा कै दीजै तनकहि सरन[४]। तनकहि तनक तनक करि आवै सूर, तनक कृपा कै दीजै तनक मरन[५] । मेरे माई स्याम मनोहर जीवन[६] । जोइ जोइ भावै मेरे प्यारे। सोइ सोइ तोहि देहुँ लला रे[७] ।

सूरदास के कुछ पदो मे इस प्रकार के प्रयोगो के रह जाने का कारण एक तो यह हो सकता है कि ये पद उन्होने स्वय लिपिबद्ध नही किये और दूसरा यह कि इनका सशोधन भी वे नही कर पाये। कुछ लिपिकारो की कृपा का भी यह फल हो सकता है। फिर भी सतोष की बात यह है कि सूर के 'सागर' मे ऐसे प्रयोग बूँद से अधिक नही हैं जो काव्य-प्रेमी पाठक को खटकते हो।

स्वरो के सानुनासिक प्रयोग—

व्रजभाषा के प्राय सभी स्वरो के अनुनासिक रूप भी सूर-काव्य मे बराबर प्रयुक्त हुए हैं। 'सूरसागर' मे ए के लघूच्चरित सानुनासिक रूप (एँ) के उदाहरण अधिक नहीं मिलते, शेष मे से प्रत्येक के कुछ प्रयोग यहाँ सकलित हैं। स्थानाभाव से दीर्घ स्वरो के लघूच्चरित प्रयोगो के लिए तो पद का पूरा चरण उद्धृत किया गया है, क्योकि इसके न देने से उच्चारण का रूप स्पष्ट नही हो सकता, शेष के साथ केवल शब्द देना ही पर्याप्त समझा गया है—

अँ—आनँद[८], बिलँव[९], सँग[१०], सँतापै[११], सँपूरन[१२], हँकारयौ[१३] ।

आँ—आँखि[१४], उहाँ[१५], जाँघ[१६], दधिकाँदौ[१७], बतियाँ[१८], माँगि ।[१९]

---

१. सा. १-१५७ । २. सा. १-२१८। ३. सा. ३-२ ।
४ सा. १०-१५०। ५. सा. १०-१५२ । ६. सा. १०-१५४। ७. सा. १०-१८३ ।
८. सा. १०-३६ । ९. सा सा. ४-५ । १०. सा. २-२४ । ११. सा. ३-१३ ।
१२. सा. ३-१३ । १३. सा. ४-६ । १४. सा. ४-५ । १५. सा. ३-१३ ।
१६. सा. ४-११ । १७. सा. १०-४० । १८. सा. २-२५ । १९. सा. ४-९ ।

इँ—उँहि[1], गोविंदहिं[2], चीततिं[3], देहिं[4], माहिं[5], सिंहासन[6]।

ईं—उपजीं[7], गवनीं[8], तिहीं[9], नाईं[10], नितहीं[11], लगाईं[12]।

उँ—कुटुंब[13], कुँवर[14], गाउँ[15], जाउँ[16], तिनहुँ[17], पहुँच्यौ[18]।

ऊँ—अजहूँ[19], जिवाऊँ[20], ढूंढन[21], मूंदि[22], सुनाऊँ[23] सूंघि[24]।

एँ जेंवत[25], बेंचि[26], भेंट[27], रेंगैं[28], सेंती[29] सेंदुर[30]।

एं—आगैं[31], तातैं[32], मुएं[33], सहरैं[34], स्रवैं[35], हिरदैं[36]।

ऐं—व्रज वधु कहैं वार वार धन्य रे गढ़ैया[37]। पुनि सुरुचि कैं चरननि पर्‌यौ[38]।

कृष्न-जन्म सु प्रेम-सागर क्रीडैं सब व्रज लोग[39]। निमि भएं रानी पैं फिरि आवैं[40]। तव उपदेस मैं हरि कौं ध्यायौ[41]। साँचैंहि सुत भयौ नंदनायक कैं हैं नाहीं वौरावति[42]।

ओ[43]—कीन्हों[44], गोडें[45], ज्यो ज्यो त्यो त्यों[46], दीन्हो[47], दीनो[48], पोछति[49], मोको[50]।

औं— गूंगी वातन यों अनुरागति भँवर गुजरत कमल मौं वदहिं[51]।

औं— तीनौं[52], घौं[53], पसारौं[54], भजौं[55], मोसौं[56], लैंहौं[57]।

---

१. सा. ४-५। २. सा. २-१३। ३. सा. १०-३२। ४ सा. ५-३।
५. सा. ३-११। ६. सा. ६,५। ७. सा. ४-४। ८. सा. १०-३२।
९. सा ८-११। १० सा. ५-३। ११. सा. ३-६। १२. सा. ५-२।
१३. सा. ३-१३। १४. सा ४-९। १५. सा. ४-९। १६. सा. १०-४६।
१७. सा. २-३०। १८ सा ३-११। १९. सा. ४-९। २० सा. ८-८।
२१. सा. ५-३। २२. सा. १०-४३। २३. सा ३-१३। २४. सा. २-२६।
२५. सा १०-१६८। २६ सा ४-५। २७ सा ४-११। २८ सा १०-७६।
२९. सा ९-१७४। ३० सा १०-२४। ३१ सा ३-४। ३२. सा. २-२२।
३३ सा ४-५। ३४ सा ४-३। ३५ सा १०-३०। ३६ सा. ४-५।
३७ सा १०-४१। ३८ सा ४-९। ३९ सा १०-२६। ४० सा ४-१२।
४१. सा ४-९। ४२. सा. १०-२३।

४३. ओं और उसके ह्रस्व रूप के उदाहरण 'सभा' के 'सूरसागर' मे नहीं हैं, क्योंकि उसमे इनके स्थान पर औं और औं का सर्वत्र प्रयोग किया गया है। 'सूरसागर' के पूर्व प्रकाशित सस्करणों मे अवश्य ओं की भरमार है—लेखक।

४४. सा. वेनी. ८०८। ४५. सा. वेनी. १०८०। ४६. सा. वेनी. ११०६।
४७. सा. वेनी. ८०८। ४८. सा वेनी. ९४५। ४९. सा. १०-९४।
५०. सा. वेनी. ९४४। ५१. सा. १०-१०७। ५२ सा ३-१३। ५३ सा. २-१५।
५४ सा. १०-२७। ५५. सा ६-५। ५६ सा ५-४। ५७ सा ३-१।

औं— कहौं हरि कथा सुनौ चित लाइ[1]। लाख टका अरु झूमका देहु सारी दाइ कौं नेग[2]। इहि सराप सौं मुक्ति ज्यौं होइ[3]।

स्वरों के संयुक्त प्रयोग—

हिन्दी की अन्य बोलियो या विभाषाओ की तरह व्रजभाषा मे भी कई स्वरो के सयुक्त रूपो का व्यवहार किया जाता है। सूर-काव्य मे भी साथ-साथ आनेवाले स्वरो के अनेक प्रयोग मिलते है। इनमे सबसे अधिक सख्या दो स्वरो के सयुक्त प्रयोगो की है। यो तो व्रजभाषा के प्रधान और अप्रधान, सब स्वरो के परस्पर सयोग से अनेक युग्म बन सकते हैं, परन्तु यहाँ मुख्यत वे ही सयुक्त प्रयोग दिये जाते है जिनके पर्याप्त उदाहरण सूर-काव्य मे सरलता से मिल जाते हैं—

अइ—इकइस,[4] गइ,[5] भइ,[6] लइ[7]।

अई—अनुसरई,[8] करई[9], टरई[10], दई[11], नई[12], पुरई[13], बई,[14] बाढई[15], भई[16], मुई[17], यहई[18], सरई[19]।

अई—वृथा होहु वर वचन हमारौ कैकई जीव कलेस सह्यौ[20] हौ। यह अनरीति सुनी नहिं स्रवननि अब नई कहा करौं[21]। ज्यौ बिट पर तिय सग बस्यौ रे भोर भए भई भीति[22]।

अउ—अनउतर[23], जउ[24]।

अऊ—कलऊ[25], तऊ[26]।

अए—जए[27], ठए[28], तए[29], दए[30], नए[31] पठए[32], बए[33] भए[34], लए[35]।

---

१ सा. ३-१। २ सा. १०-४०। ३ सा ६-७। ४. सा ९-१३। ५ सा १०-६७। ६. सा. ६-२। ७. सा. ३८०३। ८ सा १-४८। ९. सा. १-४८। १० सा. १०-४। ११. सा ४-४। १२. सा. १-१८५। १३ सा. १-२६। १४. सा १-१८५। १५ सा. १०-४७। १६. सा. १०-३८। १७ सा ४-४। १८. सा. १-६९। १९. सा. १०-४। २०. सा. ९-३३। २१. सा. ९-९८। २२. सा. १-३२५। २३. सा. १०-३०७। २४. सा. १-९३। २५. सा. ९-१२३। २६. सा. १-५८। २७. सा. ३-८। २८. सा. १०-८। २९. सा. १-२८४। ३०. सा. १-११। ३१. १-२८६। ३२. सा. ९-४९। ३३. सा. १०-१७३। ३४. सा. १-७। ३५. सा. १०-११४।

अए—खोजत जुग गए बीति नाल कौ अंत न पायौ[1]। इतनौ जन्म अकारथ खोयौ

स्याम चिकुर भए सेत[2]।

अए—स्वायभुव मनु सुत भए दोइ[3]

आइ—उताइली,[4] चढाइ,[5] जाइ,[6] दाइज,[7] धाइ,[8] पाइ,[9] बगदाइ,[10] राइ,[11] लगाइ,[12] समाइ[13]।

आई—चराई,[14] ठकुराई,[15] दुहाई,[16] बधाई,[17] भरमाई,[18] लजाई,[19] लरिकाई,[20] सरनाई,[21] हरहाई,[22]।

आउ—आउज,[23] कताउ,[24] चबाउ,[25] चाउ,[26] जाउ,[27] पखाउज,[28] भाउ,[29] मढ़ाउ,[30] राउर,[31] ल्याउ[32]।

आऊ—बटाऊ[33], बलदाऊ[34]।

आए—अघाए,[35] आए,[36] उपजाए,[37] छाए,[38] जिताए,[39] धाए,[40] पुराए,[41] मुकराए[42] ल्याए[43]।

आई—सूर स्याम बिनु कौन छुडावै चले जाव भाई पोइसि[44]। कमल नयन कौं

कपट किए माई इहि ब्रज आवै जोइ[45]।

इअ—बतिअनि,[46] जिअनि,[47] कबिअनि[48], बिटनिअनि[49]।

इआ—खिसिआनौ,[50] पतिआरौ[51]।

इए—किए,[52] जिए,[53] दिए,[54] पिए,[55] लिए,[56] हिए[57]।

---

१. सा २-३६। २ सा १-३२२। ३ सा ३-१२। ४ सा २०३१।
५. सा १०-३९। ६ सा १-११। ७ सा ९-२७। ८ सा १-१६।
९ सा १-३५। १० सा १-६०। ११ सा १०-४। १२ सा १-५२।
१३. सा १०-१४। १४ सा १-६। १५ सा १-१९। १६ सा १-२४।
१७. सा १०-१२। १८ सा १०-५१। १९ सा १-४०। २० सा १०-४।
२१. सा १-२७। २२ सा १-५१। २३ सा ९-७५। २४ सा १०-४१।
२५ सा १-६०। २६ सा ९-७८। २७ सा १-२७४। २८ सा ९-७५।
२९ सा. ९-१२१। ३० सा १०-४१। ३१ सा १०-२४८। ३२. सा १०-४०।
३३ सा ९-४५। ३४. सा बेनी-११५०। ३५ सा. १-१३। ३६ सा १०-४।
३७ सा १-२६। ३८. सा १०-३०। ३९ सा १-२४। ४० सा १-७।
४१ सा १-७। ४२ सा १-१७१। ४३ सा १०-१३। ४४ सा १-१३३।
४५ सा १०-५६। ४६. सा ४०१६। ४७ सा ४०६९। ४८ सा ३०६६।
४९. सा १७११। ५० सा १-१९६। ५१ सा ४२००। ५२ सा १-१३।
५३. सा १०-९९। ५४ सा १-१८। ५५ सा १०-९९। ५६ सा १-११।
५७ सा. १०-८८।

इए—सूरदास स्वामी धनि तप किए बडे भाग जसुदा अरु नदहिं[1]। आदर सहि

स्याम मुख नद अनद रूप लिए कनियाँ[2]।

इऐ—अवरेखिऐ,[3] आइऐ,[4] कीजिऐ,[5] देखिऐ,[6] बोइऐ,[7] बरनिऐ,[8] भजिऐ,[9] मथिऐ,[10] मरिऐ,[11] लुनिऐ,[12] सहिऐ[13]।

इऐ—सूरदास प्रभु कौं यौं राखो ज्यो राखिऐ गज मत्त जकरि कै[14]।

उअ—आँसुअनि,[15] गरुअ[16], चुअत[17], चेटुअनि,[18] बघुअनि,[19] महुअरि[20]।
उआ—गरुआई,[21] गभुआरे,[22] दुआदस,[23] दुआरो,[24] भुआल,[25] मालपुआ[26]।
उइ—दुइगानो[27]।
उई—मुई[28]।
उए—मुए[29]।
एइ—जेइ-तेइ,[30] देइ,[31] भेइ,[32] लेइ,[33] सेइ[34]।
एई—एई,[35] खेई,[36] येई[37]।
एउ—ऐसेउ,[38] छेउ-तेउ,[39] देउ,[40] पारेउ,[41] लेउगे[42]।
एऊ—कलेऊ,[43] येऊ[44]।
एए—सेए[45]।
एए—द्वादस वर्ष सेए निसिबासर तव सकर भाषी है लैन[46]।

ऐए—जैए[47]।
ऐऐ—सकुचैऐ[48]।

---

१ सा १०-१०७। २ सा. १०-१०६। ३. सा. १०-३०७। ४. सा. १-५१। ५. सा १-२८। ६. सा. १०-३०७। ७. सा १-६१। ८ सा. १-४४। ९. सा- १-६८। १०. सा. १०-३३। ११. सा. १-४४। १२. सा १-६१। १३. सा. १०-३४२। १४ सा. १०-३१। १५ सा. ४०७४। १६. सा. २१३३। १७. सा ४१०८। १८. सा. ७-२। १९. सा. ३६५१। २०. सा. १४८७। २१. सा ३५३९। २२ सा. १०-१३४। २३. सा ३६२७। २४. सा. १०-१३५। २५. सा. वेनी. १११२। २६. सा. १०-१८३। २७. सा वेनी- ११६६। २८. सा. ९-७७। २९. सा. ९-१४। ३०. सा. ३७२२। ३१. सा. ९-१७४। ३२. सा. १-२००। ३३. सा ९-११५। ३४. सा. १-२००। ३५. सा बेनी. ११८२। ३६. सा. ९-४२। ३७. सा. १०-८५। ३८. सा बेनी. ११०१। ३९. सा ३६९१। ४०. सा. ३-१३। ४१. सा. १-२५५। ४२. सा. १०-२७९। ४३. सा. १०-१६३। ४४. सा. ९-९५। ४५. सा. १-८२। ४६. सा. ९-१२। ४७. सा बेनी. १०९३। ४८. सा. ४-५।

ओइ—कोइ,[१] कोइला,[२] जसोइ,[३] जोइ,[४] दोइ,[५] धोइ,[६] पोइ,[७] बिगोइ,[८] भरोइ,[९] रोइ,[१०] लोइ,[११] सँजोइ,[१२] सोइ,[१३] होइ [१४]।

ओई—कोई,[१५] खोई,[१६] गोई,[१७] ग्मोई,[१८] सोई,[१९] होई [२०]।

ओउ—दोउ,[२१] सोउ [२२]।

ओऊ—कोऊ,[२३] गोऊ,[२४] तोऊ,[२५] दोऊ,[२६] रोऊ,[२७] वोऊ,[२८] मोऊ [२९]।

ओए—सूरदास प्रभु सोए कन्हैया हलरावति मल्हरावति है [३०]।

ओइ—कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसो झगरै [३१]। दधिहिं बिलोइ मद माखन राख्यौ मिश्री सानि चटावै नंदलाल[३२]।

ओउ—कोउ जुवती आई कोउ आवनि। कोउ उठि चलति सुनति मुख पावति [३३]। बदरिकासरम दोउ मिलि आइ [३४]।

ओआ—नोआ [३५]।

ओई—सिरानोई[३६]।

दो स्वरो के उक्त सयोगात्मक प्रयोगो के अतिरिक्त बोलचाल की सामान्य भाषा मे कुछ और भी वैसे रूप प्रचलित हैं, जैसे अओ, अओ, आए (=आय), आओ आओ, (=आव), इअ, इआ, इई, ईआ, उओ, उभी, ऊई, ऊए, ऊओ, एआ, एओ, ओअ आदि। प्रयत्न करने पर इनमे से कुछ के दो-एक उदाहरण सूर-काव्य मे मिल सकते है, परन्तु साधारणत ये रूप काव्य-भाषा मे कम ही आते है।

दो स्वरो के उक्त सयुक्त रूपो की तरह ही ब्रजभाषा मे कुछ शब्द ऐसे भी मिलते है जिनमे तीन स्वरो का सयोग देखने मे आता है। ब्रजभाषा मे स्वरो की अधिकता के कारण एक दरजन मे अधिक त्रिस्वर सयोगात्मक रूप बन सकते हैं, यथा अइया, अइओ,

---

१ सा १-२३०। २ सा ३८४३। ३. सा १०-५६। ४ सा १-२८६। ५ सा. १-२४५। ६ सा १-२६२। ७ सा १०-१४८। ८ सा १०-५६। ९ सा १०-५६। १० सा १-२६२। ११ सा ३-१३। १२ सा १०-२६। १३ सा १-३५। १४ सा १-२३०। १५ सा. १०-३। १६ सा ३-१३। १७ सा. १०-३२२। १८ सा १०-५७। १९ सा १-११७। २० सा १-१०। २१ सा १-२६। २२. सा बेनी ११५३। २३ सा. १-३५। २४ सा बेनी ११५९। २५ सा बेनी ११५९। २६. सा १-४०। २७ सा १-१८६। २८ सा बेनी ११५९। २९. सा १-१८६। ३० सा. १०-७३। ३१ सा १०-७६। ३२ सा १०-८४ ३३ सा. १०-७०। ३४ सा ३-२। ३५ सा १०-१८०। ३६ सा १-७३।

अउआ, आइउ, आइए, आइऐ, आइओ, आएउ, इअउ, इआई, इआऊ, इएउ, उइआ, एइआ, ऐएउ, ओआए, ओएउ, ओइआ आदि। इनमे से अधिकाश रूप सामान्य बोलचाल मे ही अधिक प्रयुक्त होते है, यथा ओआए—जैसे सोआए,[1] एइए—जैसे सेइए[2]। इन उदाहरणो की सख्या बढ सकती है यदि 'ये' और 'यै' को क्रमश 'ए' और 'ऐ' का रूप मान लिया जाय, जैसे जइयै, पइयै, करइयै, बिछइयै, अइयै, मँगइयै, दुरइयै, छकइयै, अधिकइयै, बढइयै आदि प्रथम स्कध के २३९वें पद मे आनेवाले सभी शब्द 'अइऐ' के और गाइयै, पाइयै[3] आदि 'आइऐ' के उदाहरण बन सकते हैं।

सामान्य स्वरो की तरह इन सयुक्त स्वरो के भी सानुनासिक रूप होते है। तीन स्वरो से बननेवाले मूल रूपो की तरह उनके सानुनासिक प्रयोगो की सख्या भी सूर-काव्य मे नही के बराबर है। हाँ, दो स्वरो के प्रयोग उसमे बहुत मिलते हैं। ऐसे रूपो मे कही एक स्वर सानुनासिक है, कही दोनो, यथा—

अएँ—भएँ[4]

अएँ—भएँ अपमान उहाँ तू मरिहै[5]।

आँउ—इहाँउ[6]।

आईं—गुसाईं,[7] छाईं-ताईं[8] नाईं-बनाईं[9]।

आउँ—अगाउँ-छाउँ,[10] ठाउँ,[11] डराउँ[12] नाउँ-निभाउँ,[13] पाउँ,[14] बिकाउँ-लजाउँ, सुहाउँ।[15]

आऊँ—कहाऊँ-गाऊँ,[16] चलाऊँ,[17] दुहाऊँ-धाऊँ-न्हाऊँ-पहिराऊँ,[18] पाऊँ,[19] बँधाऊँ,[20] बुलाऊँ,[21] लाऊँ।[22]

आएँ—अन्हवाएँ,[23] आएँ,[24] कराएँ,[25], खाएँ,[26] गाएँ,[27] चुगाएँ-न्हवाएँ,[28] न्हाएँ-लाएँ।[29]

इएँ—दिएँ।[30]

ईएँ—कीएँ-जीएँ[31]।

उँअ—कुँअर।[32]

---

१. सा. १०-८। २. सा. वें १-१४५। ३. सा. ३-११। ४. सा. २-२२। ५. सा. ४-५। ६ सा. ३-२। ७. सा १-१४७। ८. सा. १-४४। ९. सा. १-१४७। १०. सा. १-१६४। ११. सा. १-१२८। १२. सा. १-१६४। १३. सा. १-१२८। १४. सा. १-२०। १५. सा १-१२८। १६ सा. १-१६६। १७. सा. १-१४६। १८. सा. १-१६६। १९. सा. १-१४६। २०. सा. १-१६६। २१. सा. १-१४६। २२. सा. १-१६६। २३ सा. १-३३२। २४. सा. १-२५६। २५. सा. १-३३२। २६. सा. २-३२। २७. सा. २-६। २८. सा. १-३३२। २९ सा. २-६। ३०. सा २-६। ३१. सा. ३७००। ३२. सा. ४०९४।

गत[1] आदि। पूर्ण 'ण' के समान हलंत 'ण्' का प्रयोग भी 'संक्षिप्त सूरसागर', लखनऊ तथा वेंकटेश्वर प्रेस के संपूर्ण 'सूरसागरो' मे कही-कही मिलता है, परंतु 'सभा' के सस्करण मे इसके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करने की ही नीति अपनायी गयी है, जैसे कंठ[2], कुडल[3], खड-गडकि[4], पडित[5], पाडव[6] आदि।

ब और व—देवनागरी वर्णमाला मे व यद्यपि प्राचीन ध्वनि के रूप मे स्वीकृत है, तथापि ब की ध्वनि के अपेक्षाकृत सरल होने के कारण ब्रजभाषा-कवियो ने शब्दो के आदि के व को प्राय सर्वत्र और मध्य या अत मे आनेवाले को विशेष अवसरो पर ब लिखा है। सूरदास भी शब्दारभ के व को प्राय सदैव ब ही लिखने के पक्ष मे हैं, जैसे वचन—बचन[7] विधाता—बिधाता[8], विनोद—बिनोद[9], विबुध—बिबुध[10], वृद्ध—बृद्ध[11], वृष्टि—बृष्टि[12] आदि। शब्दो के मध्य मे प्रयुक्त व को गोवर्द्धन—गोबर्धन[13], जैसे दो-एक शब्दो को छोडकर प्राय तभी वे ब से बदलते हैं जब उपसर्ग जोडकर अथवा समास-द्वारा नया रूप गढा गया हो, जैसे व्रज—वासी—ब्रजबासी[14], अथवा उसके पूर्व का व भी ब मे बदला गया हो, जैसे विविध—बिबिध[15], । इसी प्रकार शब्दात के व को ब मे तब परिवर्तित किया गया है जब उसके पूर्व की अन्य ध्वनि को भी सरल रूप मे लिखा गया हो, जैसे पूर्व—पूरब[16] । कछ शब्दो मे व के स्थान पर उ, जैसे ज्वर-जुर[17], कुछ मे औ, जैसे गवन—गौन[18], यादव—जादौ[19], यादव-कुल—जादौ-कुल[20], पवन—पौन[21], और कुछ मे म, जैसे यवन—जमन[22] भी 'सूरसागर' मे मिलता है। साथ ही अनेक शब्द ऐसे भी पाये जाते है जिनका व कवि ने सुरक्षित रखा है, जैसे कुतवाल[23], गँवायो[24], जीव[25], जुवा[26], ज्वाला[27], पावक[28], पावन[29], भगवत[30], भव[31], भागवत[32], भाव[33], सावक[34], सुवा[35], स्व[36], स्वान[37], स्वारथ[38] आदि।

र और ल—यद्यपि इन दोनो व्यजनो का उच्चारण-स्थान एक ही है और ल का उच्चारण र से सरल भी होता है, तथापि ब्रजभाषा मे शब्दात के ल को कभी कभी र मे बदल दिया जाता है। सूर-काव्य मे भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे—केला-

---

१ सा. २-२०। २. सा ४-९। ३ सा ३-१३। ४ सा. ५ ३।
५ सा. ८. १४। ६. सा १-२५। ७. सा. १०-११। ८. सा. १०-२३।
९. सा १०-४। १०. सा ३९३९। ११ सा १०-२१। १२. सा. १०-११।
१३. सा १०-३७ १४. सा १०-३६। १५ सा १०-८४। १६. सा. १०-८।
१७. सा वें १४३३। १८. सा ३६९३। १९. सा १. २८८। २०. सा. १०-३४।
२१ सा ३६९०। २२ सा. ९-११। २३. सा १-६४। २४. सा. १. ७९।
२५ सा १-५४। २६. सा १-१०१। २७ सा १-४६। २८. सा. १-५५।
२९ सा १-९०। ३० सा. १ .२। ३१ सा. १-७६। ३२. सा १-६५।
३३ सा. १-६५। ३४. सा १-१०६। ३५ सा. १-८९। ३६. सा १-५०।
३७. सा. १-९८। ३८. सा १-५३।

केरा[1], चटसाल—चटसार[2], छन—छर[3], जजाल—जजार[4], जाल—जार[5], नालो—नारो[6], पुतली—पुतरी[7], बादल—बादर[8], बिकराल—बिकरार[9]। कही-कही शब्द के मध्य का ल भी र मे बदला गया है; जैसे गालियाँ—गारियाँ[10], परन्तु ऐसा बहुत कम शब्दो मे किया गया है। कुछ शब्दो मे र का लोप भी मिलता है, जैसे—प्रिय—पिय[11], परन्तु ऐसा अधिक नही होता, यहाँ तक कि 'प्रिय' के स्त्रीलिंग रूप 'प्रिया'[12] का 'पिया' नही लिखा जाता। इसी प्रकार प्रीतम[13], प्रीति[14], प्रेम[15] आदि शब्द भी मूल रूप मे ही 'सूरसागर' मे मिलते है।

श, ष और स—व्रजभाषा को श और ष से स की मधुर ध्वनि अधिक प्रिय है। यद्यपि 'सूरसागर' के कुछ सस्करणो मे अनेक शब्दो को 'श' से ही लिखा गया, है तथा कुशल[16], क्लेश[17], दशन[18], दशमी[19], दिशि[20], निशान[21], प्रश्नहि[22], शीश[23], शूल[24], शोभित[25] आदि, तथापि व्रजभाषा मे इसके स्थान पर प्राय सर्वत्र स ही लिखा जाता है। 'सूरसागर' के नये सस्करण मे भी श के स्थान पर प्राय. सर्वत्र स ही मिलता है; जैसे अश—अस[26], कुशल - कुसल[27], जगदीश—जगदीस[28], त्रिशूल—त्रिसूल[29], दर्शन—दरसन[30], द्वादश - द्वादस[31], निशाचर—निसाचर[32], शरणागत-सरनागत[33], शस्त्र—सस्त्र[34], सदेश—सदेस[35] आदि। श को स मे परिवर्तित करने के इस नियम का निर्वाह सूरदास ने जितनी कट्टरता से किया है, ष को स से बदलने मे वह दृढता नही दिखायी देती जिसके फलस्वरूप अनेक शब्दो मे ष ज्यो का त्यो वर्तमान है। जैसे आकरषन[36], त्रिदोष[37], निर्दोष[38], पुरुष[39], पुरषारथ[40], पुरुषोत्तम[41], पोषै[42], बरष[43], बर्षा[44], बिषम-बिषाद[45], बिष्नु[46], वृषभ[47], वेष[48], भाष्यौ[49], भेषज[50],

---

१. सा. ३८६३। २. सा. ७-२। ३. सा. २४५५। ४. सा. ७-२। ५. सा. २-४। ६. १-२०९। ७. सा. ६-५। ८. सा. १-३१९। ९. सा. १-२७९। १०. सा. १०७२। ११. सा. २४५९। १२. सा. २६०१। १३. सा. ३२३१। १४. सा. २०१८। १५. सा. ३५९७। १६. सा. ३८७। १७. सा. ४०९७। १८. सा. वेना. १४६५। १९. सा. वें ९-४। २०. सा. न. कि रासलीला ९७। २१. सा. ३८१९। २२. सा. ३६६९। २३. सा वें ९-२। २४. सा. न. कि यमलार्जुन लीला, ३०। २५. सा वेनी. १६८१। २६. सा. ६-५। २७. सा. १-२३८। २८. सा. १०-८९। २९. सा. ६-५। ३०. सा. ९-८७। ३१. सा. ४-९। ३२. सा. ९-८४। ३३. सा. १-२६८। ३४. सा. ६-५। ३५. सा. १-२८६। ३६. सा. ९-२। ३७. सा ४१४७। ३८. सा. १-२१५। ३९. सा. ९-२। ४०. सा. १-२८७। ४१. सा. १-२६९। ४२. सा. ९-५। ४३. सा. ९-२। ४४. सा. १-२८६। ४५. सा. ९-७। ४६. सा. ९-१२। ४७. सा. १-२८६। ४८. सा. १-१३६। ४९. सा. ८-१६। ५०. सा. ४१४७।

मर्पत[1], रिपिनि[2] द्विपद[3], सताप[4], हरपवत[5] हरपि[6] आदि । सब शब्दो का 'ष' सुरक्षित रहा हो, सो बात भी नही है, कुछ मे इसके स्थान पर स भी मिलता है, जैसे अवशेष—अवसेस[7], विशेष–बिसेष[8], शेषनाग—सेसनाग[9] । इसी प्रकार शब्द के आदि का श यदि अर्द्धाक्षर के रूप मे है और उसके आगे 'र' है तो कभी-कभी उसको नही बदला गया है, जैसे श्री[10], श्रुति[11], शृगी[12], यद्यपि स्रम[13], स्रवननि[14], स्रुति[15] आदि शब्द इसके अपवाद भी है ।

ब्रजभाषा-काव्य के कुछ सस्करणो मे ष के स्थान पर कही-कही ख और ख के स्थान पर ष लिखा मिलता है। सन् १९४९ मे छपी हुई 'साहित्यलहरी' मे खण्डित, खरक, दुख, दुखिन, देखँहै, बखाने, भख, मुख, लख, सखिन आदि शब्द षडित षरक, दुष, दुषित, देषँहै बषाने, भष, मुष, लष, सषिन रूप मे लिखे मिलते है[16] । वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' मे भी मख के स्थान मे मष[17]–जैसे एकाध प्रयोगो मे ख के स्थान ष मिल जाता है । सभा के सस्करण मे यह परिवर्तन नही मिलता ।

ड़—देवनागरी वर्णमाला की यह एक नयी ध्वनि है जिसको ब्रजभाषा ने कुछ शब्दो मे तो अपना लिया है, परतु कुछ मे इसके स्थान पर 'र' लिखना उसे प्रिय है । सूरदास ने भी कुछ शब्दो मे तो इस परिवर्तन को स्वीकार किया है , जैसे ककडी, क्रीडा, खडाऊँ, घोडा, छडीदार, जोडी, पकडी, पडना, बेडी, लकडी, लडाई आदि शब्द उन्होने 'र' से लिखे है —ककरी[18], क्रीरत[19], खराऊँ[20], घोरा[21], छरीदार[22], जोरी[23], पकरी[24], परतौ[25], बेरी[26], लराई[27], लकरी[28], परतु उडन[29], उडाइ[30], उडि[31], उडिबे[32], उडिबौ[33], उडैहै[34], गडे[35], गारुडी[36], छाँडे[37], छाँडै[38], छाँडौगी[39], छाडयौ[40], डाँडी[41], लाड[42], लाडिली[43] आदि शब्दो मे 'ड़' को ही स्थान दिया गया है । जड[44], जडताई[45], जडाई[46], जडित[47] आदि शब्द 'सूरसागर'

---

१ सा १-२१५ । २ सा ८-१६ । ३ सा ४१६० । ४ सा १-२१५ । ५ सा १०-८९ । ६ सा १०-४५ । ७ सा ४०७८ । ८ सा. ४०७८ । ९ सा १-२१५ । १० सा ७-२ । ११ सा १-२८४ । १२ सा. ३८१२ । १३ सा १-६९ । १४ सा. १-७२ । १५ सा १-९१ । १६ 'साहित्यलहरी' लहरियासराय, पद सख्या क्रमश २८, १४, ३३, १६, २२, ३, १३, ८, ६ और ७ । १७ सा वें १२४१ । १८ सा ३९८८ । १९ सा १२०० । २० सा वें ३४७७ । २१ सा ९-९ । २२ सा १-४० । २३ सा ७६१ । २४ सा ३९८८ । २५ सा. १-२९७ । २६ सा ३९९४ । २७ सा ३-९ । २८ सा ३९८९ । २९ सा १०-६५ । ३० सा १२-२ । ३१ १० उ० ३१ । ३२ सा ३६६ । ३३ सा १-३३८ । ३४ सा १-८६ । ३५ सा ४०७८ । ३६ सा ७५६ । ३७ सा. ९-८३ ३८ स १-२८६ । ३९ सा १५११ । ४० सा ९-९६ । ४१. २-२८ । ४२ सा. २-३० । ४३ सा ७५९ । ४४ सा ५-३ । ४५ सा १-१८७ । ४६. सा ७९९ । ४७ सा २५७३ ।

मे 'ड़' से लिखे भी मिलते है और ये तथा इनसे मिलते-जुलते शब्द, 'र' से भी; जैसे जर-जड[1], जराइ-जडाइ[2], जराउ-जडाऊ[3], जरि-जडि[4], जरिया-जडिया[5] आदि।

न्ह, म्ह, र्ह और ल्ह[6]—इन ध्वनियो को देवनागरी वर्णमाला में स्थान नही मिला है, यद्यपि इन्हे, तुम्हे आदि शब्दो मे इनमे से प्रथम दो का प्रयोग किया जाता है। व्रजभाषा कवियो ने और सूरदास ने भी इनमे से अतिम दो का प्रयोग तो बहुत कम किया है परतु प्रथम दो का अधिक, यथा—
न्ह कन्हैया[7], कान्ह[8], कीन्ही[9], दीन्हो[10] न्हाउ[11], लीन्हे[12]।

म्ह—तुम्हरी[13], सम्हारति[14]।

ल्ह कालिह[15]।

सयुक्ताक्षर—हिंदी मे जिन सयुक्ताक्षरो का प्रयोग होता है उनमे क्त, क्ष, ज्ञ, त्र, त्म, द्ध, द्म, द्व, प्त, ष्ट, ह्न, ह्म, ह्य, ह्ल, ह्व मुख्य है। व्रजभाषा मे इनका प्रयोग बहुत कम किया जाता है और जिन तत्सम शब्दो मे ये प्रयुक्त होते है उनमे अर्द्धाक्षरो को पूर्ण करके अर्द्धतत्सम रूप प्राय बना लिये जाते है। जहाँ ऐसा करने का अवसर नही मिलता वहाँ पूरे सयुक्ताक्षर के लिए ही सरल ध्वनिवाले मिलते-जुलते एकाक्षर या अक्षरो का प्रयोग किया जाता है। सूरदास ने भी कुछ सयुक्ताक्षरो के अर्द्धाक्षरो को पूर्ण रूप से लिखा है, जैसे पद्म—पदुम[16], प्रह्लाद—प्रहलाद[17], प्राप्त—प्रापत[18], मुक्ति—मुकुति[19], कुछ मे उसे दूसरे अक्षरो से बदल दिया है, जैसे—

क्ष—छ—अक्षत—अछत,[20] अक्षम—अछम[21], क्षणभगुर—छनभगुर[22], क्षमा—छमा[23], क्षमी—छमी[24]।

क्ष—च्छ—अक्षर—अच्छर[25], अभक्ष्य—अभच्छ[26], वृक्ष-वृच्छ[27], परीक्षित—परीच्छित[28], रक्षा—रच्छा[29], लक्षण—लच्छन[30], लक्ष्मी—लच्छमी[31], साक्षात—

१. सा ९६३। २. सा १०-१३३। ३. सा. १०-४१। ४. सा. १०-४१।
५. सा. १०-८८। ६. डा० बाबूराम सक्सेना ने इन रूपो को स्वतंत्र व्यंजनो के समान मान लिया है—'इवोल्यूशन आव अवधी,' अनु० ६१, ६२ और ७२।
७ सा १०-१२५। ८. सा. १०-१५३। ९ सा. १-१९०। १० सा. १-२११।
११. सा. १०-१८६। १२. सा १-१७७। १३. सा. १-२०४। १४. सा. १०-२३
१५. सा ३८०८। १६ सा १-९४। १७. सा. ७-२। १८. सा. ४-७।
१९ सा ३७३५। २०. सा. ३७३२। २१. सा. १-१२१। २२. सा. १-८४।
२३. सा. १-२९०। २४. सा. १-३०९। २५. सा. ४-९। २६. सा. १-५६।
२७. सा. ६-५। २८. सा. १-२८। २९. सा. १-११२। ३०. सा. ३-१३।
३१. सा. ७-२।

साच्छात[1], शिक्षा—सिच्छा [2]।

ज्ञ—ज—ज्ञानशिरोमणि—जानसिरोमनि[3] ।

ज्ञ—ग—यज्ञ—जाग [4]।

ज्ञ—ग्य— अज्ञान—अग्यान[5] ।

उक्त सयुक्ताक्षरो मे क्ष विशेष कणकटु है, इसलिए इसके प्रयोग 'सूरसागर' के पुराने सस्करणो मे बहुत कम हुए हैं, परन्तु बिल्कुल न हुए हो सो बात भी नही है, जैसे—क्षत्रिआ[6], क्षीरोदक[7], क्षुद्रमति[8], मोक्ष[9], रक्षा[10] आदि। अन्य सयुक्ताक्षरो मे से अधिकाश का प्रयोग सूरदास ने किया है। इनमे से प्रमुख के कुछ उदाहरण यहाँ सकलित है—

क्त—अनुरक्ति[11], असक्त[12], जुक्ति[13], मुक्त[14], मुक्ति[15], सात्त[16] ।

ज्ञ—अज्ञान[17], आज्ञा[18], आतमज्ञान[19], परतिज्ञा[20], सरवज्ञ[21], सर्वज्ञ[22] ।

त्र—गात्र[23], त्रिविधि[24], त्रैलोकनाथ[25], दत्तात्रेय[26], धात्र-पात्र-मात्र[27], मित्राई[28], सत्रु[29] ।

त्न—पत्नी[30] ।

द्ध—उद्धार[31], जुद्ध[32], बिरुद्ध[33], बुद्धि[34], वृद्ध[35], सिद्धि[36], सुद्धासुद्ध[37] ।

द्म—पद्म[38]

द्य—अविद्या[39], उद्यम[40], उद्योग[41], जद्यपि[42], तद्यपि[43], द्याऊँ[44], द्याल = दयालु[45], द्युति[46], द्योस[47], द्योसनि[48], विद्यमान[49], वसुद्यो[50] ।

द्व—द्वंद[51], द्वादस[52], द्विज[53], द्वै[54], द्विरेफ[55] ।

प्त—अलिप्त[56], गुप्तहि[57], तृप्ति [58]।

---

१ सा २८४। २ सा ३-११। ३ सा १-८। ४ सा ८-१४। ५ सा १-१५४। ६ सा १० उ २५१। ७ सा वें १६८९। ८ सा वें ९४४। ९ सा १-४०। १० सा ४३०९। ११ सा ३-१३। १२. सा १-१०२। १३ सा १-६०। १४ सा ३-१३। १५ सा ३८१६। १६. ३-१२। १७ सा ३-१३। १८. सा ३-१३ १९ सा ३-१३। २० सा १-३८। २१ सा १-१२१। २२ सा १-२८९। २३. सा १-२१६। २४ सा ३-१३। २५ सा १०-१४६। २६ सा ४-३। २७ सा १-२१६। २८ सा १-२८९। २९ सा ३-९। ३०. सा ४-६। ३१ सा १-२०७। ३२ सा. ३-११। ३३. सा १-८२। ३४ सा १-४३। ३५ सा १-११८। ३६. सा ५-२। ३७ सा १-२१६। ३८ सा ४०७८। ३९ सा ४-१२। ४० सा ३-१३। ४१ सा ३९९३। ४२ सा ४-५। ४३ सा ६-४। ४४ सा ४-९। ४५. सा. ४-१०। ४६ सा ८६९। ४७ सा १-२८६। ४८ सा ४२२२१। ४९ सा १-१००। ५० सा ४१८६। ५१ सा ३-१३। ५२. सा १-६०। ५३ सा. १-८२। ५४ सा ८-११। ५५ सा ३९१७। ५६. सा ३-१३। ५७. सा ३७४६। ५८ सा. १-१०३।

ष्ट—अरिष्ट[१], अष्ट[२], अष्टम[३], त्वष्टा[४], दृष्टि[५], दुष्ट[६], मिष्टान्न[७], मुष्टिक[८], सृष्टि[९]

ष्ठ—बसिष्ठ, सिष्ठ[१०]।

ह्न—चिह्न[११], चिह्नानि[१२]।

ह्म—ब्रह्म[१३], ब्रह्मादिक[१४]।

ह्य—कह्यौ[१५], गह्यौ[१६], निबह्यौ[१७] पूछह्यौ[१८]।

ह्व—बिह्वल,[१९] ह्वँ[२०]।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सयुक्ताक्षरो का प्रयोग भी सूर-काव्य मे हुआ है; परन्तु वे बहुत सामान्य है और हिंदी मे भी वे बराबर प्रयुक्त होते हैं। अत. उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

अन्य परिवर्तन—स्वर और व्यंजन-सम्बन्धी सूरदास के उक्त प्रयोगो के अतिरिक्त कुछ शब्दो मे अन्य अक्षरो का भी परिवर्तन सूरदास ने किया है, जैसे—

ग—ई—लोग-लोइ[२१]।

म—उ—नाम-नाउ[२२]।

य—इ—आयु-आइ[२३], उपाय-उपाइ[२४], न्याय-न्याइ[२५]।

व—इ—चाव-चाइ[२६], भाव-भाइ[२७]।

व—उ—घाव-घाउ[२८], दावँ-दाउँ[२९]।

व—औ—अवसर-औसर[३०], स्रवन-स्रौन[३१]।

परन्तु इस प्रकार के प्रयोगो की सख्या इतनी कम है कि इनके आधार पर तद्विपयक नियम नही निश्चित किये जा सकते। फिर भी उक्त विवेचन से इनना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्रजभाषा की प्रकृति आरभ से ही व्यजनो से अधिक स्वरो को अपनाने की ओर रही। सूरदास ने भी इस रहस्य को पूर्णतया हृदयगम कर लिया था। यही कारण है कि कुछेक तत्सम शब्दो को छोड़कर वे प्राय सर्वत्र क्ष, ङ, ञ, ण और श के प्रयोग से तो बचे ही ज्ञ, य, व, ष और ड़ पर भी जैसे प्रतिबध लगाते रहे, कम से कम शब्दारभ मे तो उन्होने इनको नही ही जाने दिया। इस प्रकार मूल व्यजनो की सख्या मे जहाँ उन्होंने लगभग पंचमाश की कमी कर दी, वहाँ स्वरो मे एक तिहाई बढाकर और उनके

---

१. सा. १.१२१। २. सा. १.४०। ३. सा. ३.१३। ४. सा ६.४। ५. सा. १.४४। ६. सा. १.१०२। ७. सा. १०.२१२। ८. सा. १.१२३। ९. सा. ३.८। १०. सा. ३.८। ११. सा. २७१७। १२. सा. २५४९। १३. सा. ५.२। १४. सा. १.५२। १५ सा. ३.५। १६. सा. ६.४। १७. सा. १.९६। १८. सा. ४.१३। १९. सा. ८.५। २०. सा. ८.१०। २१. सा. २.५। २२. सा. ६.३। २३. सा. ७.२। २४. सा. ३.३। २५. सा. ३७३६। २६. सा. ३.३। २७. सा. ३-५। २८. सा. ६.५। २९. सा. ३.११। ३०. सा. ६.५। ३१. सा. ४.१२।

अनेकानेक नये संयुक्त रूप गढ़कर वे व्रजभाषा की जन्मजात कोमलता-मधुरता की सहज ही वृद्धि कर सके।

(ख) सूर का शब्द-समूह और उसका वर्गीकरण

किसी जनप्रदेश की बोली में जब साहित्य-रचना होने लगती है, तब स्वभावतः उसे पूर्ववर्ती और समकालीन भाषाओं के शब्द अपनाकर अपना भांडार भरना पड़ता है। ऐसा करने से उसकी व्यंजना-शक्ति विकसित होती है और धीरे धीरे वह समर्थ भाषा बनती है। सूरदास के पूर्ववर्ती कवि भी व्रजभाषा का शब्द-कोष बढ़ाने में प्रयत्नशील रहे थे और उनकी लगन का यह सुफल था कि पन्द्रवीं शताब्दी तक शक्ति-संचय करने के उपरांत, अपने सीमित क्षेत्र से ऊपर उठकर, वह साहित्यिक भाषा के प्रतिष्ठित पद पर आसीन हो सकी थी। परन्तु उनमें से अधिकांश कवि सामान्य कोटि के ही थे। परिस्थिति का अनुकूल न होना इसका कारण हो, चाहे प्रतिभा का अभाव, तथ्य यही है जिसका प्रमाण चौदहवी शताब्दी अथवा उसके पूर्व के किसी भी व्रजभाषा कवि की रचनाओं का लोकप्रिय न होना माना जा सकता है। व्रजभाषा को वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न बनाने वाले सर्वप्रथम विख्यात कवि सूरदास ही हैं जिनकी अंतर्दृष्टि ने जड और चेतन प्रकृति की नैसर्गिक सुंदरता, मनोहर क्रिया-कलाप और मर्मभेदिनी अनुभूतियों को लक्ष्य किया और जिनके सत्प्रयत्न से व्रजभाषा इनके स्पष्ट चित्रण में समर्थ हो सकी। सूरदास का इसमें महत्वपूर्ण योग यह था कि उन्होंने व्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की सूक्ष्मताओं को समझा और पूर्ववर्ती तथा समकालीन देशी-विदेशी भाषाओं के शब्द एवं प्रयोग अपनाने की रीति को व्यवस्थित और नियमित किया। अतएव दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनाने की जो रीति सूरदास ने निर्धारित की, उसी का अनुसरण उनके समकालीन और परवर्ती व्रजभाषा कवियों को करते देखकर अध्येता को इस अंध कवि की अद्भुत प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

सूर-साहित्य के सभी समालोचकों ने कृष्ण-काव्य-परंपरा के इस सर्वश्रेष्ठ व्रजभाषा कवि की भावुकता, अनुभूतियों की व्यापकता, वाक्-विदग्धता और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की सराहना की है। इन गुणों या विशेषताओं के मूल में किसी सीमा तक दैवी देन थी। परंतु व्रजभाषा को व्यंजना की क्षमता प्रदान करने का सारा श्रेय उनकी लगन, संचय-वृत्ति, व्यावहारिक दूरदर्शिता और अभ्यास की अनवरतता को ही है जो उन्हीं की सी साधना वाले व्यक्ति के लिए संभव थी। सारांश यह है कि सूरदास के हाथ में पड़कर व्रजभाषा सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो गयी और उसकी शाब्दिक समृद्धि किसी भी साहित्यिक भाषा के उपयुक्त मानी जाने लगी। यही नहीं, निकटवर्ती विभिन्न भाषाओं के शब्दों और प्रयोगों को अपनाने की नीति भी उन्होंने निश्चित कर दी, उदाहरण-स्वरूप मार्ग-प्रदर्शन कर दिया जिससे सदा के लिए संपर्क की घनिष्ठता बढ़ते रहने की आशा होने लगी। साथ-साथ जन-बोली से अपनी भाषा का सम्बन्ध-विच्छेद करना भी उन्हें नहीं रुचा और उसी से साहित्यिक व्रजभाषा को पुष्ट करने का लक्ष्य उन्होंने सदैव अपने सामने रखा। इस प्रकार भाषा का रूप स्थिर करने एवं

उसकी नीति और गतिविधि निश्चित करने का महत्वपूर्ण कार्य लगभग साठ वर्ष तक निरतर काव्य-सृजन मे लगे रहनेवाले इस अध कवि के द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूर्ववर्ती और नवोदित भाषाएँ—

हिंदी के जन्म से पूर्व सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भारतीय भाषाओ में पर्याप्त साहित्य रचा जा चुका था। इसके पठन-पाठन का क्रम पन्द्रहवी-सोलहवी शताब्दी तक चलता रहा। विधिवत् और नियमित शिक्षा न होने के कारण सूरदास प्रत्यक्ष रूप से इससे कोई लाभ न उठा सके। वीतराग-जन प्राय साधु-सन्तो के सत्सग-समागम द्वारा तथा कथावाचको और धर्मोपदेशको के व्याख्यानो और प्रवचनो से भाषा-सबधी ज्ञान प्राप्त करते हैं। तीस-बत्तीस वर्ष की आयु तक तो सूरदास को इसके लिए कम अवकाश मिला, परन्तु वल्लभ-सप्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् उनके लिए ऐसे अवसरो की सख्या यहाँ तक बढी कि दिन-रात वे विद्वानो और पण्डितो के ही मध्य मे रहने लगे। कीर्तन-सेवा का जो कार्य सूरदास को सौपा गया था, उसने उनकी प्रसिद्धि बढाने मे बडा योग दिया और सगीत की कुशलता ने उनकी लोकप्रियता की वृद्धि की। वल्लभ-सप्रदाय मे दीक्षित अनेक उपासक और भक्त कवि साहित्य-रचना के कार्य मे उस समय बराबर लगे हुए थे। सूरदास ने इनसे प्रेरणा तो ली ही, परोक्ष रूप से वह वातावरण उनकी भाषा-समृद्धि बढाने मे भी सहायक हुआ।

सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि प्रमुख पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओ के अतिरिक्त खडीबोली, अवधी, बुदेलखडी, कन्नौजी, राजस्थानी आदि बोलियो तथा विभाषाओ के ब्रजप्रदेश मे प्रचलित शब्दो और प्रयोगो से भी सूरदास सामान्य रूप से परिचित थे। उन्होने स्वय इन भाषाओ के क्षेत्रो की यात्राएँ नही की थी। परन्तु समय-समय पर कुछ ऐसे व्यक्तियो से उनका सम्पर्क अवश्य रहा था, उक्त बोलियो या भाषाओ मे से एक न एक जिनकी मातृभाषा थी। साथ ही, ब्रजप्रदेश की तीर्थ-यात्रा के लिए आनेवाले भक्तो-उपासको से भी उनका सम्पर्क हुआ और उनके साथ वार्तालाप करके सूरदास ने ब्रजभाषा की प्रकृति से मेल रखनेवाले उपयोगी शब्दो और प्रयोगो को अपना लिया। प्रसिद्ध सगीतज्ञ सूरदास के निकट सम्पर्क मे रहने का लोभ इन बोलियो के गायको और कलाकारो को रहा हो और उन्होने इनसे ईनकी बोलियो के लोकगीत तथा गेय पद सुने हो, यह बात भी स्वाभाविक जान पडती है। सूरदास की रचना मे इन बोलियो के शब्द और प्रयोग मिलने के ये ही सम्भव कारण हो सकते हैं।

अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओ के शब्द ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी से ही इस देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे प्रचलित हो गये थे। सभवत इसी से डा० केलॉग ने लिखा था कि हिंदी अपने जन्म से ही विदेशी भाषाओ से प्रभावित होती रही है[1]।

---

1. Almost from its very origin Hindi has been subjected to foreign influence.—Rev. S H. Kellogg, 'A Grammar of the Hindi Language', Chapter III, P 36

सूरदास के प्रादुर्भाव-काल तक व्रजमडल की जनभाषा मे ही नही, सामान्य काव्य-भाषा मे भी अनेक विदेशी शब्दो को स्थान मिल चुका था। खुसरो की मिली-जुली भाषा मे स्फुट रचनाएँ जनसाधारण को प्रिय थी और उनका अनुकरण करनेवाले साधारण तुकबन्दीकारो की कमी कभी नही रही। सूरदास ने इन विदेशी भाषाओ— मुख्यत अरबी-फारसी—के अनेक शब्दो और प्रयोगो को उदारतापूर्वक अपनाया जो इस बात का द्योतक है कि वे जन-भाषा की गति-विधि परखने मे कुशल थे और अपने को सामान्य वर्ग से ऊपर समझने की अहकारपूर्ण मनोवृति का उनमे सर्वथा अभाव था। इन विदेशी भाषाओ के प्रचलित शब्द और प्रयोग जनता की बोली में घुलमिल कर उसका अभिन्न अग हो गये थे। अतएव सूरदास ने भी उन्हे उसी रूप से अगीकार किया जिस रूप मे जन समुदाय उन्हे अपनाये था। इस दिशा मे उनका सबसे महत्वपूर्वक कार्य यह था कि उन्होने विदेशी भाषाओ के प्रयोग व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप बना कर, इसी के व्याकरण से उन्हे शासित करके, एक ऐसी नियमित व्यवस्था की जिसका समकालीन और परवर्ती कवियो ने भी अनुकरण किया। अनेक अरबी-फारसी शब्दो, अथवा उनके मूल रूपो, को लेकर उन्होने नये रूप गढने की प्रणाली का भी श्रीगणेश किया जिसने व्रजभाषा की व्यजना-शक्ति की वृद्धि की, जो उसकी लोकप्रियता बढाने मे भी सहायक हुई और जिससे भाषा के क्षेत्र मे असहिष्णुता-जन्य विरोध भी बहुत कम हो गया।

सूर-साहित्य मे कवि के भाषा-विषयक दृष्टिकोण अथवा आदर्श की व्याख्या करने वाले वैसे कथन नही मिलते जैसे गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओ मे उपलब्ध है[1]। केवल एक पद मे उन्होंने 'भाषा' रचना करने का उल्लेख भर किया है —

श्रीमुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा कौ समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ।
ब्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ[2]।

---

१. क. स्वात. सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबधमतिमजुलमातनोति।
—'मानस', बालकाड, श्लोक ७।

ख भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
—'मानस', बालकाड, दोहा ९।

ग. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।
× × × ×
सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
—'मानस', बालकाड, दोहा १४ क।

घ भाषा बद्धमिद चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।
—'मानस', उत्तरकाड, अतिम श्लोक १।

२. 'सूरसागर, प्रथम स्कध, पद २२५।

इससे अनुमान होता है कि न तो उन्हे गोस्वामी जी की तरह सस्कृतज्ञ पडितो के विरोध का प्रत्यक्ष सामना करना पडा और न केशवदास की तरह भाषा से रचना करने का लज्जामय सकोच[1] ही उन्हे था। प्रारभिक विनय-पदो मे उसके रचयिता के दैन्य और अकिचनत्व को देखकर एक अध कवि का विरोध करने की निष्ठुरता और हृदयहीनता हो ही किस विद्वान मे सकती थी ? ऐसी स्थिति से देशी-विदेशी बोलियो, विभाषाओ और भाषाओ के, सूर-काव्य मे प्राप्त, प्रयोगो के आधार पर ही उनके तद्विषयक आदर्श पर कुछ प्रकाश पड सकता है।

सूरदास का शब्द-भांडार—

साहित्य- शास्त्रियो ने काव्य के भाव और कला पक्षो मे द्वितीय को अप्रधान माना है और भाषा की गणना इसी के अतगर्त की है। सभवत इसका कारण यह है कि प्रथम अर्थात् मुख्य पक्ष की प्रधानता जिस कवि की रचना मे रहती है, उपयुक्त और समर्थ भाषा पर उसका अपेक्षित अधिकार सहज ही हो जाता है। वास्तव मे भाव या हृदयपक्ष के समावेश के लिए, दैवी देन के रूप मे, तद्विषयक स्वभावगत विशेषता, विषयानुकूल शब्द-चयन की योग्यता, स्वत प्रदान कर देती हैं। कवि यदि शिक्षित और स्वाध्यायी हो तो यह योग्यता इतनी अलक्षित गति से आती है कि उसे अपने प्रयत्न का आभास भी नही मिल पाता। परन्तु यदि कारणवश वह अध्ययन की सुविधा से वचित रहा हो और आगे भी नेत्रेंद्रिय का उपयोग करने की निसर्ग-सुलभ क्षमता उसमे न हो तो उसका कार्य कठिन ही नही, विशेष श्रम-साध्य और प्रतिभा-साध्य भी हो जाता है। अतएव जब हम देखते है कि बाल्यकाल मे अध्ययन की सुविधा से वचित और जीवन भर नेत्रेंद्रिय से हीन रहने के अनतर भी सूरदास का शब्द-भाडार बहुत विस्तृत और पूर्ण है, उनका शब्द-चयन बहुत उपयुक्त और विषयानुकूल है तथा उनकी भाषा मे काव्य-भाषा के सभी साहित्यिक गुण विद्यमान हैं, तब हमे कवि की प्रतिभा, उसकी ग्रहणशक्ति और नाद तथा सगीत-विषयक उसके परिज्ञान का महत्व ज्ञात होता है।

जैसा पीछे कहा जा चुका है, इस अध कवि ने भाषा का शास्त्रीय रीति से अध्ययन तो नही किया होगा, परतु इसमे सदेह नही कि नेत्रो की सारी शक्ति श्रवणो के द्वारा जैसे उसके मस्तिष्क को मिल गयी थी जिससे कवि की स्मरण-शक्ति असाधारण हो गयी। एक ही विषय का विभिन्न दृष्टियो से वर्णन करने के लिए प्रयुक्त शब्दो के केवल पर्यायो से ही कवि ने काम नही निकाला है, प्रत्युत सर्वथा नवीन प्रयोग करके पूर्ववर्णित विषय को सर्वथा नूतन-सा रोचक बना देने मे कवि की सफलता अद्वितीय है। एक ही विषय की अनेक

---

१. क. भाषा बोल न जानही जिनके कुल को दास।
भाषा कवि भो मदमति सो कवि केसोदास।
—'कविप्रिया', पृ. २१, छंद ७।

ख. उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठ कवि केशवदास।
रामचंद्र की चद्रिका भाषा करी प्रकास ॥
—'रामचंद्रिका', पहिला प्रकाश, छंद ५।

आवृत्तियाँ होने पर भी नये शब्दो और प्रयोगो की चयनशीलता-सबधी क्षमता के बल पर ही कवि ने विषय को अरोचक और नीरस होने मे बचा लिया है। साराश यह कि सूरदास ने अपने शब्द-भाडार की पूर्ति के लिए बडी उदारता से काम लिया। मूलत उनकी भाषा व्रजप्रदेशीय बोली है जिसको सपन्न बनाने के लिए उन्होने पूर्ववर्ती और समकालीन देशी-विदेशी भाषा, विभाषा या बोली, सभी के शब्दो और प्रयोगो को लगन और सम्मान से अपनाया। उनके शब्द-समूह का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

क पूर्ववर्ती भाषाओ—संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रश – के शब्द।
ख समकालीन देशी भाषाओ—पजाबी, गुजराती और राजस्थानी—के शब्द।
ग समकालीन विभाषाओ और बोलियो—खडीबोली, अवधी, कन्नौजी और बुन्देलखडी के शब्द।
घ विदेशी भाषाओ—अरबी, फारसी और तुर्की— के शब्द।
ङ अन्य प्रयोग—देशज और अनुकरणात्मक अथवा ध्वन्यात्मक शब्द।

अ. पूर्ववर्ती भाषाओ के शब्द—

वैदिक धर्म और भारतीय सस्कृति के प्रारभिक विकास-काल से ही सस्कृत भाषा का उनसे घनिष्ठतम सबध रहा। ईसा के लगभग ५०० वर्ष पूर्व जैन और बौद्ध धर्मों के जन्म के पश्चात् बारह-तेरह सौ वर्ष तक इन क्षेत्रो मे यद्यपि पाली और प्राकृत ने भी अपना अधिकार जमाया, तथापि इसके अनतर बौद्ध धर्म की भारत मे समाप्ति और जैन धर्म का क्षेत्र सीमित हो जाने के कारण वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ जिसके फलस्वरूप सस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन ही नही, निर्माण भी द्रुत गति से होने लगा। इस समय तक विकसित तत्कालीन जन-भाषाओ पर सस्कृत का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था।

आधुनिक आर्य-भाषाओ के प्रादुर्भाव के समय, लगभग सन् १००० के आसपास, तो हिंदी मे सस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रश के भी शब्द और प्रयोग पर्याप्त सख्या मे अपनाये गये थे, परतु कालातर मे इस प्रणाली मे परिवर्तन हो गया और कवियो की रुचि सस्कृत के आधार पर भाषा के समृद्धि-वर्द्धन के प्रति हो गयी। शुक्ल जी ने इसी को लक्ष्य करके हिंदी काव्य-भाषा-विकास के दो मुख्य काल-भेद—प्राकृत-काल और सस्कृत-काल—किये हैं[1]। इस रुचि-परिवर्तन का कारण सभवत उस गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति की सजगता थी जो विदेशी इस्लामी विजेताओ की कट्टरता की प्रतिक्रिया कही जा सकती है। जो हो, सूरदास की भाषा मे पाली के शब्दो का अभाव है, एव प्राकृत और अपभ्रश के वे ही शब्द और प्रयोग मिलते हैं जो व्रजभाषा की प्रकृति से मेल खाते थे और जिनका प्रचलन आगे भी काव्यभाषा मे बना रहा।

संस्कृत के शब्द—

हिंदी की विभिन्न भाषाओ मे प्राप्त सस्कृत शब्दो को तीन वर्गों मे विभाजित किया

---

१. पडित रामचद्र शुक्ल, 'बुद्ध-चरित्', भूमिका, पृ० १२।

जा सकता है—तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव। सूरदास की भाषा मे भी ये तीनो रूप मिलते हैं। इनके सबध मे इन्ही उपशीर्षको के अतर्गत विचार करना उपयुक्त होगा।

तत्सम शब्द—

सूरदास के प्रादुर्भाव के पूर्व नवोदित भारतीय भाषाओ मे प्राकृत और अपभ्रश के कुछ शब्दो को अपनाने की प्रवृत्ति बढी हुई थी। वैष्णव धर्म के उत्थान और प्रचार-प्रसार के साथ इस मनोवृत्ति मे परिवर्तन होने लगा। जन-साधारण मे बढते हुए इसलामी प्रभाव को रोकने और वैष्णव-विरोधी विभिन्न साप्रदायिक आदोलनो का मूलोच्छेदन करने के लिए शास्त्रार्थों और प्रवचनो का इतना अधिक आश्रय लिया गया कि अशिक्षित हिंदुओ मे ही नही, उन मुसलमानो मे भी सस्कृत के शब्दो का प्रचार हो गया जिनका बाल्यकाल इसी देश मे बीता था और जिनका पालन-पोषण यही हुआ था। सत और सूफी कवियो की रचनाओ मे भी अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो की विद्यमानता इस बात का प्रमाण है कि सर्व-साधारण की भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो का उनके समय मे अच्छा प्रचार था।

सूरदास और उनके समकालीन कवियो ने सस्कृत के तत्सम शब्दों को विशेष रुचि और सम्मान से अपनी भाषा मे स्थान दिया। इसके चार प्रमुख कारण थे। प्रथम तो यह कि जिस वातावरण मे वे पोषित और शिक्षित हुए थे उसमे सस्कृत भाषा का पठन-पाठन प्रचलित था और प्राचीन सस्कृत ग्रथो के नियमित पारायण के साथ-साथ उनकी टीका-व्याख्या भी की जाती थी। कृष्ण भक्ति के मूल ग्रथ—'गीता', 'नारद-भक्ति-सूत्र', 'भागवत', 'ब्रह्म वैवर्तपुराण' आदि—सस्कृत के ही प्रसिद्ध ग्रथ हैं। सूरदास ने विभिन्न उत्सवो आदि के अवसर पर इनकी व्याख्याएँ अवश्य सुनी थी। अतएव सस्कृत शब्दावली के प्रति सूरदास के झुकाव का यह एक प्रमुख कारण है।

दूसरे, स्वधर्म और स्वसस्कृति के प्रति उनकी आस्था ने उनसे घनिष्ठतम रूप से सबधित इस प्राचीन आर्य-भाषा के प्रति उन कवियो मे विशेष सत्कार और आत्मीयता की भावना जाग्रत और पल्लवित कर दी। वस्तुत हमारी आस्था जिस सनातन धर्म के और हमारी श्रद्धा जिस आर्य सस्कृति के प्रति है, उन दोनो से सबधित प्रामाणिक आर्ष ग्रथ आदिकाल से सस्कृत मे ही उपलब्ध रहे है। आर्य-जीवन के सस्कारो मे से अधिकाश सस्कृत के आचार्यों और पडितो द्वारा ही कराये जाते हैं। विद्यारभ, उपनयन, विवाह आदि प्रमुख सस्कारो के मत्र और श्लोक हिंदू जाति प्राचीन काल से सस्कृत मे ही सुनती आयी है। इनमे प्रयुक्त अधिकाश शब्दो से शिक्षित ही नही, अशिक्षित ग्रामीण भी परिचित हो जाता है, भले ही वह उनका शुद्ध उच्चारण न कर सके। आशय यह है कि धर्म और सस्कृति-सबधी हमारी दैनिक चर्या और चर्चा सस्कृत भाषा के बिना सपन्न ही नही हो पाती। अतएव प्रारभ से ही हिंदी भाषा और उसकी प्रमुख विभाषाएँ देववाणी सस्कृत के शब्दो से सपन्न होती आयी है, यह दूसरी बात है कि समय समय पर, सुविधानुसार उनका उच्चारण कुछ परिवर्तित कर लिया गया हो, परतु यह परिवर्तन ऐसा भी नही होता कि शब्द के मूल रूप का पता न चल सके।

तीसरे, सस्कृत भाषा का ज्ञान, उसकी सूक्तियों का उद्धरण, उसके तत्सम और पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग विद्वता या पाडित्य का परिचायक समझा जाता था, जैसे बीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश मे किसी रचना मे अँगरेजी अवतरण और प्रयोग लेखक को विद्वान सिद्ध करने मे सहायक होते थे।

अतिम कारण यह था कि सूरदास के कुछ समय पूर्व ही प्राकृत और अपभ्रश के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी की व्रजभाषा और अवधी जैसी विभाषाएँ साहित्यिक भाषा बनने का प्रयत्न करती दिखायी देती है। इनके सामने प्रश्न था कि परपरागत सपत्तिके रूप मे प्राप्त शब्दकोश से सतुष्ट रहकर, ठेठ प्रयोगो के माधुर्य की रक्षा करते हुए, अपने सीमित क्षेत्र की सकुचित परिधि मे ही विचरती रहे, अथवा पूर्ववर्तिनी प्रतिष्ठित भाषाओ का अनुकरण करके उनके और समकालीन समकक्ष विभाषाओ के उपयोगी तथा अपनी प्रकृति के अनुकूल शब्दो और प्रयोगो को अपनाने की उदारता का परिचय देकर निजी व्यजना-शक्ति का विकास करें तथा अपने क्षेत्र-विस्तार की नीव डालें। व्रजभाषा के समर्थको और प्रेमियो ने द्वितीय मार्ग को सामयिक समझा और उनकी दूरदर्शिता ने उसी को ग्रहण करने की प्रेरणा उन्हे दी। फलस्वरूप, सस्कृत के सैकडो शब्द तत्सम रूप मे अपनाये गये। इस सबध मे सूरदास के काव्य का महत्व इस बात मे है कि व्रजभाषा मे प्रयुक्त सस्कृत शब्दो मे लगभग अस्सी प्रतिशत को अपनाकर सर्वप्रथम उन्होने ही अपनी दूरदर्शिणी बुद्धि का परिचय दिया था। उनके परवर्ती व्रजभाषा कवियो ने पद्रह-बीस प्रतिशत से अधिक नये तत्सम शब्द नही ग्रहण किये और उनमे भी अधिकाश व्रजभाषा आत्मसात् नही कर सकी।

सूरदास के समस्त काव्य मे आदि से अत तक तत्सम शब्दो का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इन प्रयोगो के आधार पर, स्थूल रूप से, तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते है। एक, वे ऐसे वातावरण मे रह कर साहित्य-रचना करते थे जिसमे सस्कृत भाषा का पठन-पाठन और प्रचार था। दूसरे, उनकी दूरदर्शिणी बुद्धि ने समझ लिया कि भाषा की व्यजना-शक्ति की वृद्धि सस्कृत शब्दो के प्रयोग से ही हो सकती है और भविष्य मे यही नीति कल्याणप्रद होगी। तीसरे, सूरदास केवल उपयोगी और आवश्यक प्रयोग अपनाने के ही पक्ष मे रहे, केवल पाडित्य-प्रदर्शन के लिए तत्सम शब्दो को अपना लेने के पक्ष मे नही, क्योकि ऐसा करने से अपना सहज माधुर्य और नैसर्गिक आकर्षण खोकर व्रजभाषा के बोझिल हो जाने और उसके स्वाभाविक विकास मे बाधा पहुँचने की आशका थी।

इसमे सदेह नही कि व्रजभाषा के कुछ कवियो ने तत्सम शब्दो का प्रयोग कभी कभी केवल पाडित्य-प्रदर्शन के लिए किया है। यह दोष साधारणत दो प्रकार से आता है—एक तो पारिभाषिक शब्दो की अधिकता से जो, उपयुक्त वातावरण के अभाव मे, टाट मे रेशम की बखिया-से, अलग ही चमकते और अपनी अनुपयुक्तता की ओर सरलता से ध्यान आकर्षित कर लेते हैं और दूसरे, भाव-गाभीर्य के अभाव मे जहाँ वे बरबस घसीटे

जाकर निष्प्राण-से लगते है। वस्तुत यह सतोष की बात है कि अपने साहित्यिक जीवन के आदि से अत तक सूरदास पाडित्य-प्रदर्शन की मानवीय दुर्बलता पर कठोर नियत्रण रखकर अपने इष्टदेव की प्रिय जन्मभूमि की प्रियतर बोली की मधुरता, सरलता और स्वाभाविकता की रक्षा करने मे समर्थ एव उसकी लोकप्रियता के वर्द्धन और प्रचार-प्रसार मे सहायक हो सकें।

'सूरसागर', 'साहित्य-लहरी' और 'सारावली'—तीनो ग्रथो मे स्थल-विशेष पर ही तत्सम शब्दो की अधिकता नही है, प्रत्युत आदि से अत तक उनका प्रयोग किया गया है। अतर यह है कि साधारण विषयो की चर्चा मे वे यत्र-तत्र ही प्रयुक्त हुए हैं और भावपूर्व या रुचिकर स्थलो पर कवि ने अपने समृद्ध शब्द-कोश का मुक्तहस्त से उपयोग किया है, यद्यपि व्रजभाषा की प्रकृति का पूर्ण ध्यान उसे सर्वदा बना रहा है।

सूरदास ने जिन तत्सम शब्दो क. प्रयोग किया, स्थूल रूप से, उनको निम्नलिखित तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—व्यावहारिक, पारिभाषिक और भाषा-समृद्धि-द्योतक तत्सम शब्द।

व्यावहारिक तत्सम शब्द—प्रत्येक भाषा मे भूख-प्यास, वेश-भूषा आदि की वस्तुओ, शरीर के अगो, निकटतम पारिवारिक और सामाजिक सबधो आदि के लिए बहुत से साधारण शब्दो का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार मानव जीवन और प्रकृति के नैत्यिक-नैमित्यिक कार्य-व्यापार और स्थिति-सूचक अनेक शब्द भी प्रचलित रहते हैं। सस्कृत- जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक भाषा मे इनके लिए सैकडो सरल और सीधे-सादे शब्द प्रयुक्त होते हैं। चौदहवी-पद्रहवी शताब्दी से, विदेशी सस्कृति की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप, भारतीय सस्कृति को सरुचि अपनाने की भावना-वृद्धि के साथ-साथ, सस्कृत भाषा के प्रति हिन्दी कवियो और लेखको की श्रद्धा इतनी बढी कि सामान्य व्यवहार मे साधारण प्रचलित शब्दो के स्थान पर स स्कृत शब्दो को ही आश्रय दिया जाने लगा। यह प्रवृति केवल व्रजभाषा के ही नही, हिन्दी की अन्य बोलियो के साथ साथ उत्तरी भारत की अन्य नवोदित आर्य भाषाओ के भी साहित्यकारो मे स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। अतएव व्रजभाषी कवि सूरदास की प्रवृति भी स्वभावत ऐसे तत्सम शब्द अपनाने की ओर रही जैसा कि उक्त विषयो से सबधित तत्सम शब्दो के निम्नलिखित उदाहरणो से स्पष्ट होता है—

१. भूख प्यास, भोजन या खानपान-सबधी तत्सम शब्द—

१. सकल स्रुति दधि मथत पायौ इतौई घृत-सार।[१]

२ मनु पय-निधि सुर मथत फेन फटि दयो दिखाई चद।[२]

३ मधु मेवा पकवान मिठाई अपने हाथ जेंवावत।[३]

४ अरु हेसमि सरस सँवारी। अति स्वाद परम सुखकारी।[४]

---

१ सा. २-४। २. सा. १०-२०३। ३ सारा. १९५। ४ सा. १०-१८३।

५. अरु मेवा बहु भाँति भाँति हैं पटरस के मिष्टान्न।[1]

२. रहन-सहन, वेश-भूषा, वस्त्रालंकार आदि से सम्बंधित तत्सम शब्द—

१. केसर-तिलक-रेख अति सोहे।
मृगमद-बिंदा तामैं राजै।
मोर मुकुट पीतांबर सोहे।.........[2]

२. बदन सरोज तिलक गोरोचन लट लटकनि मधुकर गति डोलनि।[3]

३ किंकिन नूपुर पाट पटंबर मानो लिये फिरै घर-बार।[4]

४. पाटंबर अंबर तजि गूदरि पहिराऊँ।[5]

५ कुंतल कुटिल मकर-कुण्डल भ्रुव नैन बिलोकनि बंक।
सोभित सुमन मयूर-चंद्रिका नील नलिनि तनु स्याम।[6]

६ मुक्ता-विद्रुम नील-पीत मनि लटकत लटकन भाल री।[7]

७ जहँ जहँ जात तही तहिं त्रासत अस्म, लकुट, पद त्रान।[8]

८ हरि नख उर अति राजही, संतनि दुख मोचन।[9]

३. शरीर के तत्वो और अंगो से संबंधित तत्सम शब्द –

१. आमिष रुधिर अस्थि अँग जौलौं, तौलौं कोमल चाम।[10]

२. दस इन्द्रिय दासी सौं नेह।[11]

३. अनायास बिनु उद्यम कीन्हे अजगर उदर भरै।[12]

४. पहुँची करनि पदिक उर हरि-नख कठुला कंठ मंजु गजमनियाँ।
कुटिल भृकुटि सुख की निधि आनन कल कपोल की छवि न उपनियाँ।[13]

५ माता अछत छीर बिनु सुत मरै अजा-कंठ-कुच सेइ।[14]

६ कटि किंकिनि बर हार ग्रीव पर रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं सुठि भाए।[15]

७ चरन चिकुर कर नख दए (रे) नयन नासिका कान।[16]

८ तन पुर जीव पुरजन राव। कुमति तासु रानी कौ नाँव।
आँखि नाक मुख मूल दुवार। मूत्र स्रौन, नवपुर कौ द्वार।
लिंग-देह नृप कौ निज गेह।[17]

९. ज्यौ मृग-नाभि कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत।[18]

१०. बहुतक जन्म पुरीष-परायन सूकर-स्वान भयौ।[19]

११. वैसी आपदा तैं राख्यौ, तोष्यौ, जिय दयौ,

---

१ सा १०-२१२। २ सा ३-१३। ३ सा १०-१२१। ४ सा १-४१। ५ सा १-१६६। ६ सा १०-१५४। ७ सा १०-१४०। ८ सा १-१०३ ९ सा १०-११६। १० सा १-७६। ११ सा ४-१२। १२ सा १-१०५। १३ सा १०-१०६। १४ सा १-२००। १५. सा १०-१०४। १६ सा १-३२५। १७ सा ४-१२। १८. सा. १-४९। १९ सा १-७८।

मुख-नासिका-नयन-स्रौन-पद-पानि ।[1]

१२. रसना द्विज दलि दुखित होति बहु तउ रिस कहा करै ।[2]

१३. तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित सिर सीमंत सँवारि ।[3]

४. पारिवारिक-सामाजिक संबंध और स्थिति के द्योतक तत्सम शब्द—

१. रावन अरि को अनुज विभीषन ताकौं मिले भरत की नाईं ।[4]

२. तुम लायक भोजन नहिं गृह मे अरु नाही गृह-स्वामी ।[5]

३. गृह दीपक धन तेल, तूल तिय सुत ज्वाला अति जोर ।[6]

४. जगतपिता जगदीस जगतगुरु निज भक्तनि की सहत ढिठाई ।[7]

५. गीध्यौ दुष्ट हेम तस्कर ज्यौं अति आतुर मति मद ।[8]

६. मेरे मात पिता पति बंधू एकै टेक हरी ।[9]

७. रंक चलै सिर छत्र धराइ ।[10]

८. राखी लाज समाज माँहि जब, नाथ नाथ द्रौपदी पुकारी ।
तीनि लोक के ताप निवारन सूर स्याम सेवक सुखकारी ।[11]

९. पचि पचि रहैं सिद्ध साधक मुनि तऊ न बढ़ै-घटै ।[12]

१०. सुत कलत्र कौं अपनौ जानैं ।[13]

११. सुत-संतान-स्वजन वनिता रति धन समान उनई ।[14]

१२. सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बंदौं तिहिं पाई ।[15]

५. मानवीय स्थिति, गुण, कार्य-व्यापार, मनोदशा, संस्कार आदि । संबंधित तत्सम शब्द—

१. अनुभव जानही बिना अनुभव कहा, प्रिया जाको नही चित्त चोरै ।[16]

२ रहत अवज्ञा होइ गोसाईं चलत न दुखहिं मिती ।[17]

३. काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-बस अतिहिं किये अघ भारे ।[18]

४ यह गति-मति जानैं नहिं कोऊ किहिं रस रसिक ढरै ।[19]

५. जड़-स्वरूप सौं जहँ तहँ फिरै ।[20]

६ पाडव को दूतत्व कियौ पुनि उग्रसेन कौ राज दयौ ।
दुखित जान दोउ सुत कुबेर के नारद साप निवृत्त कियौ ।[21]

७ धन-मद कुल-मद तरुनी कै मद, भव-मद हरि बिसरायो ।[22]

८ राजा निरखि प्रफुल्लित भयौ । मानौ मृतक बहुरि जिय लह्यौ ।[23]

---

१. सा. १-७७ । २. सा १-११७ । ३. सा. २११८ ।
४. सा. १-३ । ५. सा १-२४१ । ६. सा. १-४६ । ७ सा. १-३ ।
८. सा. १-१०२ । ९. सा. १-२५४ । १०. सा. १-१ । ११. सा. १-३० ।
१२. सा. १-२६३ । १३. सा. ३-१३ । १४. सा० १-५० । १५. सा. १-१ ।
१६. सा. १-२२२ । १७. सा. ११-१ । १८. सा. १-२७ । १९. सा. १-३५ ।
२०. सा. ५-३ । २१. सा. १-२६ । २२. सा. १-५८ । २३. सा. ९-२ ।

९ भ्रम-मद-मत्त, काम-तृष्णा-रस-वेग न क्रमै गह्यौ ।[१]

१०. अरु तिनसौं ममत्व बहु ठानैं ।[२]

११. हिंसा-म ः-ममता-रस भूल्यौ आसाही लपटानौ ।[३]

चेतन प्रकृति के सर्व प्रमुख अग—मानव वर्ग—से सबधित उक्त शब्दो की तरह के, सूरदास द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दो की सूची बहुत लबी है, परतु उद्धृत उदाहरणों से ही कवि के तद्विषयक दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार अन्य चेतन प्राणियो—पशु-पक्षियो—से सबधित अनेक तत्सम शब्द सूर-काव्य मे मिलते हैं। पक्षियो की अपेक्षा मानव-वर्ग का पशुओ से अधिक निकट सबध रहा है, अतएव पहले उन्ही के नाम-द्योतक कुछ तत्सम शब्द यहाँ उद्धृत है—

१ तै जड नारिकेल कपि-कर ज्यौं, पायौ नाहिं पयौ ।[४]

२ कामधेनु छाँडि कहा अजा लै दुहाऊँ ।[५]

३ हा करुनामय कुंजर टेरयौ, रह्यौ नही बल थाक्यौ ।[६]

४. खर कौं कहा अरगजा लेपन मर्कट (मरकट) भूषन अग ।[७]

५ कनक-कामिनी सौं मन बाँध्यौ ह्वै गज चल्यौ स्वान की चालहिं ।[८]

६ कबहुँक चढौ तुरंग महा गज कबहुँक भार वहौं ।[९]

७ गिरा रहित वृक ग्रसित अजा लौं अतक आनि गह्यौ ।[१०]

८ रोवैं वृषभ-तुरग अरु नाग ।[११]

९ खग-मृग-मीन-पतग लौ मैं सोधे सब ठौर ।[१२]

१० हय-गयद उतरि कहा गर्दभ चढि ध्याऊँ ।[१३]

पशुओ की तरह पक्षियो का उतना घनिष्ठ सबध मानव वर्ग से भले ही न रहा हो, परतु उपयोगिता और सौंदर्य मे ये पशुओ से कम भी नही हैं। सूर-काव्य मे इनके लिए भी अनेक तत्सम शब्दो का प्रयोग किया गया है, यथा—

१. रवि की किरनि उलूक न मानत ।[१४]

२. दुरि गए कीर कपोत मधुप पिक सारग सुधि बिसरी ।[१५]

३ ये जु मनोहर बदन-इंदु के सारद कुमुद चकोर ।
परम तृषा-रत सजल स्याम-घन-तन के चातक मोर ।
मधुप मराल जु पद-पकज के गति-बिलास-जल मीन ।
चक्रवाक दुति मनि दिनकर के मृग मुरली आधीन ।[१६]

४ जैसे स्वान कुलाल के पाछै धावैं ।[१७]

५ केकी, कोक-कपोत और खग करत कुलाहल भारी[१८] ।

६ खजन हूँ उडि जात छिनक मे प्रीतम जही तही ।[१९]

---

१. सा. १-४९ । २. सा ३-१३ । ३. सा. १-४७ ।
४. सा. १-७८ । ५ सा १-१६६ । ६ सा १-११३ । ७. सा. १-३३२ ।
८. सा १-७४ । ९ सा. १-१६१ । १० सा. १-२०१ । ११ सा २-२८६ ।
१२. सा १-३२५ । १३ सा. १-१६६ । १४ सा १-१७४ । १५. सा. ६५९ ।
१६. सा. ३५६९ । १७ सा २-९ । १८ सा २८५३ । १९. सा ३५७१ ।

७. सेमर-फूल सुरँग अति निरखत मुदित होत खग-भूप।[1]
८. तजि कै गरुड़ चले अति आतुर नक्र चक्र करि मारचौ।[2]

थल और नभचारी अन्य जीव-जतुओ और कीट-पतगो से भी मानव-समाज आरभ से परिचित रहा है। सूर-काव्य मे यत्र-तत्र इनके लिए भी तत्सम शब्दो का प्रयोग किया गया है। इनमे से अधिकाश शब्द 'भ्रमर' के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

१. ते अलि अव ये ज्ञान सलाकैं क्यों सहि सकति तिहारी।[3]
२. जनु खद्योत चमक चलि सकत न, निसिगत तिमिर हिराने।[4]
३. विकसत कमलावली,चले प्रपुज चंचरीक गुजत कल कोमल धुनि त्यागि कज न्यारे।[5]
४ लाभ-हानि कछु समुझत नाही ज्यो पतग तन दीन्हो।[6]
५ सव सौं बात कहत जमपुर की गज पिपीलिका लौं।[7]
६. कहा होत पय पान कराएँ विष नहि तजत भुजंग।[8]
७ कहि चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत भ्रमर नही उडि जात।[9]
८. स्याम वियोग सुनौं हो मधुकर अँखियाँ उपमा जोग नही।[10]
९ जदपि मधुप तुम नदनँदन कौ निपटहिं निकट कहत।[11]
१०. कहु षट्पद कैसैं खैयतु है हाथिनि कैं सँग गाँडे।[12]

मानवेतर प्राणियो मे एक वर्ग जलचारी जीव-जतुओ का भी है जिनमे सें कुछ को काव्य मे स्थान मिलता रहा है। सूर-काव्य मे जिन जल-जीवो के लिए तत्सम शब्दो का प्रयोग किया गया है, उनमे से कुछ ये है—

१. लिए जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनग।[13]
२. तजि कै गरुड चले अति आतुर नक्र चक्र करि मारचौ।[14]
३. नैन-मीन मकराकृत कुडल भुज सरि सुभग भुजग।[15]

थल, नभ और जल के चेतन प्राणियो के अतिरिक्त प्रकृति का दूसरा वडा वर्ग जड पदार्थों का है जिसमे वन, पर्वत, सागर, सरिता, पेड़-पौधे, फल-फूल, सभी आ जाते है। मानव से इसका सबध वहुत घनिष्ठ इसलिए है कि जन्म से ही वह इनके मध्य मे पलता है और जीवन-धारण के लिए उसे वहुत-कुछ इन्ही पर निर्भर रहना पडता है। कवि को इस प्राकृतिक अग के कार्य-व्यापार से सदैव प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है। अतएव उसके विविध रूपो का सभी देशो के कवियो ने वडे विस्तार से वर्णन किया है। सूर-काव्य मे प्राकृतिक चित्रण की विवेचना तो यहाँ विषयातर होगी, अतएव यहाँ

---

१. सा. १-१०२। २. सा. १-१०९। ३. सा. ३५७०। ४. सा. २६०१। ५. सा. १०-२०५। ६. सा. १-४५। ७. सा. १-१५१। ८. सा. १-३३२। ९. सा. ३५७२। १०. सा. ३५७१। ११. ३५७४। १२. सा. ३६०४। १३. सा. १-९९। १४. १०९। १५. सा. ६२८।

केवल उन तत्सम शब्दो की एक सक्षिप्त सूची ही दी जा रही है जो सूर-काव्य मे यत्र तत्र प्रकृति के विविध अगो के लिए प्रयुक्त हुए हैं—

१ जिहि मधुकर अबुज रस चाख्यो क्यों करील फल भावै ।[1]

२. मगन हौं भव अबुनिधि मैं, कृपासिधु मुरारि ।[2]

× × × ×

नीर अति गभीर माया लोभ लहरि तरग ।

× × × ×

स्याम भुज गहि काढि लीजै सूर ब्रज कै कूल ।

३ भय उदधि जमलोक दरसै निपट ही अँधियार ।[3]

४ कीर कपोत मीन पिक सारंग केहरि कदली-छवि विदली ।[4]

५ चरन- कमल वदौ हरिराई ।
जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अधे को सब कछु दरसाई ।[5]

६. परसत चोच तूल उघरत मुख परत दुख कै कूप ।[6]

७. सूरदास व्रत यहै कृष्न भजि, भव जलनिधि उतरत ।[7]

८. पुष्कर माल उतार हृदय ते दीनी सुदर स्याम ।[8]

९ सज्जा पृथ्वी करी बिस्तार । गृह गिरि-कदर करे अपार ।[9]

१०. व्योम, धर, नद सैल कानन इते चरि न अघाइ ।[10]

११. ज्यौं गयद अन्हाइ सरिता वहुरि वहै सुभाइ ।[11]

१२. सलिल लौं सब रग तजि कै एक रग मिलाइ ।[12]

सूरदास द्वारा प्रयुक्त उक्त तत्सम शब्दो के साथ उद्धृत पद के पूरे चरण की भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकाश स्थलो पर कवि ने साधारण पदो के बीच मे ही दो-एक तत्सम शब्द इस प्रकार दिये हैं कि वे उसी मे घुल-मिल गये है और सामान्य प्रचलित भाषा के शब्दो से भिन्न नही जान पडते । वस्तुत कवि उनको व्रजभाषा की ही सपत्ति समझता है और ठेठ या तद्भव शब्दो से किसी प्रकार का अधिक सम्मान या महत्व उनको नही देना चाहता । ये व्यावहारिक तत्सम शब्द स्थल-विशेष पर ही नही, समस्त सूर-काव्य मे—यहाँ तक कि उन पदो मे भी जो काव्य की दृष्टि मे बहुत साधारण है—बिखरे मिलते है । ऐसे कुछ शब्द यहाँ और दिये जाते हैं ।

अज्ञान[13], अवस्था[14], अविद्या[15], आजीविका[16], उत्साह[17], उद्धार[18], उद्यम[19],

---

१. सा १-१६८ । २ सा १-९९ । ३ सा १-८८ । ४. सा ७३९ ।
५ सा. फा १-१ । ६ सा १-१०२ । ७ सा. १-५५ । ८. सारा ५५४ ।
९ सा. २-२० । १० सा १-५६ । ११ सा १-४५ । १२ सा १-७० ।
१३. सा ४-५ । १४ सा ४-६ । १५ सा. ४-१२ । १६ सा. ४-११ ।
१७. सा. ४-१२ । १८. लहरी. ३० । १९. सा. ४-१२ ।

उद्यान[1], उपचार[2], उल्लास[3], कल्पना[4], किंजल्क[5], जीविका[6], त्रास[7], त्रिदोष[8], पन्नग[9], पुष्प[10], पुष्कर[11], प्रकोप[12], प्रतिबिंब[13], प्रतिभा[14], प्रतिष्ठा[15], प्रवाह[16], प्रस्वेद[17] प्रतिहार[18], भेषज[19], महत[20], महिमा[21], मुक्ताहल[22], ललाट[23], व्यवहार[24], समाधान[25], सुमन[26], सुषमा[27], सौरभ[28] आदि।

पारिभाषिक तत्सम शब्द—सरस और भावपूर्ण कथा-प्रसंगों के वर्णन अथवा मार्मिक और सुंदर दृश्यो के चित्रण के अतिरिक्त कवि जब शास्त्रीय तत्वों के विवेचन में प्रवृत होता है तब उसे स्वभावत पारिभाषिक शब्दो की आवश्यकता पडती है। हिंदी के प्राय. सभी भक्त-कवियो ने पारिभाषिक विवेचन से बचने का प्रयत्न किया है, परतु वल्लभ-सप्रदाय मे मान्य 'भागवत' आदि ग्रंथो मे वर्णित पौराणिक प्रसगो को अपनाने के कारण, ब्रह्म, माया, ज्ञान, भक्ति आदि की कुछ शास्त्रीय परिभाषाओ का साराश सूर-काव्य मे मिल ही जाता है। ऐसे ही स्थलो पर उन्होने पारिभाषिक तत्सम शब्दो का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, ब्रह्म के लिए प्रयुक्त कुछ तत्सम शब्द यहाँ सकलित हैं—

१. सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
प्रकुति-पुरुष श्रीपति नारायण सब है अश गुपाल[29]।
२. अमल अकल अज भेद-विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक[30]।
३. अविगत आदि अनंत अनूपम अलख पुरुष अविनाशी[31]।
४. आदि निरंजन निराकार कोउ हुतौ न दूसर[32]।
५. ब्रह्म अगोचर मन बानी तैं अगम अनंत प्रभाव[33]।

उक्त उदाहरणो मे जो तत्सम शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं वे सामान्य रूप से प्राय. सभी भक्त-कवियो ने लिखे हैं। सूरदास ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण को परब्रह्म ही माना है, परतु उनके सगुण रूप के लिए कुछ अन्य तत्सम शब्दो का भी प्रयोग किया है, यथा अखिल अधिकारी[34], अखिल लोकनायक[35], अजित[36], कृपानिधान[37], कृपानिधि[38], कृपासागर[39], गोपाल[40], दयानिधि[41], दामोदर[42], परमानद[43], मुकुद[44],

---

१. सा. ४-१२। २. सा ३८०९। ३. लहरी ६८।
४. सा. २४९२। ५. सा. १-३३९। ६. सा. ४-११।
७. लहरी २६। ८. सा. ४१४७। ९. लहरी २५।
१०. सारा ३०५। ११. सारा ५५४। १२. सा. ३७८०। १३. सा. २-३६।
१४. सा. २८२६। १५. सा २५४४। १६. सारा. ३०९। १७. सा. ३८०९।
१८. सा. ४-१२। १९. सा. ४१४७। २०. सा. ४०४६। २१. सा. ४-५।
२२. सा. ४१४७। २३. सा. ४-५। २४. सारा. ९११। २५ सारा. ३०१।
२६ सा ४१६६। २७. लहरी. ३९। २८. सा २-२६। २९. सारा, पृ. ३८।
३०. सा २.३८। ३१. सारा पृ २,। ३२. सा. २-३६।
३३ सा ३-३४। ३४ सा १-२१२। ३५ सा १-१७७। ३६. सा. १-१८१।
३७. सा- १-१०९। ३८ सा. १-१२७। ३९. सा १.२५३। ४०. सा १-११४।
४१. सा. १-११७। ४२. सा. १-१०९। ४३. सा. १-१६३। ४४. सा. १-२४८।

राजति अति चँवर चिकुर, सरद सभा माँहि।
जमुना के जलहि नाहि जलधि जान देति।
सुरपुर तैं सुर बिमान यह बुलाई लेति,
स्थावर चर जंगम जड़ करत जीति जीति।
विधि की विधि मेटि करत अपनी नई रीति।
बसी-बस सकल सूर सुर-नर-मुनि नाग।
श्रीपति हूँ की सुधि बिसारी याही अनुराग[1]॥

इस प्रकार के पदो मे सस्कृत के तत्सम शब्दो की सख्या अन्य विषयो के पदो से बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि प्रसग-विशेष का वर्णन करते समय कवि विषय-लीनता के उच्च स्तर तक पाठको की बोध-वृत्ति को उठाना चाहता है और इस उद्देश्य की सिद्धि मे, अपेक्षाकृत गभीर वातावरण प्रस्तुत करने मे, तत्सम शब्दो से पर्याप्त सहायता मिलती है। साथ ही, इनके सहारे वह सहज ही भाषा को अनुप्रासमयी भी बना लेता है। उक्त पदो मे यद्यपि उपमा, रूपक आदि अलकारो का समावेश और निर्वाह वह अत्यत स्वाभाविक रीति से कर सका है, जो सहृदयो को विशेष रुचिकर प्रतीत होता है, तथापि जिन स्थलो पर कवि ने रूपको, उत्प्रेक्षाओ आदि की झडी सी लगा दी है, वहाँ की भाषा और भी तत्समता-प्रधान हो गयी है, यथा—

१. देखि री देखि आनँदकंद।
चित्त-चातक, प्रेम-घन लोचन-चकोरनि चद।
चलित कुंडल गंड मंडल झलक ललित कपोल।
सुधा-सर जनु मकर क्रीडत इदु डह-डह डोल।
सुभग कर आनन समीपै मुरलिका इहिं भाइ।
मनु उभै अंभोज- भाजन लेत सुधा भराइ।
स्याम देह दुकूल दुति-मिलि लसति तुलसी माल।
तडित घन सजोग मानौ, स्रेनिका सुक-जाल।
अलक अबिरल चारु हास बिलास भृकुटी भग।
सूर हरि की निरखि सोभा भई मनसा पग[2]॥

२. प्रिया-मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की शोभा रही बिचारि बिचारि।
छीरोदक घूंघट हातो करि सन्मुख दियौ उघारि।
मनौ सुधाकर दुग्ध सिंधु तैं कढ्यो कलक पखारि।
मुक्ता-माँग सीस पर सोभित, राजति इहिं आकारि।
मानौ उडगन जानि नवल ससि आए करन जुहारि।

---

१. सा ६५३।   २. सा. ६२७।

भाल लाल सिंदूर विंदु पर, मृग-मद दियौ सुधारि।
मनौ बधूक कुसुम ऊपर अलि बैठ्यो पख पसारि।
चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत जुग खंजन अनुहारि।
मनौ परस्पर करत लराई कीर बचाई रारि।
वेसरि के मुक्ता मैं झाँईं वरन बिराजति चारि।
मानौ सुरगुरु सक्र भौम सनि चमकत चद मँझारि।
अधर बिंब बिच दियौ बिधाता रूप सींव निरुवारि।
तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित सिर सीमंत सँवारि।
जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए भयौ द्विधा तम हारि।
लाल माल कुच बीच विराजति, सखियनि गुही सिंगारि।
मनहुँ धुई निर्धूम अग्नि पर तप बैठे त्रिपुरारि।
सन्मुख दृष्टि परैं मनमोहन लज्जित भई सुकुमारि।
लीन्ही उमँगि उठाई अंक भरि सूरदास बलिहारि[1]॥

इसी प्रकार प्रकृति के मनोरम रूपो, यमुनातटवर्ती कुजो, ऋतुओ के नेत्राकर्षक दृश्यो, विविध उत्सवो और पर्वों का चित्रण करते समय भी कवि इतना तन्मय हो गया है कि सामान्य भाषा से उसका काम नही चलता और स्वभावत. उसके मुख से प्रसग और वातावरण के उपयुक्त तत्समता-प्रधान शब्दावली की सरस धारा नि सृत होने लगती है। इन विषयो को लेकर सूरदास ने पूरे पद बहुत कम लिखे हैं। अतएव पदाशो द्वारा ही उक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है—

१ जागिए ब्रजराज कुँवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद बृ द सकुचित भए भृ ग लता भूले[2]।

२. प्रगट्यौ भानु मद भयौ उडुपति फूले तरुन तमाल[3]।

३. इहि अंतर भिनुसार भयौ।
तारागन सब गगन छपाने अरुन उदित अँधकार गयौ[4]।

४. जागियै गोपाल लाल, प्रगट भई असु माल, मिट्यौ अधकाल उठौ जननी सुखदाई।
मुकुलित भए कमल-जाल कुमुद-बृ द-बन-बिहाल, मेटहु जजाल-जाल त्रिविध ताप तन नसाई[5]।

५. गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन झकझोरि चपला चमक चहुँ ओर स्रवन-तन चितै नँद डरत भारी[6]।

६. नये कुंज, अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिलोरी[7]।

---

१. सा. २११८। २. सा. १०-२०२। ३. सा. १०-२०६। ४. सा. ५२०।
५. सा. ६१९। ६. सा. ६८४। ७. सा. ६८५।

७. चपला चमकि चकचौंधति, करति शब्द आघात।
अधाधुध पवनवर्त्तक घन करत फिरत उत्पात।
निसि सम गगन भयो आच्छादित वरपि वरपि झर इद[1]।

८. सरद निसि देखि हरि हरप पायौ।
विपिन वृदा रमन सुभग फूले सुमन रास रुचि स्याम के मनहिं आयौ।
परम उज्ज्वल रैनि छिटकि रही भूमि पर सद्य फल तरुनि प्रति लटकि लागे।
तैसोई परम रमनीक जमुना पुलिन त्रिविध वहै पवन आनंद जागे[2]।

तत्सम शब्दो की दृष्टि से उद्धृत अवतरणो की भापा सामान्य रूप-वर्णन-विषयक पदो से मिलती-जुलती है। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण करना कवि का प्रधान उद्देश्य कभी नही रहा, प्रसगवश ही उसने तद्विषयक कुछ विचार लिख दिये हैं जिनमे कही कही तो एक सी ही शब्दावली मिलती है। इसके विपरीत, यद्यपि नृत्य लीलाओ, उत्सवो, पर्वो आदि के विस्तृत वर्णन थोडे ही पदो मे मिलते हैं, तथापि उनमे कवि की वृत्ति लीन हुई है और ऐसे स्थलो पर तत्सम-प्रधान भापा का जैसे स्वत प्रयोग हो गया है।

सूरदास ने परपरागत रूप से जिस व्रजभापा को प्राप्त किया था, वह उस समय तक सूक्ष्म भावो की व्यजना मे समर्थ नही वन पायी थी। परतु अपने गेय काव्य की सफलता के लिए उन्हे ऐसी भापा की आवश्यकता थी जो कठोर और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रकार के भावो को सुगमता से व्यक्त करने की क्षमता रखती हो। व्रजभाषा मे यह गुण लाने के लिए सूरदास ने कभी कभी तत्सम शब्दो का ही सहारा लिया है। अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के वल पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय वृत्तियो और आन्तरिक हृदयोद्गारो तक उन्होने अपनी पहुँच दिखायी—ऐसा वे उक्त भाषा-रूप को वाछनीय समर्थता प्रदान करने के पश्चात् ही कर सके। अपनी उच्च कोटि की कल्पना का चमत्कार-प्रदर्शन करने मे भी तत्सम शब्दो से उन्हें बडा सहारा मिला। भाव-व्यजना मे सहायक तत्समता-प्रधान शब्द-योजना के ऐसे उदाहरण प्राय साग रूपको और अन्योक्तियो मे भी मिलते हैं, यथा—

१. चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम-बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा-प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुजत निगम सुबास।
जिहि सुर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँडि कुबुद्धि बिहगम इहाँ कहाँ रहि कीजै।
लछमी सहित होति नित क्रीडा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात बिषय-रस-छीलर वा समुद्र की आस[3]।

१, सा, ८७७। २, सा, ९८८। ३, सा, १-३३८।

२. भृंगी री, भजि स्याम कमल-पद जहाँ न निसि कौ त्रास।
जहँ बिधु-भानु समान, एकरस, सो बारिज सुखरास।
जहँ किंजल्क भक्ति नव लच्छन, काम-ज्ञान-रस एक।
निगम सनक सुक नारद सारद मुनिजन भृंग अनेक।
सिव बिरंचि खजन मन-रंजन छिन छिन करत प्रवेस।
अखिल कोष तहँ भर्यौ सुकृत जल प्रगटित स्याम-दिनेस।
सुनि मधुकर, भ्रम तजि कुमुदनि कौ, राजिवबर की आस।
सूरज प्रेम-सिंधु मे पुलकित तहँ चलि करैं प्रकास[1]।

३. देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे।
स्याम सुभग तनु चुवत गंडमद बरषत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पैं, मुरत न अंकुस मोरे।
मनौ निकसि बग पंक्ति दंत उर अवधि सरोवर फोरे।
बिनु वेला बल निकसि नयन जल कुच कंचुकि बंद बोरे[2]।

इष्टदेव की दयालुता, स्वभाव की कोमलता, भक्त-वत्सलता आदि का स्मरण करते समय भाव-विभोर होकर, श्रद्धापूर्वक हृदयोद्गारो की व्यंजना के लिए, जिस शब्दावली का सूरदास ने प्रयोग किया है, कभी-कभी वह भी तत्समता से युक्त हो गयी है। निम्नलिखित उदाहरणो से इस कथन की पुष्टि होती है—

१. अद्भुत राम-नाम के अंक।
धर्म-अँकुर के पावन द्वै दल मुक्ति-वधू ताटंक।
मुनि-मन-हंस-पच्छ जुग, जाके बल उड़ि ऊरध जात।
जनम-मरन-काटन कौं कर्तरि तीछन बहु बिख्यात।
अंधकार अज्ञान हरन कौं रवि ससि जुगल प्रकास।
बासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुखकरन हरन दुख वेद पुराननि साखि।
भक्ति-ज्ञान के पथ सूर ये प्रेम निरंतर भाखि[3]।

२. ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसानाथ मनोरथदाता हौ प्रभु दीनदयाल।
चरनन चित्त निरन्तर अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन गर अंचल कर माल[4]।

३. हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँडी सहसफनी।

---

१. सा. १-३३९। २. सा. ३९२१। ३. सा. १-९०। ४. सा. १-१८९।

महि सराव, सप्त सागर घृत वाती सैल घनी।
रवि ससि ज्योति जगत परिपूरन हरति तिमिर रजनी।
उडत फूल उडगन नभ अंतर अंजन घटा घनी।
नारदादि सनकादि प्रजापति सुर नर असुर अनी।
काल कर्म गुन ओर अंत नहिं प्रभु-इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान मैं, अति विचित्र सजनी[1]।

४ नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारे, मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह-निसा को लेस रह्यौ नहिं भयौ विवेक विहान।
आतम रूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि ज्ञान[2]।

२. भाषा शृंगार के लिए—भाषा की आलंकारिता-वृद्धि मे वही कवि समर्थ और सफल होता है जो सरुचि इस दिशा मे प्रवृत्त हो और जिसके पास सार्थक और उपयुक्त शब्दो का अक्षय भांडार हो। सूरदास ने यद्यपि अनेक स्थलो पर तत्सम शब्दो का प्रयोग करके भाषा को अलंकृत किया है, तथापि सप्रयास भाषा-शृंगार मे उन्होंने सर्वत्र रुचि नही दिखायी। उदाहरणार्थ, उनका निम्नलिखित पद, जिसमे तत्सम शब्दो का निसकोच प्रयोग किया गया है, उद्धृत किया जाता है—

यहई मन आनंद अवधि सब।
निरखि सरूप विवेक नयन भरि या सुख तैं नहिं और कछू अब।
चित चकोर गति करि अतिसय रति, तजि स्रम सघन बिषय लोभा।
चिति चरन मृदु चारु चंद नख चलत चिन्ह चहुँ दिसि सोभा।
जानु सुजघन करभ कर आकृति कटि प्रदेश किंकिनि राजै।
हृद बिच नाभि उदर त्रिबली बर अवलोकत भव भय भाजै।
उरग इंद्र उनमान सुभग भुज पानि पदुम आयुध राजैं।
कनक बलय मुद्रिका मोदप्रद, सदा सुभग संतनि काजैं।
उर बनमाल बिचित्र बिमोहन, भृगु भँवरी भ्रम कौं नासैं।
तड़ित-बसन घनस्याम सदृस तन, तेज पुंज तम कौं त्रासैं।
परम रुचिर मनि कंठ किरनिगन, कुंडल-मुकुट-प्रभा न्यारी।
बिधु मुख मृदु मुसक्यानि अमृत सम सकल लोक लोचन प्यारी।
सत्य सील संपन्न सुमूरति, सुर-नर-मुनि-भक्तनि भावै।
अंग-अंग-प्रति-छबि-तरंग-गति सूरदास क्यौं कहि आवै।[3]

उक्त पद सूरदास की आलंकारिक भाषा का सुंदर उदाहरण है। अनुप्रासमयी शब्द-योजना के ऐसे उदाहरण 'सूरसागर' के प्रथम से नवम स्कंध तक बहुत थोड़े हैं, दसवें

१. सा. २-२८। २. सा. २-३३। ३. सा. १-६९।

स्कंध मे भी जिन प्रसगो के पद ऊपर उद्धृत किये जा चुके है, उनको यदि छोड दिया जाय तो अन्यत्र उनकी सख्या अधिक नही है। इस प्रकार की भाषा के सबध मे ध्यान रखने की विशेष बात यह है कि नेत्र-दृष्टि से वचित होने के कारण कवि स्वय अपने पदो को लिख नही सकता था जिससे भाषा को अलकृत करने के लोभ का उसे सवरण करना पडा। सूरदास के सीधे-साधे वाक्य-विन्यास से भी इस कथन की पुष्टि होती है। वस्तुत वह युग ही भाषा के शृगार का नही था, सफल और सुबोध भाव-व्यजना का ध्येय लेकर ही उस समय के कवि काव्य-रचना मे प्रवृत होते थे। यही लक्ष्य सूरदास का भी था और इसमे उन्हे अभीष्ट सफलता भी प्राप्त हुई।

तत्सम संधि-प्रयोग—सस्कृत की भाँति सधि-योजना व्रजभाषा की प्रवृत्ति नही है। इसमे जो सधियुक्त तत्सम शब्द मिलते है, उनमे से अधिकाश ऐसे है जो यौगिक रूप मे ही सस्कृत से ग्रहण कर लिये गये है। सूर-काव्य म प्राप्त ऐसे सधि-प्रयोगो के कुछ उदाहरण यहाँ सगृहीत है जो सस्कृत व्याकरण के नियमो से वाधित है—

अधरामृत[१], इद्रादिक[२], कमलासन[३], कर्मादिक[४], कुसुमाजलि[५], कुसुमाकर[६], कुसुमावलि[७], गजेंद्र[८], गोपागना[९], जठरातुर[१०], ज्ञानेंद्रिय[११], त्रिसिरासुर[१२], दैत्यारि[१३], नीलाबर[१४], परमानद[१५], पादोदक[१६], पीताबर[१७], पुरुषोत्तम[१८], प्रथमारभ[१९], प्रेमाकुर[२०], ब्रह्मादिक[२१], भारतादि[२२], भीमादिक[२३], महोत्सव[२४], मिष्टान्न[२५], मुखारविंद[२६], रुद्रादिक[२७], लोभातुर[२८], सतोषादि[२९] आदि।

ऊपर दिये गये उदाहरण स्वर-सधि के हैं। इसके नियमो मे जटिलता न होने से सूर-काव्य मे ऐसे लगभग पाँच सौ प्रयोग मिलते है। व्यजन-सधि के उदाहरण सूर-काव्य मे अपवाद-स्वरूप ही मिलते है, विसर्ग-सधि के अधिकाश उदाहरण भी ऐसे शब्दो मे ही मिलते है जो यौगिक रूप मे ही अपनाये गये हैं, जैसे दुर्जन[३०], निरुत्तर[३१], निर्दोष[३२], निर्मल[३३] निस्सदेह[३४], आदि। ये सब सधि-प्रयोग भाषा के प्रसादगुणत्व मे योग देनेवाले ही हैं। अतएव, स्पष्ट है कि सूरदास ने अपनी भाषा को क्लिष्ट सधियो से दूर रखा, जिससे परुषता या जटिलता के दोष से वे उसको बचाने में सहज ही सफल हो सके।

सामासिक शब्द—सामासिक शब्दो के प्रयोग से, भाषा को सगठित करने मे, प्राय. सहायता मिलती है। सूरदास ने इनके प्रयोग से भी लाभ उठाया है। उनके

---

१. सा ३६६६। २ सा २-२३। ३ सा ३८८४। ४ सा ४-१२
५. सा ६२६। ६ सा ३९४७। ७ सा २८२६। ८ सा. ८-२।
९. सा. १०-११३। १०. सा. ३२१९। ११. सा ४०६। १२. सा. ९८१।
१३ सा ३०२४। १४. सा. २५०८। १५. सा. १-१६३। १६. सा. ९-१२।
१७. सा. ५७२। १८. सारा०न०कि०पृ० १९। १९. सा. १४८०। २०. सा. १७४४।
२१. सा. १-३२४। २२. सा. १-२३८। २३. सा. १-२८८। २४. सारा.न कि पृ २८।
२५. सा १०५५। २६. सा १०-२०५। २७ सा. १-३२४। २८. सा. १-२९५।
२९. सा. ४-१२। ३०. सा. ४-६। ३१. सा. ११-४। ३२. सा. १-२१५।
३३. सा. १-३३८। ३४. सा. १-३४२।

अधिकाश सामासिक पद दो-तीन शब्दो से ही बने हैं, यथा—अलि-सुत[1], कचनपुर-पति,[2] कमल-नयन[3], कुमुद-बधु[4] गुरु-हत्या[5], गोकुल-नायक[6], जल-सुत[7], दारु-जात[8], दासी-सुत[9], दीनदयाल[10], दीनवधु[11], दुष्ट-सभा[12], नद-नदन[13], पाडव-दल[14], पाडु-कुमार[15], भक्त-वत्सल[16], भक्त-वत्सलता[17], भगवत-भजन[18], मति-मद[19], मन-कामना[20], मुक्ति-क्षेत्र[21], रघुनदन[22], रस-लपट[23], रास-रस[24], सत-समागम[25], साधु-समागम[26], सुरसरि-सुवन[27], हरि-कथा[28], हेम-सुता-पति[29] आदि । यद्यपि 'सूर-सागर' के कुछ पदो मे अधर-मधु-पान-मत्त[30], अहिपति-सुता-सुवन-सन्मुख[31], काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-बस[32], गोपी-ग्वाल-गाय-गोसुत-हित[33], सुत-सतान स्वजन-वनिता-रति[34] जैसे कुछ वडे समास भी मिलते है, तथापि ये भी पूर्ण स्पष्ट हैं और इनकी सख्या भी अधिक नही है। सामासिक पद-प्रधान भापा की दृष्टि से सूरदास के निम्नलिखित पद प्रतिनिधि माने जा सकते हैं—

१. गिरिधर, वज्रधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ पीतांवरधर ।
संख-चक्र-धर, गदा-पद्म-धर, सीस-मुकुट-धर, अधर-सुधा-धर ।
कंबु-कंठ-धर, कौस्तुभ-मनि-धर, वनमाला-धर, मुक्त-माल-धर ।
सूरदास प्रभु गोप-वेष-धर, काली - फन पर चरन कमल - धर[35] ।

२. खर-दूखन - त्रिसिरासुर - खडन । चरन - चिन्ह - दंडक-भुव - मंडन ।
वकी-दवन वक-वदन - विदारन । वरुन - विवाद - नद - निस्तारन ।
रिपि-मख - त्रान ताड़का - तारक । बन बसि तात - वचन-प्रतिपालक ।
काली - दवन केसि-कर - पातन । अघअरिष्ट - धेनुक - अनुघातन ।
रघुपति प्रवल-पिनाक-विभंजन । जग - हित जनक-सुता - मन-रजन ।
गोकुल-पति गिरिधर गुन-सागर । गोपी - रवन - रास - रति - नागर ।
करुनामय कपि-कुल - हितकारी । वालि - विरोधि कपट मृग - हारी ।
गुप्त-गोप - कन्या - व्रत - पूरन । द्विज-नारी-दरसन-दुख - चूरन[36] ।

तत्सम शब्दो के आधार पर निर्मित, उक्त उद्धरणो मे प्रयुक्त, लबे सामासिक पदो की विद्यमानता मे भी सूर की भाषा का प्रसाद-गुण अक्षुण्ण है और अर्थ-बोध में किसी

---

१. सा. ३९०६ । २. सा ४२४१ । ३. सा. १-२४० - ४. सा. ३९१५ । ५. सा. १-२६१ । ६. सा. ३७४९ । ७. सा. ३९०६ । ८. सा. ४२०७ । ९ सा. १-२४२ । १०. सा. ३७४० । ११. सा. २-४९ । १२. सा. १-२५४ । १३. सा ३८१० । १४. सा. १-२६९ । १५. सा. १-२४८ । १६. सा. ३७२१ । १७. सा. १-२६७ । १८. सा. १-२६३ । १९. सा. ३७७५ । २०. सा. २-१९ । २१. सा. १-३४० । २२. सा. ९-१२४ । २३. सा. सा. २-२५ । २४. सा. ४१०५ । २५. सा १-२३३ । २६. सा. १-२९२ । २७. सा. १-२७१ । २८. सा. १-२६६ । २९. सा. ४२४१ । ३०. सा. ३४८१ । ३१. सा. १-२९ । ३२. सा. १-२७ । ३३ सा. १-१७ । ३४. सा. १-५० । ३५. सा. ५७२ । ३६. सा. ९८१ ।

प्रकार की कठिनाई नही होती। इसके विपरीत, सूरदास के 'साहित्यलहरी' नामक ग्रंथ मे इसी प्रकार के जो सामासिक प्रयोग मिलते है, उनमे अभीष्ट अर्थ तक पहुँचना साधारण पाठक के लिए ही नही, विद्वानो के लिए कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। इस ग्रथ मे तो प्राय प्रत्येक पद एक जटिल पहेली बना हुआ है। इसके उदाहरण दृष्टकूट शीर्षक के अतर्गत आगे दिये जायेंगे।

तत्सम सहचर पद—द्वद समास से बने सहचर या सहयोगी पदो का प्रयोग कवि की भाषा-समृद्धि का द्योतक है। साथ ही, इनका न्यूनाधिक प्रयोग प्राय. उसी अनुपात मे जन-साधारण की भाषा से कवि या लेखक के सबध की ओर भी सकेत करता है। सूरदास का सपर्क जन-भाषा से बहुत घनिष्ठ था, अतएव उन्होने तत्सम सहचर शब्दो का प्रयोग भी बराबर किया है। कुछ पद यहाँ सकलित है—

अगम-अगोचर[1], अन्न-जल[2], अन्न-वस्त्र[3], गिरि-कदर[4], ज्ञान-ध्यान[5], तेज-तप[6], दान-मान[7], दारा-सुत[8], देवी-देव[9], धन-दारा[10], निगम-आगम[11], पुत्र-कलत्र[12], माला-तिलक[13], मित्र-बधु[14], रग-रूप[15], राग-द्वेष[16], रुदन-विलाप[17], लाभ-अलाभ[18], सभा-समिति[19], साधु-असाधु[20] सुत-कलत्र[21], सुर-असुर[22] आदि।

उच्चारण की दृष्टि से तत्सम शब्दो का वर्गीकरण—उच्चारण की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त उक्त तथा अन्यान्य तत्सम शब्दो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम मे वे तत्सम शब्द रखे जा सकते हैं जो दो, तीन या चार अक्षरो से मिलकर बने हैं, उच्चारण मे किसी प्रकार की कठिनता न होने के कारण जो प्राय. प्रचलित रहे हैं और अपनी सरलता के कारण हिंदी की प्राय. सभी बोलियो और विभाषाओ मे जो सहज ही अपना लिये गये हैं। इनमे से अधिकाश शब्द व्रजभाषा के निजी प्रयोगो और तत्सम शब्दो से निर्मित तद्भवो की भाँति ही कोमल, मधुर और सरल हैं। सूरदास के काव्य मे प्रयुक्त समस्त तत्सम शब्दो मे एक-दो प्रतिशत को छोड कर शेष प्राय इसी प्रकार के है। इनको अपनाने से व्रजभाषा को लोकप्रिय बनाने और उसका क्षेत्र बढाने मे पर्याप्त सहायता मिली है। कोमल और सरल ध्वनिवाले ये शब्द गीतिकाव्योपयोगी भाषा मे सहज ही घुल-मिल गये। ऐसे अनेक शब्द ऊपर उद्धृत उदाहरणो मे मिल जायेंगे, कुछ अन्य[23] यहाँ सकलित है—अग, अत पुर, अतर्गत, अति, अधम, अनुभव, अनुभवी, अपमान, अभिमानी, अभिराम, अवस्था, अविद्या, असत्कार, असाधु, अस्थिर, अहभाव, आज्ञाकारी, आडबर, आहुति, इद्रिय, उत्साह, उद्यम, उद्यान,

---

१. सा. ३८७४। २. सा. १-३४१। ३. सा. १०-३६। ४. सा. २-२०। ५. सा. ३८७४। ६ सा ६-५। ७ सा १०-३८। ८ सा १-३१७। ९ सा १-८६। १० सा १-३१९। ११ सा. १-३०८। १२. सा ६-४। १३ सा. ६-६। १४. सा. १-२०३। १५ सा. १-८६। १६ सा १-२४२। १७. सा १-३१९। १८ सा १-२६२। १९ सा ३८७४। २० सा १-२१७। २१. सा २-२०। २२. सा १-२०१।

२३ ये और ऐसे ही तत्सम शब्द सूरदास ही नहीं, सभी व्रजभाषा कवियो द्वारा अपनाये गये हैं; अतएव इनके साथ पद-संख्या देने की आवश्यकता नहीं है। —लेखक

उन्मत्त, उपकार, उपचार, उपराग, कच, कपट, कुजर, कुड, कूल, क्रीडा, गति, गृह, चारु, जिव्हा, जीविका, दुर्जन, दृढ, दोप, द्रुम, धूम, निगड, निर्दोप, निस्तार, नृप, नीरस, पथ, पति, परस्पर, परिपाटी, पारावार, प्रकोप, प्रतिविव, प्रतिहार, प्रथम, प्रपच, प्रसन्न, प्रसाद, प्रसिद्ध, प्रारभ, प्रेम, भेपज, मधुर, मनोरथ, महत, महानुभाव, महिमा, मात्र, मुक्ता, मुक्ति, मुखर, मुख्य, मुद्रा, मृतक, रति, राजनीति, ललाट, ललित, लुब्धक, विद्यमान, विसर्जन, व्यापक, सकल्प, सचार, सताप, ससार, सकल, सत्कार, सप्तम, सवल, समाधान, सर्वज्ञ, सावधान, सुकुमार, सुखकर, सुधाकर, सुमन, सौरभ, स्वरूप, स्वल्प, स्वाद, हृदय आदि ।

दूसरे प्रकार के तत्सम शब्दो की ध्वनि इतनी सरल न होकर कुछ क्लिष्ट है। फलस्वरूप, उनका प्रयोग सामान्य व्रजभापा-भापियो मे कम रहा और सामान्य वोलियो के काव्य मे भी जो अपने तत्सम रूप से सरलता से प्रवेश नही पा सके । कोमल और सुकुमार भावो की व्यजना मे इनके प्रयोग से कभी-कभी वाधा ही पहुँचती है। ऐसे शब्दो का प्रयोग सूरदास ने कम ही किया है और जो शब्द उनके काव्य मे प्रयुक्त भी हुए हैं वे भापा की सरलता और सुकुमारता का विशेप ध्यान रखनेवाले कवियो द्वारा सहर्प नही अपनाये गये । सूरदास स्वय इस तथ्य से अवगत जान पडते हैं, सभवत इसी से इनमे से अधिकाश तत्सम शब्दो का प्रयोग उन्होने वार-वार नही दोहराया है। ऐसे शब्दो मे कुछ ये है—आजीविका[1], आविर्भाव[2], आस्वादिनि[3], किंजल्क[4], क्वासि[5], गह्वर[6], दूतत्व[7], निमित्त[8], न्यास[9], प्रस्वेद[10], ममत्व[11], विद्याचारि[12], विधुतुद[13], व्युत्पन्न[14], सत्वर[15], सात्विकी[16] आदि ।

साराश यह है कि व्रजभापा की समृद्धि-वृद्धि के लिए सूरदास ने ऐसे तत्सम शब्दो का नि सकोच प्रयोग किया है जो काव्यभापा को शाब्दिक और आर्थिक श्री-सपन्नता प्रदान करने मे सहायक हो सकें। ये प्रयोग भावो के धारा-प्रवाह मे थपेडे खाकर भी अटक कर रहनेवाले पत्थर के भारी-भरकम ढोको की तरह नही, वेग मे और तीव्रता लाकर एक प्रकार का नाद-सौंदर्य उत्पन्न करनेवाली चिकनी और सुडौल वटियो की तरह है जिनकी छटा, धारा के साथ तो दर्शक को मुग्ध करती ही है, उससे विलग हो जाने के पश्चात् भी कलामर्मज्ञो को भक्तो की भाँति विस्मय-विमुग्ध कर देती है। तत्सम शब्दो के ऐसे प्रयोगो की मुख्य विशेषता यह है कि भाव-व्यजना मे सहायता देने के लिए वेगार मे पकड़े गये, किसी भार से दवे हुओ की तरह नही, स्वच्छदतायुक्त हँसी विखेरते, सहकारिता और दायित्व-निर्वाह की भावना लिये आकर, ये विषय और माध्यम, दोनो की शोभा-वृद्धि करते और आमत्रक को गौरव प्रदान करते हैं। कवि ने

१, सा ४-११ । २ सा ९-१५ । ३ सा ३६६६ । ४ सा १-३३९ ।
५ सा २४५२ । ६. सा ३५८३ । ७, सा १-२६ । ८ सा. ४-५ ।
९ सा ४१६९ । १०. सा. ३८०० । ११ सा. ३-१३ । १२. सा. २७०८ ।
१३. सा. २६०१ । १४ सा. ११४४ । १५ सा ३७८९ । १६. सा ३-१३ ।

मस्तिष्क को कुरेद-कुरेद कर सप्रयास इनकी पकड का आयोजन नही किया, प्रत्युत विषय, भावना और रस के अनुकूल तत्सम शब्द, भावावेश के साथ ही, शालीन सेवको के समान, स्वत सामने आ जाते हैं। यही कारण है कि कृत्रिमता और आडवर की छाया का लेश भी अधिकाश तत्सम प्रयोगो मे नही मिलता और वर्ण-मैत्री तथा भाषा की सगीतात्मकता मे सहायक शब्द-चयन से भाषा की शोभा भी वहुत वढी हुई है।

सूरदास के विभिन्न ग्रथो मे तत्सम शब्दो की सख्या विषय, भाव और वातावरण की गुरुता - गभीरता तथा कवि-रुचि के विषयानुकूल रही है। सामान्य कथा-प्रसगो मे व्यावहारिक तत्सम शब्दो का यत्र-तत्र प्रयोग ही मिलता है, क्योकि ऐसे स्थलो पर कवि का उद्देश्य विषय को पद्य-वद्ध करना मात्र जान पडता है, न उसने इनमे विशेष रुचि दिखायी है और न अपनी काव्य-प्रतिभा का ही उसने उपयोग किया है। इसके विपरीत, जिन भावोत्कर्षक मार्मिक प्रसगो के वर्णन एव दृश्यो के चित्रण मे कवि स्वय तल्लीन हो गया है, उसकी कल्पना-शक्ति उपयुक्त सयोग पाकर खिल उठी है और अतीत के दिव्य दृश्यो का दर्शन पाठक को कराने मे प्रवृत्त हो गयी है, उसकी सूक्ष्मदर्शिणी दृष्टि स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर वढकर चित्र का सागोपाग आलेखन करने लगी है, उन सवको अपनाते ही सूरदास की भाषा का स्तर भी सहज ही ऊपर उठ जाता है एव उसके माध्यम से पाठक भी ऐसे साहित्यिक और भावुकतापूर्ण वातावरण मे पहुँच जाता है, जहाँ रस-सिक्त और आनद-विभोर होकर क्षण भर के लिए वह अपने को भूल जाता है। ऐसे स्थलो के तत्सम प्रयोग भाषा के शृगार और सौष्ठव की वृद्धि करते है तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो की सफल व्यजना मे सहायक होकर उसकी समृद्धि और शक्ति वढाते है।

अर्द्धतत्सम शब्द—अर्द्धतत्सम शब्दो का प्रयोग साधारणत उच्चारण की सुविधा-सरलता के लिए किया जाता है। सूरदास की भाषा मे प्रयुक्त अर्द्धतत्सम रूपो को देखने से स्पष्ट भी होता है कि जिन तत्सम शब्दो के उच्चारण मे किसी प्रकार की कठिनता थी, अथवा जिनकी ध्वनि मे कुछ कर्कशता या कठोरता जान पडती थी, कवि ने उन्हे ही सरल रूप देने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्हे काव्य-भाषा के लिए उपयुक्त बना लिया है। कभी कभी चरण की मात्रा-पूर्ति के लिए भी तत्सम शब्दो के कुछ अर्द्धाक्षरो को उन्हे स-स्वर करना पडा है। वस्तुत किसी शब्द का रूप विकृत करने का उद्देश्य यदि उसकी उपयोगिता वढाना हो तो कवि की प्रशसा ही करनी चाहिए। सूरदास के सामने, अर्द्धतत्समो का निर्माण करते समय प्राय यही उद्देश्य रहा है। अतएव उनके इस प्रयत्न ने व्रजभाषा का निजी शब्द-कोश वढाने मे विशेष सहायता दी, क्योकि ये नवनिर्मित शब्द उसकी ही सपत्ति है और उसी के व्याकरण से शासित होते है। दूसरी वात यह है कि अर्द्धतत्समो का प्रयोग साधारणत ऐसे स्थलो पर होना चाहिए जहाँ भाव के प्रवाह मे मग्न और विषय मे लीन पाठक को उनकी उपस्थिति सगत जान पडे। सतोष की वात है कि सूरदास ने इसका भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है और प्रसग एव वातावरण के उपयुक्त अर्द्धतत्समो का ही प्राय चुनाव किया है। उनकी रचनाओ मे सवसे अधिक सख्या अर्द्धतत्सम शब्दो की ही है। निम्नलिखित उदाहरणो से उनकी अर्द्धतत्सम-रूप-निर्माण की प्रवृत्ति का पता लग सकता है—

अगिनि<अग्नि[१], अनुसासन<अनुशासन[२], अभरन<आभरण[३],
अम्रित<अमृत[४], अरघ<अर्द्ध[५], अस्तुति<स्तुति,[६]
अस्थान<स्थान[७], अस्मर<स्मर[८], अच्छादित<आच्छादित[९],
आसरम<आश्रम[१०] ईस्वरता<ईश्वरता[११], उछेद<उच्छेद[१२],
उनमत्त<उन्मत्त[१३], करतार<कर्तृ[१४], किरपा<कृपा[१५],
कुदरसन<कुदर्शन[१६], कृतघन<कृतघ्न[१७], गाहक<ग्राहक[१८],
चतुरभुज<चतुर्भुज[१९], जनम<जन्म[२०], तृन<तृण[२१],
तृष्ना<तृष्णा[२२], थान<स्थान[२३], थिति<स्थिति[२४],
दरपन<दर्पण[२५], दुआदस<द्वादश[२६], दुरबुद्धि<दुर्बुद्धि[२७],
दुरमति<दुर्मति[२८], धरम<धर्म[२९], नगन<नग्न[३०],
निरधन<निर्धन[३१], निस्चै<निश्चय[३२] निहकाम<निष्काम[३३]
निहचै<निश्चय[३४], पदारथ<पदार्थ[३५], परकार<प्रकार[३६],
परजत<पर्यंत[३७], परजा<प्रजा[३८], परताप<प्रताप[३९],
परतिज्ञा<प्रतिज्ञा[४०], परतीति<प्रतीति[४१], परवत<पर्वत[४२]
परबीन<प्रवीण[४३], परमान<प्रमाण[४४], परससा<प्रशसा[४५],
परसन<प्रसन्न[४६], पराकरम<पराक्रम[४७], वितत<व्यतीत[४८],
बिदमान<विद्यमान[४९], बिपाक<विपाक[५०], बिरति<विरक्ति[५१],
बिलम<विलंब[५२], बैद<वैद्य[५३], भीषन<भीषण[५४],
मरजादा<मर्यादा[५५], मरम<मर्म[५६], मारग<मार्ग[५७]
रतन<रत्न[५८], रिधि<ऋद्धि[५९], लछमी<लक्ष्मी[६०],

---

१ सा १-३१२ । २. सा १-१९७ । ३ सा ३६८२. । ४ सा. १-२४१ ।
५. सा १-१२९ । ६. सा १-२९९ । ७ सा. ४-८ । ८ सा ३०६० ।
९ सा ८८३ । १० सा ३-१३ । ११ सा १-३९३ । १२ सा १-१०४ ।
१३ सा ४-१२ । १४ सा ४-३ । १५ सा ४-११ । १६ सा १-१२५ ।
१७ सा १-७७ । १८ सा ३५४३ । १९ सा ३-१३ । २० सा १-२९४ ।
२१ सा २-६ । २२ सा २-१३ । २३ सा ३०२१ । २४ सा ३५३० ।
२५ सा २-२६ । २६ सा ३६२ । २७ सा ४-५ । २८ सा १-२५८ ।
२९ सा १-२४८ । ३० सा १-२५४ । ३१ सा १-२४२ । ३२ सा १-२५७ ।
३३ सा ३५८९ । ३४ सा ३०९० । ३५ सा ३-६ । ३६ सा, २-३७ ।
३७ सा १-१० । ३८ सा १-२९० । ३९ सा १-२३५ । ४० सा १-२६७ ।
४१ सा ३३७४ । ४२ सा १-२३४ । ४३ सा ३५३७ । ४४ सा १-२२९ ।
४५ सा ३५३४ । ४६ सा ९१४ । ४७ सा ३०७७ । ४८ सा, १-२८९ ।
४९ सा ३५२७ । ५० सा ३-२ । ५१ सा १-३०० । ५२ सा ४४३ ।
५३ सा ३५२९ । ५४ सा १-२५२ । ५५ सा ३२७० । ५६ सा ४-५ ।
५७, सा, १-१८७ । ५८, सा, १-२३५ । ५९, सा १-३२७ । ६०, सा, १-३३७ ।

सनान<स्नान[1], सरवज्ञ<सर्वज्ञ[2], सराध<श्राद्ध[3], सवाद<स्वाद[4], साच्छात<साक्षात्[5], सुभाइ<स्वभाव[6] सुम्रित<स्मृति[7] आदि ।

इन अर्द्धतत्सम रूपो से स्पष्ट होता है कि इनका निर्माण कही तो 'स्वरभक्ति' के आधार पर किया गया है, जैसे-नग्न-नगन, पदार्थ-पदारथ आदि, कही 'अग्रागम' के, जैसे-स्थान-अस्थान, स्मर-अस्मर आदि, कही व्रजभाषा की प्रकृति का ध्यान करके, जैसे--तृष्णा-तृष्ना, विपाक-बिपाक, और कही शब्द-विशेष के उच्चारण की सुगमता या स्पष्टता के लिए जैसे अमृत-अम्रित, ऋद्धि-रिधि, स्मृति-सुम्रिति आदि। अर्द्धतत्सम रूप बनाने की यह पद्धति सदैव ही प्रचलित रहती है, एक भाषा मे दूसरी के अनेक शब्द इसी प्रकार अपनाये जाते है। अतएव सूरदास का तत्सबधी प्रयत्न भी भाषा-विज्ञान के नियमो के अनुकूल और भाषा-प्रकृति की दृष्टि से नितात स्वाभाविक समझा जाना चाहिए ।

परतु किसी शब्द के अर्द्धतत्सम रूप का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि नवनिर्मित रूप अर्थ की दृष्टि से कही भ्रामक न हो जाय। उदाहरणार्थ 'कर्म' से 'करम' और 'असत्' से 'असत' शब्द साधारणत बनाये और प्रयोग मे लाये जाते हैं। इसी प्रकार यदि 'क्रम' से 'करम' और 'अस्त' से 'असत' बना लिये जायँ तो इन नये शब्दो से पूर्वार्थ-सूचक रूपो का भ्रम हो सकता है। फिर भी कवि ऐसे भ्रामक प्रयोग किया ही करते हैं। सूर-काव्य मे भी ऐसे दो-एक उदाहरण मिल जाते है,—जैसे 'स्मर' के लिए 'समर' लिखना, क्योकि इससे भिन्नार्थ 'युद्ध' का भ्रम हो जाता है—अग-अग छवि मनहुँ उये-रवि ससि अरु **समर** लजाई[8] ।

तद्भव शब्द—सस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दो के अतिरिक्त सूरदास की भाषा मे बहुत अधिक सख्या मे तद्भव शब्द मिलते है। इनसे आशय उन शब्द-रूपो से है जो मूलत तो सस्कृत के थे, परतु मध्यकालीन भाषाओ—पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि—की प्रकृतियो के अनुसार परिवर्तित होते होते नये रूप मे हिंदी तक पहुँचे थे। वस्तुत किसी भाषा की निजी सपत्ति ये तद्भव रूप ही होते है, क्योकि इनका निर्माण सर्वथा जनभाषा की प्रकृति के अनुरूप और बहुत स्वाभाविक रीति से होता है। सूरदास के काव्य मे प्रयुक्त तद्भव शब्दो की सूची बहुत लबी है। अतएव यहाँ चुने हुए कुछ उदाहरण ही सकलित है ~

अगुष्ठ>अगुट्ठ>अँगूठा, अँगुठा[9]। अधकार>अँधआर>अँधियार, अँध्यारी[10]। आम्र>अब>अँब, अबु[11]। अश्रु>अस्सु>आँसू[12]। आकार्यार्थ>अकारियत्थ>अकारथ[13]। अक्षवाट>अक्खआड>अखाडा, अखारा[14]। आश्चर्य>अच्चरिय->अचरज[15]।

---

१. सा. २-१७। २ सा १-१२१। ३. सा १-२९०। ४. सा ३-१०। ५ सा ३-११। ६ सा १-८। ७ सा १-१८७। ८. सा ६२६ ९. सा १०-६२। १० सा ५०५। ११. लहरी० उ ३८। १२ सा. सा. ३४९। १३. सा १-१०७। १४. सा ९-४। १५ लहरी० ४५।

अद्य > अज्ज > आज[१], आजु[२]। अष्टादस > अट्ठारम > अठारह[३]। अर्द्ध > अद्ध या अद्धो > अध[४]। आकर्ण > आकणन > अकनना, अनकना, अनकनि[५]। अन् + अक्ष > अनक्ख > अनख[६], अनखैयत[७], अनखौही[८]। अन्यत्र > अन्नत्त > अनत[९]। अपुष्ट > अपुट्ठ > अपूठा, अपूठी[१०]। अवरुधन > ओरुज्झन > अरुझना, अरुझत[११]। अहिवाद्य > अहिवाद > अहिवात[१२]। अक्षि > अक्खि > आँख, आँखि[१३]। वाद्य > वज्ज > आउज = एक बाजा[१४]। अर्क > अक्क > आक[१५]। अक्षर > अक्खर > आखर[१६]। अक्षय > अक्खय > आखा, आखो[१७] = कुल, समस्त। अग्गि > अग्नि > आग[१८]।

उत्कथन > उक्कथन > उघटना, उघट[१९], उघट्यौ[२०]। उत्सग > उच्छग > उछग[२१]। उत्साह > उच्छाह > उछाह, उछाहु[२२]। उद्गार > उग्गाल > उगाल, उगार, उगारु[२३]। उद्गिलन > उग्गिलन > उगलना, उगिलो[२४]। उद्वर्त्तन > उब्बटन > उबटन[२५], उबटनौ[२६]। उष्ट्र > उट्ट > ऊँट[२७]। उद्ग्रहण > उग्गहन > उगाहना, उगाहु[२८]। उद्घाटन > उग्घाटन > उघड़ना, उघरना, उघरी[२९], उघरे[३०]। अवतरण > उत्तरण > उतरना, उतरात[३१], उतरानी[३२]। अनुसार > अनुहार > उनहार[३३], उनिहारी[३४]। ऋद्ध > उद्ध > उरद[३५]। आवर्तन > आवट्टन > औटना, औटाई[३६], औटि[३७]।

कर्कोटक > कक्कोडक > ककोडा, ककोरा[३८]। कर्त्तन > कट्टन > काटना, कट्टै[३९]। कृष्ण > कण्ह > कन्हाई[४०], कन्हैया[४१], कान्ह, कान्हर[४२], कान्हा[४३]। कक्ष > कच्छ > कच्छ, काछ[४४], काछनी[४५]। कार्य > कज्ज > काज[४६]। काष्ठ > काट्ठ > काठ[४७]। कर्म > कम्म > काम[४८]। कैवर्त्त > केवट्ट > केवट[४९]। कुक्षि > कुक्खि > कोख[५०], कोखि[५१]। कर्पादिका > कवड्डिआ > कौडी[५२]। गुह्य > गुज्झक > गूझा[५३]। ग्रथ > गत्थ > गथ[५४], गथु[५५]। गजेंद्र > गयिंद > गयद[५६]

---

१ सा १-५१। २ सा वे ११३४। ३ सा २-१९। ४ सा वे ३३०४। ५. सा. वे २०६९। ६ सा ३८४। ७ सा, वे २१४६। ८ सा १२४८। ९ सा १-१८। १० सा ९-८७। ११. सा वे पृ. ३३३। १२ सा. ५७७। १३ सा वे २३७७। १४. सा. ९-७५। १५ सा वे पृ. ३३३। १६. सा १०-४०। १७ सा वे ३०२१। १८ सा ९-२। १९ सा ४४८। २० सा १-२०५। २१ सा ९-१६२। २२ सा वे २८३६। २३ सा वे १८२७। २४ सा १०-२५४। २५ सा १०-१८३। २६ सा १०-१८५। २७ सा २-१४। २८ सा वे ११७४। २९ सा वें ३३४६। ३० सा १०-२५४। ३१ सा ५५२। ३२ सा १०-३३७। ३३ सा वे ३०३७। ३४ सा ४९२। ३५ सा ३९६। ३६ सा १-६३। ३७ सा १०-२२७। ३८ सा वे २३२१। ३९ सा १-१८०। ४० सा. ५२७, ४१ सा. ४५१। ४२ सा १०-७५। ४३ सा० १०-१८३। ४४. सा वे. २३५०। ४५ सा १-३०७। ४६. सा १०-२६०। ४७ सारा ४१८। ४८ सा. १०-२४०। ४९ सा १-३०८। ५०. सारा ३९। ५१ सारा ४४। ५२ सा वे २७११। ५३. सा वे. १८२२। ५४. सा १-१८५। ५५ सा ११-१। ५६ सा १५५३।

ग्रंथि>गठि>गाँठ, गाँठि[1], गाँठी[2] । गर्जन>गज्जन>गाजना, गाजन[3] गाजनु[4] । गर्त्त>गड्ड<गाड=गड्ढा, गाडे[5] । गुह्यक>गुज्झा>गूझा[6] गोझा[7] । घात>घाअ<घाव[8] । घृत>घीअ>घी, घिय, घीव[9] ।

चिपिट>चिबिड>चिउडा, चिउरा[10] । चीत्कार>चिक्कार>चिकार[11] । चतुष्क>चउक्क<चौक[12] । चतुर्थी>चउत्थि>चउथि, चौथ[13] । छत्र>छत्त>छाता[14] । जिह्व>जिब्भ>जीभ[15] । जुष्ठ>जुट्ठ>जूठा, जूठो, जूठौ[16] । अयुक्त>अजुत्त<झूठ[17] । दृष्टि>दिट्ठि>डिट्ठि>डीठ, डीठि[18], दीठि[19] । शिथिल>सिढिल<ढीला, ढीली[20] । तप्त>तत्त>ताता, ताती[21] । तुष्ठ>तुट्ठ<तूठना, तूठे[22] । दर्प>दप्प>दाप[23] । दुर्लालन>दुल्लाडन>दुलार, दुलारी[24], दुलारो-दुलारौ[25] । दुर्लभ>दुल्लह>दूलह[26] । ज्ञाति>णाति>नात[27], नातौ[28] । नि-निकट>निनिअड>निनरा, निनरे, निनारे[29] ।

पक्षालु>पक्खाडु>पखेरू[30] । पदक>पअक, पक>पग[31] । पत्री>पत्ती>पाती[32]=पत्र । पाद>पाय>पाव, पाँउ[33] । प्रावृष>पाउस>पावस[34]। पाषाण>पाहाण>पाहन[35] । पुटकिनी>पुडइनी>पुरइन[36] । प्रोता>पोता>पोत=[37] काँच की गुरिया का दाना । प्रतोली>पओली>पौरी, पौरि[38] । वत्स>वच्छ>बच्छ[39] । अवसृष्ट>अवसिट्ठ>बसीठ[40] । विद्युत>विज्जु>बीजु[41] । वचन>बयन>बैन[42] । भक्ष>भक्ख>भख[43] । मौक्तिक>मोत्तिय>मोती[44] । मूल्य>मुल्ल>मोल[45] । राजिका>राइआ>राई[46] यष्ठि>लट्ठि>लडी, लड, लर[47] । स्वस्तिक>सत्थिअ>सथिया[48] । शुक>सूअ>सूआ, सुआ या सुवा[49] । हरित>हरिअ>हरा, हरी[50] । हृदय>हिअ>हिय[51] ।

---

१. सा. ९-१६४ । २. सा वे. ८८० । ३ सा. ६२२ । ४. सा वे. २८७२ । ५. सा. १-१२४ । ६. सा १०-१८३ । ७ सा वे २३२१ । ८. सा. वे. २८२६ । ९. सा. ३९६ । १० सा. १०-२११ । ११ सा १० उ०-२ । १२. सारा २३९ । १३. सा. ३-१३ । १४ सा. १-२३ । १५ सा. १-१८८ । १६ सा. ४६८ । १७. सा. १-१३७ । १८- सा. १०-६९ । १९ सा १-२७४ । २० सा १०-२९९ । २१ सा. १-२३ । २२. सा १-१७७ । २३ सा ४-५ । २४. सा. ७०८ । २५. सा. १०-१५ । २६. सा. वे. २९५९ । २७. सा ३१६१ । २८. सा ३९ ३३। २९. सा. ३७५८ । ३० सा २२७२ । ३१. सा. १-२४२ । ३२ सा ३४४३ । ३३. सा. ९-४४ । ३४. सा. ४११७ । ३५. सा १-३३२ । ३६ सा १०४९ । ३७. सा. ३६९० । ३८. सा ८-१४ । ३९. सा ४३६ । ४०. सा ४०२४ । ४१. सा. ६२३ । ४२. सा. १०-१०३ । ४३. लहरी ३१ । ४४. सा. १०-८४ । ४५. सा ३८७० । ४६. सा. ४११९ । ४७ सा. १८७१ । ४८. सा. १०-३२ । ४९ सा. १-३४० । ५०. सा. ९-१६४ । ५१. सा. ९-८४ ।

कुछ शब्दो के अर्द्धतत्सम और तद्भव, दोनो रूप प्रचलित रहते हैं, जैसे – वत्स, अर्द्ध० वच्छ, तद्० बच्चा। यदि ये दोनो रूप नवोदित काव्यभापा के योग्य और उसकी प्रकृति के अनुरूप होते है, तो आवश्यकतानुसार दोनो को काव्य-रचनाओ मे स्थान दिया जाता है। सूर-काव्य मे भी कुछ शब्दो के अर्द्धतत्सम ओर तद्भव, दोनो रूप मिलते हैं, यथा—स० अग्नि, अर्द्ध० अगिन,[१] अगिनि[२], तद्० आग।[3] स०कार्य, अर्द्ध० कारज[४], तद्, काज[५]।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित संधि-प्रयोग—

अर्द्धतत्सम, तद्भव और सरल तत्सम शब्दो को सूरदास ने प्राय एक ही वर्ग मे रखा है और अपने काव्य मे इन्हे बिना किसी भेद-भाव के, निसकोच समान अविकार दिया है। यही कारण है कि दिनेस[६], वदरिकासरम[७] जैसे इने-गिने सधि-प्रयोग केवल अर्द्धतत्समो या तद्भवो के आधार पर बने मिलते है, अन्यथा उन्होंने मिश्रित शब्द-रूपो की स्वतन्त्रतापूर्वक सधियाँ की है, यथा—कुसासन[८], चरनावुज[९], चरनोदक[१०], सुपनातर[११] आदि। सूरदास प्राय तीन-चार अक्षरो से अधिक के शब्दो का प्रयोग करने के पक्ष मे नही जान पडते। पाँच-छह अक्षरोवाले बहुत ही थोडे शब्द उनके काव्य मे मिलते हैं और उनमे भी अधिकाश पारिभाषिक या व्यक्तिवाचक ही है, यद्यपि कवि की रुचि अवसर मिलते ही उनको भी संक्षिप्त करने की ओर रही है। इसी कारण एक तो सधि-प्रयोगो की सख्या ही उनके काव्य मे कम है और दूसरे, इस प्रकार निर्मित जो शब्द मिलते भी हैं उनमे से अधिकाश सरल स्वर-सधि के ही उदाहरण हैं।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित समास—

सधि-प्रयोगो की अपेक्षा अर्द्धतत्सम और तद्भव सामासिक पदो की संख्या सूर-काव्य मे अधिक है। जिन पदो मे कवि ने इन शब्दो का प्रयोग अधिक किया है, वहाँ तो ऐसे समास मिलते ही हैं, साथ ही तत्सम शब्दावली-प्रधान भाषा के बीन मे भी उसने इन्हे निस्संकोच स्थान दिया है। इसका कारण यही है कि कवि तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दो से अधिक महत्व का पद तत्सम शब्दो को नही देना चाहता; जैसे –करम-फाँस[१२], नख-प्रकास[१३], बान-बरषा[१४], बिषय-बिकार[१५], व्रजचद[१६], व्रजवासी[१७], भुज-स्रम[१८] आदि।

अर्द्धतत्सम या तद्भव और सस्कृत के तत्सम शब्दो के आधार पर बने हुए

---

१ सा वे १० उ० ४६। २ सा १-९१। ३ सा. ९-२। ४ सा ४-११। ५ सा १०-१४६। ६ सा १-३३९। ७ सा ३-४। ८ सा १-३४१। ९ सा ४२८७। १० सा १-२३९। ११ सा ८४०। १२ सा १-२६३। १३ सा १-४८। १४. सा १-२७१। १५ सा. ४१०३। १६ सा ३७७५। १७ सा. ३७३२। १८ सा. १-१५।

सामासिक पदो की सख्या भी सूर-काव्य में बहुत अधिक है। 'सारावली' मे ऐसे प्रयोग कम मिलते हैं, परन्तु 'सूरसागर' मे कवि ने इनका आदि से अत तक निस्सकोच प्रयोग किया है और 'साहित्यलहरी' के तो प्राय प्रत्येक पद मे इनके पाँच-सात उदाहरण तक मिल जाते हैं। 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' सामासिक पदो के प्रयोग की दृष्टि से सूरदास की भाषा के दो अति-प्रधान रूप हैं, अतएव मध्यवर्तिनी भाषा 'सूरसागर' की ही समझनी चाहिए। इसी काव्य से सकलित कुछ उदाहरणो से सूरदास की तद्विषयक मनोवृति का स्पष्ट परिचय मिल सकता है, यथा—
कटि-बसन[1] करुना-सिंधु[2], कुस-आसन[3], गोपी-जन-वल्लभ[4], छपद[5], जगदीस-भजन[6], जदुकुल[7], जलविहार[8], जादवकुल-दीपक[9], जीवन-प्रान[10], तन-दसा[11], धन-जोबन-मद-माते[12], पसु-पालक[13], प्रेम-मगन[14], बाल-सँघाती[15], रन-भूमि[16], रूप-रतन[17], सभु-सुत[18], सिव-रिपु[19], सुख-सेज्या[20], हरि-भख[21] आदि।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित सहचर-पद—

तत्सम सहचर-पदो से लगभग चौगुने अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित पद सूर-काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं जिनमे से प्रमुख इस प्रकार है—अहनिसि[22], उच्च-अनुच[23], ऊँच-नीच[24], कूकर-सूकर[25], खर-कूकर[26], खाटो-खारो[27], गाइ-बच्छ[28], गुन-अवगुन[29], घाट-बाट[30], जनम-मरन[31], जोग-जुगति[32], ताल-पखावज[33], तीरथ-ब्रत[34], दिन-राती[35], दुख-सताप[36], देस-विदेस[37], धर-अबर[38], नख-सिख[39], नभ-धरनि[40], नान्हे-नून्हे[41], निसि-बासर[42], नेम-ब्रत[43], पहर-घरी[44], पसु-पक्षी[45], पाखँड-चतुराई[46], पाप-पुन्य[47], फूल-फल[48], बन-उपबन[49], बाद-विवाद[50], भंडार-भूमि[51], भले-बुरे[52], भाजी-साक[53], भाव-भगनि[54], भूख-नीद[55], मत्र-जत्र[56],

---

१. सा १-२४६। २. सा. ३-११। ३. सा १-३४१।
४. सा ३८१०। ५. सा. ४१५२। ६ सा १-२३३। ७. सा १-२४२।
८. सा ११६१। ९. सा. ३८१०। १० सा. ३४८२। ११ सा. १-२४०।
१२. सा ३७४८। १३ सा ३७४१। १४ सा १-२४०। १५ सा ४१०५।
१६. सा १-२६१। १७. सा ३७२१। १८ सा ४२४१। १९ सा ४००४।
२० सा. १-२६८। २१ सा ४००७। २२ सा ४-१२। २३ सा १-२०३।
२४. सा १-१३०। २५. सा. २-१४। २६ सा १-१०३। २७ सा १-१५२।
२८. सा. १० २६। २९ सा १-१११। ३०. सा २८८३। ३१ सा १-३१५।
३२. सा १-१२७। ३३ सा १-१५१। ३४. सा. १०-१६। ३५ सा १-३२५।
३६. सा ९.९०। ३७. सा १-२०३। ३८. सा ९-१०४। ३९ सा. १-१७७।
४०. सा ७-२। ४१. सा १-९६। ४२ सा १-१४१। ४३. सा १-१६७।
४४. सा. १-१३०। ४५ सा ९-४६। ४६ सा १-३१७। ४७ सा. १-१५१।
४८ सा ९-५९। ४९ सा. ९-७५। ५० सा १-२३३। ५१ सा १-२४७।
५२. सा. १-१७०। ५३. सा. १-२३९। ५४ सा १-१४९। ५५. सा. ९-२।
५६. सा. ७-२।

मया-मोह[1], मान-परेखौ[2], रक-भिखारी[3], सपदा-आपदा[4], सर-अवसर[5], सीत-उष्न[6], सूर-सुभट[7], सेमर-ढाक[8], स्वर्ग-पताल[9], हय-गय[10], हर्ष-सोक[11] ।

अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा के उदाहरण—

सूर-काव्य से तत्समता-प्रधान भाषा के आदर्श-रूप उदाहरणो को चयन करने मे तो पाठक को कुछ समय लगता है, परतु अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा तो उनके सभी ग्रथो मे केवल रूप और दृश्य-चित्रण के स्थलो को छोडकर, प्राय आदि से अत तक मिलती है। इसका कारण यह है कि कवि ने व्रजभाषा की स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए उसे प्रयासपूर्ण शब्द-योजना की कृत्रिमता से सर्वत्र बचाया है। श्रीकृष्ण और राधा के रूप-वर्णन और विशिष्ट भाव-चित्रण के पदो के अतिरिक्त सभी मार्मिक और हृदयस्पर्शी प्रसगो की व्यजना कवि ने जिस भाषा मे की है उसमे अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो की ही अधिकता है। ऐसे पदो मे संस्कृत के छोटे-छोटे तत्सम शब्द भी कवि ने निस्सकोच अपनाये हैं और यह इसलिए कि कवि ने उन्हे सभी दृष्टियो से अर्द्धतत्समो और तद्भवो के समकक्ष समझा है। सूर-काव्य के विभिन्न स्थलो से इस प्रकार की भाषा के कुछ उदाहरण उक्त कथन की पुष्टि मे यहाँ सकलित हैं। इन पदो मे बडे छपे शब्द तत्सम हैं और शेष प्राय सभी, केवल विदेशी शब्दो को छोडकर, अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव हैं—

१ जा दिन मन पछी उडि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के, सबै पात झरि जैहैं॥
या देही को गरब न करिए, स्यार काग गिध खैहैं।
तीननि मे तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उडैहैं॥
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहै।
जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं॥
घर के कहत सबारे काढो, भूत होइ धरि खैहै।
जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपारयौ, देवी-देव मनैहैं॥
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ करौ सतसगति, सतनि मैं कछु पैहै॥
नर बपु धारि नाहिं जन हरि कौ, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवत भजन बिनु, बृथा सु जनम गवैहै[12]॥

२ रामहिं राखौ कोऊ जाइ।
जब लगि भरत अजोध्या आवैं, कहत कौसिला माइ।

---

१. सा ५३१। २ सा. ३९७५। ३ सा १-१७०। ४. सा १-२६५। ५ सा १-१५८। ६ सा १-११७। ७ सा ९-९७। ८ सा. ९-४२। ९. सा ९-७४। १० सा १-३१७। ११ सा ५-४। १२ सा १-८६।

पंठवौ दूत भरत कौं ल्यावन वचन कह्यौ विलखाइ।
दसरथ-वचन राम वन-गवने यह कहियौ अरथाइ।
आए भरत दीन ह्वै बोले, कहा कियो कैकइ माइ।
हम सेवक वै त्रिभुवनपति, कत स्वान सिंह वलि खाइ।
आजु अजोध्या जल नहिं अँचवौं मुख नहिं देखौं माइ।
सूरदास राघव विछुरन तैं मरन भलौ दव लाइ[1]।

३ यह न होइ जैसे माखन-चोरी।
तव वह मुख पहिचानि, मानि सुख, देती जान, हानि हुति थोरी।
तव तिन दिननि कुमार कान्ह तुम, हमहुँ हुती अपनैं जिय भोरी।
तुम व्रजराज वडे के ढोटा, गोरस कारन कानि न तोरी।
अव भए कुसल किसोर कान्ह तुम, हौ भइ सजग समान किसोरी।
जात कहाँ वलि वाँह छुडाए मूसे मन-सपति सव मोरी।
नख-सिख लौं चित-चोर सकल अँग चीन्हे पर कत करत मरोरी।
इक सुनि सूर हरयौ मेरौ सरवस, औ उलटी डोलति सँग डोरी[2]।

४ (ऊधौ) इन वतियनि कैसे मन दीजै।
विनु देखे वा स्याम सुंदर के पल-पल ही तन छीजै।
जो करि आनि हमारैं दीनौं सो अपनैं कर लीजै।
वाँचि सुनावहु लिख्यौ कहा है, हम वाँचत यह भीजै।
वडौ मतौ है जोग तिहारे, सो हमरैं कह कीजै।
अच्छर चारिक आनि सुनावहु तिनहिं स्रास करि जीजै।
उर की सूल तवै भल निकसै नैंन वान जौ कीजै।
सूरदास प्रभु प्रान तजति हौ मोहन मिलैं तौ जीजै[3]।

४. कैसे करि आवत स्याम इती।
मन-क्रम-वचन और नहिं मेरैं पद-रज त्यागि हिती।
अतरजामी यहौ न जानत जो मो उरहिं विती।
ज्यौं जुवारि रस-वीधि, हारि गथ, सोचत पटकि चिती।
रहत अवज्ञा होइ गोसाई चलत न दुखहिं मिती।
क्यो विस्वास करहिगो कौरौ, सुनि प्रभु कठिन कृती।
इतर नृपति जिहि उचित निकृष्ट करि देति न मूठि रिती।
छुटत न असु नितहि कृपन कै, प्रीति न सूर रिती[4]।

उक्त उदाहरण 'सूरसागर' के विभिन्न स्कधो और प्रसगो से सकलित हैं। इनमें अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो की सख्या तो रेखाकित तत्सम शब्दो से अधिक है ही, साथ ही सभी पद भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी हैं। 'सारावली' मे भी इस प्रकार

१. सा.९-४७। २.सा.१९३१। ३.सा.३७१७। ४.सा.११-१।

की भापा के अनेक उदाहरण मिलते हैं यद्यपि उसका कोई सुसपादित सस्करण न होने से नवलकिशोर और वेंकटेश्वर प्रेसो के 'सूरसागरो' के आरभ मे प्रकाशित 'सारावलियो' से ही काम चलाना पडता है जिनमे अनेक अर्द्धतत्समो को असावधानी से तत्सम रूपो मे लिखा गया है। फिर भी 'सारावली' के निम्नलिखित अवतरणो की भाषा[1], किसी सीमा तक, 'सूरसागर' से उद्धृत उक्त पदो की भापा से मिलती-जुलती है।

१. जसुमति माय धाय उर लीन्हो राई-लोन उतारो।
लेत बलाय रोहनी नीकैं सुदर रूप निहारो।
कबहुक कर करताल बजावत नाना भाँति नचावत।
कबहुँक दधि-माखन के कारन आछी आर मचावत[2]।

२ गोपिनि सो बिनती करि कहियो नित प्रति मन सुध करियो,
बिरह-बिथा बाढ़ै जब तन मे तब तब मोहिं चित धरियो।
पाती लिखी आप कर मोहन बनवासी सब लोग।
मात जसोदा पिता नद जू बाढ्यो बिरह-बियोग।
धौरी धूमर कारी काजर मैंन मजीठी गाय।
ताको बहुत राखियो नीकैं उन पोष्यों पै प्याय।
बन मे मित्र हमारो इक है हम ही सो है रूप।
कमल नैंन घनस्याम मनोहर सब गोधन को भूप।
ताको पूज बहुत सिर नइयो अरु कीजो परनाम।
उन हमरो ब्रज सबहि बचायो सब बिधि पूरे काम[3]।

३. भोर भये उठि चले भवन को हरि कछु इनहि न दीनो।
ताको हरष सोक निज मन मे मुनिवर कछू न कीनो।
भली भई हरि दरसन पायो तन को ताप नसायो।
दुर्बल बिप्र कुचील सुदामा ताको कठ लगायो।
धन्य धन्य प्रभु की प्रभुताई मोपै बरनि न जाई।
सेष सहस मुख पार न पावत निगम नेति कहि गाई[4]।

'सूरसागर' के उक्त पूरे पद अथवा 'सारावली' के एक ही प्रसग के कुछ अश जैसे उद्धृत कर दिये गये हैं, 'साहित्यलहरी' की भाषा के अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान वैसे पूर्ण उद्धरण देना सभव नही है। कारण यह है कि इसके दृष्टकूटो मे थोडे से तत्सम शब्दो की अनेक आवृत्तियो से ही कवि ने नये नये अर्थ निकालने का प्रयत्न किया है और

---

१ 'सारावली' के उक्त तीनो अवतरणों के मूल पाठ में दिये गये यशुमति, व्रज, यशोदा, वृष, शेष शब्द यहाँ किंचित् परिवर्तन के साथ दिये गये हैं—लेखक।

२. सारा. न०. कि. पृ. १७। ३ सारा न० कि. पृ २१। ४ सारा. न कि पृ २७।

वे अर्थ भी सरलता से नही खुलते। अतएव उक्त अवतरणो से मिलती-जुलती भाषा के उदाहरण 'साहित्यलहरी' के कुछ पदो की प्राय प्रारभिक पक्तियो मे ही मिलते है, यथा—

१. आज अकेली कुंजभवन मे वैठी वाल विसूरत।[1]

२. आज सखिनि सँग सुरुच साँवरी करत रही जल केलि।
आइ गयो तहाँ सरस साँवरो प्रेम पसारन वेलि[2]।

३. पिय विनु वहत वैरिन वाय।
मदन वान कमान ल्यायो करषि कोप चढाय[3]।

४. सजनी जो तन वृथा गँवायो।
नंदनंदन व्रजराजकुँवर सो नाहक नेह लगायो[4]।

५ जव व्रजचद-चदमुख लखिहै।
तव यह वान मान की तेरी अगन आपु न रखिहै[5]।

'सूरसागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के उक्त उदाहरणो मे प्रयुक्त तत्सम शब्द रेखांकित कर दिये गये है, शेष मे से कुछ विदेशी शब्दो को छोडकर, सव शब्द अर्द्धतत्सम और तद्भव है जिनको सम्मिलित रूप से व्रजभाषा की, परपरा से प्राप्त और अर्जित, सपत्ति मानना चाहिए। उक्त अवतरणो के भाषा-रूप के सवध मे एक रोचक बात यह है कि तत्सम शब्दो की सख्या लगभग वीस प्रतिशत है और वे भी ध्वनि या उच्चारण की दृष्टि से वहुत सरल हैं। सूर-काव्य का लगभग आधा अश इसी भाषा-रूप मे लिखा गया है।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द—

सूरदास द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दो के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे पाली, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ से होते हुए व्रजभाषा तक पहुँचे थे। उनके अतिरिक्त कुछ शब्द सूरदास की भाषा मे उसी रूप मे मिलते हैं जिस रूप मे वे पाली, प्राकृत अथवा अपभ्रश मे प्रयुक्त होते थे और इनके मूल रूप मे अपना लिये जाने का कारण था इनकी ध्वनि का व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप होना। सूरदास के काव्य मे प्रयुक्त ऐसे कुछ शब्द यहाँ सकलित हैं—

असवार[6] <अश्ववार या अश्वपाल। उज्जल[7] <उज्ज्वल। ऊसर[8] <ऊषर। केहरि[9] <केसरी। खार[10] <क्षार। गय[11] <गज। गाहक[12] <ग्राहक। घर[13] <गृह।

---

१. लहरी०, पद ३। २. लहरी०, पद ७। ३. लहरी०, पद ३२। ४. लहरी०, पद ४६। ५ लहरी०, पद ९७। ६. सा. ८-८। ७. सा १-३३८। ८. सा. ६-५। ९. सा. १०-९९। १०. सा ९-१०७। ११. सा १-२२६। १२ सा. वें ३२४४। १३. सा. वें २२०५९।

चिहुर[1] <चिकुर । जस[2] <यशस् । ताव[3] <ताप । फटिक[4] <स्फटिक । विज्जु[5] <विद्युत । सायर[6] <सागर आदि ।

हिन्दी बोलियों के शब्द—

चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी मे व्रजभाषा के साथ-साथ उसके निकटवर्ती प्रदेश की जिन बोलियों का विकास हो रहा था उनमे चार प्रमुख थी—अवधी, खडीबोली, कन्नौजी और बुन्देलखडी । इनमे प्रथम दो तो विकसित होकर स्वतन्त्र भाषा का पद प्राप्त कर सकी, अतिम दोनो, एक प्रकार से, व्रजभाषा मे ही समा गयी । इन बोलियो से व्रजभाषा का शब्द-सबधी आदान-प्रदान बराबर चलता रहा और व्रजभाषा-कवियो की, जिनमे सूरदास भी हैं, रचनाओ मे इनके शब्द यत्र-तत्र मिल जाते हैं ।

अवधी के शब्द—व्रजभाषा के साथ-साथ अवधी का भी विकास हुआ । सूफी कवियो के अतिरिक्त रामभक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास ने उसके मस्तक पर अपना वरद हस्त रखकर उसे सदा के लिए अमर कर दिया । गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव के पूर्व तक अवधी और व्रजभाषा की स्थिति बहुत-कुछ समान थी । पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओ तथा समकालीन विदेशी भाषाओ के प्रति दोनो की नीति मे भी बहुत कुछ समानता थी । गोस्वामी जी ने जहाँ अवधी को अपनाकर उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया, वही व्रजभाषा मे काव्य-रचना करके इसकी लोकप्रियता-वृद्धि और महत्ता-स्थापन मे महत्वपूर्ण योग देकर, परोक्ष रूप से, अवधी का क्षेत्र भी सीमित-सकुचित कर दिया । सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रश तथा अरबी, फारसी और तुर्की के जो तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्‌भव शब्द उस समय तक प्रचलित हो गये थे, दोनो पर व्रजभाषा और अवधी का समान अधिकार था और दोनो के कवियो ने इनका निस्सकोच प्रयोग किया । उस समय शब्दकोश समृद्ध करने और व्यजना-शक्ति बढाने की इन भाषाओ मे जैसे होड सी लग रही थी, इसीलिए अवधी ने व्रजभाषा के और व्रजभाषा ने अवधी के काव्योपयोगी प्रयोगो को भी सहर्ष अपना लिया । दोनो भाषाओ मे पर्याप्त साहित्य-रचना हो जाने के पश्चात् शब्दों का आदान-प्रदान बढता ही गया । परन्तु व्रजभाषा के पक्ष मे एक ऐसी बात थी कि अवधी से उसे आगे बढने का अवसर प्राप्त हो गया । व्रजभाषी क्षेत्र मे तो अवधी मे रचना करनेवाले कवियो की सख्या नही के बराबर रही, लेकिन अवधी-क्षेत्र-वासी अनेक कवियो ने व्रजभाषा को काव्य-रचना के लिए सादर ग्रहण किया जैसा गोस्वामी जी कर चुके थे । इनकी व्रजभाषा मे अवधी के प्रयोगो का आ जाना स्वाभाविक ही था ।

सूरदास ने न तो अवधी-भाषी क्षेत्र की कभी यात्रा की थी और न उन्होने उसके साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया था जिससे इसका प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी भाषा पर

---

१. सा ९-७३ । २ सा १-४ । ३ सा ३-११ । ४ सा न कि. पृ ३० । ५ सा १०-९१ । ६ सा १-१२५ ।

पंडता। अतएव उनकी रचना मे अवधी के ऐसे प्रयोग ही मिलते हैं जो इतने सरल थे कि व्रजभाषी क्षेत्र मे सरलता से प्रचलित हो गये थे, साथ-साथ अवधी की प्रवृत्ति का प्रभाव भी सूरदास के अनेक शब्द-रूपो पर दिखायी देता है; जैसे—

अस—तो को अस त्राता जु अपुन करि कर कुठाऱ्‍ पकरैगो[१]। धन्य जसोदा जिन जायो अस पूत[२]।

आहि—उमा, आहि यह सो मुंडमाल[३]। तृनावर्त प्रभु आहि हमारो[४]।

इह—तासो भिरहु तुमहि मो लायक इह हेरनि मुसकानि[५]।

इहाँ—इहाँ आइ सब नासी[६]। इहाँ अपसगुन होत नित गए[७]। ते दिन बिसरि गए इहाँ आए[८]।

उहाँ—उहाँ जाइ कुरुपति बल जोग। दियौ छांडि तन कौं सजोग[९]।

ऊँच—महाँ ऊँच पदवी तिन पाई[१०]।

कनियाँ—ता पाछै तू कनियाँ लै री[११]। हरि किलकत जसुदा की कनियाँ[१२]। लाल कौं कबहुँक कनियाँ लैहौं[१३]।

कीन—नृप व्रत पूरन कीन[१४]। मुकुट कुडल किरनि रवि छवि परम बिगसित कीन[१५]।

गोर—मनमोहन पिय दूल्हा राजत दुलहिन राधा गोर[१६]। द्वै ससि स्याम नवल घन द्वै कीन्हे बिधि गोर[१७]।

छोट—बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बडो को छोट[१८]।

जुआर—मानौ हाऱ्यौ हेम जुआर[१९]।

जुवारी—ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी[२०]।

तोर—पावक परौं सिंधु महँ बूडौं नहि मुख देखौं तोर[२१]।

दुवार—देखन रूप मदन मोहन को नद दुवार खरी[२२]।

पियासे—रचि रुचि प्रेम पियासे नैनन क्रम क्रम बलहि बढावत[२३]।

बड—सजि आयुध बड़-छोट[२४]।

बियारी—कमल-नैन हरि करो बियारी[२५]।

उक्त प्रयोगो मे कनियाँ-जैसे शब्द अवधी भाषी क्षेत्र मे ही अधिक प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त अस, ऊँच, गोर, छोट, तोर, बड आदि रूप अवधी की अकारात प्रवृत्ति के आधार पर निर्मित हैं। इस प्रकार पियारे, बियारी-जैसे शब्दो मे 'इ' के पश्चात् 'आ'

---

१. सा. १-७५। २. सा. १०-३६। ३. सा १-२२६। ४. सा. वें. २५७४। ५ सा. २४२०। ६. सा. १-१९२। ७. सा. १-२८६। ८. सा. १-३२०। ९. सा. १-२८४। १०. सा. १-२४। ११. सा. १०-५५। १२. सा. १०-८१। १३. सा. वें. २५५०। १४ सा. ९-२६। १५. सा. वें. २३५८। १६. सारा. १०६६। १७. सा. वें. १९१९। १८. सा. १-३२। १९. सा. ३१४०। २० सा ४०७३। २१ सा. ९-८३। २२ सा. २८७३। २३ सा. ३२०१। २४. सा वें. २७६९। २५ सा. १०-२२७।

का; एव जुआर, जुवारी, दुवार आदि मे 'उ' के पश्चात् 'अ।' का उच्चारण भी अवधी की प्रवृत्ति का द्योतक है। सूरदास के काव्य मे ऐसे प्रयोग यद्यपि एक प्रतिशत से भी कम हैं, परतु इनकी विशेपता यह है कि रूप की दृष्टि से सुगम होने के कारण ये काव्यभापा के उपयुक्त थे और इनसे मिलते-जुलते रूप व्रजभापा मे प्रचलित भी थे। फलस्वरूप परवर्ती व्रजभाषा-कवियो का ध्यान उनके भिन्न-भापत्व की ओर जा ही नही सका और उन्होने स्वतत्रतापूर्वक उन्हे अपनी भापा मे स्थान तो दिया ही, उन्ही के अनुरूप अनेक शब्दो का निर्माण करके भापा को अधिक व्यापक भी बनाया। अवधी-जैसी विकासोन्मुख भापा से होड मे आगे बढने के लिए इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता भी थी। सूरदास ने इस दिशा मे एक नीति निर्धारित की। यह भी उनके महत्व का एक कारण है।

खडीबोली के शब्द—खडीबोली का जन्म यद्यपि व्रजभापा और अवधी के साथ ही हुआ, परतु संभवत विदेशियो के घनिष्ठ सपर्क मे आनेवाले क्षेत्र के निवासियो की भाषा होने के कारण चौदहवी-पद्रहवी शताब्दी तक व्रजभाषा और अवधी की तरह उसका स्वतत्र विकास न हो सका। खडीबोली इन शताब्दियो मे सामान्य व्यवहार की भाषा के रूप मे ही रही और उसमे मौखिक रचना ही अधिक हुई, किसी प्रतिष्ठित कवि ने उसे स्वतत्र काव्य-भापा का रूप देने का प्रयत्न नही किया। अतएव व्रजभाषा-काव्य मे खडीबोली की पद और वाक्याश-रचना का भी कही-कही प्रभाव दिखायी देता है।

नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' मे 'नित्य कीर्तन' शीर्षक के अतर्गत सूर-स्याम छाप के साथ एक लवा पद प्रकाशित हैं, जिसकी भाषा खडीबोली से बहुत प्रभावित है। पद इस प्रकार है—

मैं जोगी जस गाया रे बाबा मैं जोगी जस गाया।
तेरे सुत के दरसन कारन मे (मैं) काशी से धाया।
परब्रह्म पूरण पुरुषोत्तम सकल लोक जा माया।
अलख निरजन देखन कारन सकल लोक फिर आया।
धन तेरो भाग जशोदा रानी जिन ऐसा सुत जाया।
गुनन बडे छोटे मत भूलो अलख रूप घर आया।
जो भावै सो लीज्यो रावल करो आपनी दाया।
देहु अशीश मेरे बालक को अबिचल बाढे काया।
ना मैं लेहो पाट-पटबर ना मैं कचन माया।
मुख देखूं तेरे बालक को यह मेरे गुरू ने लखाया।
कर जोरे बिनवै नदरानी सुन जोगिन के राया।
मुख देखन नहि देहो रावल बालक जात डेराया।
काला पीला गोर रूप है बाघबर ओढाया।
कहु डायन की दृष्टि लगे कहुँ बालक जात दिठाया।

जाकी दृष्टि सकल जग ऊपर सो क्यो जात दिठाया।
तीन लोक का साहब मेरा तेरे भवन छिपाया।
कृष्णलाल् को ल्याई जसुदा कर अचल मुख छाया।
कर पसार चरनन रज लीनी सीगीनाद वजाया।
अलख अलख कर पाय छुए है हँस वालक किलकाया।
पाँच वेर परकर्मा करके अति आनद वढ़ाया।
हरि की लीला हर मन अटक्यो चित नहि चलत चलाया।
अखिल ब्रह्माड के नायक कहिए नद घरहि प्रगटाया।
इद्र चद्र सूरज सारद सनकादिक पार न पाया।
लागि श्रवन मत्रादि जो सुनाया हँसि बालक मुसकाया।
कौन देश मे जोगी हो तुम कौन नाम धरवाया।
कहाँ वास यह कहत जशोदा सुन जोगिन के राया।
तुम ही ब्रह्मा, तुमही विष्णू, तुमही ईश कहाया।
तुम विश्वम्भर तुम जगपालक तुम ही करत सहाया।
सूर श्याम कहै सुनौ जशोदा शकर नाम वताया[1]।

यह पद वेंकटेश्वर प्रेस और नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागरो' मे नही है , इसलिए इसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है। इन 'सूरसागरो ' मे इस प्रकार की भाषा का कोई अन्य पद भी नही मिलता, इससे यह सदेह और भी पुष्ट होता है। परन्तु 'सूर-निर्णय' नामक ग्रथ मे सूरदास की खडीवोली मिश्रित भाषा का उदाहरण देने के लिए यही लम्वा पद उद्धृत किया गया है[2]। दोनो पदो मे सामान्य पाठ-भेद तो है ही, परन्तु अन्तर की मुख्य वात यह है कि नवलकिशोर प्रेस के उक्त पद मे जहाँ कवि की छाप 'सूर-स्याम' है, वहाँ 'सूर-निर्णय मे 'सूरदास' ही मिलती है। इस ग्रथ मे न तो यह लिखा है कि पद कहाँ से उद्धृत किया गया हैं और न अन्य पदो से इसकी भाषा के भिन्न होने का कारण ही वताया गया है। प्रस्तुत पक्तियो के लेखक की सम्मति मे यह पद 'सूरसागर' के रचयिता का हो ही नही सकता। नवलकिशोर प्रेस के 'सूरसागर' मे इस पद के ठीक पहले 'परमानद' छाप के साथ एक पद और दिया गया है जिसकी भाषा भी उक्त पद से मिलती-जुलती है जैसा कि उसकी निम्नलिखित प्रथम और अतिम पक्तियो से स्पष्ट होता है—

देखो री यह कैसा वालक रानि यशोमति जाया है।
× × ×
परमानंद कृष्ण मनमोहन चरन कमल चित लाया है[3]।

---

१. सूरसागर, न. कि. प्रेस , संवत १९२०, पृ. १५-१६ पद, १०५।
२. श्री द्वारकादास पारीख औरश्री प्रभुदयाल मीतल, 'सूर-निर्णय', पृ. २८२।
३. सूरसागर, न. कि. प्रेस., सं. १९२०, पृ० १५, पद १०४।

पूरा पद १७ पक्तियो का है, जिसे यहाँ देने की आवश्यकता नही है। इसी ढग की भाषा मे 'सूरश्याम' छापवाला पद है जो 'राग भैरव' के उदाहरण-स्वरूप दिया गया है। जान पडता है कि अष्टछापी परमानन्ददास से इतर परमानन्द नाम के किसी खडी-वोली के प्रेमी सज्जन ने इन पदो की रचना की थी और उनमे से एक-दो 'सूरश्याम' छाप डालकर सूरदास के पदो मे और 'परमानन्द' नाम देखकर अष्टछापी परमानन्द के पदो मे मिला दिये गये है। यह भी सभव है कि सूरदास के किसी पद के भावार्थ को लेकर किसी साधारण लिपिकार, गायक या साधु ने उसे यह रूप दे दिया हो। जो हो, सूरदास की भाषा मे खडीवोली के बहुत कम प्रयोग मिलते है। वात यह है कि व्रजभाषा की क्रियाओ और विभक्तियो से युक्त वाक्य खडीवोली से भिन्न हो भी जाते हैं। इस लिए सूरदास द्वारा प्रयुक्त कीजै-कीजिए, गाइये, पाइये, हुए आदि शब्द उनकी भाषा पर खडीवोली के प्रभाव-सूचक माने जा सकते हैं, जैसे-मैं-मेरी कवहुँ नहिं कीजै, कीजै पच सुहातो[1]। हरि गुन गाइयै[2]। पार नहिं पाइयै[3]। पै तिन हरि दरसन नहिं हुए[4]।

इनके अतिरिक्त सूर-काव्य मे कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जो ज्यो के त्यो अथवा बहुत ही कम हेर-फेर के साथ खडीवोली काव्य मे प्रयुक्त हो सकते है। ऐसे वाक्यो मे कुछ तो क्रियारहित हैं और कुछ मे क्रिया भी वर्तमान है। क्रियारहित वाक्यो के कुछ उदाहरण यहाँ सकलित हैं—वासुदेव की बडी बडाई[5]। यह सीता, जो जनक की कन्या, रमा आपु रघुनदन रानी[6]। हमारी जन्मभूमि यह गाँउ[7]। तुम दानव हम तपसी लोग[8]। मेरे माई, स्याम मनोहर जीवन[9]। सूरदास प्रभु तिनकी यह गति, जिनके तुमसे सदा सहायक[10]। सूरदास प्रभु अतरजामी। ब्रह्मा कीट आदि के स्वामी[11]। सुन्दरता-रस-गुन की सीवाँ, सूर राधिका स्याम[12]।

इन वाक्यो मे प्रयुक्त आपु, स्याम, अंतरजामी, सीवाँ आदि के स्थान पर क्रमश आप, श्याम, अतर्यामी और सीमा कर दिया जाय तो ये खडीबोली कविता से ही उद्धृत जान पडेंगे। इनमें क्रिया-शब्दो का न होना भी खटकता नही है, क्योकि काव्य मे ऐसे वाक्य बराबर प्रयुक्त होते रहते हैं।

दूसरे वर्ग मे वे वाक्य आते हैं जो क्रिया-युक्त हैं, जैसे—बिभीषन बोले[13]। हरि हँसि बोले बैन, सग जो तुम नहिं होते[14]। अपने घर के तुम राजा हो[15]। रास समय कालिदी के तट तब तुव वचन न माने[16]। खडीबोली के आदर्श वाक्य बनाने के लिए दो-एक शब्द तो इन उदाहरणो के बदलने पडेंगे, परन्तु इनमे प्रयुक्त क्रिया-रूप ज्यो के त्यो आज भी खडीबोली मे प्रयुक्त होते हैं। इनमे से 'बोले'—जैसे रूप व्रजभाषा मे भी बराबर आते हैं।

---

१. सा १-३०२। २. सा. ३-११। ३ सा ३-११। ४. सा ४-९।
५. सा १-३। ६ सा ९-११६। ७ सा ९-१६५। ८ सा ९-१७४।
९. सा १०-१५४। १०. सा. ८६३। ११. सा ८९४। १२ सा. १०-४५।
१३. सा. ९-९८। १४. सा. ४३१। १५ सा. १५११। १६. सा ३७०५।

कन्नौजी और बुंदेलखंडी के शब्द—ये बोलियाँ न तो स्वतंत्र भाषा के रूप मे विकसित हुईं और न इनमे विशेष साहित्य ही रचा गया , प्रत्युत इनके बोलनेवालो ने ब्रजभाषा मे ही साहित्य-रचना की जिसमे स्थानीय प्रयोग आ जाना स्वाभाविक ही था। सूरदास की भाषा मे भी इन बोलियो के कुछ प्रयोग मिलते हैं । उदाहरणार्थ भूतकालिक क्रिया रूप 'हुतो' और उसके विकृत रूप 'सूरसागर' मे अनेक पदो मे प्रयुक्त हुए है, जैसे—बूझति जननि, कहाँ हुती प्यारी[1] । अरजुन के हरि हुते सारथी[2] । असुर द्वै हुते बलवत भारी[3] । यहाँ हुतौ इक सुक कौ अग[4] । इसी प्रकार 'इबी' या 'बी' से अत होनेवाले क्रिया-प्रयोगो पर भी बुदेलखडी का प्रभाव मिलता है, जैसे—तब जानिबी किसोर जोर रुपि, रहौ जीति करि खेत सबै फर[5] । प्रभु हित सूचित कै बेगि प्रगटबी तैंसी[6] । इतने मे सब बात समझबी चतुर सिरोमनि नाह[7] । नीचे के उदाहरण मे 'कोपर' पात्र भी विशेष रूप से बुदेलखड मे प्रचलित है—

दधि-फल-दूब कनक-कोपर भरि, साजत सौंज विचित्र बनाई[8] ।

देशी भाषाओं के शब्द—

ब्रजभाषी क्षेत्र के चारो ओर जो भाषाएँ बोली जाती थी उनमे अवधी, कन्नौजी और बुदेलखडी से ब्रजभाषा का घनिष्ठ सबध था और उनकी प्रवृत्ति मे भी कुछ-कुछ समानता थी। अन्य निकटवर्ती भाषाओ मे से पजाबी और गुजराती के कुछ प्रयोग सूरदास की भाषा मे मिलते हैं, जैसे—लोग कुटुब जग के जे कहियत पैला सबहि निदरिहौं[9] । जौ जग और बियौ कोउ पाऊँ[10] । इतनिक दूर जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी[11] । इनमे 'पैला' और 'बियौ' गुजराती के प्रयोग हैं तथा 'प्यारी' पजाबी का शब्द है।

विदेशी भाषाओं के शब्द—

अरबी, फारसी और तुर्की—इन तीन विदेशी भाषाओ का सूरदास के प्रादुर्भाव-काल मे विशेष प्रचार था। इनको आश्रय देनेवाले विदेशी शासक थे। यो तो विदेशी साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ इन भाषाओ का प्रचार भी चौदहवी शताब्दी के अत तक उत्तरी भारत मे विशेष, और दक्षिण मे सामान्य, रूप से हो गया था, परतु वस्तुत इनका गढ दिल्ली-आगरा का निकटवर्ती वह प्रदेश था जो ब्रजभाषा का भी क्षेत्र कहा जा सकता है । अतएव अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तरी भारत मे सामान्य बोल-चाल की भाषा मे प्रचलित हो गये थे। यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओ का विधिवत् अध्ययन न करनेवाले, ब्रजभाषा और अवधी के तत्कालीन

---

१. सा. ७:८ । २. सा. १-२६४ । ३. सा. ८-११ । ४. सा. १-२२६ । ५. सा. २४५५ । ६. सा. २८५२ । ७. सा. ३३६६ ८. सा. ९-१६९ । ९. सा. १९४३ । १०. सा. १-२०१ । ११. सा. ३९२९ ।

कवियो ने भी इनका स्वतत्रतापूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अपनी भाषाओ को व्यावहारिक रूप देने मे वे समर्थ हो सके।

भाषा का किसी देश की सस्कृति और जनता की विचार-धारा से घनिष्ठ सवध होता है। तत्कालीन कवियो द्वारा इन विदेशी भापाओ के शब्दो का अपनाया जाना भारतीय सस्कृति और जन-मनोवृत्ति की उदारता ही सूचित करता है । विदेशियो ने यहाँ की जनता और उसकी भापा के साथ कैसा भी व्यवहार किया हो, हमारे कवियो ने विदेशी शब्दो को कभी अछूत नही समझा और जिन अवधी और व्रजभापा के माध्यमो से भक्त-कवियो ने अपने अपने आराध्यो की परम पावन लीलाओ का गान किया, उनमे अनेक विदेशी शब्दो को भी सादर स्थान दिया गया। यह आदर्श भारतीय सास्कृतिक सहिष्णुता का एक ज्वलत उदाहरण कहा जा सकता है ।

इन विदेशी भापाओ—अरवी, फारसी और तुर्की—के अनेक शब्द सस्कृत की तरह अपने मूल या तत्सम रूप मे मध्यकालीन कवियो की भापा मे प्रयुक्त हुए हैं और अनेक अर्द्धतत्सम रूप मे। यह रूप-परिवर्तन भी किसी विद्वेष के कारण नही किया गया था, क्योकि यही नीति उन्होने देव-वाणी सस्कृत के शब्दो के साथ वरती थी । वस्तुत सभी भाषाओ की प्रकृतिगत कुछ विशेपताएँ होती है जिनकी रक्षा करना उनके कवियो का कर्तव्य हो जाता है। व्रजभापा-कवियो ने भी विदेशी भाषाओ के शब्दो को अर्द्ध तत्सम रूप देकर उसकी प्रकृति की रक्षा का ही प्रयत्न किया। सूरदास के काव्य मे अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द तत्सम और अर्द्धतत्सम, दोनो ही रूपो मे प्रयुक्त हुए हैं ।

अरवी के शब्द—अरव और भारत का सबध बहुत पुराना है । उस देश मे भारतीय विद्वानों के पहुँचने और कुछ सस्कृत ग्रथो के अरबी मे अनुवाद करने के उल्लेख आठवी शताब्दी के मिलते है[1]। सन् ९३ हिजरी मे मुहम्मद विन कासिम ने भारत पर आक्रमण करके मुलतान से कच्छ तक और उधर मालवे की सीमा तक अधिकार कर लिया[2]। इस प्रकार लगभग सारा सिंधुप्रदेश उसके अधिकार मे आ गया । इस साम्राज्य के मुलनान और मनसुरा (सिंध) के प्रदेशो पर अरबो का अधिकार सुलतान महमूद की चढ़ाई तक बना रहा[3]। इन तीन-चार सौ वर्षों के सपर्क के फलस्वरूप अरबी के बहुत से शब्दो से भारतीयो का परिचित हो जाना स्वाभाविक ही था। पश्चात्, भारत मे मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना होने पर दिल्ली के दरबार मे अरबी साहित्य का आदर बढ़ा, क्योकि यही उनकी प्रमुख धार्मिक भाषा थी जिसके प्रति उनकी कट्टर भक्ति असगत नही कही जा सकती । धीरे-धीरे इस विदेशी भाषा के पर्याप्त शब्द

---

१ बाबू रामचद्र वर्मा द्वारा अनुवादित 'अरब और भारत के सबध' नामक पुस्तक (पृ १०२) मे उद्धृत—क किताबुल् हिंद, वैरूनी, पृ २०८ (लदन) और ख. अखबारुल् हुक्मा, किफ्ती, पृ १७७ (मिश्र)।

२. बाबू रामचद्र वर्मा, 'अरब और भारत का सबध', पृ १४।

३. बाबू रामचद्र वर्मा, 'अरब और भारत का सबध', पृ.२४७।

व्यवहार मे प्रयुक्त होने लगे। इस सबध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि अधिकाश अरबी शब्द फारसी से होते हुए हिंदी मे आये,[१] क्योकि इस भाषा पर अरबी का विशेष प्रभाव था। जो हो, दो-तीन सौ वर्षो मे इसके अधिकाश शब्द उत्तरी भारतीय नवभाषाओ मे इस प्रकार घुल-मिल गये कि कवियो ने निसकोच उनका प्रयोग आरभ कर दिया। सूरदास की भाषा मे अरवी के जो शब्द मिलते है उनको तत्सम और अर्द्धतत्सम, दो वर्गो मे रखा जा सकता है।

अरबी के तत्सम शब्द—दैनिक व्यवहार मे जो छोटे-छोटे और सरल रीति से उच्चरित अरवी शब्द प्रचलित हो गये थे, उन्हे कवियो ने मूल या तत्सम रूप मे ही अपना लिया, यद्यपि इनकी सख्या अधिक नही थी। सूर-काव्य मे इस प्रकार के जो शब्द मिलते हैं, उनमे से कुछ ये हैं—

अबीर—उडत गुलाल अबीर जोर तहँ विदित दीप उजियारी।[२]
अमल—आनँदकद चदमुख निसि दिन अवलोकत यह अमल पर्‌यौ[३]।
अमीन—नैन अमीन अधर्मिनि कैं बस जहँ को तहाँ छयौ[४]।
असल—करि अवारजा प्रेम प्रीति कौ असल तहाँ खतियावै[५]।
कलई—देखौ माधौ की मित्राई। आई उघरि कनक कलई सी दै निज गए दगाई[६]।
आई उघर प्रीति कलई सी जैसी खाटी आमी[७]।
कसब—आन देव की भक्ति-भाइ करि कोटिक कसब करैगौ[८]।
खसम—सूरदास प्रभु झगरो सीख्यौ ज्यौ घर खसम गुसैयाँ[९]।
जमा—साविक जमा हुती जो जोरी मिनजालिक तल ल्यायौ[१०]।
जबाव—सूर आप गुजरान मुसाहिब लै जबाब पहुँचावै[११]।
सूर स्याम मैं तुम्हे न डरैहौं जबाब को जबाव दैहौं।[१२]
माल—तुम जानति मैं हूँ कछु जानत जो जो माल (=सामान, असबाब) तुम्हारे[१३]।
अल्प चोर बहु माल (=धन-सपत्ति) लुभाने सगी सबन धराए[१४]।
मुजरा- गाइ चरावत ग्वाल ह्वै आयौ मुजरा देन[१५]।
मुहकम—सूर पाप को गढ दृढ कीन्हो मुहकम लाइ किवार[१६]।
मुहर्रिर—पाँच मुहर्रिर साथ करि दीने तिनकी बडी विपरीति[१७]।
मुसाहिब—सूर आप गुजरान मुसाहिब लै जबाब पहुँचावै[१८]।
मौज—मनसानाथ मनोरथ पूरन सुखनिधान जाकी मौज (=उमग) धनी[१९]।
सतर—हम सो सतर (=क्रुद्ध) होत सूरज प्रभु कमल देहु अब जाइ[२०]।

---

१. श्री ए. ए. मैकडॉनेल, 'इडियाज़ पास्ट', पृ. २०२।
२. सा. वें २३९१। ३. सा. वें ८९१। ४. सा. १-६४। ५. सा. १-१४२।
६. सा. ३१८६। ७. सा. वें. ३२८०। ८. सा. १-७५।
९. सा. ७३४। १०. सा. १-१४३। ११ सा १-१४२। १२. सा. वें ८४३।
१३. सा. १५२६। १४. सा. २२७०। १५. सा. ४१८८। १६. सा. वें. १-८५।
१७. सा. वें ९८५। १८. सा १-१४२। १९. सा. १-३९। २०. सा ५३७।

अरवी के अर्द्ध तत्सम शब्द—विदेशी भाषा होने के कारण अरवी का उच्चारण स्वभावत व्रजभाषा से भिन्न था। उसकी वर्णमाला मे कुछ वर्ण ऐसे थे जिनका उच्चारण व्रजभाषा-भाषियो को सुगम नही प्रतीत होता। अतएव अरवी के तत्सम शब्दो का विदेशीपन दूर करने के लिए, उनके अर्द्धतत्सम रूप वनाने की आवश्यकता थी जिनका उच्चारण अपेक्षाकृत सुगम और व्रजभाषा शब्दो के अधिक निकट हो जिससे नयी पीढी उन्हे अपनी भाषा का ही अग समझे। सूरदास की भाषा मे अरवी के तत्सम शब्दो की अपेक्षा ऐसे परिवर्तित रूपो की ही अधिकता है, यथा—

अकल<अक्ल—इद्र ढीठ वलि खाइ हमारी देखौ अकल गमाई[१]।

अविर<अवीर—चोवा चदन अविर गलिनि छिरकावन रे[२]।

अरस<अर्श—वहुरि अरस (=महल) तैं आनि कैं तव अवर लीजैं। । अरस नाम है महल को जहाँ राजा वैठे[३]।

उजीर<वजीर—पाप उजीर कह्यो सोइ मान्यौ धर्म सुधन लुटयौ[४]।

कसरि<क़सर—अव कछू हरि कसरि नाही, कस लगावत वार[५]।

कसाई<क़स्साव—श्रीधर, वाम्हन करम कसाई[६]।

कागज<कागज़—भीजि विनसि जाई छन भीतर ज्यौ कागज की चोली री[७]।

कागद<कागज़—तिनहूँ चाहि करी सुनि औगुन कागद दीन्हे डारि[८]। सजल देह कागद तैं कोमल किहि विधि राखै प्रान[९]।

कागर<क़ागज़—रति के समाचार लिखि पठए सुभग कलेवर कागर[१०]। मारि न सकै विघन नहि ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर[११]। दीरघु नदी नाउ कागर की को देखौ चढ़ि जात[१२]। व्याध गीध गनिका जिहि कागर (=दस्तावेज) हौं तिहि चिठी न चढायो[१३]।

कुलफ<कुफ़्ल—काजर कुलफ मेलि मैं राखे पलक कपार दये री[१४]।

कुल्ल<कुल—मुलजिम जोरै ध्यान कुल्ल को हरि सौं तहँ लै राखै[१५]।

खता<ख़ता – सूरदास चरननि की वलि वलि कौन खता तैं कृपा विसारी[१६]।

खवरि<ख़वर—अपने कुल की खवरि (=पता, ध्यान) करौ धौं सकुच नही जिय आवति[१७]।
क्यो जू खवरि (=जानकारी) कहौ यह कीन्ही करत परस्पर ख्याल[१८]।
ज्ञान वुझाइ खवरि (=सदेश) दै आवहु एक पथ द्वै काज[१९]।
किधौं सूर कोई व्रज पठयौ आजु खवरि (=समाचार) कै पावत हैं[२०]।
द्वारावति पैठत हरि सौं सव लोगनि खवरि (=समाचार) जनाई[२१]।

---

१. सा वें ९८५। २ सा १०-१८। ३ सा वें २५७५। ४ सा १-६४। ५ सा १-१९९। ६ सा १०-५७। ७ सा व २०४०। ८ सा १-१९७। ९ सा १-३०४। १० सा वें-२१२८। ११ सा १-९१। १२ सा १-१९३। १३ सा ३२८२ १४ लहरी उ ७। १५ सा १-२४। १६ सा १-१६०। १७ सा वें ११७४। १८ सा वें २४७२ १९ सा वें २९२५। २० सा वें २९४६। २१ सा वें २१ उ २७।

खरच<ख़र्च—सूरदास कछु खरच न लागत राम नाम मुख लेत[१] ।

खर्च<ख़र्च —हौं तो गयो हुतो गुपालहिं भेटन और खर्च तदुल गाँठी कौं[२] ।

खवास<ख़वास—मोदी लोभ खवास मोह के द्वारपाल अहँकार[३] । कहि खवास कौं सैन दै सरपाँव मँगायो[४] ।

खाली<ख़ाली—अरु जब उद्यम खाली (= व्यर्थ, निष्फल) परै[५] ।

खयाल<ख़्याल—औरे कहति और कहि आवति मन मोहन के परी ख्याल[६] ।
ये सब मेरे ख्याल (= पीछे) परी है अब ही बातनि लै निरुवारति[७] ।

गरज<ग़रज़—प्रीति के वचन वाँचे विरह अनल आँचे, अपनी गरज कौ तुम एक पाइ नाचे[८] ।

गरीब<ग़रीब—स्याम गरीबनि हूँ के गाहक[९] ।

गुलाम<ग़ुलाम—सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिये[१०] । सूर है नँद-नद जू को लयो मोल गुलाम[११] ।

जमानत<ज़मानत —धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै तातैं ठाकुर लूट्यौ[१२] ।

जमानति<ज़मानत—सो मैं बाँटि दई पाँचनि कौ देह जमानति लीन्ही[१३] ।

जहाज<जहाज़—नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज[१४] । जैसे उड़ि जहाज को पछी फिरि जहाज पै आवै[१५] ।

ज्वाब<जवाब— ज्वाब देति न हमहिं नागरि रही वदन निहारि[१६] । दीन्हो ज्वाव दई को चैहौ देखौ री यह कहा जँजाल[१७] ।

डफ<दफ़—डफ झाँझ मृदग वजाइ सब नद-भवन गए[१८] । डिमडिमी पटह ढाल डफ बीणा मृदग चँगतार[१९] ।

तलफ<तलफ़ मनु पर्यक तें परी धरनि धुकि तरँग तलफ नित भारी[२०] । दामिनि की दमकनि बूँदनि की झमकनि सेज की तलफ कैसे जीजियतु माई है[२१] ।

दगा<दग़ा—सोवत कहा चेत रे रावन, अव क्यो खात दगा[२२] । सूरदास याही ते जड भए इन पलकन ही दगा दई[२३] ।

मसक्कत<मशक़्क़त—काहे कौं हरि विरद बुलावत बिन मसकत को तारचौ[२४] ।

---

१ सा. १-२९६ । २ सा. वें. १० उ० ७१ । ३ सा. १-१४१ । ४ सा. वें. २४७६ । ५ सा. ३-१३ । ६ सा वें ११८३ । ७. सा वें. १३०८ । ८ सा. वें. २००३ । ९ सा १-१९ । १० सा १-१७१ । ११. लहरी ११८ । १२. सा १-१८५ । १३. सा १-१९६ । १४. सा. १-३६ । १५. सा १-१६८ । १६ सा. वें. ८७९ । १७. सा. वें ११११२ । १८. सा. १०-२४ । १९. सा. वें २४४६ । २०. सा. वें २७२८ । २१. सा. वें. २८२७ । २२. सा. ९-११४ । २३. सा. वें. २५३७ । २४. सा. १-१३२ ।

मसखरा<मसख़रा--लगर ढीठ गुमानी टूँडक महा मसखरा रूखा[1] ।
मिलिक<मिल्क—यह ब्रज-भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई[2] ।
मुस्तौफी<मुस्तौफ़ी—चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी सरन गहूँ मैं काकी[3] ।
लायक<लायक़—ऊधौ हम लायक सिख दीजै[4] ।
सफरी<सफ़री– सफरी (अमरूद) चिरुआ अरुन खुवानी[5] ।
साबिक<साबिक़—साबिक जमा हुती जो जोरी मिनजालिक तल ल्यायौ[6]।
हौंस<हवस—बोले सुभट, हौंस जनि मन करौ वन-विहारी[7] ।

फारसी के शब्द—अरब के समान फारस से भी भारत का सबध बहुत पुराना है। दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे इसलामी शासन की नीव भारत मे पडने पर फारसी भाषा का अध्ययन-अध्यापन भी भारत मे आरभ हो गया। शाही दरबारो मे नौकरी पाने और शाहो के निकट सपर्क मे आने के लोभ से अनेक हिन्दू भी इस भाषा मे योग्यता प्राप्त करने को प्रवृत्त हुए और अधिकाश मुसलमान विद्वानो की तो इसमे अच्छी गति होती ही थी। इन सब बातो के फलस्वरूप फारसी के बहुत से शब्द तत्कालीन भारतीय भाषा मे घुल-मिल गये और कालातर मे खडीबोली, ब्रजभाषा और अवधी के कवि अपनी रचनाओ मे उनका निस्सकोच प्रयोग करने लगे। फारसी की भी मधुरिमा बहुत बढी-चढी मानी जाती है। अतएव इसके शब्दो और प्रयोगो के प्रति मधुरिमा-प्रिय कवियो का आकर्षित होना यो तो स्वाभाविक ही कहा जायगा, परन्तु वस्तुत फारसी का प्रचलन उक्त राजकीय सपर्क से ही हुआ। सन् १५८१ मे अकबर के माल-मत्री राजा टोडरमल खत्री ने कर-विभाग का सारा कार-बार फारसी मे करने की आज्ञा प्रचारित करवा दी जो किसी सीमा तक इस बात की ओर भी सकेत करती है कि फारसी की शिक्षा की व्यवस्था उस समय अच्छी थी।

फारसी के तत्सम शब्द—अरबी की तरह ही सूरदास ने फारसी के भी सरल शब्दो का तत्सम रूप मे ही प्रयोग किया है जो इस बात का प्रमाण है कि उनमे न भाषा-सबधी कट्टरता थी और न जन-भाषा की प्रवृत्ति का विरोध ही उन्हे अभीष्ट था। उनके काव्य मे फारसी के जो तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमे से कुछ ये हैं—

अचार—पापर बरी अचार परम सुचि[8] ।
अवारजा – करि अवारजा प्रेम-प्रीति को असल तहाँ खतियावै[9] ।
कमान—कुबुधि कमान चढ़ाइ कोप करि बुधि-तरकस रितयौ[10] । मदन बान कमान ल्यायौ करषि कोप चढ़ाय[11] ।
गुमान—भरी गुमान बिलोकति ठाढी अपनै रग रँगीली[12] । बृ दावन की बीथिनि तकि तकि रहत गुमान समेत[13] ।

---

१. सा १-८६ । २. सा ३३२४। ३ सा. १-१४३। ४. सा ३८२५।
५ सा. १०–२११। ६ सा १-१४३। ७. सा. ३०४७।
८. सा. वें. २३२१। ९ सा १-१४२। १०. सा. १-६४।
११. लहरी. ३२। १२. सा १०-२९९ । १३. सा. वें. १०३५।

चंग—महुवरि बाँसुरी चंग लाल रँग हो ही होरी[१] । डिमडिमी पटह ढोल डफ बीना मृदंग उपँग चंग तार[२] ।

चुगली—ब्रजनारी बटपारिनि हैं सब चुगली आपुहिं जाइ लगायौ[३] ।

दर—जीवत जांचत कन कन निर्धन दर दर रटत बिहाल[४] ।

दरबार—जाति पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति कैं दरबार[५] ।

दलाली—काम क्रोध मद लोभ मोह तू सकल दलाली देहि[६] ।

दस्तक—सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ[७] ।

दह—गोसुत गाइ फिरत है दह (दस) दिसि बने चरित्र न थोरे[८] ।

दाम—लोचन चोर बाँधे स्याम । जात ही उन तुरत पकरे कुटिल अलकनि दाम[९] ।

दामनगीर—इन पापिन तैं क्यो उबरौगे दामनगीर तुम्हारे[१०] ।

दीवान—दास ध्रुव कौं अटल पदवी राम के दीवान[११] ।

दुर—दुर दमकत सुभग स्रवननि जलज जुग डहडहत[१२] ।

मेहमान+ई—अपनौं पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते[१३] ।

राह—हमहिं छाँडि कुबिजहिं मन दीन्हौं मेटि वेद की राह[१४] ।

सरदार—तुम तौ बडे, बडे कुल जन्मे, अरु सबके सरदार[१५] ।

फारसी के अर्द्धतत्सम शब्द—फारसी की लिपि अरबी की देन है। अतएव नुक्तेवाले अक्षरो को परिवर्तित करने की प्रवृत्ति फारसी शब्दो के साथ भी दिखायी देती है। इनके अतिरिक्त कुछ शब्दो के उच्चारणो को भी कवि द्वारा सुगम किया गया हैं। सूर-काव्य मे इन दोनो परिवर्तनो के साथ फारसी के जो शब्द मिलते है, उनमे से कुछ के उदाहरण यहाँ सकलित हैं—

अँदेस, अन्देस<अन्देशा—सिय अँदेस जानि सूरज प्रभु लियो करज की कोर[१६]। छिन बिनु प्रान रहत नहिं हरि बिनु निसि दिन अधिक अँदेस[१७] । सूर निर्गुन ब्रह्म धरिकै तजहु सकल अँदेस[१८] ।

अजाद<आज़ाद—जम के फद काटि मुकराये अभय अजाद किये[१९] ।

अवाज<आवाज—साँचे विरद सूर के तारत लोकनि-लोक अवाज[२०] । कहियत पतित बहुत तुम तारे स्रवननि सुनी अवाज[२१] ।त्राहि त्राहि द्रोपदी पुकारी गई बैकुठ अवाज खरी[२२] ।

---

१. सा. वें. २४१० । २. सा. वें. २४४६ । ३. सा. वें. ११६१ ।
४. सा. १-१५९ । ५. सा. १-२३१ । ६. सा. १-३१० ।
७. सा. १-१४३ । ८. सा. वें २६६४ । ९. सा. वें पृ. ३२४ (२४) ।
१०. सा. १-३३४ । ११. सा १-२३५ । १२ सा १०-१८४ ।
१३. सा. ३५१६ । १४ सा. ४०३२ । १५ सा ३५४३ ।
१६ सा. ९-२३ । १७ सा वें १७५३ । १८ सा वें. १९७४ ।
१९. सा. १-१७१ । २०. सा. १-९६ । २१. सा १-१०८ । २२. सा. १-२४९ ।

असवार<सवार—नृपति रिषिनि पर ह्वै असवार[१]। करि अतरधान हरि मोहिनी रूप कौं गरुड़ असवार ह्वै तहां आए[२]।

आखिर<आख़िर—सूर स्याम तोंहि वहुरि मिलैहो आखिर ती प्रगटावेगी[३]।

कुलहि<कुलाह—कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति वहु विधि सुरँग वनाई[४]।

खराद<खर्राद—सीतल चदन कटाउ, धरि खराद रँग लाउ, विविध चौकरी वनाउ, धाउ रै वनैया[५]।

खाक<खाक—तीननि मे तन कृमि, के विष्ठा कै ह्वै खाक उडैहै[६]।

मृगमद मिलै कपूर कुमकुमा केसनि मलैया खाक[७]।

खानाजाद<ख़ानाजाद—ए सब कही कौन है मेरे खानाजाद विचारे[८]।

खुवानी<खूवानी—सफरी चिउरा अरुन खुवानी[९]।

गरद<गर्द—सो भैया दुर्जोधन राजा, पल मे गरद समोयी[१०]।

गरीबनिवाज, गरीवनेवाज<गरीब+नवाज़—नई न करन कहत प्रभु तुम हौ सदा गरीवनिवाज[११]।

गिरहवाज<गिरह+वाज़—देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये दमकि लीन्हो गिरहबाज से[१२]।

गुंजाइस<गुंजाइश—काया नगर वडी गुजाइस नाहित कछु बढयौ[१३]।

गुनहगार<गुनाहगार—सिंधु तैं काढि सभु-कर सौंप्यो गुनहगार की नाई[१४]।

गुलाव<गुल+आव—चपक जाइ गुलाव बकुल फूले तरु प्रति बूझत कहुँ देखे नँदनदन[१५]।

गूँग<गुंग—बहिरौ सुने गूँग पुनि बोलै, रक चलै सिर छत्र धराई[१६]।

गोसमायल<गोशमायल—पाग ऊपर गोसमायल रँग रँग रची बनाई[१७]।

चुगुल<चुगल—चुगुल ज्वारि निर्दय अपराधी झुठौ खाटो-खूटा[१८]।

जहर<ज़हर—अधर सुधा मुरली के पोषे जोग जहर कत प्यावै रे[१९]।

जानु<ज़ानू—जानु सुजानु करभ-कर आकृति कटि-प्रदेस किंकिनि राजै[२०]।

जेर<ज़ेर—मनहुँ मदन जग जीति जेर करि राख्यौ धनुष उतारि[२१]।

जोर<ज़ोर—रोर कै जोर तैं सोर घरनी कियौ चल्यौ द्विज द्वारका द्वार ठाढ़ौ[२२]।

केस गहत कलेस पाऊँ करि दुसासन जोर[२३]। कान्ह हलधर बीर दोऊ भुजा बल अति जोर[२४]। बिना जोर अपनी जाँघन के कैसे सुख कियो चाहत[२५]।

---

१ सा ६-७। २ सा ८-८। ३ सा वें २१७७। ४ सा १०-१४८।
५ सा १०-४१। ६ सा १-८६। ७ सा वें ३३२१। ८ सा वें पृ. ३२०।
९ सा १०-२११। १० सा १-४३। ११ सा. १-१०८। १२ सा वें २६१५।
१३ सा १-६४। १४ सा वें ३०७७। १५ सा वें १८१०।
१६ सा १-१। १७ सा वें ३०५०। १८ सा १-१८६।
१९ सा वें ३०७०। २० सा १-६९। २१ सा वें १६८४।
२२. सा. १-१०५। २३. सा. १-२५३। २४. सा. १०-२४४। २५. सा. वें २२६१।

ज्वानी<जवानी—बालपनौ गए ज्वानी आवै[१]।

झेर<देर—काहे कौ तुम झेर लगावति[२]। दधि बेचहु घर सूधे आवहु काहे झेर लगावति[३]। बिरह विषय चहुँधा भरमति है स्याम कहा कियौ झेर (=झगड़ा—बखेडा)[४]।

तरबूजा<तर्बुज—सफरी सेव छुहारे पिस्ता जे तरबूजा नाम[५]।

ताज<ताज़—बिकल मान खोयौ कौरवपति, पारेउ सिर कौ ताज[६]।

ताजी<ताज़ी—घूंघट पट कोट टूटे, छूटे दृग ताजी[७]।

दगाबाज<दगाबाज़—दगाबाज कुतवाल कामरिपु सरबस लूटि लयौ[८]।

दरजी<दर्ज़ी—सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु तनु भयौ ब्योंत बिरह भयौ दरजी[९]।

दरद<दर्द—नेंकहुँ न दरद करति हिलकिनि हरि रोवै[१०]।

दरवाना<दरबान—पौरि-पाट टूटि परे भागे दरवाना[११]।

दाइ<दायः—लाख टका अरु झूमका सारी दाइ कौ नेग[१२]।

दाग<दाग़—दसन-दाग नख-रेख बनी है[१३]।

परगन<परगना—ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई[१४]।

बेसरम<बेशर्म—बाहँ पकरि तू ल्याई काकौ अति बेसरम गँवारि[१५]।

सरम<शर्म—बाहँ गहत कछू सरम न आवति, सुख पावत मन माही[१६]।

सोर<शोर—तिहूँ भुवन भयौ सोर पसार्‌यौ[१७]।

हुसियार<होशियार—सब दल ह्वै हुसियार चलौ मठ घेरहि जाई[१८]।

तुर्की के शब्द—तुर्कों ने पहले-पहल ग्यारहवी शताब्दी मे पजाब पर अधिकार किया था; इसके पश्चात् तेरहवी-चौदहवी शताब्दी मे वे उत्तरी भारत के कुछ प्रदेशो के शासक बने। परतु अरबी-फारसी की तुलना मे उनकी भाषा का यहाँ बहुत कम प्रचार हुआ। इसके दो कारण थे—पहला तो यह कि अरबो और फारसियो के समान तुर्कों से भारतवासियो का घनिष्ठ सबध कभी नही रहा और दूसरे, तुर्की भाषा अरबी और फारसी के समकक्ष नही थी एव तुर्कों की बोलचाल की भाषा पर भी फारसी का प्रभाव पड़ा था। अतएव सूरदास के काव्य मे भी अरबी-फारसी की अपेक्षा तुर्की के शब्दो की सख्या बहुत कम है, यत्र-तत्र दो-एक प्रयोग ही उनके दिखायी देते है यथा—

कुमैत<कुमेत—लीले सुरँग कुमैत स्याम तेहि पर दै सब मन रग[१९]।

सामूहिक रूप से इन तीनो विदेशी भाषाओ के सूर-काव्य मे प्रयुक्त शब्दो को देखने

---

१. सा. ७-२२। सा वें ११४५। ३. सा वें ११७५। ४. सा. वें. १२१५। ५ सा १०-२१२। ६. सा १-२५५। ७. सा. ६५०। ८. सा. १-६४। ९. सा वें ३१६२। १० सा. ३४८। ११ सा. ९-१३९ १२. सा. १०-४०। १३. सा. वें १९५६। १४. सा. १०-३२९। १५. सा. १०-३१। १६. सा. २४१६। १७. सा. ३०९५। १८. सा. ४१८८। १९ सा. १० उ०. ६।

से ज्ञात होता है कि इनमे सज्ञा शब्दो की अधिकता है। इसका विशेष कारण था। जीवन के जितने कार्य-व्यापार हो सकते है, उन सबके द्योतक, एक नही, अनेक शब्द, अर्थ की सूक्ष्मता और अतर की दृष्टि से, भारतीय भाषाओ मे प्रचलित थे जिनके विकसित रूप व्रजभाषा को सहज ही प्राप्त हो गये थे। परतु विदेशियो के आगमन के साथ अनेक ऐसे वस्त्रो, भोज्य पदार्थों, पहनावो, पदाधिकारियो, युद्ध के अस्त्र-शस्त्रो, मनोरजन के साधनो और खेलो से हिंदुओ का परिचय हुआ जो उनके लिए एक प्रकार से नये थे, कम से कम उनके नाम-रूप तो नये थे ही, यद्यपि उनके मिलते-जुलते रूपो का चलन भारत के कुछ भागो मे पहले से भी होना सभव हो सकता है। इन नयी-नयी वस्तुओ के लिए प्रयुक्त विदेशी शब्द ही इनके अर्थ का ठीक-ठीक द्योतन कर सकते थे। इसलिए इनका चलन सारे देश मे सरलता से हो गया। सूरदास के काव्य मे विदेशी भाषाओ के शब्दो के प्रयोग दिखाने के लिए जो उदाहरण ऊपर उद्धृत किये गये है, उनमे भी सज्ञा शब्दो की ही अधिकता है।

दूसरी बात यह है कि ये विदेशी भाषाएँ शासको द्वारा आदृत थी। इनको वे अपने साथ ही लाये थे और इनके पारगत विद्वानो को उनसे सम्मान भी मिलता था। अतएव सारे भारतीय समाज का जो अग शाही दरबारो से सबधित रहा, केवल उसने ही नही, अन्य शिक्षित-अशिक्षित हिंदुओ ने भी इन विदेशी भाषाओ के तत्सम और अर्द्धतत्सम रूपो को योग्यता और सबध के अनुसार अपनाने मे गौरव समझा। आज से आठ-दस वर्ष पूर्व भारतीयो की अँग्रेजी के प्रति जैसी सम्मान-भावना थी—और कही-कही तो आज भी है—कुछ-कुछ वैसी ही बात इन विदेशी भाषाओ के प्रति उस समय भी चरितार्थ हो रही थी, यद्यपि इतने विकसित रूप मे नही, क्यो अँगरेजी को ससार की भाषाओ मे जो महत्वपूर्ण स्थान आज प्राप्त है, वह उक्त विदेशी भाषाओं को कभी नही प्राप्त रहा।

इसके अतिरिक्त हिंदुओ के सामने जीविका का भी प्रश्न था। विदेशी विजेताओ ने शासन और विधान के अधिकाश प्रचलित सस्कृत शब्दो के स्थान पर अपनी भाषाओ के प्रयोग अपनाये और प्रचलित किये थे[१]। शाही कार्यालयो की भाषा, प्रधान रूप से, प्राय विदेशी रही। इन कार्यालयो मे प्रवेश या नियुक्ति उसका ज्ञान प्राप्त करने पर ही सभव थी। जिस परिवार का एक व्यक्ति भी विदेशी भाषा की शिक्षा पाकर इन कार्यालयो मे पहुँच गया, उसने घरेलू और सामाजिक सपर्क मे आनेवाले आत्मीयो और मित्रो मे भी विदेशी भाषा का क्रमश प्रचार कर दिया। व्रजभाषा मे इन शब्दो के घुल-मिल जाने का यह

---

१ In the case of all words having any special reference to government and law, the conquerer Muhammadans have succeeded in imposing their own words upon the colloquial Hindi *to the exclusion of the Sanskrit*—Rev S H. Kellogg, 'A grammer of the Hindi Language', p 40.

भी एक प्रमुख कारण है और उसके कवियो की भाषा मे बहुत से विदेशी शब्द इसी माध्यम से होकर पहुँचे है ।

सूरदास ने यद्यपि विदेशी शब्दो का प्रयोग अवश्य किया, परतु अधिकाशत उनको अर्द्धतत्सम रूप देकर, उनका विदेशीपन दूर कर के, उनको अपनी भाषा के समाज मे सम्मिलित करने की उदारता ही उन्होने दिखायी। पद्रहवी-सोलहवी शताब्दी के कुछ कवियो की भाषा मे अरबी, फारसी और तुर्की शब्दो का यही रूप देखकर कहा जा सकता है कि वे ऐसे प्रयोगो को असगत नही समझते थे और आज तो अनेक विदेशी तत्सम शब्द परिवर्तित होते होते इतने घनिष्ठ रूप मे हमसे परिचित हो गये है कि सामान्य पाठक इनका विदेशीपन कम ही लक्ष्य कर पाता है । वस्तुत उसके लिए, सस्कृत के अधिकाश तद्भव शब्दो की तरह ये विदेशी रूप भी हमारी भाषा का महत्व-पूर्ण अग बन गये है। इस आधुनिक दृष्टिकोण का मिलान जब हम सूरदास से करते है तब यह देखकर हमे आश्चर्य होता है कि आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही इस अधे कवि की दूर दृष्टि भविष्य के भीतर प्रवेश पा चुकी थी ।

साराश यह है कि व्रजभाषा के इस प्रथम प्रतिष्ठित कवि ने अरबी, फारसी और तुर्की-जैसी विदेशी भाषाओ के शब्द अपनाने मे कभी सकोच नही किया , परतु इन भाषाओ मे कोई गति न होने के कारण वे प्राय. ऐसे ही प्रयोग अपना सके जो बहुत प्रचलित हो गये थे और जिन्हे काव्यभाषा मे स्थान मिल रहा या मिल चुका था। सबसे अधिक सख्या इनमे फारसी शब्दो की है और सबसे कम तुर्की की। इसका कारण यह था कि प्राय. सभी मुसलमान शासको ने फारसी का सम्मान किया, उसे अपनी राजभाषा और साहित्यिक भाषा, दोनो रूपो मे अपनाया। यद्यपि भारतीय भाषाओ से उन्हे विद्वेष नही था, फिर भी फारसी के प्रति उनका विशेष मोह था। सूरकाव्य मे वे विदेशी शब्द एकत्र नही, बिखरे हुए मिलते है । केवल तीन या चार पदो मे इनका बाहुल्य दिखायी देता है—

१, जनम साहिबी करत गयौ ।
काया-नगर बडी गुंजाइस, नाहिन कछु बढ़यौ ।
हरि कौ नाम दाम खोटे लौं, झकि झकि डारि दयौ ।
विषया गाँव अमल कौ टोटौ हँसि हँसि कै उमयौ ।
नैन अमीन अधर्मिनि कै बस, जहँ कौ तहाँ छयौ ।
दगाबाज कुतवाल काम-रिपु, सरबस लूटि लयौ ।
पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ, धर्म सुधन लुटयौ ।
चरनोदक कौं छाँडि सुधा-रस, सुरा-पान अँचयौ ।
कुबुधि कमान चढाइ कोप करि बुधि तरकस रितयौ ।
सदा सिकार करत मृग मन कौ रहत मगन भुरयौ ।
घेरयौ आइ कुटुम लस्कर मैं जम अहदी पठयो ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि भ्रमि घर घर कौ जु भयौ[1] ।

१. सा. १-६४ ।

२ साँचौ सो लिखहार कहावै ।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै ।
मन महतो करि कैद अपने मे, ज्ञान जहतिया लावै ।
माँडि माँडि खरिहान क्रोध को, पोता भजन भरावै ।
बट्टा काटि कसूर भरम को, फरद तले लै डारै ।
निहचै एक असल पै राखै, टरै न कबहूँ टारे ।
करि अवारजा प्रेम प्रीत को असल तहाँ खनियावै ।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैकु न तामे आवै ।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल को, हरि सौं तहँ लै राखै ।
निर्भय रूपै लोभ छाँडिकै, सोई वारिज राखै ।
जमा खरच नीकै करि राखै लेखा समुझि बतावै ।
सूर आप गुजरान मुसाहिब, लै जबाब पहुँचावै[1] ।

३. हरि, हौं ऐसौ अमल कमायौ ।
साबिक जमा हुती जो जोरी मिनजालिक तल ल्यायौ ।
बासिल बाकी स्याहा मुजमिल सब अधर्म की बाकी ।
चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी, सरन गहूँ मैं काकी ।
मोहरिल पाँच साथ करि दीने तिनकी बडी बिपरीति ।
जिम्मे उनके, मागैं मोतैं, यह तौ बडी अनीति ।
पाँच पचीस साथ अगवानी, सब मिलि काज बिगारे ।
सुनी तगीरी बिसरि गई सुधि मो तजि भए नियारे ।
बढ़ौ तुम्हार बरामद हूँ को लिखि कीनौ है साफ ।
सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ[2] ।

उक्त पदो मे प्रयुक्त विदेशी शब्द प्राय पारिभाषिक है । शाही दरबारो मे विशिष्ट पदो और पदाधिकारियो के लिए जो पारिभाषिक शब्द प्रचलित थे, उनके ठीक अर्थ-वाची शब्द कुछ तो संस्कृत मे थे ही नही, शेष को विदेशी शासको ने अपनाना उचित नही समझा । ऐसे शब्दो को कोई भावुक कवि विवश होकर ही अपनाता है । सूरदास के उक्त इने गिनो-पदो से भी स्पष्ट होता है कि उन्होने ऐसे परस्पर सबधित पारिभाषिक शब्दो का सामूहिक रूप से प्रयोग करके अपनी विनोदी प्रकृति का ही परिचय दिया है । दूसरी बात यह है कि शासन-व्यवस्था और राजस्व-सबंधी उक्त पारिभाषिक शब्दो से जिनका परिचय है, वे ही इन पदो का ठीक-ठीक अर्थ समझ सकते हैं, सामान्य पाठक नही ।

देशज और अनुकरणात्मक शब्द—

व्रजभाषा मे कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी उत्पत्ति का पता निश्चित रूप से नही लगता । ये शब्द अथवा पद या तो अनार्य और विजातीय भाषाओ के ऐसे

---

१. सा. १-१४२ । २ सा १-१४३ ।

मिश्रित रूप हैं जिनके परिवर्तित और प्रचलित रूपो के आधार पर उनकी व्युत्पत्ति के विषय मे ठीक-ठीक नही कहा जा सकता। इस प्रकार के प्रयोगो के संबंध मे कम से कम इतना निश्चित है कि जिन देशी-विदेशी भाषाओ की विवेचना ऊपर की गयी है, उनसे इनकी सीधी उत्पत्ति नही हुई है। ऐसे शब्दो को भाषा-वैज्ञानिको ने 'देशज' कहा है। इसी 'संज्ञा' के अंतर्गत वे शब्द भी आ जाते हैं, जो ध्वनि-विशेष के अनुकरण पर निर्मित माने जाते हैं और सुविधा के लिए जिनको 'अनुकरणात्मक' या 'ध्वन्यात्मक' कहा जाता है।

देशज शब्द—सूरदास के समस्त काव्य मे देशज शब्द विखरे मिलते है। अर्द्धतत्सम और तद्भव के ही समकक्ष मानकर सूरदास ने निस्संकोच इनका प्रयोग किया है, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है, यथा—

करवर, करव्र—करवर बडी टरी मेरे की घर घर आनँद करत बधाई[1]। ढोटा एक भयौ कैसेहुँ करि कौन कौन करवर विधि भानी[2]। कौन कौन करव्र है टारे[3]। मैं नहिं काहू को कछु घाल्यौ पुन्यनि करवर नाक्यो[4]।

खुटिला—नकवेसरि खुटिला तरिवन को गरह मेल कुच जुग उतंग को[5]। ससि मुख तिलक दियो मृगमद को खुटिला खुभी जराय जरी[6]।

घैया—आई छाक अवार भई है नैसुक घैया पिएउ सवेरे[7]।दुहि ल्याऊँ मे तुरत ही, तू करि दै री घैया[8]।

घैर, घैरु—सूरदास प्रभु बडे गारुडी ब्रज घर-घर यह घैरु चलाई[9]।

झगुलि, झगुली—प्रफुलित ह्वै कै आनि, दीनी है जसोदा रानि झीनीयै झगुलि तामैं कंचन-तगा[10]।

झाम—सुदर भुजा पीठि करि सुदर सुदर कनक मेखला झाम[11]।

ठादर—देव आपनो नही सँभारत करत इंदु सो ठादर[12]।

ढवरी—हरि दरसन की ढवरी लागी[13]।

ढाढ़—ढाढिनि मेरी नाचै गावै हौं हूँ ढाढ़ बजाऊँ[14]।

ढाढ़िन, ढाढ़िनि—हँसि ढाढ़िनि ढाढी सौं बोली, अब तू बरनि बधाई[15]।

ढाढ़ी— हौ तो तेरे घर को ढाढ़ी सूरदास मोहिं नाऊँ[16]। ढाढ़ी और ढाढिनि गावै[17]।

उक्त उदाहरणो से एक बात तो यह स्पष्ट है कि सूरदास ने देशज शब्दो का प्रयोग तत्समता-प्रधान शब्दावली के साथ नही, सरल और प्रचलित सामान्य भाषा मे किया

---

१ सा. १०-५१। २ सा ३६८। ३. सा ३९१। ४. सा. वें. २३७३। ५ सा वें १०४२। ६ सा. वें पृ. ३४५ (४१)। ७ सा ४६३। ८. सा. ७२५। ९ स ७६१। १०. सा १०-३९। ११. सा. वें. १४०२। १२. सा. वें. ९४९। १३. सा. ३४४२। १४. सा. १०-३७। १५. सा. १०-३७। १६. सा. १०-३५। १७. सा. ६४६।

है जिससे वे जरा भी खटकते नही। दूसरे, स्वयं ये शब्द इतने छोटे-छोटे और सरल ध्वनि वाले हैं कि इनमे से कुछ का प्रयोग अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओ मे किया है।

अनुकरणात्मक शब्द--ध्वनि के आधार पर बने हुए अनुकरणात्मक शब्दो की संख्या सूर-काव्य के देशज शब्दो से अधिक हैं। इसका कारण सभवत. यह है कि इस प्रकार के शब्द सरलता से बनते और प्रचलित हो जाते है। इस प्रकार के जिन शब्दो के प्रयोग सूरदास ने अपनी रचनाओ मे किये है, उनमे से कुछ इस प्रकार हैं—

अरबराना—अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया[1]।
अरराना – अररात दोउ वृच्छ गिरे धर[2]।
करारना—बानी मधुर जानि पिक बोलत कदम करारत काग[3]।
कों कों—जैसे काग काग के मुएँ काँ काँ करि उडि जाही[4]।
किलकना—निरखि जननी-बदन किलकत त्रिदसपति दै तारि[5]।
किलकारना—गावत, हाँक देत किलकारत, दुरि देखत नँदरानी[6]।
किलकिलाना— गहगहात किलकिलात अधकार आयो[7]।
कीक,कीकै—भरि गडूक, छिरक दै नैननि, गिरिधर भाजि चले दै कीकै[8]।
कुहुकुहानि—कुहुकुहानि सुनि रितु बसत की अत मिले कुल अपने जाइ[9]।
खरभर—कटक अगनित जुर्‌यो, लक खरभर पर्‌यो[10]।
गटकना—लटकि निरखन लग्यो मटक सब भूलि गयो हटक ह्वै कै गयो गटकि सिल सो रह्यो मीचु जागी[11]।
गरराना—घहरात तररात गररात हहरात तररात झहरात माथ नाए[12]।
गलबल—गलबल सब नगर पर्‌यो प्रगटयो जदुबसी[13]।
गिरीगरी—फूले बजावत गिरगिरी गार मदन भेरि घहराई अपार सतन हित ही फूलडोल[14]।
घमकना—आनँद सो दधि मथति जसोदा घमकि मथनियाँ घूमै[15]।
घमर—त्यौं त्यौं मोहन नाचे ज्यौं ज्यौं रई घमर को होई (री)[16]।
घहरना, घहराना— गगन घहराइ घिरी घटा कारी[17]।
घुमरना—सूर धन्य जदुबस उजागर धन्य धन्य धुनि घुमरि रह्यो[18]।
चुचकारना—मोहू कों चुचुकारि गयो लै जहाँ सघन बन झाऊ[19]।
जगमगाना—अरुन-चरन नख-ज्योति जगमगाति, रुन-झुन करति पाइँ पैजनियाँ[20]।

---

१ सा १०-११५। २ सा ३९१। ३ सा वें १८२९। ४ सा. १-३१९। ५ सा १०-७१ ६ सा १०-२५३। ७ सा ९-१३९। ८ सा १०-२८७। ९ सा वें, ३०५३। १० सा ९-१०६। ११ सा वें २६०९। १२ सा वें ९४४। १३ सा वें २६१०। १४ सा वें २४०५। १५ सा १०-१४७ १६. सा १०-१४८। १७. सा ३८४। १८ सा वें २६१६। १९ सा ४८१। २० सा. १०-१०६।

झकझोरना—सूरदास तिहिं को व्रजवनिता झकझोरति उर अंक भरे[१]।
झकोर,झकोरो(झोका)—मोहनी मोहन लगावत लटकि मुकुट झकोर[२]। जगमग रह्यो जराइ को टीको छबि को उठत झकोरो हो[३]।
झझकना—सोवत झझकि उठे काहे तें दीपक कियौ प्रकास[४]।
झझकारना—नख मानो चदवान साजि कै झझकारत उर आय्यौ[५]।
झमक—दामिनि की दमकनि बूंदनि की झमकनि सेज की तलफ कैसे जीजियतु माई है[६]।
झमकना—रमकत झमकत जनक-सुता सँग हाव-भाव चित चोरे[७]। सूर-स्याम आए ढिग आपुन घट भरि चलि भमकाइ[८]।
झरझराना—झरझराति झहराति लपट अति देखियत नही उबार[९]।
झरहरना—अजहूँ चेति मूढ चहुँ दिसि तें उपजी काल अगिनि झरहरि[१०]।
झरहराना—झरहरात बन पात गिरत तरु धरनी तरकि तराकि सुनाइ[११]।
झहराना—बेसरि नाउ लेत सरमानी तब राधा झहरानी[१२]।
झिझकारना—उठयो झिझकारि कर ढाल कर खडगहिं लिए रग रनभूमि के महल बैठ्यो[१३]।
झुँझाना (झुँझलाना)—नित प्रति रीती देखि कमोरी मोहि अति लगत झुँझायो[१४]।
झुनकना—रुनक झुनक कर ककन बाजें, बाँह डुलावत ढीली[१५]।
झौर (झाँव)—बात एक मैं कही कि नाही आपु लगावति झौर[१६]।
ठुमकना—ठुमुकि ठुमुकि पग धरनी रेंगत जननी देखि दिखावै[१७]।
डवडवाना—जब-जब सुरति करत तब-तव डवडवाइ दोउ लोचन उमँगि भरत[१८]।
थरथर—मडपपुर देखे उर थरथर करै[१९]।
थरथराना—सँटिया लिये हाथ नँदरानी थरथरात रिस गात[२०]।
धकधकाना—धकधकात उर नयन स्रवत जल सुत अँग परसन लागे[२१]।
धमकना—धमकि मारयौ घाउ गुमकि हृदय रह्यौ झमकि गहि केस लै चले ऐसे[२२]।
धरधर(धड़धड़)—बाजत शब्द नीर को धरधर[२३]।
फटकना—फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करत लराई[२४]।
फटकाना—मोकों जुरि मारन जव आई, तब दीन्ही गेडुरी फटकारी[२५]।

---

१. सा. १०-८८। २ सा. वें १३३५। ३. सा. वें २२४३। ४. सा. ५१७। ५. सा. वें. १९७२। ६ सा. वें २८२७। ७ सारा. ३१०। ८ सा. वें. ८८५। ९ सा. ५९३। १०. सा. १-३१२। ११. सा. ५९४। १२. सा. वें. १५३४। १३. सा. वें. २५६३। १४. सा १०-२८८। १५. सा. १०-२९९। १६. सा. १०-३२३। १७. सा. १०-१२६। १८. सा. वें. २०३६। १९ सा १०-३१४। २०. सा १०-३४१। २१. सा. वें. २४७३। २२. सा वें २६२१। २३ सा. वें. १०५७। २४. सा ५४१ २५. सा. १४१८।

फटकारना—जमुनादह गिंडुरी फटकारी, फोरी सब मटुकी अरु गगरी[१] ।
रुनझुन—कबहूँ रुनझुन चलत घुटरुनि, धूरि धूसरित गात[२] ।
रुनुकझुनुक—रुनुकझुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिही मनहरनी[३] ।

ऊपर कहा जा चुका है कि देशज शब्द सूर-काव्य मे यत्र-तत्र मिलते हैं, पद-विशेष मे उनकी प्रधानता नही है, परन्तु अनुकरणात्मक शब्दावली-प्रधान दो-एक पद 'सूरसागर' मे अवश्य मिलते हैं, यथा—

१ भहरात झहरात दवा (नल) आयो ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायो ।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उडत हैं भाँस, अति प्रबल बायो ।
झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि फटत लट लटकि, द्रुम-द्रुम नवायो ।
अति अगिनि झार, भंभार धुंधार करि, उचटि अगार झभार छायो ।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरनी गिरायो[४] ।

२ सुनि मेघवर्त्त सजि सैन आए ।
बलवर्त्त, वारिवर्त्त, पौनवर्त्त बज्र अग्निवर्त्तक जलद सग ल्याए ।
घहरात गररात दररात हररात तरात झहरात माथ नाए[५] ।

३. मेघदल प्रबल ब्रजलोग देखैं ।
चकित जहँ-तहँ भए निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं ।
ऐसे बादल सजल करत अति महाबल चलत घहरात करि अधकाला ।
घटा घनघोर, घहरात अररात दररात थररात ब्रज लोग डरपे ।
तडित आघात तरात उतपात सुनि नारि - नर सकुचि तन प्रान अरपे[६] ।

४. (गगन) मेघ घहरात थहरात गाता ।
चपला चमचमाति, चमकि नभ भहरात, राखि लै क्यो न ब्रज नद-ताता[७] ।

सूर के मिश्रित प्रयोग—

देशी-विदेशी भाषाओ के शब्दो को अपनाकर सूरदास ने उन्हे एक ही वर्ग या श्रेणी का बना दिया है । इसके फलस्वरूप दो भिन्न भाषाओ के शब्दो के मिश्रण से नया शब्द बनाने मे उन्होने कभी संकोच नही किया । इस कथन को पुष्टि निम्नलिखित उदाहरणो से होती है—

सं०. अन् + अ लायक = अनलायक-अनलायक हम हैं की तुम हो, कहो न बात उघारि[८] ।
फा. ना + अ०. हक = नाहक = अनाहक—चौरासी लख जीव जोनि मैं भटकत फिरत अनाहक[९] ।

---

१. सा १४१६ । २ सा १०-१०० । ३ सा १०-१२३ । ४ सा ५९६ ।
५. सा. ८५३ । ६. सा ८५५ । ७ सा. ८७० । ८, सा वें २४२० ।
९, सा. १-३१० ।

अ. फौज + स पति = फौजपति–निधरक भयौ चल्यौ व्रज आवत, अग्र फौजपति मैन[१] ।
फा. वे + हिं. पीर = पीडा – सूरदास प्रभु दुखित जानि कै, छांडि गये वेपीर[२] ।
फा. वे + अ हाल = वेहाल—कहाँ निकसि जैऐ को राखै नद कहत वेहाल[३] ।
हिं. लोन + अ. हरामी—मन भयो ढीठ, इनहुँ कौं कीन्हौ, ऐसे लोनहरामी[४] ।

सारांश—

साराश यह है कि सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओ के अनेक शब्द तो व्रजभाषा मे है ही, अरबी-फारसी-जैसी विदेशी भाषाओ से उद्भूत अनेक शब्द भी व्रजभाषा की सपत्ति है । इन सबसे उसका भडार भरा-पुरा है और इन्ही पर इस भाषा के कवियो को अभिमान रहा है । अपने क्षेत्र की निकटवर्ती बोलियो और विभाषाओ के साधारण प्रचलित शब्दो को स्वीकार करने मे भी व्रजभाषा-कवि पीछे नही रहे । वास्तुत धर्म के विषय मे वैष्णव भक्त-कवि जिस प्रकार उदार और सहिष्णु थे, भाषा के सबध मे भी वे सर्वदा उसी प्रकार असकीर्ण बने रहे । व्रजभाषा पहले तो अपनी प्रकृति से दूसरी भाषाओ के शब्दो को सहज सुदर रूप देने मे समर्थ थी और दूसरे, जन-मनोवृत्ति तथा परिस्थिति के साथ चलने की दूरदर्शिता भी वह दिखाती रही जिसके फलस्वरूप उसकी प्रगति की गति सदैव सतोषजनक रही । सूरदास इस कार्य मे व्रजभाषा-कवियो मे अग्रगण्य हैं । पूर्ववर्ती और समकालीन देशी-विदेशी भाषाओ और निकटवर्ती बोलियो के सबध मे उन्होने उपयोगी ग्राहक नीति अपनाकर व्रजभाषा को समृद्धि प्रदान की । इससे दो प्रमुख लाभ हुए—पहला तो यह कि वे अपनी व्रजभाषा के उस सहज सुदर माधुर्य की रक्षा कर सके जो शताब्दियो तक काव्य-प्रेमियो और सहृदयो को आकर्षित करता रहा और दूसरे, सुदूरवर्ती प्रदेशो मे काव्य-रचना के लिए निरतर प्रयुक्त होने पर भी उसका व्रजभाषापन सुरक्षित रहा और वह अपना स्वतत्र व्यक्तित्व बनाये रखने मे समर्थ हो सकी । सूरदास के समसामयिक और परवर्ती कवियो ने भी उन्ही की नीति का निर्वाह करने मे भाषा और रचना, दोनो का कल्याण समझा और इस प्रकार उन्होने व्रजभाषा के क्षेत्र-वर्द्धन के उस महत् कार्य मे योग दिया जिसका श्रीगणेश इस अध कवि ने किया था ।

---

१. सा. ३३०४ । २. सा. ३१५६ । ३. सा. ५२८ । ४. सा. २२५२ ।

४. सूर की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन

व्याकरण-सम्मत भाषा का महत्व यद्यपि सभी कवि समझते हैं, तथापि उसके नियमो का निर्वाह वे उतनी कट्टरता से नही कर पाते जितनी दृढता से गद्य के लेखक करते हैं। वाक्य-विन्यास मे शब्दो का क्रम-परिवर्तन करने को तो कवि, गद्यकारो की अपेक्षा, अधिक स्वतत्र रहते ही हैं, शब्दो की वर्तनी, तुकात और चरण की मात्रा-पूर्ति की दृष्टि से, वर्णों को लघु, दीर्घ या हलत अक्षरो को पूर्ण कर लेना अथवा कारक-चिह्नो आदि का लोप कर देना भी उनके लिए बहुत साधारण बात होती है। इसी प्रकार भाषा-सगठन का ध्यान रखने के पश्चात् भी एकाध निरर्थक या अनावश्यक शब्द या शब्दाश का समावेश कर लेने मे भी कवियो को अपेक्षाकृत कम सकोच होता है।

सूरदास के प्रादुर्भाव के समय तक व्रजभाषा का कोई प्रामाणिक-अप्रामाणिक, कैसा भी व्याकरण प्रस्तुत नही किया जा सका था। उस युग के कवियो को अपनी रचना के लिए वस्तुत व्यावहारिक व्याकरण का ही सहारा था जो अलिखित था और जिसका ज्ञान समाज मे रहकर बोलचाल के लिए भाषा-विशेष का निरतर प्रयोग करनेवाले किसी भी स्त्री-पुरुष को हो जाता है। साथ ही, जैसा पीछे लिखा जा चुका है, सूरदास के पूर्व व्रजभाषा की कोई उत्कृष्ट साहित्यिक रचना भी नही लिखी गयी थी जिसे आदर्श मानकर वे चल सकते अथवा जिसके आधार पर कहा जा सकता कि व्याकरण न सही, भाषा का तो मान्य साहित्यिक रूप उनके समय तक स्थिर हो गया था। ऐसी स्थिति मे सूरदास की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन करते समय निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है—

क.—साहित्यिक भाषा-रूप अथवा उसके व्याकरण का कोई प्रतिबध न होने पर भी सूरदास ने अवाछनीय रीति से स्वच्छद होने का कभी प्रयत्न नही किया, यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति मे ऐसा करने के लिए पूरा अवसर था।

ख—जनबोली को अपनाकर उन्होने व्रजभाषा का साहित्यिक रूप स्थिर किया जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा परवर्ती कवियो के लिए एक प्रकार से आदर्श हो सकी।

ग—सूरदास यदि पढे-लिखे होते तो उन्हे पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओ, सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रश आदि मे से किसी के व्याकरण का थोडा-बहुत सहारा अवश्य मिल सकता था, परतु अधता ने उन्हे इससे भी वचित रखा। अतएव सामान्य व्यवहार की बोली के साधारण प्रयोगो के बल पर उन्हे व्याकरण-सम्मत भाषा की रूपरेखा प्रस्तुत करनी पडी।

घ—व्यावहारिक व्याकरण के नियमो को हृदयगम करने के पश्चात् रचना मे उनका निर्वाह करके सूरदास ने साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण-निर्माण के लिए विविध प्रकार

के प्रयोग प्रस्तुत कर दिये जिससे एक ओर तो कवियो को सहारा मिला और दूसरी ओर वैयाकरणो के लिए केवल नियम-निर्धारण का कार्य शेष रह गया। सूरदास के इस कार्य का महत्व वस्तुत उस समय ज्ञात होता है जब आधुनिक युग मे लिखे गये व्रजभाषा-व्याकरण के प्राय सभी नियमो और अपवादो के उदाहरण अध्येता को सूर-काव्य मे ही मिल जाते है जिसके फलस्वरूप वह इस अध कवि की ग्रहणशीलता और पैनी अंतर्दृष्टि की क्षमता देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है।

सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—ये मुख्य शब्द-भेद है। आगे के पृष्ठो मैं सूरदास के तत्सवधी प्रयोगो का सोदाहरण परिचय दिया जायगा।

संज्ञाएँ और सूर के प्रयोग—

व्रजभाषा मे स्वरात शब्दो की अधिकता है। उसके सज्ञा शब्द भी स्वरात है। डा० धीरेंद्र वर्मा ने व्रजभाषा मे आठ स्वरो—अ आ इ ई उ ऊ ओ और औ—से अत होनेवाले सज्ञा शब्द माने है[1], 'ए' और 'ऐ' से अत होनेवाले शब्दो को उन्होने छोड दिया है। इसका कारण सभवत यह है कि प्राय वहुवचन वनाने अथवा शब्द को विभक्ति-सयोग के उपयुक्त रूप देने के लिए इनकी आवश्यकता व्रजभाषा मे पडती है। परतु सूरदास ने ऐसे कुछ एकारात और ऐकारात सज्ञा शब्दो का प्रयोग किया है जो एकवचन है और जिनके साथ विभक्ति भी सयुक्त नही है। इस प्रकार साधारणत दस स्वरो से अंत होनेवाले सज्ञा शब्द व्रजभाषा मे होते है। सूर-काव्य से सकलित विभिन्न स्वरात निम्नलिखित सज्ञा शब्दो से इस कथन की पुष्टि होती है—

अ—अकारांत संज्ञा शब्द[2] - सूरदास ने दो प्रकार के अकारात शब्दो का प्रयोग किया है। प्रथम वर्ग मे वे शब्द आते है जो मूल रूप मे वस्तुत: अकारात हैं और प्राय: गद्य मे भी वैसे ही लिखे जाते हैं, जैसे— गुर=रहस्य[3], छीलर[4], जतन[5], जोवन[6], दरसन[7] धीरज[8], पटवर[9], सुमिरन[10], हुलास[11] आदि। दूसरे प्रकार के शब्द दीर्घ स्वरात—प्राय. आकारात, ईकारात या ओकारात—होते हैं जिन्हे तुकात अथवा चरण की मात्रापूर्ति के लिए कवि ने अकारात कर लिया है, जैसे—अभिलाष[12], उपासन[13], गग[14],

---

१. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ५५।

२. कुछ शब्दों के अकारांत के अतिरिक्त आकारात और ओकारात रूप भी व्रजभाषा मे प्रचलित हैं; जैसे—आस-आसा, घूर,-घूरा-घूरो, झगरा-झगरो, भरोस-भरोसा-भरोसो आदि। परंतु सभी अकारांत शब्द इस प्रकार दो या तीन रूपो मे नहीं लिखे जाते—लेखक।

३. सा. २-१०। ४. सा १-३३७। ५. सा. २-१४। ६. सा. २-२२। ७. सा. ५-२। ८. सा. १-३४३। ९. सा. १-३२६। १०. सा. १-३४२। ११. सा. ३-११। १२. सा. ९-७०। १३. सा. २-११। १४. सा. ९-९।

घूरं[१५] (=घूरा), जसोद[१६], घोख[१७] (=घोखा), नात (=नाता)[१८], नार=(नाला[१९] या नारी[२०]), प्रदच्छिन[२१] आदि। भान (=भानु[२२]) जैसे-दो-एक उकारात शब्दो का भी अकारात प्रयोग सूरदास ने किया है।

आ—आकारांत संज्ञा शब्द—अकारात शब्दो की तरह सूरदास द्वारा प्रयुक्त आकारात सज्ञा शब्दो को भी दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे वे शब्द आते है जिनका व्रजभाषा मे प्रचलित शुद्ध रूप आकारात है और जो गद्य मे भी प्राय उसी रूप मे प्रयुक्त होते है, जैसे—आसा[२३], चवेना[२४], छीना[२५], टोना-टुटोना[२६], फरिया[२७], बाना[२८], बिदा[२९], बिथा[३०] बेरा (=वेला[३१]), मरजादा[३२], सिच्छा[३३] आदि। दूसरे प्रकार के शब्द मूलत प्राय अकारात होते है, परतु तुकात अथवा चरण-पूर्ति के लिए कवि ने उन्हे आकारात रूप दिया है, जैसे अवतारा[३४], गौना (=गौन =गमन[३५]), चरना (=चरन[३६]) नैना[३७], पौना (=पौन=पवन)[३८], बाता (=बात[३९]), बासा (=वास=वास[४०]), रघुनाथा[४१] आदि।

इ—इकारांत संज्ञा शब्द—उक्त दोनो रूपो की तरह सूर-काव्य मे प्राप्त इकारात सज्ञा शब्दो को दो वर्गों मे रखा जा सकता है। प्रथम मे शुद्ध इकारात रूप आते है, जैसे—अगिनि[४२], अनुहारि[४३], खोरि[४४], पाँवरि[४५], प्रापति[४६], बिपति[४७], बुधि[४८], मूरति[४९], साखि[५०] आदि। दूसरे वर्ग के शब्दो का इकारात रूप विकृत कहा जा सकता है, क्योकि तुकात अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए अनेक अकरात, ईकारात, उकारात, यकारात और वकारात शब्दो को कवि ने इकारात बना लिया है, जैसे—आइ (=आयु)[५१], आकारि (=आकार)[५२], उपाइ (=उपाय)[५३], करतूति[५४], गुहारि[५५], चाइ (=चाव)[५६], पहिचानि[५७], पौरि[५८], बधाइ (=बधाई)[५९], बानि (=बान)[६०], बिनति (=बिनती)[६१], मुसुकनि[६२], मुहूरति[६३], लराइ[६४] आदि।

ई—ईकारांत संज्ञा शब्द—आकारात शब्दो की तरह अधिकाश ईकारात सज्ञा शब्द अपने शुद्ध रूप मे ही सूर-काव्य मे प्रयुक्त हुए है, जैसे—अधिकाई[६५], करनी[६६],

---

१५ सा २-१३। १६. सा १०-११९। १७ सा २०५८। १८. सा. ३८४४।
१९. सा ३८४९। २०. सा ३८८२। २१ सा. ४-९। २२. सा. ३९५८।
२३ सा २-१६। २४. सा ४६७। २५ सा. ६०१। २६ सा. ६०१।
२७ सा. ७०४। २८ सा ६-६। २९ सा. ३-११। ३०. सा. ६-५।
३१. सा. ४-५। ३२ सा. ३७८९। ३३. सा. ३-११। ३४. सा. ९-१४।
३५. सा. ६०१। ३६ सा ५-२। ३७. सा ७३०। ३८. सा. ६०१।
३९. सा, ९-४९। ४० सा ३-१३। ४१. सा ९०-६८। ४२ सा ३-२।
४३ सा ३७५६। ४४ सा ५-४। ४५ सा ९-५३। ४६ सा ३-१३।
४७ सा ९-६५। ४८ सा ४-१२। ४९ सा ३-१३। ५०. सा. २-२।
५१ सा ७-२। ५२ सा ९-२। ५३ सा २-५। ५४ सा २-१३।
५५. सा ९-६५। ५६ सा ३-३। ५७ सा ३७५६। ५८ सा ९-१४
५९ सा ५-२। ६० सा ३८३९। ६१ सा. ३४१४. ६२ सा ३७३५।
६३. सा. १-३४३। ६४. सा ३८१। ६५. सा. २-७। ६६. सा. ३७५०।

गीधनी[६७], घरी[६८], चातुरी[६९], ज्वानी[७०], घरनी[७१], निठुराई[७२], वसीठी[७३], विनती[७४], वेनी[७५], सत्राई[७६], सहिदानी[७७] आदि। परतु कुछ ईकारात सज्ञा शब्द विकृत रूप मे भी मिलते हैं जिसकी आवश्यकता तुकात अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए कवि को पडी है, जैसे —उपाई(= उपाय)[७८], गुहारी[७९], जरनी[८०] (= जरन = जलन), पतारी[८१] (पताल), पीठी(= पीठ)[८२], मूरी[८३] (= मूर = मूल), सरनी(= सरन)[८४] इत्यादि।

उ.—उकारांत संज्ञा शब्द—सूर-काव्य मे प्राप्त अधिकाश उकारात सज्ञा शब्द ऐसे ही हैं जो व्रजभाषा मे उसी रूप मे प्रचलित हैं, जैसे—अबु[८५], आयसु[८६], नाउ[८७], नाजु[८८], नाहु[८९], फेनु[९०], वेनु[९१], रेनु[९२], सचु[९३], साजु[९४], सिसु[९५] आदि। परतु कुछ विकृत उकारात शब्दो का भी सूरदास ने प्रयोग किया है। इनका मूल रूप प्राय. अकारात होता है, जैसे—काजु[९६], गेहु[९७], तनु[९८], सनेहु[९९], साहु[१] आदि।

ऊ.—ऊकारांत संज्ञा शब्द—ऐसे शब्दो की सख्या सूर-काव्य मे अधिक नही हैं। जो थोड़े-बहुत ऊकारांत शब्द उसमे मिलते है उनमे कुछ अपने शुद्ध व्रजभाषा-रूप मे प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—गऊ[२], चमू[३], दाऊ[४], बटाऊ[५], बारू[६] आदि और कुछ विकृत रूप मे, जैसे—वधू[७], हितू[८] आदि।

ए.—एकारांत संज्ञा शब्द—एकारात सज्ञा शब्दो के सविभक्तिक या बहुवचन रूपो की तो व्रजभाषा मे अधिकता है, परतु दो-चार विभक्तिरहित और एकवचन रूप भी 'सूरसागर' मे मिलते हैं, यद्यपि इनमे विभक्ति के सयोग का आभास होता है; जैसे—

१. चितेरे—वैसे हाल मथत दधि कीन्हे हरि मनु लिखे चितेरे[९]।
२. द्वारे— जा द्वारे पर इच्छा होइ, रानी सहित जाइ नृप सोइ[१०]।

ऐ.—ऐकारांत संज्ञा शब्द—जो वात एकारात शब्दो के सवध मे कही गयी है, वही ऐकारात सज्ञा रूपो के विषय मे भी है, जैसे—

---

६७. सा.२-१४। ६८. सा. ९-६३। ६९. सा ३७५७। ७०. सा. ७-२। ७१. सा. ७-३। ७२. सा. ९-५३। ७३. सा ३७८०। ७४. सा. १-३४२। ७५. सा. २-३। ७६. सा. ४-५। ७७. सा. ९-५३। ७८. सा ६-५। ७९. सा. ३९१। ८०. सा ९-७३। ८१. सा ८-१४। ८२. सा. ३७८०। ८३. सा. २-३२। ८४. सा ९.७३। ८५. लहरी० उ० ३८। ८६. सा. १-३४३। ८७. सा. ६-३। ८८. सा. ८०८.। ८९. सा १०१५। ९०. सा. ४८९ ९१. सा. ३८४। ९२. सा. २-३६.। ९३. सा. २-९। ९४. सा. ८०८। ९५. सा. ७-२। ९६. सा. ४६१। ९७. सा. ३७८५। ९८. सा. ४-१३। ९९. सा ३७८५। १. सा. ११६१। २. सा. ७-७। ३. सा. ३७६१। ४. सा. ७०६। ५. सा. ३७६५। ६. सा. ३८२४। ७. सा. १-२५४। ८. सा. ३८३४। ९. सा. ७१८। १०. सा. ४-१२।

आलै = आलय—जी पै प्रभु करुना के आलै[११] ।
छारै = छार—राम ते विछुरि कमल कटक भए सिंधु भए जल छारै[१२] ।
अरै = अड़—जा कारन तैं सुनि सुत सुदर कीन्ही इती अरै[१३] ।
तनै = तनय—जिहिं लोचन अवलोके नखसिख सुदर नद तनै[१४] ।
जसोवै = यशोदा[१५] ।
देवै = देवकी— वार वार देवै कहै[१६] ।
बिनै = विनय[१७] ।
बिषै = विषय[१८] ।
मलै = मलय—मिली कुब्जा मलै लैकै[१९] ।
हिरदै —नृप सुनिकै हिरदै मैं राखी[२०] ।

ओ ओकारांत सज्ञा शब्द[२१]—सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' के संपादक की, प्राय सभी ओकारात शब्दो को औकारात रूप मे लिखने की, प्रवृत्ति के फलस्वरूप ओकारात सज्ञा शब्दो के उदाहरण उसमे नही मिलते, अन्य 'सूरसागरों' मे इनकी प्रचुरता है, जैसे गारो[२२], गो (= गाय[२३]), प्रहारो[२४], वारो[२५] आदि ।

औ. औकारांत संज्ञा शब्द – व्रजभाषा की ओकारात या औकारात प्रवृत्ति के फलस्वरूप इस प्रकार के शब्दो का सूर-काव्य मे आधिक्य है, जैसे— अचभौ[२६], अँदेसौ[२७], उजियारौ[२८], उरहनौ[२९], खँभारौ[३०], खैरौ[३१], चूनौ[३२], चेरौ[३३], जादौ[३४], ठिकानौ[३५], दौ (= दव[३६]), नातौ[३७], निहोरौ[३८], पछितावौ[३९], बदलौ[४०], बालपनौ[४१], बुढापौ[४२], ब्योरौ[४३], भैंसौ[४४], मतौ[४५], माथौ[४६], रूसनौ[४७], सँदेसौ[४८], सुपनौ[४९], हीयौ[५०] आदि ।

व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ—कुछ व्यक्तिवाचक सज्ञा शब्दो को सूरदास ने एक से अधिक

---

११. सा. ४१५४ । १२. सा. ३७७८ । १३ सा. १०-१९५ ।
१४ सा ३६६६ । १५ सा ३४७ । १६ सा ३०९० । १७ सा ४-१२ ।
१८. सा ७-२ । १९ सा ३१४१ । २० सा ६-७ ।
२१. एटा, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, गुड़गाँव, भरतपुर, धौलपुर, ग्वालियर आदि स्थानों में औकारांत उच्चारण अधिक होता है एव इटावा, फरुखाबाद, बदाऊँ, बरेली आदि मे ओकारात और औकारात, दोनों उच्चारण प्रचलित हैं – लेखक ।
२२. सा. बेनी ३३२ । २३ सा ४७१ , २४ सा बेनी ३३२ । २५. सा वेनी ३३२ ।
२६. सा. २-१३ । २७ सा ३८६२ । २८. सा ४-१३ । २९. सा. ३८४ ।
३०. सा. ३-११ । ३१ सा १०-२१६ । ३२ सा ३७३८ । ३३ सा. १०-२१६ ।
३४. सा. ३-३ । ३५. सा १-४७ । ३६ सा. ४-१२ । ३७ सा ३-१३ ।
३८. सा. ७३१ । ३९ सा ३७४७ । ४० सा ३-५ । ४१. सा ७-२ ।
४२. सा. ३-१३ । ४३ सा ३-१३ । ४४ सा २-१४ । ४५. सा. १-२६९ ।
४६. सा. २-८ । ४७. सा ३८२६ । ४८. सा. ३८५८ । ४९. सा. ३७८८ ।
५०. सा. ४-११ ।

छोटे-बड़े रूप दिये है जिनमे से छद की आवश्यकतानुसार उपयुक्त रूप का प्रयोग किया जा सके; जैसे—

अश्वत्थामा—अस्वत्थामा[51], अस्थामा[52] ।

कृष्ण—कन्हाइ[53], कन्हाई[54], कन्हैया[55], कान्ह[56], कान्हर[57], कान्हा[58], कृष्न[59] ।

दक्ष—दच्छ[60], दछ[61] ।

दु:शासन—दुसासन[62] ।

दुर्योधन—दुरजोधन[63], दुर्जोधन[64], दुर्जोधना[65] ।

यशोदा—जसुदा[66], जसुमति[67], जसोइ[68], जसोद[69], जसोदा[70], जसोमति[71] जसोमती[72], जसोवै[73] ।

लक्ष्मण—लछन[74], लछिमन[75], लषन[76] ।

सीता—सिया[77], सीता[78], सीय[79] ।

कुछ व्यक्तिवाचक सज्ञा शब्दो के लिए सूरदास ने नये नये पर्यायवाचियो का प्रयोग किया है । ऐसे प्रयोगो मे अधिकाश प्रचलित रहे हैं और अन्य कवियो की रचनाओ मे भी वे मिलते हैं, जैसे—

कृष्ण—कुजविहारी[80], गोपीनाथ[81], घनस्याम[82], जदुनाथ[83], जादवपति[84], दामोदर[85], नदनदन[86], बनवारी[87], बसुदेवकुमार[88], ब्रजराज[89], मुरलीधर[90], श्रीपति[91] ।

द्रौपदी—पारथतिय[92], पारथ-धन[93] ।

यशोदा—नदघरनि[94], नद-नारी[95], नदरनियाँ[96] ।

राधा—उदधि-सुता[97], कीरति-सुता[98], वृषभानु-सुता[99], सुता- दधि[1] ।

राम—कमलापति[2], खरारि[3], दसरथ-सुत[4], रघुनाथा[5] ।

---

५१. सा. १-२८९ । ५२. सा. १-२४९ । ५३ सा. ५३२ । ५४. सा. १०-२३२ । ५५. सा. १०-४७ । ५६. सा. १०-२२४ । ५७. सा. १०-२२१ । ५८. सा. १०-२२० । ५९. सा. १-२५६ । ६०. सा. ३-१२ । ६१ सा ४-५ । ६२. सा. १-२४६ । ६३. सा. १-२३९ । ६४. सा. १-२४९ । ६५. सा. १-२३८ । ६६. सा. १०-५७ । ६७. सा. १०-२९ । ६८ सा. १०-५६ । ६९. सा. १०-११९ । ७०. सा. १०-३० । ७१. सा. १०-२८ । ७२. सा. २९०५ । ७३. सा. ३४७ । ७४. सा. ९-५७ । ७५. सा. ९-५६ । ७६. सा. ९-६० । ७७. सा. ९-७० । ७८. सा. ९-५९ । ७९. सा. ९-६० । ८० सा. २६५१ । ८१ १-११३ । ८२. सा. १-७६ । ८३. सा. १-३ । ८४. सा. ४१३२ । ८५. सा. १-१०९ । ८६. सा. ३२६८ । ८७. सा. १-१६० । ८८. सा. ४१६० । ८९. सा. १-२१९ । ९०. सा. ४१२ । ९१. सा. ४१११ । ९२. सा. १-२१ । ९३. सा. १-६६ । ९४. सा. १०-१०९ । ९५. सा. १०-१६७ । ९६. सा. १०-१४५ । ९७. सा. ३२४२ । ९८. सा. ७१४ । ९९ सा. ७२० । १. सा. ३२४१ । २. सा. ९-१२२ । ३. सा. ९-६५ । ४. सा. ९-६९ । ५. सा. ९-६८ ।

रावण— कनकपुरी के राइ[6], दसकंठ[7], दसकंधर[8], दसवदन[9], दसमुख[10], दससिर[11], दसानन[12], निसिचर-कुल-नाथा[13], लंकाधिपति[14], लंकापति[15], लंकेस[16], लंकेस्वर[17]।

शिव—ईश्वर[18], उमापति[19], गौरिकंत[20], गौरीपति[21], त्रिपुरारि[22], भोलानाथ[23], महादेव[24], महेस[25], रुद्र[26], संकर[27], सुरराइ[28]।

सीता—जनकनरेसकुमारि[29], जानकी[30], राघव-नारि[31], वैदेहि[32]।

हनुमान— अंजनि-कुँवर[33], अंजनि की सुत[34], केसरिसुत[35], पवनपुत्र[36], पवनपूत[37], मारुतसुत[38], सीतापति-सेवक[39]।

स्त्री-पुरुषों के लिए जिस प्रकार के पर्यायवाचियों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, स्थान-विशेष के लिए वैसे प्रयोग सूर-काव्य में अधिक नहीं मिलते, केवल 'लंका' के लिए कंचनपुर[40], कनकपुर या कनकपुरि[41], लंकपुर[42], हाटकपुरी[43] आदि का प्रयोग सूरदास ने किया है।

जातिवाचक संज्ञाएँ—सूरदास द्वारा जातिवाचक संज्ञाओं के प्रयोगों के सम्बन्ध में भी दो बातें महत्व की है। पहली बात तो यह है कि अनेक पदों में उन्होंने व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के साथ निश्चित या अनिश्चित बहुसंख्यावाचक विशेषण जोड़कर उनका प्रयोग जातिवाचक संज्ञाओं के समान किया है जैसे—कोटि अनंग,[44] कोटि इंद,[45] कोटि मदन,[46] कोटि ससि,[47] कोटिक सूर[48], द्वै संभु,[49] सत-सत मदन[50] आदि।

दूसरी बात यह है कि चक्र, वज्र आदि संज्ञाएँ जब विष्णु, इंद्र आदि के वर्णन के साथ आती हैं तब इन जातिवाचक शब्दों को सूरदास द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिवाचक रूप समझना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य में 'चक्र' जातिवाचक न होकर व्यक्तिवाचक है, क्योंकि उससे तात्पर्य 'सुदर्शनचक्र' से है—

चक्र काहु चोरायौ कैधौं भुजनि बल भयौ थोर[51]।

---

६. सा. ९-७८। ७ सा ९-१२९। ८ सा ९-६५।
९. सा. ९-१२९। १० सा. १-२१५। ११ सा ९-७७।
१२. सा ९-७७। १३. सा. ९-९६। १४ सा. ९-१२९।
१५. सा. ९-७५। १६. सा ९-१२९। १७ सा ९-८५। १८ सा ४-५।
१९. सा. ९-१५९। २०. सा ९-९६। २१ सा ७६६। २२ सा ७६४।
२३ सा. ४-५। २४ सा ४-५। २५ सा. १०-२। २६ सा. ४-५।
२७ सा. ९-११५। २८ सा १-२२६। २९ सा. ९-६५। ३० सा ९-७६।
३१. सा. ९-७५। ३२. सा. ९-७६। ३३. सा. ९-६३। ३४ सा. ९-६९।
३५ सा ९-७४। ३६ सा ९-६८। ३७. सा. ९-६९। ३८. सा ९-७५।
३९ सा ९-९७ ४० सा ९-८१। ४१ सा ९-७५।
४२ सा ९-१४२। ४३. सा. ९-८९। ४४ सा. ३५३३।
४५. सा. ९५०। ४६ सा. ९०४। ४७ सा २४५३।
४८. सा. ३५१०। ४९. सा. २४६६। ५० सा. २९२६। ५१. सा. १-२५३।

इसी प्रकार 'गीध' शब्द का प्रयोग सामान्य पक्षी के लिए किये जाने पर तो जातिवाचक सज्ञा है , परन्तु 'जटायु' नामधारी पौराणिक पक्षी के लिए जब सूरदास ने 'गीध' लिखा है, तब उसे व्यक्तिवाचक समझना चाहिए, जैसे—

तबहिं निसिचर गयौ छल करि लई सीय चुराइ ।
गीध ताकौं देखि धायौ, लर्‌यौ सूर बनाइ[५२] ।

भाववाचक शब्दों का निर्माण—भाववाचक सज्ञा शब्द प्राय. जातिवाचक सज्ञा, विशेषण और क्रिया शब्दो से बनते है। सूरदास ने भी अधिकाश भाववाचक सज्ञाएँ इन्ही शब्द-भेदो से बनायी हैं , परन्तु उनके काव्य मे कुछ ऐसे भाववाचक शब्द भी मिलते हैं जो सर्वनामो और भाववाचक सज्ञाओ से बना लिये गये हैं। अतएव यह देखना आवश्यक है कि सूरदास ने भावकाचक सज्ञाओ का निर्माण किन-किन नियमो के आधार पर किया है। साधारणत ऐसे शब्द ता, त्वा, पन आदि प्रत्यय जोडकर बनाये जाते हैं। सूरदास ने भी इनके योग से अनेक भाववाचक सज्ञाएँ बनायी है—

क. सज्ञा और विशेषण से निर्माण—

अ. 'ता' प्रत्यय के योग से—ईस्वरता,[५३] चचलता,[५४] जडता,[५५] तद्रूपता[५६] दीनता,[५७] पूर्नता,[५८] बछलता,[५९] भीरुता,[६०] ममता,[६१] मित्रता,[६२] मीनता,[६३] सिवता,[६४] सैसवता[६५] ।

आ. 'त्व' प्रत्यय के योग से—प्रभुत्व[६६] ।
इ 'पन', 'पनु' या 'पनौ' प्रत्यय के योग से—छत्रपन,[६७] बालपन,[६८] लोहपनौ[६९] ।

उक्त तीनो प्रकारो से भाववाचक सज्ञाओ का निर्माण करने के अतिरिक्त सूरदास ने अन्य कई रीतियाँ इस कार्य के लिए अपनायी हैं, जिनमे निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. 'आई' प्रत्यय जोडकर—यह प्रत्यय प्राय मूल शब्द अथवा उसके किंचित परिवर्तित रूप मे जोडा गया है , जैसे—अधमाई,[७०] कुसलाई,[७१] गरुआई[७२] चतुराई,[७३] चेराई,[७४] तरुनाई,[७५] नगराई,[७६] निठुराई,[७७] मित्राई,[७८] लँगराई,[७९] सत्राई,[८०] सुघराई[८१] ।

---

५२. सा ९-६० । ५३. सा. १-२९० । ५४ सा. २५५२ । ५५. सा. ४२९३ । ५६. सा ४२१३ । ५७ सा. २-१८ । ५८. सा १-२१५ । ५९. सा. ४३०६ । ६०. सा. ४२१३ । ६१. सा. १-५१ । ६२. सा. ८-८ । ६३. सा. ३५७२ । ६४. सा. ३-१३ । ६५ सा. ३२२८ । ६६. सा. ७-२ । ६७. सा. १-२६९ । ६८. स . ७-२ । ६९ सा. ४३०२ । ७०. सा १-१८७ । ७१. सा. १४३९ । ७२. सा. २५३९ । ७३. सा १९५३ । ७४. सा. १४१८ । ७५. सा. १-३२९ । ७६. सा. १३३९ । ७७ सा ९-५३ । ७८. सा १-३ । ७९. सा. २२८९ । ८०. सा. ४-५ । ८१. सा. २७१८ ।

आ. शब्दात मे 'अई' या 'ई' जोडकर, जैसे—अधमई,[८२] चतुरई,[८३] निठुरई,[८४] बढ़ई,[८५] मित्रई,[८६] रसिकई,[८७] लँगरई[८८], सुदरई[८९] ।

इ. 'आत' प्रत्यय जोडकर, जैसे—कुसलात[९०] । यह शब्द 'कुशलता' का विकृत रूप भी हो सकता है । ऐसे शब्द अधिक नही मिलते ।

ई 'औरी' प्रत्यय जोडकर, जैसे—ठग+औरी=ठगौरी[९१] । ऐसे शब्द भी कम ही मिलते हैं ।

उ. शब्दो के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और अत मे 'आई' प्रत्यय जोडकर, जैसे—ठाकुर, धूत, राजा से ठकुराई[९२], धुताई,[९३] रजाई[९४] आदि ।

ऊ शब्दात के दीर्घाक्षर को लघु करके अथवा यदि वह लघु ही हो तो उसी के साथ 'प' प्रत्यय, जो 'पन' का लघु रूप जान पडता है, जोडकर, जैसे—सयानप[९५] ।

ए शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और 'आइत' या 'आयत' प्रत्यय जोड कर, जैसे—ठाकुर+आइत या आयत=ठकुराइत[९६] या ठकुरायत[९७] । ऐसे शब्द भी सूर-काव्य मे अधिक नही हैं ।

ऐ शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और शब्दात मे 'ई' जोडकर, जैसे—दूबर से दुबराई[९८] ।

ओ शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके अत मे 'आन' जोडकर, जैसे—ढीठ से ढिठान[९९] ।

औ शब्द के प्रथम लघु अक्षर को दीर्घ करके और शब्दात मे 'ई' जोडकर, जैसे—मधुर से माधुरी[१] ।

सयानप, ठकुरायत आदि शब्दो की तरह दो-दो एक-एक उदाहरणो के आधार पर यो तो कुछ और नियम भी बनाये जा सकते है, परन्तु भाववाचक शब्दो के निर्माण के विषय मे सूरदास की मनोवृति का परिचय पाने के लिए उक्त नियम ही पर्याप्त हैं । जिन शब्दो से भाववाचक सज्ञा-रूप बनाने के लिए उक्त रीतियो को सूरदास ने अपनाया है वे प्रधानत जातिवाचक सज्ञा और गुणवाचक विशेषण ही हैं ।

ख क्रिया शब्दों से निर्माण—क्रिया शब्दो से भाववाचक रूपो का निर्माण करने के लिए सूरदास ने साधारणत जिन नियमो का सहारा लिया है, उनमे मुख्य ये हैं—

---

८२ सा १-१९७ । ८३ सा ३३६३ । ८४. सा १९२६ ।
८५ सा १-३ । ८६ सा ४२४१ । ८७ सा. २५४१ ।
८८. सा. ३४४ । ८९ सा २५२६ । ९० सा ३७४८ । ९१. सा १-१८७ ।
९२. सा. ४१९५ । ९३ सा ९२३ । ९४ सा १३०८ । ९५. सा ८-१४ ।
९६. सा. ३६८७ । ९७ सा. १-१८ । ९८ सा ३७६४ । ९९. सा. ९-१३४ ।
१. सा. ३०२६ ।

अ. क्रिया के मूल धातु-रूप का ही भाववाचक सज्ञा की तरह सूरदास ने कभी-कभी प्रयोग किया है ; जैसे—कीर = क्रीड़ = क्रीडा,[२] खोज,[३] छाप[४] ।

आ. मूल धातु रूप मे 'आउ' या 'आऊ' प्रत्यय या इसके परिवर्तित रूप 'आव' या 'आवा' के सयोग से, जैसे—दुराउ[५] ।

इ. मूल धातु रूप मे 'आन' प्रत्यय जोडकर, जैसे—सधान[६] ।

ई. मूल धातु रूप मे 'नि' या 'नी' प्रत्यय जोडकर, जैसे–करनी,[७] जपनी[८], जियनि,[९] तपनी,[१०] विछुरनि,[११] लरखरनि[१२] ।

उ मूल धातु रूप मे 'आई' प्रत्यय जोडकर, जैसे—उतराई[१३], दुराई[१४], लराई[१५] ।

ऊ मूल धाघु रूप मे 'वानी' प्रत्यय जोडकर, जैसे—रखवानी[१६] ।

ए. मूल धातु रूप मे 'आर' प्रत्यय जोडकर, जैसे—जगार[१७] ।

ग. सर्वनामो से रूप-निर्माण—सज्ञा (जातिवाचक), विशेषण और क्रिया शब्दो के अतिरिक्त कुछ सर्वनामो से भी सूरदास ने भाववाचक सज्ञाएँ वनायी है ; यद्यपि इनकी संख्या अधिक नही है। इनके निर्माण मे मुख्यत निम्नलिखित नियमो का सहारा लिया गया है।

अ. 'ता' प्रत्यय के संयोग से, जैसे—ममता[१८] (मम = 'अस्मद' की षष्ठी विभक्ति का एकवचन रूप), हमता [१९] आदि ।

आ. 'त्व' प्रत्यय के सयोग से, जैसे—ममत्व[२०] ।

इ. कुछ सार्वनामिक विशेषण-रूपो के प्रथम दीर्घाक्षर को लघु करके और 'पउ' या 'पौ' प्रत्यय के सयोग से, जैसे—अपुनपौ[२१] (आपन < अपन + पौ) ।

घ. भाववाचक संज्ञाओं से पुनः निर्माण – सूरदास ने कुछ ऐसे रूपो का भी प्रयोग किया है जो वस्तुत भाववाचक सज्ञाओ से ही विभिन्न प्रत्ययो के संयोग से पुनः निर्मित हुए हैं। विशेषण और जातिवाचक सज्ञा शब्दो के भाववाचक-रूप उन्होने जिन नियमो के आधार पर वनाये है, उन्ही मे से कुछ का प्रयोग इन विचित्र भाववाचक रूपो के लिए भी किया गया है—

अ. 'आई' प्रत्यात रूप, जैसे—सरनाई[२२] ।

आ 'ई' प्रत्यांत-रूप, जैसे—आतुरताई[२३], चंचलताई[२४], जड़ताई[२५], दृढताई[२६], नागरताई[२७], निठुरताई[२८], प्रभुताई[२९], सिद्धताई[३०], सीतलताई[३१], सुंदरताई[३२], स्यामताई[३३] आदि ।

---

२. सा. १७५२ । ३. सा. ८५४ । ४. सा. १६१८ । ५. सा. २५२८ ।
६. सा. १-९७ । ७. सा १-४ । ८. सा. २०९२ । ९. सा. २५९८ ।
१०. सा. २०९२ । ११ सा ३७३९ । १२ सा. १०-१०९ । १३. सा ९-४० ।
१४. सा. ९-१४ । १५. सा ८-८ । १६. सा. १३९८ । १७. सा. २३०० ।
१८. सा. १-५१ । १९. सा. १-११ । २०. सा. ५-२ । २१. सा. २-२६ ।
२२. सा. ९. १४७ । २३. सा. १०९९ । २४. सा. ११३८ । २५ सा. १-१८७ ।
२६. सा. २३२६ । २७. सा २८२६ । २८. सा. १३६३ । २९. सा १-१९५ ।
३०. सा. ३७६१ । ३१. सा. ३७५१ । ३२. सा. १८३२ । ३३. सा. २८२६ ।

ई शब्द के प्रथम दीर्घाक्षर को लघु करके और 'आई' प्रत्यय जोडकर, जैसे—'पूजा' से पुजाई [३४]।

ई 'हाई' प्रत्यय के सयोग से, जैसे—रिसहाई[३५],

इनके अतिरिक्त घटताई[३६], चातुरताई[३७], ससिताई[३८] आदि स्वनिर्मित भाववाचक सज्ञाओ से पुन वैसे ही नये रूप उन्होने गढ लिये हैं जिनकी सख्या अधिक नही है। इस प्रकार के शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते है और गद्य मे उनका प्रयोग वर्जित है, परतु भ्रमोत्पादक न होने के कारण ऐसे प्रयोगो को कवि स्वातत्र्य के अतर्गत ही मान लेना चाहिए।

शब्दों के लिंग और सूर के प्रयोग—

पुल्लिग शब्दो से स्त्रीलिग रूप बनाने के लिए सूरदास ने जिन-जिन नियमो का सहारा लिया है, उनमे से निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. अकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अतिम 'अ' का 'इनि' या 'इनी मे परिवर्तन करके, जैसे—अस्व-अस्विनी[३९], गीध-गीधिनी[४०], भिल्ल-भिल्लिनि[४१], भुजग-भुजगिनि[४२], मृग-मृगिनी[४३], रँगरेज-रँगरेजिनी[४४], रसिक-रसिकिनी[४५], सुहाग-सुहागिनि[४६], सेवक सेवकिनी[४७] आदि।

आ अकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अतिम 'अ' को दीर्घ करके, जैसे—तनय-तनया[४८], नवल-नवला[४९], प्रिय-प्रिया[५०], स्याम-स्यामा[५१], आदि।

इ अकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अतिम 'अ' को 'इ' या 'ई' मे परिवर्तित करके—जैसे—अहीर-अहीरी[५२], किसोर किसोरी[५३], तरुन-तरुनि[५४], पन्नग-पन्नगी[५५], भ्रमर-भ्रमरी[५६], मृग-मृगी[५७], सहचर-सहचरी[५८] आदि।

ई अकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अतिम 'अ' को 'आनि' या 'आनी मे परिवर्तित करके, जैसे—इद्र-इद्रानी[५९]।

उ अकारात और इकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अत मे अतिरिक्त 'नि' या 'नी' जोडकर, जसे—अहि-अहिनी[६०], घर-घरनि[६१]।

ऊ आकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अतिम आ का 'इ' या 'ई' मे परिवर्तन करके, जैसे—चेरा-चेरी[६२], सयाना-सयानी[६३] आदि।

---

३४. सा. ८१८। ३५ सा २७१८। ३६ सा. १८५८। ३७ सा. २८२६।
३८. सा. २४३६। ३९. सा ९-३। ४०. सा २-१४ ४१. सा. १-२५।
४२ सा २-३२। ४३ सा १-२२१। ४४. सा २४८५। ४५ सा २४५९।
४६. सा ९-४४। ४७ सा ३०९०। ४८ सा. १ २७। ४९ सा १८५९।
५० सा १-६५। ५१ सा १-८७। ५२ सा १९३१।
५३ सा. १९३१। ५४ सा. १८१५। ५५. सा २६४८।
५६. सा २३१५। ५७ सा. १-२५१। ५८ सा २५२७। ५९ सा ७-७।
६०. सा. १८१४। ६१. सा १०-१०९। ६२. सा १-१६५। ६३. सा. २८०२।

ए. आकारात पुल्लिग सज्ञाओ के अंतिम 'आ' को 'इनि' या 'इनी' से परिवर्तित करके, जैसे—लरिका-लरिकिनी[६४]।

ऐ. ईकारात पुल्लिग संज्ञाओ के अंतिम 'ई' को लघु करके और शब्दान्त मे 'नि' या 'नी' जोडकर, अथवा शब्दात की 'ई' को 'इनि' या 'इनी' से परिवर्तित करके, जैसे—अधिकारी-अधिकारिनि[६५], अपरावी-अपराधिनि[६६], गेही-गेहिनी[६७], पापी-पापिनि[६८], बिलासी-बिलासिनि[६९], साहसी-साहसिनी[७०], सनेही-सनेहिनी[७१], स्वामी-स्वामिनि[७२] या स्वामिनी[७३], लोभी-लोभिनी[७४]।

ओ. दो लघु अकारात अक्षरो से बने पुल्लिग संज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर को दीर्घ करके और द्वितीय के 'अ' को 'इ' या 'ई' से परिवर्तित करके, जैसे—नर-नारि[७५] या नारी[७६]।

औ. दो से अधिक अक्षर वाले शब्द के प्रथम आकारात अक्षर को लघु करके और अत मे 'आइनि' या 'आनी' जोडकर, जैसे—ठाकुर-ठकुराइनि[७७] या ठकुरानी[७८]।

नियमों के अपवाद—पुल्लिग से स्त्रीलिंग सज्ञा शब्द बनाने के लिए सूरदास ने जिन-जिन नियमो का सहारा लिया है, उनमे से मुख्य-मुख्य ऊपर दिये गये हैं। उनके काव्य का ध्यान से अध्ययन करने पर अनेक ऐसे प्रयोग भी मिल जाते है, जैसे—दूत-दूतिका[७९], बग-बगुली[८०], जिन पर उक्त नियम लागू नही होते। ऐसे प्रयोगो के लिए स्वतत्र नियम बनाने की आवश्यकता नही जान पडती; क्योकि ऐसे स्फुट उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

लिंग-संबंधी विशेष प्रयोग—प्राणिवाचक संज्ञा शब्दो के लिंग-भेद का पता लगाने मे तो कदाचित् कभी कठिनाई नही होती, परतु अप्राणिवाचक शब्दो के लिंग का निर्णय, भाषा का ज्ञान न रखनेवाले के लिए, कभी-कभी समस्या बन जाता है। ऐसी स्थिति मे सबधित सामान्य और सार्वनामिक विशेषण, सबधकारकीय विभक्ति और क्रिया-प्रयोग से सहायता मिल सकती है। सूर-काव्य मे कुछ ऐसे अप्राणिवाचक सज्ञा रूप भी मिलते है जो पुल्लिग शब्दो मे लघुता-द्योतक प्रत्यय लगा कर स्त्रीलिंगवाची बना लिये गये हैं, जैसे—धनु-धनुही[८१] या धमुहियाँ[८२], लकुटी-लुकुटिया[८३]। इसी प्रकार सुदरता, सुकुमारता या लघुता की दृष्टि से कुछ अप्राणिवाचक स्त्रीलिंग शब्दो को पुन अल्पार्थक बनाने का भी प्रयत्न कभी-कभी सूरदास ने किया है, जैसे—पनही-पनहियाँ[८४]।

लिंग-निर्णय में स्वतंत्रता—कुछ शब्दो के लिंग-निर्णय मे सूरदास ने स्वतत्रता से भी

---

६४. सा. ६७२। ६५. सा. १३४३। ६६. सा. २८२६। ६७. सा. ३१७९। ६८. सा. १-५३। ६९. सा. २८२६। ७० सा. १३४०। ७१. सा. १९६३। ७२. सा. ९-१५२। ७३. सा. २६६६। ७४. सा. २४०७। ७५. सा. २२-९। ७६. सा. १-१५८। ७७. सा. ४०९४। ७८. सा ४२९१। ७९. सा. २४२३। ८०. सा. २-१४। ८१. सा. ९-२०। ८२. सा. ९-१९। ८३. सा. ८-१५। ८४. सा. ९-१९।

काम लिना है, जैसे—पुंल्लिग शब्द 'धीर' का उन्होने स्त्रीलिंग रूप मे भी प्रयोग कर दिया है, जैसे—भीर के परे तैं धीर सर्वाहिन तजी[८५]। परतु ऐसे प्रयोग उनके काव्य मे अधिक नही हैं और जहाँ हैं भी, वहाँ तुक-निर्वाह के लिए इनको स्वीकार किया गया है।

वचन और सूर के प्रयोग—

कभी-कभी आदर सूचित करने के लिए सूरदास ने एकवचन सज्ञा रूप का प्रयोग बहुवचन के समान किया है, जैसे—

१. अक्रूर—जवही रथ अक्रूर चढे[८६]।
२ ऊधौ—आए हैं ब्रज के हित ऊधौ[८७]। ऊधौ जोग सिखावन आए[८८]।
३. जज्ञपुरुष—जज्ञपुरुष प्रसन्न तब भए[८९]।
४ द्विज वामन—द्वारे ठाढे हैं द्विज वामन[९०]।
५ ध्रुव—ध्रुव खेलत खेलत तहँ आए[९१]।
६. पाँड़े—आए जोग सिखावन पाँड़े[९२]।
७. प्रभु—सूरदास प्रभु वै अति खोटे[९३]।
८. मनमोहन—री वै मनमोहन ठाढे ब्रजनायक सुनि सजनी[९४]।
९. सुफलक-सुत—प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत लै मधुपुरहिं सिधारे[९५]।
१०. हरि—हरि बैकुठ सिधारे[९६]।
११. हिरनकसिप—हिरनकसिप निज भवन सिधाए[९७]।

अनेक स्थलो पर शब्द के एकवचन रूप के पूर्व निश्चित या अनिश्चित संख्यावचक विशेषणो का प्रयोग करके सूरदास ने उनका बहुवचन की तरह प्रयोग किया है, जैसे—

१. असुर—असुर द्वै हुते बलवंत भारी[९८]।
२ आभरन—पहिरि सब आभरन राज लागे करन[९९]।
३. उद्यम—मरन भूलि, जीवन थिर जान्यौ, बहु उद्यम जिय धार्‌यौ[१]।
४. कला—ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै लोभ न छूटत नट कौं[२]।
५. चरित—सूर प्रभु चरित अगनित, न गनि जाहिं[३]।
६. जज्ञ—निन्यानबे जज्ञ जब किये[४]।
७. जन्म—बहुत जन्म इहिं बहु भ्रम कीन्ह्यौ[५]।
८. जिय—अपनो पिंड पोषिबे कारन कोटि सहस जिय मारे[६]।

---

८५. सा- १-५। ८६ सा २९९२। ८७. सा. ३५९०।
८८. सा. ३६०१। ८९. सा ४-५। ९०. सा ८-१३।
९१ सा४-९। ९२ सा ३६०४। ९३ सा २९०१।
९४ सा. २८००। ९५ सा ३५९४। ९६ सा १-२९०। ९७ सा ७-२।
९८. सा. ८-११। ९९. सा. ४-११। १ सा. १-३३६। २ सा १-२९२।
३. सा. ४-११। ४. सा ८-१२। ५. सा. ४-१२। ६. सा. १-३३४।

९. जीव—तहाँ जीव नाना सहरै[७] ।
१०. जुग—जनमत-मरत बहुत जुग बीते[८] ।
११. जोनि—चौरासी लख जोनि स्वाँग धरि भ्रमि भ्रमि जमहिं हँसावै[९] ।
११. तपसी—बहुतक तपसी पचि पचि मुए[१०] ।
१३. तीरथ—कौन कौन तीरथ फिरि आए[११] ।
१४. दुख—इनि तव राज बहुत दुख पाए[१२] ।
१५. द्वार—सुरति के दस द्वार रूँधे[१३] ।
१६. द्वीप—सातौ द्वीप राज ध्रुव कियौ[१४] ।
१७. पदारथ—चारि पदारथ के प्रभु दाता[१५] ।
१८. पुत्र—इनके पुत्र एक सौ मुए[१६] ।
१९. वृत्तांत—नृप कौ सब वृत्तांत सुनाए[१७] ।
२०. सती—सती कह्यौ, मम भगिनी सात[१८] ।

बहुवचन बनाने के नियम—अवधी मे तो प्राय कारक-चिह्न लगने पर ही वचन-रूप-परिवर्तन की आवश्यकता होती है, परतु व्रजभाषा मे प्राय. सभी स्थितियो में एक वचनात्मक शब्दो के बहुवचन रूप बनाये जाते हैं। सूरदास ने इस कार्य के लिए जिन-जिन नियमो का सहारा लिया है, उनमे से मुख्य इस प्रकार हैं—

अ. अकारात स्त्रीलिंग शब्द का अंत्य स्वर ऍ या ऐं से परिवर्तित करके, जैसे—कुंज या-कुजैं[१९], छाक-छाकैं (घर घर तैं छाकैं चली)[२०], बात-बातैं[२१], सेज सेजैं[२२] ।

आ अकारात या इकारात एकवचन शब्दो के अत मे 'नि' जोडकर । व्रजभाषा मे 'नि' कारक-चिह्न भी है, अतएव सभी 'नि'-अत शब्द बहुवचन नहीं होते । प्राय: ऐसे शब्दो के साथ स्वतत्र विभक्तिचिह्न भी प्रयुक्त हुआ है । जिन शब्दो मे कवि ने 'नि' बहुवचन बनाने के लिए जोड़ा है, उनके कुछ उदाहरण, पूरी पक्ति के रूप मे, यहाँ उद्धृत हैं जिससे स्पष्ट हो जाय कि इनका 'नि' कारकीय चिह्न नही है—

१. ग्वालनि—टेरत कान्ह गए ग्वालनि कौं स्रवन परी धुनि आई[२३] ।
२. नरनि—बिन तुम्हारी कृपा गति नही नरनि की, जानि मोहिं आपनौ कृपा कीजै[२४] ।
३. नैननि—नैननि सौं झगरौ करिहौं री[२५] ।
४. बिमाननि—देखत मुदित चरित्र सबै सुर व्योम बिमाननि भीर[२६] ।

---

७. सा. ४-१२ । ८. सा. १-३१७ । ९. सा. २-१३ ।
१०. सा. ४-९ । ११. सा. १-२८४ । १२. सा. १-२८४ ।
१३. सा. १-३१६ । १४. सा. ४-९ । १५ सा. २-१६ । १६. सा. १-२८४ ।
१७. सा. १-२८४ । १८. सा. ४-५ । १९. सा. ४०६८ । २०. सा. ४९२ ।
२१. सा. ४४११ । २२ सा. ३८४७ । २३. सा. १९५९ ।
२४. सा. ८-१६ । २५. सा. २३१९ । २६. सा. ९-२६ ।

५. भिल्लनि—तहँ भिल्लनि सौं भई लराई[२७]।
६. रिपिनि—तहाँ रिपिनि कौ दरसन पायौ[२८]।
७. सुरनि—सुरनि कौं अमृत दीन्ह्यौ पियाई[२९]।

इ कुछ अकारात और इकारात एक-वचन शब्दो के अत मे 'न' जोडकर[३०]; जैसे—गाँव-गाँवन[३१], ग्वाल-ग्वालन[३२], नारि-नारिन[३३], वालक-वालकन[३४], सेनापति-सेनापतिन[३५]।

ई कुछ आकारात और ईकारात शब्दो के अन्त मे 'न' या 'नि' जोडने के पहले अत्य दीर्घ स्वर को लघु करके[३६], जैसे—अवला-अवलनि[३७], गैया-गैयनि[३८], जुवती-जुवतिनि[३९], व्रजबासी-व्रजवासिनि[४०], युवती-युवतिनि[४१], लरिका-लरिकनि[४२]।

उ. कुछ आकारात शब्दो के अतिम आ को ए से परिवर्तित करके, जैसे—चेरा-चेरे[४३], तारा-तारे[४४], नाता-नाते[४५] आदि।

ऊ कुछ इकारात सज्ञाओ के अत मे 'याँ' जोडकर, जैसे—अलि-अलियाँ[४६]।

ए कुछ ईकारात सज्ञाओ के अत्य स्वर को ह्रस्व करके और 'या' जोडकर, जैसे—अँगुरी-अँगुरियाँ[४७], कली-कलियाँ[४८], गली-गलियाँ[४९], रँगरली-रँगरलियाँ[५०]।

ऐ. कुछ शब्दो मे केवल अनुस्वार या चद्रविंदु लगाकर ही सूरदास ने बहुवचन रूप बना लिये हैं, जैसे—चिरिया-चिरियाँ[५१], जुवती-जुवतीं[५२], तरुनी-तरुनीं[५३], बहुरिया-बहुरियाँ[५४] आदि। कभी-कभी एकवचन सज्ञा शब्द को तो मूल रूप मे ही सूरदास ने रहने दिया है, परतु क्रिया शब्द को अनुस्वार या चद्रविंदु जोडकर बहुवचन बना लिया है, जैसे—जल भीतर सब गईं कुमारी[५५]। तीर आइ जुवती भईं ठाढी[५६]। इतनौ कष्टं करैं सुकुमारी[५७]।

कही कही एकवचन सज्ञा शब्द के साथ केवल आदर सूचित करने के लिए अनुस्वार या चद्रविंदुयुक्त बहुवचन क्रिया का प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—यह देखति हँसि उठीं जसोदा[५८]।

---

२७. सा. १-२८६। २८ सा १-२२८। २९ सा ८-८।
३०. 'सभा' के 'सूरसागर' में इस प्रकार के प्रयोग कम ह, क्योकि 'न' का काम उसके संपादक ने प्रायः 'नि' से लिया है—लेखक।
३१. सा ८-१३। ३२ सा. बेनी. १०-२३७। ३३. सा २८५१। ३४. सा. ३२१६। ३५ सा बेनी १०-५१। ३६ सा. २३९६। ३७. सा. २४७९। ३८ सा २-२९। ३९ सा २६२०। ४० सा ७९९। ४१. सा २६२०। ४२ सा. २६२०। ४३. सा २६२०।
४४. 'न' और 'नि' के साथ साथ कुछ कवियों ने 'न्ह' और 'न्हि' का प्रयोग भी किया है। 'सभा' के 'सूरसागर' में ऐसे उदाहरण भी नहीं है—लेखक।
४५ सा ३५९७। ४६ सा ६८०। ४७. सा ९-२५। ४८ सा २९६९। ४९ सा बेनी १०९८। ५० सा २९६९। ५१. सा. २५१४। ५२ सा ७९९। ५३ सा ७९३। ५४ सा ७९९। ५५. सा. ७९९। ५६. सा. ७९९। ५७. सा ७९९। ५८. सा ७९९।

ओ. कुछ एकवचन शब्दो के साथ अनी, अवलि या अवली, गन (=गण), जन, जाति, निकर, पुज, वृ द, सकुल, समाज, समूह आदि जोडकर उन्होने बहुवचन रूप बनाये हैं, जैसे—

१. अनी—सुर नर असुर-अनी[५९] ।
२. अवलि, अवली—मुक्तावलि[६०], रोमावलि[६१] ।
३. कदंब—दुख-कदब[६२] ।
४. गन—अमर मुनिगन[६३], किरनिगन[६४], जाचकगन[६५], द्विजगन[६६], मुकुतागन[६७] ।
५. ग्राम—गुन-ग्राम[६८] ।
६. जन—कविजन[६९], गुनीजन[७०], गोपीजन[७१], बदीजन[७२], द्विज-गुरु-जन [७३] ।
७. जाल, जाला—कमल-जाल[७४], जजाल-जाल[७५], दधि-बिंदु-जाल[७६], नग-जाला[७७], बनिता-जाल[७८], सखी-जाल[७९], सर-जाल[८०], सुक-जाल[८१] ।
८. जूथ—मृग-जूथ[८२] ।
९. निकर—खग-निकर[८३], नारि-निकर[८४] ।
१०. पुंज—कुज-पुज[८५], सिसु-पुज[८६] ।
११. प्रपुंज—प्रपुज- चचरीक[८७] ।
१२. वृंद—कुमुद-बृंद[८८], जुवति-बृंद[८९], सुरभी-बृंद[९०], सुत-बृंद[९१] ।
१३. माल, माला—असु-माल[९२], अलि-माल[९३], भृंग-माल[९४], मृग-माला[९५] ।
४१. लोग—तपसी-लोग[९६], बटाऊ-लोग[९७] ।
१५. समूह—समूह-तारे[९८] ।
१६. स्रेनी—सुक-स्रेनी[९९] ।

सूरदास के वचन-सबधी प्रयोगो के विषय मे एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि उन्होने कपोल, कुच, केस, चरन, चिकुर, दाँत (दँतियाँ) दपति, नैन, पाई, पौरुष प्रान, लोग, समाचार आदि शब्दो और उनके पर्यायवाचियो का प्रयोग प्रायः बहुवचन मे ही किया है; जैसे —

---

५९. सा. २-२८ । ६०. सा. २४४६ । ६१. सा. २६१० । ६२. १०-२०५ ।
६३. सा. ९-१७२ । ६४. सा. १३८२ । ६५. सा १०-३१ । ६६. सा. ९-१६९ ।
६७. सा. १८३२ । ६८. सा. ९-१७० । ६९ सा ३५७२ । ७०. सा. ४-११ ।
७१. सा. १-१२१ । ७२ सा. १०-१४ । ७३ सा. १०-२४ । ७४. सा. ६१९ ।
७५. सा. १०-२०५ । ७६. सा. १०-२७५ । ७७. सा ६२५ । ७८. सा १०५० ।
७९. सा. २८५८ । ८० सा १-२७८ । ८१. सा. ६२७ । ८२. सा. ६२० ।
८३. सा. १०-२०५ । ८४. सा. ६२५ । ८५. सा. १०-३४ । ८६. सा. १३८० ।
८७. सा. १०-२०५ । ८८. सा० १०-२०२ । ८९. सा. २०२३ । ९०. सा. ३८४ ।
९१. सा. १०-२०५ । ९२. सा. ६१९ । ९३. सा. १२१६ । ९४. १२१२ ।
९५. सा. २९४४ । ९६. सा ९-१७४ । ९७. सा. ३७६५ । ९८. सा. १०-२०५ ।
९९. सा. १०४९ ।

कपोल—सुन्दर चारु कपोल विराजत[1]।
कुच—कचुकी भूषन कवच सजि कुच कसे रनवीर[2]।
केस—कछुक कुटिल कमनीय सघन अति गोरज मडित केस[3]।
चरन—आजु देखौं वै चरन[4]।
चिकुर—स्याम चिकुर भए सेत[5]।
थनु—आनँद मगन घेनु स्रवैं थनु[6]।
दँतियाँ—हरषित देखि दूध की दँतियाँ[7]।
दंपति—दंपति बात कहत आपुस मैं[8]।
नैन—अति रस लपट नैन भए[9]।
पाँइँ—प्रथम भरत बैठाइ बधु कौ, यह कहि पाँइँ परे[10]।
पौरुष—जिह्वा रोम रोम प्रति नाही, पौरुष गनौं तुम्हारे[11]।
प्रान—हरि के देखत तजैं परान (प्रान)[12]। स्याम गऐं सखि प्रान रहेंगे[13]।
लोग—व्याकुल भए ब्रज के लोग[14]। सब खोटे मधुबन के लोग[15]।
समाचार—पूछे समाचार सति भाए[16]।

यदि उक्त शब्दो अथवा इसी प्रकार के अन्य शब्दो का प्रयोग कवि को एकवचन मे कभी करना होता है तो तद्विषयक कोई सकेत उसने अवश्य कर दिया है, जैसे—बाम-अँखिया फरकि रही[17]। अपनी गरज कौ तुम एक पाँइ नाचे[18]।

सहचर शब्दों के वचन—जो सहचर शब्द साधारणत एकवचन रूप मे होते हैं, उनका प्रयोग सूरदास ने दोनो वचनो मे किया है। कुछ सहचर शब्दो के एकवचन प्रयोग यहाँ दिये जाते हैं—

छेम-कुसल—छेम-कुसल अरु दीनता दडवत सुनाई[19]।
धन-धाम—सोइ धन-धाम नाम सोइ कुल सोइ जिंहि बिढ्यौ[20]।
मैं-मेरी—मैं-मेरी अब रही न मेरैं, छुट्यौ देह अभिमान[21]।
राज-पाट—राज-पाट सिंहासन बैठौ नील पदुम हूँ सौं कहै थोरी[22]।
सर-अवसर—नृप सिसुपाल महा पद पायौ सर-अवसर नहिं जान्यौ[23]।

परन्तु कुछ स्थलो पर एकवचन शब्दो के सयुक्त सहचर रूपो का सूरदास ने बहुवचन मे भी प्रयोग किया है, जैसे—

---

१. सा. ४७३। २ सा. २४४९। ३. सा ४७८। ४. सा. २९४८।
५. सा. १ ३२२। ६ सा. १०-३०। ७ सा १०-८२। ८. सा. ५१९।
९. सा. २३७५। १०. सा. ९-१७१। ११ सा ९-१४७। १२. सा १.२८०
१३. सा. २९६४। १४. सा. २९५८। १५. सा. ३५९०। १६. स १.२८४।
१७. सा २७८७। १८. सा. २५४९। १९ सा १.२३८। २० सा. १.२९८।
२१. सा. २-३३। २२. सा. १-३०२। २३. सा. १-१५८।

असन-बसन—असन-बसन बहु विधि चाहे[२४]।

खान-पान—तब घौ कौन साथ रहि तेरैं खान-पान पहुँचाए[२५]।

ग्रह-नछत्र— ग्रह-नछत्र सबही फिरैं[२६]।

थावर-जंगम—थावर-जंगम सुर असुर रचे सबै मैं आइ[२७]।

द्रुम-तृन—ज्यौ सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिरचौ[२८]।

भाई-बंधु—भाई-बंधु कुटुंब सहोदर, सब मिलि यहै बिचारचौ[२९]

सम-दम—सम-दम उनही सग सिधारे[३०]।

वचन-संबंधी खटकनेवाले कुछ प्रयोग—व्याकरण की दृष्टि से वचन-सबधी बहुत कम भूलें कवियों ने की है। सूर-काव्य मे भी बहुत खोजने पर ही एकाध भूल दिखायी पड़ सकती है। हाँ, दो-एक पक्तियो मे बहुवचन में ही प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्दो के साथ दो या अधिक सख्यासूचक शब्द का अनावश्यक प्रयोग अवश्य किया गया है; जैसे—जुगल जघनि[३१]। उमँगे दोउ नैना[३२]। दोऊ नैन[३३]।

इसी प्रकार किसी शब्द के बहुवचन रूप के साथ पुन समूहवाचक शब्द का योग—जैसे मधुपनि की माल[३४]—भी दोष-युक्त है। कुछ प्रयोगो के साथ समूहवाचक दोहरे शब्दो का भी प्रयोग उन्होने किया है जो खटकता है, जैसे—मुनि-जन-गन[३५]

संज्ञाओं के कारकीय प्रयोग—

रूप-रचना की दृष्टि से सूर-काव्य मे प्रयुक्त संज्ञा शब्दो को दो वर्गो मे रखा जा सकता है—मूल रूप और विकृत रूप। दोनो लिगो और दोनो वचनो के आधार पर इनकी संख्या आठ हो जाती है। इन आठो रूपो का प्रयोग सभी कारको मे समान रूप से सूरदास ने नही किया है। अतएव प्रत्येक कारक के अतर्गत केवल प्रमुख रूपो के ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

हिंदी मे आठ कारक होते है[३६]। व्रजभाषा मे कारकी की यही संख्या है। इनके नाम और हिंदी तथा व्रजभाषिक मुख्यकारक चिह्न, परसर्ग[३७] या विभक्तियाँ और उनके अन्य विकृत रूप इस प्रकार हैं—

---

२४. सा. ३-१३। २५. सा. १-३२०। २६. सा. ४-९। २७. सा. २-३६।
२८. सा. २-२६। २९. सा. १-३३६। ३०. सा. १-२९०। ३१. सा. १०-२३४।
३२. सा. १-२४७। ३३. सा. ७४९। ३४. सा. १०-२०७। ३५. सा. ११५४।

३६. संस्कृत में छः कारक—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण—तथा सात विभक्तियाँ—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी—होती हैं। संबंधकारक का संबंध क्रिया से न होने के कारण उसकी गणना संस्कृत-कारको मे नहीं की जाती—लेखक।

३७. डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने 'व्याकरण' मे 'कारकचिह्नों' के लिए 'परसर्ग' शब्द का प्रयोग किया है ('व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ११६) और 'इतिहास' में 'कारकचिह्न' ('हिंदी भाषा का इतिहास', पृ० २६४); परंतु पं० कामता प्रसाद गुरु ने

कारक	हिंदी-विभक्ति	व्रजभाषा-विभक्ति
कर्ता	ने	नें, ने, नै
कर्म	को	कुँ, कूँ[३८], को, कों, कौं, कौ
करण	से	तें, ते, तैं, पर, पँ, पै, सुँ, सेंती, सो, सौं
सम्प्रदान	को	कुँ, कूँ, को, कों, कौं, कौ
अपादान	से	तें, ते, तैं, सो, सौं
संबंध	का, के, की	कि, की, कें, के, कैं, कै, को, कों, कौ
अधिकरण	मे, पर	पर, पै, मँझार, महियाँ, महँ, माँझ, माँहि, माही, मे, मे, मैं
संबोधन	ओ,अजी,अरे,अहो,हे	अरे, अहो, री, रे, हे।

सूरदास ने सर्वत्र कारको के साथ उनके चिह्नो या विभक्तियो का प्रयोग नही किया है और कभी-कभी तो ऐसा जान पडता है कि इनके प्रयोग से वे जान-बूझ कर बचते रहे हैं। इस दृष्टि से विभक्ति-रहित और विभक्ति-सहित, दोनो प्रकार के प्रयोग सूर-काव्य मे मिलते हैं और कर्ता-जैसे दो-एक कारको मे तो प्रथम की प्रधानता दिखायी देती है।

कर्ताकारक—इसकी विभक्ति नें, ने या नै है जो प्राय सकर्मक क्रिया के भूतकाल, कर्मवाच्य और भाववाच्य रूप मे प्रयुक्त होने पर कर्ताकारक मे लगती है। गद्य मे इसका प्रयोग जितना अधिक होता है, पद्य मे उतना ही कम। सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' मे तो कदाचित् केवल दो स्थलो पर इसका प्रयोग किया गया है। पुल्लिग और स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द के, एक और बहुवचन मे प्रयुक्त होनेवाले मूल और विकृत रूपो का प्रयोग सूरदास ने इन विभक्तियो से रहित रूप मे ही किया है, जैसे—

क पुल्लिग एकवचन मूल रूप—लकपति कौ अनुज सीस नायौ[३९]। सेवक जूझि परै रन भीतर ठाकुर तउ घर आवै[४०]। तब रिषि तासौं कहि समुझायौ[४१]।

ख. पुल्लिग बहुवचन मूल रूप—उठे कपि भालु ततकाल जै जै करत, असुर भए मुक्त रघुबर निहारे[४२]। ग्वाल बजावत तारी[४३]। सुर नर मुनि सब सुजस बखानत[४४]।

ग. पुल्लिग एकवचन विकृत रूप—ताकी माता खाई कारैं (काला सर्प)[४५]। सकटैं (सकटासुर) गर्व बढायौ[४६]।

'विभक्तियों' का ('हिंदी व्याकरण', पृ० २७९)। प्रस्तुत प्रबंध मे सर्वत्र पुराने शब्द 'विभक्ति' या 'कारकचिह्न' का ही प्रयोग किया गया है—लेखक।

३८. बोलचाल की भाषा मे कर्मकारकीय चिह्न के रूप मे 'कुँ' और 'कूँ' का प्रयोग अधिक होता है। यही साहित्यिक भाषा मे 'को', 'कों' या 'कौं' हो गया है, जो बोलचाल की भाषा मे भी प्रयुक्त होता है—लेखक।

३९. सा. ९-१११। ४०. सा. ९-१५५। ४१ सा. ९-१७३। ४२. सा. १६३। ४३. सा. १०-४। ४४. सा. ९-१५९। ४५. सा. ७-८। ४६. सा. १०-६१।

घ. पुल्लिंग वहुवचन विकृत रूप—असुरनि मिलि यह कियौ बिचार[४७]। देवनि दिवि दुंदभी बजाई[४८]। सगर सुतनि तब नृप सौं भाष्यौ[४९]।

ङ. स्त्रीलिंग एक वचन मूलरूप—सकर कौ मन हरयौ कामिनी[५०]। बैठी जननि करति सगुनौती[५१]। अद्‌भुत रूप नारि इक आई[५२]। जैसे मीन जाल मे क्रीड़त[५३]।

च. स्त्रीलिंग वहुवचन मूल रूप—उमँगि मिलनि जननी दोउ आई[५४]। ता सँग दासी गई अपार[५५]। सुनि धाई सब व्रजनारि सहज सिंगार किये[५६]।

ज. स्त्रीलिंग वहुवचन विकृत रूप—जुवतिनि मगल गाथा गाई[५७]।

ऊपर के उदाहरण केवल कर्ताकारक मे विभिन्न सज्ञा-रूपो के प्रयोग की दृष्टि से दिये गये हैं, विभक्ति-रहित प्रयोग की दृष्टि से नही। विभक्तियो की दृष्टि से देखा जाय तो पुल्लिग एकवचन विकृत रूप के अतर्गत दिये गये 'ताकी माता खाई कारैं' और 'सकटैं गर्व बढायौ' वाक्यो मे कर्ताकारक के रूप मे प्रयुक्त कारैं और सकटैं मे सयुक्त 'ऐं' को एक प्रकार से विभक्ति रूप ही स्वीकारना होगा जिससे मूल सज्ञा रूप विकृत हो गया है। हाँ, उक्त उदाहरणो से एक बात यह अवश्य ज्ञात होती है कि, नें, नैं या नै, तीनो मे से किसी कर्ताकारकीय विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने नही किया है। 'सूरसागर' के केवल दो वाक्यो मे यह विभक्ति दिखायी देती है—

१. दियौ सिरपाव नृपराव नै महर कौं आपु पहिरावने सब दिखाए[५८],

२. तहाँ ताहि बिपहर नै खाई, गिरी धरनि उहिं ठौर[५९]।

इसी प्रकार 'सारावली' में भी एक वाक्य मे वह विभक्ति प्रयुक्त हुई है—

भोजन समय जानि यशुमति ने लीने दुहुँन बुलाय[६०]।

अतएव निष्कर्ष यही निकलता है कि कर्त्ताकारकीय विभक्ति ने, न या नै का प्रयोग सूर-काव्य मे अपवाद-स्वरूप ही मिलता है।

कर्मकारक—व्रजभाषा मे कर्मकारक की मुख्य विभक्तियाँ कुँ, कूँ, को, कौ, कौं[६१] हैं। सभा के 'सूरसागर' मे, इन विभक्तियो मे से केवल कौं का ही प्रयोग अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त 'हिं' के योग से भी अनेक कर्मकारकीय रूप बनाये गये हैं और इनसे रहित कर्मकारकीय प्रयोगो की सख्या भी प्रर्याप्त है।

---

४७. सा. ९-१७३। ४८. सा. ९-१६९। ४९. सा. ९-९। ५०. सा. १-४३। ५१. सा. ९-१६४। ५२. सा. १०-५३। ५३. सा. १०-४। ५४. सा. ९-१६९। ५५. सा. ९-१७४। ५६. सा. १०-२४। ५७. सा. ९-१६९। ५८. सा. ५८७। ५९. सा. ७५६। ६०. सारा० ९०६।

६१. व्रजभाषा में 'कूँ' के साथ 'को' और 'कौं', तीनो रूप प्रचलित हैं। सूरदास के समकालीन कवियो ने प्रायः 'कूँ' नहीं लिखा है, चौबो की भाषा में 'कौं' बोला जाता है और अन्य लोग 'कौं' बोलते है। मथुरा में अंतिम दोनो प्रयोग चलते हैं— लेखक।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—सज्ञा शब्दो के आठो रूपो मे से जिनके विभक्तिरहित प्रयोग 'सूरसागर' मे आदि से अत तक मिलते है, केवल उन्ही के उदाहरण यहाँ सकलित है—

अ. पुल्लिग एकवचन मूलरूप—हौं चाहति गर्भ दुरायौ[६२] । लछिमन सीता देखी जाई[६३] । कच्छप की तिय सूरज जायौ[६४] ।

आ. पुल्लिग वहुवचन मूलरूप—तिन अमिय भडार खोले[६५] । वहु विधि व्योम कुसुम सुर वरसत[६६] । साठ सहस्र सगर के पुत्र कीने सुरसरि तुरत पवित्र[६७] ।

इ. स्त्रीलिंग एकवचन मूल रूप—आरति साजि सुमित्रा ल्यायी[६८] । रिपि सक्रोध इक जटा उपारी[६९] । तव रिपि यह वानी उच्चरी[७०] । तुव पितु भिच्छा खात[७१] ।

अन्य रूपो— पुल्लिग एक और वहुवचन विकृत रूप, स्त्रीलिग वहुवचन मूल, एक और वहुवचन विकृत—के उदाहरण मिलते ही न हो, सो बात नही है , परन्तु उनकी सख्या अपेक्षाकृत वहुत कम है। इनके भी दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—लै दासिनि फुलवारी गई[७२] । जौ यह सजीवनि पढि-जाइ। तौ हम सत्रुनि लेइ जिवाइ[७३] ।

ख 'कौं' विभक्तिसहित प्रयोग— कर्मकारक की इस विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने स्वतत्रता से किया है, जैसे—असुर कच कौं मारयौ[७४] । प्रथम भरत बैठाइ वधु कौं यह कहि पाइ परे[७५] । रिषभदेव जब वन कौं गए[७६] । मम मैंढ़नि कौं लै गयौ कोई[७७] ।

ग 'हि'[७८] सहित प्रयोग— सूरदास के कर्मकारकीय प्रयोगो मे 'हिं' का प्रयोग बहुत मिलता है , जैसे—महादुष्ट लै उडचौ गुपालहि[७९] । त्यौ ये सुकृत धनहिं परिहरैं[८०] । सक्र क्रोध करि नगरहि त्याग्यौ[८१] । देखौ ता पुरुषहिं तुम जोइ[८२] । वरुनपास तैं व्रजपतिहिं छन माहिं छुडावैं[८३] । तब हँसि कहति जसोदा ऐसें महरहिं लेउ बुलाय[८४] । दियौ दानवनि रिषिहि पियाइ[८५] ।

घ. विभक्ति-आभास युक्त प्रयोग— सूर-काव्य मे ऐसे भी अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनमे यद्यपि कर्मकारकीय कोइ विभक्ति अलग से नही जोडी गयी है, परन्तु जिनके

---

६२. सा. १०-४ । ६३. सा ९-१६१ । ६४. सा ९-२ । ६५. सा. ९-१६३ ।
६६. सा. १०-४ । ६७ सा ९-९ । ६८ सा ९-१६९ । ६९ सा. ९-५ ।
७०. सा ९-१७४ । ७१. सा. ९- १७४ । ७२. सा. ९-१७४ । ७३. सा. ९-१७३ ।
७४. सा ९-१७३ । ७५. सा. ९-१७१ । ७६. सा. ५-३ । ७७. सा. ९-२ ।

७८ 'हिं' की गणना स्वतत्र विभक्तियों में नही की जानी चाहिए; क्योंकि विभक्तियो के विपरीत, 'हिं' सदैव शब्दों में सयुक्त रहती है । इसे सुविधा के लिए 'विभक्ति-प्रत्यय' कहना उपयुक्त होगा—लेखक ।

७९. सा. १०-७८ । ८०. सा. ५-४ । ८१. सा. ९-१७४ । ८२. सा. ९-२ ।
८३. सा. १-४ । ८४. सा. १०-२४ । ८५. सा. ९-१७२ ।

विकृत रूप विभक्तिसंयुक्त होने का आभास देते हैं, जैसे—आपु गई कछु काज घरैं[८६]। तौ हू धरैं न मन मैं ज्ञानैं[८७]। मेट्यौ सबै दुराजैं[८८]। स्रवन सुनत न महर बातैं जहाँ तहँ गइ चहरि[८९]। ज्यौं जमुना जल छाँडि सूर प्रभु लीन्हे वसन तजी कुल लाजैं[९०]। तेरे सब संदेहैं दहौ[९१], । प्रगट पाप सताप सूर अब कायर हठैं गहौ[९२]।

ङ. द्विकर्मक प्रयोगो मे विभक्ति का संयोग—कुछ क्रियायो को एक कर्म की आवश्यकता होती है और कुछ को दो की । 'लछिमन सीता देखी जाइ'[९३] मे 'देखी' क्रिया के साथ एक ही कर्म 'सीता' है, और 'आजु जौ हरिहि न सस्त्र गहाऊँ'[९४] मे 'हरिहिं' और 'सस्त्र' दो कर्म 'गहाऊँ' क्रिया के है जिनमे प्रथम अर्थात् 'हरिहिं' गौण कर्म है और द्वितीय अर्थात् 'सस्त्र' मुख्य कर्म । एक कर्मवाली क्रियाओ के कर्मकारकीय शब्द मे, जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, कभी विभक्ति लगती है, कभी नही भी लगती है; परतु द्विकर्मक क्रियाओ के दोनो कर्मों मे से यदि किसी मे सूरदास ने विभक्ति लगायी है, तो वह साधारणत गौण कर्म मे ही, जैसे— सजीवनि तब कचहि पढाई[९५]।

इस वाक्य मे कर्त्ता 'सक्र' लुप्त है, 'सजीवनि' मुख्य कर्म है जिसमे कोई विभक्ति नही लगी है और 'कचहिं' गौण कर्म है जिसमे विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' सयुक्त है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणो मे भी गौण कर्म 'वृत्रासुर' मे 'कौ' विभक्ति लगी है और मुख्य कर्म 'वज्र' विभक्ति-रहित है, कर्त्ता 'इद्र' लुप्त है—वृत्रासुर कौ वज्र प्रहारचौ[९६]।

कही कही सूरदास ने द्विकर्मक क्रियाओ के ऐसे प्रयोग भी किये है जिनमे मुख्य और गौण, दोनो कर्म विभक्ति-रहित हैं, जैसे—

सूर सुमित्रा अंक दीजियौ, कौसिल्याहिं प्रनाम हमारौ[९७]।

यह वाक्य श्रीराम का लक्ष्मण के प्रति है जिसमे कर्त्ता लुप्त है। इस वाक्य मे दो उपवाक्य हैं—क. सुमित्रा अक दीजियौ। ख कौसिल्याहिं प्रनाम हमारौ (दीजियौ)। दोनो उपवाक्यो के मुख्य कर्म 'अक' और 'प्रनाम' तो विभक्ति-रहित है ही, द्वितीय के गौण कर्म 'कौसिल्याहिं' मे विभक्तिप्रत्यय 'हिं' सयुक्त है, परतु प्रथम का गौण कर्म 'सुमित्रा' विभक्ति-रहित है। सभव है, ,दीजियौ' क्रिया के कारण इस वाक्य मे 'सुमित्रा' और 'कौसिल्याहिं' को सप्रदानकारकीय रूप कुछ लोग मानें, परतु वस्तुत. यहाँ 'दीजियौ' क्रिया 'करियौ' या 'कहियौ' के अर्थ मे है, साधारण 'देने' के अर्थ मे नही ।

च. कर्मकारक में प्रयुक्त अन्य विभक्तियाँ— यहाँ एक वात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प० किशोरीदास वाजपेयी ने 'सूरदास स्वामी सो कहियो अब विरमियो नही' और 'सूरदास प्रभु दीन वचन यो हनूमान सो भाखैं' वाक्यो मे, क्रमश 'स्वामी' और 'हनूमान' को गौणकर्म मानकर और इनके साथ 'सो' विभक्ति देखकर' इस विभक्ति 'सो'

---

८६. सा. १०-७६। ८७. सा. ४-१२। ८८. सा. १- ३६। ८९. सा. १०-६७। ९०. सा. ३८८३। ९१. सा. ३-१३। ९२. सा. ३-२। ९३. सा. ९-१६१। ९४. सा. १-२७०। ९५. सा. ९- १७३। ९६. सा. ६-५। ९७. सा. ९-३६।

का भी कर्मकारक मे प्रयुक्त होना माना है[१८]। वाजपेयी जी का यह कथन सभवत सस्कृत व्याकरण के आधार पर है। हिंदी मे तो प० कामताप्रसाद गुरु ने ऐसे प्रयोगो को करणकारक के अतर्गत माना है और हिंदी की प्रकृति के अनुसार यही उचित भी जान पड़ता है। हाँ, एक पद मे अधिकरण कारक की विभक्ति 'पर' का प्रयोग सूरदास ने अवश्य कर्मकारक मे किया है, जैसे—

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उडि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै[१९]।

इस वाक्य मे 'पर' विभक्ति की ध्वनि 'को' के अर्थ की ओर अधिक है। इसी प्रकार निम्नलिखित पक्ति मे अधिकरणकारकीय विभक्ति 'माही' से भी कर्मकारकीय 'कौं' की ध्वनि ही 'मे' से अधिक है—

उलटि जाहु अपनै पुर माही, बादिहिं करत लराई[१]।

उक्त दोनो वाक्यो के 'पर' और 'माही' के कर्मकारकीय प्रयोगो को अधिक से अधिक अपवाद-स्वरूप ही मान सकते हैं।

करणकारक— ब्रजभाषा मे इस कारक की विभक्तियो के रूप मे तें, ते, तैं, पर, पै, सुँ, सेंती, सो, सौं का प्रयोग होता है। सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' मे 'तें', 'ते' और 'तैं' के स्थान पर केवल 'तैं' का एव 'सो' और 'सौं' के स्थान पर केवल 'सौं' का प्रयोग किया गया है। सूरदास ने करणकारकीय विभक्तियो के रूप मे केवल 'तैं' और 'सौं' का ही प्रयोग मुख्य रूप से किया है। अन्य विभक्तियो मे से 'सुँ' और 'सेंती' के उदाहरण भी कही-कही मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त विभक्तिरहित करण-कारकीय प्रयोग भी सूर-काव्य मे बहुत मिलते हैं।

क. **विभक्तिरहित प्रयोग**—विभिन्न सज्ञा-रूपो के विभक्ति-रहित करणकारकीय प्रयोगो को अलग-अलग देने की आवश्यकता नही है, अतएव एक साथ ही इस प्रकार के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—देखौ, कपिरात भरत वै आए। मम पाँवरी सीस पर जाकै, कर अँगुरी रघुनाथ बताए[२]। मैं इहिं ज्ञान ठगी ब्रजबनिता दियौ सो क्यो न लहौं[३]। ज्ञानी-सगति उपजै ज्ञान[४]। तिनकै तेज-प्रताप, देवतनि बहु दुख पाए[५]। तुम्हरै तेज-प्रताप नाथ जू मैं कर धनुष धरयौ[६]। सपथ राम, परताप तिहारै खड खड करि डारौं[७]। तुव प्रसाद मम गृह सुत होइ[८]। ता प्रसाद या दुख कौं तरै[९]। सब राच्छस रघुबीर कृपा तैं कहिं बान निवारौं[१०]। राम नाम मुख उचरै सोई[११]। भीलराव निज लोगनि कह्यौ[१२]। सखनि कह्यौ तुम जेंवहु बैठे, स्याम चतुरई ठानी[१३]। इतनौ

---

१८. 'ब्रजभाषा-व्याकरण', पृ ११३-१४। १९. सा १-१६८। १ सा ३८०१।
२. सा ९-१६८। ३ सा ३-२। ४. सा ५-२। ५ सा ३-१११।
६. सा ९-१४४। ७. सा ९-१३७। ८ सा ५-३। ९ सा. ६-५।
१०. सा. ९-१४३। ११ सा. ६-४। १२. सा. ५-३। १३. १९८३।

वचन स्रवन सुनि हरष्यौ[१४]। स्वास आकास बनचर उडाऊँ[१५]। दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई[१६]। जानकी नाथ कैं हाथ तेरौ मरन[१७]।

ख. 'तैं' विभक्तिसहित प्रयोग—सभा के 'सूरसागर' मे सर्वत्र प्रयुक्त इस करणकारकीय विभक्ति मे वस्तुत व्रजभाषा के 'तें' और 'ते' विभक्ति-रूपों को सम्मिलित समझना चाहिए, क्योकि उसके अन्य सस्करणो मे इनका भी प्रयोग मिलता है। सभा के सस्करण से 'तैं' विभक्तिसहित सूर के कुछ प्रयोग यहाँ सकलित हैं--कह्यौ सरमिष्ठा सुत कहँ पाए। उनि कह्यौ रिषि किरपा त जाए[१८]। सब राच्छस रघुबीर कृपा ते एकहि बान निवारौं[१९]। पंचतत्व तैं जग उपजाया[२०]। त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व तैं अहकार कियौ विस्तार[२१]। सूरदास स्वामी प्रताप तैं सब सताप हरचौ[२२]। मम प्रसाद तैं सो वह पावै[२४]। यह तौ सुनी व्यास के मुख तैं पर-दारा दुखदात[२४]। सुनत साप रिस तैं तनु दहचौ[२५]। बहुरि रुधिर तैं छीर बनावत[२६]। जाकैं नाम ध्यान सुमिरन तैं कोटि जज्ञ फल पावत[२७]।

ग. 'सौं' विभक्ति सहित प्रयोग—जिस प्रकार ऊपर की पक्तियो मे 'तैं' विभक्ति 'ते' और 'तें' का ही अन्य रूप है, उसी प्रकार नीचे के उदाहरणो मे 'सौं' विभक्ति को 'सो' का ही दूसरा रूप समझना चाहिए—आवौ उदर अन्न सौं भरै[२८]। सुनियै ज्ञान कपिल सौं जाइ[२९]। मैं काली सौं यह प्रन कियौ[३०]। कौसिल्या सौं कहति सुमित्रा[३१]। निज गुरु सौं भाख्यौ तिन जाइ[३२]। हँसि ढाढिनि ढाढ़ी सौं बोली[३३]। ब्रह्मा सो नारद सौं कहे[३४]। दसरथ सौं रिषि आनि कह्यौ[३५]।

घ. अन्य विभक्तियो सहित प्रयोग—'सेती', 'कौं', 'हिं' आदि कुछ अन्य विभक्तियो के भी यत्र-तत्र करणकारकीय प्रयोग 'सूरसागर' मे मिल जाते हैं, यद्यपि इनकी सख्या अधिक नही है, जैसे – ता रानी सेंती सुत ह्वै है[३६]। (उन) बहुरि सुक्र सेती कह्यौ जाइ[३७]।

इसी प्रकार निम्नलिखित वाक्य मे 'कौ' विभक्ति की ध्वनि भी करणकारकीय 'सौं' विभक्ति के अर्थ से मिलती-जुलती जान पड़ती है--

गउ चटाइ मत त्वचा उपारौ। हाड़नि कौ तुम, वज्र सँवारौ[३८]।

'हिं' का प्रयोग सूरदास ने करणकारक मे बहुत कम किया है। निम्नलिखित उदाहरण का 'ही' उसी का विकृत रूप है—

जिन रघुनाथ हाथ खर दूषन प्रान हरे सरही[३९]।

---

१४ सा ९-१४७। १५ सा ९-१२९ १६ सा ९-७। १७ सा ९-१२९। १८. सा ९-१७४। १९ सा ९-१४३। २०. सा. १०-३। २१. सा. २-३६। २२ सा. ९-१२२। २३ सा ३-१३। २४ सा. २-२४। २५. सा. ५-४। २६. सा. २-२०। २७ सा ९-१३२। २८. सा. ३-१३। २९. सा ५-४। ३०. सा ५-३। ३१ सा ९-१५२। ३२ सा. ९-१७३। ३३. सा १०-३७। ३४ सा. २-३७। ३५ सा ९-२१। ३६ सा. ६-५। ३७. सा ९-१७४। ३८. सा. ६-५। ३९ सा ९-९१।

ङ. सविभक्ति विकृत रूप—सूरदास के निम्नलिखित प्रयोग मे यद्यपि कोई करणकारकीय विभक्ति नही है, फिर भी इसका विकृत रूप विभक्ति सयुक्त होने का आभास देता है—

किहिं गयद बाँध्यो सुनि मधुकर पदुमनाल के काँचे सूतैं[40] ।

सम्प्रदान कारक—ब्रजभाषा मे सम्प्रदानकारक की कुँ, कूँ, को, को, कौं, कौ, के लिए—विभक्तियाँ कर्मकारक मे भी रहती है। अतएव केवल इन विभक्तियो से नही, अर्थ पर ध्यान देने से ही सज्ञा-रूप के कारक का ठीक ठीक पता चल सकता है। सूरदास ने सम्प्रदानकारक मे 'कौं' का ही प्रयोग विशेष रूप मे किया है और अन्य कारको की तरह इसमे भी विभक्तियो से रहित और सहित, दोनो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

क. विभक्ति रहित प्रयोग—सम्प्रदानकारकीय विभक्ति-रहित प्रयोगो मे सूरदास ने उतनी स्वतत्रता से काम नही लिया है, जितनी से प्रथम तीन कारको मे लिया है। अतएव इस प्रकार के तीन-चार उदाहरण ही यहाँ दिये जाते हैं—बहुरौ रिषभ बडे जब भए। नाभि राज दे बन कौ गए[41] । विप्र जाचकनि दीन्हौ दान[42] । दियौ बिभीषन राज सूर प्रभु[43] । तुम्हें मारि महिरावन मारैं, देहिं बिभीषन राई[44] ।

ख. 'कौं' विभक्ति सहित प्रयोग—कर्मकारक की तरह ही सप्रदान की इस 'कौं' विभक्ति मे 'कों', 'को' 'कौ' को सम्मिलित समझना चाहिए जिनके प्रयोग सभा के 'सूरसागर' के अतिरिक्त अन्य सस्करणो मे मिल सकते हैं। सूरदास के 'कौं' विभक्ति सहित कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—तनया जामातनि कौं समदत नैन नीर भरि आए[45] । एक अस बृच्छनि कौं दीन्हौं[46]। कामधेनु पुनि सप्त रिषि कौ दई[47] । बलि सुरपति कौं बहु दुख दयौ[48] ।

ग. विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' सहित प्रयोग—अति दुख मे सुख दै पितु मातहिं, सूरज प्रभु नद-भवन सिधाए[49] । बहुत सासना दई प्रह्लादहिं[50] ।

अपादानकारक—ब्रजभाषा मे अपादानकारक की विभक्ति तें, ते या तैं है। ये तीनों रूपातर एक ही विभक्ति के हैं जिनमे से अतिम का ही प्रयोग सभा के 'सूरसागर' मे प्राय सर्वत्र किया गया है। साथ ही कुछ विभक्ति-रहित अपादानकारकीय रूप भी सूर-काव्य मे मिल जाते हैं।

क विभक्तिरहित प्रयोग—अपादानकारकीय विभिक्तरहित रूपो की सख्या यद्यपि अपेक्षाकृत बहुत कम है, तथापि ऐसे प्रयोग बिलकुल न हो, सो बात भी नही है, जैसे—करुना करत सूर कोसलपति नैननि नीर झरयौ[51] ।

ख. 'तैं' विभक्तिसहित प्रयोग—'सूरसागर' के अन्य सस्करणो मे यद्यपि 'तें' या

---

४०. सा ३९१६ । ४१. सा. ५-२ । ४२ सा ६-५ ।
४३. सा. ९-१५९ । ४४. सा. ९-१४० । ४५. सा ९-२७ । ४६ सा. ६-५ ।
४७ सा. ८-८ । ४८ सा. ८-७ । ४९ सा १०-१० ५०. सा. १-३८ ।
५१. सा ९-१४४ ।

'ते' के उदाहरण बराबर मिलते है , परन्तु सभा के सस्करण मे इसी के रूपातर 'तैं' का ही अपादानकारक मे सर्वत्र प्रयोग किया गया है; जैसे—पै मै जब अकास तैं परौ[५२]। अमृत हूँ तैं अमल अति गुन स्रवत निधि आनद[५३]। जब तुम निकसि उदर तैं आवहु[५४]। श्रीरघुनाथ प्रताप चरन करि उर तैं भुजा उपारौं[५५]। हृदय कठोर कुलिस तैं मेरौ[५६]। असुरनि गिरि तैं दियौ गिराई[५७]। मैं गोवर्धन तैं आयौ[५८]। देस देस तैं टीकौ आयौ[५९]। ता बन तैं मृग जाहिं पराई[६०]। स्यामा कियौ बरसाने तैं आवनौ[६१]। मनहूँ तैं अति बेग अधिक करि हरि जू चरन चलावत[६२]। मानौ निकरि तरनि रंध्रनि तैं उपजी है अति आगि[६३]। रथ तैं उतरि[६४]। मानौ चारि हस सरवर तैं बैठे आइ सदेहियाँ[६५]। मैं अबही सुरपुर तैं आयौ[६६]।

ग. 'सौं' विभक्ति-सहित प्रयोग—पर्वत सौं इहिं देहु गिराइ[६७]। ऐसे प्रयोग सूर-काव्य मे कम हैं ।

६. संबंधकारक—इसकी मुख्य विभक्ति 'कौ' है जिसके लिग, वचन, और कारक के अनुसार,'की','के' और 'कौ' रूप हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त अवधी की सबधकारकीय विभक्ति 'केर' 'केरी', 'केरे' 'केरैं' और 'केरौ' रूपो का प्रयोग भी सूरदास ने किया है। इन विभक्ति-रूपो से रहित प्रयोग भी सूर-काव्य मे बराबर मिलते हैं।

क. विभक्ति-रहित प्रयोग—इस प्रकार के प्रयोगो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे वे सामासिक पद आते है जिनके बीच की संबधकारकीय विभक्ति लुप्त है। इनकी चर्चा 'समास' शीर्षक के अतर्गत पिछले परिच्छेद मे की जा चुकी है। अतएव यहाँ इनके उदाहरण देने की आवश्यकता नही है। दूसरे वर्ग के प्रयोग नीचे दिये जाते हैं। सबधकारक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध क्रिया से नही होता। अतएव केवल आवश्यक अश ही यहाँ उद्धृत किया गया है , जैसे—ग्वारनि भीर,[६८] नाम प्रतीति,[६९] प्रहलाद प्रतिज्ञा[७०], भरत सँदेस[७१], रिषि मन[७२], सत्रुहन ब्याह[७३], सुता मन,[७४] सुर-सरी तीर[७५], स्याम गुन[७६], स्रोनित छिछ[७७] आदि।

ख. 'कौ' विभक्ति-सहित प्रयोग—ब्रजभाषा की ओकारात प्रकृति के अनुसार 'का' का रूप इसमे 'कौ' हो जाता है जिसको सभा के 'सूरसागर मे सर्वत्र,'कौ'[७८] रूप में

---

५२. सा. ९-९। ५३ सा. ९-१०। ५४. सा. ९-१३७।
५५. सा. ९-१३२। ५६. सा. ७-५। ५७. सा ७-२। ५८. सा. १०-३५।
५९. सा. ९-१८। ६०. सा. ६-४। ६१. सा. २८३२। ६२. सा. ८-४।
६३. सा. ९-१५८। ६४ सा १०-४। ६५. सा ९-१९। ६६ सा. ४-१२।
६७. सा. ७-२। ६८ सा १०-२६। ६९. सा. २-८। ७०. सा. १-३४।
७१. सा. ९-१५६। ७२. सा ९-८। ७३. सा ९-२४। ७४. सा. ९-१७४।
७५. सा. २-९। ७६. सा २-२४। ७७. सा. ९-१५८।

७८. सबंधकारकीय चिह्न के रूप में 'कौ' के प्रयोग के पक्ष में कुछ लेखक नहीं हैं। पं० किशोरीदास वाजपेई का मत है—'दीर्घ स्वर से परे, विशेषत: 'आ' से परे, 'कौ'

लिखा गया है, जैसे—अविनासी की आगम,[७९] केसरि की तिलक[८०], गर्भ कौ आलस[८१], गीध कौ चारौ[८२], चरननि कौ चेरौ[८३], जिय कौ सोच[८४], द्वारे को कपाट[८५], पवन कौ पूत[८६] भुजगिनि कौ विष[८७], मन कौ चीत्यौ[८८], माम कौ पिंड[८९], मातु कौ हियौ[९०], रिपु कौ दल[९१] रिपु की सीम,[९२] रिपि की केस[९३], सुत कौ जस[९४] आदि।

सूर-काव्य मे सबधकारकीय प्रयोग, वाक्य-रचना की दृष्टि से दो प्रकार के मिलते हैं। एक मे सीधे-सादे ढग से गद्य की परिपाटी का अनुकरण किया जाता है और सबधसूचक और सबधित, दोनो शब्दो की स्थिति सामान्य रहती है, जैसे—राम कौ भाई। ऊपर 'कौ' विभक्ति के जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे सब इसी प्रकार के हैं। दूसरे वर्ग मे वे प्रयोग आते हैं जिनमे सबधकारकीय रूप और सबधी शब्द का क्रम उलट जाता है और तब सबधी शब्द कारक-रूप के पहले ही आ जाता है, जैसे—भाई राम कौ। इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण ये हैं—तन स्याम कौ[९५], मडल भानु कौ,[९६] ममत्व देह कौ[९७], सताप जनम कौ[९८], सिर लछिमन कौ[९९], हरन सीता कौ[१], हार ग्रीवा कौ[२] आदि। कहीं-कही इस प्रकार की पद-रचना मे सूरदास ने दोनो शब्दो के बीच मे अन्य शब्दो को भी डाल दिया हैं, जैसे—सार वेद चारौं कौ[३], देवल रिषि कौ पकर्‍यौ पाइ[४] आदि। ऐसे प्रयोगो पर पद्य-रचना का स्पष्ट प्रभाव माना जा सकता है।

ग 'की' विभक्ति सहित प्रयोग—सबधकारक की मूल विभक्ति 'का' या 'कौ' का स्त्रीलिंग रूप 'की' है जिसका प्रयोग सूरदास ने अनेक स्थलो पर किया है, जैसे—अबरीष की दुर्गति[५], जन्मभूमि की कथा[६] जलद की छांही[७], पुहुपनि की माला[८], बिछुरन की बेदन[९], भादौ की रात[१०], मन की सूल[११], ललन की आरती[१२], सुत-तिय-धन की

बहुत बुरा लगता है, जैसे वाकौ, काकौ इत्यादि। परन्तु ह्रस्व स्वर से परे वैसा कर्णकटु नहीं लगता, जैसे 'विधि कौ इतनोई विधान इतै'। हां, मधुर भाव आदि में ह्रस्व स्वर से परे भी 'कौ' खलता है, जैसे 'राम कौ रूप निहारति जानकि' (व्रजभाषा-व्याकरण', पृ. १२७)। परन्तु 'सभा' के 'सूरसागर' मे सबधकारकीय चिह्न 'कौ' का प्रयोग सर्वत्र किया गया है— लेखक।

७९. सा. १०-४। ८०. सा १०-२५ ८१ सा. १०-४। ८२ सा. ९-१५९। ८३. सा. ९-१३७। ८४. सा. ९-१७३। ८५. सा. १०-८। ८६ सा. ९-१४०। ८७. सा. २-३२। ८८ सा १०-२०। ८९. सा ९-१५९। ९०. सा. ४-९। ९१. सा. ९-१५२। ९२. सा. ९-१३७। ९३. सा. ४-५। ९४ सा १०-९। ९५. सा १०-८१। ९६. सा. ९-१५२। ९७ सा. ५-२। ९८. सा १०-१५। ९९. सा ४-१४६। १ सा ९-१४५। २ सा १०-२५। ३. सा ७-२। ४. सा ८-२। ५ सा. १-२८। ६. सा ९-१६७। ७ सा. २-२३। ८. सा. १०-२५। ९. सा ३२०६। १०. सा १०-१२। ११. सा. १०-२४। १२. सा. १०-४०।

सुधि[13] आदि। 'की' विभक्तिसहित ऐसे अनेक प्रयोग भी सूर-काव्य मे हैं जिनमें सवधकारक और सवधी शब्द का क्रम कवि ने उलट दिया है, जैसे आन रघुनाथ की[14], आपदा चतुरमुख की[15], करतूति कस की[16], कुसल नाथ की[17], भीर अमर-मुनि-गन की[18], भीर बानर की[19], सुधि मोहिनी की[20] आदि। कारकीय रूप और सबधी शब्द के बीच मे अन्य शब्दो का प्रयोग भी कुछ उदाहरणो मे देखा जाता है, जैसे—नैननि की मिटी प्यास[21], वर्षा करी पुहुप की[22], भक्ति-भाव की जो तोहिं चाह[23] आदि।

घ. 'के' विभक्ति-सहित प्रयोग— सबधकारकीय रूप 'का' या 'कौ' का बहुवचन पुल्लिग रूप 'के' है जिसका प्रयोग सूरदास के अनेक पदो मे मिलता है, जैसे—जम के दूत[24], दसरथ के सुत[25], नरनि के लच्छन[26], पुहुपनि के भूपन[27], सिव के गन[28], स्वारथ के गाहक[29] आदि। सूर-काव्य मे यह 'के' विभक्ति कभी-कभी आदरार्थक एकवचन मे भी प्रयुक्त हुई है। साथ ही एकवचन सबधी शब्द के आगे कोई अन्य विभक्ति, सबंधसूचक अव्यय अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य शब्द जोडने के लिए भी सबधकारकीय चिन्ह के रूप मे 'के' विभक्ति का प्रयोग किया गया है; जैसे—दीन के द्याल गोपाल[30], दुतिया के ससि[31], देवनि के देव[32], नद के द्वारे[33], पिनाकहूँ के दड लौं[34], पौन के पूत[35], व्रज के भूप[36], भक्त के मग मे[37], सूर के स्वामी[38]।

'कौ' और 'की' विभक्ति-रूपो की तरह 'के' के भी कारक और सबधी शब्द के उलटे क्रम वाले प्रयोग सूर-काव्य मे हैं, जैसे—अमगल जग के[39], दाँत दूध के[40] नर गोकुल सहर के[41], नाते जगत के[42], परवत रतन के[43], वचन जननी के[44], बसन सुक्र-तनया के[45], बान रघुपति के[46], मनोरथ मन के[47], मूल भागवत के[48], स्वामी पुर के[49] आदि।

ङ. 'कैं' विभक्तिसहित प्रयोग—'के' के साथ साथ 'कैं' का भी सूरदास ने अनेक स्थानो मे प्रयोग किया है। इसकी भिन्नता या विशेषता यह है कि इस 'कैं' मे सबधी शब्द की विभक्ति भी सयुक्त है अर्थात् सबधी शब्द के पश्चात् स्वतत्र विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने कभी नही किया है। जैसे—जलनिधि

१३ सा ३-१३। १४. सा. ९-१३८। १५ सा. ८-१७।
१६. सा. २-२३। १७. सा. ९-१५१। १८. सा. ९-१७२। १९ सा. ९-१२५।
२०. सा. ८-१०। २१ सा. ८-५। २२. सा ७-६। २३. सा. ४-९।
२४. सा. २-३। २५. सा. ९-१४१। २६. सा. ३-१३।
२७. सा. ३१९२। २८. सा. ४-५। २९. सा. ८-६।
३०. सा. ४-१०। ३१. सा. ९-१६७। ३२. सा. ५-३। ३३. सा. १०-२५।
३४. सा. ३-३। ३५. ९-१४७। ३६. सा. १०-३८। ३७. सा. ७-२।
३८ सा. ८-६। ३९ सा १०-३२। ४०. सा. १०-७६। ४१ सा १०-३०।
४२. मा. १०-२९। ४३ सा. १०-३२। ४४. सा. १०-११। ४५. सा. ९-१७४।
४६. सा. ९-१२६। ४७. सा. ४-९। ३८. सा. २-३७। ४९. सा. १-६१।

कैं तीर[५०], रुद्र कैं कंठ[५१], सुधा कैं सागर[५२] सोनैं कै पानी[५३] आदि। इस विभक्ति के उलटे क्रम वाले रूप भी कही-कही मिलते है, जैसे—गृह नद कैं[५४]। परतु इनकी सख्या अपेक्षाकृत कम है। इसी प्रकार कारकरूप और सबधी शब्द के बीच मे अन्य शब्दो के समावेश वाले उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जैसे—नरहरि जू कैं जाइ निकेत[५५]।

च. अन्य विभक्तियों सहित प्रयोग—उक्त मुख्य विभक्तियो के अतिरिक्त अवधी की 'केर' विभक्ति के कुछ रूपो का प्रयोग भी सूर-काव्य मे मिलता है, जैसे—

अ केरी—त्रास निसाचर केरी[५६], बिथा बिरहिनी केरी[५७], प्यारी हरि केरी[५८], माला मोतिनि केरी[५९]।

आ. केरे—सुत अहिर केरे[६०]। घर-घर केरे फरके खोलै[६१]। अपराध जन केरे[६२],

इ. केरं—अनुरागनि हरि केरं[६३], चितै वदन प्रभु केरे[६४]।

ई केरौं—दुख नद जसोमति केरौ[६५], मानो जल जमुन बिंब उडगन पथ केरौ[६६], दूत भयौ हरि केरौ[६७]।

इनमे 'केरी', 'केरे', 'केरौ' तो 'की', 'के' और 'कौ' की भाँति सबधकारक के सामान्य रूप हैं, परतु 'केरैं' मे 'कैं' की तरह विभक्ति भी सयुक्त है जिसके फलस्वरूप उसके संबंधी शब्द के पश्चात् स्वतत्र विभक्ति का प्रयोग कभी नही किया गया है।

७. अधिकरण कारक—इसकी मुख्य विभक्तियाँ और उनके अन्य रूपातर पर, पै, पाहि, पाहीं, मँझार, मँझारि, मँझारे, माँझ, महँ, महुँ, महियाँ, माहँ, माहि, माहीं, माहैं, में, मैं, मो, मौं आदि हैं। साथ-साथ इनसे रहित अधिकरणकारकीय प्रयोग भी 'सूर-काव्य' मे मिलते हैं।

क विभक्ति-रहित प्रयोग—अधिकरणकारकीय उक्त विभक्तियाँ और उनके अन्य रूपो को स्थूल रूप से दो वर्गों मे रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग मे पर, पै, पाहि और पाहीं रूप आते हैं और द्वितीय मे शेष रूप। दोनो वर्गों के रूपो के कुछ उदाहरण यहाँ सकलित हैं।

अ प्रथमवर्गीय विभक्ति-रहित प्रयोग—पर, पै, पाहि अथवा पाहीं का लोप सूरदास के इन प्रयोगो मे देखा जा सकता है—गरल चढाइ उरोजनि[६८], कटि तट तून[६९], गंगा तट आये श्रीराम[७०], सुकाग उहाँ तैं हरी डार उडि बैठ्यो[७१], सूर विमान चढ़े

---

५०. सा ९-१५१। ५१. सा ८-८। ५२ सा. ९-१४८। ५३ सा ९-१६४।
५४. सा. १०-३३। ५५ सा ७-२। ५६ सा ९-९३। ५७ सा. ३३४१।
५८. सा १८२१। ५९ सा १८५६। ६०. सा. ३०७५।
६१. सा. २८९६। ६२ सा. ५७०। ६३. सा २०७२।
६४. सा ४३२। ६५ सा ३९९४। ६६ सा. १०-२७६। ६७. सा ४०७९।
६८. सा. १०-४९। ६९ सा ९-३९। ७० सा ९-२२। ७१ सा ९-१६४।

सुरपुर सौ[७२], पुहुप विमान बैठी बैदेही[७३], भूतल बंधु परचौ[७४], या रथ बैठि[७५], पौढे कहा समर-सेज्या सुत[७६]। परबत आनि धरचौ सागर तट[७७], छत्र भरत सिर धारौ[७८]। चढ़ि सुख आसन नृपति सिधायौ[७९]।

आ. द्वितीय वर्गीय विभक्ति-रहित प्रयोग. द्वितीय वर्ग की मुख्य विभक्ति 'मैं' है जिसके अनेक रूपातर ऊपर दिये गये है। इनका लोप अनेक उदाहरणो मे कवि ने किया है, जैसे—अजोध्या बाजति आजु बधाई[८०]। ध्रुव आकास बिराजै[८१]। हरि चरनारबिंद उर धरौ[८२]। कनकपुर फिरिहै रामचद की आन[८३]। सो रस गोकुल गलिनि बहावैं[८४]। लीन्हे गोद बिभीषन रोवत[८५]। हरि स्वरूप सब घट यौं जान्यौ[८६]। नही त्रिलोकी ऐसौ कोइ[८७]। ज्यौं कुरंग नाभी कस्तूरी[८८]। बैठी हुती जसोदा मंदिर[८९]। लका फिरि गई राम दुहाई[९०]। सतयुग सत, त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चारि[९१]।

ख. विभक्ति-आभासयुक्त रूप—अधिकरणकारकीय कुछ ऐसे रूप भी सूर-काव्य मे मिलते है जिनके साथ यद्यपि इस कारक की कोई विभक्ति नही जुडी है, परतु जिनके विकृत रूप उनके विभक्ति-युक्त होने का आभास देते है। इस कारक की दो प्रधान विभक्तियो 'पर' और 'मैं' के अनुसार इस प्रकार के प्रयोगो के भी दो वर्ग हो जाते हैं।

अ. 'पर' का आभास देनेवाले प्रयोग - गोकुल के चौहटै रँगभीजी ग्वारिनि[९२]। हरि बलि द्वारैं दरवान भयौ[९३]। द्वार ठाढे हैं द्विज बावन[९४]। द्वारैं भीर गोप गोपिनि की[९५]। माथैं मुकुट[९६]। गुरु माथ हाथ धरैं[९७]।

आ. 'मैं' का आभास देनेवाले प्रयोग—बतियाँ छिदि छिदि जात करेज[९८]। खोजौ दीपैं सात[९९]। क्यौं करि रहै कठ मैं मनियाँ बिना पिरोये धागैं[१]। मेरे बाँटैं परचौ जँजाल[२], तब सुरपति हरि सरनैं गयौ[३]। राजा हियैं सुरुचि सौं नेह[४]।

'पर' और 'मैं' का आभास देनेवाले उक्त 'ऐं' सयुक्त रूपो पर सस्कृत की अधिकरण-कारकीय रूप-रचना—जैसे आकाशे, उद्याने, विद्यालये आदि—का प्रभाव जान पड़ता हैं। ऐसे प्रयोग व्रजभाषा गद्य मे भी मिलते है।

ग. 'पर' विभक्तियुक्त प्रयोग—यह विभक्ति वस्तुत खडीबोली की है जिसका

---

७२. सा. ९-१४१। ७३. सा ९-१४४। ७४. सा १-२९। ७५. सा. १-२९।
७६. सा ९-१५६। ७७. सा ९-३०। ७८. सा ५-४। ७९. सा ९-१७।
८०. सा १-३६। ८१ सा. ५-३। ८२ सा ९-१२१। ८३ सा. १०-३।
८४. सा. १०-३। ८५ सा ९-१६०। ८६ सा. ३-१३। ८७ सा ५-३।
८८ सा. ४-१३। ८९ सा १०-५०। ९० सा ९-१४०। ९१. सा. २-२।
९२. सा. २८६७। ९३ सा. १-२६। ९४. सा ८-१३। ९५. सा. १०-२१।
९६. सा. १०-१९। ९७ सा ३७०८। ९८ सा ३८४७। ९९. सा. ३९७७।
१. सा. ३९७८। २. सा. २३१७। ३. सा. ८-७। ४. सा. ४-९

प्रयोग सूरदास ने अनेक स्थलो पर किया है, जैसे— सुख आसन कौंधे पर गह्यौ[५]। दोना गिरि पर आहि सँजीवनि[६]। बैठ्यौ जाइ एक तरुवर पर[७]। मुरछाइ परी धरनी पर[८]। धरयौ गिरि पीठि पर[९], आँसू परे पीठि पर[१०]। गगा भूतल पर आई[११]। नृपति रिपिन पर ह्वै असवार[१२]। सागर पर गिरि, गिरि पर अवर[१३]। सिर पर छत्र तनायौ[१४]। सिर पर दूब धरि बैठे नद[१५]।

घ. 'पै' विभक्तियुक्त प्रयोग—खडीबोली की 'पर' विभक्ति का ब्रजभाषिक रूप 'पै' कह सकते हैं जिसका प्रयोग सूरदास के अनेक उदाहरणो मे मिलता है, जैसे–माडव धर्मराज पै आयौ[१६]। नहुष नृपति पै रिपि सब आइ[१७]। विप्रनि पै चढि कै जो आवहु[१८]। सब सुर ब्रह्मा पै जाइ[१९]। मेरें सग राजा पै आउ[२०]। राम पै भरत चले अतुराइ[२१]। कृपासिधु पै केवट आयौ[२२]। इन उदाहरणो मे से प्रथम और चतुर्थ मे तो 'पै' विभक्ति 'पर' के अर्थ मे है, शेष मे उसका अर्थ 'पास' या 'के पास' है। कविता मे 'पै' का इस अर्थ मे भी अधिकरणकारकीय प्रयोग होता है[२३]।

ङ. 'पहँ', 'पहियाँ', 'पाहि' या 'पाहीं' विभक्तियुक्त प्रयोग— ये तीनो विभक्ति-रूप वस्तुत 'पै' के ही रूपान्तर है। इनका प्रयोग सूर-काव्य मे बहुत कम हुआ है, फिर भी दो-एक उदाहरण तो मिल ही जाते हैं, जैसे—मनहुँ कमल पहँ कोकिल कूजत[२४]। यह सुख तीन लोक मे नाही जो पाए प्रभु पहियाँ[२५]। चलि हरि पिय पहियाँ[२६]।

च. मँझार, मँझारि, मँझारे और माँझ विभक्तियुक्त प्रयोग—इन विभक्तियो के इने-गिने प्रयोग ही सूर-काव्य मे मिलते है, जैसे—पैठ्यौ उदर मँझारि[२७]। हरि परीच्छितहिं गर्भ मँझार राखि लियौ[२८]। गाइनि माँझ भए हौ ठाढे[२९]। कमल धरे जल माँझ[३०]। मैं ढूँढ्यौ डोगरनि मँझारि[३१]। हनुमन पहुँच्यौ नगर मँझारि[३२]। नैंना नैननि माँझ समाने[३३]। ग्वाल बाल गवने पुरी मँझार[३४]। बछरनि कौं बन माँझ छाँडि[३५]। इक दिन बैठे सभा मँझारे[३६]। हृदै माँझ जो हरिहिं बतावत[३७]। इन विभक्तियो मे कुछ, विशेष रूप से 'माँझ', का प्रयोग सूरदास ने कभी-कभी सबधी शब्द के पहले भी किया है, जैसे—बन की व्याधि माँझ घर आई[३८]। माँझ बाट मटुकी सिर फोरयौ[३९]।

---

५. सा. ५-४। ६. सा ९-१४९। ७ सा ९-७५। ८. सा. १०-५२। ९ सा. ८-८। १० सा ९-१६८। ११. सा. ९-९। १२. सा. ६-७। १३. सा. ९-१२४। १४ सा ९-१२५। १५. सा १०-३१। १६ सा. ३-५। १७ सा. ६-७। १८ सा. ६-७। १९. सा. ६-५। २०. सा. ४-९ २१. सा. ९-५१। २२. सा. ९-४१।

२३ प० कामता प्रसाद गुरु 'हिंदी व्याकरण', पृ. ५४६।

२४ सा १८०५। २५ सा. ९-१९। २६. सा. २७९३। २७, सा ९-१०४। २८, सा १-२८९। २९ सा १०-२४६। ३० सा ५८२। ३१ सा २००५। ३२ सा ९-७५। ३३ सा २२९७। ३४ सा ३०३५। ३५ सा, ४१०। ३६ सा, ४-५। ३७, सा, ३५७४। ३८, सा, ६५४। ३९, स, १६६१।

छ. मधि, मध्य विभक्तियुक्त प्रयोग—इन विभक्ति-रूपो का प्रयोग सूरदास ने किया अवश्य है, परन्तु वहुत कम ; जैसे—वैठे नंद सभा मधि[४०]। वहु निसाचरी मध्य जानकी[४१]।

ज. महँ, महियाँ, महीं, माहँ, मोहिं, और माहैं विभक्तियुक्त प्रयोग—विनु हरि भजन नरक महँ जाइ[४२]। वैठे जाइ जनक मदिर महँ[४३]। वहुरो धरै हृदय महँ ध्यान[४४]। सुनि जड़ भरत हृदय महँ राखी[४५]। दिन दस रहौ जु गोकुल महियाँ[४६]। गंगा ज्यौ आई जग माहँ[४७]। नैननि माहँ समाऊँ[४८]। वृंदावन महियाँ गहि अचल मेरी लाज छँडाइ[४९]। यहै सूल मन माहैं[५०]। कहत सुनत समुझत मन महियँ ऊधौवचन तुम्हारे[५१]। हृदय माहँ हरी[५२]।

माहि—गर्भ माहिं सत वर्ष रहि[५३]। वहुरी गोद माहिं वैठार[५४]। जगत माहिं जस लैहौं[५५]। मलिन.वसन.तन माहि[५६]। तव तीरथ माहिं नहाए[५७]। तुव ननसाल माहि हम आहिं[५८]। पंथ माहि तिन नारद मिले[५९]। हरि जाइ वन माहिं दीन्हे दिखाई[६०]। तव मन माहि आनि वैराग[६१] लंकगढ़ माहिं आकास मारग गयौ[६२]। मदराचल समुद्र माहि वूड़न लग्यौ[६३]।

'माहीं'—उक्त उदाहरणो मे 'माहिं' विभक्ति साधारण 'में' के अर्थ मे है; केवल चौथे उदाहरण मे 'तन माहिं' का अर्थ 'तन पर' हो सकता है। 'माहीं' का प्रयोग सूरदास ने अधिकतर चरण के अत मे तुकात की माँग से किया है, यद्यपि कही-कही पक्ति के वीच मे भी मात्रा-पूर्ति के लिए इसका प्रयोग मिल जाता है; जैसे—राख्यौ नहि कछू नात नकु चित्त माहीं[६४]। प्रगट होइ छिन माही[६५]। मुख देखत दर्पन माही[६६],। गर्व धारि मन माही[६७]। मदन मूरति हृदय माहीं[६८] रमि रही।

झ. में, मैं विभक्तियुक्त प्रयोग— इन दोनो विभक्तियो मे से सभा के 'सूरसागर' में केवल द्वितीय अर्थात 'मैं' का प्रयोग ही सर्वत्र किया गया है, जैसे— नृप अंत.पुर मैं जाइ सुनायौ[६९]। नंद जू की रानी आँगन मैं ठाढी[७०]। ब्रज जुवतिनि उपवन मैं पाए हरि[७१]। कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ[७२]। स्वान काँच मदिर मैं भूकि मरयौ[७३]। अति

---

४०. सा १०-३१। ४१ सा ९-७५। ४२ सा. ७-२।
४३. सा. ९-२४। ४४ सा. ३-१३। ४५ सा. ५-४। ४६. सा. ३६१९।
४७. सा. ९-९। ४८. सा. १०-४९। ४९. सा. ३७६९। ५०. सा. ३२७९।
५१. सा. ३५६६। ५२. सा. ४०३२। ५३. सा. ३-११। ५४. सा. ७-२।
५५. सा. ६-५। ५६. सा. ९-७५। ५७. सा. ३-१३। ५८. सा. ६-५।
५९. सा ४९। ६०. सा. ८-१०। ६१. सा. ६-४।
६२. सा ९-७६। ६३ सा ८-८। ६४. सा. २९८५। ६५. सा. २-२३।
६६. सा २-१५। ६७. सा. २-२३। ६८ सा. ३८६५। ६९. सा.४-९।
७० सा. १०-७८। ७१ सा. १०-७८। ७२. सा. ३-१३। ७३. सा. २-२६।

आनंद होत गोकुल मैं[७४]। तबहि गोद मैं तू करतौ मोद[७५]। सबहिं घोष मैं भयौ कुलाहल[७६]। ताके झुगिया मैं तुम बैठे[७७]। परी लूटि सब नगर मे[७८]। पाडव वधु वन मैं राखी स्याम[७९]। बाल अवस्था मैं तुम धाइ[८०]। मग मै अद्‌भुतचरित लखायौ[८१]। मारि कस-केसी मथुरा मैं[८२]। जाकी चरन रेनु की महि मैं सुनियत अधिक बडाई[८३]। अर्जुन रन मैं गाजै[८४]। लोक मै बिचरै[८५]। ससार मैं असुर होइ[८६]। अति उत्साह हृदय मैं धरै[८७]।

ञ मो, मौं विभक्तियुक्त प्रयोग—इन दोनो विभक्ति-रूपो मे से केवल '**मौं**' का प्रयोग 'सूरसागर' के कुछ पदो मे मिलता है, जैसे—मेरी देह छुटत जम पठए जितक दूत घर मौं[८८]।

ट. 'हिं' युक्त प्रयोग—कही कही 'हिं' का सयोग भी, अधिकरणत्व सूचित करने के लिए सूरदास ने किया है, जैसे—ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ[८९]। यहाँ 'ब्रजहिं' शब्द 'ब्रज मैं' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। ऐसे प्रयोग कर्मकारकीय रूपो से मिलते-जुलते हैं। यही 'ब्रजहिं' शब्द एक दूसरे पद मे कर्मकारक मे भी आया है—ब्रजहिं चलौ आई अब साँझ[९०]। एक ही रूप वाले शब्द इसी प्रकार विभिन्न कारको मे प्रयुक्त होते हैं। इनका अतर अर्थ पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो सकता है। नीचे के उदाहरण मे 'हिं' 'युक्त' 'रनभूमहिं' शब्द भी अधिकरणकारक मे हैं—

मेघनाद आयुध धरैं समस्त कवच सजि, गरजि चढ्यौ, रनभूमहिं आयौ[९१]।

ण. अन्य विभक्तियुक्त प्रयोग—जो विभक्तियाँ ऊपर दी गयी है, उनके अतिरिक्त अन्य कारको की कुछ विभक्तियो का प्रयोग भी कभी-कभी अधिकरणकारक के साथ सूरदास ने किया है, जैसे इस उदाहरण मे '**कौं**' विभक्ति—जैसे सरिता मिलै सिंधु **कौं** बहुरि प्रवाह न आवै हो[९२]।

८ सबोधन कारक—इस कारक मे साधारणत सज्ञा के मूल रूप का ही प्रयोग किया जाता है, साथ ही सबोधनकारकीय रूप सूचित करने के लिए, शब्द के पूर्व, कभी-कभी अरी, अरे, अहो, री, रे, हे आदि विस्मयादिबोधक रूपो[९३] का भी व्यवहार किया जाता है। सूर-काव्य मे दोनो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

---

७४ सा १०-२१। ७५ सा ४-९। ७६ सा. १०-२०। ७७ सा. १-२४४। ७८ सा ९-१३८। ७९ सा १-१६। ८०. सा ३-५। ८१ सा ४-१२। ८२ सा १-३६। ८३. सा ९-४०। ८४. सा १-३६। ८५. सा. २-११। ८६ सा ३-११। ८७ सा ९-८। ८८. सा. १-१५१। ८९- सा १६८७। ९० सा ४७२। ९१. सा, ९-१४१। ९२. सा. ३-१०।
९३ अन्य कारको के साथ प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों को 'विभक्ति' कहा जाये चाहे 'परसर्ग', परन्तु सबोधनकारक के आगे-पीछे प्रयुक्त होनेवाले अरी, अरे, अहो, री, रे, हे आदि को 'विभक्ति' या 'परसर्ग' कहना ठीक नहीं है। वस्तुत. ये विस्मयादिबोधक अव्यय रूप हैं। अधिक से अधिक इसको 'सबोधन कारकीय चिह्न' कह सकते हैं—लेखक।

क संबोधन चिह्नरहित प्रयोग—इस प्रकार के प्रयोगो मे सज्ञा के मूल रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रयोग कई प्रकार के मिलते है। प्रथम वर्ग मे वे प्रयोग आते है जिनमे कवि ने सबोधन-रूप, वाक्य के आदि मे ही रखे हैं; जैसे—**वनचर,** कौन देस तै आयौ[१४]। **महाराज,** तुम तौ हौ साधु[१५]। **राजा,** बचन तुम्हारो टरचौ[१६]। **रिषि,** तुम तौ सराप मोहि दयौ[१७]। **स्याम,** कहा चाहत से डोलत[१८]।

दूसरे वर्ग मे वे प्रयोग आते हैं जिनमे कवि ने संबोधन रूप वाक्य के मध्य मे रखे हैं; जैसे—विनती कहियौ जाइ **पवनसुत,** तुम रघुपति के आगे[१९]। यह सुनि सकल देव मुनि भाष्यौ। **राय,** न ऐसी कीजै[१]। हौ सति भाउ कहौ **लकापति,**जौ जिय आयसु पाऊँ[२]। तीसरे वर्ग मे ऐसे रूप आते है जिनमे सबोधन कारक रूप के पूर्व 'सुन' या 'सुनो' का अर्थवाची कोई शब्द रख दिया गया है जो अर्थ की दृष्टि से अनावश्यक ही होता है, जैसे—सुनु **कपि,** वै रघुनाथ नही[३]। सुनि **देवकी,** इक आन जन्म की तोकौं कथा सुनाऊँ[४]। चौथे वर्ग मे ऐसे प्रयोग आते हैं जिनमे भावातिरेक-सूचक कोई शब्द कवि ने सबोधनकारक रूप के साथ प्रयुक्त किया है, जैसे—लै **भैया केवट,** उतराई[५]। इसमे 'भैया' का प्रयोग सबोधनकारकीय रूप केवट, के पूर्व किया गया है, परतु कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं जिनमे भावातिरेक सूचक शब्द कारक-रूप के बाद आया है और दोनो के बीच मे अन्य शब्द भी दिये गये है, जैसे—**लछिमन,** रचौ दुतासन भाई[६]।

उक्त सभी उदाहरण सज्ञा शब्दो के एकवचन मूल रूप के है। बहुवचन सज्ञा शब्दों का प्रयोग भी सबोधनकारक मे कवि ने कही-कही किया है, यद्यपि इनकी सख्या अधिक नही है, जैसे—प्रबल सत्रु आहै यह मार। यातै **संतौ,** चलौ सँभार[७]। सूरजदास सुनौ सब **संतौ,** अविगत की गति न्यारी[८]।

ख. विकृत संबोधन रूप—सबोधन कारक के ऊपर दिये गये उदाहरणो मे मूल-रूपो का ही प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त सूर-काव्य मे ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमे उनके रूप विकृत है जो तत्सबधी सस्कृत रूपो से प्रभावित कहे जा सकते है, जैसे—मोसौं पतित न और **हरे**[९]। भीषम करन दोन मदिर तजि, मम गृह तजे **मुरारे**[१०]। केस पकरि ल्यायौ दुस्सासन, राखी लाज, **मुरारे**[११]। **राजन** कहौ, दूत काहू कौ, कौन नृपति है मारचौ[१२]।

ग. 'अरी' चिह्नयुक्त प्रयोग—संबोधनकारक के स्त्रीलिंग चिह्न 'अरी' का प्रयोग

---

१४. सा. ९-८८। १५. सा. ९-३। १६. सा. ९-२। १७. सा. ९-१७४। १८. सा. १०-२७९। १९. सा. ९-१७४। १. सा १०-४। २. सा ९-१८१। ३. सा. ९-९१। ४. सा १०-४। ५. सा. ९-४०। ६. सा. ९-१६२। ७. सा. १-२२९। ८. सा. ९-१०५। ९. सा. १-१९८। १०. सा. १-२४२। ११. सा. १-२५७। १२. सा. ९-९८।

भी सूरदास ने कभी कभी किया है, जैसे सीता के प्रति पुरवधुओ के इस सबोधन मे—अरी अरी सुदरि नारि सुहागिनि, लागौ तेरे पाऊँ[१३]।

घ 'अरे' चिन्हयुक्त प्रयोग—सबोधन कारक के पुल्लिग चिह्न 'अरे' का प्रयोग भी सूरदास ने दो-एक स्थलो पर किया है, जैसे–अरे मधुप, बातै ये ऐसी क्यो कहि आवत तोह[१४]। दो-एक स्थलो पर इस चिन्हयुक्त प्रयोग के साथ 'सुन' अर्थ-द्योतक शब्द भी रख दिया है जो अर्थ की दृष्टि से आवश्यक नही जान पडता; जैसे—सुनि अरे अध दसकध, लै सिय मिलि, सेतु करि बध रघुवीर आयौ[१५]।

ङ 'अहो' चिह्नयुक्त प्रयोग—सबोधनकारक के इस चिह्न का प्रयोग सूरदास ने दोनो लिगो—पुल्लिग और स्त्रीलिग—के साथ किया है, जैसे—अहो महरि, पालागन मेरौ[१६]। ताको बिषम बिषाद अहो मुनि मोपै सह्यौ न जाई[१७]। अहो वसुदेव, जाहु लै गोकुल[१८]। इन प्रयोगो मे 'अहो' चिह्न कारक-रूप के साथ ही प्रयुक्त हुआ है; परतु सूर-काव्य मे ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमे दोनो के बीच मे दो-एक विशेषण भी आ गये हैं; जैसे—अहो पुनीत मीत केसरिसुत, तुम हित बधु हमारे[१९]।

च 'री' चिह्नयुक्त प्रयोग—सबोधनकारक के इस स्त्रीलिग चिन्ह का प्रयोग भी कही-कही सूर-काव्य मे मिलता है, जैसे—सूर स्याम यह कहति जननि सौं, रहि री मा धीरज उर धारे[२०]।

छ 'रे' चिह्नयुक्त प्रयोग—यह चिह्न पुल्लिग रूप के साथ ही प्रयुक्त होता है, जैसा कि सूरदास के इन उदाहरणो से स्पष्ट है—तातै कहत सँभारहिं रे नर काहे को इतरात[२१]। कहै प्रहलाद सुनौ रे बालक, लीजै जनम सुधारि[२२]। सूरदास के कुछ वाक्यो मे सबोधनकारकीय चिन्ह 'रे' का दोहरा प्रयोग भी किया गया है, जैसे—रे रे अध बीसहू लोचन, पर तिय हरन बिकारी[२३]। रे रे चपल बिरूप ढीठ तू बोलत बचन अनेरौ[२४]।

ज 'हे' चिह्नयुक्त प्रयोग—इस सामान्य सबोधन-द्योतक चिह्न का प्रयोग भी सूर-काव्य मे कही-कही मिल जाता है—विशेषत विनय पदो मे, जैसे—मेरैं हृदय नाहिं आवत हौ, हे गुपाल, हौं इतनी जानत[२५]। नमो नमो हे कृपानिधान[२६]।

झ. 'हो' चिह्नयुक्त प्रयोग—इसका प्रयोग बहुत कम पदो मे सूरदास ने किया है; जैसे—जब कान्ह काली लै चले, तब नारि बिनवै देव हो[२७]।

ञ केवल 'एजू', री, रे आदि चिह्न प्रयोग—ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमे विस्मयादिबोधक रूपो के साथ-साथ सबोधनकारक रूपो मे प्रयुक्त कोई न कोई सज्ञा या

---

१३. सा ९-१४४। १४. सा ३५३९। १५ सा ९-१२८।
१६. सा ९-५१। १७. सा ९-७। १८. सा. १०-४।
१९ सा ९-१४७। २० सा ५९५। २१ सा. २-२२।
२२ सा. ७-३। २३ सा ९-१३२। २४. सा. ९-१३२।
२५. सा १-२१७। २६. सा. २-३३। २७. सा. ५७७।

विशेषण शब्द अवश्य है, परन्तु सूर-काव्य मे कुछ ऐसे भी वाक्य मिलते हैं जिनमें संबोधित व्यक्ति-सूचक कोई संज्ञा न रहने पर 'एजू', 'री', 'रे' आदि का प्रयोग किया गया है ; जैसे— एजू तुम तो स्याम सनेही[२८]। कहु री सुमति कहा तोहिं पलटी[२९], देखि रे, वह सारँगधर आयौ,[३०]। पुत्रहु तैं प्यारी कोउ है री[३१]।

'विभक्ति'-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—विभिन्न कारको के साथ प्रयुक्त होनेवाली जिन विभक्तियो की सूची 'कारक' शीर्षक प्रसग के आरभ मे दी गयी थी, उनके उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है। उनके अतिरिक्त, उनके स्थान पर, कुछ सम्बन्धसूचक अव्ययो के प्रयोग भी सूर-काव्य मे मिलते हैं। ऐसे अव्ययो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—मुख्य और सामान्य।

क. मुख्य अव्यय शब्द—इस वर्ग मे वे शब्द आते है जिनका प्रयोग कवियो ने बहुत अधिक किया है। ऐसे मुख्य अव्यय ये हैं —

कारक	संबधसूचक अव्यय[३२]
करणकारक	कारन
अपादनकारक	आगैं
अधिकरणकारक	ऊपर, तर, तरैं, तलैं[३३], तीर, पास, भीतर।

अन्य ब्रजभाषा कवियो के समान सूरदास ने भी उक्त संबधसूचक अव्ययो का प्रयोग विभक्तियो के बदले मे किया है , जैसे—

कारन—या गोरस कारन कत सुत की पति खोवैं[३४]। निज जन कारन कबहुँ न गहरु लगायो[३५]। नृप तप कारन बनहिं सिधाए[३६]।

आगैं—कुँवर कौ पुनि गज मैमत आगैं डारयौ[३७]। ग्वालिनि आगैं अपनौ नाम सुनाइ[३८]। जसुमति आगैं कहिहौं जाई[३९]।

---

२८. सा. ३४९२। २९. सा ९-३८। ३०. सा ९-१२५। ३१. सा. ३६७।

३२. विभक्तियो के बदले में प्रयुक्त होनेवाले उक्त संबधसूचक अव्ययो के अतिरिक्त प० कामता प्रसाद गुरु ने कर्मकारक मे प्रति; करण मे करके, जरिये; संप्रदान मे अर्थ, निमित्त, लिए, वास्ते; अपादान में अपेक्षा, बनिस्वत आदि अव्यय और दिये हैं ('हिन्दी व्याकरण,' पृ० ३००); परन्तु ब्रजभाषा में उनका अधिक प्रयोग न मिलने के कारण उनको उक्त सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है—लेखक।

३३. पर, ऊपर-जैसे सम्बन्धसूचक अव्ययो के समान ही तर, तले, पास आदि को भी विभक्तियो के बदले मे प्रयुक्त होनेवाले रूपो मे माना जाना चाहिए। पं. कामता प्रसाद गुरु ने इनको स्वीकार नहीं किया है ('हिन्दी व्याकरण,' पृ० ३००); परन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने नीचे और पास को इसी वर्ग मे रखा है ('हिन्दी भाषा का इतिहास', पृ० २६५)। तर और तले वास्तव मे नीचे के ही पर्याय रूप हैं—लेखक।

३४. सा. ३६७। ३५. सा. ८-३। ३६. सा. ४-९।
३७. सा. ७-२। ३८. सा. १०-२८५। ३९. सा. ५२९।

ऊपर— चरन राखि उर ऊपर[४०] । पन्नगपति प्रभु ऊपर फन छावै[४१]। बात चक्र मिस व्रज ऊपर परि[४२] ।

तर—पग तर जरन न जानै मूरख[४३] । लकेश्वर बाँधि राम चरननि तर डारौं[४४] । सप्त समुद्र देउँ छाती तर[४५] । नव ग्रह परे रहैं पाटी तर[४६] । कर सिर तर करि[४७] ।

तरैं—कुँवर को डारि देहु गज मैंमत तरैं[४८] । कठुला कठ चिवुक तरैं मुख दसन बिराजैं[४९] । अबही मैं देखि आई, बसीवट तरैं ही[५०] ।

तलैं— वट्टा काटि कसूर भरम को फरद तलैं लै डारैं[५१] ।

तीर —माखन माँगत बात न मानत झँखत जसोदा जननी तीर[५२] ।

पास—लकपति पास अगद पठायौ[५३] ।

भीतर—उर भीतर[५४], गढ भीतर[५५] । दधि भाजन भीतर[५६] । पयोनिधि भीतर[५७] । भवन भीतर[५८] । रन भीतर[५९] ।

ख—सामान्य अव्यय शब्द—उक्त सबधसूचक अव्ययों के अतिरिक्त दो दर्जन से अधिक और भी ऐसे ही शब्द है जिनका विभक्तियो के बदले मे प्रयोग किया जाता है । डा० धीरेंद्र वर्मा ने अपने व्याकरण मे इनकी भी चर्चा की है[६०] । ऐसे शब्दो मे से अनेक के उदाहरण 'सूरसागर' मे मिलते हैं , जैसे—

अतर—देखत आनि सचयौ अतर[६१] । जिय घट अतर मेरैं[६२] । घन घन अंतर दामिनि[६३] ।

काज—असन काज प्रभु बन फल करे[६४] । कमल काज मैं आयौ[६५] । न्हान काज सो सरिता गयौ[६६] ।

ढिग—नगन गात मुसुकात तात ढिग[६७] । बाँभन हरि ढिग आयौ[६८] ।

तन—निरखि तरुवर तन[६९] । चितवति मधुबन तन[७०] ।

तुल्य—गनत अपराध समुद्रहि बूँद तुल्य भगवान[७१] । सारँग बिकल भयौ सारँग मैं सारँग तुल्य सरीर[७२] ।

---

४०. सा १-३ । ४१ सा १०-६५ । ४२. सा १०-७७ ।
४३ सा २-१३ । ४४ सा ९-८५ । ४५. सा ९-१०७ ।
४६. सा ९-११९ । ४७ सा. १०-६५ । ४८ सा ७-२ ।
४९. सा १०-१३४ । ५०. सा २८८६ । ५१ सा १-१४२ । ५२. सा १०-१६१ ।
५३. सा ९-१२८ । ५४ सा ९-१२१ । ५५ सा ९-१२५ । ५६ सा १०-१४१ ।
५७ सा ९-१२४ । ५८. सा १०-२८९ । ५९ सा ९-१५४ ।
६० 'व्रजभाषा व्याकरण' पृ १२३ ।
६१. सा १०-१३५ । ६२ सा १-२७५ । ६३. सा १०४८ । ६४. सा २-२० ।
६५. सा. ५३८ । ६६ सा. ६-७ । ६७. सा १०-१६४ । ६८ सा. १०-५७ ।
६९. सा. ९-८३ । ७० सा ३४०८ । ७१ सा. १-८ । ७२. सा १-३३ ।

नाई—खर कूकर की **नाई** मानि सुख[७३]। बिभीषन कौं मिले भरत की **नाई**[७४]। पालै प्रजा सुतनि की **नाई**[७५]

बाहर—बाँभन कौं घर **बाहर** कीन्हौं[७६]।

बिना—भक्ति **बिना** जौ कृपा न करते[७७]। कमल कमला रवि **बिना** बिकसाहिं[७८]।

बिनु—सुमित्रा सुत **बिनु** कौन धरावै धीर[७९]। सूर स्याम **बिनु** और करै को[८०]। अब को बसै जाइ ज हरि **बिनु**[८१]।

लिए—लोभ **लिए** दुर्बचन सहै[८२]। लोभ **लिए** परवस भए[८३]।

ग—अनुज घरनि सँग गए बनचारी[८४]।

संग—सखिनि सग वृषभानु किसोरी[८५]।

सम— जे जे तुव सूर सुभट, कीट **सम** न लेखौं[८६]।

सरिस—पापी, क्यौं न पीठि दै मोकौं, पाहन **सरिस** कठोर[८७]।

से—नैन कमल दल-**से** अनियारे[८८]।

सौं—गोबिंद-**सौं** पति पाइ[८९]। तिनका-**सौं** अपने जन कौ गुन मानत मेरुसमान[९०]।

हित—गज **हित**[९१]। जग **हित**[९२]। दासी दास सेव **हित** लाए[९३]। सुरन **हित**[९४]।

हेत—गगा **हेत** कियौ तप जाइ[९५]। प्रभु कर गहत ग्वालिनि चारु चुबन **हेत**[९६]। तृषा **हेत** जल झरना भरे[९७]। हाथ दए हरि पूजा **हेत**[९८]।

सर्वनामों के कारकीय प्रयोग—

व्रजभाषा मे प्रयुक्त होनेवाले मूल सर्वनामो की सख्या बारह है—**मैं, हौं, तू, आप, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन** और **क्या**। प्रयोग के अनुसार इनके छ भेद हैं—

१ पुरुषवाचक—**मैं, हौं, तू, वह, सो**।
२. निजवाचक—**आप**।
३. निश्चयवाचक—**यह, वह, सो**।
४. सबधवाचक—**जो**।
५. प्रश्नवाचक—**कौन** (कवन), **क्या**।
६. अनिश्चयवाचक—**कोई, कुछ**।

यह वर्गीगरण पडित कामताप्रसाद गुरु का है[९९], परतु डा० धीरेंद्र वर्मा ने इनके अतिरिक्त सर्वनामो के दो भेद और माने हैं—

---

७३. सा. १-२०३। ७४. सा १-३। ७५. सा. ५-३। ७६. सा. १०-५७। ७७. सा. १-२०३। ७८. सा. १-३३८। ७९. सा. ९-१४५। ८०. सा. १-१४। ८१. सा. ५६२। ८२. सा. १-५३। ८३. सा. २३७८। ८४. सा. १०-१९८। ८५. सा. २८२८। ८६. सा. ९-९७। ८७. सा. ९-८३। ८८. सा. ३-१३। ८९ सा. २-९। ९०. सा. १-८। ९१ सा. ८-४। ९२. सा. ९-११। ९३. सा. ७-८। ९४. सा. ८-८। ९५. सा. ९-९ ९६. सा १०-१८४। ९७. सा. २-२०। ९८. सा ४-१२। ९९. 'हिंदी व्याकरण', पृ. ९०-९१।

७. नित्यसंबंधी—सो । ८. आदरवाचक—आप[1] ।

विषय को स्पष्ट करने के लिए इन दोनो रूपो पर भी विचार करने की आवश्यकता है । अतएव प्रस्तुत प्रबंध मे इन दोनो को भी सर्वनामो के सातवें-आठवें रूपो मे स्वीकार किया गया है ।

पुरुषवाचक सर्वनामो के भेद—वक्ता, श्रोता और वर्ण्य विषय के आधार पर पुरुषवाचक सर्वनामो के तीन भेद होते है—

१. उत्तमपुरुष वक्ता—मैं, हौं । २ मध्यमपुरुष श्रोता—तू ।

३ अन्य पुरुष (वर्ण्य विषय)—वह, सो[2] ।

उत्तमपुरुष सर्वनामो की रूप-रचना—सर्वनाम भी विकारी शब्द होते हैं जिनके रूप लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं । उत्तमपुरुष सर्वनाम मैं और हौं दोनो लिंगो मे समान रूप से व्यवहृत होते है । अतएव इनमे केवल वचनो की दृष्टि से निम्नलिखित विकार होता है—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप	मैं, हौं,[3] हम[4]	हम
विकृत रूप	मो, मौं	हम

उत्तमपुरुष एकवचन के कारकीय प्रयोग—उत्तमपुरुष एकवचन सर्वनामो के विभिन्न कारको मे सूरदास द्वारा जो प्रयोग किये गये हैं, उनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं—

१ **कर्त्ताकारक**—इस कारक मे 'मैं', 'हौं' और 'हम' के एकवचन प्रयोग मूलरूप मे ही साधारणतया प्रयुक्त होते हैं । सूरदास ने भी ऐसा ही किया है, जैसे—

---

१ 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ७७ और ८६ ।

२ यह, जो, कौन, क्या, कोई और कुछ भी वर्ण्य विषय के आधार पर अन्य पुरुष-रूप के ही अतर्गत आते हैं—लेखक ।

३ डा० धीरेंद्र वर्मा ने उत्तमपुरुष मूलरूप 'हौं' के साथ 'हों' और 'हूं' रूप भी दिये हैं ('ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ६०) । ये रूप वस्तुत. 'हौं' के ही रूपातर हैं और इनके प्रयोग बहुत कम मिलते हैं । सूर-काव्य की प्राचीन प्रतियों और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश या इसके पूर्व प्रकाशित ग्रथो में ये कहीं-कहीं भले ही मिल जायँ, परतु सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' मे इनको स्थान नहीं मिला है—लेखक ।

४ 'हम' यद्यपि बहुवचन सर्वनाम है, परंतु इसका एक व्यक्ति के लिए प्रयोग भी बराबर मिलता है यद्यपि क्रिया इसके साथ बहुवचन रूप मे ही प्रयुक्त हुई है । अतएव एकवचन के अतर्गत उसे भी अप्रधान रूप से, कम से कम प्रयोग की दृष्टि से, सम्मिलित करना आवश्यक है—लेखक ।

अ. मैं —मैं भक्तबछल हौं[५]। मै जब अकास तै परौं[६]। मैं खेई ही पार कौं[७]। मैं कहि समुझायौ[८]।

आ. हौं —भक्त-भवन मैं हौं जु वसत हौं,[९] जन को हौं आधीन सदाई[१०]। हौं करिहौ तात बचन निरबाहु[११]। यह व्रत हौं प्रतिपलिहौ[१२]।

इ. हम —तुव सुत कौं पढाइ हम हारे[१३]। तातै कही तुम्हैं हम आइ[१४]। ये दुख हम न सुने न चहे री[१५]।

बात को प्रभावशाली ढग से कहने के लिए उक्त सर्वनाम-रूपो के साथ सूरदास ने एकाकीपन सूचक 'ही' और 'भी' अर्थवाची 'हूँ' अथवा उनके अन्य रूपो का भी कभी-कभी प्रयोग किया है, जैसे—

अ मैंहु—तुम जैसै स्रम वायु करत हौ, तैसै मैंहु डुलावौंगी[१६]। जैसै फिरति रध्र मग अँगुरी, तैसें मैंहु फिराऊँ[१७]।

आ मैंहूँ—अब मैंहूँ याकी दृढ देखौं[१८]। सूर स्याम ज्यौ उछँग लई मोहिं, त्यो मैंहूँ हँसि भेटौंगी[१९]। तुम कहति, मैंहूँ कहति सोइ[२०]। कछु मैंहूँ पहचानति तुमकौं[२१]।

उ हौंहूँ—हौंहूँ सग तिहारै खेली[२२]।

ऊ. हमहुँ—खेलत मैं को छोट वड, हमहुँ महर के पूत[२३]। सुनहु सूर घर, जाहु हमहुँ घर जैहे होत बिहान[२४]। तव तिनि दिननि कुमार कान्ह तुम हमहुँ हुती अपनै जिय भोरी[२५]। जाहु गृह परम धन, हमहुँ जैहैं सदन[२६]।

ए. हमहूँ—तुमहूँ नवल, नवल हमहूँ हैं[२७]। बदन उठावहु, हमहूँ देखन पावैं[२८]।

उक्त बलात्मक रूपो मे तो सर्वनामो के मूल रूप सुरक्षित हैं, परतु एक-दो स्थानो पर 'महूँ'-जैसे विकृत रूपो का प्रयोग भी सूरदास ने किया है, जैसे—तेरी घाँ ह्वै महूँ लरी[२९]।

कर्मकारक-- उत्तमपुरुषएकवचन सर्वनामो के मूलरूपो —मैं और हौं—का प्रयोग सूरदास ने कही-कही पर कर्मकारक मे भी किया है, जैसे—

---

५. सा. १-२४३। ६ सा ९-२। ७. सा. ९-४२। ८. सा. ९-११६।
९ सा १-२४३। १०. सा ९-७। १० सा ९-३४। १२. सा. ९-३५।
१३. सा. ७-२। १४. सा.७-२। १५ सा. ३००६। १६. सा. ११४७।
१७. सा. २१४१। १८. सा. ४-९। १९ सा. ११४७। २०. सा. १३३५।
२१. सा. २१६६। २२. सा. २८९२। २३. सा. ५८९। २४. सा. १०१७।
२५. सा. १९३१। २६. सा. १९४८। २७ सा. २८८३। २८. सा. २९१६।
२९. सा. २४३४।

अ. मै—मैं तुम पै व्रजनाथ पठायो । आतम ज्ञान सिखावन आयो[३०] ।

आ हौं—झगरिनि तैं हौं वहुत खिझाई[३१] । जमुना, तै हौं वहुत रिझायो[३२] । हौं पठयो कतही वेकाजै[३३] ।

'सूरसागर' मे कर्मकारकीय विभक्तियो, कौं और हिं, का प्रयोग वहुत हुआ है। व्रजभापा के अनेक कवियो ने उत्तमपुरुप एकवचन सर्वनामो के मूल रुपो, मैं और हौं, मे से 'हौं' मे दोनो विभक्तियो को जोडकर 'हौंकौं' और 'हौंहिं'-जैसे रूप वनाये हैं, परन्तु 'सूरसागर' मे 'हम' एकवचन के साथ ही इन विभक्तियो का सयोग अधिक मिलता है , जैसे—

अ हमकौं—केहि कारन हम (ध्रुव) कौं भरमावत[३४] । कौनेहुँ भाव भजै कोउ हम (कृष्ण) कौं[३५] ।

आ हमहिं—हमहिं (कृष्ण को) छांडि किनि देहु[३६] ।

'हौं' और 'हम' एकवचन के मूलरूप मे ही कर्मकारकीय विभक्तियो, कौं और हिं, के सयोग का कारण यह है कि इनके विकृत रुप व्रजभाषा मे नही होते । 'मैं' का विकृत रूप 'मो' अवश्य प्रयुक्त होता है जिसका प्रयोग कभी तो कर्मकारक मे विना विभक्ति के ही सूरदास ने किया है, जैसे— सुनी तगीरी बिसरि गई सुधि मो तजि भये नियारे[३७] । और कभी 'कौं' और 'हिं' विभक्तियो के साथ, जैसे—

अ. मोकौं—मोकौं मारि सके नहिं कोइ[३८] । तुम मोकौं काहे बिसरायो[३९] । इन मोकौं नीकैं पहिचान्यो[४०] ।

आ मोहिं—तुम पावहु मोहिं कहाँ तरन कौं[४१] । नाथ, सकौ तो मोहिं उधारो[४२] । जारत हैं मोहिं चक्र सुदरसन[४३] ।

दो-एक उदाहरण सूर-काव्य मे ऐसे मिलते हैं जहाँ 'मैं' के विकृत रूप 'मो' के साथ दोनो विभक्तियो का प्रयोग किया गया जान पडता है, जैसे—सुद्धा भक्त मोहिं कौं चाहै[४४] । परन्तु वास्तव मे यहाँ 'हिं' विभक्ति रूप मे नही, 'ही' के अर्थ मे है।

'हम' एकवचन के साथ कही-कही 'ऐं' के सयोग से कर्मकारकीय रूप बनाये गये हैं, यद्यपि एकवचन मे ऐसे प्रयोगो की सख्या अधिक नही है, जैसे—जद्यपि हमै (सती को) बुलायो नाहिं[४५] ।

मो, हौं और हम, इनमे से प्रथम और अतिम के ही 'हूँ'-युक्त बलात्मक प्रयोग कर्मकारक मे अधिक मिलते है , जैसे—

---

३०. सा. ४०९४ । ३१ सा १०-१६ । ३२ सा २९१३ । ३३ सा ४१३० ।
३४. सा ४-९ । ३५ सा ७८७ । ३६ सा २९०७ । ३७ सा १-१४३ ।
३८. सा ७-२ । ३९ सा ९-२ । ४० सा १०३२ । ४१ सा १-१३० ।
४२. सा. १-१३१ । ४३ सा. ९-७ । ४४. सा ३-१३ । ४५ सा. ४-५ ।

अ. मोहूँ—सूर स्याम मोहूँ निदरौगे देहुँ प्रेम की गारि[४६]। मोहूँ बरबस उतहिं चलावत दूत भए उन केरे[४७]।

आ. हमहूँ—हमहूँ बोलि उहाँई लीजौ[४८]।

इन बलात्मक प्रयोगो के साथ कही-कही विभक्ति का प्रयोग भी सूर-काव्य मे मिलता है, जैसे—मोहूँ को चुचुकारि गयौ लै[४९]। औरनि-सी मोहूँकौं जानति[५०]।

३ करणकारक—विभक्तिरहित मूल रूपो का प्रयोग करणकारक मे सूरदास ने नही के बराबर ही किया है, ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही मिलते हैं; जैसे—

मोहन, क्यौं ठाढे, बैठत क्यौं नाही, कहा परी हम (प्यारी से) चूक[५१]।

करणकारकीय विभक्तियो मे पाँच—कौं, तैं, पै, सौं और हिं—का प्रयोग सूरदास ने अधिकता से किया है। पुरुषवाचक एकवचन सर्वनाम के तीन रूपो—मो (मैं का विकृत रूप), हौं और हम मे से 'हौं' के विभक्तियुक्त रूप सूर-काव्य मे बहुत ही कम मिलते हैं। 'मो' के साथ उक्त तीनो विभक्तियो का सयोग सूर-काव्य मे खूब मिलता है, जैसे—

अ. मोकौं—सुनहु सूर जो बूझति मोकौं, मैं काहुँ न पहिचानौं[५२]।

आ. मोत—मोतैं कछू न उबरी हरि जू, आयौ चढत-उतरतौ[५३]। गुरु-हत्या मोतैं ह्वै आई[५४]। भयौ पाप मोतैं बिनु जान[५५]। कन्या कह्यौ, मोतैं बिन जानैं यह भयौ[५६]।

इ मोपै या मोपैं—माँगि लेइ अब मोपैं सोइ[५७]। ताकौ विषम विषाद अहो मुनि मोपैं सह्यौ न जाइ[५८]। तात की आज्ञा मोपैं मेटि न जाइ[५९]। दधि मैं सैंत की मोपैं चीटी सबै कढाई[६०]।

ई. मोसौं—अब मोसौं अलसात जात हौ अधम-उधारनहारे[६१]। मोसौं बात सकुच तजि कहियैं[६२]। यह तुम मोसौं करौ बखान[६३]।

उ मोहिं—मोहिं प्रभु तुमसौं होड परी[६४]। जब मोहिं अगद कुसल पूछिहै, कहा कहौंगी वाहि[६५]। ऐसौ कौन, मारिहै ताकौं, मोहिं कहै सो आई[६६]।

उक्त पाँचो विभक्तियो मे से कुछ के सयोग से 'हम' एकवचन के भी करणकारकीय प्रयोग सूर-साहित्य मे मिलते है जैसे,—

अ. हमतै—हमतैं चूक कहा परी तिय, गर्व गहीली[६७]। कहैं नद, हमतैं कछु सेवा न भई[६८]।

---

४६. सा.१९३२। ४७ सा. २३५२। ४८. सा. २५३९।
४९ सा. ४८१। ५० सा. २७२६। ५१ सा. २४८४। ५२. सा. २५५९।
५३ सा १-२०३। ५४. सा. १-२६१। ५५. सा. ३-५। सा. ५६ सा. ९-३।
५७ सा. ४-९। ५८ सा. ९-७। ५९. सा. ९-५३। ६०. सा. १०-३२२।
६१. सा. १-२५। ६२. सा. १-१३६। ६३. सा.२-३५। ६४. सा.१-१३०।
६५. सा. ९-७५। ६६. सा. १०-६०। ६७. सा. २१४५। ६८. सा. ३४७४।

आ **हमसौं**—सो हमसौं (व्यास सौं) कहि क्यौं न सुनावै[६९]। हमसौं (अश्वत्थामा सौं) कछु न भई मित्राई[७०]। बहुरि कहत हमसौं (सरमिष्ठा सौं) वात[७१]।

कौं, तैं, पै, (प), सौं और हिं—इन पांच प्रमुख विभक्तियो के अतिरिक्त **'तें'** और **'सन'** का प्रयोग भी करणकारक मे सूरदास ने किया है। 'हौं' और 'हम' के साथ तो नही, **'मै'** के विकृत रूप **'मो'** के साथ इनका प्रयोग कही-कही मिलता है, जैसे—

अ **मोतें**—तुम सब कियौ सहाइ भयौ तब कारज मोतें[७२]।

आ **मोसन**—अनबोली न रहै री आली आई मोसन वात वनावन[७३]।

'सूरसागर' मे कही-कही **'मोहिं'** के साथ अन्य विभक्तियो का पुन सयोग करके करणकारकीय प्रयोग किये गये हैं, जैसे—

भ्रमि मैं तो रिस करति न रस-वस, **मोहि सौं** उलटि लरत[७४]।

इसी प्रकार **'मोहिं'** के दीर्घ स्वरात रूप **'मोहीं'** के साथ भी **'तैं'**, **'सौं'** आदि विभक्तियो का करणकारक मे प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ **मोहीं तैं**—मोहीं तैं परी री चूक, अतर भए हैं जातैं[७५]।

आ **मोही सौं**—जौ झुकि कछूक कह्यौ चाहति हौं, उनहिं जानि सखि **मोही सौं** लइ[७६]। अब आवति ह्वैहै बनि बनि सब **मोही सौं** चित लाई[७७]।

'हूं' जोडकर बनाए गये वलात्मक करणकारकीय प्रयोग भी कही-कही 'सूरसागर' मे मिलते हैं, जैसे—

मोहूं—आपु गए **मोहूं** कहैं, चलि मिलि ब्रजराज[७८]।

और ऐसे प्रयोग सर्वत्र विभक्तिरहित हो, सो बात भी नही है, कही-कही इनके साथ करणकारकीय विभक्तियो का प्रयोग भी मिलता है, जैसे—

अ **मोहूं सौं**—मुख की भलाई तुम **मोहूं सौं** करन आए[७९]। **मोहूं सौं** निठुरई ठानी हो मोहन प्यारे[८०]।

आ **हमहूं सौं**—भीने रग कौन के हौ स्याम **हमहूं सौं** कत हौ दुरावत[८१]।

करणकारकीय एकवचन सर्वनामो के अपवाद प्रयोगो मे **'मोहु'**-जैसे रूपो के उदाहरण समझना चाहिए जो दो-एक पदो मे ही मिलते हैं, जैसे—

भृगु कै दुर्बासा तुम होहु। कपिल कै दत्त, कहौ तुम **मोहु**[८२]।

४ **संप्रदान कारक**—पुरुषवाचक एकवचन सर्वनामो के सप्रदानकारकीय रूपो की सख्या अधिक नही है और उनके जो रूप इस कारक मे प्रयुक्त हुए हैं, वे करणकारकीय रूपो से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। विभक्ति-रहित रूपो के सप्रदानकारकीय प्रयोग बहुत कम मिलते हैं, जैसे—

---

६९ सा १-२२६। ७० सा १-२८९। ७१ सा ९-१७४। ७२ सा ४३१। ७३ सा २७५५। ७४ सा २०९१। ७५ सा १११५॥ ७६. सा २८१७ ७७. सा १४९६। ७८ सा २३८७। ७९. सा. २५४७। ८० सा. २५४९। ८१ सा. २५५२। ८२. सा ५-४।

हरि चुवक जहँ मिलहिं सूर-प्रभु मो लै जाहु तहीं[८३]। तवही तै मन और भयो सखि मो तन सुधि बिसरी[८४]।

सम्प्रदानकारकीय प्रधान विभक्तियो 'कौं', 'सौं' और 'हिं' का प्रयोग सूर-काव्य मे विशेष रूप से मिलता है, जैसे—

अ. **मोकौं**—जातैं मोकौं सूली दयौ[८५]। तीन पँग वसुधा दै मोकौं[८६]। पापी क्यों न पीठि दै मोकौं[८७]। नैंकु गोपालहिं मोकौं दै री[८८]।

आ **मोसौं**—तुम प्रभु मोसौं बहुत करी[८९]।

इ. **मोहिं**—पाँच वान मोहिं सकर दीन्हे[९०]। मोहिं होत है दुःख विसेपि[९१]। कह्यौ, सेज मोहिं देहु हरी[९२]। सकुच नाहिंन मोहिं[९३]।

ई **हमहिं**—ऐसे मुख की वचन माधुरी, काहे न हमहिं सुनावति हौ[९४]।

'हम' एकवचन के साथ 'एँ' के सयोग से जो कर्मकारकीय रूप 'हमैं' वनाया गया है, उसका प्रयोग सम्प्रदानकारक मे कही-कही मिलता है, जैसे—

हमैं—हमैं मत्र दीजै[९५]। नृप कह्यौ, इद्रपुर की न इच्छा हमे[९६]। तैं पाती क्यौ हमै पठाई[९७]। इनकी लज्जा नहिं हमैं[९८]।

'कौं' के स्थान पर कही-कही उसके रूपान्तर 'कहँ' का प्रयोग भी सूर-काव्य मे मिलता है ; जैसे—

मोकहँ अरु सो भक्ति कीजै किहिं भाइ। सोऊ मो कहँ देउ वताइ[९९]।

इसी प्रकार 'मोहिं' के दीर्घ स्वरात रूप 'मोहीं' का प्रयोग भी सूरदास ने कही-कही किया है, जैसे—मोहीं दोष लगायौ[१]। मोही कछु न सुहात[२]।

विभक्तियुक्त रूप 'मोहिं' के साथ-साथ एक-दो स्थलो पर 'करि' का प्रयोग भी देखने मे आता है , जैसे—

मोहिं करि—मैं जमुना जल भरि घर आवति, मोहिं करि लागो ताँवरो[३]।

'हूँ' के सयोग के वलात्मक सम्प्रदानकारकीय प्रयोगो के उदाहरण भी कुछ पदो मे मिलते है, जैसे—

हमहूँ—धर्म-नीति यह कहाँ पढी जू हमहूँ बात सुनावहु[४]।

ऐसे वलात्मक रूपो के साथ सम्प्रदानकारकीय विभक्तियो का सयोग भी कही-कही दिखायी पडता है , जैसे—

मोहूँकौं—मोहूँ कौं प्रभु आज्ञा दीजै[५]।

---

८३. सा. ३००२। ८४. सा. १२६९। ८५. सा. ३-५।
८६ सा. ८-१४। ८७. सा ९-८३। ८८. सा. १०-५५।
८९. सा. १-११६। ९०. सा. १-२८७। ९१ सा. १-२९०। ९२. सा. १-२६८।
९३. सा. १-१०६। ९४. सा २१९९। ९५. सा. १-२७५। ९६. सा. ४-११।
९७. सा. ४१९५। ९८. सा. १-२३८। ९९. सा. ३-१३। १. सा. २२४६।
२. सा. ३९४४। ३. सा. २८८५। ४. सा. २५३६। ५. सा. ४-५।

हमहूँ कौं—डर उनकौ हमहूँ कौं है[६] ।

५ अपादान कारक—इस कारक मे प्रयुक्त रूपो की सख्या सूर-काव्य मे सबसे कम है। इसकी मुख्य विभक्तियाँ हैं 'तैं' और 'सौं' जिनका प्रयोग 'मो' और हम के साथ ही मिलता है, जैसे—

अ. मोतैं—अजामील बातनि ही तारयौ हुतौ जु मोतैं आधौ[७] । मोतैं को हो अनाथ[८] । मोतैं और देव नहिं दूजा[९] । सूर स्याम अतर भए मोतैं[१०] ।

अ मोसौं— इस रूप का प्रयोग बहुत कम पदो मे मिलता है, जैसे—लोचन ललित त्रिभगी छवि पर अटके मोसौं तोरि[११] ।

ई हमतैं—हमतैं (दुर्योधन तैं) विदुर कहा है नीकौ[१२] ।

बलात्मक रूपो के साथ भी कही-कही इस 'तैं' विभक्ति का सयोग दिखायी देता है, जैसे—

मोहूँ तैं—मोहूँ तै को है नीकौ[१३] । मोहूँ तैं ये चतुर कहावति[१४] । मोहूँ तैं वे ढीठ कहावत[१५] ।

६ सबधकारक—एकवचन मूलरूप सर्वनाम 'मैं' और 'हौं' तथा 'हम' (एकवचन) मे से प्रथम और अतिम के विकृत रूपो के अनेक सबधकारकीय प्रयोग सूर-काव्य मे मिलते हैं। 'मैं' के विकृत प्रयोगो मे निम्नलिखित प्रधान हैं—

अ मम—मम लाज[१६] । सप्त दिवस मम आइ[१७] । मम सुत[१८] । मम बत्सल[१९] ।

उक्त उदाहरणो मे तो सबधी शब्द के पूर्व सबधकारकीय शब्द का प्रयोग किया गया है, परतु कही कही उसके बाद भी सर्वनाम आया है, जैसे—धान मम खाई[२०] ।

आ मेरी—मेरी सकल जीविका[२१] । मेरी नौका[२२] । मेरी अँखियनि[२३] ।

सबधी शब्द के पश्चात् भी इस सबधकारकीय सर्वनाम रूप का प्रयोग सूरदास ने निस्सकोच किया है, जैसे—प्रतिज्ञा मेरी[२४] । बिनती मेरी[२५] सीख मेरी[२६] ।

इ. मेरे—मेरे गुन-अवगुन[२७] । मेरे मन[२८] । मेरे प्रान-जिवन-धन[२९] ।

सबधी शब्द के पश्चात् भी कही-कही यह सबधकारकीय सर्वनाम रूप दिखायी देता है, जैसे—द्वार मेरे[३०] ।

ई मेरौ—मेरौ जिय[३१] । मेरौ गर्ब[३२] । मेरौ साँइयाँ[३३] ।

---

६ सा २५३९ । ७ सा १-१३९ । ८. सा. १०-१५१ ।
९ सा ८४३ । १० सा १११० । ११. सा २२४७ ।
१२ सा १-२४३ । १३ सा १-१३८ । १४ सा १७७१ । १५ सा २३२० ।
१६ सा १-२४६ । १७ सा २-१ । १८ सा ९-३२ । १९ सा. ९-१५३ ।
२० सा १-२८४ । २१ सा ९-४१ । २२ सा ९-४२ । २३ सा. १०-१३९ ।
२४ सा ७-५ । २५ सा ४९३ । २६. सा ९-३४ । २७. सा १-१११ ।
२८. सा. ९-२ । २९ सा ३७० । ३० सा ९-१२९ । ३१ सा ९-४२ ।
३२. सा. १०-५९ । ३३ सा. ५७७ ।

सबंधी शब्द के पश्चात् भी '**मेरौ**' का प्रयोग अनेक स्थलो पर मिलता है, जैसे—स्वामि **मेरौ** जागि है[३४]। मन **मेरौ**[३५]।

कुछ उदाहरण सूर-काव्य मे ऐसे भी मिलते है जिनमे संबधकारकीय सर्वनाम-रूप सबधी शब्द के बाद मे आया है और दोनो के बीच मे अन्य शब्द आ गये है, जैसे—

कह्यौ, न आव नाम मोहिं **मेरौ**[३६]। हृदय कठोर कुलिस तैं **मेरौ**[३७]।

उ **मो**—**मो** मस्तक[३८]। **मो** रिपु[३९]। **मो** कुटुंब[४०]। **मो** मन[४१]।

ऊ. **मोर**—सवधकारकीय इस सर्वनाम रूप के प्रयोग की विशेषता यह है कि वाक्य मे प्राय सर्वत्र इसे सबधी शब्द के पश्चात् ही सूरदास ने रखा है, जैसे—ससय **मोर**[४२]। जीवन-धन **मोर**[४३]। बालक **मोर**[४४]। मनोरथ **मोर**[४५]।

कही-कही सबधी शब्द और सवधकारकीय '**मोर**' के बीच मे एक-दो शब्द भी सूरदास ने रख दिये हैं, जैसे—**धर्म** विनासन **मोर**[४६]।

ए **मोरि**—इस सबधकारकीय रूप का प्रयोग सूर-काव्य मे अपेक्षाकृत कम मिलता है और मोर के समान अधिकतर सबधी शब्द के पश्चात् ही सूरदास ने इसका प्रयोग किया है, जैसे—बिनतीकीजौ **मोरि**[४७]।

ऐ **मोरी**—'**मोरि**' के समान ही,इस सवकारकीय सर्वनाम के प्रयोग भी सूर-काव्य मे बहुत कम मिलते है और सो भी प्राय सबधी शब्द के पश्चात्, जैसे—मोतिसरि **मोरी**[४८]।

कही-कही सबधी शब्द और सबधकारकीय सर्वनाम रूप '**मोरी**' के बीच मे अन्य शब्द भी आ गये है, जैसे—मूसे मन-सपति सब **मोरी**[४९]।

ओ **मोहिं**—'**मोहिं**' सवधकारकीय रूप नही है, अपवादस्वरूप ही इसका प्रयोग इस कारक मे सूरदास ने किया है, जैसे—छमौ **मोहिं** अपराधु[५०]।

'*हम*' का मूलरूप सबधकारकीय प्रयोग बहुवचन मे तो अनेक पदो मे मिलता है, परन्तु एकवचन मे, एक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होने पर भी, इसकी ध्वनि अनेक की ओर संकेत करती है, जैसे—उत्तर दिसि **हम** नगर अजोध्या है सरजू के तीर[५१]। सीता जी के इस '*हम*' से सकेत निश्चय ही केवल अपने से नही, पति और देवर से भी है।

'*हम*' एकवचन के विकृत रूपो मे निम्नलिखित के सबधकारकीय प्रयोग सूर-साहित्य मे मिलते हैं—

अ. हमरी—उन सम नहिं **हमरी** (हरि की) ठकुराई[५२]।

आ. हमरे— तुम पति पाँच, पाँच पति हमरे (द्रौपदी के)[५३]।

---

३४. सा ५७७। ३५. सा. ३७५७। ३६. सा. ४-१२। ३७. सा. ७-५।
३८. सा. १-२७८। ३९ सा. ७-२। ४०. सा ९-४२। ४१. सा. ३७२९।
४२. सा. ९-२३। ४३. सा. १०-३१०। ४४ सा. ३९८। ४५. सा. २७६७।
४६. सा. ९-८३। ४७ सा. ५८३। ४८. सा. १९७७। ४९. सा. १९३१।
५०. सा. ४९२। ५१. सा. ९-४४। ५२. सा. ४१९५। ५३. सा. १-२५८।

इ. हमार--इस सबधकारकीय सर्वनाम रूप का प्रयोग एकवचन मे 'हमरो' और 'हमरे' से अधिक मिलता है। सूरदास ने प्राय सबधी शब्द के पश्चात् ही इसका प्रयोग किया है, जैसे—कह्यो सुक, सुनि साखि हमार[५४]। सकट मित्र हमार[५५]। कही कही सबधी शब्द और कारकीय रूप के बीच मे दो-एक अन्य शब्द भी सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए है, जैसे—पौरुप देखि हमार[५६]।

ई हमारी—यहै हमारी (सूर की) भेट[५७]।

सबधी शब्द के पूर्व 'हमारी' के प्रयोग के उदाहरण सूर-काव्य मे कम हैं, परतु उसके पश्चात् प्रयोग के उदाहरण अनेक मिलते है, जैसे—सूरदास प्रभु हँसत कहा हौ, मेटौ विपति हमारी[५८]। मैं तोहिं सत्य कहौं दुरजोधन, सुनि तू बात हमारी[५९]। मापौ देह हमारी (बलि की)[६०]।

उ. हमारे—हमारे प्रभु ओगुन चित न धरौ[६१]।

परतु ऐसे उदाहरणो की सख्या बहुत कम है, अधिकतर उदाहरण ऐसे ही हैं जिनमे 'हमारे' का प्रयोग सबधी शब्द के बाद किया गया है, जैसे—धाम हमारे (सूर के) कौं[६२]। नाथ हमारे(सूर के)[६३]। हरि जू कह्यौ, सुनौ दुरजोधन, सत्य सुबचन हमारे[६४]। तुम हित बधु हमारे[६५]।

ऊ हमारौ—इस सबधकारकीय रूप का भी संबधी शब्द के पूर्व प्रयोग तो कम किया गया है, परतु उसके पश्चात् के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—अतरजामी नाउँ हमारौ[६६]। भक्तवछल है विरद हमारौ[६७]। बृथा होहु बर बचन हमारौ[६८]।

'मैं' और 'हम' (एकवचन) के विकृत सबधकारकीय रूपो मे से बलात्मक रूप केवल प्रथम के ही अधिक मिलते है जिनमे निम्नलिखित प्रधान हैं।

अ मेरीयै—इसका प्रयोग इने-गिने पदो मे मिलता है। साधारणत सबधी शब्द के पूर्व ही कवि ने इसका प्रयोग किया है, जैसे—यह सब मेरीयै आइ कुमति[६९]। निकट भऐं मेरीयै छाया मोकौं दुख उपजावति[७०]।

आ मेरोइ—इस बलात्मक रूप का प्रयोग सूरदास ने दो-एक पदो मे प्राय सबधी शब्द के पूर्व ही किया है, जैसे—मेरोइ कपट-सनेहु[७१]।

इ मेरोई—'ओ' को 'औ' बना देने की प्रवृत्ति के कारण सभा के 'सूरसागर' मे 'मेरोई'-जैसे प्रयोग नही है, फिर भी अपवादस्वरूप एक-दो पदो मे इसका प्रयोग मिल जाता है, जैसे - मेरोई भजन थापि माया सुख झुठयौ[७२]।

---

५४ सा २-२। ५५ सा ९-१४७। ५६ सा ९-८९। ५७ सा १-१४६।
५८. सा १-१७३। ५९ सा १-२४४। ६० सा ८-१४। ६१ सा १-२२०।
६२ सा १-१५१। ६३ सा १-१८७। ६४ सा १-२४२। ६५. सा ९-१४७।
६६. सा १-२४३। ६७ सा १-२४४। ६८ सा ९-३३। ६९ सा. १-३००।
७०. सा १८५३। ७१ सा ३१९६। ७२ सा. ३४५७।

ई. **मेरौई**—एकवचन सबधकारकीय सर्वनामो के उक्त तीनो बलात्मक रूपो में इस शब्द का प्रयोग सूर-काव्य मे कुछ अधिक मिलता है। अधिकाशत. इसका प्रयोग भी सवधी शब्द के पूर्व ही दिखायी देता है; जैसे–यह तौ **मेरौई** अपराधौ[७३]। **मेरौई** ज्यौ जानै माई[७४]।

७. **अधिकरण कारक**–इस कारक के विभक्तिरहित विकृत प्रयोगो मे दो रूप प्रधान हैं—'**मेरैं**' और '**हमारै**'। एकवचन अप्रधान रूपो मे '**मोहिं**' का प्रयोग अपवाद-स्वरूप दिखायी देता है। '**हौं**' के मूल या विकृत, किमी भी रूप का प्रयोग अन्य कारको की भाँति इसमे भी नही मिलता।

क. **सामान्य विभक्तिरहित प्रयोग**—

अ. **मेरै**—पाट विरव ममता है **मेरैं**[७५]। मैं-मेरी अब रही न **मेरैं**[७६]। **मेरै** नहिं सत्राई[७७]।

आ. **हमारै**—हरि, तुम क्यौ न **हमारै** (दुर्योधन के) आए[७८]। खेलन कवहुँ **हमारे** (कृष्ण के) आवहु[७९]। रैनि वसत कहुँ, भोर **हमारै** आवत नही लजाने[८०]।

इ **मोहिं**—विभक्तिरहित '**मोहिं**' के अधिकरणकारकीय प्रयोग एक-दो पदो मे मिल जाते हैं, जिन्हे अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए, जैसे—अब **मोहिं** कृपा कीजियै सोई[८१]।

ख **विभक्तिसहित प्रयोग**—एकवचन सर्वनाम रूपो के साथ जिनका प्रयोग विशेष रूप से सूर-काव्य मे मिलता है, वे हैं पर, पैं, पै, महिमाँ, माँझ और मै। मो, मोहिं, मोहीं और हम (एकवचन) के साथ इनका प्रयोग कवि ने अधिक किया है, जैसे—

अ **मो पर**—कियौ वृहस्पति **मो पर** कोहु[८२]। चली जाउ सैना सव **मो पर**[८३]। **मो पर** ग्वालि कहा रिसाति[८४]। **मो पर** रिस पावति हो[८५]।

आ **मो पै**—थाती प्रान तुमारी **मो पै**[८६]। नहुष कह्यौ, इद्रानी **मो पै** आवै[८७]। **मो पै** काहे न आवत[८८]। **मो पै** कहा रिसान्यौ[८९]।

इ. **मो मैं**—कै कछ **मो मैं** झोलौ[९०]। औगुन और बहुत हैं **मो मैं**[९१]। **मो मैं** एक भलाई[९२]। पिय जिय **मो मैं**[९३] नाहिं।

ई. **मोहिं पर**—'**मोहिं**' के साथ 'पर' विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने बहुत कम किया है, पर किया अवश्य है, जैसे—कृपा करि **मोहिं पर**[९४]।

---

७३. सा १०९२। ७४ सा २०८९। ७५. सा. १-१४१। ७६. सा २-३३। ७७ सा. ४-५। ७८. सा. १-२४४। ७९. सा. ६७४। ८०. सा २५४६। ८१. सा. ४-५। ८२. सा. ६-५। ८३. सा. ९-१०७। ८४. सा १३३३। ८५. सा. १३३४। ८६. सा. १-१९६। ८७. सा. ६-७। ८८. सा १३६९। ८९ सा. १८९३। ९०. सा. १-१३६। ९१ सा १-१८६। ९२. सा. १-२९०। ९३. सा २१०४। ९४. सा. १-२१४।

उ. **मोहिं महियाँ**—यह प्रयोग भी सूर-काव्य मे एक-दो पदो मे ही दिखायी देता है; जैसे—हौं उन माहिं कि वै **मोहिं महियाँ**[९५]।

ऊ. **मोहिं मांझ**—'मोहिं' के साथ 'मांझ' विभक्ति भी दो-एक पदो मे ही दिखायी देती है, जैसे—जानत हौ प्रभु अतरजामी जो **मोहिं मांझ** परी[९६]।

ए **मोहीं पर**—'मोहिं' की अपेक्षा 'मोहीं' का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है, परतु इसके साथ 'पर' विभक्ति ही प्राय प्रयुक्त हुई है, जैसे ग्वारिनि **मोहीं पर** सतरानी[९७]। यह चतुरई परी **मोहीं पर**[९८]। तू **मोहीं पर** खरी परी[९९]।

ऐ **हम पैं**—'हम' (एकवचन) के साथ 'पैं' विभक्ति का प्रयोग कवि ने कभी-कभी ही किया है, जैसे – कहा भयौ जो **हम**(कृष्ण)**पैं** आई[१]। इतने गुन **हम पैं** कहाँ[२]।

ओ. **हम पै**–'हम पैं' के समाम ही 'हम पै' का प्रयोग भी कुछ पदो में दिखायी देता है, जैसे—**हम पै** नाहिं कन्हाइ[३]। समाचार सब उनके लै **हम** (हरि जू) **पै** चलि आवहु[४]।

ग **अन्य प्रयोग**—उक्त रूपो के अतिरिक्त सूर-काव्य मे अधिकरणकारकीय कुछ सामान्य प्रयोग और मिलते हैं, जैसे—

अ **मो मौं**–उक्त विभक्तियो के अतिरिक्त दो-एक पदो मे 'मौं' विभक्ति का भी प्रयोग किया गया है जिसे 'मैं' का रूपातर समझना चाहिए, जैसे–कछु न भक्ति **मो मौं**[५]।

आ **मेरे पर**—इसी प्रकार अपवादस्वरूप दो-एक पदो मे सबधकारकीय एकवचन सर्वनाम रूप 'मेरे' के साथ अधिकरणकारकीय 'पर' विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—एकै चीर हुतौ **मेरे पर**[६]। कैसै दौरि परी **मेरे पर**[७]।

ई **मोकौं**—कर्मकारकीय सविभक्ति सर्वनाम रूप 'मोकौं' का प्रयोग भी एक दो-पदो मे अधिकरणकारक मे प्रयुक्त मिलता है, जैसे—हरि, कृपा **मोकौं** करि[८]।

ई **हमरैं**—दो-एक पदो मे सबधकारकीय रूप 'हमरे' मे 'एँ' के योग से अधिकरण-कारकीप रूप बना लिया गया है, जैसे—उरबसी कह्यौ, बिना काम **हमरैं** नहिं चाह[९]।

उ **हमहीं पर**—एकाकीपन सूचक 'हमहीं' के साथ 'पर' विभक्ति का प्रयोग भी अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए, जैसे—**हमहीं पर** पिय रूसे हौ[१०]।

सारांश—विभिन्न विभक्तियो के पूर्व पुरुषवाचक एकवचन सर्वनाम किन रूपो मे आते हैं और विभक्ति का सयोग होने पर उनके कितने रूप हो जाते हैं, सूरदास के उक्त प्रयोगो के आधार पर उनकी सूची इस प्रकार है। इनमे कोष्टबद्ध रूप अप्रधान हैं।

---

९५. सा १०-१३५। ९६ सा १-१८४। ९७ सा १३३१। ९८ सा १७६७। ९९ सा २४३४। १ सा १०१७। २ सा २६८८। ३ सा ६८२। ४. सा ४१६०। ५ सा १-१५१। ६ सा-१-२४७। ७ सा. १९५६। ८. सा. १०-२५२। ९ सा ९-२। १०. सा. २६९१।

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	मैं हौं (हम)	...
कर्म	मैं (हौं) (हम)	मोकौं, मोहिं, (हमकौं), (हमहिं) (हमैं)।
करण	(मैं) (मो) (हम)	मोकौ, मोतैं, मोपै, (मोते), मोतै, मोसौं, मोहिं, (हमतैं), (हमसौं)।
सम्प्रदान	(मैं-मो) (हम)	(मो कहँ), मोकौं, मोसौ, मोहिं, (मोहिं करि), मोही (हमहिं), (हमैं)।
अपादान	...	मोतैं, (हमतैं)।
संबंध	मम	मेरी, मेरे, मेरौ, मो, मोर, (मोरि), (मोरी), (मोहिं), (हमरी), (हमरे), (हमार) (हमारी), हमारे, हमारौ।
अधिकरण	मेरैं (मोहिं) हमरै	(मेरे पर), (मोकौ), मो पर, मो पै, मो मैं, (मो मौ), (मोहिं पर), (मोहिं महियाँ), (मोहिं माँझ), (मोही पर), (हम पैं), (हम पै)।

उत्तम पुरुष बहुवचन के कारकीय प्रयोग—

विभिन्न कारको मे, उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम 'हम' का प्रयोग सूर-काव्य में, मूल और विकृत, दोनो रूपो मे किया गया है।

कर्त्ताकारक—इस कारक की विभक्ति 'ने' है, परतु सूरदास ने सर्वत्र विभक्तिरहित 'हम' के ही सामान्य और बलात्मक प्रयोग किये है।

क. **सामान्य प्रयोग**—मूल और विकृत रूपो मे समानता के कारण 'हम' का प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता है, जैसे –सुखी हम रहत[११]। रिपिनि तासौं कह्यौ, आउ हम नृपति तुमकौं बचावैं[१२]। हम तिहुँ लोक माहिं फिरि आए[१३]। बसन बिना असनान करतिं हम[१४]।

ख **बलात्मक प्रयोग**—'हम' के साथ, उसको बलात्मक रूप देने के लिए 'हीं', 'हुँ' और 'हूँ' का प्रयोग सूरदास ने सर्वत्र किया है, जैसे—

११. सा. १-२८४। १२ सा. २-१६। १३. सा. ९-८। १४. सा. ७७२।

अ. हमहीं—हमहीं कहति बजावहु मोहन[१५]। हमहीं कुलटा नारि[१६]। यह पुनीत, हमहीं अपराधिनि[१७]। चरित्र हमहीं देखैंगी, जैसैं नाच नचावहुगे[१८]।

आ. हमहूँ—सुनि जु लीजै कछू हमहूँ जानैं[१९]। हमहूँ स्याम कौं धावैं[२०]। कैसैं हरि सँग हमहूँ विहारैं[२१]।

इ हमहूँ—हमहूँ कह्यौ[२२]। हमहूँ सुख पावैं[२३]।

२ कर्मकारक—सूर-काव्य मे वहुवचन सर्वनाम 'हम' के जो कर्मकारकीय रूप प्राप्त होते है, उनमे मुख्य नीचे दिये जाते हैं।

अ हम—कौन काज हम महरि हँकारी[२४]। हरि हम तव काहै कौं राखी[२५]। इहिं कुविजा हम जारी[२६]। उर तैं निकसि नदनदन हम सीतल क्यो न करी[२७]।

आ हमैं—यह 'हम' का विभक्तिरहित विकृत रूप है जिसका प्रयोग सूरदास ने कर्मकारक मे बरावर किया है, जैसे—सूर बिसारहु हमैं न स्याम[२८]। काहे तैं तुम हमैं निवारयौ[२९]। हमैं कहौ केतौ किन कोई[३०]। मुरली निदरि हमैं अधरनि रस पीवति[३१]।

इ. हमकौं—'हम' के विभक्तियुक्त कर्मकारकीय रूपो मे प्रमुख है 'हमकौं'। इसके प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलते है, जैसे—उन हमकौं कैसैं बिसरायौ[३२]। तिन भय मान्यौ हमकौं देखि[३३]। वैद्य जानि हमकौं बहरावत[३४]। तुम हमकौं कहँ कहँ न उबारयौ[३५]।

ई. हमहिं—कर्मकारक मे प्रयुक्त दूसरा विभक्तियुक्त रूप है 'हमहिं' जिसका प्रयोग भी, 'हमकौं' के समान, सर्वत्र मिलता है, जैसे-हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु[३६]। हमहिं पठाइ दिए नँदनन्दन[३७]। प्रभु, तुम जहाँ तहँ हमहिं लेत बचाइ[३८]।

कर्मकारक के बलात्मक रूप 'हमहूँ' का प्रयोग भी गिने-चुने पदो मे दिखायी देता है, जैसे—हमहूँ किन लै जाहिं सूर प्रभु[३९]।

३ करणकारक—सूरदास के करणकारकीय बहुवचन प्रयोगो मे विभक्तियुक्त रूपो की ही प्रधानता दिखायी देती है। कौं, तैं, पै, पैं, सन और सौं—इन छह विभक्तियो के अतिरिक्त विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' के योग से भी करणकारकीय रूप सूरदास ने बनाये हैं।

अ. हमकौं— वस्तुत यह कर्मकारकीय रूप है, जिसका सूरदास ने कुछ पदो मे

---

१५. सा १३१४। १६ सा १८४४। १७ सा २०५९। १८ सा २५२५।
१९. सा. १७२९। २०. सा २२५५। २१. सा २९१०। २२. सा. १५२५।
२३ सा. १५४६। २४. सा. ८९०। २५. सा. ३२०९। २६. सा. २६४०।
२७. सा. ३७९०। २८ सा. १-२८१। २९ सा ६-४। ३०. सा. ९-२।
३१ सा ६५६। ३२. सा. ४-५। ३३ सा. ६-४। ३४. सा. ९-३।
३५ सा. ५०२। ३६ सा ४५०। ३७. सा ४५४। ३८ सा ५०४।
३९. सा ३८४९।

करणकारक मे भी प्रयोग किया है, जैसे—पर्वत पर बरसहु तुम जाई । यहै कही हमकों सुरराई[४०] । ऐसे हरि हमकौं कहौ, कहुँ देखे हो री[४१] ।

आ. **हमत**—इस करणकारकीय रूप का प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है, जैसे—चूक परी हमतै यह भोरै[४२] । कहहु कहा हमतै बिगरी[४३] । ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतै सुनी न जाही[४४] ।

इ. **हमपैं**—सूर-काव्य मे करणकारक का यह रूप भी आदि से अत तक पाया जाता है, जैसे—हमपैं घोष गयौ नहिं जाई[४५] । ऐसी दान माँगियै नहिं जौ हमपै दियौ न जाई[४६] । सूधैं गोरस माँगि कछू लै हमपै खाहु[४७] । सह्यौ परत हमपैं नही[४८] ।

ई **हमपै**—'हमतै' और 'हमपैं' के समान 'हमपै' का प्रयोग भी सूरदास ने इस कारक मे बहुत किया है, जैसे कैसैं सह्यौ जात हमपै यह जोग जु पठै दयौ[४९] । कैसैं सही परति अब हमपै मन मानिक की हानि[५०] । ऐसौ जोग न हमपैं होइ[५१] । दान जु माँगै हमपैं[५२] ।

उ. **हम सन**—करणकारकीय उक्त सभी विभक्तियो मे सबसे कम प्रयोग सूर ने 'सन' का ही किया है। अपवादस्वरूप इसके उदाहरण दो-एक पदो मे ही मिलते हैं, जैसे--सूर सु हरि अब मिलहु कृपा करि, बरबस समर करत हट हम सन[५३] ।

ऊ. **हमसौं**—इसका भी करणकारक मे सूरदास ने सर्वत्र प्रयोग किया हैं, जैसे—माँगि लेउ हमसौं वर सार[५४] । (ब्रह्मा) माँगि लेइ हमसौं बर सोइ[५५] । ठग के लच्छन हमसौं सुनियै[५६]

बहुवचन मूलरूप 'हम' के बलात्मक रूप 'हमहूँ' के साथ भी कही-कही कवि ने 'सौं' विभक्ति का प्रयोग किया है, जैसे—बरबस ही इन गही चपलता, करत फिरत हमहूँ सौं चोरी[५७] । हुतौ कछू हमहूँ सौं नातौ निपट कहा बिसराई[५८] ।

ए. **हमहीं**—सूरदास द्वारा प्रयुक्त करणकारकीय रूपो मे 'हमहिं' भी प्रमुख रूप है; जैसे—ब्रज के लोगनि धोइ बहावहु इद्र हमहिं कह्यौ आदर[५९] । तब मानैं सब हमहिं बतावहु[६०] । हमहिं कहौ तुम करति कहा यह[६१] । हमहिं कह्यौ कहौ स्याम दिखावहु[६२] ।

४. **सम्प्रदानकारक**—इस कारक मे मूल और विकृत रूप के विभक्तिरहित, विभक्ति-सहित और बलात्मक, तीन प्रकार के प्रयोग मिलते है ।

क. **विभक्ति-रहित प्रयोग**—इस प्रकार के प्रयोगो मे मूल सर्वनाम रूप 'हम' और विकृत रूप 'हमैं' के निम्नलिखित उदाहरण आते हैं—

---

४०. सा. ९३५ । ४१. सा. १११८ । ४२. सा. ३४४ ।
४३. सा. ३७७७ । ४४. सा ३९२४ । ४५ सा १०२२ । ४६. सा १४६२ ।
४७. सा. १६१८ । ४८. सा २८८२ । ४९. सा. ३६२८ । ५०. सा. ३६७८ ।
५१. सा. ३७९४ । ५२ सा ३७९५ । ५३ सा. २११७ । ५४. सा ४-३ ।
५५. सा. ७-२ । ५६. सा १४१४ । ५७. सा. २३०६ । ५८. सा. ४०९९ ।
५९. सा. ८७९ । ६० सा १५८४ । ६१ सा. १६४४ । ६२. सा. १७६६ ।

अ. हम—इसका सम्प्रदानकारक मे अपवादस्वरूप प्रयोग दो-एक पदो मे दिखायी देता है, जैसे—नैन करै सुख हम दुख पावै[६३]। प्रगट दरस हम दीजै[६४]।

आ हमैं—इस विकृत रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है, जैसे—सवनि कह्यौ, देहु हमैं सिखाइ[६५]। हमैं खिलाई फाग[६६]। स्यामसुन्दर कौ हमैं सँदेसो लायौ[६७]।

ख. विभक्ति-सहित प्रयोग—'कहँ,' 'को' और 'कौं'—मुख्यत इन्ही विभक्तियो के सयोग से सूरदास ने सम्प्रदानकारकीय रूप बनाये है और कही-कही विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' युक्त रूपो का भी प्रयोग किया है।

अ हम कहँ—'कौं' की अपेक्षा कहँ विभक्तियुक्त सम्प्रदानकारकीय प्रयोग सूर-काव्य मे कम हैं, जैसे—मुरली हम कहँ सौति भई[६८]। अपने बस्य किये नँदनदन बैरिनि हम कहँ आई[६९]।

आ हमको—'सूरसागर' के दो-एक पदो मे 'को' विभक्ति भी सम्प्रदानकारकीय रूप बनाने मे काम आयी है, जैसे—सिव-सकर हमको फल दीन्हौ[७०]। वास्तव मे ऐसे प्रयोगो को अपवाद ही समझना चाहिए, क्योकि 'को' का प्रयोग तो सभा के सस्करण मे कदाचित् किसी भी कारकीय विभक्ति के रूप मे नही किया गया है।

इ. हमकौं—सूरकाव्य मे सम्प्रदानकारक की मुख्य विभक्ति 'कौं' ही है। कवि ने इसका प्रयोग सर्वत्र किया है, जैसे—अपने सुत कौं राज दिवायौ, हमकौं देस निकारी[७१]। हमकौं दान देहु, पति छांडहु[७२]। माँगहिं यहै, देहु पति हमकौं[७३]। हमकौं कछु देहौ[७४]।

ई. हमहिं—'हमकौं' के समान ही 'हमहिं' का प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता है, जैसे—तुम बिन राज हमहिं किहिं काम[७५]। चोली हार तुमहिं कौं दीन्हौं, चीर हमहिं द्यौ डारी[७६]। मुरली हमहिं उपाधि भई[७७]। राधा सौं करि बीनती, दीजै हमहिं मँगाइ[७८]।

उ हमहीं—यह 'हमहिं' का दीर्घ स्वरात रूप है जिसका प्रयोग भी सूरकाव्य मे कही-कही दिखायी देता है, जैसे—लोचन बहु न दिये हमहीं[७९]। सृगी मुद्रा भस्म अधारी, हमहीं कहा सिखावत[८०]। तुम अज्ञान कतहिं उपदेसत ज्ञान रूप हमहीं[८१]।

ग बलात्मक प्रयोग—सम्प्रदानकारकीय बलात्मक प्रयोग सूर-काव्य मे दो-चार ही मिलते हैं जिनमे कुछ विभक्तिरहित हैं और कुछ विभक्तिसहित, जैसे—

अ हमहूँ—धनि धनि सूर आज हमहूँ जो तुम सब देखे पाए[८२]।

---

६३ सा २२५६। ६४ सा ३९१२। ६५ सा ७-२। ६६ सा ३१५५
६७. सा ३४९७। ६८. सा १२४०। ६९ सा १२७०। ७० सा ७९८।
७१ सा ९-४४। ७२ सा ५७५। ७३ सा ७६४। ७४ सा १७६६।
७५ सा. १-२८१। ७६ सा ७८८। ७७ सा १२७२। ७८. सा २९१५।
७९. सा १८४८। ८०. सा. १८१२ ८१ सा. ३९००। ८२. सा ४०९२।

आ. हमहूँ कौं—हमहूँ कौं अपराध लगावहिं, येऊ भई दिवानी[८३]।

५ अपादान कारक—इस कारक मे प्रयुक्त एकवचन के समान वहुवचन मे भी रूपो की सख्या वहुत कम है। हमतैं, हमहिं, हमहूँ तैं—इन तीन अपादानकारकीय रूपो के ही प्रयोग 'सूर-काव्य' मे मिलते हैं।

अ. हमतैं—यह इस कारक का मुख्य प्रयोग है। इसके उदाहरण सूर-काव्य में सर्वत्र मिलते हैं, जैसे—दीन आजु हमतैं कोउ नाही[८४]। हमतैं तप मुरली न करे री[८५]। हमतैं वहुत तपस्या नाही[८६]। सूर सुनिधि हमतैं है विछुरत[८७]।

आ. हमहिं – इस रूप के प्रयोग केवल दो-एक पदो मे मिलते है, जैसे – की पुनि हमहिं दुराव करौगी[८८]।

इ हमहूँ तैं—वलात्मक 'हमहूँ' के साथ 'तैं' विभक्ति का प्रयोग भी दो-एक पदो मे ही सूर-काव्य मे मिलता है, जैसे—वातैं कहा वनावति मोसौ हमहूँ तै तू चतुर भई[८९]।

६. सवधकारक—वहुवचन के सवधकारकीय रूपो मे से हम, हमरी, हमरे, हमरौ, हमार, हमारी, हमारे और हमारौ—इन आठ रूपो का सूरदास ने अधिकतर प्रयोग किया है।

अ. हम—जाइ हम दु ख सारौ[९०]। उत्तर दिसि हम नगर अजोध्या[९१]। वडे भाग है श्रीगोकुल के, हम मुख कहे न जाही[९२]।

आ. हमरी—हमरी जय[९३]। हमरी पति[९४]। मर्यादा पतिया हमरी[९५]। हमरी विथा[९६]। हमरी सुरति[९७]।

इ हमरे—हमरे गुनहिं[९८]। हमरे प्रीतम[९९]। हमरे प्रेम-नेम[१]। हमरे मन[२]। हमरे मिलन[३]।

ई हमरौ—इस सर्वनाम रूप और उसके संवधी शव्द के वीच मे कही-कही कुछ अन्य शव्द भी आ गये है, जैसे—हमरौ चीतौ[४]। हमरौ कछू दोष[५]। नाउँ सुनि हमरौ[६]। प्रतिपाल कियौ तुम हमरौ[७]। फगुआ हमरौ[८]। मन करथ्यौ हमरौ[९]।

उ. हमार—उक्त रूपो की अपेक्षा 'हमार' का प्रयोग सूरदास ने कम किया है;

---

८३ स. २२६१। ८४. स १०२९। ८५. सा १३४७। ८६. सा. १३४९।
८७. सा २९८४। ८८. सा. १७७०। ८९. सा २०१२। ९० सा ४-११।
९१. सा. ९-४४। ९२ सा २९१६। ९३ सा ७-७। ९४. सा ७९९।
९५. सा ४०६४। ९६ सा ३६७७। ९७. सा. ३३८२। ९८ सा. ३५४३।
९९. सा ३७४३। १ सा. ३७२९। २ सा. ३७०९। ३. सा. ३२५४।
४. सा. १०-३७। ५ सा ३६३५। ६ सा १२८७। ७ सा ३११२।
८. सा २९१५। ९ सा १८१७।

फिर भी अनेक पदो मे यह मिलता है, जैसे—मन हमार[१०] । सिख-साखि हमार[११] । हृदय हमार[१२] ।

ऊ हमारी—'हमरी' के समान कही यह सबधी शब्द के पहले आया है, कही बाद मे और कही-कही दोनो के बीच मे अन्य शब्द भी मिलते हैं, जैसे—हमारी आस[१३] । इद्री खड्ग हमारी[१४] । जननि हमारी[१५] । हमारी जन्मभूमि[१६] । व्यथा हमारी[१७] । हमारी साध[१८] ।

ए हमारे—हमारे अवर[१९] । अपराध हमारे[२०] । कुल, इष्ट हमारे[२१] । हमारे देहु मनोहर चीर[२२] । दीनानाथ हमारे ठाकुर[२३] । प्रान हमारे[२४] । मनहरन हमारे[२५] ।

ऐ हमारौ—इस रूप का प्रयोग अधिकतर सबधी शब्द के बाद किया गया है और कही-कही दोनो के बीच मे भी एक-दो शब्द आ गये हैं, जैसे—अकाज हमारौ[२६] । अपराध हमारौ[२७] । जिय एक हमारौ[२८] । जीवन-प्रान हमारौ[२९] । नाउँ हमारौ[३०] । भूपन देखि न सकत हमारौ[३१] ।

७ अधिकरण कारक—इस कारक मे विभक्तिरहित विकृत रूप और विभक्तिसहित मूल रूप के प्रयोग सूरदास ने अधिकाश मे किये हैं ।

क. विभक्ति-रहित विकृत रूप—हमरे, हमरैं और हमारैं इन तीन रूपो के विभक्तिरहित प्रयोग ही 'सूरसागर' मे अधिकतर मिलते हैं, जैसे—

अ हमरे—हमरे प्रथमहिं नैन को[३२] । नदनदन बिनु हमरे को जगदीस[३३] ।

आ हमरैं—सबधकारकीय रूप 'हमरे' के साथ अनुस्वार का सयोग करके यह रूप बनाया गया है । इसका प्रयोग सूरदास ने दो-एक पदो मे किया है, जैसे—तुम लायक हमरैं कछु नाही[३४] । हमरैं कौन जोग ब्रत साधैं[३५] ।

इ हमारैं—'हमरैं' के समान ही 'हमारैं' का भी रूप-निर्माण हुआ है, परतु उसकी अपेक्षा इसका प्रयोग 'सूरसागर' मे अधिक मिलता है, जैसे—हरि सौं पुत्र हमारैं होइ[३६] । हमारैं सूर स्याम कौ ध्यान[३७] । गृह जन की नहिं पीर हमारैं[३८] । जो कछू रह्यौ हमारैं सो लै हरिहिं दियौ[३९] ।

---

१०. सा ३२८५ । ११ सा २-२ । १२ सा ३८०८ ।
१३. सा. ७३५ । १४ सा १-१४४ १५ सा ३४७ ।
१६ सा. ९-१६५ । १७ सा ३७६५ । १८ सा २२६८ । १९ सा ७८८ ।
२० सा. ९-५२ । २१ सा ९-१६७ । २२ सा ७९२ । २३ १-१९ ।
२४. सा ३७६१ । २५. सा १२९५ । २६ सा १२४२ ।
२७. सा. १०८८ । २८ सा. १०-२६६ । २९ सा १६१२ ।
३०. सा १७५७ । ३१ सा १५४१ । ३२. सा. ३५५९ । ३३ सा ३७०२ ।
३४ सा ९१८ । ३५ सा ३८९५ । ३६ सा ३-१३ । ३७. सा. ७८२ ।
३८. सा १०२८ । ३९. सा. २३०४ ।

ई. **हमैं**—इस सर्वनाम रूप का अधिकरणकारकीय प्रयोग भी दो-चार पदो मे दिखायी देता है, जैसे—हमै-तुम्है सवाद जु भयौ[४०]।

ख. **विभक्तिसहित प्रयोग—पर, पै** और **मै**, इन तीन विभक्तियो के साथ-साथ **'कौं'** के योग से भी अधिकरणकारकीय रूप सूरदास ने वनाये है—

अ. **हम पर**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने सबसे अधिक किया है, जैसे—गए हरि हम पर रिस करि[४१]। हम पर कोप करावति[४२]। सदय हृदय **हम पर** करौ[४३]।

आ. **हम पै**—इसके प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलते है, जैसे—सूरदास वैसी प्रभुता तजि, **हम पै** कब वै आवैं[४४]।

इ. **हम मैं**—इसका प्रयोग भी दो-एक पदो मे ही दिखायी देता है; जैसे—की मारौ की सरन उवारौ। हममैं कहा रह्यौ अब गारौ[४५]।

ई. **हमकौं**—अपवादस्वरूप इस कर्मकारकीय रूप का भी प्रयोग अधिकरणकारक मे एक-दो पदो मे दिखायी देता है, जैसे—जब जब **हमकौं** विपदा परी[४६]।

सारांश—उत्तमपुरुष बहुवचन सर्वनाम 'हम' के मूल और विकृत विभक्तिरहित और सहित जिन प्रधान और अप्रधान रूपो के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	हम	..
कर्म	हम, हमैं	हमकौ, हमहिं।
करण	....	(हमकौ), हमतैं, हमपै, हमपै, (हम सन), हमसौं, हमहिं (हमही)।
सम्प्रदान	(हम), हमैं	(हम कहँ), (हमकौ), (हमकौ), हमहिं, हमही।
अपादान	...	हमतै, (हमहिं)।
सबध	हम	हमरी, हमरे, हमरौ, हमार, हमारी, हमारे, हमारौ।
अधिकरण	(हमरैं), (हमारैं), (हमैं)	हम पर, (हम पै), (हममैं), (हमकौं)।

मध्यमपुरुष सर्वनामों की रूप-रचना—

व्रजभाषा मे पुरुषवाचक मध्यमपुरुष 'तू' के जो रूप दोनो वचनो मे प्रयुक्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

---

४०. सा ३-१३। ४१. सा ५८९। ४२. सा. ६५५। ४३. सा. ११८०। ४४. सा. २४०५। ४५. सा. ९४२। ४६. सा. १-२८१।

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	तू, तूं, तें, तै, तुम	तुम
विकृत	तो	तुम

मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनामो के कारकीय प्रयोग —

मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनामो के विभक्ति से रहित और सहित जो विभिन्न कारकीय रूप 'सूरसागर' मे मिलते हैं, उनमे से कुछ यहाँ सकलित है।

१. **कर्त्ताकारक**—इस कारक मे कवि ने अधिकाशत मूल रूपो—तू, तूं, तै और तुम (एकवचन)—के सामान्य और बलात्मक प्रयोग किये है। 'तें' के उदाहरण प्राचीन प्रतियो मे भले ही मिलें, सभा के 'सूरसागर' मे इसको स्थान नही दिया गया है। दूसरी बात यह है कि इस कारक मे प्रयुक्त प्राय स ी रूप विभक्ति-रहित है।

क. **सामान्य प्रयोग**—तुम (एकवचन), तूं, तू और तै—इस कारक मे इन्ही चार रूपो का सूर ने विशेष प्रयोग किया है।

अ. **तुम** इस बहुवचन रूप का एक व्यक्ति के लिए प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र किया गया है, जैसे **तुम** (कृष्ण) कब मोसौं पतित उधारयौ[४७]। **तुम** (गोपाल) अतर दै बिच रहे लुकाने[४८]। यह **तुम** (ब्रह्मा) मोसौं करौ बखान[४९]। **तुम** (राजा) कह्यौ[५०]।

आ. **तूं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने इने-गिने पदो मे ही किया है, जैसे—कत **तूं** सुआ होत सेमर कौ[५१]।

इ **तू**—'तूं' की अपेक्षा 'तू' का प्रयोग सूरदास ने बहुत अधिक किया है। जैसे—भऍं अपमान उहाँ **तू** मरिहै[५२]। मत्स्य कह्यौ, आँखि अब मीचि **तू**[५३]। जौ **तू** रामहिं दोष लगावै[५४]। तब **तू** गयौ सून भवन[५५]।

ई '**तै**'—'तू' के समान 'तै' का प्रयोग भी कवि ने बहुत किया है, जैसे—**तै** सिव की महिमा नहिं लही[५६]। **तै** यह कर्म कौन है कियौ[५७]। **तै** जोबन-मद तै यह कीन्यौ[५८]।

ख **बलात्मक प्रयोग**—उक्त चारो मूल रूपो मे से 'तूं' के अतिरिक्त शेष तीनो के बलात्मक प्रयोग सूरदास ने किये हैं और इस सबध मे उनकी विशेषता यह है कि कुछ रूपो के तो एक से अधिक बलात्मक रूपो का उन्होने निर्माण किया है।

अ. **तुमहिं**—प्रान बिनु हम सब भए ते **तुमहिं** (कृष्ण ने ही) दियौ जिवाइ[५९]। कौन लीजै, कौन तजियै, सखि, **तुमहिं** कहौ जानि[६०]। हमकौं लै तहँ **तुमहिं** (स्याम ने ही) छपायौ[६१]।

---

४७ सा १-१३२। ४८ सा १-२१७। ४९ सा २-३५।
५० सा ५-४। ५१ सा १-५९। ५२ सा ४-५। ५३ सा ८-१६।
५४ सा ९-७७। ५५ सा ९-९७। ५६ सा ४-५। ५७ सा ९-३।
५८, सा, ९-१७४। ५९, सा, ५०४। ६०, सा १४५९। ६१ सा, १६१६।

आ. **तुमहीं**—तुमहीं (नरहरि) करत त्रिगुन बिस्तार[६२]। तुमहीं कहौ[६३]। तौ तुमहीं (श्रीकृष्ण) देखौ[६४]।

इ. **तुमहुं**—मृतक सुरनि कौं तुमहुं (सुरगुरु) जिवावौ[६५]। तुमहुं (सजनी) कहौ यह बानी[६६]।

ई. **तुमहु**—जाहु तुमहु बलराम[६७]। त्यौं मेरौ मन तुमहु (प्रिय) हरौ[६८]।

उ. **तुमहूं**—तुमहूं (गुरु) यह विद्या पढि आवौ[६९]। नवल स्याम, नवला तुमहूं हौ[७०]।

ऊ **तुहिं** - इस रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही एक-दो पदो मे दिखायी देता है, जैसे — ज्ञान तुहिं कर्म तुहिं बिस्वकर्मा तुही[७१]।

ऋ **तुहीं**—'तुहिं' की अपेक्षा इस रूप का प्रयोग 'सूरसागर' मे बहुत अधिक मिलता है, जैसे—तुहीं न लेत जगाय[७२]। तुहीं किधौ ठग मूरी खाई[७३]। स्याम कौ इक तुहीं जान्यौ[७४]। तुहीं पिय भावति[७५]।

ए. **तुहूं**—'तुहीं' के समान ही इस बलात्मक रूप का भी प्रयोग सूरदास ने खूब किया है, जैसे तुहूं उठति काहे नही[७६]। मौसौ कहत, तुहूं नहि आवै[७७]। बिहरत हरि जहाँ, तहाँ तुहूं आव री[७८]।

ऐ **तूही**—इस रूप का प्रयोग 'सूरसागर' मे कही-कही दिखायी देता है, जैसे - सर्प रूप तूही (नृप) होहि[७९]। सठ, हठ करि तूही पछितैहै[८०]।

ओ. **तैहीं**—रीति यह नई तैहीं चलाई[८१]। तैही स्याम भले पहिचाने[८२]। तैहीं उनकौं मूड चढ़ायौ[८३]।

औ. **तैहूं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत कम किया है; जैसे—तैहूं जो हरि हित तप करिहै[८४]।

२ **कर्मकारक**—इस कारक मे प्रयुक्त मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनाम-रूप मुख्यत. दो प्रकार के हैं--विभक्तिरहित और विभक्तिसहित। दूसरे प्रकार के प्रयोगो मे 'हिं' और 'कौं', दो विभक्तियो का आश्रय कवि ने अधिक लिया है।

क **विभक्तिरहित रूप**—इस प्रकार के रूपो मे 'तुम' (एकवचन), तू और तुम्हैं (एकवचन) प्रधान हैं।

अ. **तुम** - इस रूप का प्रयोग गिने-चुने पदो मे ही दिखायी देता है, जैसे - बूझौ जाइ जिनहि तुम (मधुकर) पठए[८५]। तुम देखे अरु ओऊ[८६]।

---

६२. सा७-२। ६३ ९-१७२। ६४. सा १०-२०७। ६५. सा. ९-१७३। ६६ सा. १७३२। ६७. सा. ३७९। ६८. सा ११४७। ६९ सा. ९-१७३। ७० सा. १८५९। ७१. सा. ४११८। ७२. सा. ५८९। ७३. सा १४११। ७४ सा १८४३। ७५. सा २५७८। ७६ सा १९६६। ७७. सा. २२५२। ७८ सा २८८७। ७९. सा ६-७। ८०. सा. ८०४। ८१ सा १७३०। ८२ सा १८४४। ८३. सा. २०८८। ८४. सा. ४-९। ८५. सा. ३९५०। ८६. सा. ३९७५।

ऐ तुम सौं—एकवचन मे इस बहुवचन रूप के करणकारकीय प्रयोग कुछ पदो मे मिलते है, जैसे—हमसौं तुमसौं बाल मिताई[२९]। हम तुमसौं कहति रही[३०]।

ओ तुमहिं—साँच कहौं मैं तुमहिं श्रीदामा[३१]। सुफलक-सुत यह तुमहिं बूझियत[३२]।

ग बलात्मक प्रयोग - इस प्रकार के प्रयोगो की सख्या अधिक नही हैं। केवल तोही, तुमही तै, तुमहीं-जैसे दो-तीन रूप ही इस कारक मे कही-कही मिलते हैं।

अ तोही – कहा करौ, बूझौं तोही री[३३]। भई विदेह बूझति तोही री[३४]।

आ तुमहीं—पालागो तुमहीं (ऊधौ से) बूझति हो[३५]।

इ तुमहीं तै—हम बालक तुमकौं कह सिखवैं, हम तुमहीं तै जात[३६]।

ई तुमही पै—जोग ज्ञान की बातै ऊधौ, तुमही पै बनि आई[३७]।

घ सम्प्रदानकारक—इस कारक मे विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त, दो प्रकार के रूप मिलते हैं जिनमे प्रथम की सख्या बहुत कम है। विभक्तिसहित रूपो के समान्य प्रयोगो के साथ बलात्मक रूप भी मिलते हैं।

क विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत केवल एक रूप 'तुम्हें' आ सकता है जिसका प्रयोग कवि ने अनेक पदो मे किया है, जैसे—तातैं देउँ तुम्हें (धर्मराज को) मैं साप[३८]। हँसि कह्यौ, तुम्हें (सिव को) दिखराइहौं रूप वह[३९]। चौदह वर्ष तुम्हें (राम को) वर दीन्हौं[४०]। देउँ तुम्हें (प्रद्युम्न को) मैं बताई[४१]।

ख विभक्तिसहित प्रयोग—'तुम' एकवचन और 'तो' के साथ 'कौं' और 'हिं' या 'हीं' के सयोग से सूरदास ने जो सम्प्रदानकारकीय रूप बनाये है उनमे चार—तुमकौं, तुमहिं, तोकौं और तोहिं—प्रमुख हैं।

अ. तुमकौं—लक बिभीषन, तुमकौं दैहौं[४२]। तुमकौं (कृष्ण को) माखन दूध दधि-मिश्री हौ ल्याई[४३]। जोग पाती दई तुमकौं (ऊँधौ को)[४४]।

आ. तुमहिं—जोतिष गनिकैं चाहत तुमहिं (नदहिं) सुनायौ[४५]। यह पूजा किन तुमहिं सिखायौ[४६]। देउँ सुख तुमहिं (स्यामहिं) सग रँगरलिहौं[४७]।

इ तोकौं—भग सहस्र मैं तोकौं दई[४८]। एक रात तोकौं सुख दैहौं[४९]। चौदह सहस तिया मैं तोकौं पटा बँधाऊँ आज[५०]।

ई तोहिं—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने 'तोकौं' से कुछ अधिक किया है,

---

२९ सा. १-२८९। ३० सा १७७०। ३१ सा ५३८। ३२ सा २९७८।
३३. सा. १९१७। ३४ सा १९१८। ३५. सा. ४००३। ३६ सा.२९७९।
३७. सा. ३७०४। ३८ सा ३-५। ३९ सा ८-१०। ४० सा. ९-३२।
४१. सा ४१८९। ४२. सा ९-१५७। ४३ सा १०-२०९। ४४. सा. ३९३२।
४५.सा. १०-८६। ४६. सा. ८९७। ४७ सा. २६०४। ४८ सा ६-८।
४९. सा. ९-२। ५०. सा ९-७९।

जैसे—नर कौ नाम पारगामी हो, सो तोहिं स्याम दयौ[५१]। मैं वर देऊँ तोहिं सो लेहि[५२]। कपिल कह्यौं, तोहिं भक्ति सुनाऊँ[५३]। सुक कह्यौ, देहौं विद्या तोहि पढ़ाई[५४]।

ग. **बलात्मक प्रयोग**—सम्प्रदानकारक मे सूरदास ने दो-एक बलात्मक प्रयोग कुछ पदो मे किये है, जिनमे निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. **तुमहिं कौं**—चोलीहार **तुमहिं कौं** (कृष्ण ही को) दीन्हौं[५५]।

आ **तुमहीं**—सब कोऊ **तुमहीं** (ऊधौ को ही) दूषन दैहै[५६]। ऊधौ, निरगुनहिं कहत **तुमहीं** सो लेहु[५७]।

५ **अपादान कारक**—इस कारक मे अधिकाश प्रयोग विभक्तियुक्त मिलते है जिनको सामान्य और बलात्मक, दो वर्गो मे रखा जा सकता है।

क **विभक्तियुक्त सामान्य प्रयोग**— 'तैं' और 'सौं' के साथ साथ 'हिं' के योग से भी अपादानकारकीय रूप कवि ने बनाये हैं जिनमे मुख्य नीचे दिये हैं। इनमे से प्रथम और अतिम रूपो का प्रयोग बहुत हुआ है।

अ **तुमतैं**—**तुमतैं** को अति जान है[५८]। **तुमतैं** घटि हम नाही[५९]। **तुमतैं** (राधा तैं) न्यारे रहत न कहुँ वै[६०]। तुम अति चतुर, चतुर वै **तुमतैं** (राधा तै)[६१]।

आ **तुमसौं**—जा दिन तै हम **तुमसौं** (जसुदा सौ) बिछुरे[६२]।

इ. **तोतैं**—**तोतैं** प्रियतम और कौन है[६३]। **तोतैं** चतुर और नहिं कोऊ[६४]। काहैं कौं इतराति सखी री, **तोतैं** प्यारी कौन[६५]।

ख **विभक्तियुक्त बलात्मक प्रयोग**—इस प्रकार के रूप कवि ने प्राय 'तैं' विभक्ति के योग से अधिक बनाये है, जैसे—

अ. **तुमहिं तैं**—इने-गिने पदो मे ही यह रूप 'सूरसागर' मे मिलता है, जैसे—और काहि विधि करौं, **तुमहिं तैं** (विधि तैं) कौन सयानौं[६६]।

आ. **तुमहूँ तैं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है; जैसे—स्याम, **तुमहूँ तैं** ब्रज हितू न कोऊ[६७]। **तुमहूँ तैं** ऐसी को प्यारी[६८]।

६. **सबधकारक**—उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम की तरह ही इस कारक मे प्रयुक्त मध्यम पुरुष सर्वनाम रूपो की सख्या भी बहुत अधिक है। विषय की स्पष्टता के लिए इनके मुख्य पाँच वर्ग बनाये जा सकते हैं—क. विभक्तिरहित सामान्य रूप। ख. एकवचन सबधकारकीय रूप। ग सबधकारकीय सामान्य बहुवचन रूप। घ सबध-

---

५१. सा. १-७८। ५२ सा. १-२२९। ५३. सा. ३-१३।
५४. सा. ९-१७३। ५५. सा. ७८८। ५६. सा. ३८२५।
५७. सा. ३८९९। ५८. सा. ११८०। ५९. सा. १५३९। ६०. सा. २०६६।
६१. सा २२१२। ६२. सा. ३४७३.। ६३. सा. १७०४। ६४. सा. १८९७।
६५. सा. २०६८। ६६. सा. ४९२। ६७. सा. १०२१। ६८. सा. २५५९।

कारकीय विशिष्ट बहुवचन रूप । ङ बलात्मक प्रयोग । लिंग की दृष्टि से इस वर्गीकरण के और भी उप-भेद किये जा सकते है, परतु दोनो लिंगो के रूप इतने स्पष्ट होते है कि तत्सवधी दृष्टि से विस्तार करना अनावश्यक प्रतीत होता है । उक्त पाँचो वर्गों मे प्राप्त मुख्य रूप इस प्रकार है––

क **विभक्तिरहित सामान्य रूप**––सूरदास द्वारा प्रयुक्त इस वर्ग के प्रमुख रूप हैं––तव, तुम, तुव और तैं । इनमे 'तुम' बहुवचन रूप है और शेप एकवचन हैं । इनका प्रयोग दोनो लिंगो मे किया गया है ।

अ तव––यह रूप प्राय सर्वत्र सवधी शब्द के पूर्व ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे–– तव कीरति[६९] । तव दरसन[७०] । तव विरह[७१] । तव राज[७२] । तव सिर[७३] ।

आ तुम – इस बहुवचन रूप का प्रयोग एकवचन मे ही कवि ने किया है । इस बात की स्पष्टता के लिए पूरे वाक्यो को उद्धृत करना आवश्यक है, जैसे— प्रभु, सब तजि तुम सरनागत आयौ[७४] । तुम प्रताप बल बदत न काहूँ[७५] । यह मैं जानति तुम (कृष्ण) बानि[७६] ।

इ. तुव यह रूप भी प्राय सर्वत्र सवधी शब्द के पहले ही आया है, जैसे—तुव चरननि[७७] । तुव दास[७८] । तुव पितु[७९] । तुव माया[८०] । तुव सुत[८१] । तुव हाथ[८२] ।

ई तैं—इस रूप का सबधकारकीय प्रयोग अपवादस्वरूप दो-एक पदो मे मिलता है, जैसे—धनि बछरा धनि बाल जिनहिं तैं दरसन पायो[८३] ।

ख एकवचन सबधकारकीय रूप—इस वर्ग के अतर्गत तेरी, तेरे, तेरौ, तोर और तेरौ आदि रूप मुख्य हैं। इनमे प्रथम स्त्रीलिंग रूप है । शेष का प्रयोग दोनो लिंगो मे होता है ।

अ तेरी––इस स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग सबंधी शब्द के पहले किया गया है और बाद मे भी, एव कही-कही दोनो के बीच मे एक-दो शब्द भी आ गये है; जैसे— जरा तेरी[८४] । दासी है तेरी[८५] । तेरी प्रीति[८६] । तेरी बेनि[८७] । सरन तेरी[८८] । तेरी सृष्टि[८९] ।

आ तेरे—साधारणत इस रूप का प्रयोग बहुवचन सबंधी के शब्द साथ होता है, परन्तु यदि एकवचन सबधी शब्द के आगे कोई विभक्ति लगानी होती है तब 'तेरे' का प्रयोग एकवचन रूप में भी होता है । सूर-काव्य मे दोनो प्रयोग मिलते हैं । यहाँ इसके एकवचन प्रयोग ही दिये जाते हैं । दूसरी बात यह है कि सबंधी

---

६९ सा. १-९३ । ७० सा. १-२७७ । ७१ सा ९-२ ।
७२. सा. १-२८४ । ७३. सा. ७-५ । ७४ सा. १-१७० ।
७५. सा.१- १७० । ७६. सा ४९४ । ७७. सा. ९-१५३ ।
७८. सा. १-२१६ । ७९ सा ९-१७४ । ८० सा १-२२६ । ८१ सा. ७-२ ।
८२. सा १-११२ । ८३ सा ४९२ । ८४. ९-१७४ । ८५ सा. ९-७९ ।
८६ सा. १८४२ । ८७. सा. १०-१७४ । ८८ सा. १-११० । ८९. सा. ७-२ ।

शब्द के पहले और पीछे, दोनो प्रकार से सूरदास ने इसका प्रयोग किया है; जैसे—तेरे तन तरुवर के[१०]। पति तेरे[११]।

इ. तेरौ—इस रूप का प्रयोग सबंधी शब्द के पहले हुआ है और बाद मे भी; जैसे—सकल मनोरथ तेरौ[१२]। तेरौ लाल[१३]। स्याम तन तेरौ[१४]। तेरौ सुत[१५]।

ई. तोर—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने प्राय संबधी शब्द के बाद ही किया है और कही-कही दोनो के बीच मे भी दो-एक शब्द आ गये है, जैसे—आनन तोर[१६]। ज्ञान है तोर[१७]। दुहाई तोर[१८]। लै-लै नाम बुलावत तोर[१९]। बंक बिलोकनि, मधुरी मुसुकनि भावति प्रिय तोर[१]। नहिं मुख देखौं तोर[२]।

उ. तोरौ—इस रूप का प्रयोग बहुत कम किया गया है, दो-एक पदो मे सबंधी शब्द के बाद यह दिखायी देदा है, जैसे—नाम भयौ प्रभु, तोरौ[३]।

ग. संबंधकारकीय सामान्य बहुवचन रूप—इस वर्ग के अतर्गत उन रूपो—तुमरे, तुमरौ, तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरौ, तुम्हार, तुम्हारि, तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारौ आदि—की चर्चा करनी है जो सामान्य बहुवचन 'तुम' के रूपातर होने पर भी सूरदास द्वारा एकवचन मे प्रयुक्त हुए हैं।

अ. तुमरे—इस रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही कुछ पदो मे मिलता है, जैसे—तुमरे कुल कौ[४]।

आ. तुमरौ—'तुमरे' के समान ही यह रूप भी दो-एक पदो मे ही दिखायी देता है, जैसे—तुमरौ सुत[५]।

इ तुम्हरी—स्त्रीलिंग सबंधी शब्द के अधिकतर पहले, पर कही-कही बाद मे भी प्रयुक्त यह रूप 'सूरसागर' के अनेक पदो मे मिलता है, जैसे—तुम्हरी आज्ञा[६]। तुम्हरी कृपा[७]। तुम्हरी गति[८]। बिरुदावलि तुम्हरी[९]। तुम्हरी माया[१०]।

ई. तुम्हरे—इस बहुवचन रूप का प्रयोग एकवचन सबंधी शब्द के साथ तब किया गया है जब उसके आगे कोई विभक्ति हो या लुप्त हो, अथवा विभक्ति के समान किसी अव्यय का ही प्रयोग किया गया हो, जैसे—तुम्हरे भजन बिनु[११]। ज्योतिषी तुम्हरे घर कौ[१२]। प्रभु, तुम्हरे दरस कौं[१३]। स्याम, तुम्हरे मुख सौं[१४]।

उ तुम्हरौ—इस रूप का प्रयोग सबधी शब्द के पहले और बाद मे तो किया

---

१०. सा १-८६। ११. सा. १-२४०। १२. सा. ४-९। १३. सा. १०-८। १४. सा. ३७५७। १५. सा. १०-७७। १६. सा ३६४। १७. सा ३५९। १८. सा. ३९८। १९. सा. २७६६। १ सा. २७६७। २ सा. ९-८३। ३. सा १-१३२। ४ सा ९-७७। ५. सा १०-५१। ६. सा. ४-५। ७. सा. ३-१३। ८. सा ३-३। ९. सा. १-२१५। १०. सा १-४४। ११. सा. १-४१। १२. सा. १०-८६। १३. सा. १०-१५५। १४ सा १२१७।

ही गया है, कही-कही दोनो के बीच मे दो-एक शब्द भी आ गये है, जैसे—तुम्हरी नाम[१५]। नाम तुम्हरी[१६]। तुम्हरी लघु भैया[१७]। तुम्हरी सताप[१८]।

ऊ तुम्हार—इस रूप का प्रयोग कवि ने कम किया है, परन्तु आया है यह सबधी शब्द के अधिकतर बाद ही, जैसे—कत तुम्हार[१९]। दोप तुम्हार[२०]।

ऋ तुम्हारि—इस स्त्रीलिंग इकारात रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही कुछ पदो मे दिखायी देता है, जैसे—ऐसी समुझ तुम्हारि[२१]।

ए तुम्हारी—सवधी शब्द के आगे पीछे तो इस शब्द का प्रयोग कवि ने किया ही है, कही-कही दोनो के बीच मे अन्य शब्द भी रख दिये है, जैसे—तुम्हारी आसा[२२]। दौरि तुम्हारी[२३]। बात तुम्हारी[२४]। भक्ति अनन्य तुम्हारी[२५]। सक्ति तुम्हारी[२६]।

ऐ तुम्हारे – एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त इस सर्वनाम रूप के साथ सवधी शब्द प्राय बहुवचन ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे—सत पुत्र तुम्हारे (धृतराष्ट[२७] के)। पितर तुम्हारे[२८] (असुमान के)। ये गुन जसुमति, आहि तुम्हारे[२९]। वे हैं काल तुम्हारे[३०] (नृप कस के)। चरित तुम्हारे[३१]।

ओ तुम्हारौ—यह रूप कही तो सबधी शब्द के पहले प्रयुक्त हुआ है और कही बाद मे, परतु यहाँ उद्धृत सभी उदाहरणो मे है यह एक ही व्यक्ति के लिए, जैसे—हरि, बहुत भरोसौं जानि तुम्हारौ[३२]। राज तुम्हारौ[३३] (परीक्षित कौ)। तुम्हारौ (शिव कौ) मरम[३४]। राजा, बचन तुम्हारौ[३५]। (लघु बधू) सूल तुम्हारौ[३६]।

घ **सबधकारकीय विशिष्ट रूप**—इस वर्ग के अतर्गत एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त तिहारी, तिहारे, और तिहारौ रूप आते हैं।

अ तिहारी—इस स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग संबधी शब्द के पहले और बाद, दोनो प्रकार से सूरदास ने किया है, जैसे-छाँडि तिहारी सेव[३७]। सरन तिहारी[३८]। बात तिहारी[३९]। सपथ तिहारी[४०]। तिहारी रुखाई[४१]। दो-एक पदो मे तो 'तिहारी' के बाद कवि ने सबधी शब्द का लोप भी कर दिया है, जैसे—समुझि न परत तिहारी ऊधो[४२]।

आ तिहारे—इस रूप का प्रयोग किया तो एक ही व्यक्ति के लिए गया है, परतु सबधी शब्द कही बहुवचन मे हैं, कही आदरसूचक एकवचन मे, जैसे—कहा गुन

---

१५. सा १-२०४। १६ सा १-१२८। १७ सा ३६९। १८ सा १-२९०।
१९ सा. ९-८९। २०. सा ३८०८। २१ सा ३९०९। २२ सा. १-११२।
२३ सा ८-१३। २४ सा. १-१५१। २५ सा ७-२। २६ सा. ३-१३।
२७. सा १-२८४। २८ सा ९-९। २९ सा. ३९१। ३०. सा. ५२२।
३१. सा. १५९५। ३२. सा १-१४६। ३३ सा १-२९०। ३४ सा ४-५।
३५ सा. ९-२। ३६. सा. ९-३६। ३७ सा १-४९। ३८ सा. १-२२१।
३९. सा. १०-२७९। ४०. सा. १९७०। ४१. सा. २८०९। ४२. सा. ३५३९।

वरनौ स्याम, तिहारे[४३]। ये बीर (=भाई) तिहारे[४४] (दुर्योधन के)। नागरी, सूर स्याम हैं चोर तिहारे[४५]। मधुकर, परखे अग तिहारे[४६]।

इ. **तिहारौ**—इस सर्वनाम का प्रयोग भी कही तो सबधी शब्द के पहले किया गया है, कही बाद मे और कही दोनो के बीच मे कुछ अन्य शब्द भी आये हैं; जैसे—हरि, अजामिल तौ विप्र तिहारौ, हुतौ पुरातन दास[४७]। प्रभु, विरद आपुनौ और तिहारौ[४८]। नृप, जोहत है वे पथ तिहारौ[४९]। धन्य जसोदा, भाग तिहारौ[५०]। स्याम, नाम गारुडी प्रगट तिहारौ[५१]।

ङ बलात्मक प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत मुख्य छह रूप मिलते हैं—तुम्हारेइ, तुम्हारेंहि, तुम्हारोइ, तुम्हारौई, तेरोइ' तेरौई। इनका प्रयोग बहुत कम पदो मे किया गया है।

अ. **तुम्हारेइ**—राधे, तुम्हारेइ गुन ग्रथित करि माला, रसना कर सौं टारै[५२]।

आ. **तुम्हारेंहि**—सीता, तुम्हारेंहि तेज-प्रताप रही बचि तुम्हरी यहै अटारी[५३]।

इ. **तुम्हारोइ**—स्याम, चारि जाम निसि तुम्हारोइ सुमिरन और न बात कही[५४]।

ई. **तुम्हारौई**—मनसा वाचा मैं ध्यान तुम्हारौई धरौं[५५]।

उ. **तेरोइ**—नागरी, तेरोइ भाग[५६]।

ऊ. **तेरोई**—उक्त रूपो की अपेक्षा इस रूप का प्रयोग कुछ अधिक किया गया है, जैसे—राधा, कुजभवन बैठे मननोहन, बोलत मुख तेरोई गुन-ग्राम[५७]। नागरि, तेरोई भाग, सुहाग तेरोई[५८]। वृषभानुकिसोरी, तेरोई गुन मैं निसि दिन गाऊँ[५९]।

७. **अधिकरण कारक**—इस कारक मे प्राप्त रूप चार वर्गों मे रखे जा सकते हैं—क. विभक्तिरहित विकृत रूप। ख विभक्तियुक्त एकवचन रूप। ग. विभक्तियुक्त बहुवचन रूप। घ. बलात्मक प्रयोग।

क. **विभक्तिरहित रूप**—तिहारैं, तुम्हरैं, तुम्हारैं और तेरैं—ये चार प्रमुख रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे अधिकरणकारकीय कोई विभक्ति नही है, परतु सामान्य या सबधकारकीय रूपो मे 'एँ' या 'ऐं' के सयोग से अधिकरणकारकीय रूप कवि ने बना लिये हैं; जैसे—

अ. **तिहारैं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने बहुत कम किया है, जैसे—आजु बसैं गे रैनि तिहारैं[६०]। राधे, कह जिय निठुर तिहारैं[६१]।

आ. **तुम्हरैं**—इस रूप का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मिलता है, जैसे—स्याम

---

४३. सा. १-२५। ४४ सा १-२३८। ४५. सा १९३९। ४६. सा. ३७६१। ४७. सा. १-१३२। ४८ सा १-१७९। ४९ सा. ४-१२। ५०. सा. १०-८७। ५१. सा. ७६२। ५२. सा. २५८७। ५३. सा. ९-१००। ५४ सा ४१४२। ५५. सा. १९४४। ५६. सा. २८०१। ५७. सा. २४५१। ५८. सा. २८०१। ५९. सा. २८२८। ६० सा. २४७८। ६१. सा. २५८७।

तुम्हरैं आजु कमी काहे की[६२]। सखी, सुनहु 'सूर' तुम्हरैं छिन छिन मति[६३]। हम तुम्हरैं नितही प्रति आर्वात सुनहु राधिका गोरी[६४]।

इ तुम्हारैं—इसका प्रयोग कवि ने वहुत कम किया है, जैसे—रैनि तुम्हारैं आऊँगी[६५]।

ई, तेरैं— इस रूप का प्रयोग सूरदास ने उक्त तीनो से अविक किया है, जैसे—तेरैं प्रीति न मोहिं आपदा[६६]। क्यो करि तेरैं भोजन करौं[६७]। कौन जानैं कौन पुन्य प्रगटे हैं तेरैं आनि[६८]। प्रेम सहित हरि तेरैं आए [६९]।

ख विभक्तियुक्त एकवचन रूप—पर, पै और मैं—इन तीन विभक्तियो के सयोग से प्रमुख चार रूप- तुव ऊपर, तो पर, तो पै और तो मैं सूरदास ने बनाये है जिनके प्रयोग वहुत कम पदो मे मिलते है।

अ तुव ऊपर तुव ऊपर प्रसन्न मैं भयौं[७०]।

आ तो पर—तो पर वारी हौं नदलाल[७१]। राधे, तो पर कृपा भई मोहन की[७२]।

ई तो पै—(माननि) हौ आई पठई है तो पै तेरे प्रीतम नदकिसोर[७३]।

ई तो मैं—जमुना, तो मैं कृष्न हेलुवा खेलैं[७४]।

ग विभक्तियुक्त बहुवचन रूप—'तुम' के साथ 'पर', 'पै' और 'मैं' विभक्तियो के अतिरिक्त 'पै' के योग से इस वर्ग के चार रूप कवि ने बनाये हैं। इनमे से 'तुम पर' और 'तुम पै' का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, शेष दोनो रूप कम प्रयुक्त हुए हैं।

अ तुम पर—हम नाहिन रिस तुम (इद्र) पर आनी[७५]। मोहन, जोहन, मत्र-जत्र, टोना सब तुम (स्याम) पर बारत[७६]।

आ तुम पैं— हम तुम पै आए [७७]। तुम पै प्यारी बसत जियौ[७८]।

इ तुम पे—मैं आयो तुम पै रिषिराइ[७९]। प्यारी, भेषज अधर सुधा है तुम पै[८०]। यह तुम पै सब पुंजी अकेली[८१]।

ई तुम मैं—साच्छात् सो तुम (धृतराष्ट्र) मैं देखी[८२]। प्यारी मैं तुम, तुम मैं प्यारी[८३]।

घ बलात्मक रूप—इस वर्ग के रूपो की सख्या अधिक नही है। केवल 'तुमहीं

---

६२. सा. ३८९। ६३ सा १९६१। ६४. सा २२१०। ६५ सा २४९३।
६६. सा १-२४३। ६६. सा ९-५। ६८. सा. ३६२। ६९. सा १८७७।
७०. सा. ९-३। ७१ सा ११८१। ७२ सा. २५६८। ७३. सा. २७६६।
७४. सा. ५६१। ७५ सा ९५०। ७६ सा १५८६। ७७ सा. १-२३८।
७८. सा. १९४०। ७९ सा. ९-१७३। ८० सा. २५८३। ८१. सा. ३७२४।
८२. सा. १-२८४। ८३. सा २८२८।

पै'-जैसे इने-गिने रूपो के प्रयोग दो-एक पदो मे मिल जाते हैं, जैसे—पारि सपाट चले तब पाए, है ल्याई तुम (जसोदा) ही पै धरिकै[८४]।

सारांश—मध्यमपुरुष एकवचन मूल और विकृत सर्वनाम-रूपो के विभक्तिरहित जिन प्रधान-अप्रधान रूपो के उदाहरण ऊपर दिये गये है, सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	तुम, (तूं), तू, तैं	... ...
कर्म	(तुम), (तू), तुम्हैं	तुमकौं, तुमहिं, (तुहिं) तोकौं, तोहिं।
करण	(तुम्हैं), (तोह)	(तोकौं), तोतैं, (तोपैं), तोसौं, तोहिं, तुमतैं तुम पै, (तुम सन), तुमसौं, तुमहिं।
सम्प्रदान	(तुम्हैं)	तुमकौं, तुमहिं, तोकौं, तोहिं।
अपादान	...	तुम तैं, (तुमसौं), (तुमहिं), तोतैं, (तोहिं)।
सबंध	तव, तुम, तुव, तैं	तेरी, तेरे, तेरौ, तोर, (तोरौ), (तुमरे), (तुमरौ), तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरौ, (तुम्हार) (तुम्हारि), तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारौ, तिहारी, तिहारे, तिहारौ।
अधिकरण	(तिहारैं), तुम्हरैं, (तुम्हारैं) (तुम्हैं), तेरैं	(तो पर), तोपैं, (तोमैं), तुम पर, (तुम पैं), तुम, पै (तुम मैं)।

मध्यमपुरुष बहुवचन के कारकीय प्रयोग—

मध्यमपुरुष मूल सर्वनाम 'तुम' का विकृत रूप भी यही है। विभिन्न कारको मैं सूरदास ने इसके निम्नलिखित रूपो के प्रयोग किये हैं—

१. कर्त्ताकारक—विभक्तिरहित और बलात्मक, दो प्रकार के प्रयोग कर्त्ताकारक मे मिलते हैं।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग का एक ही रूप है 'तुम' जिसका प्रयोग सर्वत्र किया गया है, जैसे भली सिच्छा तुम दीनी[८५]। तुम घर जाहु[८६]।

ख. बलात्मक प्रयोग—तुमहि, तुमहीं, तुमहुँ, तुमहु, तुमहूँ—ये पाँच रूप इस वर्ग के मिलते हैं जिनके प्रयोग कम ही पदो मे प्राप्त है।

अ तुमहिं—तुमहिं सुनी मुरली की बातैं[८७]।

आ. तुमहीं— ऐसौ पूत जन्मौ जग तुमहीं[८८]।

इ. तुमहुँ—इस रूप का प्रयोग उक्त रूपो से अधिक मिलता है; जैसे—सूरस्याम इहिं भाँति रिझै किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु[८९]। तुमहुँ करौ सुख[९०]।

---

८४. सा. १०-३१८। ८५ सा. ३-११। ८६. सा. १५७५। ८७. सा. १३४४। ८८. सा. ४३०। ८९. सा. १३३०। ९०. सा. १३३४।

ई तुमहु—यह रूप अपवादस्वरूप ही कही-कही मिलता है, जैसे- चोच फारि बका सँहारौ, तुमहु करहु सहाइ[११]।

उ तुमहूँ—इस रूप का प्रयोग इस वर्ग के कदाचित् सभी रूपो से अधिक किया गया है, जैसे—रिझै लेहु तुमहूँ किन स्यामहिं[१२]। तुमहूँ हँसी आपनै सँग मिलि[१३]। जाहु सदन तुमहूँ सब अपनै[१४]।

कर्मकारक—इस कारक मे भी बहुवचन रूपो की सख्या अधिक नही है। केवल 'तुम्हैं' का प्रयोग सूरदास ने कहीं-कही किया है, जैसे—इन बरज्यौ आवत तुम्हैं असुर बुधि इन यह कीन्ही[१५]। तब हरि दूतनि तुम्हैं निवारयौ[१६]।

३ करणकारक—तुमकौं, तुमसौं, तुम्है आदि सामान्य और तुमहि तैं—जैसे एकाध बलात्मक प्रयोग इस कारक के मिलते है। इन सभी रूपो का प्रयोग बहुत थोडे ही पदो मे किया गया है।

अ. तुमकौं तातैं तुमकौं आनि सुनायौ[१७]। सुनहु सखी, मैं बूझति तुमकौं, काहूँ हरि कौं देखे है[१८]। यहाँ दूसरे वाक्य मे 'सखी' शब्द तो एकवचन है, परतु आगे प्रयुक्त 'काहूँ' का सकेत है कि 'सखी' से आशय 'सखियो' से है।

आ. तुमसौं – मैं तुमसौ यह कहौं पुकार[१९]। तमसौं टहल करावति निसि दिन[१]। तुमसौं नहिं कैहौं[२]।

इ तुम्हैं—अपनौं भेद तुम्है नहिं कैहै[३]।

ई तुमहि तैं—जो सुख स्याम तुमहि तैं पावत, सो त्रिभुवन कहुँ नाही[४]।

४ संप्रदान कारक—तुमहि और तुम्हैं, मुख्यत ये दो रूप ही इस कारक मे मिलते है। दोनो के प्रयोग इने-गिने पदो मे ही दिखायी देते हैं।

अ तुमहि—रिषि कह्यौ, मैं करिहौं जहँ जाग। देहौं तुमहि अवसि करि भाग[५]।

आ तुम्हैं—असुर कौं सुरा, तुम्हैं अमृत प्याऊँ[६]।

५ अपादान कारक—तुमतैं और तुमसौं, ये दो रूप इस कारक के मिलते हैं जिनका प्रयोग कही-कही ही किया गया है, जैसे—

अ. तुमतैं—तुमतैं को अति जान है[७]।

आ तुमसौं—हँसत भए अतर हम तुमसौं सहज खेल उपजाइ[८]।

६ संबंधकारक—अन्य कारको के समान ही सबंधकारकीय बहुवचन रूप भी

---

११ सा. ४२७। १२ सा १३३६। १३ सा. १५७३।
१४ सा. २५६३। १५. सा ३-११। १६ सा ६-४। १७. सा ६-४।
१८. सा १८३४। १९. सा. ६-४। १ सा ५१३। २. सा २६५३।
३. सा. १७२४। ४. सा ३४४८। ५. सा. ९-३।
६. सा. ८-८। ७ सा. ११८०। ८. सा. ११२८।

बहुत थोडे है जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं और उनका भी प्रयोग थोडे ही पद्रो मे मिलता है।

अ. तिहारी—जो कुछ इच्छा होइ तिहारी[९] (वनितनि की)।

आ. तुम—मैं लैहौं तुम गृह अवतार[१०]।

इ. तुम्हरे—सूर, प्रभु क्यौं निदरि आई, नही तुम्हरे नाहु[११]।

ई. तुम्हरौ—तुम्हरौ तहाँ नही अधिकार[१२]। करौं पूरन काम तुम्हरौ सरद रास रमाइ[१३]।

उ तुम्हारौ—करिहौं पूरन काम तुम्हारौ[१४]। तुम घरनी मैं कत तुम्हारौ[१५]।

७. अधिकरणकारक—इस कारक के अतर्गत मध्यमपुरुष सर्वनाम के प्रमुख दो रूप मिलते हैं जिनके प्रयोग कुछ ही पदो मे किये गये है।

अ. तुम पर—आवहु तुम पर (दोऊ भाई) तन मन वारौ[१६]।

आ. तुम पै—सबै यहै कहैं, भली मति तुम पै है[१७]। तुम पै ब्रजनाथ पठायौ[१८]।

सारांश—सूरदास द्वारा विभिन्न कारको मे प्रयुक्त प्रमुख मध्यम पुरुष बहुवचन सर्वनाम रूपो के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहितमूल और विकृत रूप	विभक्तियुक्त मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	तुम	.....
कर्म	(तुम्हैं)	(तुमकौ), (तुमहिं)।
करण	(तुम्हैं)	(तुमकौ), तुमसौं, (तुमहिं)।
सप्रदान	(तुम्है)	(तुमकौं), (तुमहिं)।
अपादान	..	(तुमतै), (तुमसौ)।
सबध	(तुम)	(तिहारी), (तुम्हरे), (तुम्हरौ), तुम्हारौ।
अधिकरण	...	(तुम पर), तुम पै।

पुरुषवाचक अन्यपुरुष और निश्चयवाचक दूरवर्ती की रूप-रचना

इन दोनो सर्वनाम रूपो की समानता के कारण इनकी चर्चा साथ-साथ करना आवश्यक है। व्रजभाषा मे इन सर्वनामो के निम्नलिखित रूप होते हैं—

रूप	एकवचन	वहुवचन
मूल	वह, सो, सु वे	वे, वै, ते, से
विकृत	वा, ता, उन	उन, उनि, विन, तिन।
अन्य	वाहि, तानि	तिन्हैं

---

९. सा. २९१६। १० सा. ३-१३। ११. सा. १०१२। १२. सा. ६-४। १३. सा. ७९६। १४. सा. ७८७। १५. सा ७९७। १६. सा ५४७। १७. सा. ३०६९। १८. सा. ४०९३।

एकवचन रूपो के कारकीय प्रयोग—

पुरुषवाचक अन्यपुरुष सर्वनाम के एकवचन मूलरूप मे साधारणत 'वह', विकृत मे 'वा' का प्रयोग होता है। सूरदास ने इन रूपो को तो अपनाया ही, साथ-साथ नित्यसबधी मूलरूप 'सो' और 'सु' तथा विकृत रूप 'ता' का प्रयोग भी अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम के समान अनेक पदो मे किया है। इसी प्रकार अन्यपुरुष के बहुवचन मूल और विकृत रूपो 'वे' और 'उन' आदि के भी एकवचन मे प्रयोग उन्होने निस्सकोच किये हैं। इन सब मूल और विकृत रूपो के प्रयोगो की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जायगी।

१ कर्ताकारक—इस कारक मे सूरदास द्वारा प्रयुक्त रूपो की सख्या तीस के लगभग है। स्थूल रूप से इन रूपो को सात वर्गों मे विभाजित किया जा सकता—क विभक्तिरहित एकवचन रूप। ख विभक्तिरहित बहुवचन मूल रूप। ग विभक्तिरहित बहुवचन विकृत रूप। घ विभक्तिरहित अन्य प्रयोग। ङ विभक्तियुक्त रूप। च बलात्मक एकवचन रूप। छ बलात्मक बहुवचन रूप।

क विभक्तिरहित एकवचन रूप—'वह', 'सो' और 'सु'—ये तीन रूप इस वर्ग मे प्रमुख हैं, प्रथम तो इसी कारक का मूल रूप है और शेष दोनो नित्यसबधी सर्वनाम-भेद के रूप हैं। इनका प्रयोग दोनो लिंगो मे हुआ है। इनमे से प्रथम दोनो रूप सूर-काव्य मे सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं।

अ वह—भ्रमत ही वह दौरि ढूंढै[१९]। तब वह गर्भ छाँडि जग आया[२०]। तब वह हरि सौं रोइ पुकारी[२१]। करिहै वह तेरौ अपमान[२२]।

आ सो—तहाँ सो (मच्छ) बढि गयौ[२३]। सहित कुटुब सो (मच्छ) क्रीडा करै[२४]। गाइ चरावन कौं सो गयौ[२५]।

इ सु—यह सर्वनाम 'सो' का ही लघु रूप है जिसका प्रयोग अपवाद-स्वरूप ही कही-कही किया गया है, जैसे—ज्यौं मृगा कस्तूरि भूलै, सु तौ ताकै पास[२६]।

ख विभक्तिरहित बहुवचन मूल रूप—'वे' और 'वै'—इन दो ही बहुवचन रूपो का प्रयोग एकवचन के समान दोनो लिंगो मे कवि ने किया है। इनमे से प्रथम का कम और द्वितीय का अधिक प्रयोग किया गया है।

आ वे—वे करता, वेई है हरता[२७]। वे हैं परम कृपालु[२८]।

आ वै—हम वै (कृष्ण) बास बसत इक बगरी[२९]। वै (कृष्ण) मुरली की टेर सुनावत[३०]। वै (स्याम) तुम कारन आए[३१]। वै (हरि) तौ निठुर सदा मैं जानति[३२]।

---

१९ सा १-७०। २० सा १-२२६। २१ सा १-२४६। २२ सा ४-५। २३ सा. ८-१६। १४ सा ९-८। २५ सा ९-१७३। २६ सा १-७०। २७. सा. ९७४। २८ सा ९७५। २९ सा १०-३१९। ३०. सा. ५०६। ३१. सा. १७६६। ३२ सा. १९८५।

ग. विभक्तिरहित बहुवचन विकृत रूप—'उन', 'उनि', 'तिन' और 'तिनि'—ये चार रूप इस वर्ग मे आ सकते हैं जिनका प्रयोग सूर-काव्य मे अनेक पदो मे किया गया है।

अ. उन—यह अपराध बडौ उन (नृप) कीनौ[33]। उन (इक नृप) जो कियौ, करौ तुम तथा[34]। ताकौं उन (अजामिल) जब नाम उचार्यौ[35]। ब्रह्मफाँस उन (मेघनाथ) लई हाथ करि[36]।

आ. उनि—कह्यौ सरमिष्ठा, सुत कहँ पाए। उनि कह्यौ, रिषि किरपा तैं जाए[37]। पठए हमसौं उनि (मथुरापति[38])। सेवा करत करी उनि (स्याम) ऐसी[39]।

इ तिन—तिन (सुक कौ अग) उडि अपनौ आपु बचायौ[40]। नगर द्वार तिन (काल-कन्या = जरा) सबै गिराए[41]। निज भुज बल तिन (सहस्रबाहु) सरिता गही[42]।

ई. तिनि—तिनि (परीक्षित) पुनि भली भाँति करि गुन्यौ[43]। तिनि (उरबसी) यह बचन नृपति सौं कह्यौ[44]। सुक्र पास तिनि (सुक्र-सुता) जाइ सुनायौ[45]।

घ. विभक्तिरहित अन्य रूप—उहि, तिहिं और तेहिं, ये तीन रूप इस वर्ग मे आते है जिनमे से प्रथम दो का प्रयोग कवि ने अनेक पदो मे किया है, परतु तीसरा रूप कही-कही ही दिखायी देता है, जैसे—

अ उहिं—इसका प्रयोग भी पाँच-सात पदो मे ही मिलता है; जैसे—भोरहि ग्वारि उरहनौ ल्याई, उहि यह कियौ पसारौ[46]। हरि के चरित सबै उहि (रावा) सीखै[47]। फेरि न मेरी उहिं सुधि लीन्ही[48]। मोकौं उहिं पहुँचायौ भौन[49]।

आ तिहि—तहाँ हुतौ एक सुक कौ अग। तिहि यह सुन्यौ सकल परसग[50]। पायौ पुनि तिहि निर्वान[51]। कपिल अस्तुति तेहि बहुविधि कीन्ही[52]।

इ. तेहिं—यह सुनिकै तेहिं माथौ नायौ[53]।

ङ विभक्तियुक्त रूप—कर्त्ताकारक की विभक्ति 'ने' का एक रूप है 'नै'। मूल विभक्ति या उसके रूपातर का किसी सर्वनाम के साथ प्रयोग का कोई उदाहरण ऊपर नही दिया गया है। परतु एक पद मे अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम के अन्य रूप वाहि के दीर्घस्वरात रूपातर 'वाही' के साथ 'नै' का प्रयोग एक पद मे मिलता है जिसे सूरदास का अपवादस्वरूप प्रयोग समझना चाहिए, जैसे—जैहै कहाँ मोतिसर मेरी।

---

३३. सा. १-२९०। ३४ सा. ४-१२। ३५ सा. ६-४।
३६. सा. ९-१७४। ३७. सा. ९-१७४। ३८. सा. ५:९।
३९. सा. ३१८७। ४०. सा. १-२२६। ४१. सा. ४-१२। ४२. सा ९-१३।
४३. सा. १-२२७। ४४. सा. ९-२। ४५ ९-१७३। ४६ सा. ३९५।
४७. सा. १७४५। ४८. सा. १८४१। ४९. सा. २००५। ५०. सा. १-२०६।
५१. सा. ४-१२। ५२. सा. ९-९। ५३. सा. १०-५६।

अब सुधि भई लई याही नैं, हँसति चली वृषभानु-किसोरी[५४]।

च. बलात्मक एकवचन रूप—ऊपर दिये गये सभी उदाहरण अन्यपुरुष सर्वनाम रूपो के सामान्य प्रयोग के हैं। जिन एकवचन सर्वनामो के बलात्मक प्रयोग भी मिलते हैं, उनमे मुख्य है—ओऊ, ताहूँ, वहई, वहऊ, वहै, वोऊ, सोउ और सोऊ।

अ ओऊ—इस रूप का सामान्य प्रयोग नही मिलता, दो एक पदो मे बलात्मक प्रयोग ही दिखायी देता है, जैसे—सुफलक-सुत कारे नखसिख तँ, कारे तुम अरु ओऊ[५५]।

आ ताहूँ—इस रूप का प्रयोग भी कही-कही ही दिखायी देता है, जैसे—ताहूँ नाद वस्य ज्यौ दीन्हो, सका नही करी री[५६]।

इ. वहई—वहई देखि कूवरी भूले[५७]।

ई वहऊ—इसका प्रयोग कुछ अधिक पदो मे मिलता है, जैसे—वहऊ उनसौं नातो मानै[५८]। यह द्वादस वहऊ दस द्वै की[५९]।

उ. वहै—इस रूप का प्रयोग भी 'वहऊ' के समान ही किया गया है, जैसे—वहै ल्याइहै सिय-सुधि छिन मैं[६०]। उलटि जाहु नृप चरन सरन, वहै राखिहै भाई[६१]।

ऊ. वोऊ—यह रूप उक्त सभी रूपो की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है, जैसे—जैसे—तुम तैसे वोऊ हैं[६२]। जैसी तुम तैसे वोऊ सयाने[६३]। अब वोऊ पछितात बात कहि[६४]। मनहिं अकुलात वोऊ[६५]।

ऋ सोउ—यह रूप दो-एक पदो मे ही दिखायी देता है, जैसे—ज्यौं चकोर इकटक निसि चितवत, याकी सरि सोउ नाहिं[६६]।

ए. सोऊ—'वोऊ' के समान यह रूप भी 'सूरसागर' के अनेक पदो मे मिलता है; जैसे—अरजुन के हरि हुते सारथी सोऊ बन निकरे[६७]। सोऊ तौ घर ही घर डोलतु[६८]। येई गुन ढग के सोऊ है[६९]। इकटक घूंघटहिं चितै रही सोऊ[७०]।

छ बलात्मक बहुवचन रूप—इस वर्ग के अतर्गत उनहीं, उनहुँ, उनहूँ, तिनहूँ, तेइ, तेई, तेउ, वेई, वेउ, वेऊ आदि मुख्य रूप आते हैं जिनमे से 'वेइ' और 'वेऊ' का प्रयोग अनेक पदो मे मिलता है शेष का कुछ मे ही।

अ उनहीं—उनहीं (हरि) पोषि जयौ री[७१]। ढीठ कियौ मन कौं उनहीं री[७२]।

आ. उनहुँ—तुम जुहार उनको जब कीन्हौं, तुमकौं उनहुँ जुहार कियौ[७३]।

---

५४. सा १९७७। ५५ सा ३९७९। ५६ सा. २३६१।
५७. सा. ३१५४। ५८. सा ३-१३। ५९ सा १९०३।
६०. सा. ९-७४। ६१. सा ९-७। ६२. सा. १५८०।
६३. सा.१७३९। ६४ सा २२६३। ६५ सा. २६०५। ६६. सा. २१२१।
६७. सा. १-२६४। ६८. सा १०-३२५। ६९ सा. १५८०। ७० सा. २७९१।
७१. सा. १८८८। ७२. सा. १८९०। ७३. सा. १८८२।

ई. उनहूँ—कच कौं प्रथम दियौ मैं साप । उनहूँ मोहिं दियौ करि दाप[७४] । अब निज ध्यान हमारौ मोहन, उनहूँ हम न बिसारी[७५] ।

ई. तिनहुँ—तिनहुँ (अजामिल) न स्रवन सुनायौ[७६] ।

उ. तिनहूँ—तिनहूँ (चित्रगुप्त) त्राहि करी सुनि औगुन कागद दीन्हे डारि[७७] ।

ऊ. तेइ—तेइ (जग-तात) अवतरे आइ गोकुल मैं, मैं जानी यह बात[७८] ।

ऋ. तेई—ब्रज अवतार कह्यौ है श्रीमुख, तेई करत बिहार[७९] ।

ए. वेई—वे करता, वेई हैं हरता[८०] । यह महिमा वेई (परम कृपाला) जानैं[८१] । वेई हैं बहुनायकी लायक गुन भारे[८२] ।

ऐ. वेउ—सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, वेउ रसक्विनी बन्यौ समाजु[८३] ।

ओ. वेऊ—दरसन नीकैं देत न वेऊ (स्याम[८४]) । सूरदास प्रभु नवल रसीले, वेऊ (प्रिया) नवल त्रिये[८५] । घनि पिय बने, बनी वेऊ हैं, एक-एक तैं रूप अनूप[८६] ।

२. कर्मकारक—इस कारक के अतर्गत भी बीस से अधिक रूप मिलते है जिनको स्थूल रूप से तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग । ख. विभक्तयुक्त प्रयोग । ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत जो प्रयोग आते है, उनमे मुख्य हैं—ओहि, उहिं, ताहि, तिहिं, वाहि और सो । इनमे से प्रथम दो रूपो का कम और अतिम चार का अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है ।

अ. ओहि—छोरत काहे न ओहि[८७] ।

आ. उहिं—अब उहिं चहियै फेरि जिवायौ[८८] । असुरनि उहि डारचौ मार[८९] ।

इ. ताहि—मारचौ ताहि प्रचारि हरि[९०] । ताहि देखि रिषि कैं मन आई[९१] । सुक्र ताहि पढि मत्र जिवायौ[९२] । हाथ पकरि हरि ताहि गिरायौ[९३] ।

ई. तिहि—लोगनि तिहिं बहु बिधि समुझायौ[९४] । गाड़ि धूरि तिहि देत[९५] । सुता कह्यौ, तिहिं फेरि जिवावौ[९६] ।

उ. वाहि—सोवै तब जब वाहि सुवावै[९७] । वाहि मारि तुम हमहिं उबारचौ[९८] । बिनु जानैं हरि वाहि बढाई[९९] ।

---

७४. सा. ९-१७४ । ७५. सा. ४०३६ । ७६. सा. १-१९३ ।
७७. सा. १-१९७ । ७८. सा. ५५७ । ७९. सा. ९७४ ।
८०. सा. ९७४ । ८१. सा १००५ । ८२. सा. २७०९ ।
८३. सा. २५४० । ८४ सा. १८५० । ८५. सा. २५०६ । ८६. सा. २५४० ।
८७. सा. ३७५ । ८८ सा. ४-५ । ८९. स. ९-१७३ । ९०. सा. ३-११ ।
९१. सा. ९-८ । ९२ सा. ९-१७३ । ९३. सा. १०-५७ । ९४. सा. १-२६१ ।
९५. सा. २-१५ । ९६. सा. ९-१७३ । ९६. सा. ५-३ । ९८. सा. ९५४ ।
९९. सा. १३१६ ।

ऊ. सो—वकी कपट करि मारन आई, सो हरि जू वैकुठ पठाई[1] । सुन्यौ ज्ञान सो सुमिरन रह्यौ[2] । रावन कह्यौ, सो कह्यौ न जाई[3] ।

ख. विभक्तियुत रूप—उनकौं, उनहि, ताकौ, तिनकौं, तिनहि, तिहिकौं, तेहि, याकौ और विनकौ—मुख्यत इन नौ विभक्तियुक्त रूपो का सूरदास ने कर्मकारक मे प्रयोग किया है । उनमे से उनहि और ताकौ का अधिक, 'तेहि' का सामान्य और शेष का बहुत कम प्रयोग किया गया है ।

अ उनकौ—आए कहाँ छाँडि तुम उनकौ[4] (नँद-नद)।

आ उनहि—वैसेहि उनहि (कृष्ण) पठाए[5] । कैसेहुँ उनहिं (कृष्ण) हाथ करि पाऊँ[6] । उनहि (कृष्ण) वरौं कै तजौं परान[7] ।

इ. ताकौं—जोगी कौन वडौ सकर तैं, ताकौं काम छरै[8] । वाकै वदलै ताकौं धरौ[9] । ऐसौ कौन मारिहै ताकौ[10] । और नैकु छ्वै देखै स्यामहिं, ताकौं करौं निपात[11] ।

ई. तिनकौ—सूरप्रभु आए अचानक, देखि तिनकौ हँसी[12] ।

उ तिनहिं—पठवत हौं मन तिनहिं (हरि) मनावन निसिदिन रहत अरे री[13] ।

ऊ तिहिकौं—सूरदास तिहिकौ ब्रजबनिता झकझोरति उर अक भरे[14] ।

ऋ तेहि—तुरतहिं तेहि मारयौ[15] । वहुरि तेहिं दरसन दै निस्तारा[16] ।

ए याकौं—याकौ मारि अपनपौ राखै[17] ।

ऐ. विनकौं—तैं ऐसै चितयौं कछु विनकौं[18] (गिरधारी कौ) ।

ग वलात्मक प्रयोग—'सूरसागर' में जिन रूपो का कर्मकारकीय बलात्मक प्रयोग मिलता है, उनमे मुख्य हैं—ओऊ, उनहूकौ, ताही कौं, ताहू कौ, सोई, सोऊ, और याहीकौं । इनमे ओऊ, सोई, सोऊ और आऊ विभक्तिरहित है और शेष विभक्तियुक्त । इनमे से 'ताही कौं' और 'सोऊ' के प्रयोग कुछ अधिक मिलते हैं, शेष के बहुत कम ।

अ. ओऊ—चुप करि रहौ मधुप रस-लपट तुम देखे अरु ओऊ[19] ।

आ उनहूँकौ—उनहूँकौ (बलराम को) गहि ल्याई[20] ।

इ ताही कौ—अब इक नई मिली है आई । ताहीकौ अब लेहि बुलाई[21] । जुवतिनि पै ताही कौं पठवै, जो तुम लायक होइ[22] ।

---

१. स १-३ । २ सा १-२२६ । ३. सा ९-१०४ । ४. सा ३१३५ । ५. सा १८७७ । ६ सा १८९५ । ७ सा ४१६७ । ८. सा १-३५ । ९. सा ४-५ । १० सा १०-६० । ११. सा ३७५ । १२ सा २४११ । १३ सा १८६४ । १४ सा. १०-८८ । १५ सा ३१०९ । १६. सा ४१९९ । १७. सा १०-६० । १८ सा. २८२८ । १९. सा. ३९७५ । २०. सा. २९१६ । २१ सा. २४२८ । २२ सा. ३४३२ ।

ई. ताहूँ कौं—इंद्र होइ, ताहूँ कौ मारौ[२३]।

उ. सोई—जज्ञ हेत हम करी रसोई। ग्वालनि पहिलै देहि न सोई[२४]।

ऊ. सोऊ—अरु सो भक्ति कीजै किहि भाइ। सोऊ मो कहँ देउ बताइ[२५]। मन मानै सोऊ कहि डारौ[२६]। जौ कहुँ ठौर जोग कौ होतौ, लै धरती हम सोऊ[२७]।

ए. वाही कौं—तुम अपनै सिर मानि लई क्यौ, मै वाही कौ कोर्सौ[२८]।

३. करणकारक—इस कारक मे सूरदास द्वारा प्रयुक्त रूपो की संख्या लगभग वीस है जिनको चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क विभक्तिरहित प्रयोग। ख. 'तैं' विभक्तियुक्त प्रयोग। ग. सौं विभक्ति युक्त प्रयोग। घ. अन्य विभक्तियुक्त प्रयोग।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—करणकारक मे प्रयुक्त ताहि, तिनहिं, तिहिं और वाहि, ये चार रूप इस वर्ग के अतर्गत रखे जा सकते है जिनमे इस कारक की किसी विभक्ति का सयोग नही है। इनमे प्रथम और तृतीय रूपो का अधिक, द्वितीय का सामान्य और अतिम का वहुत कम प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ. ताहि—रिषि कह्यो ताहि, दान रति देहि[२९]। अहो विहग, कहौ अपनौ दुख, पूछत ताहि खरारि[३०]। कचहूँ ताहि कही या भाइ[३१]।

आ. तिनहिं—तिनहिं (सुफलक-सुतहि) कह्यौ, तुम स्नान करौ ह्यां[३२]।

इ. तिहिं—तब करि क्रोध सती तिहि (दच्छहिं) कही[३३]। सोवति सो तिहि वात सुनावै[३४]।

ई. वाहि—जव मोहि अंगद कुसल पूछिहै कहा कहौगो वाहि[३५]।

ख. 'त' विभक्तियुत प्रयोग—उनत, तातै, और ताही तैं—ये तीन रूप इस वर्ग के अतर्गत मिलते है। इनमे प्रथम दो का सामान्य और अतिम का वहुत कम प्रयोग मिलता है।

अ. उनतैं—इद्र वडे कुलदेव हमारे, उनत सव यह होति वडाई[३६]।

आ. तातैं प्रथमहिं महतत्व उपायौ। तातैं अहकार प्रगटायौ[३७]। व्रह्मा स्वायंभुव मनु जायौ। तातै जन्म प्रियव्रत पायौ[३८]।

इ. ताही तैं—प्रियव्रत कैं अग्नीध्र सु भयौ। नाभि जन्म ताहीं तैं लयौ[३९]।

ग. 'सौं' विभक्तियुक्त प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत उनसौ, उनहीं सौ, तासौ, ताहि सौं, ताही सौं, तिन सौ, तिहि सौ, वासौ और वाही सौं—ये

---

२३. सा. १-२९०। २४. सा. ८००।
२५. सा. ३-१३। २६ सा. ३५१८। २७ सा ३९२६। २८. सा. १३१५।
२९. सा. १-२२९। ३०. सा. ९-६५। ३१. सा. ९-१७३। ३२. सा. ३०१४।
३३. सा. ४-५। ३४. सा. ४-१२। ३५ सा. ९-७५। ३६. सा. ८१८।
३७. सा. ३-१३। ३८. सा. ५-२। ३९. सा. ५-२।

नी रूप आते है। इनमे तीन रूप—उनही सौं, ताही सौं और वाही सौं—बलात्मक हैं, शेप सामान्य। उनसौं, तासौं, तिनसौं और वासौं—इन चार रूपो का प्रयोग सूरदान ने वहुत किया है, शेप का वहुत कम।

अ. उनसौं—च्यवनऋषि आस्रम इहिं आइ। विनती उनसौं कीजै जाइ[४०]। कछु उनसौं (कान्ह सौ) बोली[४१]। उनसौं (हरि सौ) कहि फिर ह्यॉं आवैगो[४२]। जो कोउ उनसौं (गोपाल सौं) सुधि कहै[४३]।

आ. उनही सौं—सूर स्याम वाको सुर साजत वह उनहीं सौं भ्राजति[४४]।

इ. तासौं—ताकौं तासौं लियौ वचाइ[४५]। वान एक हरि सिव कौं दियौ। तासौं सव असुरनि छय कियौ[४६]। सुक कह्यौ तासौं या भाइ[४७]। तासौं कहि सव भेद सुनायौ[४८]।

ई ताहि सौं—सर्प इक आइहै वहुरि तुम्हरे निकट, ताहि सौं नाव मम सृग बाँधौ[४९]। ताहि सौं वचन या बिधि उचारे[५०]।

उ ताहींसौं—ताही सौं तुम चित्त लगावहु[५१]। सूर प्रगट ताही सौं कहि-कहि[५२]।

ऊ तिन सौं—तिन सौ या विधि पूछत भए[५३]। तिनसौं (स्याम सौं) कहत सकल ब्रजवासी[५४]। तिनसौं भेद जनावै[५५]। कृपा वचन तिनसौं हरि वर्षे[५६]।

ऋ तिहिं सौं—तिहि सौं भरत कछू नहि कह्यौ[५७]।

ए. वासौं—पै वासौं उत्तर नहि लह्यौ[५८]। नैकु नही कछु वासौं ह्वैहै[५९]। वासौं प्रीति करै जनि[६०]।

ऐ. वाहीं सौं—तौ मैं जो वाही सौं कहिकै, उनकी खाल कढ़ाइ[६१]।

घ अन्य विभक्तियुक्त रूप—उनपै, ता सेंती, ताही पै और वाकौं—ये चार रूप इस वर्ग मे आते है। इनमे से प्रथम का सबसे अधिक और अन्यो का इने-गिने पदो में ही प्रयोग किया गया है।

अ. उनपै—हम उनपै (हरि पै) गाइ चराई[६२]। खोयौ गयौ नेह-नग उनपै (हरि पै)[६३]। तौ कहि इती अवज्ञा उनपै (हरि पै) कैसै सही परी[६४]।

---

४०. सा. ९-३।
४१. सा. १९५८। ४२. सा. २०९५। ४३. सा. ३९४४। ४४. सा. १३३९।
४५. सा. १-२८९। ४६. सा. ७-७। ४७. सा. ९-१७३। ४८. सा. १०-५८।
४९. सा. ८-१६। ५०. सा. ४१८३। ५१. सा ५-२। ५२. सा. १३५८।
५३. सा. १-२२६। ५४. सा ९७१। ५५. सा. २२५६। ५६. सा. २९२२।
५७ सा. ५-४। ५८. सा. १-२९०। ५९. सा. ९१६। ६०. सा. २१९८।
६१. सा. ३०४१। ६२. सा. ३१६२। ६३. सा. ३११४। ६४. सा. ३७९०।

आ. ता सेंती—कहन लगयौ, मम सुत ससि गोद। ता सेंती ससि करत विनोद[६५]।
तप कीन्हें सो देहें आग। ता सेती तुम कीनौ जाग[६६]।

इ. ताही पै—यह चतुराई पढ़ी ताही पै, सो गुन हमतैं न्यारौ[६७]।

ई. वाकौं—सूर जाइ बूझौं धौ वाकौं, व्रज जुवती इक देखि रही ही[६८]।

४ संप्रदानकारक—इस कारक मे सूरदास ने बारह-तेरह सर्वनाम-रूपो का प्रयोग किया है जिनको तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. 'कौं' विभक्तियुक्त रूप। ग. अन्य विभक्तियुक्त रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—उन, ताहि, तिन्हें, तिहिं और तेहिं—ये पांच रूप इस वर्ग मे आ सकते हैं। इनमे से द्वितीय और तृतीय रूपो का प्रयोग सामान्य रूप से हुआ है और शेप तीनो का वहुत कम।

अ. उन—इक हरि चतुर हुते पहलैं ही, अब उन गुरु सिखई[६९]।

आ. ताहि—ताहि दै राज वैकुंठ सिधाए[७०]। कपिल ताहि यह आज्ञा दीन्ही[७१]।

इ तिन्हें—सहस नाम तहँ तिन्हें (उमा को) सुनायौ[७२]।

ई तिहिं—भए अनुकूल हरि, दियौ तिहि तुरत वर[७३]। यह सुनिकै तिहि उपज्यो ज्ञान[७४]। पुनि नृप तिहिं भोजन करवायौ[७५]। लिखि पाती दोउ हाथ दई तिहिं[७६]। हरि जू तिहि यह उत्तर दयौ[७७]।

उ तेहि—सूर स्याम तेहि गारी दीजै, जो कोउ आवै तुम्हरी वगरी[७८]।

ख. 'कौं' विभक्तियुक्त रूप—उनकौं, ताकौं, ताहूकौं, तिनकौ और वाकौं—ये पांच रूप इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इनमे द्वितीय रूप बलात्मक है और शेप सामान्य। इनमे से उनकौं, ताकौं और वाकौं के अतिरिक्त शेप सभी रूपो के प्रयोग वहुत कम पदो मे मिलते है।

अ. उनकौं—अब मैं उनकौं (कुरुपति कौं) ज्ञान सुनाऊँ[७९]। अपनौ पेट दियौ तैं उनकौं (हरि कौं)[८०]। उनकौं (स्यामहिं) सुख देत[८१]। जोइ-जोइ साध करी पिय रस की, सो उनकौ दीन्हे[८२]।

आ. ताकौं—विन देखैं ताकौं सुख भयौ[८३]। करि तिन क्रोध साप ताकौं दयौ[८४]। सकल देस नृप ताकौ दयौ[८५]। सूरज दै जननी गति ताकौ कृपा करी निज धाम पठाई[८६]।

इ. ताहूँ कौं—वहुरि स्वयभू मनु तप कीन्हौ। ताहूँ कौं हरि जू वर दीन्हौं[८७]।

---

६५. सा. ५-३। ६६. सा. ९-२। ६७. सा. २५४६। ६८. सा. १९७६।
६९. सा. ३९१५। ७०. सा ७-६। ७१. सा. ९-९। ७२. सा. १-२२६।
७३. सा. ४-१०। ७४. सा ४-१२। ७५. सा. ७-५। ७६. सा. ३४४८।
७७. सा. ४२०६। ७८. सा. १४१५। ७९. सा. १-२८४। ८०. सा. २०९०।
८१. सा. २३५३। ८२. सा. २६७४। ८३. सा. १-२८९। ८४. सा. ४-११।
८५. सा. ९-२। ८६. सा. १०-५०। ८७. सा. ४-९।

ई. तिनकौं—नेकहुँ चैन रह्यौ नहिं तिनकौं[८८]।

उ. वाकौं—यह कागज मैं वाकौं दीन्हौ[८९]। रैनि देत सुख वाकौं[९०]।

ग. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उनहि, उनहि सौं और ताके—ये तीन प्रयोग इस वर्ग मे आते है जिनका कुछ ही पदो मे सूरदास ने प्रयोग किया है। इनमे से प्रथम और अतिम रूप सामान्य हैं और द्वितीय बलात्मक है।

अ. उनहिं—मन लै उनहि (स्यामहिं) दियौ[९१]। दीजो उनहि (गोपालहिं) उरहनो मधुकर[९२]।

आ उनहिं सौं—तातैं कहौ उनहि (नृपहिं) सौं जाइ[९३]।

इ ताके—ताके पुत्र सुता बहु भए[९४]। ताके सुन्दर छौना भयौ[९५]।

५ अपादानकारक—उस कारक की 'तैं' विभक्ति के साथ मुख्य पाँच रूप मिलते हैं—उनतैं, उनहूँ, तातैं, ताहूँ तैं और वातैं। इनमे द्वितीय और चतुर्थ बलात्मक रूप हैं और शेष सामान्य हैं। इन पाँचो रूपो का प्रयोग इने-गिने पदो मे ही मिलता है।

अ. उनतैं—कुलटी उनतैं (महरि जसोदा तैं) को है[९६]। उनत प्रभु नहिं और बियौ[९७]।

आ. उनहूँ तैं—सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ त अति ही खोटी[९८]।

इ. तातैं—राधा आधा अग है, तातैं यह मुरली प्यारी[९९]।

ई. ताहू तैं—सुनहुँ सूर ज्यौ होम अगिनि घृत, ताहू तैं यह न्यारी[१]।

उ. वातैं—अब ऐसौ लगत हमहिं वातैं न अयानौ[२]।

६ सबधकारक—सूरदास द्वारा प्रयुक्त सबधकारकीय सर्वनाम रूपो की सख्या तीस के आस-पास है। स्थूल रूप से उनको पाँच वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. 'की' युक्त रूप। ग 'के' युक्त रूप। घ कौ' युक्त रूप। ङ अन्य रूप।

क विभक्तिरहित रूप— उन और ता—ये दो रूप इस प्रकार के हैं जिनमे कोई विभक्ति नही है। दोनो का प्रयोग कवि ने अनेक पदो मे किया है।

अ. उन—मन उन हाथ बिकानौ[३]। को जाने उन (कृष्ण) ही की[४]। उन पहिरयौ उन (स्यामा का) नौसरिहार[५]। कोटि जज्ञ फल होइ उन (हरि के) दरसन पाए[६]।

---

८८. सा० २८२८। ८९. सा ९८४। ९०. सा २५४३। ९१. सा २२३८। ९२. सा. ३७७५। ९३. सा. ९-५। ९४. सा. ४-१२। ९५. सा. ५-३। ९६. सा. २८८९ ९७ सा ३०८६। ९८ सा. १९०१। ९९ सा. १२५२। १ सा २१२०। २. सा. १८३६। ३ सा १८८४। ४ सा १८३५। ५. सा. २०३६। ६. सा ४१८८।

आ. ता—ता अवतारहिं[७] । ता घर[८] । ता पख[९] । ता मुख[१०] ।

ख. 'की' युक्त रूप—उनकी, उनहिं की, ताकी, तिनकी और वाकी—ये पाँच रूप इस वर्ग मे आते हैं । इनमे द्वितीय रूप बलात्मक है, शेष सामान्य हैं । उनकी, ताकी और वाकी का प्रयोग'सूरसागर' मे बहुत किया गया है, शेप रूप कुछ ही पदो मे मिलते हैं ।

अ. उनकी—उनकी (महादेव की) महिमा[११] । उनकी (नृपति की) अस्तुति[१२] । उन उनकी (स्याम की) पहिरी मोतिमाला[१३] । पीत धुजा उनकी (स्याम की)[१४] ।

आ. उनहिं की—यह करतूति उनहिं (स्यामहिं) की नाही[१५] ।

इ. ताकी—ताकी इच्छा[१६] । ताकी पितु मातु घटाई कानि[१७] । ताकी गतिहि[१८] । माता ताकी[१९] । ताकी सक्ति[२०] ।

ई. तिनकी—नदनँदन गिरिवर बहुनायक, तू तिनकी पटरानी[२१] ।

उ. वाकी—चतुरई वाकी[२२] । वाकी जाति[२३] । वाकी पँज[२४] । वाकी बुद्धि[२५] । लँगराई वाकी[२६] ।

ग. 'के' युक्त रूप—इस वर्ग मे आनेवाले प्रमुख रूप हैं— उनके, उनहीके, ताके, तासु के, ताहूके, तिनके, तोहिके और वाके । इनमे केवल दूसरा रूप बलात्मक है । प्रयोग की दृष्टि से उनके, ताके और वाके रूप सर्वत्र मिलते हैं, शेष कही-कही ही दिखायी देते हैं ।

अ. उनके—उनके (स्याम) मनही भाई[२७] । सेवक उनके (कन्हाई के)[२८] । उनके (स्याम के) गुन[२९] ।

अ. उनहीं के—उनहीं के गुन गावत हैं[३०] । उनही के सगी[३१] ।

इ. ताके—गुन ताके[३२] । ताके तदुल[३३] । ताके पूत[३४] । ताके माथे[३५] । ताके साथ[३६] । ताके हय[३७] ।

ई तासु के—तुरग रथ तासु के सब सँघारे[३८] ।

---

७. सा २७७९ । ८. सा. १०-२८ । ९ सा. १८६८ ।
१० सा. २७२४ । ११. सा. ४-५ । १२. सा. १५७९ ।
१३. सा. २०३६ । १४. सा. ३७४६ । १५. सा. ३७४९ । १६. सा. १-२९० ।
१७ सा. ९-७७ । १८ सा. १-३२५ । १९. सा. ९-१३ । २०. सा. ४-३ ।
२१. सा. १८९८ । २२. सा. १२६१ । २३. स १७२५ २४. सा १-८२ ।
२५ सा. १७२३ । २६. सा. १७२५ । २७ सा १२३२ । २८. सा १५७४ ।
२९ सा २१९४ । ३० सा २२५४ । ३१. सा ३७६० । ३२ सा १३१८ ।
३३ सा १-७ । ३४ सा १०-३३२ । ३५ सा ५५७ । ३६. सा. ६-८ ।
३७. सा. ९-२६ । ३८. सा. ४२०९ ।

उ. ताहू के—ताहू के खैवे-पीवे कौं[३९] ।

ऊ. तिनके—मेरे प्रान-जिवन-धन कान्हा, तिनके भुज मोहि बँधे दिखाए[४०] ।
सूर स्याम जुवती मन मोहन, तिनके गुन नहि परत कही[४१] ।

ऋ. तेहिके—असी सहस किंकर दल तेहिके[४२] ।

ए वाके—वाके सुनहु उपाउ[४३] । वाके गुन[४४] । चरित वाके[४५] । वाके वचन[४६] । वाके भाग[४७] ।

घ 'कौं' युक्त रूप—उनकौ, उनही कौ, ताकौ, तिनकौ और वाकौ—मुख्यत ये पाँच रूप इस वर्ग मे आते है । इनमे केवल दूसरा रूप वलात्मक है । इन पाँचो रूपो मे प्रथम, तृतीय और अतिम का प्रयोग सूरदास ने जितना अधिक किया है, शेष दोनो का उतना ही कम।

अ उनकौ—सुता है वृषभानु की री, बडौ उनकौ नाउँ[४८] । उनकौ (गिरिधर कौ) मन अपनौ कर लीन्हौ[४९] । उनकौ (स्याम कौ) वदन बिलोकति निसि दिन[५०] । सुधि करि देखि रूसनौं उनकौ (मोहन कौ)[५१] ।

आ उनही कौ—उनही (सखी) कौं मन राखैं काम[५२] ।

इ. ताकौ—ताकौ केस[५३] । जस ताकौ[५४] । निरभय देह राजगढ ताकौ[५५] । नाम ताकौ[५६] ।

ई. तिनकौ— तिनकौ नाम अनग नृपति बर[५७] ।

उ. वाकौ—दोष कहा वाकौ[५८] । वाकौ भाग[५९] । वाकौ मान[६०] । मुख वाकौ[६१] । वाकौ सुर[६२] ।

ङ. संवधकारकीय अन्य रूप—इस कारक के अन्य रूप हैं— उन केरी, उन केरे, ताकर, तासु, ताही और तिहि । इनमे से सबसे अधिक प्रयोग किया गया है 'तासु' का और उससे कम 'तिहिं' का । शेष रूपो के प्रयोग अपवादस्वरूप कही-कही मिल जाते हैं ।

अ. उन केरी—तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहिऐ कहा बुद्धि उन (कृष्ण) केरी[६३] ।

आ. उन केरे—मोहूँ बरबस उतहि चलावत दूत भए उन (स्याम) केरे[६४] ।

---

३९ स १०-३२५ । ४०. सा ३७० । ४१ सा २५२९ ।
४२ सा ९-१०४ । ४३. सा. १७२१ । ४४. सा २५०५ ।
४५. सा १७२४ । ४६ सा. १२८१ । ४७ सा १३४३ । ४८. सा. ७१९ ।
४९. सा १२३८ । ५०. सा. २२४७ । ५१. सा २८२६ । ५२ सा. २५४० ।
५३. सा. १-३७ । ५४. सा ५-२ । ५५. सा. १-४० । ५६. सा. १-११३ ।
५७. सा. १५८८ । ५८. सा. १२९१ । ५९. सा. १२७३ । ६०. सा. २५७३ ।
६१. सा. २६०७ । ६२. सा. १३३९ । ६३. सा. ३५२८ । ६४. सा. २३५२ ।

इ. ताकर—उदधि-सुधा-पति, ताकर वाहन[६५] ।

उ. तासु—तासु क्रिया[६६] । तासु चित्त[६७] । तासु महातम[६८] । तासु सुतनि[६९] ।

ऊ ताही—पहिलै रति करिकै आरति करि, ताही रँग रँगई[७०] ।

ऋ तिहि—नख-प्रहार तिहि उदर बिदार्‍यौ[७१] । सूर प्रभु मारि दसकध, थपि बधु तिहिं[७२] । कहाँ मिली कुबिजा चदन लै, कहा स्याम तिहि कृपा चहैं[७३] ।

७ अधिकरणकारक—इस कारक मे प्रयुक्त अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम-रूपो की सख्या पचीस के आसपास है। साधारण रीति से इनको छह वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख 'कैं' विभक्तियुक्त रूप। ग 'पर' विभक्तियुक्त रूप। घ 'पै' या 'पैं' विभक्तियुक्त रूप। ङ 'मैं' विभक्तियुक्त रूप। च अन्य विभक्ति-युक्त रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—ताहूँ और वाही—ये दो प्रयोग इस प्रकार के कहे जा सकते हैं। इनके प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलते है और इनके साथ की विभक्ति 'में' प्राय लुप्त रहती है।

अ. ताहूँ—खभ प्रगटि प्रहलाद बचायौ, ऐसी कृपा न ताहूँ[७४] ।

आ वाही—लख चौरासी जोनि भरमि कै, फिरि वाहीं मन दीनौ[७५] ।

ख. 'क' विभक्तियुक्त रूप— उनकैं, ताकैं, ताही कैं और तिनकैं—ये चार रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे तीसरा वलात्मक है। शेष तीनो सामान्य रूपो का प्रयोग अनेक पदो मे मिलता है।

अ. उनकैं—मोसी उनकैं कोटि तियौ[७६] । उनकै (स्याम कैं) बाढ़ी आतुर-ताई[७७] ।

आ. ताकैं—साँझ बोल दै जात सूर प्रभु, ताकैं आवत होत उदोत[७८] । गई आतुर नारि ताकैं[७९] । जाइ रहे नहिं ताकैं[८०] ।

इ ताही कैं— ताही कैं पग धारियै, चक्रित मैं जानै[८१] ।

ई. तिनकैं—तिनकैं (दासी-सुत कैं) जाइ कियौ तुम भोजन[८२] । भूपन मोर-पखौवनि, मुरली, तिनकैं प्रेम कहाँ री[८३] ।

ग. 'पर' विभक्तियुक्त रूप—तापर, ताहि पर, ताही पर और तिन पर—ये चार रूप इस विभक्ति मे आते है। इनमे तीसरा रूप वलात्मक है जिसका

---

६५. सा. २७७९। ६६. सा. १-२८०। ६७. सा. ६-५।
६८. सा. ३-१३। ६९. सा. ९-१३। ७० सा. १७८३।
७१. सा. ७-२। ७२. सा. ९-१३६। ७३. सा. ३१०५।
७४. सा. ५६९। ७५. सा. १-६५। ७६ सा २०७६। ७७. सा. २८२६।
७८. सा. २४७६। ७९. सा. २६९३। ८०. सा. २७५६। ८१. सा. २६८८।
८२. सा. १-२४२। ८३. सा. २८२६।

अपादान	·	उनतैं, तातैं, वातैं ।
संबंध	उन, ता ।	उनकी, ताकी, (तिनकी), वाकी, उनके, ताके, (तासु के), तिनके, (तेहिके), वाके, उनकौ, ताकौ, (तिनकौ,), वाकौ, (उन केरी), (उन केरे), (ताकर), ताकि, तासु, (तिहिं), (वाकि) ।
अधिकरण	ताहूँ, वाही ।	उनकैं, ताकैं, (तिनकैं), तापर, (ताहि पर), तिन पर, (उनपैं), (तापैं), (तापैं), (तिनपैं), तामैं, (उन पाही), उन माहैं, (उन माही), (उन मौ) (ता महँ), (ता माहिं) ।

बहुवचन रूपो के कारकीय प्रयोग—

अन्यपुरुष और दूरवर्ती निश्चयवाचक मे साधारणत 'वे'और 'वै' का मूल रूप मे तथा 'उन', (उनि) और 'विन' का विकृत रूप मे प्रयोग होता है। सूरदास ने इनके रूपो के साथ-साथ नित्यसबधी सर्वनामो—'ते', 'से' (मूल रूप), 'तिन'—(विकृत रूप) और 'तिन्हैं' (अन्य रूप) का भी स्वतत्रतापूर्वक प्रयोग किया है। अतएव उनके द्वारा प्रयुक्त एकवचन के समान बहुवचन रूपो की सख्या भी पर्याप्त हो गयी है। इनमे से प्रमुख रूपो के कुछ उदाहरणो का सकलन यहाँ किया गया है।

१ कर्त्ताकारक—इस कारक मे तेरह-चौदह बहुवचन रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क विभक्तिरहित रूप। ख बलात्मक प्रयोग।

क विभक्तिरहित रूप—उन, उनि, तिन, तिनि, ते, वे और वै—ये सात रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे 'तै' और 'वै' का प्रयोग कवि ने खूब किया है, शेष कुछ ही पदो मे मिलते हैं।

अ. उन—जोग पथ करि उन तनु तजे[१५]। अबिगत की गति उन नहि जानी[१६]।

आ. उनि—नद-सुवन मति ऐसी ठानी, उनि घर लोग जगाए[१७]।

इ तिन—द्वारपाल जय-बिजय हुते बरज्यो तिनकौं तिन[१८]। तिन (ब्रह्मा) कैं हित तप कीन्हौं[१९]।

ई. तिनि—भोजन बहु प्रकार तिनि दीन्हौं[२०]।

उ ते—ते हरि पद कौं या बिधि पावैं[२१]। कपिलास्रम कौं ते पुनि गए[२२]। ते निकसी देति असीस[२३]। ऐसे और पतित अवलबित ते छिन माहिं तरे[२४]।

ऊ वे—जोहत हैं वे पथ तिहारौ[२५]।

---

१५ सा १-२८८। १६. सा ८००। १७ सा ११७०। १८. सा. ३-११। १९ सा. ७-७। २० सा. ८००। २१. सा ३-१३। २२. सा. ९-९। २३. सा. १०-२४। २४. सा १-१९८। २५ सा. ४-१२।

ऋ. वै—वै भए इक ओर[२६]। वै सुनिहै यह वात[२७]। मान लेहिं वै वात तुम्हारी[२८]। स्याम सबनि कौं देखही, वै देखति नाही[२९]।

ख. बलात्मक प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत जो रूप आते है, उनमे मुख्य हैं—उनहिं, उनहूँ, तिनहुँ, तिनहूँ, तेऊ, वेई, और वेऊ। इनमे से तिनहुँ, तिनहूँ और तेऊ के प्रयोग अनेक पदो मे मिलते है, शेष रूप कही-कही ही दिखायी देते है।

अ उनहि—सखिनि मिलै जमुना गई मोतिसिरी धौं उनहि चुराई[३०]। सूर स्याम कौं उनहिं सिखायौ[३१]।

आ उनहूँ—ब्रह्मा, रुद्र-लोक हूँ गयौ। उनहूँ ताहि अभय नहिं दियौ[३२]।

इ. तिनहुँ—तिनहुँ न आनि छुडायौ[३३]। सिव-विरचि-नारद मुनि देखत, तिनहुँ न मोकौं सुरति दिवाई[३४]। रुद्र, बिरचि, सेस सहसानन, तिनहुँ न अत लह्यौ[३५]।

ई. तिनहूँ—बरुन कुवेरादिक पुनि आइ। करी विनय तिनहूँ बहु भाइ[३६]। सिव, विरचि, सनकादि आदि तिनहूँ नहिं जानी[३७]। सुर-नर-गन-गधर्व जे कहिये, बोल वचन तिनहूँ नहिं टारौ[३८]।

उ तेऊ—फिरत सकल प्रभु तेऊ हमरी नाईं[३९]। पाँच बान सकर मोहिं दीन्है, तेऊ गए अकारथ[४०]। ऐसे निठुर होहिंगे तेऊ जैसी की यह तैंसी[४१]।

ऊ वेई—काल्हिहिं तैं वेई सबै ल्यावैं गाइ चराइ[४२]।

२ कर्मकारक—इस कारक मे प्रयुक्त रूप भी सख्या मे कर्त्ताकारक के समान ही है। इनको मुख्यतः तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. विभक्तिसहित रूप। ग बलात्मक रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—उनि, तिन, तिनि, तिन्ह, तिन्हैं और ते—ये छह रूप इस वर्ग मे आते है। इनमे अतिम दोनो रूपो का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, शेष रूप कुछ ही पदो मे मिलते हैं।

अ उनि—भली करी उनि (उनकौ) स्याम बँधाए[४३]।

आ तिन—ब्रह्मा तिन लै सिव पहँ आए[४४]।

इ. तिनि—लखि सरूप रथ रहि नहिं सकिहौ, तिनि धरिहौं घर धाइ[४५]।

---

२६. सा. १०-२४४। २७ सा. ५२२। २८ सा ८००। २९ सा. १०९६। ३०. सा. १९७०। ३१ सा २०९५। ३२. सा. ९-५। ३३ सा. २-३०। ३४. सा. ७.४। ३५ सा. २८०७। ३६. सा ७-२। ३७. सा १६१८। ३८. सा. ४२०३। ३९. सा १-१९५। ४०. सा. १-२८७। ४१. सा. १२५४। ४२. सा. ४३७। ४३. सा. २२७०। ४४. सा. ४-५। ४५. सा. २९४८।

ई तिन्ह—भरत सत्रुहन कियौ प्रनाम, रघुबर तिन्ह कंठ लगायौ[४६]।

उ तिन्हैं—इनके पुत्र एक सौ मुए। तिन्हैं बिसारि सुखी ये हुए[४७]। नैन कमल दल से अनियारे। दरसत तिन्हैं कटैं दुख भारे[४८]। कपिल कुलाहल सुनि अकुलायौ। कोप-दृष्टि करि तिन्हैं जरायौ[४९]।

ऊ. ते—अष्टसिद्धि वहुरौ तहँ आई। रिषभदेव ते मुँह न लगाई[५०]। श्री रघुनाथ लछन ते मारे[५१]। विधि कुलाल कीन्हे काँचे घट ते तुम आनि पकाए[५२]।

ख विभक्तियुक्त रूप—उनकौं, उनहिं और तिनकौं—ये तीन मुख्य रूप इस वर्ग मे आते है। इनमे से उनकौं' और 'तिनकौं' का प्रयोग ही सूरदास ने अपने काव्य मे अधिक किया है।

अ. उनकौं—उनकौं मारि तुरत मैं कीन्ही मेघनाद सौ रारि[५३]। वैहैं काल तुम्हारे प्रगटे, काहैं उनकौं राखत[५४]। सूर उनकौं देखिहौं मैं क दिवस बुलाइ[५५]।

आ. उनहिं—आपुन खीझैं उनहिं खिझावैं[५६]। आजु-कालिह अब उनहिं बुलाऊँ[५७]।

इ. तिनकौं—अर्ध निसा तिनकौ लै गयौ[५८]। द्वारपाल जय-बिजय हुते, बरज्यौ तिनकौं तिन[५९]। तट ठाढ़े जे सखा संग के, तिनकौं लियौ बुलाई[६०]।

३ करणकारक—इस कारक मे लगभग दस रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क विभक्तिरहित रूप। ख विभक्तियुक्त रूप। ग अन्य रूप।

क विभक्तिरहित रूप—इस वर्ग का एक रूप है 'तिन्हैं' जो सूर-काव्य के बहुत थोडे पदो मे मिलता है।

तिन्हैं—तिन्हैं कह्यौ, ससार मे असुर होउ अब जाइ[६१]। आज्ञा होइ, जाहिं पाताल। जाहु, तिन्हैं भाष्यौ भूपाल[६२]।

ख 'सौं' विभक्तियुक्त रूप—उनसौं, तिनसौं, तिनहिं सौं, तिनि सौं—ये मुख्य रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे से प्रथम दो का प्रयोग सर्वत्र मिलता है, शेष दो कही-कही ही दिखायी देते हैं।

अ उनसौं—माता पिता पुत्र तिहिं जानैं। वहऊ उनसौं नातौ मानै[६३]। मैं

---

४६. सा. ९-५५। ४७. सा १-२८४। ४८ सा ३-१३। ४९. सा ९-९।
५० सा. ५-२। ५१ सा ९-५७। ५२ सा. ३७८१।
५३. सा. ९-१०४। ५४. सा ५२२। ५५. सा ५८६। ५६ सा १६०७।
५७. सा. २९२२। ५८. सा १-२८४। ५९ सा. ३-११। ६०. सा. १४०३।
६१. सा. ३-११। ६२. सा. ९-९। ६३. सा. ३-१३।

उनसौं (भक्तो से) ऐसी नहिं कही[६४]। भोर दुहौ जनि नद दुहाई, उनसौं कहत सुनाइ[६५]।

आ. तिनसौं—हरि तिनसौं कह्यौ आइ, भली सिच्छा तुम दीनी[६६]। सुत-कलत्र कौ अपनौं जानै। अरु तिनसौं ममत्व वहु ठानै[६७]। सिव-निंदा करि तिनसौं भाष्यौ[६८]। पग दिए तीरथ जैबे काज। तिनसौं चलि नित करै अकाज[६९]।

इ. तिनहिं सौं—खेलैं-हँसैं तिनहिं सौं बोलैं[७०]।

ई. तिनि सौं—ठाढे सूर-बीर अवलोकत, तिनिसौं कहौ न तोरै[७१]।

ग. अन्य रूप—'तैं' और 'पै' विभक्तियो से वने तीन रूप—उनतैं, तिनतैं, और तिनहूँ पै—इस वर्ग मे आते हैं। इनमे से द्वितीय रूप का प्रयोग अधिक किया गया है; प्रथम और तृतीय के उदाहरण बहुत कम पदो मे मिलते हैं।

अ. उनतैं—उनतैं कछू भयौ नहिं काजा[७२]।

आ. तिनतैं—भैया, वधु, कुटुव घनेरे तिनतैं कछू न सरी[७३]। तिनतै पचतत्व उपजायौ[७४]। जद्यपि रानी वरी अनेक। पै तिनतैं सुत भयौ न एक[७५]।

इ. तिनहूँ पै—ध्यान धरत महादेवऽरु ब्रह्मा, तिनहूँ पै न छटै[७६]।

४. संप्रदान कारक—इस वर्ग मे सात-आठ रूप हैं जिनको दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. विभक्तिसहित रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—तिन, तिनि और तिन्ह—ये तीन रूप इस वर्ग मे आते है। इन सभी रूपो का प्रयोग कही-कही ही मिलता है, सर्वत्र नही।

अ. तिन—सवै कूर मोसौं रिन चाहत, कहौ कहा तिन दीजै[७७]।

आ. तिनि—जज्ञ-काज मैं तिनि दुख दयौ[७८]।

इ. तिन्ह—ब्रह्म प्रगटि दरस तिन्ह दीन्हौ[७९]।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग मे मुख्य तीन रूप मिलते है—उनकौं, उनहिं और तिनकौं। इनमे प्रथम और तृतीय रूपो का प्रयोग वहुत अधिक किया गया है, द्वितीय का कम।

अ उनकौं- सरवस दीजै उनकौं[८०]। सो फल उनकौं तुरत दिखाऊँ[८१]।

---

६४. सा. ५-३। ६५ सा. ४००। ६६. सा. ३-११।
६७. सा. ३-१३। ६८. सा. ४-५। ६९. सा. ४-१२।
७०. सा. १४६०। ७१. सा. ३०४९। ७२ सा. ५२१।
७३. सा १-७१। ७४. सा ३-१३। ७५. सा. ६-५। ७६ सा १-२६३।
७७. सा. १-१९६। ७८ सा. ४-१२। ७९. सा. ७-७। ८०. सा. १-१७७।
८१. सा. ८५६।

ग्वाव कहा मैं देहौं उनकौं[८२]। सूर स्याम उनकौं भए भोरे, हमकौं निठुर मुरारी[८३]।

आ, उनहिं—वहै वकसीस अव उनहि दैहे[८४] । यह तौ जाइ उनहि उपदेसहु[८५]।

इ तिनकौं—राज रवनि गाई व्याकुल ह्वै, दै दै तिनकौं धीरक[८६] । नारायन तिनकौं वर दियौ[८७]। मोहिनी रूप तुम दरस तिनकौं दियौ[८८]। गोपीगन प्रेमातुर, तिनकौं[८९] सुख दीन्हौं।

५ अपादानकारक—इस कारक मे केवल चार मुख्य रूप मिलते हैं—उनतैं, उनहूँ तैं, तिनतैं, तिनहूँ तैं। 'तैं' विभक्ति इन चारो मे है। प्रथम और तृतीय रूप सामान्य हैं, द्वितीय और चतुर्थ बलात्मक। इन सभी का प्रयोग सूर-काव्य में कही-कही ही मिलता है।

अ. उनतैं—हौं उनतैं न्यारी करि डारचौ, इहिं दुख जात मरचौ[९०]।

आ. उनहू तैं —उनहू त निर्दयी बडे वैं, तैसियै मुरली पाई[९१]।

इ तिनतैं—ब्याव-गीघ अरु पतित पूतना तिनतैं बडो जु और[९२]।

ई तिनहूँ तैं—महा जे खल, तिनहूँ तैं अति, तरत है इक नाम[९३]।

६. संबंधकारक—इस कारक मे केवल दस-ग्यारह रूप मिलते हैं। इनको चार वर्गो मे रखा जा सकता है—क विभक्तिरहित रूप। ख 'की' युक्त रूप। ग. 'के' युक्त रूप। घ. 'कौं' युक्त रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—इसमे केवल दो रूप—उन और तिन—आते हैं जिनका प्रयोग दो-चार पदो मे ही दिखायी देता है, जैसे—

अ उन—सूर कछू उन हाथ न आयौ, लोभ-जाग पकरे[९४]।

आ तिन—कौनहुँ भाव भजै कोउ हमकौं, तिन तन ताप हरै री[९५]।

ख. 'की' युक्त रूप—उनकी, उनहूँ की और तिनकी—ये तीन रूप इस वर्ग के हैं। इनमे द्वितीय रूप बलात्मक है जिसका प्रयोग इने-गिने पदो मे ही दिखायी देता है। शेष दोनो रूप 'सूर-काव्य' मे सर्वत्र मिलते हैं।

अ उनकी— उनकी करनी[९६]। उनकी दीनता[९७]। उनकी करति बडाई[९८]। उनकी बिचवानी[९९]। उनकी सोध[१]।

---

८२ सा २०४६। ८३ सा २३२५। ८४ सा २९३०। ८५ सा ३९१२। ८६ सा १-११२। ८७ सा ३-१३। ८८ सा ८-९। ८९ सा. ३९४। ९० सा १-१५६। ९१ सा १२७८। ९२ सा १-१४५। ९३. सा ३०४६। ९४ सा. २२९९। ९५ सा. ७८७ ९६. सा २२२४। ९७. सा. १-२३८। ९८ सा ९-१४०। ९९ सा १९०७। १. सा. ६-४।

आ. उनहूँ की—उनहूँ की आँखि[2] ।

इ. तिनकी—तिनकी कथा [3] । तिनकी गति[4] । सगति करि तिनकी[5] । तिनकी करी सहाइ[6] ।

ग 'के' युक्त रूप— उनके, तिनके, तिनही के और तिनिके—केवल ये चार प्रमुख रूप इस वर्ग मे मिलते हैं। इनमे तृतीय रूप बलात्मक है। प्रयोग की दृष्टि से प्रथम दो रूप महत्व के हैं जिनका सर्वत्र प्रयोग किया गया है । अतिम दोनो रूप बहुत कम पदो मे मिलते है ।

अ. उनके—उनके काम[7] । समाचार सब उनके[8] । उनके अगम सरीर[9] । उनके सुख[10] ।

आ. तिनके—तिनके कलिमल[11] । तिनके बधन[12] । तिनके बचन[13] । भाग है तिनके[14] ।

इ. तिनहीं के—तिनही के सगी[15] ।

ई. तिनिके—गुन जानौ मैं तिनि के[16] ।

घ. 'कौ' युक्त रूप—उनकौ और तिनकौ इस वर्ग मे केवल दो रूप आते हैं। इनमे से प्रथम की अपेक्षा दूसरे का प्रयोग कुछ अधिक मिलता है।

अ. उनकौ—उनकौ आसरौ[17] ।

आ. तिनकौ—दोष तिनकौ[18] । तिनकौ नाम[19] तिनकौ प्रेम[20] ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक मे तेरह-चौदह रूप मिलते है जिनको चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. 'पर' या 'पै' युक्त रूप। ग. 'मैं' युक्त रूप। घ अन्य रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—उनकैं और ताकैं—ये दो रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे प्रथम तो बहुवचन रूप है ही, परतु द्वितीय, 'ताकैं' एकवचन है जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप बहुवचन मे कवि ने किया है। ये तीनो रूप बहुत कम पदो मे दिखायी देते है।

अ. उनकैं—रैनि-दिन मम भक्ति उनकैं कछू करत न आन[21] ।

आ. ताकैं—स्रवन सुनि-सुनि दहै, रूप कैसै लहैं, नैन कछु गहै, रसना न ताकैं[22] ।

---

२. सा. २९१६ ।
३. सा. ११७५ । ४. सा. १-१४० । ५. २-१७ । ६. सा. ७-७ ।
७. सा २२२७ । ८. सा. ४१६० । ९. सा. ९-८६ । १० सा. १९४३ ।
११. सा. १-९५ । १२. सा. १६१८ । १३. सा. ८०० । १४. सा. ६२० ।
१५. सा. ३५९३ । १६ सा ३३७९ । १७. सा. २२२७ । १८. सा. ४२०९ ।
१९. सा. १५५१ । २०. सा. ४२०० । २१. सा. ३४३१ । २२. सा. १८५७ ।

ख. 'पर' या 'पै' विभक्तियुक्त रूप—उनपर, तिनपर और तिन पै—तीन रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनके प्रयोग भी कही-कही ही मिलते है।

अ. उन पर—सघन गुजत बैठि उन पर भौरहूँ विरमाहिं[२३]। ऐसी रिसि आवति है उन पर[२४]।

आ. तिन पर—सासु ननद तिन पर झहरैं[२५]। तिन पर क्रोध कहा मैं पाऊँ[२६]।

इ. तिनपै—बहुरि तातौ कियौ, डारि तिनपै दियौ[२७]।

ग. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप—उनमैं, तिनमैं, तिनही मैं, ताहू मैं—ये चार रूप ही इस वर्ग मे मिलते हैं। इनमे प्रथम दो सामान्य बहुवचन रूप हैं, तृतीय बलात्मक बहुवचन और अतिम बलात्मक एकवचन रूप जिसका सूरदास ने अपवादस्वरूप एक-दो पदो मे बहुवचन मे प्रयोग किया है। प्रथम दोनो प्रमुख रूपो का प्रयोग 'सूरसागर' मे सर्वत्र मिलता है।

अ. उनमैं—तिनमैं अजामील गनिकादिक, उनमैं मैं सिरमौर[२८]। उनमैं नित उठि होइ लराई[२९]। एक सखी उनमैं जो राधा, लेति मनहिं जु चुराइ[३०]। उनमैं पाँचो दिन जौ बसियै[३१]।

आ. तिनमैं—और है आजकल के राजा तिनम मैं सुलतान[३२]। तिनमैं सती नाम विख्यात[३३]। तिनमैं नव नव खँड अधिकारी[३४]। षट्रस के पकवान धरे सब तिनमैं रुचि नहिं लावत[३५]।

इ. तिनही मैं—और पतित तुम जैसे तारे तिनही मैं लखि काढौ[३६]।

ई. ताहू मैं—भेद चकोर कियौ ताहू मैं, बिधु प्रीतम, रिपु भान[३७]।

घ. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उन माँझ, तिन माहिं, तिनहिं पाहीं और तिनहिं माहीं—ये चार रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनका प्रयोग बहुत कम पदो मे मिलता है।

अ. उन माँझ—मनहुँ उलटि उन माँझ समानी[३८]।

आ. तिन माहि—पै तिहिं रिषि-दृग जाने नाहिं, खेलत सूल दिये तिन माँहिं[३९]।

इ. तिनहि पाहीं—स्याम बलराम यह नाम सुनि ताम मोहि, काहि पठवहुँ जाइ तिनहिं पाहीं[४०]।

ई. तिनहिं माहीं—सूर प्रभु नैन लै मोल अपबस किए, आपु बैठे रहत तिनहिं माहीं[४१]।

---

२३. सा १-३३८। २४. सा १२४४। २५ सा १९२०। २६. सा २९२२। २७. सा ३०५४। २८ सा. १-१४५। २९ ३-९। ३०. सा ४०९६। ३१. सा ४१५०। ३२. सा. १-१४५। ३३. सा ४-४। ३४. सा. ५-२। ३५. सा ४६८। ३६. सा १-१३७। ३७. सा ३९८५। ३८. सा २३६५। ३९. सा. ९-३। ४०. सा. २९३०। ४१. सा. २२४०।

सारांश—पुरुषवाचक अन्यपुरुष और निश्चयवाची दूरवर्ती वहुवचन सर्वनामो के जो जो रूप विभिन्न कारको मे प्रयुक्त हुए है, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्ति रहित रूप	विभक्ति युक्त रूप	वलात्मक रूप
कर्त्ता	(उन), (उनि), (तिन), (तिनि), ते, (वे), वै	... ...	((उनहिं), (उनहुँ), (तिनहुँ), तिनहूँ, (तेउ) तेऊ, (वेई)।
कर्म	(उनि), (तिन), (तिनि), (तिन्ह), तिन्हैं, ते	उनको, (उनहिं), तिनकौं, (तिनहिं), (तिहिं)।	(तेइ,।
करण	(तिनहिं), (तिन्हैं)	उनसौ, तिनसौं, (तिनिसौं), (उनतैं), तिनतैं।	(उनहिं सौं), (उनही-सौं) (तिनहिं सौ, तिनहूँ पै।
संप्रदान	(उन),(ताहि),(तिनि), (तिन्ह)	उनकौं, उनहिं, तिनको, तिनहिं।	... ...
अपादान	...	(उनतैं), (तिनतैं)	(उनहूँ तैं), (तिनहूँ तैं)
सबध	(उन), (तिन)	उनकी, तिनकी, उनके, तिनके, तिनिके, उनको, तिनकौ।	(उनहूँ की), (तिनही के)।
अधिकरण	(उनतै), (ताकैं), तिनकैं	उन पर, तिन पर, (तिन पैं), उनमैं, तिनमैं, (उन माँझ, (तिन माँहि),(तिनहिं पाही)।	(तिनही मैं), (ताहू मैं), (तिनहिं माही)।

निश्चयवाची : निकटवर्ती—

व्रजभाषा में इस सर्वनाम के एकवचन और वहुवचन मे मूल और विकृत रूप इस प्रकार होते हैं—

रूप	एकवचन	वहुवचन
मूल	यह	ये, ए
विकृत	या	इन
अन्य	याहि	इन्हे

एकवचन रूपो के कारकीय प्रयोग—

अन्य सर्वनाम-रूपो के समान निकटवर्ती निश्चयवाची वहुवचन-रूप भी अनेक पदो मे सूरदास द्वारा एकवचन मे प्रयुक्त हुए है। विभिन्न कारको मे इनके प्रयोगो की सोदाहरण चर्चा नीचे की जाती है।

कर्ताकारक—इस कारक मे वारह-तेरह रूपो का कवि ने प्रयोग किया है। इनको दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—क विभक्ति रहित सामान्य प्रयोग। ख. बलात्मक प्रयोग।

क. विभक्तिरहित सामान्य प्रयोग—इन, इहि, ए, यह, ये—ये पाँच रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे से तृतीय का प्रयोग तो कही-कही मिलता है, शेष चारो का सर्वत्र मिलता है।

अ. इन—इन (प्रहलाद) तौ रामहिं राम उचारे[४२]। दूतन कह्यौ, बडी यह पापी। इन तौ पाप किये है धापी[४३]। विप्र जन्म इन (अजामिल) जूवैं हारयौ[४४]। घूँघट-पट बदन ढाँपि, काहैं इन (यह नारि) राख्यौ (री)[४५]।

अ इहि—इहिं मोसौं करी ढिठाई[४६]। चाँपी इहि मेरी[४७]। सखी-सखी सौं कहति बावरी, इहिं हमकौं निदरी[४८]। बहुत अचगरी इहि करि राखी[४९]।

इ ए—कोटि चद वारौं मुख-छबि पर ए (कृष्ण) हैं साहु कै चोर[५०]।

ई. यह—यह अति हरिहाई[५१]। जौ यह बवू होइ काहू की[५२]। जौ यह सजीवनि पढि जाइ[५३]। डसै जिनि यह काहु[५४]।

उ. ये—न ये (भगवान) देखिकै मोहिं लुभाए[५५]। कबहुँ कियैं भक्ति के न ये (भगवान) रीझही[५६]। नदहुँ तैं ये (कृष्ण) वडे कहैहैं[५७]। बृंदावन वै सिसु तमाल, ये (प्रिया) कनकलता-सी गोरी[५८]।

ख. बलात्मक प्रयोग—इनहि, इनहीं, एउ, येइ, येई, येऊ—ये छह रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे से 'इनहिं', 'इनहीं' और 'येई'—इन तीन रूपो का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है और 'यउ' तथा 'येऊ' का कम। शेष का सामान्य रूप से प्रयोग मिलता है।

अ. इनहिं—ऐसी कहूँ भई नहिं होनी, जैसी इनहिं (मुरली) करी[५९]। ऐसौ अपदाँव सब इनहिं (मन) कीन्हे[६०]। इनहिं (कन्हाई) गुवर्धन लियौ उठाई[६१]।

आ इनहीं—असुर कह्यौ, इनहीं (ब्रह्म) हिरनाच्छहिं मारयौ। हिरनकसिपु इनहीं सहारयौ[६२] सूर स्याम इनहीं (मुरली) बहकाये[६३]। सूरस्याम कौं इनहीं (राधा) जाने[६४]।

इ. एउ—वै चतुर एउ (प्रिया) नहिं भोरी[६५]। एउ (अलि) बसत निसि नव जलजातनि[६६]।

---

४२ सा ७-२। ४३. सा ६-४। ४४ सा ६-४। ४५. सा २१६५।
४६ सा ५५५। ४७ सा ५८९। ४८ सा. १९००। ४९ सा ३०३७।
५०. सा ३५९। ५१ सा १-५१। ५२ सा, ९-४१। ५३. सा ९-१७३।
५४. सा ६३६। ५५ सा ८-८। ५६ सा ८-८। ५७ सा. १०-३११।
५८. सा. १९०४। ५९ सा. १२९५। ६० सा २२४०। ६१ सा ३०२८।
६२ सा ७-७। ६३ सा १२९९। ६४. सा. २०६०। ६५ सा. १९०४।
६६. सा ३७६०।

ई. येइ—येइ माता येइ पिता जगत के[६७]।

उ. येई—कस बधन येइ (कृष्ण) करिहैं।...। भूमि भार येई हरिहै[६८]। येई (कृष्ण) हैं सब ब्रज के जीवन[६९]। यह महिमा येई (स्याम) पै जानै।...। उतपति प्रलय करत हैं येई[७०]। येई है रतिपति के मोहन, येई हैं हमरे पति-प्रान[७१]।

ऊ. येऊ—येऊ (स्याम) नवल, नवल तुहूँ हौं[७२]। तुम हो कुसल, कुसल है येऊ (स्याम[७३])।

२. कर्मकारक—इस कारक मे भी तेरह-चौदह रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—क विभक्तिरहित प्रयोग, ख विभक्तियुक्त प्रयोग और ग बलात्मक प्रयोग।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग मे सूरदास द्वारा जो रूप प्रयुक्त हुए है, उनमे मुख्य हैं—इन्हैं, इहि, यह और याहि। इनमे से 'इहि' और 'याहि' के कर्मकारकीय प्रयोग सर्वत्र मिलते है, परतु शेष दोनो रूपो के बहुत कम पदो मे दिखायी देते हैं।

अ. इन्हैं—अब तौ ईन्हैं (कृष्ण को) जकरि धरि बाँधौं[७४]।

आ. इहि—पर्वत सौं इहि देहु गिराई[७५]। देखौ महरि सुता अपनी कौं, कहुँ इहि कारै खाई[७६]। इहि तू जनि बरजै री[७७]।

इ. यह—कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ[७८]।

ई. याहि—हरि, याहि सहारौ[७९]। याहि अन्हवावहु[८०]। याहि मत मारौ[८१]। याहि मारि, तोहि और बिवाहौं[८२]।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनकौं, इनहि और याकौं—केवल ये तीन रूप ही इस वर्ग मे आते है इन सभी का प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता है।

अ. इनकौं—को बाँधै को छोरै इनकौं (स्याम कौं)[८३]। मैया री, तू इनकौं (राधा को) चीन्हति[८४]।

आ. इनहिं—कछु संबध हमारौ इनसौ, तातै इनहिं (स्याम-सखिहि) बुलाई हैं[८५]। एक सखी कहै, इनहि (स्यामहि) नचावहु[८६]। इनहिं (कन्हाई को) तृना लै गयौ उड़ाई[८७]।

---

६७. सा ३९१। ६८. सा. १० ८५। ६९. सा ३६७। ७०. सा. ३८०। ७१. सा ४३५। ७२ सा २१६४। ७३. सा. २१६७। ७४. सा. १०-३४०। ७५. सा. ७-२। ७६ सा. ७४३। ७७ सा. १३५७। ७८. सा. ३-१३। ७९. सा ३-११। ८०. सा ५-३। ८१ . ७-७। ८२. सा. १०-४। ८३. सा. ३८०। ८४. सा. ७००। ८५ सा. २१६३। ८६. सा. २९१६। ८७. सा. ३०२८।

इ. याकौं—याकौं पावक भीतर डारो[८८] । तातैं अब याकौं मति जारो[८९] । को है याकौं मेटनहारो[९०] । देखैं कहूँ नैंन भरि याकौं[९१] ।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहीं, यहई, यहैं और याही कौं—ये चार रूप इस वर्ग मे आते हैं। अन्य कारकों के बलात्मक रूपो के समान इनका प्रयोग भी 'सूरसागर' के कुछ ही पदो मे मिलता है ।

अ. इनहीं—बकी पियावन इनहीं आई[९२] ।

आ. यहई—सुनहु सूर वह यहई चाहै, तापर यह रिस पागै री[९३] ।

इ यहैं—जसुमति कान्हहिं यहैं सिखावति[९४] ।

ई याही कौं—याही कौं खोजति सबैं, यह रही कहाँ री[९५] ।

३. करणकारक—इस कारक मे दस-ग्यारह रूप ही मिलते हैं जिनको स्थूल रूप से तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क विभक्तिरहित रूप । ख विभक्तियुक्त रूप । ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनि और याहि केवल ये दो रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनका प्रयोग कुछ ही पदो मे दिखायी देता है ।

अ. इनि—भवन लै इनि भेद बूझौं, सुनौं बचन रसाल[९६] ।

आ. याहि—कहौ याहि किन बाँस जाति की, कौनैं तोहिं बुलाई[९७] । जबही यह कहौंगी याहि[९८] ।

ख विभक्तियुक्त प्रयोग—इनतैं, इनसौं, इनहिं और यासौं—ये चार रूप इस वर्ग मे आते हैं। इन रूपो मे से चतुर्थ का तो कम, परतु शेष तीनो रूपो का अधिक प्रयोग किया गया है ।

अ. इनतैं—इनतैं (कृष्ण से) हम भए सनाथा[९९] । और भयौ इनत (राधा तैं) तुमकौं सुख[१] ।

आ. इनसौं—कर्ताहि रिसाति जसोदा इनसौं (कृष्ण से)[२] । कान्ह कह्यौ, कछु माँगहु इनसौं[३] (गिरि देवता सो)। जब तैं इनसौं (राधा से) नेह लगायौ[४] ।

इ. इनहिं—इनहिं (जसोदहि) कहत दुख आइयै, ये सबकौं उठति रिसाइ[५] ।

ई. यासौं—यासौं हमरो कछु न बसाइ[६] । यासौं मेरो नही उबार[७] । चतुर चतुरई फबै न यासौं[८] । बात कहत न बनत यासौं[९] ।

---

८८ सा. ७-२ । ८९ सा ९-५ । ९०. सा ९-३६ । ९१. सा. २१९१ । ९२. सा. ३०२८ । ९३. सा. १२८९ । ९४. सा. १०. २२२ । ९५. सा. ११०६ । ९६. सा २७२१ । ९७. सा १३१३ । ९८. सा. ३४२१ । ९९. सा. ९८४ । १. सा. २१६७ । २. सा. ३५९ । ३. सा ९१४ । ४. सा २१६७ । ५. सा. १४९१ । ६. सा. ७-७ । ७. सा. ५८५ । ८. सा. २८२५ । ९. सा ३४१४ ।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहिं तैं, इनहीं तैं, इनहीं पैं, याही तैं और याहीं सौं—ये पाँच रूप इस वर्ग मे आते है। इनके प्रयोग कही-कही ही मिलते है।

अ. इनहिं तैं—गंगा प्रगट इनहिं तै भई[१०]। इनहि तैं व्रज चैन रहिहै, माँगि भोजन खात[११]।

आ. इनहीं तैं—सिव सिवता इनहीं तैं लई[१२]। इनहीं तैं (गिरि गोवर्धन तैं) व्रजवास बसीनौं[१३]।

इ. इनहीं पै—ये उतपात मिटत इनहो पै (कृष्ण से)[१४]।

ई. याही त—मनो प्रेम की परनि परेवा, याही तैं पढ़ि लीनी[१५]।

उ. याही सौं—सूरदास गिरिधर बहुनायक, याही सौं निसिदिन रति मानी[१६]।

४. संप्रदान कारक—इस कारक मे प्रयुक्त मुख्य तीन रूप सूर-काव्य मे मिलते है—इन्हैं, इहिं और याकौं। इनमे से अतिम का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है।

अ. इन्हैं—पै न इच्छा है इन्हैं (भगवान को) कछु वस्तु की[१७]।

आ. इहिं—एक वेर इहिं (नृपहिं) दरसन देइ[१८]।

इ. याकौं—जज्ञ भाग याकौं नहिं दीजै[१९]। याकौं आपन रूप जनाऊँ[२०]। वृथा दई हम याकौं गारी[२१]।

५. अपादान कारक—इस कारक मे मुख्य दो रूप मिलते हैं—इनतैं और यातैं। इनमे से दूसरे का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है।

अ. इनतैं—इनतैं प्रभु नहिं और बियौ[२२]।

आ. यातैं—साधु न यातैं और[२३]। अब लौ जानी बाँस बसुरिया, यातैं और न बस[२४]। भली न यातै कोई[२५]। घर है यातैं दूनौं[२६]।

६. संबंधकारक—इस कारक के अतर्गत सीधे-सादे बारह प्रयोग मिलते हैं जिनमे 'की', 'के' और 'कौ' के योग से सबधकारकीय रूप बनाये गये है। इनके अतिरिक्त अपवादस्वरूप 'केरी' का प्रयोग एक-दो पदो मे दिखायी देता है। इस प्रकार इस कारक के सर्वनाम-रूपो को चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. 'की' युक्त प्रयोग। ख. 'के' युक्त प्रयोग। ग. 'केरी' युक्त प्रयोग और घ. 'कौं' युक्त प्रयोग।

क. 'की' युक्त प्रयोग—इनकी, इनही की, याकी—ये तीन रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे दूसरा रूप बलात्मक है जिसका प्रयोग बहुत कम हुआ है। शेष दोनो रूप 'सूरसागर' मे सर्वत्र मिलते हैं।

---

१०. सा. ३-१३। ११. सा ८५०। १२ सा. ३-१३।
१३. सा. ८८९। १४ सा ६००। १५. सा. ४१०४।
१६. सा. १३५२। १७. सा. ८-८। १८. सा. ९-२। १९. सा. ५-५।
२०. सा. ५५३। २१. सा. १३३२। २२. सा. ३१११। २३. सा. १३४४।
२४. सा. १३६०। २५ सा. १३६१। २६. सा. १५४१।

अ. इनकी—इनकी (कृष्ण की) खोज[२७]। इनकी (विरहिनी की) चालहि[२८]। इनकी (कस की) मीच[२९]। होवै जीति विधाता इनकी[३०]।

आ. इनही की—इनही (कृष्ण ही) की ब्रज चलति बडाई[३१]।

इ. याकी—याकी अस्तुति[३२]। अकथ कथा याकी[३३]। याकी करनी[३४]। याकी अकथ कहानी[३५]। याकी मति[३६]। याकी सीवा[३७]।

ख. 'के' युक्त रूप—इनके, याके, याहू के—ये तीन रूप इस वर्ग मे मिलते हैं। इनमे अतिम रूप बलात्मक है। इन तीनो मे से द्वितीय का प्रयोग सर्वत्र मिलता है, शेष दोनो कम प्रयुक्त हुए है।

अ. इनके—इनके (कृष्ण के) गुन अगमैया[३८]। गुन इनके (कृष्ण के)[३९]।

आ. याके—याके उतपात[४०]। याके चरित[४१]। ढग याके[४२]। नैन याके[४३]।

इ. याहू के—याहू के गुन[४४]।

ग. 'केरी' युक्त प्रयोग—इस वर्ग मे केवल एक रूप आता है—इहिं केरी। इसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलता है, जैसे—महिमा को जानै इहि केरी[४५]।

घ. 'कौ' युक्त रूप—इस वर्ग के प्रमुख रूपो की सख्या चार है—इनहूँ कौ, इहिं कौ, याकौ और याही कौ। इनमे प्रथम और अतिम रूप बलात्मक है। इन चारो मे से केवल 'याकौं' का प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है, शेष रूप बहुत कम पदो मे मिलते हैं।

आ. इनहूँ कौ—बोलक इनहूँ (ऊधो) को सुनि लीजै[४६]।

आ इह कौ—पुरुषारथ इहि कौं[४७]।

इ. याकौ—तनु याकौ[४८]। क्रूर याकौ नाम[४९]। बाँस कुल याकौ[५०]। मोल नहि याकौ[५१]।

ई याही कौ—याही कौ राज[५२]।

७ अधिकरण कारक—इस कारक मे आठ नौ रूप मिलते हैं—इन, इन पर, इन माहिं, इन माहीं, इहि महियाँ, याकैं, या पर, यामै, यही पर। 'इन पर' और 'यामै' को छोडकर सभी रूप बहुत कम पदो मे मिलते हैं, इसलिए इनके विशेष वर्गीकरण की आवश्यकता नही जान पडती।

---

२७. सा ४३१। २८. सा. १६३९। २९ सा. ३९३१। ३० सा ३०३२। ३१ सा ३०२८। ३२. सा २०६०। ३३. सा १-४४। ३४. सा. १२४९। ३५. सा १०-२५६। ३६ सा. ३९१। ३७. सा. १-२२६। ३८. सा ४२८। ३९. सा. १५६७। ४०. सा. १-४४। ४१. सा १०-३३५। ४२. सा. १२३४। ४३. सा. २१२५। ४४. सा. १२५८। ४५. सा. १७३१। ४६. सा. ३४८२। ४७ सा. ६००। ४८. सा. ५५४। ४९. सा. २९५८। ५०. सा. १२५६। ५१. सा. १३६१। ५२. सा. १०-२७७।

अ. इन—सुरभि-ठान लिये बन तैं आवत, सबहि सुन इन री[५३]।

आ. इन पर—तन-मन इन पर (हरि पर) सब वारहु[५४]। लकुट लै लै त्रास कीन्हौ, करयौ इन पर ताम[५५]। सूरदास इन पर हम मरियत, कुबिजा के बस केसौ[५६]।

इ. इन माहिं—बहुरि भगवान कौ निरखि कह्यौ, इन माहि गुन है सुभाए[५७]।

ई. इन माहीं—ये तौ भए भावते हरि के, सदा रहत इन माही[५८]।

उ. इहिं महियाँ—ना जानौं का है इहिं महियाँ लै उर सौ लपटावै[५९]।

ऊ. याकैं—हम आईं याकैं जिहिं कारन, सो यह प्रगट सुनावति[६०]। प्रेम-भजन न नैकु याकैं[६१]।

ऋ. या पर—या पर मैं रीझी हौं भारी[६२]।

ए. यामैं—अपनो बिरद सम्हारहुगे तौ यामैं सब निबरी[६३]। हरि गुरु एक रूप नृप जान। यामैं कछु सदेह न आन[६४]। बन की रहनि नही अब यामैं, मधु हीं पागि गई[६५]।

ऐ. याही पर—कमल-भार याही पर लादौं[६६]।

सारांश—निश्चयवाची निकटवर्ती सर्वनाम के विभिन्न कारको मे जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तिसहित रूप	बलात्मक प्रयोग
कर्त्ता	इन, इहिं, (ए), यह, ये	....	इनहिं, इनही, (एउ), (यहौ), (येइ), येई, येऊ
कर्म	(इन), (इन्है), इहिं, (यह), (इनि), याहि	इनकौ, इनहिं, याकौं	इनही, यहई, यहै, याही कौ
करण	(इनि), याहि	(इनतैं), (इनपै), इनसौं (इनहिं), यासौ	(इनहिं तैं), (इनही तैं), (इनही पै), (याही तैं) (याही सौं)
संप्रदान	(इन्हैं), (इहिं)	याकौ	......
अपादान	.....	(इनतैं), यातैं	......
सबध	......	इनकी, याकी, (इनके) याके, (इहि केरी) (इनको), (इहिं कौ), याकौं	(इनही की), याहू के, इनहूँ कौ, (याही कौं)

---

५३. सा. २०२७। ५४. सा १६१८। ५५. सा. ३०४६। ५६. सा. ४०७६। ५७. सा. ८-८। ५८. सा. २२३३। ५९ सा. ३४९१। ६०. सा. २०५९। ६१ सा. ३४१३। ६२. सा. १९०२। ६३. सा. १-१३०। ६४. सा. ६-५। ६५. सा. १३६२। ६६. सा. ५३३।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभिक्तिसहित रूप	बलात्मक रूप
अधिकरण	इन	इन पर, (इन माहिं), इन माहीं), (इहिं महियाँ), याकैं, (या पर), यामैं।	याही पर

बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

निश्चयवाची दूरवर्ती सर्वनाम रूपो की तुलना मे निकटवर्ती बहुवचन रूपो की सख्या कम है, फिर भी विभिन्न कारको मे सूरदास ने चालीस के लगभग रूपो का प्रयोग किया है। इनमे से प्रमुख रूपो के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१ कर्त्ताकारक—इस कारक मे ग्यारह-बारह रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग और ख बलात्मक प्रयोग।

क विभक्तिरहित प्रयोग—इन, इनि और ये—ये तीन रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनका प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र हुआ है।

अ. इन—एकै चीर हुतौ मेरे पर सो इन हरन चह्यौ[६७]। धन्य ब्रत इन कियौ पूरन[६८]। इन दीन्हौ मोकौं बिसराई[६९]। सूरदास ये लरिका दोऊ इन कब देखे मल्ल-अखारे[७०]।

आ. इनि—इनि तव राज बहुत दुख पाए[७१]। इनि मोकौं नीकैं परिचान्यौ[७२]। चूक लई इनि मानि[७३]। निकसे स्याम सदन मेरे तैं इनि अँटकरि पहिचानी[७४]।

इ. ये—करत जज्ञ ये नास[७५]। ये सुकृत-धनहिं परिहरैं[७६]। ये बन फिरतिं अकेली[७७]।

ख बलात्मक प्रयोग—इनहि, इनहीं, इनहूँ, येइ, येई, यउ, येऊ—ये आठ रूप इस वर्ग के हैं। प्राय इन सभी रूपो का प्रयोग अनेक पदो मे किया गया है।

अ. इनहिं—जब दूतनि कौं इनहि निवारचौ। वा भय तैं मोहिं इनहिं उधारचौ[७८]। इनहिं बधायौ कस[७९]।

आ. इनहीं—यह सपति है तिहूँ भुवन की, सब इनही अपनाई[८०]। इनहीं मारचौ ताहि[८१]। इनहीं (ऊधौ और अक्रूर) हेरि मृगी गोपी सब, सायक ज्ञान हए[८२]।

---

६७. सा १-२४७। ६८. सा ७८३। ६९. सा. ९२३। ७० सा. २९६८। ७१ सा १-२८४। ७२. सा १०३२। ७३. सा ११२३। ७४. सा २०४३। ७५. सा. ४-५। ७६ सा ५-४। ७७. सा ५०३। ७८. सा. ६-४। ७९ सा. ३५८७। ८०. सा २२४२। ८१. सा. ३०३७। ८२. सा. ३५८८।

इ. इनहूँ—अर्जुन भीम महाबल जोधा इनहूँ मौन धरी[83]।

ई. येइ—येइ सब देत बड़ैया[84]। प्रभु-हिरदै येइ सालत[85]।

उ. येई—येई घर - घर कहत-फिरत हैं[86]।

ऊ. येउ—सुक-सनक मुनि येउ न जानत[87]। येउ भए हरि-चेरे[88]।

ऋ. येऊ—काटन दै दस सीस वीस भुज अपनो कृत येऊ जो जानहिं[89]। बात कहन कौं येऊ आवत[90]। येऊ गये त्यागि[91]। येऊ भई दिवानी[92]।

२. कर्मकारक- इस कारक मे मुख्य सात रूप मिलते है जिनको तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग, ख विभक्तियुक्त प्रयोग, ग. बलात्मक प्रयोग।

अ. इन—जसुदा कहै सुनौ सुफलकसुत, मैं इन बहुत दुषनि सौं पारे[93]।

आ. इन्है—विष्णु, रुद्र, विधि एकहिं रूप। इन्हैं जानि मति भिन्न स्वरूप[94]। अबही आजु इन्हैं उद्धारौं ये है मेरे निज जन[95]। राखौं नही इन्हैं भूतल पर[96]।

इ. ये—चारि स्लोक कहे भगवान, ये ब्रह्मा सौं कहे भगवान[97]। मैं तौ जे हरे हैं, ते तौ सोवत परे हैं, ये करैं हैं कौनैं-आन[98]।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनकौं और इनहिं—ये दो रूप इस वर्ग मे मिलते हैं इन दोनो का प्रयोग-सर्वत्र मिलता है।

अ. इनकौं—कै इनकौं निरधार कीजिए, कै प्रन जात टरौ[99]। लछमी इनकौं सदा पलोवैं[1]। इनकौं ह्यां तैं देहु निकास[2]। पै प्रभु जू इनकौ निस्तारौ[3]।

आ. इनहि—काहूँ इनहि दियौ बहकाइ[4]। आँजति इनहि बनाइ[5]। मारि डारौ इनहिं[6]।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहुँ और इनहुँ कौं-- ये दो बलात्मक रूप है जिनका प्रयोग कही-कही ही मिलता है।

अ. इनहुँ—हत्यौ गजराज त्यौं इनहुँ मारैं[7]।

आ. इनहुँ कौं—सुनहु सूर अपनाइ इनहुँ कौं[8]। मन भयौ ठीढ इनहुँ कौ कीन्हौ[9]।

३. करणकारक—इन, इनतैं, इनसौं, इनहिं और इनहीं त—ये मुख्य पाँच रूप इस कारक मे मिलते हैं जिनमे प्रथम तीन सामान्य है और अंतिम बलात्मक। प्रयोग की

---

८३. सा १-२५४। ८४. सा. १३९३। ८५. सा. ३०३७। ८६. सा. २२६२। ८७. सा. १६०९। ८८. सा. २२२३। ८९. सा. ९-९५। ९०. सा. १५३२। ९१. सा. २२४५। ९२. सा. २२६१। ९३. सा. २९६८। ९४. सा. ४-५। ९५. सा. ३८२। ९६. सा. ८२२। ९७. सा. १-२३०। ९८. सा. ४८४। ९९. सा. १-२२०। १. सा. ३-१३। २. सा. ४-५। ३. सा. ७-२। ४. सा. ९२३। ५. सा. २२५८। ६. सा. ३०६७। ७. सा. ३०६७। ८. सा. २२२५। ९. सा. २२५२।

दृष्टि से केवल द्वितीय और तृतीय रूप महत्व के हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र मिलता हैं, शेष रूप इने-गिने पदो मे ही दिखायी देते हैं।

अ इन—वृथा भूले रहत लोचन इन कहै कोउ वात[१०]।

आ. इनतैं—इनतैं कछु न सरी[११]। इनतैं कछू न खूटै[१२]। इनतैं प्रगटी सृष्टि अपार[१३]।

इ. इनसौं—काल्हि कही मैं इनसौं वैसैं[१४]। ऐसे वचन कहौं गी इनसौं[१५]। अव इनसौं वह भेद कियौ कछु[१६]। इनसौं तुम परतीति वढावत[१७]।

ई इनहिं—अवहिं मोहिं वूझिहैं, इनहि कहिहौं कहा[१८]।

उ इनहीं तैं—सुख-सपति सकल सूर इनहीं तैं पावत[१९]।

४ संप्रदान कारक—इनकौं, इनहिं और इनहीं—ये मुख्य तीन रूप सप्रदानकारक मे सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं,। इनमे प्रथम का प्रयोग अधिक है, द्वितीय का कम। इनके अतिरिक्त एक वलात्मक रूप 'इनहीं कौं' भी दो-एक पदो मे दिखायी देता है।

अ. इनकौं—इनकौं वै सुखदाई[२०]। जो कीजै सो इनकौं थोर[२१]। कछुक दियौ सुहाग इनकौं, तौ सवै ये लेत[२२]

आ. इनहिं—व्रत-फल प्रगट इनहिं दिखरावौं[२३]।

इ. इनहीं—रसना-स्रवन नैन की होते, की रसना ही इनहीं दीन्ही[२४]।

ई इनहीं कौं—सूर स्याम इनही कौं सौंपी[२५]।

५ अपादानकारक—इनतैं, इनसौं, इनि तैं—ये तीन रूप इस कारक मे मिलते हैं। इनमे केवल प्रथम रूप ही अनेक पदो मे प्रयुक्त हुआ है। शेष दोनो रूप कही-कही ही दिखायी देते हैं।

अ. इनतैं—दृढ न इनतैं आन[२६]। इनतैं वडौ और नहिं कोऊ[२७]। कृपिन न इनतैं और[२८]।

आ. इनसौं—यह मन करि जुवतिनि हेरत, इनसौं करियै गोप तवै[२९]।

इ. इनि तैं—इनि तैं लोभी और न कोई[३०]।

६ संबंधकारक—इनकी, इनके और इनकौ—ये सामान्य रूप इस कारक मे मिलते हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र किया गया है। वलात्मक रूप इनहूँ कौ, इनिही के और इन्हनि कौ दो-एक पदो मे ही दिखायी देते हैं।

---

१० सा. २३०९। ११. सा १-२५४। १२ सा. २-१९। १३. सा ३-७। १४ सा १७६७। १५. सा १७७१। १६ सा २२२३। १७. सा. २२५७। १८. सा. १९५१। १९ सा ९-१६७। २०. सा २३३३। २१. सा. २३७६। २२ सा ३५७८। २३ सा ७९९। २४ सा १८५८। २५ सा. २३२४। २६. सा १०२६। २७ सा. १३९६। २८ सा २२६६। २९. सा. १७६०। ३०. सा. २२७८।

अ. इनकी—इनकी गति[३१]। चतुराई इनकी[३२]। निठुराई इनकी[३३]। इनकी लँगराई[३४]। सेवा इनकी[३५]।

आ. इनके कर्म[३६]। चरित इनके[३७]। इनके चीर[३८]। इनके पितु-मातु[३९]। इनके विमुख बचन[४०]।

इ. इनकौ—इनकौ कह्यौ[४१]। इनकौ गुन-अवगुन[४२]। दुख इनकौ[४३]। इनकौ वदन[४४]। वार न खसै इनकौ[४५]। व्रत देखि इनकौ[४६]।

ई. इनहूँ की—दसा भई इनहूँ की[४७]।

उ. इनिही के— गुन इनिही के[४८]।

ऊ. इन्हनि कौ—इन्हनि कौ काज[४९]।

७. अधिकरण कारक इनकैं, इन पर, इन पै, इनमैं—ये चार मुख्य सामान्य और 'इनहूँ मैं' एक बलात्मक—कुल पाँच रूप इस कारक मे मिलते हैं। इनमे सबसे अधिक प्रयोग 'इनमैं' का किया गया है।

अ. इनकैं—इनकैं नैंकु दया नही[५०]। सोच-विचार कछू इनकैं नाहिं[५१]।

आ. इन पर—सूर स्याम इन पर कह रीझे[५२]। कंस...करत इन पर ताम[५३]।

इ. इन पै—नित ही नित बूझति ये मोसौं, मैं इन पै सतराति[५४]।

ई. इनमैं—इनमैं कछू नाहि तेरौ[५५]। तपसियनि देखि कह्यौ, क्रोध इनमैं बहुत[५६]। इनमैं को पति आहि तिहारौ[५७]। धिक इन गुरजन कौ, इनमैं नही बसीजै[५८]।

सारांश—निश्चयवाची निकटवर्ती सर्वनाम-रूपों के विभिन्न कारको मे जो प्रयोग ऊपर दिये गये है, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	(इन), इनि, ये	...	इनहिं, इनही, इनहूँ, येइ, (येई), येउ, येऊ
कर्म	(इन), इन्हैं, ये	इनकौं, इनहिं	(इनहुँ), इनहुँ कौ
करण	...	इनतैं, इनसौं, (इनहिं)	(इनही तैं)

---

३१. सा. १-३२३। ३२. सा. १७७१। ३३. सा. २२५४। ३४. सा. २२८९। ३५. सा. २२८९। ३६. सा. ७-२। ३७. सा. २३९३। ३८. सा. ७८३। ३९. सा. २२६५। ४०. सा. १९२७। ४१. सा. ८४३। ४२. सा. २२५७। ४३. स. ५३०। ४४. सा. १६३३। ४५. सा. ३०२९। ४६. सा. ७७७। ४७. सा. २३१६। ४८. सा. २२५२। ४९. सा. २९६७। ५०. सा. २२४३। ५१. सा. ३५२५। ५२. स. २२८३। ५३. स. ३०३९। ५४. सा. २०४३। ५५. सा. ३३०। ५६. सा. ८-८। ५७. सा. ९-४५। ५८. सा. ३३०।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
सम्प्रदान	...	इनकौं ,(इनहिं), (इनही)	(इनही कौं)
अपादान		इनतैं, (इनसौं), (इनि तैं)	..
सबध	...	इनकी, इनके, इनको	(इनहूँ की), (इनिही के)
अधिकरण	..	इनकैं, इन पर, (इनपै), इनमैं	.

संबंधवाचक—

ब्रजभाषा मे सबधवाचक सर्वनाम के एकवचन और बहुवचन, मूल, विकृत और अन्य रूप इस प्रकार होते हैं —

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	जो	जे
विकृत	जा	जिन
अन्य	जाहि, जिह, जासु	जिन्है, जिन्हैं

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

सबधवाचक एकवचन सर्वनामो और बहुवचन के एकवचन मे प्रयुक्त प्रमुख रूपो की सख्या पचास के आसपास हैं। विभिन्न कारको मे इनके प्रयोगो की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जाती है।

१. कर्ताकारक—जिन, जिनहि, जिनि, जिहिं, जु, जो, जोइ, जोई और जौन— ये नौ रूप इस वर्ग मे आते है। ये सभी विभक्तिरहित हैं और इनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि 'जोई' के अतिरिक्त शेष आठो रूपो का प्रयोग अनेक पदों मे किया गया है।

अ. जिन—विदुर कह्यौ, देखौ हरि माया। जिन यह सकल लोक भरमाया[५९]। धन्य धन्य कसहि कहि मोहिं जिन पठायौ[६०]। जिन पहिलै पलना पौढे, पय पिवत पूतना घाली[६१]। यह लै देहु ताहि फिरि मधुकर, जिन पठए हित गाइ[६२]।

आ. जिनहि—भले जु भले नदलाल, वेऊ भली, चरन जावक पाग जिनहिं रँगी[६३]। जानति है तुम जिनहि पठाए[६४]। बूझौ जाइ जिनहिं तुम पठए[६५]।

इ जिनि—धन्य जसोदा भाग तिहारो जिनि ऐसौ सुत जायौ[६६]। सखी री

५९ सा. १-२८४। ६० सा. २९४४। ६१ सा. ३०३०। ६२. सा ३८११। ६३. सा २७०४। ६४. सा. ३५१०। ६५. सा. ३९५०। ६६. सा. १०-८७।

मुरली लीजै चोरि, जिनि गोपाल कीन्है अपनै वस[६७]। धन्य धन्य जिनि तुम सुत पायौ[६८]।

ई. जिहिं—गोपाल तुम्हारी माया महाप्रबल जिहि सब जग वस कीन्हौ हो[६९]। प्रह्लाद हित जिहिं असुर मार्‍यौ[७०]। जठर अगिनि अतर उर दाहत जिहि दस मास उबार्‍यौ[७१]।

उ. जु—ताहू सकुच सरन आए की होत जु निपट निकाज[७२]। वा भौंह की छवि निरखि सु को जु न व्रत तै टरै[७३]।

ऊ. जो—मन बानी कौं अगम-अगोचर सो जानै जो पावै[७४]। पोषन भरन बिसभर साहब जो कलपै सो कांचौ[७५]। सूरदास जो चरन-सरन रह्यौ सो जन निपट नींद भरि सोयौ[७६]।

ए. जोइ—ताहि कैं हाथ निरमोल नग दीजियै जोइ नीकैं परखि ताहि जानै[७७]। कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ[७८]। नहीं त्रिलोकी ऐसी कोइ। भक्तनि कौं दुख दै सकै जोइ[७९]।

ऐ. जोई—सात बैल ये नाथै जोई[८०]।

ओ, जौन—स्याम कौं तुम ऐसै ठग लियौ, कछु न जानै जौन[८१]। ठगत-फिरत जुवतिनि कौं जौन[८२]। जाकै हृदय जौन, कहै मुख तै तौन[८३]। बार-बार जननी कहि मोसौं माखन मागत जौन[८४]।

२. कर्मकारक—इस कारक मे सात रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों मे रखा जा सकता है—क. विभक्तिरहित और ख विभक्ति युक्त।

क. विभक्तिरहित प्रयोग— जाहि, जिहिं, जो और जोइ—ये चार रूप इस वर्ग मे मिलते है। इन सभी रूपो का प्रयोग सूरदास ने अनेक पदों मे किया है।

अ. जाहि—वेद-पुरान-सुमृत सबै रे सुर-नर सेवत जाहि[८५]। नद-घरनी जाहि बांध्यौ[८६]। अति प्रचड यह मदन महाभट, जाहि सबै जग जानत[८७]।

आ. जिहि—असुर अजितेंद्रि जिहिं देखि मोहित भए, रूप सो मोहिं दीजै दिखाई[८८]। तुमतै को है भावती, जिहि हृदय बसाऊँ[८९]।

---

६७. सा. ६५७। ६८ सा ९२१। ६९. सा १-४४। ७० सा. १-३०६। ७१. सा. १-३३६। ७२. सा. १-१८१। ७३ सा. ४१८७। ७४ सा. १-२। ७५. सा. १-३२। ७६. सा-१-५४। ७७ सा १-२२९। ७८. सा. ३-१३। ७९. सा. ५-३। ८०. सा. ४१९२। ८१ सा ७१९। ८२ सा. १५९३। ८३. स १७४९। ८४. सा. २९७५। ८५. स १-२२५। ८६. सा सा. ३०२७। ८७. सा. ४०२६। ८८. सा. ८-१०। ८९. सा. २४१०।

इ. जो—जो प्रभु अजामील कौं दीन्हौ सो पाटौ लिखि पाऊँ[१०]। ब्यास कह्यौ जो, सुक सो गाइ[११]।

ई. जोइ—इंद्री-रस-बस भयौ, भ्रमत रह्यौ, जोइ कह्यौ सो कीनौ[१२]। जोइ मे कहौं, करौ तुम सोई[१३]।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—जाकौं और जिनकौं—इन बलात्मक रूपो मे से अतिम का कम और प्रथम का अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ. जाकौं—जाकौं दीनानाथ निवाजै[१४]। जाकौं हरि अगीकार कियौ[१५]। उलटी गाढ परी दुर्बासै, दहत सुदरसन जाकौं[१६]। जाकौं देखि अनग अनगत[१७]।

आ. जिनकौं—ब्रह्मादिक खोजत नित जिनकौं (हरि कौं)[१८]। मैं जिनकौं (स्याम कौं) सपनेहुँ नहि देख्यौ[१९]।

३. करणकारक—इस कारक मे मुख्य पाँच रूप मिलते हैं जिनमे 'जिहिं' विभक्ति रहित हैं; 'जातैं' और 'जासौं' विभक्तियुक्त हैं, एव 'जाहि सौं' और 'जाही सौं' बलात्मक हैं। इनमे से द्वितीय वर्ग के अर्थात् विभक्तियुक्त दोनो प्रयोग तो सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं, शेष तीनो प्रयोग इने-गिने पदो मे ही मिलते हैं।

अ. जिहि—देहु मोहि ज्ञान जिहि सदा जीजै[१]।

आ जातैं—देवदूत कह, भक्ति सो कहियै, जातैं हरिपुर-बासा लहियै[२]। ज्यौं नृप प्रान गए सुत अपनैं, राँचि रह्यौ जो जातैं[३]।

इ. जासौं—ऐसौ को पर-वेदन जानै, जासौं कहि जु सुनावै[४]। धन्य धन्य जासौं अनुरागे[५]। मोसी और कौन प्रिय तेरैं, जासौं प्रेम जनावैगी[६]। जासौं हित ताकी गति ऐसी[७]।

ई. जाहि सौं—सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं[८]।

उ. जाही सौं—जाही सौं लगत नैन[९]।

४. संप्रदानकारक—जाकौं, जाहि और जिहिं—केवक तीन रूप इस कारक मे मिलते हैं जिनका भी प्रयोग वहुत कम पदो मे किया गया है।

अ. जाकौं—जाकौं राजरोग कफ व्यापत[१०]।

आ. जाहि—अति सुकुमार डोलत रम भीनौं, सो रस जाहि पियावै हो[११]।

---

१०. सा. १-१४६। ११ सा १-२२६। १२. सा. १-१२९।
१३. सा. ७९०। १४ सा १-३६। १५ सा. १-३८।
१६ सा. १-११३ १७ सा. २०२०। १८. सा ८००।
१९. सा. १७३१। १ सा ८-१६। २ सा ३-१३। ३. सा. ३६७९।
४ सा २२५६। ५ सा. २५३८। ६ सा. २७२६। ७. सा. ३९३५।
८. सा ४१४७। ९. सा २४१८। १०. सा. ३७२५। ११ सा. २-१०।

इ. जिहि—सूरदास वलि गयौ राम कै निगम नेति जिहिं गायौ[१२]।

५. अपादान कारक—इस कारक मे 'जातैं' या 'जिहिं तैं'-जैसे रूप हो सकते है, परतु कदाचित् सूरदास ने इनका प्रयोग नही किया है।

६. संबंध कारक—इस कारक मे बारह के लगभग मुख्य रूप मिलते है जिनको दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—जा, जासु और जाहि-ये तीन प्रयोग इस वर्ग मे आते है। इनमे सबसे कम प्रयोग 'जासु' का किया गया है।

अ. जा—जा उर[१३]। जा मन[१४]। जा सदन[१५]।

आ. जासु—तन अभिमान जासु[१६]।

इ. जाहि—राधा है जाहि नाम[१७]। जाहि मन[१८]। मन जाहि[१९]।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग मे 'की' युक्त जाकी, जाहिकी, जिनकी; 'के' युक्त जाके, जिनके; 'केरो' युक्त जा केरौ, और 'कौ' युक्त जाकौ, जिनकौ, जिनिकौ आदि आते है। इनमे से 'जाहि की', 'जा केरौ' और 'जिनिकौ' का प्रयोग कम हुआ है, 'जिनके' और 'जिनकौ' का प्रयोग कुछ अधिक है, शेष रूप सर्वत्र मिलते हैं।

अ. जाकी—उत्पत्ति जाकी[२०]। जाकी घरनि[२१]। तिया जाकी सिया[२२]। जाकी रहनि-कहनि[२३]। जाकी सीतल छाँहि[२४]।

आ. जाहि की—खोटी करनी जाहि की[२५]।

इ. जिनकी—रमा जिनकी (कृष्ण की) दासि[२६]। जिनकी (कृष्ण की) होति वड़ाई[२७]। जिनकी (गिरिधरन की) टेक[२८]।

ई. जाके—जाके कुल[२९]। जाके गृह[३०]। चरन सप्त पताल जाके[३१]। जाके सेवक[३२]।

उ. जिनके—वे अकूर कूर कृत जिनके[३३]। जिनके (कृष्ण के) गुन[३४]। जिनके (कृष्ण के) तुम सखा[३५]।

ऊ. जा केरौ—सीतल सिंधु जनम जा केरौ[३६]।

---

१२. सा. ९-५५। १३. सा. ३७०७। १४. सा. ८००।
१५. सा. २४७४। १६. सा. ३-१३। १७. सा. १९७८।
१८. सा. २९१६। १९. सा. ३१४७। २०. सा. १२६७।
२१. सा. ९-१३३। २२. सा. ९-१४२। २३. सा. ३६००। २४. सा. ९-७५।
२५. सा. १६१८। २६. सा. १८१९। २७. सा. १७६५। २८. सा. ३७२४।
२९. सा. १-३४। ३०. सा. ६-४। ३१. सा. २-२७। ३२. सा. १-३९।
३३. सा. ३७६३। ३४. सा. ४५३। ३५. सा. ३५९७। ३६. सा. ३३५४।

ऋ. जाकौ—जाकौ अत[३७]। जाकौ जस[३८]। कान्ह जाकौ नाउ[३९]

ए. जिनकौ—जिनकौ (माधौ को) वदन[४०]

ऐ जिनिकौ—भक्तबछल बानौ जिनिकौ (हरि कौ)[४१]।

७. अधिकरणकारक—इस कारक मे दस-ग्यारह मुख्य रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको, विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त, दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

क. विभक्तिरहित प्रयोग— जामैं, जाहि, और जिहिं—ये तीन रूप इस वर्ग के हैं जिनमे प्रथम दो का प्रयोग बहुत कम और अतिम का सामान्य रूप से हुआ है।

अ जामैं—तीनौं गुन जामैं नहिं रहत[४२]।

आ जाहि—बीते जांहि सोइ पै जानै[४३]। हमरे मन की सोई जानै जाहि बीती होइ।[४४]

ई. जिहि—ईहिं माया सब लोगनि लूट्यौ, जिहि हरि कृपा करी सो छूट्यौ[४५]। श्री भगवान कृपा जिहि करै[४६]। जिहिं बीतै सो जानै[४७]।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग मे 'कै', 'पर', 'पै', 'मैं', 'माहिं' और 'महियाँ' से युक्त जाकैं, जिनकैं, जापर, जिहिं पर, जापै, जामहिं, जिहि महियाँ और जामैं रूप आते हैं। इन आठ रूपो मे से 'जा महिं' और 'जिहिं महियाँ' का बहुत कम, 'जिनकैं', 'जिहिं पर' और 'जापै' का सामान्य और शेष रूपो का सर्वत्र प्रयोग किया गया है।

अ. जाकैं[४८]—धनि गोकुल, धनि नंद जसोदा जाकैं हरि अवतार लियौ[४९]। सूर धन्य तिहिं के पितु-माता, भाव-भगति है जाकैं[५०]। तोसी जाकैं बाम[५१]। सहनो ताको जाकैं आवै[५२]।

आ. जिनकैं—वै प्रभु वडे सखा तुम उनके, जिनकै सुगम अनीति[५३]।

इ जापर—जापर दीनानाथ ढरै[५४]। जापर कृपा करै करुनामय[५५]। धन्य पिता जापर परफुल्लित राघव भुजा अनूप[५६]। जापर कहो ताहि पर धावै[५७]।

ई जिहि पर—सोइ कुलीन वडो सुन्दर सोइ, जिहि पर कृपा करै[५८]।

उ. जापै—प्रेम-कथा सोई पै जानै, जापै बीती होइ[५९]।

ऊ जामहिं—अतहु सूर सोइ पै प्रगटै, होइ प्रकृति जो जा महिं[६०]।

---

३७. सा ३९३। ३८ सा ६-४। ३९ सा. १४५३। ४० सा ३१९९। ४१ सा २९५०। ४२ सा ३-१३। ४३ सा ३३५७। ४४. सा ३८००। ४५ सा. १-२८४। ४६. सा १-२८९। ४७ सा २२९७।

४८ 'जाकै' रूप एकवचन है। इसलिए गोकुल, नद और जसोदा से इसका सबध अलग-अलग है। 'जसोदा' शब्द के पूर्व 'धनि' शब्द लुप्त समझना चाहिए।

४९ सा १०-२५०। ५० सा. ११७८। ५१ सा १८४४। ५२ सा २२१५। ५३ सा ३८८६। ५४ सा १-३५। ५५ सा १-२५७। ५६ सा ९१३४। ५७ सा ९२७। ५८. सा १-३५। ५९. सा ३५४२। ६०. सा ३१८७।

ऋ. जिहिंमहियाँ—अब और कौन समान त्रिभुवन सकल गुन जिहिं महियाँ[६१]।

ए जामैं—तीनो गुन जामैं नहिं रहत[६२]। ये लुब्धे है जाम[६३]। जामैं प्रिय प्राननाथ, नद-नँदन नाही[६४]।

ऐ. जिनहिं मैं—सूरदास सोई जन जानै, जिनहि मै बीति[६५]।

सारांश—सबधवाचक सर्वमानो के विभिन्न कारको मे प्रयुक्त जिन रूपो के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप
कर्त्ता	जिन, जिनहिं, जिनि, जिहि, जु, जो, जोइ, (जोई), जौन	... ...
कर्म	जाहि, जिहिं, ज़ो, जोइ	जाकौं, (जासु कौं), जिनकौ
करण	(जिन), (जिहि)	जातै, जासौं, (जाहि सौं), जाही सौं
सम्प्रदान	(जाहि), जिहि)	(जाकौं)
अपादान	...	...
सबध	जा, जासु), जाहि	जाकी, (जाहि की, जिनकी, जाके, जिनके, (जा केरो), जाको, जिनको, (जिनिको)।
अधिकरण	जाहि, (जिनहिं), जिहि	जाकै, जिनकैं, जापर, (जिहिं पर), जापै, (जामहिं), (जिहि महियाँ, जामैं, जिनहिं मैं।

वहुवचन रूपो का कारकीय प्रयोग—

इस प्रकार के रूपो की सख्या बीस के आसपास है। विभिन्न कारको मे प्रयुक्त प्रमुख रूप इस प्रकार है—

१. कर्त्ताकारक— जिन, जिनि, जे, जेइ और जो—ये रूप इस कारक मे मिलते है। इनमे सब विभक्तिरहित है। अतिम 'जो' रूप एकवचन है जिसका अपवादस्वरूप प्रयोग एक पद मे वहुवचन मे किया गया है। शेष रूपो मे 'जे' का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है।

अ. जिन—अतकाल हरि हरि जिन कह्यौ[६६]।

आ. जिनि—जिनि वह सुधा पान सुख कीन्हौ[६७]। जिनि पायौ अमृत-घट पूरन[६८]।

---

६१. सा, १०७२। ६२. सा. ३-१३। ६३. सा. २२३५। ६४. सा. ३५९७। ६५. सा. ३९०५। ६६. सा. ६-३। ६७. सा. २२३५। ६८. सा. २२६१।

इ जे — जे हरि सुरति करावत[६९]। जे जाँचे रघुबीर[७०]। जे (गैयाँ) चरहि जामुनैं कैं तीर, दूनैं दूध चढी[७१]।

ई. जेइ—अहो नाथ जेइ-जेइ सरन आए, तेइ तेइ भए पावन[७२]।

उ. जो—इस एकवचन रूप के साथ प्रयुक्त बहुवचन क्रिया 'सुनैं' और 'गावैं' तथा बहुवचन नित्यसबधी रूप 'तिनकैं' से स्पष्ट है कि 'जो' का प्रयोग कवि ने बहुवचन मे ही किया है, जैसे—राधा-कृष्न केलि-कौतूहल, स्रवन सुनैं, जो गावैं। तिनकैं सदा समीप स्याम नितही आनद बढावैं[७३]।

२. कर्मकारक—जिनकौं, जिन्हि और जे—ये तीन रूप कर्मकारक मे मिलते है जिनका प्रयोग सामान्य रूप से ही किया गया है।

अ. जिनकौं—जिनकौं देखि तरनि-तनु त्रासा[७४]।

आ. जिन्हि—चारो ओर निसिचरी घेरे नर जिन्हि देखि डराहिं[७५]।

इ जे—मै तो जे हरे हैं, ते तो सोवत परे है[७६]। गैयाँ वाई जाति सबन के आगे जे वृषभानु दई[७७]। को बरनैं नाना बिधि ब्यजन, जे बनए नद-नारि[७८]।

३. करणकारक—इस कारक मे एक रूप 'जिनसौं' मिलता है जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही दो-एक पदो मे दिखायी देता है, जैसे—नाही भरत सत्रुहन सुदर, जिनसौं चित्त लगायौ[७९]।

४ सम्प्रदानकारक—इस कारक मे भी केवल एक प्रमुख रूप मिलता है 'जिनहि' जिसका प्रयोग प्राय सर्वत्र किया गया है, जैसे—ब्रह्म जिनहि यह आयुस दीन्हौ[८०]। सूरदास धिक् धिक् है तिनकौं, जिनहि न पीर परारी[८१]।

५ अपादान कारक—इस कारक मे भी केवल एक मुख्य रूप 'जिनहीं' दो-एक पदो मे दिखायी देता है, जैसे—जेइ चरन सनकादिक दुरलभ जिनहीं निकसी गग[८२]।

६ सबधकारक—जाकौ, जिन, जिनकौ, जिनके, जिनकौ और जिनि—ये मुख्य रूप इस कारक मे मिलते हैं। इनमे अपवादस्वरूप प्रयोग है 'जाकौ' जो एकवचन होते हुए भी दो-एक पदो मे बहुवचन मे प्रयुक्त हुआ है। शेष रूपो मे से 'जिनकी' और 'जिनकौ' का प्रयोग अधिक हुआ है। इनमे द्वितीय और अतिम रूप विभक्तिरहित है।

अ. जाकौ—यह एकवचन है, फिर भी 'हम' के सबध से स्पष्ट है कि इसका प्रयोग

---

६९. सा. २-१७। ७० सा. ९-१६। ७१. सा. १०-२४। ७२ सा १०-२५१। ७३. सा. २८२६। ७४ सा २९२२। ७५ सा ९-७५। ७६ सा ४८४। ७७ सा. ६१२। ७८ सा. ८३१। ७९ सा. ९-१४६। ८०. सा. १६०५। ८१ सा. २३४५। ८२. सा २४६६।

कवि ने वहुवचन मे ही किया है, जैसे—हम (जुवति) कह जोग जानैं, जियत जाकौ रौन[८३]।

आ. जिन—वल-मोहन जिन नाऊँ[८४]। तेऊ मोहे जिन मति भोरी[८५]।

इ. जिनकी—जिनकी आस[८६]। वधू है जिनकी[८७]। सीस की मनि हरी जिनकी[८८]। जिनकी यह सव सौंज[८९]।

ई. जिनके—जिनके मन[९०]।

उ. जिनकौ—जिनकौ जस[९१]। जिनकौ प्रिय[९२]। जिनकौ मुख[९३]।

ऊ. जिनि—धुनि सखि वे वडभागी मोर। जिनि पांखनि कौ मुकुट वनायौ, सिर धरि नदकिसोर[९४]।

७ अधिकरण कारक—जिनकैं, जिन माहि, जिन माहीं—ये तीन रूप इस कारक में मिलते हैं। इनका प्रयोग कही-कही ही किया गया है, जैसे—

अ. जिनकैं—एक पतिव्रत हरि-रस जिनकैं[९५]।

आ. जिन माहि—ऐसे लच्छन हैं जिन माहिं[९६]।

इ. जिन माहीं—हरि मूरत जिन माही[९७]।

सारांश—सवधवाची वहुवचन सर्वनाम रूपो के जो उदाहरण विभिन्न कारको में ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप
कर्ता	(जिन), (जिनि), जे, (जेइ), जो	...
कर्म	(जिहिं),जे	(जिनकौं)
करण	...	(जिनसौं)
सम्प्रदान	...	(जिनहिं)
अपादान	...	(जिनही)
सवंध	(जिन), (जिनि)	(जाकौ),जिनकी (जिनके), जिनकौ।
अधिकरण	...	(जिनकैं), (जिन माहिं), (जिन माही)।

---

८३. सा. ३९९७। ८४. सा. २९०५। ८५. सा. २९०८। ८६. सा. २३०२। ८७. सा. १-२५२। ८८. सा. ३९८३। ८९. सा. २४३५। ९०. सा. ३९८८। ९१. सा. ९-१६७। ९२. सा. ३२२४। ९३. सा. १-५३। ९४. सा. ४७७। ९५. सा. ३५५२। ९६. सा. ३-१३। ९७. सा. ३९२४।

नित्यसंबंधी सर्वनाम—

ब्रजभाषा मे नित्यसबधी सर्वनामो के एकवचन और बहुवचन मे मूल और विकृत रूप इस प्रकार हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	सो, सु	ते, से
विकृत	ता	तिन
अन्य	ताहि, तासु	तिनै, तिन्हैं

एकवचन के कारकीय प्रयोग—विभिन्न कारकों मे उक्त एकवचन मूल, विकृत और अन्य रूपो के, विभक्तिरहित, विभक्तियुक्त और बलात्मक, जो मुख्य रूप सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, सक्षेप मे वे नीचे दिये जाते है। पुरुषवाचक अन्य पुरुष और निश्चय वाचक दूरवर्ती से भिन्नता दिखाने के लिए नित्यसबधी रूपो के साथ पूरा वाक्य उद्धृत किया गया है।

१ कर्त्ताकारक—इस कारक मे बारह के लगभग रूप मिलते हैं जिनमे कुछ विभक्तिरहित हैं और कुछ बलात्मक।

क विभक्तिरहित प्रयोग—तिहीं, तौन, सु, से और सो—ये रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे 'सु' का अधिक और शेष रूपो का सामान्य प्रयोग मिलता है।

अ. तिहीं—जिंहि सुत कैं हित विमुख गोबिंद हैं, प्रथम तिहीं मुख जारयौ[९८]।

आ तौन—रोकनहारौ नद महर सुत, कान्ह नाम जाकौ है तौन[९९]।

इ सु—मैं यह ज्ञान ठगी ब्रज-बनिता, जो दियौ सु क्यौं न लहौं[१]। जाकैं लगी होइ सु जानै[२]। वा भौंह की छबि निरखि नैननि, सु को जु न व्रत तैं टरै[३]।

ई से—सूरदास ब्रजनाथ हमारे जे, से भए उदास[४]।

उ सो—जो कलपै सो कांचौ[५]।

ख बलात्मक प्रयोग—तेइ, तेई, तेऊ, सोइ, सोई, सोऊ और वेऊ—ये बलात्मक रूप कर्त्ताकारक मे मिलते है। इनमे 'सोइ' और 'सोऊ' का अधिक और शेष का प्रयोग सामान्य रूप से मिलता है।

अ तेइ—जिनके गुन निगम नेति-नेति गावत, तेइ कृष्न बन-बन मैं विहरै[६]।

आ तेइ—जो राधा छोटी तेई हैं खोटी, साजति मांजति जो री[७]।

इ. सोइ—सोइ कुलीन बडो सुदर सोइ जिंहि पर कृपा करै[८]। सोइ भलौ जो रामहिं गावै[९]।

---

९८ सा. १-३३६। ९९ सा १५९३। १ सा. ३-२। २. सा. ३९५०। ३. सा. ४१८७। ४. सा १२८६। ५. सा. १-३२। ६ सा. ४५३। ७. सा. २०५१। ८. सा. १-३५। ९. १-२३३।

ई. सोई—प्रेम-कथा सोई पै जानै, जापै बीती होई[१०]। सूरदास सोई पै जाने, जा उर लागै गाँसी[११]।

उ. सोऊ—महादेव-हित जो तप करिहै, सोऊ भव-जल तैं नहिं तरिहै[१२]। ताहि सुनै जो कोउ चित लाइ, सूर तरै सोऊ गुन गाइ[१३]।

ऊ. वेऊ—भले जु भले नदलाल, वेऊ भली, चरन-जावक पाग जिनहिं रँगी[१४]।

२. कर्मकारक—इस कारक मे दस-ग्यारह रूप मिलते हैं जिनमे कुछ विभक्ति से रहित, कुछ उससे युक्त और शेष बलात्मक हैं।

क. विभक्तिरहित प्रयोग - ताहि, तिहि और सो—ये रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनके प्रयोग अनेक पदो मे मिलते हैं।

अ. ताहि - ताहि निसि-दिन जपत रहि जो सकल जीव-निवास[१५]। जाकौ मन हरि लियौ स्याम-घन ताहि सम्हारै कौन[१६]।

आ. तिहिं—कहत मँदोदरी, मेटि को सकै तिहिं, जो रची सूर प्रभु होनहारी[१७]। जा सँग रैनि बिहात न जानी, भोर भए तिहि मोचत हौ[१८]।

इ. सो—दुख-सुत-कीरति भाग आपनै आइ परै सो गहियै[१९]। व्यास कह्यौ जो सुक सौं गाइ। कहौ सो, सुनौ सत चित लाइ[२०]।

३. विभक्तियुक्त प्रयोग - ताकौं, तिनकौं और तिनहिं—ये तीन रूप इस वर्ग मे आते हैं। इन सबका सामान्य रूप से ही प्रयोग किया गया है।

अ. ताकौं—निगम नेति नित गावत जाकौं। राधा वस कीन्हौ है ताकौं[२१]।

आ. तिनकौं—ब्रह्मादिक खोजत नित जिनकौं। साच्छात देख्यौ तुम तिनकौं[२२]।

इ. तिनहि—बार वार जननी कहि मोसौं, माखन माँगत जौन, सूर तिनहि लैवे को आए[२३]।

ग. बलात्मक प्रयोग—ताही कौं, सोइ और सोई—ये मुख्य रूप इस वर्ग के है। इसमे से द्वितीय का प्रयोग अधिक और शेष दोनो का सामान्य रूप से किया गया है।

अ. ताही कौं—अरु जो परालब्ध सौं आवै, ताही कौं सुख सौं बरतावै[२४]। सनमुख ह्वै ताही कौं अक भरै तेरौ तन परसि जो आवत पवन[२५]।

आ. सोइ—सूर स्याम सोइ सोइ हम करिहै, जोइ जोइ तुम सव कैहौ[२६]। जोइ जोइ मत्र कहत कुबिजा है, सोइ सोइ लिखत बनाइ[२७]।

---

१०. सा. ३५४२। ११. सा. ३७०७। १२. सा. ४-५। १३. सा. ५-३। १४ सा. २७०४। १५. सा. १-३१४। १६. सा. १००२। १७ स. ९-१२७। १८. सा २६९०। १९. सा. १-६२। २० सा १-२२६। २१ सा. २१८७। २२. सा. ८००। २३. सा २९७५। २४ सा ३-१३। २५ सा. २८०३। २६. सा. ७९३। २७. सा. ३९९९।

इ सोई—जोइ मैं कहौं करौ तुम सोई[२८]। ये जोइ कहैं करैं हम सोई[२९]।

३. करणकारक—तापै, तिहि तैं और तासौं—ये रूप इस कारक मे सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। इनमे से द्वितीय कही सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, कहीं बलात्मक। शेष रूप सामान्य हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'तासौं' अपेक्षाकृत अधिक महत्व का है।

अ. तापै—जाकौ ब्रह्मा अंत न पावैं, तापै नंद की नारि जसोदा, घर की टहल करावै[३०]।

आ. तिहिं तैं—तिहिं तैं कहौ कौन सुख पायौ, जिहिं अब लौं अवगाही[३१]।

इ तासौं—जा लायक जो बात होइ सो तैसिये तासौं कहिऐ[३२]। कहिए तासौं जो होय बिवेकी[३३]।

४. संप्रदानकारक—ताइ, ताकौं, ताहि, तिनहीं और तिहिं—ये मुख्य रूप सम्प्रदानकारक मे प्रयुक्त हुए हैं। इनमे तिनहीं' बहुवचन होने पर भी एकवचन बलात्मक रूप मे प्रयुक्त हुआ है। शेष सामान्य रूप से ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रयोग की दृष्टि से इस कारक मे 'ताहि' और 'तिहि' रूप प्रधान है।

अ. ताइ—जौ पै कोउ मधुबन लौं जाइ, पतिया लिखी स्याम सुन्दर कौं, ककन दैहौं ताइ[३४]।

आ ताकौं—जाकौं नाउँ, सक्ति पुनि जाकी, ताकौं देत मंत्र पढि पानी[३५]।

इ. ताहि—जाकौ मन लाग्यौ नँदलालहिं, ताहि और नहिं भावै हो[३६]। जाकौ राजरोग कफ व्यापत दही खवावत ताहि[३७]। यह लै देहु ताहि फिरि मधुकर, जिनि (स्याम) पठए हित गाइ[३८]।

ई तिनहीं—सूर-स्याम तिनहीं सुख दीजै, जो बिलसैं सँग तुमकौं लै[३९]।

उ. तिहि—हरि हरि हरि सुमिरयौ जो जहाँ, हरि तिहि दरसन दीन्ह्यौ तहाँ[४०]। जाके दरसन कौं जग तरसत दै री नैंकु दरस तिहि दै री[४१]। जोइ-जोइ बसन जाहि मन मान्यौ, सोइ-सोइ तिहिं पहिरायौ[४२]।

५ अपादानकारक—इस कारक मे केवल एक रूप 'वातैं' मिलता है, जैसे—अपनै कर जो माँग सँवारै । वार-बार उरजनि अवलोकति 'तातैं' कौन सयानी[४३]।

६. संबंधकारक—इस कारक मे दस-बारह रूप मिलते है जिनमे विभक्तिरहित, विभक्तियुक्त और बलात्मक सभी, प्रकार के है।

क विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग मे केवल एक रूप 'तासु' आता है जो

---

२८. सा. ७९०। २९. सा. २२८९। ३०. सा ३९३।
३१. सा. ३६०६। ३२. सा. ३८१०। ३३. सा ३८९८।
३४. सा. ३९४३। ३५. सा १०-२५८। ३६. सा. २-१०। ३७ सा. २७२५।
३८. सा. ३८११। ३९. सा २५३९। ४०. सा २-५। ४१. सा. २५८९।
४२. सा २९१६। ४३ सा २०५२।

बहुत कम पदो मे प्रयुक्त हुआ है, जैसे—सुफल जन्म है तासु, जे (जो) अनुदिन गावत-सुनत[४४]।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—उनके, ताकी, ताके, ताकौ, तिनकी, तेहिंके, वाकी—ये सात मुख्य रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनके सबध मे एक विशेष बात यह है कि इस कारक मे प्रयुक्त बहुवचन रूपो का प्रयोग कम और एकवचन का प्रयोग सर्वत्र किया गया है।

अ. उनके—वै प्रभु बडे सखा तुम उनके, जिनकै सुगम अनीति[४५]।

आ. ताकी—सूर स्याम तजि आन भजै जो ताकी जननी छार[४६]। जाकौं हित, ताकी गति ऐसी[४७]।

इ. ताके - प्रात जो न्हात अघ जात ताके सकल[४८]। राखै रहत हृदय पर जाकौ, धन्य भाग है ताके[४९]। धनि धनि सूर भाग ताके प्रभु जाकै सँग बिहरैं[५०]।

ई. ताकौ—जो देखै ताकौ मन मोहै[५१]। कह्यौ, तुम एक पुरुष जो ध्यायौ, ताकौ दरसन काहु न पायौ[५२]। जिन तन-धन मोहिं प्रान समरपे ''। ताकौ बिषम बिषाद अहो मुनि, मोपै सह्यौ न जाई[५३]।

उ. तिनकी—जिनके तुम सखा साधु, कहौ कथा तिनकी[५४]। मैं जिनकौं सपनेहुँ नहिं देख्यौ तिनकी (स्याम की) बात कहति फिरि फेरी[५५]।

ऊ. तिहिंके—सूर धन्य तिहि के पितु-माता, भाव-भगति है जाके[५६]।

ए. वाकी—सूरदास जैहै बलि वाकी जो हरि जू सौं प्रीति बढावै[५७]।

ग. बलात्मक प्रयोग—ताही कौ और तिनहि के—ये दो बलात्मक रूप कुछ ही पदो मे प्रयुक्त हुए है, जैसे—

अ. ताही कौ—जीवन सुफल सूर ताही कौ जो काज पराये आवत[५८]।

आ. तिनहिं के—जिनपै (स्याम या कुब्जा) तै लै लाए ऊधो, तिनहिं के पेट समैहै[५९]।

७. अधिकरणकारक—तामैं, ताहि पर और ताही कैं—ये रूप इस वर्ग मे आते है जिनका प्रयोग कुछ ही पदो मे मिलता है, जैसे—

अ. तामैं—तामैं सुनि मधुकर, हम कहा लेन जाही, जामैं प्रिय प्राननाथ नँदनदन नाही[६०]।

---

४४. सा. २८२८। ४५. सा. ३८८६। ४६. सा. ३८१६।
४७. सा. ३९३५। ४८. सा. १-२२२। ४९. सा. २४१३।
५०. सा. २८९७। ५१. सा. ३-१३। ५२. सा. ४-३। ५३. सा. ९-७।
५४. सा. ३५९७। ५५. सा. १७३१। ५६. सा. ११७८। ५७. सा. २-७।
५८. सा. ३३३४। ५९. सा. ३६६४। ६०. सा. ३५९७।

आ ताहि पर—जापर कही, ताहि पर धावै[६१] ।

इ. ताहीं कैं—ताही कैं जाहु स्याम, जाकैं निसि वसे धाम[६२] । ताहीं कैं सिधारो प्रिय, जाकैं रँग राँचे[६३] ।

सारांश—विभिन्न कारको मे नित्यसबधी सर्वनाम रूपो के जो प्रयोग ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	तिही, तौन, (सु), (से), सो	.	(ताहूँ), तेइ, तेई, सोइ, सोई, सोऊ, (वेऊ) ।
कर्म	ताहि, तिहिं, (तौन), सो	तिकौं, तिनकौ, तिनहिं,	ताहीकौं, सोइ, सोई,
करण	..	(तापै), (तिहिं तैं), तासौं	(ताही सौं)
सम्प्रदान	(ताइ), तरकौं, ताहि, तिहिं	तिनही	......
अपादान	......	(वातैं)	. ....
सबध	(तासु)	(उनके), ताकी, ताके ताकौ, (तिनकी), (तिनके) (तिहिं के), (वाकी) ।	(ताही कौं), (तिनहिं के)
अधिकरण	......	तामैं	(उनही पैं), (ताहि पर) , ताही कैं ।

वहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

अन्य सर्वनाम-भेदो की तरह नित्यसबधी बहुवचन रूपो की संख्या भी एकवचन से कम है, फिर भी वीस-वाइस बहुवचन रूपो का प्रयोग तो सूरदास ने किया ही है । उनके प्रमुख प्रयोगो के उदाहरण यहाँ सकलित हैं ।

१ कर्ताकारक—ते, तेई, तेऊ, तिन और तिनि—ये पाँच रूप इस कारक मे मिलते हैं जिनमे द्वितीय और तृतीय बलात्मक है । इनमे से 'तेऊ' और 'तिनि' का सामान्य और शेप का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है ।

अ ते—मैं तो जे हरे हैं, ते तौ सोवत परे हैं[६४] ।

आ. तेई—जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं[६५] । जिनके सुने करत पुरुपारथ, तेई है की और[६६] ।

इ. तेऊ—तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी, जिनकैं वस अनिमिप अनेक गन अनुचर

६१. सा ९२७ । ६२ सा २५०१ । ६३. सा. २५४९ । ६४. सा. ४८४ । ६५. सा. १-८६ । ६६. सा. ३०९१ ।

आज्ञाकारी[६७]। सूरदास जे सग रहै, तेऊ मरैं झाँखि[६८]। तेऊ मोहे जिन मति भोरी[६९]।

ई तिन—अतकाल हरि हरि जिन कह्यौ, ततकालहिं तिन हरि-पद लह्यौ[७०]। जिनकी आस सदा हम राखैं, तिन दुख दीन्हौ जेत[७१]।

उ. तिनि—सूरदास हरि विमुख भए जे, तिनि के तिक सुख पायौ[७२]।

२. कर्मकारक—तिनकौं, तेउ, तेऊ—ये तीन मुख्य रूप इस कारक मे मिलते है जिनमे प्रथम सामान्य है और अतिम दोनो बलात्मक। इनमे से 'तिनकौं' का प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता है, अन्य रूप कुछ ही पदो मे मिलते है।

अ. तिनकौं—जिनकौं मुख देखत दुख उपजत, तिनकौं राजा-राय कहैं[७३]। (जो) हमसौं सहस बरस हित धरैं, हम तिनकौं छिन मैं परिहर[७४]। इततैं जुवति जाति जमुना जे, तिनकौं मग मै परखि रही[७५]।

आ. तेउ—तुम रसवाद करन अब लागे जे सब, तेउ पहिचानति हौं[७६]।

इ. तेऊ—अतिहिं मानिनी जे जे तेऊ मैं मनाइ दई[७७]।

३. करणकारक—उनसौं और तिनसौं—ये दो ही मुख्य रूप इस कारक मे मिलते है जिनमे द्वितीय का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है; जैसे—

अ. उनसौं—ऐसी बात कहौ तुम उनसौं जे नहिं जानैं-बूझ[७८]।

आ. तिनसौं—सूर कहत जे भजत राम कौं तिनसौं हरि सौं सदा बनी[७९]। और गोप जे बहुरि चले घर, तिनसौं कहि ब्रज छाक मँगावत[८०]।

४. संप्रदानकारक—तिनकौं और तिनहिं—ये दो मुख्य रूप इस कारक में प्रयुक्त हुए है। इनमे भी सूर-काव्य मे द्वितीय का ही पहले की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. तिनकौं—सूरदास धिक् धिक् है तिनकौं जिनहिं न पीर परारी[८१]।

आ. तिनहिं—यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िवा वसैं कासी[८२]। यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु, जिनहिं आज सब सोहत[८३]। यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ जिनके मन चकरी[८४]।

५. अपादानकारक—इस कारक मे केवल एक मुख्य रूप मिलता है—'तिनतैं'।

---

६७. सा. १-१६३। ६८. सा. २४०७। ६९. सा. २९०८।
७०. सा. ६-३। ७१. सा. २३०२। ७२. सा. ९-१२५।
७३. सा. १-५३। ७४. सा. ९-२। ७५. सा. १९६२।
७६. सा. २८१८। ७७. सा. २७८२। ७८. सा. ३८९८। ७९. सा. १-३९।
८०. सा. ४५०। ८१. सा. २३४५। ८२. सा. ३६६८। ८३. सा. ३६९०।
८४. सा. ३९८८।

इसका प्रयोग भी दो-चार पदो मे ही हुआ है; जैसे—जरे ऊपर जे लौन लावहिं, कौन तिनतैं बावरे[८५]।

६. सबंधकारक—तिनकी, तिनके और तिनकौं—ये तीन मुख्य रूप इस कारक मे मिलते हैं। इनमे द्वितीय रूप का कुछ कम, शेष दोनो का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। इनके अतिरिक्त बलात्मक रूप 'तिनहीं की' भी दो-एक पदो मे प्रयुक्त हुआ है, जैसे—

अ. तिनकी—सूरदास जे झूठी मिलवैं, तिनकी गति जानैं करद,र[८६]। जे अनभले बडाई तिनकी[८७]। धर्म हृदय जिनकैं नही, धिक् तिनकी है जाति[८८]।

आ. तिनके—मिटि गए राग-द्वेष सब तिनके जिन हरि प्रीत लगाई[८९]।

इ. तिनकौं—तिनकौ कठिन करेजौ सखि री, जिनकौ पिय परदेस[९०]। जनम सुफल सूरज तिनकौं जे काज पराए धाए[९१]।

ई तिनहीं की—जो (जे) पहिले रँग रँगे स्याम के, तिनहीं की बुधि रँगी[९२]।

७. अधिकरणकारक—इस कारक मे केवल एक प्रमुख रूप 'तिनकैं' मिलता है जिसका प्रयोग अनेक पदो मे किया गया, हैं, जैसे—तुमसौं प्रीति करहिं जे धीर······ पाप-पुन्य तिनकैं नही[९३]। ऐसी परनि परी है जिनकैं लाज कहा ह्वैहै तिनकै[९४]। राधा-कृष्न केलि-कौतूहल स्रवन सुनैं, जो गावैं, तिनकैं सदा समीप स्याम[९५]।

सारांश—विभिन्न कारको मे प्रयुक्त नित्यसबधी बहुवचन सर्वनाम-रूपो के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	ते, तिन, (तिनि)	..	तेई, तेऊ
कर्म	(ते)	तिनकौं	तेउ, तेऊ
करण		(उनसौं), तिनसौं	
सप्रदान		(तिनकौं), तिनहिं	
अपादान		(तिनतैं)	
सबध		तिनकी, तिनके, तिनकौ	(तिनही की)
अधिकरण		तिनकैं	

प्रश्नवाचक सर्वनाम—

अन्य सर्वनाम भेदो मे एकवचन और बहुवचन रूप जिस प्रकार भिन्न-भिन्न होते है,

---

८५ सा ३८६५। ८६ सा १७७८। ८७ सा २२५५। ८८ सा २३१८ ८९ सा १-३१८। ९० सा ३२२४। ९१ सा ३५१०। ९२. सा ३५११। ९३ सा ११८०। ९४ सा २३९९। ९५. सा. २८२६।

वैसे प्रश्नवाचक मे नही होते; हाँ, इसके मूल, विकृत और अन्य रूप अवश्य होते हैं; जैसे—

मूल रूप	कौन, को
विकृत रूप	का, कौन
अन्य	काहि

प्रश्नवाचक रूपों के कारकीय प्रयोग—विभिन्न कारको मे उक्त सर्वनाम सूरदास द्वारा किन-किन प्रमुख रूपो मे प्रयुक्त हुए हैं, सक्षेप मे इसकी चर्चा यहाँ की जाती है।

१. कर्त्ताकारक—कहा, काहू, किन, किनि, किहि, केहि को, कौन और कौनै—ये नौ रूप इस वर्ग मे आते है। प्राय. ये सभी एकवचन मे प्रयुक्त हुए है। कर्त्ताकारक की विभक्ति इनमे किसी के साथ नही है। प्रयोग की दृष्टि से, किन, किहि, को, कौन, और कौनै प्रधान है और शेष रूप गौण जिनका प्रयोग कही-कही ही मिलता है।

अ. कहा—यह देखत जननी मन व्याकुल बालक मुख कहा आहि[१६]।

आ. काहू—सुनहु सखी मैं बूझति तुमको, काहू हरि कौं देखे हैं[१७]।

इ. किन—कियो किन ऐसो काज। ......। किन यह ऐसौ भवन बनायौ[१८]। कठिन पिनाक कहौ किन तोर्यौ[१९]। यह कही उरग मोसौं, किन पठायो तोहिं[१]।

ई. किनि—किनि देख्यौ, किनि कही बात यह[२]। ऐसे गुन किनि तुमहिं सिखाए[३]।

उ. किहिं—किहिं कच गूँदि माँग सिर पारी[४]। किहिं राख्यौ तिहिं औसर आनी[५]। सो सपति किहिं मूसी[६]। उग्रसेन, वसुदेव, देवकी किहिऽव निगड तैं आने[७]।

ऊ. केहि—चौविस धातु चित्र केहि कीन[८]।

ऋ. को—ऐसी को करी अरु भक्त काजैं[९]। या रथ वैठि वधु की गर्जहिं पुरवै को कुरुखेत[१०]। ताकी पटतर को जग को है[११]। या छवि की उपमा को जाने[१२]।

ए. कौन—कौन विरक्त अधिक नारद तैं[१३]। मोकौं कौन धारना करै[१४]। दूजौ सूर सुमित्रा-सुत विनु कौन धरावै धीर[१५]।

ऐ. कौनैं—कौनैं ठाटि रचायौ[१६]। ये करे हैं कौनै[१७]। कौनैं याहि बुलाई[१८]। कौनैं तोहि बुलाई[१९]। कौनै पठए सिखाइ[२०]।

---

१६. सा. १०-२५३। १७. सा. १८३४। १८. सा. ९-३। १९. सा. ९-२८।
१. सा. ५८०। २. सा. २५५९। ३. सा. २६२६। ४. सा. ७०८।
५. सा. १३९८। ६. सा. २८२६। ७. सा. ३६१७। ८. सा. ३८३७।
९. सा. १-५। १०. सा. १-२०। ११. सा. ३-१३। १२. सा. १०-४६।
१३. सा. १-३५। १४. सा. ९-९। १५. सा. ९-१४५। १६. सा. ४३६।
१७. सा. ४८४। १८. सा. १२२१। १९. सा. १३१३। २०. सा. १४६२।

२. कर्मकारक—कह, कहा, का, काकौं, काहि, किहिं, को, कोऊ और कौना—ये नौ रूप कर्मकारक मे प्रयुक्त हुए हैं। इनमे 'काकौं' विभक्तियुक्त है, शेष विभक्तिरहित हैं। 'किहि' को भी विकृत रूप ही समझना चाहिए। 'कौना' जो तुक के कारण बिगाडा गया है, अपवादस्वरूप है। शेष रूपो का प्रयोग सूर-काव्य के अनेक पदो मे हुआ है। 'कोऊ' भी सामान्यवत् ही प्रयुक्त हुआ है।

अ. कह—कहा जानिऐ कह तैं देख्यौ[२१]। कह तजै[२२]। कहौ न, कह मोहि दैहौ[२३]।

आ. कहा—कहा करौं[२४]। रिस कियैं पावति कहा हो, कहा (पावति हो) दीन्हें गारि[२५]। कहा लेहिं[२६]।

इ का—ना जानौं विधनहिं का भायौ[२७]।

ई. काकौं—काकौं ब्रज पठवौं[२८]। बाँह पकरि तू ल्याई काकौं[२९]।

उ. काहि—काहि भजौं हौ दीन[३०]। श्रीपति काहि सँभारे[३१]। तुम तजि काहि पुकारिहै[३२]। काहि पठवहुँ जाइ[३३]।

ऊ किहिं बान, कमान, कहाँ किहिं मारयौ[३४]। किहि पठाऊँ[३५]।

ऋ. को—इहिं राजस को को न बिगोयौ[३६]। (तुम) को न कृपा करि तारयौ[३७]। (तुम) बिन मसकत को तारयौ[३८]।

ए. कोऊ—कोऊ कमलनैन पठयौ है, तन बनाइ अपनौ सौ साज[३९],

ऐ. कौना—त्रिभुवन मैं बस कियौ न कौना[४०]।

३. करणकारक—इस कारक मे ग्यारह रूप मिलते हैं जिनमे दो—काहि और किहि—विभक्तिरहित है जिनका प्रयोग सर्वत्र हुआ है, शेष नौ - कापैं, कापै, कासौं, काहि सौं, किनितैं, किहि पाहैं, कौन पै, कौन सौं, कौने सौं—विभक्तियुक्त हैं। इनमें से 'काहि सौं', 'किनतैं', 'किहि पाहैं' और 'कौने सौं' के प्रयोग गिने-चुने पदो मे मिलते है, शेप रूप सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं। 'कौने सौं' को 'कौन सौं' का ही रूपातर समझना चाहिए।

अ. काहि—सूरस्याम देखे नही कोउ काहि बतावै[४१]। उपमा काहि देउँ[४२]। कहौं काहि या ही की[४३]।

---

२१. सा १०-२५७। २२. सा २३००। २३ सा २४४१। २४. सा १-१२७। २५. सा १३३५। २६. सा २३००। २७ सा १०-७७। २८. सा. १०-४८। २९. सा १०-३१४। ३०. सा १-१११। ३१ सा ९-७८। ३२. सा २१११६। ३३. सा २९३०। ३४ सा १५८४। ३५ सा २९३८। ३६ सा १-५४। ३७ सा १-१०१। ३८ सा १-१३२। ३९. सा ३४७६। ४०. सा. २८८४। ४१. सा. १११८। ४२. सा २२०५। ४३. सा. २३४४।

आ. किहिं—सूरदास किहिं, तिहि तजि, जाँचे[४४]। कुल, कलंक तैं किहिं मिलि दयौ[४५]। कहौं किहि[४६]।

इ. काप—पवनपुत्र ''कापै हटक्यौ जाइ[४७]। कापैं बरन्यौ जाइ[४८]। काप लेहि उधारे[४९]।

ई. कापै—कापैं कहि आवै[५०]। छबि बरनि कापै जाइ[५१]। महिमा कापै जाति बिचारी[५२]। महत कापै बरन्यौ जाइ[५३]।

उ कासौं—कासौ बिथा कहौं[५४]। तेरौ कासौं कीजै ब्याह[५५]। नेह हमैं कासौं आह[५६]। कन्या कासौ हुति उपजाइ[५७]।

ऊ. काहि सौं—कौन काहि सौ कहै[५८]।

ऋ किनतैं—कौन ग्वालनि साथ भोजन करत किनतैं बात[५९]।

ए किहि पाहैं—सूरदास प्रभु दूरि सिधारे, मुख कहिए किहि पाहैं[६०]।

ऐ. कौन पै—सीख कौन पै लही री[६१]। गुप्त कौन पै होइ[६२]। एक ह्वै गए '' कौन पै जात निरुवारि माई[६३]। कौन पै कढ़त कनूका जिन हठि भुसी पछोरी[६४]।

ओ. कौन सौं—हरि सौं तोरि कौन सौं जोरी[६५]। मेरी घौं हरि लरत कौन सौं[६६]। ह्यां लरन कौन सौ आई[६७]। बिथा माई, कौन सौ कहियै[६८]।

औ. कौने सौ—अब हरि कौने सौं रति जोरी[६९]।

४' संप्रदान कारक—काकौं, काहि, काहू कौ, किहिं और कौनैं—ये पांच रूप इस कारक मे प्रयुक्त हुए हैं। इनमे द्वितीय, चतुर्थ और अतिम विभक्तिरहित हैं, शेष दोनो विभक्तियुक्त। तीसरा रूप दलात्मक होते हुए भी सामान्यवत् प्रयुक्त हुआ है। इनमे से प्रथम दो रूपो के कुछ अधिक और अतिम तीन के कम प्रयोग मिलते हैं।

अ. काकौं—काकौं सुख दीन्हौ[७०]। जोग-जुगुति जद्यपि हम लीनी, लीला काकौं दैहौ[७१]।

आ काहि—उरहन दिन देउँ काहि[७२]। मदनगुपाल विना घर-आँगन गोकुल

---

४४. सा.१-२१२। ४५. सा. ९-३। ४६ सा. १६७०।
४७. सा. ९-७४। ४८ सा. ८३२। ४९ सा. ३५०४।
५०. सा १०-२०१। ५१. सा. १०-२२५। ५२. सा. ३८८।
५३ सा. ४९२। ५४. सा १-१६०। ५५ सा. ४-७। ५६. सा. ९-२।
५७. सा. ९-८३। ५८. सा. ५८९। ५९. सा. ३४७५। ६० सा ३२७९।
६१. सा ३४८। ६२. सा १६४०। ६३. सा. २२७४। ६४. सा ३५५३।
६५ सा. १-३०२। ६६ सा. २८३१। ६७ सा. २८२६। ६८. सा. ३२९३।
६९. सा ३३६१। ७०. सा. २५३६। ७१. सा. ३७०५। ७२. सा. १०-२७६।

काहि सुहाइ[७३] । काहि नहिं दुख होइ[७४] । कथा काहि उढ़ाऊँ[७५] ।

इ काहू कौं—काहू कौं षटरस नाहिं भावत[७६] ।

ई किहि—कहिए कहा, दोष किहि दीजै[७७] ।

उ कौनैं—कमलनयन स्यामसुदर कौनैं नहिं भावै[७८] ।

५. अपादानकारक—'कातैं' और 'कौन तैं'-जैसे प्रयोग इस कारक में होते हैं, परतु सूरदास ने कदाचित् इनका प्रयोग नही किया है ।

६. सवंधकारक—इस कारक मे भी मुख्य ग्यारह रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनमे दो—किहि और कौन—विभक्तिरहित हैं । इनमे से द्वितीय का प्रयोग पहले से अधिक हुआ है । शेष नौ रूपो— काकी, काके, काकौ, किनकी, किहि के, किहिं कौ, कौन की, कौन के और कौन कौ—मे से 'किनकी', 'किहि के' 'किहि कौ' का कम और शेष रूपो का प्रयोग सर्वत्र किया गया है ।

अ. किहि—किहि भय दुरजन डरिहैं[७९] ।

आ. कौन—अब धौं कहौ कौन दर जाउँ[८०] । बानि परी तुमकौ यह कौन[८१] ।

इ. काकी—काकी ध्वजा वैठि[८२] । सरन गहूँ मैं काकी[८३] । पूछयौ, तू काकी है[८४] । काकी तिनकौं उपमा दीजै[८५] । काकी है वेटी[८६] ।

ई. काके—काके रहिहैं प्रान[८७] । ब्रज बसि काके बोल सहौं[८८] । काके मन कौं चोरति हौ[८९] । काके होंहि जो नहिं गोकुल के[९०] ।

उ. काकौ—काकौ वदन निहारि[९१] । डर काकौ[९२] । काकौ नाम[९३] । काकौ ब्रज-दधि, माखन काकौ[९४] । काकौ बालक आहि[९५] ।

ऊ. किनकी—दान हठ कै लेत कापै रोकि किनकी वाट[९६] ।

ऋ. किहिं के—साखामृग तुम किहि के तात[९७] ।

ए किहिं कौं—विरद घटत किहि कौं तुम देख्यौ[९८] ।

ऐ कौन की—कौन की वेटी[९९] । वँधे कौन की डोरी[१] । कौन की गैयाँ चरावत[२] ।

---

७३ सा. २९७२ । ७४. सा. ३८०० । ७५. सा. ४१२६ । ७६. सा १७८६ ।
७७ सा ३२५९ । ७८. सा ३८९७ । ७९ सा. १-२९ । ८०. सा १-१६५ ।
८१. सा. १५९३ । ८२. स १-२९ । ८३ सा. १-१४३ । ८४. सा. ४-१२ ।
८५ सा ९-४५ । ८६. सा ६७३ । ८७ सा ९-७९ । ८८. सा १६८६ ।
८९ सा २१९९ । ९०. सा. ३९४७ । ९१ सा. १-२९ । ९२. सा १-२५६ ।
९३. सा. १-२९० । ९४. सा ३७५ । ९५. सा. ५८९ ।
९६. सा. ३४७५ । ९७. सा. ९-६९ । ९८ सा. ३९८२ ।
९९. सा. २१६९ । १ सा ३९६१ । २. सा. ३४७५ ।

ओ. कौन के—भीने रग कौन के हौ [३]। काके भए, कौन के ह्वैहैं [४]। कौन के घर खात [५]।

औ. कौन कौ—कौन कौ नाम [६]। कौन कौ ध्यान [७]। अब हौ कौन कौ मुख हेरौ [८]। कौन कौ बालक है तू [९]। सुत कौन कौ [१०]। कौन कौ नीलाबरहिं [११]।

७. अधिकरण कारक—इस कारक मे मुख्य सात रूप मिलते है—काकैं, कापर कापै, किहिं केरे, कौन कैं, कौन पर और कौन पै। इनमे से प्रथम सामान्य है, शेष विभक्तियुक्त हैं। 'कापै', 'किहि केरे', 'कौन कै' और 'कौन पै' का प्रयोग कम किया गया है; अन्य तीनो रूप सर्वत्र मिलते है।

अ. काकैं—कहाँ पठवत, जाहि काकैं [१२]। इतनौ हित है काकैं [१३]। कुलिन-अकुलिन अवतरचो काकैं [१४]। ह्याँ है तरल तरयौना काकैं [१५]।

आ. कापर—कापर चक्र चलाऊँ [१६]। कापर नैंन चढाए डोलत [१७]। कापर नैंन चलावति [१८]। कापर क्रोध कियौ अमरापति [१९]।

इ. कापै—हमकौं सरन और नहिं सूझै कापै हम अब जाहिं [२०]।

ई. किहिं केरे—सूरदास प्रभु अँग अनूप छवि कहँ पायौ किहि केरे [२१]।

उ. कौन कैं—कौन कैं माखन चुरावन जात उठिकै प्रात [२२]।

ऊ. कौन पर—बहियाँ गहत सतराति कौन पर मग धरि डग। कौन पर होति पीरी-कारी [२३]। कियौ कौन पर छोहु [२४]।

ऋ. कौन पै—तुम तजि और कौन पै जाउँ [२५]।

सारांश—प्रश्नवाचक सर्वनाम रूपो के विभिन्न कारको मे जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्क रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	(कहा), (काहूँ), किन, किनि, किहिं, (केहि) को, कौन, कौनै।	...	....
कर्म	कह, कहा, काहि, किहिं, को, (कोऊ) (कौना)।	काकौं	...

३ सा. २५५१। ४. सा. ३३६१। ५. सा ३४७५।
६. सा १-२९०। ७. सा. २-३५। ८. सा ९-१४६। ९. सा. ५५०।
१०. सा ५८९। ११. सा. २५०६। १२. सा. ११८२। १३.सा. २७५६।
१४. सा ३१०१। १५. सा. ३८१७। १६. सा. १-२७४। १७. सा. १०-३९०।
१८. सा. १०-३२०। १९. सा. ९२६। २०. सा. १०२०। २१. सा. २५६१।
२२.सा. ३४७५। २३. सा. २५९५। २४. सा. ४१८८। २५. सा. १-१६४।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
करण	काहि, किहि	कापैं, कापै, कासौं, (काहि सौं), (किनतैं), (किहि पाहैं), कौन पै, कौन सौं, (कौने सौं)	
सम्प्रदान	काहि, किहि,कौनैं	काकौं, काहू कौं	..
अपादान	...	..	.
संबंध	(किहि), कौन	काकी, काके, काको, (किनकी), (किहि के), (किहि कौ), कौन की, कौन के, कौन कौ	
अधिकरण	काकैं	कापर, कापैं, (किहि केरे , (कौन कैं), कौन पर, (कौन पै)	

अनिश्चयवाचक सर्वनाम—

प्रश्नवाचक सर्वनाम की तरह अनिश्चयवाचक सर्वनामो मे भी भेद नही होता, यद्यपि कुछ सर्वनाम–जैसे 'एक'—एकवचन मे और कुछ–जैसे 'सब'–बहुवचन मे भी आते हैं। परन्तु चेतन–अचेतन वस्तुओ या पदार्थों की दृष्टि से अनिश्चयवाचक सर्वनाम के भेद अवश्य होते हैं।

चेतन पदार्थों के लिए

मूलरूप	एक, और, कोई, कोऊ, सब
विकृतरूप	एकनि, औरन, काहू, सबन

अचेतन पदार्थों के लिए

एक, और ,कछु, कछुक, सब

प्रथम वर्ग के कारकीय प्रयोग—चेतन पदार्थों के लिए विभिन्न कारकों मे मूल और विकृत जो सर्वनाम-रूप प्रयुक्त हुए हैं, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

१. कर्ताकारक—इस कारक मे बीस के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जो 'एक', 'और', 'कोई' या कोऊ' और 'सब' के रूपातर होने से इन्ही चार वर्गो मे विभाजित किये जा सकते है।

क 'एक' के रूपांतर—इक, एक और एकनि—ये तीन रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे से प्रथम दो का बहुत अधिक और अतिम का बहुत कम प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ इक—इक मारत इक रोकत गेदहिं इक भागत [२६]। इक आवत ब्रज तैं इतही कौं, इक इततैं ब्रज जात[२७]। इक घर तैं उठि चले[२८]। इक आवत' इक टेरत इक दौरे आवत[२९]।

२६. सा. ५३३। २७ सा ८३०। २८ सा. ८४१। २९. सा. ९०२।

आ. एक—एक चले आवत[३०]। एक कहत[३१]। एक उफनत ही चली उठि[..]। एक जेवन करत त्याग्यौ[३२]। एक भोजन करि सँपूरन गई[३३]।

इ एकनि—एकनि हरे प्रान गोकुल के[३४]।

ख. 'और' के रूपांतर—और तथा औरी—केवल दो मुख्य रूप इस वर्ग मे आते हैं। दूसरा रूप अपवादस्वरूप है, परतु पहला खूब प्रयुक्त हुआ है—कही एकवचन मे और कही बहुवचन में।

अ. और—मेरे सग की और गई[३५]। कियौ यह भेद मन, और नही[३६]। तेई हैं कि और है[३७]। देखैं बनें, कहत रसना सौं, सूर बिलोकत और[३८]।

आ औरी—तोसी न औरी है[३९]।

ग. 'कोई' और 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपो की सख्या अन्य तीनो से अधिक है जिनमे मुख्य है—काहुँ, काहु, काहूँ, काहू, किनहूँ, कोइ, कोउ, कोऊ। इन आठ रूपो मे से 'किनहूँ' का प्रयोग सूरदास ने अपने काव्य में सर्वत्र किया है।

अ. काहुँ—काहुँ न प्रान हरे[४०]। काहुँ खोज नहिं पायौ[४१]।

आ. काहु—ताकी दरसन काहु न पायौ[४२]। काहु लै मोहिं डारि दीन्हौ कालिया दह नीर[४३]। बड़ी कृपा इहिं उरग कौं, ऐसी काहु न पाई[४४]।

इ. काहूँ—काहूँ कह्यौ, मत्र जप करना, काहूँ कछु काहूँ कछु वरना[४५]। काहूँ समाचार कछु पूछे[४६]। काहूँ करत न आयौ[४७]। काहूँ दियौ गिराइ[४८]।

ई. काहू—कै तुमसौ काहू कटु भाष्यौ[४९]। काहू पति-गेह तजे, काहू तन प्रान[५०]। काहू तुरत आइ मुख चूमे[५१]।

उ. किनहूँ—किनहूँ लियौ छोरि पट कटि तैं[५२]।

ऊ. कोइ—मेटि सकै नहिं कोइ[५३]। पै यह बात न जानै कोइ[५४]। केतौ भाग करौ किन कोइ[५५]। सकै नहिं तरि कोइ[५६]।

ऋ. कोउ—सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै[५७]। कोउ न उतारै पार[५८]।

---

३०. सा. ८२८। ३१. सा. ९०२। ३२. सा. ९९५। ३३. सा. ९९५। ३४. सा. ३९७७। ३५. सा. १४१७। ३६. सा. २२४०। ३७. सा. ३०६१। ३८. सा. ३५६०। ३९. सा. १७३५। ४०. सा. ३७६७। ४१. सा. ४१९०। ४२. सा. ४-३। ४३. सा. ५८०। ४४. सा. ५८९। ४५. सा. १-३४१। ४६. सा. ४-५। ४७. सा. ८-३। ४८. सा. ५१७। ४९. सा. १-२८६। ५०. सा ६५०। ५१. सा. २८९८। ५२. सा. २८९८। ५३. सा. १-२६२। ५४. सा. १-२८९। ५५. सा. ९-८। ५६. सा. ४२१०। ५७. सा. १-४। ५८. सा. १-६८।

कोउ खवावै[५९] । कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत, कोउ करताल बजावत[६०] ।

ए कोऊ—यह गति मति जानै नहिं कोऊ[६१] । सक्यौ न कोऊ राखी[६२] । रामहिं राखौ कोऊ जाइ[६३] ।

घ 'सब' के रूपांतर—सब, सबनि, सबहिनि, सबहीं और सबै—ये पाँच रूप इस वर्ग मे आते हैं । ये सब बहुवचन रूप हैं और इनमे अंतिम रूप सबै प्राय सर्वत्र बलात्मक रूप मे प्रयुक्त हुआ है । सूर-काव्य मे इन सब रूपो के प्रयोग अनेक पदो मे किये गये हैं ।

अ सब—सब चितवत मुख तेरौ[६४] । फिरि सब चले अतिहिं बिकलाने[६५] । सब नाचही[६६] । सब मुरझानी[६७] ।

आ. सबनि—बसन भूषन सबनि पहिरे[६८] । यह सुनतहिं सिर सबनि नवाए[६९] । सैना सबनि बुलाए[७०] । दई सबनि लाज डारि[७१] । मनबाछित फल सबनि लह्यौ[७२] ।

इ सबहिनि—दुख डारयौ सबहिनि बिसराइ[७३] । सबहिनि गिरि टेक्यौ[७४] । सबहिनि सुख लीन्हौ[७५] ।

ई. सबहीं—तब बरज्यौ मोही सबहीं[७६] । हा हा खाई सबहीं[७७] । मथुरा घर घर सबहीं (यह) जानी[७८] ।

उ सबै—सबै सदननि आइ पहुँचे[७९] । हरत सबै हरि चरननि धाइ[८०] । याही कौं खोजत सबै[८१] । चली सबै[८२] । सबै उडावहिं छार[८३] ।

२ कर्मकारक—इस कारक मे पद्रह के लगभग मुख्य रूप मिलते है जिनको भी, कर्त्ताकारकीय प्रयोगो के समान, चारो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है ।

क 'एक' के रूपांतर—इस वर्ग मे केवल एक मुख्य रूप आता है—एकहिं । इसका प्रयोग भी बहुत-कम पदो मे किया गया है, जैसे—एक एकहिं धरति भुज भरि[८४] ।

ख. 'और' के रूपांतर—और, औरनि, औरनि कौं तथा औरहिं—ये चार रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे तृतीय विभक्तियुक्त है । प्रयोग की दृष्टि से प्रथम दो रूप

---

५९. सा ५-२ । ६० सा ४८० । ६१ सा १-३५ । ६२ सा. १-१२२ ।
६३. सा. ९-४७ । ६३. सा ८६९ । ६५ सा ९४१ । ६६ सा २९१४ ।
६७. सा. २९६१ । ६८ सा. ७९५ । ६९ सा. ८८८ । ७०. सा. ९३० ।
७१. सा. २८९१ । ७२. सा. ३११० । ७३ सा. ८७२ । ७४. सा. ८६५ ।
७५. सा. ८८९ । ७६ सा. १४२३ । ७७ सा. २९१६ । ७८. सा ३१०९ ।
७९ सा. ८५० । ८०. सा ८७२ । ८१ सा ११०६ । ८२ सा १७५१ ।
८३ सा २९१४ । ८४ सा १७५० ।

प्रधान हैं जो अनेक पदो मे मिलते हैं और अंतिम दो अप्रधान जो कुछ ही पदो मे पाये जाते हैं।

अ. और—सूरस्याम बिनु और न भावैं[८५]। हरि तजि जो और भजै[८६]। नंद-नंदन अछत कैसैं आनियैं उर और[८७]।

आ. औरनि—औरनि छाँड़ि कान्ह परे हठ हमसौं[८८]। घूल घौत लपट जैसे हरि, तैसे औरनि जानैं[८९]।

इ. औरनि कौं— औरनि कौं तिरछे ह्वै चितवत[९०]।

ई. औरहिं— औरहि नहिं पत्यात[९१]।

ग. 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपो मे प्रमुख हैं काहुँ, काहु, काहुहि, काहूँ, काहू कौ और कोऊ। इनमे से तीसरा और पाँचवाँ रूप विभक्तियुक्त है। इन रूपो का प्रयोग कुछ ही पदो मे किया गया है, सर्वत्र नही।

अ. काहुँ—मैं काहुँ पहिचानौ[९२]।

आ. काहु—डसैं जिनि यह काहु[९३]। काहु नहिं मानत[९४]।

इ. काहुहि—तब तैं गनत मही यह काहुहिं[९५]। गनत नही अपनैं बल काहुहि[९६]।

ई. काहूँ—वदत काहूँ नही[९७]।

उ. काहू कौं—जौ काहू कौं पकरि पाइहैं[९८]।

ऊ. कोऊ—तौ तुम कोऊ तारचौ नाहिं[९९]।

घ. 'सब' के रूपांतर—सबनि ,सबहिनि, सबहीं और सबै—ये रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे से अतिम दो का बहुत कम और प्रथम दो का उनसे कुछ अधिक प्रयोग मिलता है।

अ. सबनि—सूर स्याम सुरपति तै राख्यौ देखौ सबनि बंहाइ[१]। देखि सबनि रीझे गोविन्द[२]।

आ. सबहिनि—जानत सबहिनि चोर[३]। घरी-पहर सबहिनि बिरमावत[४]।

इ. सबही—सबहीं डारे मारि[५]।

---

८५. सा. १६३९।		८६ सा. १९१०।	८७. सा. ३७३२।
८८. सा. १४६४।		८९ सा ३९९८।	९०. सा. २२८४।
९१. सा. २२६५।		९२. सा. २५५९।	९३. सा. ६३६।
९४. सा. ४०८८।	९५. सा. १२७०।	९६ सा. १३०८।	९७. सा. २२८७।
९८. सा. २९१६।	९९. सा. १-७३।	१ सा. ९५४।	२. सा. ११८०।
३. सा. २२६६।		४. सा. २५०४।	५. सा. २९२६।

ई सबै—सबै त्यागि हम धाई आई[६]।

३ करणकारक—इस कारक मे सत्रह-अठारह मुख्य रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको भी कर्ता और कर्म कारकीय रूपो के समान चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

क 'एक' के रूपांतर—इकसौं, इकहि, एकसौं और एकहि—ये रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनका प्रयोग कुछ ही पदो मे किया गया हैं, जैसे—

अ इकसौं—इक इकसौं यह बात कहति[७]।

आ ईकहि—धीरज धरि इकहि सुनावति[८]।

इ एकसौं—एकसौं कहत धौं कहां आए[९]।

ई एकहिं—एक एकहिं बात बूझति[१०]।

ख 'और' के रूपांतर—औरनि, औरनि सौं, और पै तथा और सौं—ये चार रूप इस वर्ग के हैं। इनमे से द्वितीय का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है।

अ. औरनि—(ऊधौ) जैसी कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते[११]।

आ. औरनि सौं—औरनि सौं करि रहे अचगरी[१२]। औरनि सौं लै लीजै[१३]। औरनि सौं तुम कहा लियौ है[१४]।

इ. और पै—ऐसौ दान और पै माँगहु[१५]।

ई. और सौं—और सौं बूझि न देखौ[१६]।

ग 'कोई' और 'कोऊ' के रूपातर—काहूँ, काहू, काहू पै और काहू सौं-इस वर्ग के इन रूपो मे अतिम दो विभक्तियुक्त हैं। इनमे से 'काहू' का सामान्य और शेष रूपो का प्रयोग सर्वत्र किया गया है।

अ काहूँ—को जानै प्रभु कहां चले हैं, काहूँ कछु न जनावत[१७]। काहूँ (किसी से) नही जनाई[१८]। फूली फिरति कहति नहिं काहूँ[१९]।

आ. काहू—पै यह भेद रुकमिनी निज मुख काहू कहि न सुनायौ[२०]।

ई काहू पै—होवनहारी काहू पै जाइ न टारी[२१]। मुरली लै लै सबै बजावत काहू पै नहिं आवै रूप[२२]। सो काहू पै जाहि न तोल्यौ[२३]।

इ काहू सौं—भावी काहू सौं न टरै[२४]। काहू सौं यह कहि न सुनाई[२५]। काहूँ सौं उनहूँ तब पूछे[२६]। ज्वाब न देत बनै काहू सौं[२७]।

---

६. सा. १०२५। ७ सा. १६११। ८. सा. १२१९।
९. सा. ३०२४। १० सा १६२५। ११. सा. ३५१६।
१२ सा १४०४। १३. सा १४६२। १४. सा १४७४।
१५. सा. १५५६। १६ सा १४९१। १७. सा ८-४। १८. सा. २२४२।
१९. सा. २४४९। २०. सा. ४१७८। २१. सा ४-५।
२२. सा. १२१७। २३ सा २९४१। २४. सा १-२६४।
२५. सा. १-२८९। २६. सा. ४-५। २७. सा १७३७।

घ. 'सब' के रूपांतर—सबनि, सबनि सौं, सबसौ और सबहीं सौ—इन चार प्रमुख रूपों में से सबसे अधिक प्रयोग 'सबनि सौं' का किया गया है।

अ सबनि—तब उपँगसुत सबनि बोले—सुनौ श्रीमुख जोग[२८]।

आ. सबनिसौं—सूर प्रभु प्रगट लीला कही सबनि सौं[२९]। लागी करन बिलाप सबनि सौं स्याम गए मोहिं त्यागि[३०]। तब तू कहति सबनि सौं हँसि हँसि[३१]।

इ. सब सौं—सब सौं मिलि पुनि निज पुर आए[३२]।

ई सबही सौं—खीझत कहत मेघ सबही सौं[३३]।

४ संप्रदानकारक—इस कारक मे दस-बारह प्रमुख रूप मिलते है जो उक्त कारको के समान चार वर्गों मे विभाजित किये जा सकते हैं।

क. 'एक' के रूपांतर—इस वर्ग मे केवल एक रूप है 'एकनि' जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलता है; जैसे—इक एकनि देत गारि[३४]।

ख. 'और' के रूपांतर—औरनि, औरनि कौ, औरनि हूँ कौं तथा औरहूँ—इस वर्ग मे इन चारो प्रमुख रूपो का प्रयोग 'सूर-काव्य' मे कही-कही ही किया गया है; जैसे—

अ. औरनि—तब औरनि सिख देहु[३५]।

आ औरनि कौं—औरनि कौ छवि कहा दिखावत[३६]।

इ औरनि हूँ कौं—सूरस्याम सुख लूटैं आपुन, औरनि हूँ कौं देत[३७]।

ई. औरहूँ—आपुन लेहिं औरहूँ देते[३८]।

ग. 'कोई' और कोऊ के रूपांतर—काहूँ, काहूँ कौं, काहू, काहू कौं और कौन को—इन पाँचो रूपो मे से विभक्तिरहित का कम और विभक्तियुक्त का प्रयोग कुछ अधिक किया गया है; जैसे—

अ. काहूँ—काहूँ दुख नहिं देत बिधाता[३९]। तुम काहूँ धन दै लै आवहु[४०]। डारत खात देत नहिं काहूँ[४१]। काहूँ सुधि न रही[४२]।

आ. काहूँ कौं—नमस्कार काहूँ कौं कियौ[४३]।

इ. काहू—दोप न काहू दैहै[४४]।

ई. काहू कौं—काहू कौ षटरस नहिं भावत[४५]। देत नही काहू कौं नैकहु[४६]।

---

२८. सा. ३४८३। २९. सा ८४८। ३०. सा ११०९।
३१. सा १६४८। ३२ सा ४२००। ३३. सा. ९-४०। ३४. सा. २८९१।
३५. सा. २५२९। ३६. सा. २५४४। ३७. सा २२६७। ३८ सा २२६६।
३९. सा. १-२९०। ४० सा ५-३। ४१. सा. २२४२। ४२ सा. ३८८४।
४३. सा. ४२००। ४४. सा ३५४३। ४५. सा. १७८६। ४६ सा २३२४।

च. कौन कौं—कौन कौन कौं उत्तर दीजे[४७]।

घ. 'सब' के रूपांतर—सबकौं, सबनि, सबनि कौं, सबहिनि— इन चारो मुख्य रूपो का प्रयोग सूरदास ने अनेक पदो मे किया है, जैसे—

अ. सबकौं—सबकौं सुख दै दुखनि हरौ[४८]। सखा सग सबकौं सुख दीनौ[४९]।

आ. सबनि—गोपाल सबनि सुख देत[५०]। तुरत सबनि सुरलोक दियौ[५१]। सबनि आनद भयौ[५२]।

इ. सबनि कौं— पट-भूषन दियौ सबनि कौं[५३]। सबनि कौं सुख दियौ[५४]।

ई सबहिनि—स्याम सबहिनि सुख दीन्हौ[५५]। मुरली शब्द सुनावत सबहिनि[५६]।

५. अपादानकारक—इस कारक मे मुख्य छह रूप मिलते हैं—एकतैं, सबतैं, सबनि सौं, सबसौं, सबहिनि और सबहीं तैं। इन सबका प्रयोग सामान्य रूप से किया गया है। इनमे 'और' तथा 'कोई' या 'कोऊ' के रूपातर नही हैं।

अ. एकतैं—एक एकतैं गुननि उजागर[५७]। एक एकतैं सबै सयानी[५८]।

आ. सबतैं—सबतैं वहै देस अति नीकौ[५९]। जाकी सबतैं गति न्यारी[६०]।

इ. सबनि सौं—हरि सबनिसौं नैंकु होत नहिं दूरी[६१]।

ई. सबसौं—मैं उदास सबसौं रहौं[६२]।

उ. सबहिनि तैं—गौतम-सुता भगीरथ धीवर सबहिनि तैं सुदर सुकुमारी[६३]।

ऊ. सबहीं तैं—कृष्न-कृपा सबहीं तैं न्यारी[६४]। ऊधौ, ऐसी हम गुपाल बिनु सबहीं तैं जैसै हरुवौ तनु[६५]।

६ संबंधकारक—इस कारक के अतर्गत बीस से भी अधिक रूप मिलते हैं जिनको सुविधा की दृष्टि से कर्ता, कर्म आदि कारकीय प्रयोगो के समान चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

क. 'एक' के रूपांतर—इस वर्ग मे केवल एक प्रमुख रूप मिलता है 'एकनि' जिसका प्रयोग कुछ ही पदो मे हुआ है, जैसे—एकनि कर है अगर—कुमकुमा[६६]।

ख 'और' के रूपांतर—और की, और के, औरनि की, औरनि के तथा औरनि कौ—ये रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे से तीसरे-चौथे का विशेष और शेष का सामान्य प्रयोग किया गया है।

---

४७ सा ४१२६। ४८ सा १५२२। ४९ सा २९२२। ५०. सा. १०७०। ५१. सा ३०८०। ५२ सा ४०८१। ५३ सा २९००। ५४ सा. २९०३। ५५ सा ११५४। ५६ सा ३९९५। ५७ सा ३१४४। ५८. सा ३७१२। ५९ सा ३८२०। ६० सा. ३९८४। ६१ सा ४१९४। ६२. सा ४२१०। ६३. सा ४२०२। ६४ सा. ३१०९। ६५ सा. ४०२३। ६६. सा. २८९४।

अ. और की—तजी और की आस[६७]।

आ. और के—स्याम हलधर सुत तुम्हारे, और के सुत न कहाँहि[६८]।

इ. औरनि की—औरनि की मटकी कौ खायौ[६९]।

ई. औरनि के—औरनि के घर[७०]। औरनि के बदन[७१]। औरनि के चित्त[७२]। औरनि के लरिका[७३]।

उ. औरनि कौ-औरनि कौ मन[७४]।

ग. 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के प्रयुक्त रूपो मे मुख्य हैं– काहूँ, काहू, काहू की, काहू के, काहू केरौ और काहू कौ। इनमे से 'काहू केरौ' का प्रयोग अपवादस्वरूप, प्रथम दो का सामान्य और शेष तीन का विशेष रूप से मिलता है, जैसे—

अ. काहूँ—वह सुख टरत न काहूँ मन तैं[७५]। काहूँ काम न आवै[७६]।

आ. काहू—काहू हाथ सँदेस[७७]।

इ. काहू की—वधू होइ काहू की[७८]। जाति न काहू की[७९]। टेर सुनत काहू की स्रवननि[८०]। है काहू की सारी[८१]। काहू की गगरी[८२]।

ई. काहू के—काहू के कुल-तन[८३]। लरिकनि मारि भजत काहू के[८४]। काहू के चित[८५]। काहू के जिय कौ[८६]।

उ. काहू केरौ—जोग जु काहू केरौ[८७]।

ऊ. काहू कौ—इहाँ कोउ काहू कौ नाहीं[८८]। काहू कौ दधि-दूध[८९]। कह्यौ नहीं मानत काहू कौ[९०]। रस-गोरस हरै न काहू कौ[९१]।

घ. 'सब' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपो की सख्या उक्त तीनो वर्गों से अधिक है। उनमे से मुख्य ये हैं—सबकी, सबके, सब केरी, सब केरे, सबकौ, सबनि, सबनि की, सबनि के, सबनि कौ, सबहिनि, सबहिनि के, सबहिनि केरैं और सबहुनि कौ। इनमे से 'की', 'के' और 'कौ'-युक्त रूपो का ही प्रयोग विशेष रूप से किया गया है; जैसे—

अ. सबकी—सबकी सौहे खैहैं[९२]। सपति सबकी लै री[९३]।

आ. सबके—सबके बसन[९४]। सबके भाव[९५]। नैन सुफल सबके भए[९६]। कैसे

---

६७. सा. ३५८३। ६८. सा. ३४३६। ६९. सा. १५९९। ७०. सा. २२३१। ७१ सा. २५५२। ७२. सा. २५६२। ७३. ४०८२। ७४. सा. १९३४। ७५. सा. ११७१। ७६. सा. २३२४। ७७ सा. ३२२४। ७८. सा. ९-४१। ७९. सा. ९-६७। ८०. सा. ४५९। ८१. सा. ६९३। ८२. सा. १३९९। ८३. सा. १-१२। ८४. सा. १०-३४०। ८५. सा. १३९९। ८६. सा. ३२४६ ८७. सा. ३७२३। ८८ सा. ७-२। ८९. सा १०-३४०। ९०. सा. ५१६। ९१. सा १९३८। ९२. सा १७२४। ९३. सा. २४३३। ९४. सा ७९९। ९५ सा. ९०३। ९६. सा. ११८०।

हाल भए तब सबके[१७]।

इ. सब केरी—प्रीति-रीति सब केरी[१८]।

ई. सब केरे—प्रान-जिवन सब केरे[१९]।

उ. सबकौ—जान्यौ सबकौ ज्ञान[१]। सबकौ मन[२]। सोच सबकौ[३]।

ऊ. सबनि—बहु रूप धरि हरि गए सबनि घर[४]। सबनि मुख यह बात[५]।

ऋ सबनि की—प्रीति सबनि की तोर[६]। सबनि की आस[७]। सबनि की कानि[८]। यहै रीति ससार सबनि की[९]।

ए. सबनि के—सबनि के चीर[१०]। सबनि के मुख[११]। बड भाग सबनि के[१२]। करे सबनि के पूरन कामा[१३]।

ऐ सबनि कौ—दुख हरत सबनि कौ[१४]।

ओ. सबहिनि—कियौ स्याम सबहिनि मन भायौ[१५]।

औ सबहिनि के—सुखदायक सबहिनि के[१६]। सबहिनि के प्रतिबिंब[१७]।

अ. सबहिनि केरैं—पूरनकामी सबहिनि केरैं[१८]।

अ. सबहुनि कौ—सबहुनि कौ मन[१९]।

७. अधिकरण कारक—इस कारक मे मुख्य आठ रूप मिलते है—काहुँ कैं, काहूँ, काहू कैं, काहू पर, सबनि मै, सबनि मँझार और सबमैं। इनमे से 'काहू कैं' का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है।

अ. काहुँ कैं—कत हो कान्ह काहुँ कै जात[२०]।

आ काहूँ—ऐसी कृपा करी नहिं काहूँ (पर)[२१]।

इ. काहू कैं—काहू कै निसि बसत बनाइ[२२]। वै लुब्धे अनतहिं काहू कैं[२३]। कबहूँ रैनि बसत काहू कैं[··]। काहू कैं जागत सिगरी निसि[२४]।

ई काहू पर—हम पर क्रोध किधौं काहू पर[२५]।

उ सबनि मैं—रहत सबनि मैं वै परसी[२६]।

ऊ सबनि मँझार—सबहिनि कै मन साँवरो दीसै सबनि मँझारि[२७]।

---

१७ सा. १५६०। १८. सा ३८१४। १९ सा ३१३१।
१. सा. १५७४। २ सा ३०३६। ३ सा ३०८२।
४. सा ४१९४। ५. सा. ८५०। ६ सा ६५७। ७ सा ११३५।
८. सा २३४९। ९ सा. ४०६५। १० सा १४०६। ११. सा. १४८३।
१२ सा. २९०७। १३ सा. २९१०। १४. सा २८१७। १५ सा. १०८४।
१६. सा. १५६७। १७ सा ४१६५। १८ सा. १०८६। १९. सा. १३२७।
२० सा १०-३०८। २१. सा ५६९। २२ सा. २४७५। २३. सा २४९९।
२४ सा २५३४। २५ सा ९२६। २६ सा ३११३। २७ सा ८४१।

ऋ. सबमैं—भाव-बस्य सबमैं रहौं[२८]।

सारांश—विभिन्न कारको मे प्रयुक्त अनिश्चयवाचक सर्वनाम के जिन रूपो के उदाहरण ऊपर दिये है, सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	इक, एक, (एकनि), और, औरौ, काहुँ, काहु, काहूँ, काहू, किनहूँ, कोइ, कोउ, कोऊ, सब, सबनि	... ...	एकै, सबहिनि, सबही, सबै
कर्म	(एकहि), और, औरनि, (काहुँ), काहु, (काहूँ), कोऊ, सबनि	औरनि कौ, औरहि, काहू कौ, काहुहि	सबहिनि, सबही, सबै
करण	औरनि, काहुँ, काहूँ, काहू, सबनि	इकसौं, इकहि, एकसौं, एकहि, औरनि सौं, और पै, काहू पै, काहू सौं, सबनि सौं, सबसौं	सबही सौं
संप्रदान	औरनि, काहुँ, काहू, सबनि	औरनि कौ, काहूँ कौं, काहू कौ, कौन कौं, सबको, सबनिको	औरनि हूँ कौं, औरहूँ, सबहिनि,
अपादान	...	एक तैं, सबतैं, सबनि सौं, सबसौं	सबहिनि तैं, सबही तैं
संबध	एकनि, काहूँ, काहू, सबनि	और की, और के, औरनि की, औरनि के, औरनि कौ, काहू की, काहू के, (काहू केरौ), काहू कौ, सबकी, सबके, (सब केरी), (सब केरे), सबकौ, सबनि की, सबनि के, सबनि कौ	सबहिनि, सबहिनि के, (सबहिनि केरैं), सबहुनि कौ
अधिकरण	काहूँ	काहु कै, काहू कै, काहू पर सबनि मैं, सब मैं	सबहिनि मैं

२८. सा. ११०१।

द्वितीय वर्ग के प्रयोग—अनिश्चयवाचक सर्वनाम के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, वे चेतन पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुए हैं, अचेतन पदार्थों के लिए जो रूप प्रयुक्त होते हैं, उनमे मुख्य हैं—एक, और, कछु, कछुक तथा सब। इनमे से 'एक', 'और' तथा 'सब' के प्रयोग तो ऊपर दिये हुए उदाहरणो के समान ही किये गये हैं, 'कछु' के कुछ उदाहरण यहाँ और दिये जाते हैं—

कछु—यामैं कछू न छीजै[२९]। सुनहु सूर हमकौं कछु दैहौ[३०]। ज्यौं बालक जननी सौं अटकत, भोजन कौं कछु माँगै[३१]।

निजवाचक सर्वनाम—

इस सर्वनाम का मूल रूप 'आप' प्राय विशेषण के समान प्रयुक्त होता है। 'आप' या 'आपु' इसका मूल और 'आपन' या 'आपुन' विकृत रूप है। विभिन्न कारको मे सूरदास ने इसके प्रयोग इस प्रकार किये हैं—

१ कर्त्ताकारक—आप, आपु, आपुन, आपुन ही, आपुहि और आपै—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमे प्रथम तीन रूप सामान्य हैं और अंतिम तीन बलात्मक। इन सभी का प्रयोग सूर-साहित्य में प्राय समान रूप से किया गया है।

अ आप—इंद्र भय मानि हय गहन सुत सौं कह्यौ, सो न लै सक्यौ, तब आप लीन्हौ[३२]।

आ आपु—आपु मैं आपु समाए[३३]। आपु खात[३४]। आपु भजे ब्रज खोरी[३५]।

इ. आपुन—दुखित गयदहिं जानि कै आपुन उठि धावै[३६]। आपुन भए उधारन जग के[३७]। आपुन भए भिखारी[३८]। आपुन रहे छपाइ[३९]।

ई आपुन ही—सूर स्याम, आपुन ही कहियै[४०]। आपुन ही चलियै-उद्धरियै[४१]।

उ. आपुहि—आपुहिं कहति, लेति नाही दधि[४२]। आपुहि बुद्धि उपाई[४३]। आपुहिं चलियै तौ भली बानति[४४]।

ऊ आपै—सूरदास प्रभु देखि खरिक, अब हीं आपै आयौ[४५]।

२ कर्मकारक—आपु, आपु कौं और आपुन—ये तीन रूप इस वर्ग मे आते है जिनमे से 'आपु' और 'आपुन' का विशेष और द्वितीय का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ आपु—आपु बँधाइ पूँजि लै सौंपी[४६]। आपु देखि पर देखि रे[४७]। सूर सनेह करै जो तुमसौ, सो पुनि आपु बिगोऊ[४८]।

---

२९. सा ९-१२६। ३० सा १७६६। ३१. सा. २३५८। ३२. सा. ४-११। ३३. सा २-३६। ३४. सा. १०-२६५। ३५. सा. १०-२६८। ३६. सा १-४। ३७. सा १-२०७। ३८ सा ८-१४। ३९ सा १०-२६५। ४० सा. १३३२। ४१. सा २११५। ४२ सा १६२२। ४३ सा २१५०। ४४. सा २५७२। ४५ सा १०-३१५। ४६ सा. २३७८। ४७. सा. ३६१३। ४८. सा. ३९७९।

आ. आपु कौं—रे मन, आपुकौं पहिचानि[४९]। सो चली आपुकौं तब छुड़ाई[५०]।

इ. आपुन—अबकैं तौ आपुन लै आयौ[५१]। बाँधन गए, बँधाए आपुन[५२]।

३. करणकारक—इस कारक मे केवल दो मुख्य रूप मिलते हैं—'अपननि कौं' और 'आपुसौं'। इनका प्रयोग भी कुछ ही पदो मे किया गया है, जैसे—

अ. अपननि कौं—बूझति नही जाइ अपननि कौं, न्हाति रही तब जौन जौन री[५३]।

आ. आपुसौं—आपु आपुसौं तब यौं कही[५४]।

४. संप्रदान कारक—इस कारक मे भी एक ही मुख्य रूप इने-गिने पदो मे प्रयुक्त हुआ है—आपकौं, जैसे—मेरौ करि काज, मीच आपकौ बुलायौ[५५]। अपनी देह आपुकौं बैरिनि[५६]।

५. अपादान कारक—'आपु तैं'-जैसा कोई रूप इस कारक मे होना चाहिए; परन्तु सूरदास ने सभवत इसका प्रयोग नही किया है।

६. संबधकारक—इस कारक मे सोलह-सत्रह रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको सुविधा के लिए तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—विभक्तिरहित या सामान्य विभक्ति-युक्त, विशेष विभक्तियुक्त और बलात्मक।

क. विभक्तिरहित या सामान्य विभक्तियुक्त रूप—अप, अपनी, अपने, अपनौ, आपन, आपनी, आपने, आपनौ, आपु, आपुन, आपुनी, आपुने और आपुनौ—ये मुख्य रूप इस वर्ग मे आते हैं। इनमे से 'अप' और 'आपन' का कुछ पदो मे और अन्य रूपो का अनेक पदो मे प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ. अप—कहियै अप जी कौ[५७]। मन ही मन अप करत प्रससा[५८]।

आ. अपनी—और कही कुछ अपनी[५९]। गृह आरति अपनी[६०]। अपनी घरनि[६१]। अपनी रुचि[६२]। रुचि अपनी अपनी[६३]।

इ. अपने—अपने अज्ञान[६४]। अपने कर[६५]। अपने विरद[६६]। मुख अपने[६७]।

ई. अपनौ—अपनौ गात्र[६८]। अपनौ प्रन[६९]। अपनौ मुख[७०]। सरबस अपनौ[७१]। अपनौ साज[७२]।

---

४९. सा. १-७०। ५०. सा. ८-१०। ५१. सा. १-१४६। ५२. सा. ८-१५। ५३. सा. १९७६। ५४. सा. ५-३। ५५. सा. २९४४। ५६. सा. १८५३। ५७. सा. २९३४। ५८. सा. ३४२९। ५९. सा. ४१२५। ६०. सा. १-२५९। ६१. सा. १-१३०। ६२. सा. १-९८। ६३. सा. १०-२४। ६४. सा. १-११४। ६५. सा. १०-४८। ६६. सा. १-१०८। ६७. सा. ५०९। ६८. सा. १-२१६। ६९. सा. ९-१५९। ७०. सा. २-२५। ७१ सा. ८-१२। ७२. सा. १-९६।

उ. आपन—आपन जिय[७३]। आपन रूप[७४]।

ऊ आपनी—आपनी करनी[७५]। घात आपन[७६]। जथामति आपनी[७७]। आपनी जीविका[७८]। पति-कानि नाहिं आपनी[७९]। आपनी पीठ[८०]। आपनी पौरी[८१]।

ऋ. आपने—कर आपने[८२]। आपने कर्म[८३]। केस आपने[८४]। आपने घर[८५]। बसन आपने[८६]। आपने भाग[८७]।

ए आपनौ—अकाज आपनौ[८८]। आपनौ कर्म[८९]। काज आपनौ[९०]। आपनौ कुलदेव[९१]। आपनौ जन्म[९२]। सुख छाँडौ आपनौ[९३]।

ऐ आपु—आपु काज[९४]। आपु छाँह[९५]। आपु दसा[९६]। आपु बाहु-बल[९७]। किये आपु मन भाए[९८]।

ओ आपुन—आपुन आयसु[९९]। आपुन कर[१]। आपुन द्वारी[२]। आपुन मन[३]। सुरपति आयौ सग आपुन सची[४]।

औ. आपुनी—आपुनी टेक[५]। भक्ति अनन्य आपुनी[६]। सौंह आपुनी[७]।

अ. आपुने—आपुने धाम[८]। आपुने सुत[९]।

अ. आपुनौ—आपुनौ कल्यान[१०]। आपुनौ दास[११]। बिरद आपुनौ[१२]।

ख. विशेष विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग मे केवल दो रूप आते हैं—अपने कौ और आपुन कौ—और इन रूपो का प्रयोग भी इने-गिने पदो मे ही हुआ हैं, जैसे—

अ अपने कौ—तजि जिय सोच तात अपने कौ[१३]।

आ. आपुन कौ—आपुन कौ उपचार करौ अति[१४]।

ग बलात्मक रूप—अपनेहि, अपनोइ और अपनौ ही—केवल ये तीन रूप इस वर्ग के हैं जिनका प्रयोग कुछ ही पदो मे किया गया है, जैसे—

---

७३. सा ९-५। ७४ सा. ५५३। ७५. सा. १-१३२। ७६. सा. ५९१। ७७ सा ४-११। ७८ सा. ४-११। ७९. सा १०-३२३। ८० सा ८-८। ८१. सा. ६७३। ८२. सा. २४४३। ८३. सा. १-११०। ८४ सा. ४-५। ८५. सा ५०९। ८६ सा. ७९२। ८७. सा २००२। ८८ सा २१०२। ८९ सा ८-१६। ९०. सा ९-१०३। ९१ सा ८५९। ९२ सा ४-११। ९३ सा ९-३५। ९४ सा २२७५। ९५. सा १०-११०। ९६ सा २३१५। ९७ सा ९-१५८ ९८ सा ३९१। ९९ सा. ९-११०। १. सा. १२१३। २. सा ४१८८। ३ सा ९४६। ४ सा. ४१८६। ५ सा १४९१। ६ सा. ३-१३। ७. सा ३४४८। ८ सा ४-११। ९. सा १०-३१४। १० सा. १-३१५। ११. सा. ५७९। १२. सा १-१७९। १३ सा. ४२११। १४ सा. ३५२९।

अ. अपनेहिं—अपनेहिं सिर[१५]।

आ. अपनोइ—अपनोइ उदर[१६]। अपनोइ पेट[१७]। अपनोइ मन[१८]।

इ. अपनौ ही—अपनौ ही प्रान[१९]।

७. अधिकरण कारक—इस कारक मे सूरदास द्वारा प्रयुक्त मुख्य पाँच रूप मिलते हैं—अप माहीं, अपने मैं, अपुन मै, आपुन ही मै और आपु मैं। इसमें केवल चौथा रूप बलात्मक है। इन सभी रूपों का प्रयोग कुछ ही पदो में मिलता है; जैसे—

अ. अप माहीं—जोगी भ्रमत जाहि लगे भूले, सो तो है अप माहीं[२०]।

आ. अपने मै—मन महतो करि कैद अपने मैं[२१]। हम वैसी ही सचु अपने मैं[२२]।

इ. अपुन मैं—कहन लगे सब अपुन मैं[२३]।

ई. आपुन ही मे—अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ[२४]।

उ. आपु मैं—पुनि सबकौ रचि अड,आपु मैं आपु समाए[२५]।

सारांश—निजवाचक सर्वनाम के विभिन्न कारको मे प्रयुक्त जो रूप ऊपर दिये गये है, सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त	बलात्मक रूप
कर्त्ता	आप, आपु, आपुन	...	आपुन ही, आपुहिं, आपुही, आपै
कर्म	आप, आपु, आपुन	आपुकौं, आपुहि	...
करण	...	आपुसौ	...
सम्प्रदान	...	आपुकौं	...
अपादान	...	...	....
सबध	अप, आपन, आपु, आपुन	अपनी, अपने, अपनौ, आपनी आपने, आपनौ, आपुनी, आपुने, आपुनौ, आपने कौ, आपुन कौ	अपनेहिं, अपनोइ, अपनौ ही, आपै, (आपुन ही मैं)
अधिकरण	....	(अप माहीं), अपने मैं, (अपुन मैं) (आपु मैं)	... .

आदरवाचक सर्वनाम—

निजवाचक सर्वनाम की तरह 'आप' या 'आपु' इसका मूल और 'आपन' या 'आपुन' विकृत रूप होता है। इस सर्वनाम का प्रयोग, एक प्रकार से 'सूर-काव्य' मे नही के बराबर हुआ है। यदि कही इसका प्रयोग मिलता भी है तो उसके आगे-पीछे

---

१५. सा १३१४। १६. सा २३६६। १७. सा. २२६७। १८. सा. २३९४। १९ सा. ४-५। २०. सा. ३९२४। २१. सा.१-१४२। २१ सा. ३५१०। २३. सा. ४३१। २४. सा. ४-१३। २५. सा. २-३६।

ग. विभक्ति समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—विभिन्न सर्वनाम-रूपी के साथ अनेक अव्यय शब्दो का विभक्ति के समान प्रयोग 'सूरसागर' मे सर्वत्र मिलता है। ऐसे प्रयोगो की सख्या बहुत अधिक है जिनमे से प्रमुख यहाँ सकलित हैं—

१. आग—(इक गाइ) अब आज तैं आप आगैं दई[५५]। तिहारे आगैं बहुत नच्यौ[५६]। मेरे आगैं खेल करौ कछु[५७]। मेरी बात गई इन आँगै[५८]। व्यथा हमारी कहे बनै तुम आगैं[५९]।

२ ऊपर—सारँगपानि राय ता ऊपर गए परीच्छित कीर[६०]। कै अधर्म तो ऊपर होत[६१]। ताके ऊपर कनक लगायौ[६२] आपु चढ्यौ ता ऊपर भायौ[६३]।

३. ओर—मेरी ओर न कछू निहारौ[६४]।

३. काज—इनही काज पराउँ[६५]। स्रम कियौ मोहिं काज[६६]।

५ कारन—तुम कारन राख्यौ बलभैया[६७]। माखन धर्यौ तिहारेहिं कारन[६८]। हौं इहाँ तेरेहि कारन आयौ[६९]।

६. ढिग—तब नारद तिनकैं ढिग आइ[७०]। जाहु उनहिं ढिग भोजन माँगन[७१]।

७. तन—जब चितवत मो तन[७२]। हम तन कृपा निहारौ[७३]। तक्यौ नहिं मो तन[७४]।

८. तर—आनद करत सबै ताहि तर[७५]। ढुलरी अरु तिलरी बँद ता तर सुभग हुमेल बिराजत[७६]। पीन पयोधर सघन उनत अति ता तर रोमावली लसी री[७७]।

९. तूले—(लोचन) निदरे रहत मोहिं नहिं मानत, कहत, कौन हम तूले[७८]।

१०. नाई —काल-कर्म-बस फिरत सकल प्रभु तेऊ हमरी नाई[७९]।

११. निमित्त—तिहिं निमित्त तिन आहुति दई[८०]।

१२ नियरैं—गनती करत ग्वाल गैयनि की, मोहिं नियरैं तुम रैहौ[८१]।

१३ पाछैं—सिवहू ताके पाछे धाए[८२]। नगन पगन ता पाछैं गयौ[८३]। इक धावत पाछैं उनही के[८४]।

---

५५ सा १-५१। ५६ सा १-१७४। ५७ सा. १-२३९।
५८ सा. १७६७। ५९. सा. ३७६५। ६०. सा. ३-१३।
६१ सा १-२९०। ६२. सा. ७-७। ६३ सा १०-७७।
६४ सा ७-२। ६५ सा ५२८। ६६. सा १४०१। ६७. सा १०-२२९।
६८. सा. ५४६। ६९. सा ४२७८। ७० सा १-२३०। ७१. सा ८००।
७२ सा १०-१०३। ७३ सा १०२०। ७४. सा १८३९। ७५. सा. ९३९।
७६. सा १४९८। ७७. सा २४४७। ७८. सा. २३७१।
७९. १-१९५। ८०. सा. ६-५। ८१. सा. ६८०।
८२. सा. १-२२६। ८३. सा. ९-२। ८४. सा ५३४।

१४. पास—मैं उबरयौ तिहिं पास[८५]। तनगि गए ता पास[८६]।
१५. पासा—कोटि दनुज मो सरि मो पासा[८७]।
१६. बिच—ता बिच बनी आड़ केसर की[८८]।
१७. बिन—नाही या बिन और उपाइ[८९]। उन बिन धीरज नही धरौं[९०]।
१८. बिना—तुमहिं बिना प्रभु कौन सहायौ[९१]। मोहिं बिना ये और न जानैं[९२],
१९. बिनु—तिहिं बिनु रहत नही[९३]। समरथ और न देखौं तुम बिनु[९४]। उन बिनु भोजन कौने काम[९५]। जेंवत नही नंद तुम्हरे बिनु[९६]।
२०. बीच—सुभग नव मेघ ता बीच चपला चमक[९७]।
२१. भीतर—तिनकैं भीतर बाग लगाए[९८]।
२२. लऐ—उनके लऐं लाज या तनु की सबै स्याम सौ हारी[९९]।
२३. लगि—दुखित जानि कैं सुत कुबेर के तिन्ह लगि अपु बँधावै[१]।
२४. लाग—उडि उडि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग[२]।
२५. लागि—धन-सुत-दारा काम न आवै, जिनहिं लागि आपुनपौ हारौ[३]।
२६. संग—कहा आनि हम संग भरमिहौ[४]।
२७. सम—मो सम कौन कुटिल-खल-कामी[५]। अम्रित ता सम नाही[६]। ता सम और जगत नहिं बियौ[७]।
२८. समसरि—मो समसरि कोउ नाहिं[८]।
२९. सरि—मो सरि कोउ न आन[९]। कोटि दनुज मो सरि मो पासा[१०]। तुमसे तुम ही ईस, नही द्वितीय कोई तुम सरि[११]।
३०. साथ—अपनैं सम जे गोप, कमल तिन साथ पठाए[१२]।
३१. सी—तो-सी नहिं कोउ निडर[१३]। और नहिं मो-सी कोऊ पिय की प्यारी[१४]। जानति और-सी बाला[१५]। औरनि-सी मोहूँ कौं जानति[१६]। बहुरि न सूर पाइहौ हम-सी बिनु दामन की चेरी[१७]। तुम-सी होइ सो तुमसौ बोलै[१८]।
३२. से—मो-से मुग्ध महापापी कौं कौन क्रोध करि तारै[१९]। तुम-से होइ वजीर[२०]।

---

८५. सा. ६०४। ८६. सा. २५६३। ८७. सा. २९२२।
८८. सा. २११४। ८९. सा. ९-५। ९०. सा. १८५४। ९१. सा. ३९१।
९२. सा. १०३२। ९३. सा. १-१४९। ९४. सा. १-१६०। ९५. सा. १-२३५।
९६. सा १०-२३७। ९७. सा. १०४०। ९८. सा. ९-८।
९९. सा. २३७४। १. सा. १-१२२। २. सा. २३१२। ३. सा. १-८०।
४. सा. ९-३४। ५. सा. १-१४८। ६. सा. १-२४१। ७. सा. ९-३
८. सा. ५८९। ९. सा. १०-३६। १० सा २९२२। ११. सा. ४२१०।
१२. सा. ५८९। १३. सा. ६९८। १४. सा १०७९। १५. सा. १४७१।
१६. सा. २७२६। १७. सा. ३१८७। १८. सा ३९०४। १९ सा. ९-७८।
२०. सा. ३८४१।

३३. सौं—मो-सौं पतित न दाग्यौ[२१]। जाके मो-सौं तात[२२]।

३४. हित—तिन्ह हित आपु बँधाए[२३]। तन-धन-जोबन ताहित खोवत[२४]। मम हित तुम लीन्हौ अवतार[२५]। रिषि तिनकैं हित गेह बनाए[२६]। सबै जोरि राखत हित तुम्हरैं[२७]। गए तासु हित बिलंब न करी[२८]।

३५. हेत—तुम्हरे हेत जमुन-जल ल्याऊँ[२९]।

३६ हेतु—हमहिं हेतु धनि भुजा बँधाए[३०]।

घ विभक्तिसयुक्त विशिष्ट संबंधकारकीय रूप—कुछ सबधकारकीय सर्वनामो को 'ऍ' के प्रयोग से ऐसा विशिष्ट रूप कवि ने दिया है कि सबधी सज्ञा शब्द की विभक्ति का लोप वह सुगमता से कर सका है। ऐसे प्रयोग 'सूर-काव्य' मे सर्वत्र मिलते हैं, जैसे—तुन उपजत उनहीं कैं पानी[३१]। वाकैं रग ढरैं री[३२]। तेरैं जिय कछु गर्व भयौ री[३३]। मेरं मन कछु और है[३४]।

विशेषण और सूर के प्रयोग—

वाक्य मे सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दो का प्रयोग जहाँ अर्थ की सामान्य पूर्ति के लिए किया जाता है, वहाँ विशेषण के प्रयोग मे प्राय एक साकेतिकता रहती है जो कभी तो विशेष्य की विशिष्टता निर्धारित करती है और कभी अभिप्रेत भाव की ओर सार्थक सकेत करती है। विशेषण शब्दो के इन दोनो उद्देश्यो मे प्रथम, अर्थात् विशिष्टता-निर्धारण का सबध व्याकरण से है और द्वितीय का कला से। प्रथम उद्देश्य इतना सामान्य है कि उसकी आवश्यकता अशिक्षित तक समझते है और प्राय सदैव उसकी पूर्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। 'काला घोडा', 'सफेद गाय', 'लाल पुस्तक', 'लंबा आदमी'-जैसे प्रयोगो मे 'काला', 'सफेद', 'लाल' और 'लंबा' विशेषण क्रमश 'घोडा', 'गाय', 'पुस्तक' और 'आदमी' के विशाल वर्ग से इनकी विशिष्टता या भिन्नता सूचित करते हैं, अर्थात्, प० कामताप्रसाद गुरु के शब्दो मे, इनकी 'व्याप्ति या विस्तार मर्यादित करते है'[३५]। परतु द्वितीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशेषण शब्दो का प्रयोग करना सबके वश की वात नही है, इसके लिए पैनी अतर्दृष्टि के साथ-साथ उपयुक्त शब्द-चयन की योग्यता भी अपेक्षित है जो सूक्ष्म निरीक्षण, गभीर अध्ययन, भावुक प्रकृति और चित्राकन प्रवृत्ति पर निर्भर है। 'खिली कली' कहना सभी को आता है, परतु 'हँसती, इठलाती या मदमाती कली' कहना सहृदय कवि के लिए ही सुरक्षित है। इस प्रकार के प्रयोग वस्तु-विशेष की व्याप्ति ही मर्यादित नही करते, प्रत्युत इनके द्वारा पाठक के हृदय

---

२१. सा १-७३। २२ सा. ३०९०। २३ सा १-७।
२४. सा २-२४। २५ सा. ७-२। २६. सा. ९-८। २७ सा ४९४।
२८ सा ४१९२। २९ सा १०-५७ ३० सा. ३८४। ३१ सा ८८६।
३२ सा. १३१९। ३३. सा. १८८८। ३४ सा. ४१८८।
३५.—'हिन्दी व्याकरण', नया संस्करण, पृ. १२४।

मे बने हुए पूर्व संस्कारों को बडी सुकुमारता से हटाकर, लेखक अपने अंतस्तल में अंकुरित भावो को हृदयगम करने की योग्यता उसे प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि उपयुक्त विशेषणो के प्रयोग से कवि, अलक्ष्य रूप से, ऐसा वातावरण बना लेता है कि आगे का वर्णन पाठक को सर्वथा न्यायसगत प्रतीत हो। निस्सदेह यह कार्य कला-कुशल के लिए ही संभव है।

व्याकरण की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्दो का अध्ययन करते समय, विशेषणो के उक्त महत्व को ध्यान मे रखकर मुख्य रूप से चार बातो पर विचार करना है—१. रूपातर, २. रूप-निर्माण, ३. वर्गीकरण और ४. प्रयोग।

१. विशेषण का रूपांतर—

सज्ञा शब्दो के समान सूरदास के विशेपण भी मुख्य रूप से आकारांत और औकारांत हैं, यद्यपि गौण रूप से 'आ', 'इ', 'उ', 'ए' और 'ऐ' से अत होनेवाले रूप भी अनेक मिल जाते हैं। ऊकारांत विशेषण-रूपो का प्रयोग सूर-काव्य मे अपवादस्वरूप ही मिलता है और वह भी विकृत रूपो मे जैसे—छल करत कछू[३६]। ओकारांत रूप सभा के 'सूरसागर' मे औकारांत बना दिये गये हैं। अनुस्वारांत रूपों की सख्या सूर-काव्य मे बहुत कम है। इस प्रकार रूपातर की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त विशेषणो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. मुख्य रूप, ख. गौण रूप और ग. अनु-स्वारात रूप।

क. मुख्य रूप—अकारांत और औकारांत, दो प्रकार के रूप इस वर्ग मे आते हैं। द्वितीय रूप ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप होने के कारण सूर-काव्य मे प्रथम से कुछ अधिक हैं; फिर भी अकारांत रूपो की सख्या कम नही कही जा सकती। कुछ अकारांत रूप अवधी की प्रकृति के अनुरूप भी है।

अ अकारांत विशेषण—पट कुचैल[३७]। ऊँच पदवी[३८]। थूल (स्थूल) सरीर[३९]। तन दूबर तन छनभंगुर, जीव थिर[४०]। गुरु समरथ[४१]। सुर-असुर मथत भए छीन[४२]। नगन नहिं होवहु[४३]। बड़ कुल[४४]। हौं कुचील[४५]। तोतर बोल[४६]। बलभद्र धूत[४७]। नद के सुत नान्ह[४८]। अकथ कहानी[४९]। पीन कुचनि[५०]। विधु की छवि गोर[५१]। रसाल बानी[५२]। वेसरि-मुक्ता रूर[५३]। विरह-विथा घोर[५४] आदि।

आ. औकारांत विशेषण—औगुन भरि लियौ भारौ[५५]। नीर जु छिलछिलौ[५६]।

---

३६. सा. ७-२। ३७. सा. १-७। ३८. सा. १-२४।
३९. सा. ५-३। ४०. सा. ५-४। ४१. सा. ६-६।
४२. सा. ८-८। ४३. सा. ९-२। ४४. सा. ९-४४।
४५. सा. ९-९१। ४६. सा. १०-१००। ४७. सा. १०-२१५। ४८. सा. ६१०।
४९. सा. ८१८। ५०. सा. २१७४। ५१. सा. २४६७। ५२. सा. २६०८।
५३. सा. २६६८। ५४. सा. ३२१४। ५५. सा. १-२१८। ५६. सा. १-३३८।

चित तौ सोई सॉचौ[५७]। जो हरि भजै पियारौ सोई[५८]। ह्वै रह्यौ खीनौ[५९]। नीकौ मत्र[६०]। बड़ौ नगर[६१]। करुवौ वचन[६२]। बदन उजारौ[६३]। कान्ह बड़ेरौ[६४]। अंग कारौ[६५]। सबध पाछिलौ[६६]। उपकार परायौ ''सयानौ काज[६७]। तब ससि सीरौ, अब तातौ[६८]। जोग जल खारौ ''' हल भारौ'''अहि कारौ[६९]। सरबस हरत परायौ[७०]। बोझ पृथी कौ हरुऔ[७१] आदि।

ख गौण रूप—इस वर्ग मे शेष स्वरो मे से आ, इ, ई, उ, ए और ऐ से अत होनेवाले रूप आते हैं। इकारांत और उकारांत रूप स्त्रीलिंग विशेष्यो के साथ अधिक प्रयुक्त हुए हैं, पुल्लिग के साथ कम। एकारांत रूप बहुवचन अथवा विभक्तियुक्त विशेष्यो के साथ अधिक आये हैं, सामान्य विशेष्यो के साथ कम। ऐकारांत रूप अधिकाश मे अकारांत विशेषणो के ही रूपातर है। इन सबके कुछ उदाहरण यहाँ सकलित हैं—

अ आकारांत विशेषण—कस महा खल[७२]। मधुपुरि नगर रसाला[७३]। इनके गुन अगमैया[७४]। घूंट साता[७५]। नैन बिसाला[७६]। मेटैं विघन घना[७७]। उत स्यामा नवजौवना[७८]।

आ. इकारांत विशेषण—पुल्लिग विशेष्यो के साथ इनका प्रयोग कम, परतु स्त्रीलिंग के साथ अधिक किया गया है, जैसे—

क्ष. पुल्लिग विशेष्यों के साथ—जानसिरोमनि राय[७९]। महर है बड़भागि[८०]।

त्र. स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ—नागरि नारि[८१]। परदेसिन नारि[८२]। हौं सीता कुलच्छनि[८३]। बड़भागिनि नदरानी[८४]। हितकारिनि मैया[८५]। महरि बड़ीअभागि[८६]। लखति सोभा भारि[८७]। वह (मुरली) धूतिनि[८८]।

इ ईकारांत विशेषण—इनका प्रयोग भी पुल्लिग और स्त्रीलिंग, दोनो विशेष्यो

---

५७. सा. २-७। ५८. सा. ७-२। ५९. सा. ८-१०। ६० सा ९-९८। ६१. सा. ९-९९। ६२. सा ९-१०४। ६३. सा. १०-४। ६४. सा १-२१६। ६५ सा. ५७७। ६६. सा १२७२। ६७ सा. ३३४१। ६८ सा ३७३७। ६९ सा ३७४२। ७० सा ३७५६। ७१ सा ४३०९। ७२ सा १-१७। ७३ सा १०-४। ७४ सा. ४२८। ७५ सा. ४४०। ७६. सा ६२५। ७७ सा ३००८। ७८ सा २८६७। ७९. सा १-८। ८० सा ३८७। ८१ सा १-३०९। ७२ सा ९-९४। ८३ सा. ९-९१। ८४ सा. १०-५३। ८५. सा. १०-११६। ८६. सा. ३८७। ८७. सा. ८२९। ८८. सा. १२८९।

के साथ हुआ है। प्रथम अर्थात् पुल्लिग विशेष्यों के साथ ईकारात विशेषणों का प्रयोग करते समय कवि ने यद्यपि किसी प्रकार से सकोच नही किया, तथापि स्त्रीलिग की अपेक्षा इनके पुल्लिग विशेष्यो की सख्या कम ही है; जैसे—

क्ष. पुल्लिग विशेष्यों के साथ—जनहित हरि बहुरगी[८९]। कियौ विभीषन राजा भारी[९०]। दोउ बैल बली[९१]। भौंरा भोगी[९२]। सुर अति छमी, असुर अति कोही[९३]। बालि बली[९४]। यह रूप नवाई[९५]। कृष्न बिनानी[९६]। नीर सुची[९७]। नैना ऐसे है बिसवासी[९८]।

त्र स्त्रीलिग विशेष्यो के साथ—मति काँची[९९]। समर आँच ताती[१]। टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी[२]। नई रुचि नई पहिचानि[३]। सृष्टि तामसी[४]। दृष्टि तरौंधी[५]। नीकी तान[६]। जसुमति बड़भागिनी[७]। मधुरी बानी[८]। मति खोटी[९]। आछी उजियरिया[१०]। ग्वालि सयानी[११]। ग्वालि गरबीली[१२]। निरदई अहीरी[१३]। निरमोही वाम[१४]। नासा अति लोनी[१५]। सुमनसा भई पाँगुरी[१६]। पीर परारी[१७] आदि। परतु स्त्रीलिंग विशेष्यो के साथ केवल इकारांत अथवा ईकारांत विशेषण ही प्रयुक्त हुए हो, सो बात भी नही है। अकारांत और औकारांत—इन दो मुख्य विशेषण रूपो मे से द्वितीय का प्रयोग तो स्त्रीलिग विशेष्यो के साथ नही के बराबर ही हुआ है, परनु सरल अकारात रूप अनेक पदो मे मिलते हैं, जैसे—सुंदर नारी[१८]। कल बानी[१९]। कृपावंत कौसिल्या[२०]। ऊँचनीच जुवती[२१]। नवल सुदरी आई[२२]। रसिक ग्वालिनी[२३] आदि।

ई. उकारांत विशेषण—दुख-सिघु अथाहु[२४]। कटु बानी[२५]। लघु प्रानी[२६]।

उ. एकारांत विशेषण—इस वर्ग के विशेषण प्राय. तीन रूपो मे प्रयुक्त हुए हैं—क. एकवचन आदरार्थ रूप। ख बहुवचन सामान्य रूप। ग. विभक्तियुक्त विशेष्यों के साथ प्रयुक्त रूप, यद्यपि कही-कही एकवचन सामान्य विशेष्यो के

---

८९. सा. १-२१। ९०. स. १-३४। ९१. सा. १-१८५। ९२ सा. १-३२५। ९३ सा. ३-९। ९४. सा. ९-११४। ९५. सा. ७-२। ९६. सा. १०-५७। ९७ सा. ५६१। ९८. सा. २२७५। ९९. सा. १-१८१।
१. सा. १-३३। २ सा. १-३०१। ३. सा. १-३२५। ४. सा ३-७। ५. सा. ९-७९। ६. सा. १०-९६। ७. सा. १०-११२। ८. सा. १०-१३४। ९. सा १०-१६३। १०. सा १०-२४६। ११. सा १०-२८१। १२. सा. १०-२९९। १३ सा. ३४८। १४. सा. ३६७। १५. सा. १११८। १६. सा. १८२१। १७. सा. २३४५। १८. सा. ३-१३। १९ सा. ९-६३। २०. सा. ९-८१। २१. सा. १०-८६। २२. सा. १०-२०६। २३. सा. १०-३२१। २४. सा. ९-३४। २५. सा. १०-२९५। २६. सा. ८५१।

साथ भी इनका प्रयोग मिलता है; जैसे—बौरे मन रहन अटल करि जान्यो[२७]। झूठे भरम भुलानो[२८]। कोरे कापरा[२९]।]

क्ष. एकवचन आदरार्थ रूप—बड़े भूप दरसन[३०]। गोरे नंद[३१]।

त्र. बहुवचन सामान्य रूप—भिलिलनि के फल ‥ खाटे-मीठे-खारे[३२]। खाटे फल तजि मीठे ल्याई, जूँठे भए[३३]। कौतुक भारे[३४]। मधुरे बैन[३५]। बचन तोतरे[३६]। झँडूले बार[३७]। दांत ये आछे[३८]। व्यंजन खाटे-मीठे-खारे[३९]। उनींदे नैन[४०]। ये नैन भए गरबीले[४१]। (नैना) भए पराए[४२]। भए अग सिथिले[४३]। अटपटे बैन पिय रसमसे नैन[४४] आदि।

ज्ञ. विभक्तियुक्त विशेष्यों के साथ प्रयुक्त रूप—मीठे फल कौ रस[४५]। गाढ़े दिन के मीत[४६]। नर बपुरे की[४७]। झूठे नाते जगत के[४८]। बड़े बाप के पूत[४९]।

ऊ ऐकारांत विशेषण—ध्रुवहि अभै पद दियौ[५०]। अनद अतिसै[५१]।

ग. अनुस्वारांत रूप—इस प्रकार के रूपो की सख्या अधिक नही है। अपवाद-स्वरूप प्राप्त कुछ विशेषण शब्द यहाँ दिये जाते हैं—

अ. ऑकारांत विशेषण—भौहैं काट-कटीलियों[५२]। या ब्रज के सब लोग चिकनियाँ[५३]।

आ. ऍकारांत विशेषण—बाएँ कर बाजि-बाग[५४]।

इ. ऐंकारांत विशेषण—नैन लजौहैं[५५]।

२. विशेषण का रूप-निर्माण—

व्रजभाषा मे प्रचलित अनेक विशेषण शब्द सस्कृत भाषा के सरल विशेषणो के आधार पर बने उनके अर्द्धतत्सम और तद्भव रूप हैं। अन्य कवियो के समान सूरदास ने भी इनको अपनाने मे कभी सकोच नही किया। साथ ही, कुछ स्वतत्र रूपो का निर्माण करके उन्होने अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया। इस प्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्दो को, स्थूल रूप से, छह वर्गों मे रखा जा सकता है—क. सज्ञामूलक, ख.

२७. सा. १-३१९। २८ सा. १-३२९। २९ सा. १०-४०। ३०. सा ९-४४। ३१. सा. १०-२१५। ३२ सा. १-२५। ३३. सा. ९-६७। ३४. सा १०-४६। ३५. सा. १०-१०३। ३६. सा १०-११७। ३७. सा. १०-१५१। ३८ सा १०-२२२। ३९. सा. १०-२९६। ४०. सा. ७५२। ४१. सा. २२३५। ४२ सा. २३९०। ४३. सा. ३१८१। ४४. सा ३६३४। ४५. सा १-२। ४६ सा. १-३१। ४७ सा १-३९। ४८ सा. २-२९। ४९. सा. १०-३१९। ५० सा. १-२८। ५१. सा. १०-२६। ५२ सा. १६६४। ५३. सा. १६६४। ५४. सा १-२३। ५५ सा. १९९४।

विशेषणमूलक, ग. कृदंतमूलक, विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पद, ङ. स्वनिर्मित विशेषण और च. अन्य विशेषण। इनके अतिरिक्त सर्वनाममूलक विशेषण भी होते हैं जिनकी चर्चा 'वर्गीकरण' शीर्षक के अतर्गत की जायगी। यहाँ उनका विवरण इसलिए अनावश्यक है कि वे तो मूलरूप मे ही विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं जिससे उनके रूप-निर्माण का प्रश्न ही नही उठता।

क. संज्ञामूलक विशेषण—इस वर्ग के विशेषणो के निर्माण में सूरदास ने अधिकतर सस्कृत नियमो का सहारा लिया है। प्रमुख नियम और उनके दो-एक उदाहरण इस प्रकार हैं।

अ. संज्ञा शब्द के अंत मे 'आल' या 'आलु' जोड़कर—कृपालु प्रभु[५६]। हँसे दयालु मुरारी[५७]।

आ. सज्ञा शब्द के अत मे 'आरी' (स्त्रीलिंग) जोड़कर—सुर भए सुखारी[५८]।

इ. संज्ञा शब्द के अत मे 'इत' जोडकर—कुसुमित धर्म-कर्म को मारग[५९]। दुखित गयद[६०]।

ई. सज्ञा शब्द के अत मे 'ई' जोड़कर—इस प्रकार के रूपो की संख्या बहुत अधिक है, जैसे हठी प्रहलाद[६१]। छरीदार वैराग बिनोदी[६२]। अजामिल बिपयी[६३]। विषय जाप कौ जापी[६४]। कटुक वचन आलापी[६५]। सब पतितनि मैं नामी[६६]। मानुषी तन[६७]। ये हैं अपने काजी[६८]।

उ. संज्ञा शब्दो के अत मे 'औहीं' स्त्रीलिंग जोडकर—बतियाँ तुतरौहीं[६९]।

ऊ. सज्ञा शब्द के अत मे 'औहैं' (पुल्लिग, बहु०) जोड़कर—नैन लजौहैं[७०]।

ए. सज्ञा शब्द के अत मे 'क' जोड़कर—उर मंडल निरमोलक हार[७१]। घातक रीति[७२]।

ऐ. सज्ञा शब्द के अत मे 'द' जोडकर—बसीबट अति सुखद[७३]। सुखद धाम[७४]।

ओ. सज्ञा शब्द के अंत मे 'र' जोडकर—मधुर मूर्ति[७५]। रुचिर सेज[७६]।

इन मुख्य नियमो के अतिरिक्त भी सूरदास द्वारा सज्ञामूलक विशेषणो के रूप-निर्माण के कुछ सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं, जैसे—संज्ञा के पूर्व 'स' और अत मे 'ऐ'— तुम हौ परम सभागे[७७]—जोडकर विशेषण-रूप बनाना।

---

५६. सा. ९-६५। सा ५७. ७९९। ५८. सा. ७-२। ५९. सा. १-९३। ६०. सा. १-१५८। ६१. सा. १-५। ६२. सा. १-४०। ६३. सा. १-१०४। ६४. सा. १-१४०। ६५. सा. १-१४०। ६६. सा. १-१४८। ६७. सा. १-३१५। ६८. सा. २२५७। ६९. सा. १०-२९४। ७०. सा. १०-२९४। ७१. सा. १-४१। ७२. सा. १-९८। ७३. सा. ४३७। ७४. सा. ६१९। ७५. सा. ९-८२। ७६. सा. १०-७३। ७७. सा. १०-४।

ख विशेषणमूलक विशेषण—इस वर्ग के अतर्गत वे विशेषण आते हैं जिनका निर्माण विशेषण शब्दो के अत मे कोई अक्षर जोड कर किया गया है, इस प्रकार के शब्दो की सख्या सूर-काव्य मे अधिक नही है, जैसे—

अ 'स्याम' विशेषण मे 'ल' जोडकर—स्यामल तन[७८] । स्यामल अग[७९] ।

आ. 'रौ' जोडकर— स्यामरौ सुदर कान्ह[८०] ।

इ. 'नन्हा' विशेषण के विकृत रूप मे 'ऐया' जोडकर— दोऊ रहे नन्हैया[८१] ।

ग कृदतमूलक विशेषण— इस वर्ग के विशेषण मुख्य रूप से दो प्रकार से बनाये गये हैं—क्ष. धातु से और त्र. क्रियार्थक सज्ञा से। दोनो प्रकार के विशेषण-रूपो का प्रयोग कम ही किया गया है।

क. धातु से बने विशेषण—इस वर्ग मे वे विशेषण आते हैं जो धातु के अन्त मे मुख्यत निम्नलिखित अक्षरो या पदो को जोड कर बनाये गये हैं—

अ धातु+क—हरि प्रेम-प्रीति के लाहक, सत्य प्रीति के चाहक[८२] । दाहक गुन[८३] ।

आ. धातु+नि (स्त्रीलिंग)—मोहनि मूरत[८४] ।

इ धातु+नी– अति मोहिनी रूप[८५] । मूरति दुख-भय-हरनी[८६] ।

ई. धातु+वारे—बहु जोधा रखवारे[८७] ।

ख क्रियार्थक सज्ञा से बने विशेषण—ऐसे रूप प्राय 'नांत' रूपवाले क्रियार्थक सज्ञा शब्दो के अत मे निम्नलिखित जोड कर बनाये गये है—

अ. क्रियार्थक सज्ञा+हार—खेवनहार न खेवट मेरैं[८८] । करनहार करतार[८९] । राखनहार अहै कोउ औरै[९०] । को है मेटनहार[९१] ।

आ क्रियार्थक संज्ञा+हारि (स्त्रीलिंग)—मथनहारि सब ग्वारि वुलाई[९२]। बदरौला विलोवनहारि .[९३] ।

इ. क्रियार्थक संज्ञा+हारु—गोपनि कौ सागरु. . कान्ह विलोवनहारु[९४] ।

ई क्रियार्थक संज्ञा+हारे—अति कुवुद्धि मन हावनहारे[९५] ।

घ. विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पद—इस वर्ग मे आनेवाले विशेषण-रूपो की सख्या सूर-काव्य मे इतनी अधिक है कि उन सवके नियम वनाना आनावश्यक ही होगा । अतएव दो-चार प्रमुख नियम देकर शेप मे से कुछ चुने हुए उदाहरण देना ही

---

७८. सा १०-२७५ । ७९ सा. ६३३ । ८० सा ६२९ । ८१ सा ५१३ ।
८२. सा. १-१९ । ८३. सा १-१६३ । ८४ सा १०-२१० । ८५. सा १०-५१ ।
८६. सा. ९-१०१ । ८७. सा. ९-१०५ । ८८ सा. १-१८४ । ८९. सा. १-२६१ ।
९०. सा. ७-३ । ९१. सा ९-१२१ । ९२ सा. ५२० ।
९३. सा ८४१ । ९४. सा. ८४१ । ९५. सा. १-१५५ ।

पर्याप्त होगा। ऐसे शब्द मुख्य रूप से संज्ञा-शब्दों के अत मे दूसरे पद जोड़कर बनाये गये हैं।

अ. संज्ञा+'कारि' या 'कारी'—अनुचर आज्ञाकारी[९६]। मेखला रुचिकारि[९७]।

आ. संज्ञा+दाई—सत्रु होई दुखदाई[९८]। तुम सुखदाई[९९]। प्रीति बस जमलतरु मोच्छदाई[१]।

इ. संज्ञा+दात—पर-दारा दुखदात[२]।

ई. संज्ञा+दाता—हरीचंद सो को जगदाता[३]। करम होइ दुखदाता[४]। तुम्हीं कौं दँडदाता मानत[५]।

उ. संज्ञा+दातार—कहियत इतने दुखदातार[६]।

ऊ. संज्ञा+दायक—द्वितिया दुखदायक नहिं कोइ[७]। जे पद ब्रज-जुवतिनि सुखदायक[८]।

ऋ संज्ञा+मय—स्वामी करुनामय[९]। कनकमय आँगन[१०]। मनिमय कनक अवास[११]। करौं रुधिरमय पक[१२]।

ए. संज्ञा+मयी (स्त्रीलिंग)—करुनामयी मातु[१३]।

ऐ. संज्ञा+वंत— प्रभु कृपावंत[१४]। वेनु नृप भयो बलवंत[१५] क्रोधवंत ऋषि[१६] तृषावंत सुरभी-बालकगन[१७]।

ओ. संज्ञा+वती—गर्भवती हिरनी[१८]।

औ. संज्ञा+हीन—पाडुबघू पटहीन[१९]। फिरत-फिरत बलहीन भयो[२०]।

अ. संज्ञा+धातु+क—हरि साँचे प्रीति-निवाहक[२१]। जीव साधु-निंदक[२२]। हरि सुर-पालक असुरन-उर-सालक[२३]।

अ.. अन्य रूप—विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पदो के जैसे उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, वैसे ही कुछ अन्य प्रयोग यहाँ और सकलित किये जाते है। इनके नियम देने की आवश्यकता नही जान पडती, जैसे—ऐसे प्रभु पर पीरक[२४]। जीव लंपट[२५]। रावन कुलखोवन[२६]। रनजीत पवनसुत[२७]। बिपति-ऋटावन

---

९६. सा १-१६३। ९७. सा. ६३४। ९८. सा. १-२९०। ९९. सा. ९-७। १ सा. २०१८। २. सा. २-२४। ३. सा. १-२६४। ४. सा. १-२९०। ५. सा. ६-४। ६. सा. १-२९०। ७. सा. १-२९०। ८. सा. ५६८। ९. सा. १-२६२। १०. सा. ९-१९। ११. सा. ९-८२। १२. सा. ९-१३४। १३. सा. ४-१०। १४. सा. १-१७८। १५. सा. ४-११। १६. सा. ९-१४। १७. सा. ५०१। १८. सा. ५-३। १९. सा. १-१५८। २०. सा. ९-६। २१. सा. १-१९। २२. सा. १-१२४। २३. सा. ३६३। २४. सा. १-११२। २५. सा. १-१२४। २६. सा ९-८८। २७. सा. ९-११५।

बीर[28]। रतनजटित पहुँची[29]। कामातुर नारी[30]।

ङ स्वनिर्मित विशेषण—इस वर्ग मे सूरदास के वे विशेषण आते हैं जिनका निर्माण सभवत कवि ने ही किया है। इनकी मुख्य विशेषता स्पष्टता है जिसके कारण ऐसे प्रयोगो के मूल रूप का पता तो सुगमता से चल ही जाता है, इससे वे इतने अलग भी नही जान पडते कि अर्थ-बोध के लिए पूरे वाक्य या प्रसग के जानने की आवश्यकता हो। अतएव ऐसे विशेषण प्रचलित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'दिन', 'दूज', 'विष और 'निर्मोल' से बने निम्नलिखित प्रयोग प्रस्तुत किये जा सकते हैं—भली बुद्धि तेरैं जिय उपजी। ज्यौं ज्यौं दिनी भई त्यौं निपजी[31]। द्वैज ससि[32]। मुख बिषारौ[33]। तातै तू निरमोली री[34]।

च. अन्य विशेषण—इस वर्ग मे वे शब्द आते हैं जिनका प्रयोग तो विशेषण के समान ही किया गया है, परतु जिनके निर्माण मे उक्त शीर्षको के अतर्गत दिये गये नियमो का स्पष्ट रूप से सहारा नही लिया गया है, यद्यपि प्रयत्न करने पर इनके स्वतत्र नियम बनाये अवश्य जा सकते हैं। इनमे से कुछ प्रयोग गढ़े गये हैं और कुछ विकृत किये गये हैं। ऐसे विशेषणो को कवि के 'विशेष प्रयोग' कहा जा सकता है; जैसे—हम ग्वालनि जुठहारे[35]। सुन्दर मुरली अधर उपाम[36]। राधा हरि कैं गर्व गहीली[37]। अग अग सुख-पुज भरीली[38]। सौतिनि भाग-सुहाग डहीली[39]। स्याम-रग अजराइल रैहै[40]। वा छवियै मैं भई लिना[41]। झुरि झुरि कै ह्वै रही छिना[42]। बडी पेट की गैसी हौ[43]। निसि भई अगौहूँ[44]। सूर निकामी[45]। लूटत रूप अखूट दाम कौ[46]। गति लगी[47]। लोचन अतिहिं अहीठ[48]। रूप झकाझक झूरि[49]। तुम निठुरई पूसे हौ[50]। करत उपरफट बातैं[51]।

३. विशेषण का वर्गीकरण—

विशेषणो के मुख्य तीन भेद किये जा सकते हैं—१ सार्वनामिक, २. गुणवाचक, और ३ सख्यावाचक। सूरदास ने इनमे से प्रथम का प्रयोग तो कम किया है, शेष दोनो रूपो के अन्तर्गत आनेवाले विशेषणो की सख्या बहुत अधिक है।

क सार्वनामिक विशेषण—विभिन्न सर्वनाम-भेदो मे जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, कभी-कभी उनका प्रयोग विशेषणो के समान भी किया जाता है। 'सार्वनामिक विशेषण' शीर्षक के अतर्गत ऐसे ही प्रयोग आते है। सूर-काव्य मे भी अनेक सर्वनाम-शब्द विशेषणवत् प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

---

२८. सा ९-१४५ । २९ सा ६४१ । ३०. सा. ७९९ ।
३१ सा. ३९१ । ३२. सा १०-१३९ । ३३. सा ५७७ । ३४. सा. २५८८ ।
३५. सा १-२४२ । ३६. सा १८२५ । ३७. सा. १७७२ । ३८. सा. १७७२ ।
३९. सा. १७७२ । ४०. सा १९१२ । ४१. सा. १९१५ । ४२. सा. १९१५ ।
४३ सा. १६६१ । ४४ सा। १९६३ । ४५ सा. २२५२ । ४६ सा. २२६६ ।
४७. सा. १-२१ । ४८. स. २२८७ । ४९. स. २६६८ । ५० सा २६९१ ।
५१. सा. ६५१ ।

अ. पुरुषवाचक रूप—सो कथा[५२]। तिहिं ग्वालिनि के घेर[५३]। वह सुख[५४]।

आ. संबंधवाचक रूप—जा चरनाविंद[५५]। जिते जन[५६]। जिहिं सर[५७]। जेतक अस्त्र[५८]। जेतिक सैल-सुमेरु[५९]। बोल जितिक[६०]। जे पद[६१]। जिती कृपा[६२]।

इ. नित्यसंबंधी रूप—जिहि सर''' सो सर[६३]। ता वन''''जा वन[६४]। सोई रसना जो हरि गुन गावै[६५]। कर तेई जे स्यामहिं सेवैं[६६]। जिहि तन .सो तन[६७]। जे पद · ते पद[६८]।

ई. निश्चयवाचक : निकटवर्ती रूप—या व्रज के[६९]। एहि थर[७०]। ये बालक[७१]। यह सताप[७२]। इन लोगनि[७३]। इहि लोक[७४]। गुन एह[७५]। इस ठौर[७६]।

उ. निश्चयवाचक : दूरवर्ती रूप—वा निधि[७७]।

ऊ. अनिश्चयवाचक रूप—यह गति काहू देव न पाई[७८]। आन पुरुष''आन देव[७९]। उपमा अपर[८०]। औरौ सखा[८१]। काहू सुत[८२]। और जुवति सब आई[८३]। असुर विते सहरे[८४]। केती माँग करौ किन कोई[८५]।

ए. प्रश्नवाचक रूप—कौन कारज सरै[८६]। पढ़े कहा विद्या[८७]। कौन पुरुष[८८]। कवन मति[८९]। केतिक अमृत[९०]।

उक्त प्रमुख रूपो के अतिरिक्त कही-कही दो-दो सार्वनामिक रूपो का प्रयोग भी कवि ने किया है; जैसे—प्रश्नवाचक और निश्चयवाचक : निकटवर्ती का साथ-साथ प्रयोग—कौन यह काम[९१]।

२. गुणवाचक विशेषण—सूर-काव्य में प्रयुक्त गुणवाचक विशेषणो की संख्या सबसे अधिक है। इनके मुख्य भेद और उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

अ कालवाचक—पछिले कर्म[९२]। तन छनभंगुर[९३]। पुरातन दास[९४]।

---

५२. सा. ७-७ । ५३ सा १०-२६५ । ५४. सा. ९-३४ ।
५६. सा १०-६४ । ५६. सा. १-२५ । ५७. सा. १-३३७ । ५८. सा. ६-६ ।
५९. सा. ९-१०७ । ६०. सा ९-१०७ । ६१ सा. ५६८ । ६२. सा. ५७० ।
६३. सा. १-३३७ । ६४. सा १-३४० । ६५ सा २-६ । ६६. सा. २-७ ।
६७. सा २-१६ । ६८ सा. ५६८ । ६९ सा. १६६४ । ७०. सा. १-६-।
७१ सा १-२८९ । ७२ सा. १-२९० । ७३. सा. २-१३ । ७४. सा. ७-२
७५. सा. ७-२ । ७६. सा ८-१० । ७७. सा २-११ । ७८. सा. १-३ ।
७९ सा २-९ । ८० सा १०-१०२ । ८१. सा. १०-२९६ । ८२ सा. ३६३ ।
८३. सा. ३९१ । ८४. सा ७-२ । ८५. सा. ९०८ । ८६. सा. ४-११ ।
८७. सा. ७-२ । ८८. सा. ९-२ । ८९. सा. ९-११७ । ९०. सा. ७-७ ।
९१. सा. ८-१० । ९२. सा. १-६१ । ९३. सा. १-८४ । ९४. सा. १-१३३ ।

पूरबली पहिचान[९५] । अटल पदवी[९६] । आगिलौ जन्म[९७] । नयौ नेह[९८] । आदि जोतिषी[९९] । पहिले दाग[१] ।

आ. स्थानवाचक—बंजर भूमि[२] । भुज दछिन[३] । बाम कर[४] । परली दिसि[५] ।

इ आकारवाचक—बड़ी है राम-नाम की ओट[६] । टूटी छानि[७] । बाहु बिसाल[८] । छीन तन[९] । थूल सरीर[१०] । तन स्थूल अरु दूबर[११] । मनोहर बाना[१२] । बड़े नग-हीर[१३] । अगम सरीर[१४] । पूरन ससि[१५] ।

ई. रंगसूचक—नील खुर अरु अरुन लोचन सेत सीग सुहाइ[१६] । राती चूनरी, सेत उपरना . कटि लहँगा नीलौ[१७] । सेत, हरौ, रातौ अरु पियरौ रग[१८] । पीत पटोलै[१९] । स्याम चिकुर[२०] । कारी कामरि[२१] । हस उज्जल[२२] । नैन अरुन[२३] । लाल पनहियाँ[२४] । गौर बदन[२५] । स्वेत छत्र[२६] । हरी डार[२७] । सॉवरी ललना[२८] । पियरी पिछौरी[२९] । नैन अति रतनारे[३०] । काजरी धौरी गैयनि[३१] । पीरे पान[३२] । कजरी, धौरी, सेंदुरी, धूमरि मेरी गैया[३३] ।

उ दशा या स्थितिसूचक—अंध कूप[३४] । पसू अचेत[३५] । पूरी ब्यौपारी[३६] । रंक सुदामा कियौ[३७] अजाची । हृदय कुचील[३८] । बीर निर्बीर[३९] । मिरतक कच[४०] ।

ऊ गुणसूचक—सुभाव सीतल[४१] । समरथ जदुराई[४२] । बचन रसाल[४३] । सत सुजान[४४] । गद्गद स्वर[४५] । सुख सियरै[४६] । रतन अमोलक[४७] । खजन मनरंजन[४८] । सुर अति छमी[४९] । सुगम उपाय[५०] ।

---

९५. सा. १-१३५ । ९६ सा १-२३५ । ९७ सा १-२९७ । ९८ सा २-१७ ।
९९ सा १०-८६ । १ सा ६५८ । २ सा १-१८५ । ३ सा ४-११ ।
४. सा ८-८ । ५ सा ९-१०४ । ६ सा १-२३२ । ७ सा १-२३९ ।
८. सा १-२७३ । ९. सा. १-३२० । १० सा ५-३ ।
११. सा ५-४ । १२ सा ६-६ । १३ सा ९-१६ ।
१४ सा ९-८६ । १५ सा.९-१६६ । १६ सा १ ५६ । १७ सा १.४४ ।
१८ सा १-६३ । १९ सा १-२५६ । २०. सा.१ ३२२ । २१ सा १-३३२ ।
२२ सा.१-३३८ । २३ सा ७-४ । २४ सा ९-१९ । २५ सा ९-४४ ।
२६ सा ९-८२ । २७ सा ९-१६२ । २८ सा १०-५४ । २९ सा १०-१५१ ।
३० सा.१०-१६० । ३१. सा १०-१७७ । ३२ सा ५१४ । ३३. सा ६६६ ।
३४ सा.१-८४ । ३५. सा १-१२५ । ३६ सा ९-१४६ । ३७ सा १-१६४ ।
३८ सा १-२१६ । ३९ सा १-२६९ । ४० सा ९ १७३ । ४१ सा १-११७ ।
४२. सा १-१७५ । ४३ सा.१-२२६ । ४४. सा १-२३५ । ४५ सा १-२५५ ।
४६. सा १-३०२ । ४७ सा.१-३२४ । ४८. सा १-३३९ । ४९ सा. ३-९ ।
५०. सा. ३-१३ ।

ए. अवगुणसूचक—(गाय) ढीठ, निठुर[५१]। मन मूरख[५२]। उन्नटि चाल[५३]। सस्तौ नाम[५४]। दुख तातौ[५५]। सृष्टि तामसी[५६]। असुर अति कोही[५७]। असुन अजितेंद्रि[५८]। कटु बचन[५९]। सरितापति खारौ[६०]। करुवौ वचन[६१]।

ऐ. अवस्थासूचक—वृद्ध रिषीस्वर[६२]। विरध पुरुष[६३]। नान्हरिया गोपाल[६४]।

३. संख्यावाचक विशेषण—इस वर्ग के विशेषणो की सख्या सूर-काव्य मे सार्वनामिको से कम, परन्तु गुणवाचको से अधिक है। सुविधा के लिए संख्यावाचक विशेषणों के तीन भेद किये जा सकते है—क. निश्चित सख्यावचक, ख. अनिश्चित सख्यावाचक और ग. परिमाणबोधक।

क. निश्चित संख्यावाचक विशेषण—सख्यावाचक विशेषणो के तीनो भेदो मे निश्चित सख्यावाचको की सख्या सबसे अधिक है। सुविधा के लिए इनके पांच भेद किये जा सकते हैं—अ. गणनावाचक, आ क्रमवाचक, इ. आवृत्तिवाचक, ई. समुदायवाचक और उ. प्रत्येकबोधक।

अ. गणनावाचक—इस वर्ग के विशेषणो के पुन दो भेद हो सकते हैं—क्ष. पूर्णांकबोधक और त्र. अपूर्णांकबोधक।

क्ष. पूर्णांकबोधक—इक गाइ[६५]। एक मुहुरति[६६]। उभय भुज[६७]। दोउ सुत[६८]। दोऊ सुत[६९]। द्वै रग[७०]। दोइ मुहूरति[७१]। नैना दोई[७२]। नान्ही नान्ही दँतुली द्वै पर[७३]। सग सहचरि बिये[७४]। बिबि चंद्रमा[७५]। जुगल खंजन[७६]। तीनि पैंड[७७]। लोक त्रय[७८]। दिवस चारि[७९]। सुत चारि[८०]। पाडव पाँच[८१]। षट मास[८२]। सात पीढिनि कौ[८३]। रिषय सप्त[८४]। अष्ट सिद्धि नव निधि[८५]। दस दिसि[८६]। द्वादस कन्या[८७]। भुवन चौदह[८८]। कहा पुरान जु पढे अठारह[८९]। वीस भुजा[९०]। कुल इक्कीस[९१]। इक्कइस बार[९२]। सुर तैंतीस[९३]। पचास पुत्री[९४]। चउवन कोस[९५]। साठि

---

५१. सा.१-५६। ५२. सा.१-७६। ५३. सा.१-१२७।
५४. सा.१-१९१। ५५ सा.१-३०२। ५६. सा ३-७। ५७. सा.३-९।
५८. सा.८-१०। ५९. सा.९-२। ६०. सा.९-३६। ६१ सा ९-१०४।
६२. सा.९-३। ६३. सा.९-८। ६४. सा.१०-७५।
६५. सा. १-५१। ६६. सा. १-३४३। ६७. सा १०-१६१। ६८. सा. १-२६।
६९. सा १०-१५७। ७०. सा. १-७०। ७१. सा. १-३४३। ७२. सा. २३४५।
७३. सा. १०-९२। ७४. सा २६१४। ७५. सा. १०-१४१। ७६ सा १०-२२५।
७७. सा. ८-१३। ७८. सा. ४८७। ७९ सा. १-७५। ८०. सा. १०-१९८।
८१. सा. १-२४। ८२. सा. १०-८८। ८३. सा १-१३४। ८४. सा. ३-८।
८५. सा. २-१८। ८६. सा. १-३६। ८७. सा. १-४३। ८८. सा. १-५६।
८९. सा. २-१९। ९०. सा. ९-९५। ९१. सा ७-२। ९२. सा. ९-१३।
९३. सा. ९-२०। ९४. सा. ९-८। ९५ सा. ८४१।

पुत्र[१६] । चौरासी कोस[१७] । जज्ञ निन्यानबे[१८] । सौ भाई[१९] । पुत्र एक सौ .. सत पुत्र[१] । चौदह सहस जुवति[२] । सहस पचास पुत्र[३] । असी सहस किंकर दल[४] । चौरासी लख जोनि[५] । तैंतिस कोटि देव[६] । कोटि छ्यान्वे नृप-सेना[७] ।

उक्त उदाहरण तो बिखरे हुए पदो से सकलित किये गये है , परंतु एक पद मे सूरदास ने अनेक पूर्णांकबोधको का प्रयोग किया है—

षोड़स अंगनि मिलि प्रजक पै छ दस अंक फिरि डारै ।
पंद्रह पित्र-काज चौदह दस-चारि पठै, सर साँधै ।
तेरह रतन कनक रुचि द्वादस अटन जरा जग बाँधै ।।
नहिं रुचि पथ, पयादि डरनि, छकि पच एकादस ठानै ।
नौ दस आठ प्रकृति तृष्ना सुख सदन सात सधानै[८] ।

कही-कही एक निश्चित पूर्णांकबोधक रूप बनाने के लिए सूरदास ने दो पूर्णांको का भी प्रयोग किया है, जैसे—अष्ट दस (अठारह) घट नीर[९] । दस अरु आठ पदुम बनचर[१०] । बरस चतुरदस[११] । षट दस (सोलह) सहस गोपिका[१२] । भूषन अग सजे सत नौ री[१३] । छोहनी दोइ दस[१४] । बीस चारि लौं[१५] । दिन सात बीस मैं[१६] ।

ग. अपूर्णांकबोधक—आधो उदर[१७] । आधे पलकहुं[१८] । अर्द्ध निसा[१९] । आध पैंड[२०] । अरध लंक कौ राज[२१] । अर्ध राज देउं लक[२२] । अहुँठ पैग[२३] । मान करौ तुम और सवाई[२४] ।

आ क्रमवाचक—इस प्रकार के विशेषण पूर्णांकबोधको से बनाये गये हैं, जैसे—पहिलौ पुत्र[२५] । दूजे करज[२६] । दूजौ भूप[२७] । द्वितीय मास[२८] । तीजे जनम[२९] । तृतिय लोचन[३०] । चौथ मास पचम मास छठैं मास[३१] ।

---

१६. सा १-४३ । १७ सा ८४१ । १८. सा ४-११ ।
१९. सा. १-२४ । १ सा १-२८४ । २. सा ९-७५ ।
३. सा ९-८ । ४ सा. ९-१०४ । ५. सा. १-७५ ।
६. सा. ९-१०५ । ७ सा. १-३१ । ८. सा. १-६० ।
९. सा १-५६ । १०. सा ९-११३ । ११ सा. ९-४४ ।
१२. सा. ४९७ । १३ सा २९०१ । १४ सा ४१९८ । १५. सा ४१९० ।
१६ सा ४२१४ । १७. सा ३-१३ । १८ सा ६-१ । १९ सा. ६-८ ।
२०. सा ८-१४ । २१ सा ९-७९ । २२ सा ९-१३४ । २३ सा १०-१२५ ।
२४ सा २४३७ । २५. सा. १०-४ । २६ सा. १-१४२ । २७ सा १-२७५ ।
२८. सा ३-१३ । २९ सा ३-११ । ३०. सा. १०-१६९ । ३१. सा. ३-१३ ।

सप्तम दिन[३२] । सातवें दिवस[३३] । अष्ठम मास'' नवम मास[३४] । नवएं मास[३५] । दसम मास[३६] । दसएँ मास[३७] । सौत्रौं जज्ञ[३८] ।

इ. आवृत्तिवाचक—दूनौ दुख[३९] । दूनैं दूध[४०] । यह मारग चौगुनो चलाऊँ[४१] । जतुरगुन गात[४२] ।

ई. समुदायवाचक—इस प्रकार के विशेषण भी पूर्णांकबोधको से ही वनाये गये हैं। रूप-निर्माण की दृष्टि से इनको तीन वर्गो मे रखा जा सकता है—क्ष.'उ' या 'ऊ' युक्त रूप।-त्र. 'औं', 'औ' या 'हौ' युक्त रूप तथा ज्ञ. हुँ या 'हूँ' युक्त रूप।

क्ष. 'उ' या 'ऊ' युक्त रूप—इस प्रकार के रूप प्रायः 'दो' और 'छः' से ही वनाये गये हैं, जैसे—कपट लोभ वाके दोउ भैया[४३] । दोऊ जन्म[४४] । छेऊ सास्त्र-सार[४५] ।

त्र. 'औं', 'औ' या हौ युक्त रूप—तीनौ पन[४६] । तीन्यौ पन[४७] । चारौ वेद[४८] । इंद्रिय बस राखहि किन पाँचौं[४९] । छहौ रस[५०] । आठौं सिधि[५१] । दसौं दिसि[५२] । वीसौ भुज[५३] । सहसौं पन[५४] । देव कोटि तैंतीसौ[५५] ।

ज्ञ. 'हुँ' या 'हूँ' युक्त रूप—दुहूँ लोक[५६] । तिहूँ पुर[५७] । चहुँ दिसि[५८] । चहूंदिसि[५९] । छहूँ रस[६०] । आठहूँ सिधि[६१] । दसहुँ दिसा तैं[६२] । दसहूँ दिसि[६३] ।

इनके अतिरिक्त कछ पदो में 'जुग', 'विवि', आदि का भी समुदायवाचक 'दोनों' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है; जैसे—थकि कोउ निरखि जुग जानु''कोउ निरखि जुग जघ-सोभा[६४] । विवि लोचन सु विसाल दुहूँनि के[६५] ।

उ. प्रत्येकवोधक—इस वर्ग के विशेषण दो वर्गों मे आते है—क्ष. 'एक' से बननेवाले रूप और त्र. 'प्रति' से वननेवाले रूप । दूसरे प्रकार के रूपो का प्रयोग सूरदास ने कुछ अधिक किया है; जैसे—

---

३२. सा. १-२९० । ३३. सा. ८-१६ । ३४. सा ३-१३ । ३५ सा १०-४० । ३६. सा. ३-१३ । ३७ सा १०-२८ । ३८. सा सा ९-९ । ३९ सा १-२८९ । ४०. सा. १०-२४ । ४१ सा. १-१४६ । ४२ सा ९-७४ । ४३. सा. १-१७३ । ४४. सा १-२९७ । ४५ सा ७-२ । ४६ सा. १-७३ । ४७ सा. १-१३६ । ४८. सा १-११३ । ४९. सा १-८३ । ५० सा. ४८७ । ५१. सा ८३१ । ५२. सा. ८-४ । ५३ सा ९-१०८ । ५४. सा ५८९ । ५५. सा. १०-४५ । ५६ सा ९-३ । ५७ सा ९-१०० । ५८ सा १-६९ । ५९. सा. ९-७६ । ६०. सा. ४४५ । ६१. सा १-३१४ । ६२ सा. ५९२ । ६३ सा .२-१९ । ६४. सा. ६३४ । ६५ सा ६८९ ।

-क्ष. 'एक'-से-बननेवाले रूप— एक एक अग पर[६६] ।

त्र. 'प्रति' से होनेवाले रूप—प्रति रोमनि[६७] । अग अग प्रति बानक[६८] । दिन प्रति[६९] । द्वारनि प्रति[७०] ।

ख. अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण—इस वर्ग मे कुछ विशेषण तो वस्तुत. अनिश्चित सख्या के द्योतक हैं, परतु कुछ निश्चित सख्यावाचक होते हुए भी अनिश्चित के समान प्रयुक्त हुए हैं।

अ अनिश्चित संख्या-द्योतक रूप—इस वर्ग मे आनेवाले जो रूप सूर-काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं, उनमे से मुख्य यहाँ संकलित हैं—

अखिल—अखिल लोकनि[७१] ।
अगनित—अगनित अधम उधारे[७२] । अगनित गुन[७३] । चरित अगनित[७४] ।
अगनिया—व्यजन बिबिध अगनिया[७५] ।
अगिनित—कटक अगिनित[७६] । अगिनित कीन्हे खाद[७७] ।
अनत—और अनंत कथा स्तुति गाई[७८] ।
अनगन—अपराधी अनगन[७९] ।
अनेक—अनेक जन्म गए[८०]। अनेक गन अनुचर[८१] । भूप अनेक[८२] ।
अपार—कीन्हे पाप अपार[८३] । आयुध धरे अपार[८४] ।
अपारा—ब्रजवासी तहँ जुरे अपारा[८५] ।
अमित—अमित अडमय वेष[८६] । अमित अडमय गात[८७] ।
और—और पतित तुम जैसे तारे[८८] । और ठौर नहिं[८९] । और देव[९०] ।
और सब—और अहिर सब[९१] ।
कछु—कछु दिन[९२] ।
कछु इक—कछु इक दिन औरौ रहौ[९३] ।
कछुक—कछुक दिननि कौ[९४] ।
केतिक—तुम मोसे अपराधी माधव केतिक स्वर्ग पठाए हौ[९५] । केतिक जनम[९६] ।
कै—सुनि सुनि गे कै वार[९७] ।

---

६६ सा ६४७ । ६७. सा १०-१२८ । ६८ सा १०-१५८ ।
६९. सा १०-३३१ । ७० सा. ७८४ । ७१ सा १-३१६ ।
७२ सा. १-१२५ । ७३. सा. १-१५७ । ७४ सा ४-११ । ७५. सा १०-२३८ ।
७६. सा. ९-१०६ । ७७ सा. ८४१ । ७८ सा. १-६ । ७९ सा १-६६ ।
८०. सा. १-१५४ । ८१ सा. १-१६३ । ८२. सा १-१७२ । ८३. सा. १-१४१ ।
८४. सा. ९-८९ । ८५ सा. ९०१ । ८६. सा. ५७० । ८७. सा. ५८९ ।
८८. सा १-१३७ । ८९. सा. १-१३९ । ९०. सा. १-१७० । ९१. सा. ७४० ।
९२ सा ६६८ । ९३ सा २९१५ । ९४ सा १०-२९२ । ९५. सा. १-७ ।
९६ सा १-५२ । ९७ सा १-८४ ।

कोटि—कोटि मुख[१८] । मनमथ कोटि ' 'कोटि रबि-चद्र[१९] । कोटि काम[१] ।
कोटिक—कोटिक नाच नचावँ[२] । कोटिक तीरथ[३] । कोटिक कला[४] ।
कोटिनि—कोटिनि बसन[५] । कोटिनि वरष[६]।
वहुतक—असगुन वहुतक पाई[७] ।
घनेरे—भैया-बधु-कुटुव घनेरे[८] । पायौ सुख जु घनेरे[९] ।
वहुतेरे—पुत्र अन्याइ करै वहुतेरे[१०] ।
नाना—नाना त्रास निवारे[११] । नाना स्वाँग बनावँ[१२] । नाना भाव दिखायौ[१३] ।
लच्छ—लच्छ लच्छ वान[१४] ।
सकल—सकल मिथ्या सौजाई[१५] । सकल वृतात सुनाए[१६] । सकल जादव[१७] ।
सारे—सुर सारे[१८] ।
सब—सब लोइ (लोग[१९]) । सब कुसुमनि[२०] । सब सखा[२१] ।
सहस—वोरत सहस प्रकारौ[२२] ।
बहु—बहु वपु धारे[२३] । वहु रतन[२४] । वहु उद्यम[२५] ।
वहुत—वहुत जुग[२६] । वहुत प्रपच[२७] । वहुत रतन[२८] ।

कुछ अनिश्चित सख्या-वाचक विशेषण ऐसे संज्ञा शब्दो के साथ भी सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए है जिनकी संख्या निश्चित है । ऐसे प्रयोगो को निश्चित सख्यावाचक ही समझना चाहिए, जैसे – सर्व पुरान माहिं जो सार[२९] । पुराणो की सख्या 'अठारह' निश्चित है । सूरदास ने भी कहा है—वहुरि पुरान अठारह किये[३०] । अतएव 'पुराणो' के साथ विशेषण रूप मे 'सर्व' का प्रयोग इस निश्चित सख्या 'अठारह' के लिए ही किया गया है । इसी प्रकार नवें स्कध में 'मानधाता' कहता है—है पचास पुत्री मम गेह[३१] । इसके आगे वाक्य है—सब कन्यनि सौभरि रिषि बरचौ । और पद के अत मे कहा गया है—सब नारिनि सहगामिनि कियौ । पिछले दोनो वाक्यो मे 'सब' का संकेत भी निश्चित सख्या 'पचास' की ओर ही है ।

आ. अनिश्चितवत् प्रयुक्त निश्चित संख्यावाचक रूप—सूरदास द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के विशेषण-रूपो को तीन वर्गों विभाजित किया जा सकता है—क्ष अनिश्चय-

---

१८. सा. १-२४ । १९. सा. १०-५५ । १. सा. ३५२ ।
२. सा. १-४२ । ३. सा. २-६ । ४ सा. १-१५३ ।
५. सा. १-१५८ । ६. सा. १०-३३ । ७ सा ५४१ । ८. सा. १-७१ ।
९. सा. १-१७० । १०. सा. ५-४ । ११ सा. १-१० । १२. सा. १-४२ ।
१३. सा. १-२०५ । १४. सा. ९-९६ । १५. सा. १-२४ । १६. सा. १-२८४ ।
१७. सा. १-२८६ । १८. सा. ४-५ । १९. सा. १-२८६ । २०. सा. १-३२५ ।
२१. सा ५८९ । २२. सा. १-२०९ । २३ सा. १-२७ । २४. सा. १-२०० ।
२५. सा. १-३३६ । २६. सा. १-३१७ । २७. सा. १-३२९ । २८. सा. ८-१३ ।
२९. सा. ७-२ । ३०. सा. १-२३० । ३१. सा. ९-८ ।

बोधक सामान्य पूर्णांक, ञ. अनिश्चयबोधक 'एक' युक्त पूर्णांक, ज्ञ अनिश्चयबोधक दोहरे पूर्णांकि ।

क्ष. अनिश्चयबोधक सामान्य पूर्णांक—और पतित सब दिवस चारि के[३२]। मरियत लाज पाँच पतितनि मैं[३३]। दिन दस लेहि गोबिंद गाइ[३४]। दिन द्वै लेहु गोबिंद गाइ[३५]। कहा भयौ अधिकी द्वै गैयाँ[३६]। सौ बातनि की एकै बात[३७]।

ञ अनिश्चयबोधक 'एक' युक्त पूर्णांक—जोजन बीस एक अरु अगरौ डेरा[३८]। कहीं-कहीं सूरदास ने 'एक' के स्थान पर केवल 'क' से काम लिया है। इस प्रकार के प्रयोग 'एक'-युक्त प्रयोगों से उन्होंने अधिक किये हैं जैसे—बर्ष ब्यतीत दसक जब होहिं[३९]। गाउँ दसक सरदार[४०]। पग द्वैक धरैं[४१]। अच्छर चारिक[४२]। दिन पाँचक[४३]। बरन पचासक अबिर[४४]। बहुतक जीव[४५]। बहुतक तपसी[४६]।

ज्ञ. अनिश्चयबोधक दोहरे पूर्णांक—दिन चारि-पाँच मैं[४७]। मिलि दस-पाँच अली[४८]।

अपवादस्वरूप दो-एक प्रयोगों मे द्वितीय और तृतीय नियमों को मिलाकर भी सूरदास ने प्रयोग किये हैं : जैसे—दस-बीसक दोना[४९]।

ग. परिमाणबोधक—इस वर्ग के रूप सूर-काव्य मे अनिश्चित सख्यावाचकों के लगभग बराबर ही है और कुछ तो दोनो मे समान भी हैं। सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रमुख परिमाणबोधक विशेषण इस प्रकार हैं—

अगाध—दुख है बहुत अगाध[५०]।
अघटित—अघटित भोजन[५१]।
अति—अति दुख[५२]। अति अनुराग[५३]।
अतिसय—अतिसय दुख[५४]।
अतिसै—अनन्द अतिसै[५५]।
अतुल—अतुल बल[५६]।
अपरिमित—अपरिमित महिमा[५७]।
अपार—अजस अपार[५८]।

---

३२ सा.१-१३८ । ३३ सा १-१३७ । ३४. सा १-३१५ । ३५. सा १-३१६ ।
३६. सा ७३५ । ३७ सा २-५ । ३८ सा. ८३० । ३९ सा. ३-१३ ।
४०. सा ८८५ । ४१. सा १०-७६ । ४२ सा ३११७ । ४३ सा. ८१२ ।
४४. सा २८९२ । ४५ सा २-३२ । ४६ सा ४-९ । ४७ सा ९-११७ ।
४८ सा १०-२४ । ४९ सा ३९६ । ५०. सा ८३३ । ५१ सा १-२०३ ।
५२ सा ६-५ । ५३. सा १०-४४ । ५४ सा.४-५ । ५५ सा ९-२६ ।
५६. सा. ९-९१ । ५७ सा. ९-२६ । ५८. सा १-३२५ ।

इती—रिस इती[59] ।
अमित—अमित आनन्द[60] । अमित बल[61] । अमित माधुरी[62] ।
इतौ—इतौ कोह[63] ।
एत—तामस एत[64] ।
इतनक—इतनक दधि-माखन[65] ।
कछु—कछु संक[66] । ताहू मैं कछु कानौ[67] । कछु डर[68] ।
कितौ—कितौ यह काम[69] ।
कछुक—कछुक प्रीति[70] । कछुक करुना[71] ।
केतिक—केतिक दह्यौ (दही)[72] ।
कछू—छल करत कछू[73] ।
घनौ—कपट कपट घनौ[74] ।
थोरनौ—मोर सुख नहिं थोरनौ[75] ।
थोरी—रुचि नहिं थोरी[76] । मति थोरी[77] ।
तनिकौ—सुख दुख तनिकौ[78] ।
थोरेक—थोरेक ही बल सौं[79] ।
नैंसुक—नैंसुक घैया[80] ।
परम—परम सुख[81] । परम स्नेह[82] ।
पूरन—प्रभु पूरन ठाकुर[83] ।
बड़ौ—बड़ौ दुख[84] । बड़ौ संताप[85] ।
बहु—बहु काल[86] बहु तप[87] ।
बहुत—बहुत हित जासौं[88] । बहुत सुख[89] । बहुत पंथहू नहिं आयौ[90] ।
भारी—सुख पाऊँ अति भारी[91] । लोभ-मोह-मद भारी[92] ।
भारे—अपराध करे..... अति भारे[93] । महा दुख भारे[94] ।
भारौ—बहत बिरद भारौ[95] ।

---

५९. सा. ३५८ ।
६०. सा. ९-२५ ।
६१. सा. ९-११५ ।
६२. सा. ६६३ ।
६३. सा. ३५३ ।
६४. सा. ३४६ ।
६५. सा. १०-३१० ।
६६. सा. १-१३ ।
६७. सा. १-४७ ।
६८. सा ७-२ ।
६९. सा ९-२२ ।
७०. सा. ७-२ ।
७१. सा ३६४ ।
७२. सा ३५६ ।
७३. सा ७-२ ।
७४. सा. १-२०३ ।
७५. सा. २८३२ ।
७६. सा १०-१८३ ।
७७. सा. १०-२५३ ।
७८. सा ३-१३ ।
७९. सा ४१० ।
८०. सा. ४६३ ।
८१. सा. ७-२ ।
८२. सा १०-१११ ।
८३. सा. ७-२ ।
८४. सा १-१३६ ।
८५. सा. ५८९ ।
८६. सा. ९-२ ।
८७. सा. ९-३ ।
८८. सा. १-७९ ।
८९. सा. १-२८४ ।
९०. सा. ५-४ ।
९१. सा. १-१४६ ।
९२. सा. १-१६५ ।
९३. सा. १-१२५ ।
९२. सा. १-१५८ ।
९५. सा. १-१३१ ।

सकलौ—तेज-तप सकलौ[१६]।
सगरौ—दूध-दही-माखन........सगरौ[१७]।
सिगरी—आस सिगरी[१८]।
सब—रैनि सब निघटी[१९]।
रंच—रंच सुख[१]।
रंचक—रंचक सुख कारन[२]।
समस्त—जल समस्त[३]।

उक्त रूपो मे से 'कछुक', 'थोरेक' आदि विशेषण 'क' के योग्य से अल्पार्थक बनाये गये हैं, शेष सब अपने सामान्य मूल या विकृत रूप मे प्रयुक्त हुए हैं।

४. विशेषण शब्दों के प्रयोग—

सूरदास ने विशेषण शब्दो के जो प्रयोग किये हैं, स्थूल रूप से उनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—का. सामान्य प्रयोग और ख विशेष प्रयोग।

क. स.मान्य प्रयोग—इस शीर्षक के अतर्गत दो विषयो का अध्ययन करना है—अ. वाक्य मे विशेषण का क्रम और आ विशेषण का तुलनात्मक रूप।

अ वाक्य मे विशेषण का क्रम—वाक्य मे विशेषण का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है—कभी तो वह विशेष्य के साथ आता है, जैसे—काली गाय; और कभी क्रिया के साथ, जैसे गाय काली है। प्रथम को 'उद्देश्यात्मक' और द्वितीय को 'विधेयात्मक' प्रयोग[४] कहते है। गद्य मे तो साधारणत विशेष्य के बाद या क्रिया के साथ, प्रयुक्त विशेषण 'विधेयात्मक' होता है, परतु काव्य मे कभी ऐसा होता है, कभी नही होता। 'जिन भ्रम सकल निवारचौ'[५]। इस वाक्य में परिणामवाचक विशेषण 'सकल' अपने विशेष्य 'भ्रम' के बाद और क्रिया 'निवारयौ' के साथ आने पर भी 'उद्देश्यात्मक' ही है। परतु 'जीवन थिर जान्यौ'[६]— इस वाक्य मे गुणवाचक विशेषण 'थिर' विशेष्य 'जीवन' के बाद होने पर भी 'विधेयात्मक' हो गया है। यही बात विशेष्य के पूर्व आने-वाले, गद्य की दृष्टि से उद्देश्यात्मक, विशेषणो के सबध में भी है। 'कह्यौ नृपति, मोटौ तू आहि'[७]—इस वाक्य मे यद्यपि 'मोटौ' विशेषण, सर्वनाम विशेष्य 'तू' के पूर्व प्रयुक्त हुआ है, फिर भी उसका प्रयोग विधेयात्मक ही है।

क्ष उद्देश्यात्मक प्रयोग—आछो गात अकारथ गारयौ[८]। महर मनहिं अति हर्ष बढाए[९]। यह दरसन त्रिभुवन नाहि[१०]। निठुर वचन सुनि स्याम

---

९६ सा ६-५ । ९७ सा १०-३३६। ९८ सा १०-३०२। ९९ सा ४०८ । १ सा १-३२८। २ सा १-३३०। ३ सा ९-१४८। ४ विधेय के रूप मे प्रयुक्त विशेषण को, अँगरेजी के ढग पर कभी-कभी 'पूरक' भी कहा जाता है—लेखक। ५ सा. १-३३६। ६ सा. १-३३६। ७ सा ५-४। ८ सा १-१०१। ९. सा. ९०४। १० सा १०२११।

के[११]। विनती सुनी स्याम सुजान[१२]। गगन उठी घटा कालो[१३]। उकठे तरु भए पात[१४]। यह मुरली कुस दाहनहारी[१५]। सबनि इक इक कलस लीन्हौ[१६]।

त्र. विधेयात्मक प्रयोग—विप्र सुदामा कियौ अजाची[१७]। चारु मोहिनी आइ आँध कियौ[१८]। तेरौ वचन-भरोसौ साँचौ[१९]। कुबिजा भई स्याम-रँग-राती[२०]। अधम, तू अत भयौ बलहीनौ[२१]। राजा ह्वै गए राँको[२२]। कचन करत खरौ[२३]। सुखी हम रहत[२४]। अति ऊँचौ गिरिराज विराजत[२५]। तरुनी स्याम रस मतवारि[२६]।

कुछ वाक्यो मे एक साथ अनेक विशेषण विधेयात्मक रूप से प्रयुक्त हुए हैं; और उनमे क्रिया लुप्त है, जैसे—हरि, हौं महा अधम संसारी[२७]।

आ. विशेषण का तुलनात्मक प्रयोग—तुलना कभी दो वस्तुओ, व्यक्तियो या भावो की होती है और कभी दो से अधिक की। दोनो प्रकार की तुलनाओ को सूचित करने के लिए अलग अलग रीतियाँ सूरदास ने अपनायी है।

क्ष. 'दो' की तुलना—दो वस्तुओं, व्यक्तियों या भावों की तुलना करते समय एक की अधिकता या न्यूनता सूचित करने के लिए सूरदास ने साधारणत. सज्ञा-सर्वनाम के साथ 'तैं' का प्रयोग किया है, और कही-कही 'अधिक' और 'तैं' दोनो का साथ-साथ प्रयोग किया है, जैसे—

१. तैं—राजा कौन बडौ रावण तैं[२८]। हरि त और न आगर[२९]। मोहूँ तैं को नीकौ[३०]। काजर हूँ तैं कारी[३१]। सवल देह कागद तैं कोमल[३२]। हृदय कठोर कुलिस तैं मेरौ[३३]। तुमहिं तैं कौन सयानी[३४]। बासुरी विधि हूँ तैं परवीन[३५]।

२. अधिक ..तैं—अधिक कुरूप कौन कुबिजा तैं...अधिक सुरूप कौन सीता तैं[३६]।

त्र. 'अनेक' की तुलना—अनेक वस्तुओ, व्यक्तियो या भावो की तुलना के लिए

---

११. सा. १०१८। १२ सा. १०२६। १३ सा. ११८८।
१४. सा. १२४८। १५. सा. १३०९। १६. सा. १४२६।
१७. सा. १-१८। १८. सा. १-४३। १९. सा. १-३२। २०. सा. १-६३।
२१. सा. १-६५। २२. सा. १-११३। २३. सा. १-२२०। २४. सा. १-२८४।
२५. सा. ९०४। २६. सा. १६२४। २७-सा. १-१७३।
२८. सा. १-३५। २९. सा. १-९१। ३०. सा. १-१३८।
३१. सा. १-१७८। ३२. सा. १-३०४। ३३. सा. ७-५।
३४. सा. ४९२। ३५. सा. १२४७। ३६. सा. १-३५।

सूरदास ने साधारणत. विशेष्य के साथ 'अति', 'परम', 'महा' आदि का प्रयोग किया है, जैसे—

अति—ये अति चपल[३७] । रूप अति सुदर[३८] । अति सुकुमार[३९] ।

परम—परम सीतल[४०] । परम सुदर[४१] । हरि बस बिमल छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप[४२] ।

महा—कस महा खल[४३] ।

ख. विशेष प्रयोग—

इस शीर्षक के अतर्गत सूरदास द्वारा विशेषण के प्रयोगो के सबध मे उन सब स्फुट विषयो की चर्चा करनी है जिनके सबध मे ऊपर विचार नही किया जा सका है, यथा—अ. सज्ञा शब्दो का विशेषणवत् प्रयोग, आ. सर्वनाम के विशेषण-रूप-प्रयोग, इ. विशेषण के विशेषण-रूप प्रयोग, ई. विशेषण का सज्ञा के समान प्रयोग, उ. विशेषण का सर्वनाम के समान प्रयोग, ऊ. सयुक्त सर्वनाम-विशेषण प्रयोग, ए विशेषण के विकृत रूप-प्रयोग, ऐ बलात्मक प्रयोग और ओ सूची-रूप मे प्रयोग ।

अ. संज्ञा शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग—सूर-काव्य मे ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमे कवि ने उन शब्दो का विशेषणवत् प्रयोग किया है जो साधारणत 'सज्ञा' शब्द-भेद के अतर्गत आते हैं, जैसे अमी बचन[४४] । अमृत बचन[४५] । कनक बरन[४६] । किसोर बिरधौ तन[४७] । बोलहि बचन बिकार[४८] । मधु छीलर[४९] । अटके नैन, माधुरी मुस्कान[५०] । हमरे रसाल गुपालहि[५१] । सिसु तन[५२] । सीतल सलिल सुगध पवन[५३] । झटकि हाटक मुकुट[५४] । हीरा जनम[५५] ।

आ सर्वनाम के विशेषण-रूप में प्रयोग—कभी कभी सर्वनाम के साथ भी सूरदास ने विशेषण का प्रयोग किया है । इस प्रकार के कुछ प्रयोग ऊपर दिये जा चुके हैं, दो-चार अन्य उदाहरण यहां सकलित हैं—तू बडौ अधर्म।[५६] । ये अति चपल[५७] । कछु थिर न रहैगी[५८] । यह जानत बिरला कोई[५९] । मोटौ तू आहि[६०] । यह अति हरिहाई[६१] ।

इ विशेषण के विशेषण-रूप प्रयोग—सज्ञा और सर्वनाम शब्दो के अतिरिक्त अनेक पदो मे ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनमे विशेषण शब्द का विशेष्य भी विशेषण है,

---

३७ सा ९-९२ । ३८. सा ९-८ । ३९ सा ९-५० ।
४० सा ९-१० । ४१. सा १-३०७ । ४२. सा. १-४० ।
४३ सा १-१७ । ४४ सा. ९-१६९ । ४५. सा. ५०९ ।
४६. सा. ६७६ । ४७. सा ७-२ । ४८ सा १९१४ ।
४९ सा. ९-३६ । ५० सा १०२३ । ५१ सा. ४२६५ ।
५२. सा. ७-२ । ५३. सा ५८९ । ५४. सा. ९-१२९ । ५५. सा १-१९६ ।
५६ सा. १-२९० । ५७ सा. ९-९२ । ५८. सा. १-३०२ ।
५९. सा १-२९० । ६०. सा ५-३ । ६१. सा. १-५११

जैसे—अपराध करे मैं तिनहूँ सौ अति भोरे[६२]। छुद्र पतित[६३]। निपट अनाथ[६४]। वड़ौ अधर्मी[६५]। महा ऊँच पदवी[६६]। ऐसे विशेषणो को क्रियाविशेषण-रूप समझना चाहिए।

ई विशेषण का संज्ञावत् प्रयोग—अनेक विशेषण शब्दो का सूरदास ने संज्ञावत् भी प्रयोग किया है, जैसे—अंधे कौ सब कछु दरसाइ[६७]। आवै अधौ जग जोइ[६८]। आधे मैं जल-वायु समावै[६९]। कारौ अपनौ रग न छाँडै[७०]। बहुरौ क्रोधवंत जुध चह्यौ[७१]। गरवत कहा गँवार[७२]। बोलै गुंग [७३]। गूँग पुनि बोलै[७४]। सचु पावै गोरी[७५]। विपति परी दीन पर[७६]। नवमी नवसत साजि कै[७७]। तुम नहि जानत नान्हा[७८]। नीच पावै ऊँच पदवी[७९]। पंगु गिरि लघै[८०]। हा हा चलि प्यारी, तेरौ प्यारौ चौंकि परै[८१]। बहिरौ सुनै[८२]। बिगरी लेहु सँवारी[८३]। कहति न मीठी खाटी[८४]। सगीत-सुधानिधि मूढ़हिं कहा सुनैऐ[८५]। उलटि चुवन देत रसकिनी[८६]। हार विना ल्याए लड़िबौरी घर नहि पैठन दैहौ[८७]। देखि सुन्दरि, रहे दोउ लुभाई[८८]। देखि दसा सुकुमारि की[८९]।

उक्त प्रयोगो में 'नवसत' जैसे प्रयोगों को छोड़कर शेष सब रूप एकवचन मे हैं; परतु सूरदास ने विशेषणो के संज्ञावत् बहुवचन रूपों मे भी प्रयोग किये हैं, जैसे—समुझाइ अनाथनि[९०]। कै करि कृपा दुखित दीननि पै[९१]। अब लौं नान्हे-नून्हे तारे[९२]। त्रिया-चरित मतिमंत न समुझत[९३]। जा जस कारन देत सयाने तन-मन-धन सब साज[९४]।

ऊपर संकलित उदाहरणो मे प्राय सभी जातिवाचक संज्ञावत् प्रयोगो के हैं। इनके साथ-साथ कुछ विशेषण-रूपो का सूरदास ने व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दो की भाँति भी प्रयोग किया है; जैसे—चतुरमुख कह्यो ' चतुरमुख अस्तुति सुनाई[९५]। तोहि देखि चतुरानन मोहै[९६]। दसमुख बध-विस्तार[९७]। दससिर बोलि निकट बैठायौ[९८]। सहसानन नहि जान[९९]। एक अन्य पद मे सामान्य विशेषण 'अध', कौरवपति धृतराष्ट्र के लिए,

---

६२ सा. १-१२५। ६३. सा. १-१३१। ६४. सा. १-१७५।
६५. सा. १-१९०। ६६. सा- १-२४। ६७. सा. १-१।
६८. सा. १-९५। ६९. सा ३-१३। ७० सा. १-६३। ७१. सा. ९-१३।
७२. सा. १-८४। ७३ सा. १-९५। ७४. सा. १-१। ७५. सा. २८९४।
७६. सा १-२५। ७७. सा. २९१४। ७८. सा. १०-२२०। ७९. सा. १-२३५।
८०. सा. १-१। ८१. सा. २७८७। ८२. सा. १-१। ८३. सा. १-११८।
८४. सा. १०-२५४। ८५. सा. ३८१०। ८६. सा. २४५९। ८७. सा. १९७५।
८८. सा. ८-११। ८९ सा. १११८। ९०. सा. ८-४। ९१. स.. ३४८०।
९२. सा. १-९६। ९३. सा. ९-३१। ९४. सा. ३३४०। ९५. सा. ८-१६।
९६. सा. ९-७९। ९७. सा. १-२१५। ९८. सा. ९-१२१। ९९. सा. ४९२।

जो जन्म से अंधे थे, प्रयुक्त हुआ है—अबर जहत द्रौपदी राखी, पलटि अंध-सुत लाजै[१]।

जातिवाचक या व्यक्तिवाचक रूप मे प्रयुक्त उक्त विशेषण अपने सामान्य रूप मे हैं, परतु कही-कही सूरदास ने अभीष्ट कारकीय रूप देने के लिए उनको विकृत भी किया है, जैसे—ज्यौं गूँग मीठे फल को रस अतर्गत ही भावै[२]। नौख निधि पाई[3]।

उ सर्वनामवत् प्रयोग—अनेक विशेषण-रूपो का सूरदास ने सर्वनामवत् प्रयोग भी किया है। ऐसे विशेषणो मे प्राय सभी सख्यावाचक हैं, जैसे—एकनि हरे प्रान गोकुल के[४]। असी इक कर्म बिप्र कौ लियौ[५]। निसा आन कै बसे साँवरे[६]। कहौं एक की कथा[७]। तोसी मुग्ध न दूजी[८]। दुहुँ तब तीरथ माँहि नहाए[९]। दुहुँनि पुत्र-मुख देखा[१०]। एकहि दिन जनमे दोऊ हैं[११]। आठ मास चदन पियौ, नवएँ पियौ कपूर[१२]। कहौं बनाइ पचासक, उनकी बान गुन एक[१३]। आपु देखि, पर देखि रे[१४]। इनतैं प्रभु नहिं और बियौ[१५]। एक कहत धाए सौ चारी[१६]।

ऊ सयुक्त सर्वनाम-विशेषण प्रयोग—अनेक पदो मे सूरदास ने सर्वनाम और विशेषण-रूपो का साथ-साथ प्रयोग किया गया है। ऐसे प्रयोगो मे कही तो सर्वनाम शब्द विशेषण का विशेष्य होकर आया है और कही दोनो सयुक्त रूप बन गये हैं, जैसे—ज्यौं त्यौं करि इन दुहुँनि सँघारौ[१७]। ऐसे और कितक हैं नामी[१८]। हम तीनौं हैं जग-करतार[१९]।

ए. विशेषण के विकृत रूप प्रयोग—सज्ञा और सर्वनाम शब्दो के समान कुछ विशेषण-रूप भी सूरदास द्वारा इस प्रकार विकृत कर लिये गये हैं कि उनके सबधी शब्द की कारकीय विभक्ति जैसे उन्ही मे जोड ली गयी है अथवा अभीष्ट कारक के अनुसार विशेष्य सज्ञा शब्द मे परिवर्तन न करके विशेषण का रूप विकृत कर लिया गया है, जैसे—छठैं मास इद्री प्रगटावै[२०]। सुत बाँधति दधि-माखन थोरैं[२१]। परचौ पराएँ कर ज्यौं[२२]। गए स्याम ग्वालिनि घर सूनैं[२३]।

ऐ वलात्मक प्रयोग—सज्ञा और सर्वनाम शब्दो के समान सूरदास ने अनेक पदो मे विशेषणो के भी वलात्मक प्रयोग किये हैं, जैसे—अतिहिं पुनीत[२४]। आठहुँ सिधि[२५]। इतौई घृत-सार[२६]। उहै स्नेह[२७]। एकहुँ आँक[२८]। एकै चीर[२९]। एकौ

---

१ सा १-३६। २ सा १-२। ३. सा २२४२। ४ सा ३९७७
५. सा. ५-२। ६ सा. २५१८। ७. सा ६-३। ८ सा २८२६।
९ सा ३-१३। १० सा १०-४। ११ सा. १५८०। १२ सा. १०-४।
१३ सा ४१२५। १४. सा ३६१३। १५ सा. १०-८५। १६. सा ९२६।
१७ सा २९२६। १८. सा २९२२। १९ सा ४-४। २० सा ३-१३।
२१ सा ३४४। २२ सा २३४७। २३ सा. १०-३१७। २४ सा ९-१२।
२५. सा १-३१४। २६. सा २-४। २७ सा २१६३। २८. सा १-३२५।
२९. सा १-२४७।

पल[३०]। एसियै लरिकसलोरी[३१]। प्रान औरहू जन्म मिलत हैं[३२]। औरौ सुभट[३३]। चारहूँ जुग[३४]। उनमें पाँचौं दिन जौं बसियै[३५]। वहुतै स्रम[३६]। यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम-व्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ; यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै[३७]। येउ नैंन[३८]। वहै बुद्धि, वहै प्रकति, वहै पौरुष तन सबके, वहै नाउ, वहै भाउ[३९]। सबै जुवती[४०]। सिगरोइ दूध[४१]।

ओ. सूची-रूप मे प्रयोग—अनेक पदो मे सूरदास ने एक साथ इतने विशेषणो का प्रयोग किया है, जैसे वे उनकी सूची प्रस्तुत करना चाहते हो। प्रथम स्कध के विनय-पदो मे यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। इस प्रकार की विशेषण-सूचियाँ कही तो कवि ने अपने आराध्य के लिए प्रस्तुत की है, कही अपने लिए और कही अन्यो के लिए भी; जैसे—

१ अति उनमत्त, निरंकुस, मैगल, चिंतारहित असोच,
महा मूढ़........ ....[४२]।

२. कामी कुटिल कुचील कुदरसन, अपराधी, मतिहीन।
.. ..।
तुम तौ अखिल, अनत, दयानिधि, अविनासी, सुखरासि[४३]।

३. विनय कहा करै सूर कूर, कुटिल, कामी[४४]।

४. घातक, कुटिल, चबाई, कपटी, महाक्रूर, सतापी।
लंपट, धूत, पूत दमरी कौ, विषय जाप कौ जापी।
. ...।
कामी विबस कामिनी कै रस ....[४५]।

५ माया अति निसक, निरलज्ज, अभागिनि[४६]।

६ प्रभु जु, हौ तौ महा अधर्मी।
अपत, उतार, अभागौ, कामी, विषयी, निपट कुकर्मी॥
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी कुमति जुलाई।
औगुन की कछु सोच न सका, बड़ौ दुष्ट अन्याई।
बटपारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठि-कटा, लठबाँसी।

---

३०. सा. १०-२९६। ३१. सा. १०-२८६ ३२. सा. २९१८। ३३. सा. ९-१५२। ३४. सा. ८-९। ३५. सा. ४१५०। ३६. सा. ५-४। ३७. सा. १-१६७। ३८. सा. २२२६। ३९ सा. ४३७। ४०. सा. १०-३१९। ४१. सा. १०-२५९। ४२. सा. १-१०२। ४३. सा१-१११। ४४. सा. १-१२४। ४५. सा. १-१४०। ४६. सा. १-१७३।

चचल चपल चबाइ चौपटा, लिये मोह की फाँसी।
चुगुल, ज्वारि, निर्दय, अपराधी, झूठौ, खोटौ-खूटा।
लोभी, लौंद, मुकरवा, झगरू, बडौ पढैलौ, लूटा।
लपट धूत पूत दमरी कौ, कौडी कौडी जोरै।
कृपन, सूम, नहिं खाइ खवावै, खाइ मारि कै औरै।
लगर, ढीठ, गुमानी, टूँडक, महा मसखरा, रूखा।
मचला अकलै-मूल, पातर, खाउँ खाउँ करै, भूखा।
निर्घिन, नीच, कुलज, दुर्बुद्धी, भोदू, नित कौ रोऊ।
. . ।
महा कठोर, सुन्न हृदय कौ, दोष देन कौ नीकौ।
बडौ कृतघ्नी और निकम्मा, बेधन, रॉकौ, फीकौ।
महा मत्त बुधि बल कौ हीनौ, देखि करै अधेरा।
. . .. ।
मूकू, निंद, निगोडा, भोडा, कायर, काम बनावै।
कलहा, कुही मूष रोगी अरु काहूँ नेकु न भावै।
पर-निंदक, पर-धन कौ द्रोही, पर-सतापनि बोरौ[४७]।

७. नैना लोनहरामी ये।
चोर, ढुढ, बटपार कहावत, अपमारगी, अन्याई ये।
निलज्ज निर्दयी, निसक, पातकी . [४८]।

उक्त उद्धृत पदाशो मे दो-चार शब्दो को छोडकर शेष सभी विशेषण हैं। इस प्रकार की सूचियो से कवि के विस्तृत शब्द-कोश के साथ-साथ उसकी शब्द-निर्माण-कला का भी परिचय मिलता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ प्रयुक्त विशेषणो मे अनेक —यथा उतार, कलही, कुही, चबाई, चौपटा, जुलाई, टूँडक, मचला, मुकरवा, मैगल, लठबाँसी, लौद आदि—ऐसे हैं जो या तो कवि द्वारा निर्मित हैं, अथवा, जिनका उद्धार बोलचाल की भाषा से किया गया है। यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से इस प्रकार की सूचियाँ निरर्थक ही हैं, फिर भी इस अध कवि द्वारा इस प्रकार का शब्द-चयन देखकर कभी-कभी पाठक को आश्चर्य भी होता है।

क्रिया और सूर के प्रयोग—

किसी कवि या लेखक की भाषा-विषयक समृद्धि का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त क्रिया-शब्दो से ही विशेष रूप से मिलता है। साहित्यिक गद्य मे जिस प्रकार परिच्छेद के

४७. सा. १-१८६। ४८ सा. २२८५।

प्रत्येक वाक्य के क्रिया-रूपों में परिवर्तन करना कुशल लेखक सामान्यतया आवश्यक समझते है, उसी प्रकार चतुर कवि भी छद या पद के प्रत्येक चरण की क्रिया परिवर्तित करता चलता है। इस विषय मे सूरदास का कौशल प्राय. प्रत्येक पद मे देखने को मिलता है। 'सूरसागर' के दूसरे से आठवें स्कध तक के अधिकाश लबे-लबे पद काव्य-कला की कसौटी पर भले ही अति साधारण उतरें, परतु क्रिया-रूपो की विविधता की दृष्टि से इनमे भी यह विशेषता है कि कवि ने उनकी अप्रिय आवृत्ति से सदैव बचने का प्रयत्न किया है।

कवि-विशेष के क्रिया-रूपो का अध्ययन करते समय मुख्य चार विषयो पर विचार करना होता है—१. धातु, २. कृदत, ३ वाच्य और ४ काल। सूरदास के क्रिया-प्रयोगो का अध्ययन भी इन्ही शीर्षको के अतर्गत करना उचित होगा।

१. धातु—

क्रिया का मूल रूप जो उसके सभी रूपांतरो मे विद्यमान रहता है, 'धातु' कहलाता है। धातु मे 'नो' या 'बो' जोड़ने से व्रजभाषा-क्रिया का सामान्य रूप बनता है; जैसे—करनो, रहनो, सहनो, पढ़िवो वसिवो आदि। यह रूप वाक्य मे क्रिया के समान प्रयुक्त नही होता, प्रत्युत लिंग, काल, वचन आदि के अनुसार उसमे परिवर्तन या रूपातर करके क्रिया के अन्य विकृत रूप बनाये जाते हैं।

क्रिया के मूल रूप अर्थात् धातु की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त क्रिया-पदो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क. सस्कृत से प्रभावित रूप, ख. अपभ्रश से प्रभावित रूप और ग. जनभाषा से प्रभावित रूप।

क. **संस्कृत से प्रभावित रूप**—सस्कृत भाषा की क्रियाओं के जो मूल रूप हैं, उनसे मिलती-जुलती धातुओ से निर्मित अनेक रूपातर सूर-काव्य मे मिलते है; जैसे—एक सुमन लै ग्रंथति माला[४९]। रावे कत रिस सरसतई; तिष्ठति जाइ वार वारनि मैं होति अनीति नई[५०]। द्रुपदसुता भाषति[५१]। सूच्छम वेष धूम की धारा नव घन ऊपर भ्राजति[५२]। मानो मघवा नव घन ऊपर राजत[५३]। वसुवा कमल बैठकी साजति[५४]। इन वाक्यो मे प्रयुक्त क्रियाओ—ग्रंथति, तिष्ठति, भाषति, भ्राजति, राजत और साजति—के धातु-रूप ग्रथ, तिष्ठ, भाष, भ्राज, राज और साज, सस्कृत से प्रभावित ही है।

ख. **अपभ्रंश से प्रभावित रूप**—अपभ्रंश मे जिस प्रकार द्वित्व वर्णों से युक्त रूप प्रत्युत होते थे, उसी प्रकार के कुछ प्रयोग सूर-काव्य मे भी मिलते हैं, यद्यपि वीररस मे कवि की रुचि न रहने के कारण इनकी संख्या वहुत कम है। निम्नलिखित

---

४९. सा, २८९२। ५० सा. २८०६। ५१. सा. १-२५५। ५२. सा. ६३८। ५३. सा. १०-१२८। ५४. सा. १०-११०।

उदाहरणो के 'कट्टे', 'दहपट्टे' और 'लज्जियै' क्रिया-रूपो की कट्ट, दहपट्ट और लज्जि धातुएँ अपभ्रश से ही प्रभावित हैं—

१. तब बिलब नहिं कियौ सीस दस रावन कट्टे ।
नब बिलब नहिं कियौ सबै दानव दहपट्टे[५५] ।

२. जिहिं लज्जा जग लज्जियै सो लज्जा गई लजाइ[५६] ।

ग. जनभाषा से प्रभावित रूप—इस प्रकार के रूपो की सख्या प्रथम अर्थात् सस्कृत से प्रभावित रूपो से कम, परतु अपभ्रश से प्रभावित रूपो से अधिक है। इसका मुख्य कारण है कि कवि की जनभाषा से शब्द-चयन करने की रुचि। निम्नलिखित वाक्यो की 'निचोवति' और 'सैंतति' क्रियाओ के धातु-रूप 'निचोव' और 'सैंत' जनभाषा से ही प्रभावित है—अँसुवनि चीर निचोवति[५७] । सैंतत अड अनेक[५८] ।

व्युत्पत्ति के विचार से अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त धातुओ को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—मूल और यौगिक धातु । प्रथम से आशय उन धातुओ से है जो स्वत निर्मित है , किसी दूसरे शब्द से नही बनायी गयी हैं; जैसे—

अ. कर— सूर कहूँ पर घर माही जैसैं हाल करायौ[५९] ।
आ. चल—काहु सौं बात चलाई[६०] ।

द्वितीय वर्ग मे वे धातुएँ आती हैं जो दूसरे शब्दो से बनायी गयी हैं; जैसे—

छमा, छमनो या छमानो—जांबवती समेत मनि दै पुनि अपनौ दोष छमायौ[६१] ।
संताप, सतापनो—अरु पुनि लोभ सदा सतापै[६२] ।

सूरदास द्वारा प्रयुक्त यौगिक धातुओ के पुन दो वर्ग किये जा सकते हैं—क. प्रेरणार्थक धातु और ख नाम धातु ।

क प्रेरणार्थक धातु—दूसरे शब्दो से बनी हुई धातुओ के जो विकृत रूप वाक्य में 'कर्त्ता' का किसी कार्य या व्यापार की ओर प्रेरित किया जाना सूचित करते हैं, वे 'प्रेरणार्थक' धातु कहलाते हैं। इसी से प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। साधारणत 'आनो', 'जानो', 'पानो', 'सकनो' आदि कुछ क्रिया-रूपो को छोडकर अन्य क्रियाओं के दो प्रेरणार्थक रूप होते हैं—पहला सकर्मक रूप और दूसरा शुद्ध प्रेरणार्थक रूप। सूरदास ने 'सकर्मक और प्रेरणार्थक' रूप बचाने के लिए जिन नियमो का आश्रय लिया है, उनमे मुख्य ये हैं—

अ क्रिया के मूल रूप अर्थात् धातु के अतिम अक्षर को आकारात करके और

५५ सा. १-१८० । ५६ सा १६४० । ५७ सा ११०७ । ५८ सा ९-५८ ।
५९. सा. २५११ । ६०. सा. २९९७ । ६१. सा. ४१९० । ६२. सा ३-१३ ।

कभी-कभी अंत मे अतिरिक्त 'आव' या 'वा' जोडकर; जैसे—माया तुमसौं कपट करावति[६३]। स्यदन खडि महारथि खडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ[६४]। वालमुकुदहि कत तरसावति[६५]। छेरी कौन दुहावै[६६]। गनिका सुक-हित नाम पढ़ावै[६७]। नाम-प्रताप वढ़ायौ[६८]। आदि पुरुप मोकौ प्रगटायौ[६९]। वे रुचि सौं अँचवावत[७०]। सुमिरत औ सुमिरावत[७१]।

आ. एकाक्षरी आकारात धातु को ह्रस्व अर्थात् अकारात करके और उसके वाद 'व' जोड़कर, जैसे—माखन खाइ, खवायो ग्वालनि[७२]।

इ एकाक्षरी एकारात और ओकारात धातु को क्रमश. इकारात और उकारात करके और उसके अत मे 'रा', 'ला' या 'वा' जोड़कर, जैसे—गारी होरी देत दिवावत[७३]। जसुदा मदन गुपाल सुवावै[७४]।

ई. दो अक्षरो की धातु के प्रथमाक्षर की 'आ', 'ई' या 'ऊ' मात्राओ को लघु करके और अत मे 'आ', 'आव' या 'वा' जोडकर, जैसे—वहुरि बिधि जाइ छमवाइ कै रुद्र कौ[७५]। काहूँ कछु न जनावत[७६]। दोउ सुतनि जिवावति[७७]। मन मेरैं नट के नायक ज्यौ नितही नाच नचायौ[७८]। नयौ देवता कान्ह पुजावत[७९]। मदन चोर सौं जानि (आपुकौं) मुसायौ[८०]। अति रस-रासि लुटावत लूटत[८१]। राधिका मौन-व्रत किन सधायौ[८२]।

ऊ. दो अक्षरो की धातु के प्रथमाक्षर के 'ए' या 'ओ' की मात्राओ के स्थान पर क्रमश 'इ' या 'उ' करके और अंत मे 'आ', 'रा' या 'राव' जोडकर, जैसे फदन काटि छुड़ायौ[८३]। हौं तुम्हैं दिखराइहौं वह रूप[८४]। जसुमति.. लाल लिए कनियाँ चदा दिखरावति[८५]।

ए. तीन अक्षरो की कुछ धातुओ के द्वितीय अक्षर को दीर्घ करके, जैसे—पछिले कर्म सम्हारत नाही[८६]।

ख. नाम धातु—क्रिया के मूल रूप के स्थान पर सज्ञा या विशेषण शब्द का जव धातु के समान प्रयोग किया जाता है और उसमे 'नो' जोडकर क्रिया का सामान्य रूप वनाया जाता है, तव उसे 'नाम धातु' कहते है। सूर-काव्य मे इस प्रकार के अनेक प्रयोग मिलते हैं। ऐसे क्रिया-प्रयोगो से वाक्य को सगठित वनाने मे तो विशेप सहायता मिलती ही है, सक्षेप मे वात कहने की सुविधा भी रहती है। ये प्रयोग भापा की

---

६३ सा १-४२। ६४ सा १-२७०। ६५ सा ३६५। ६६ सा १-१६८ ६७ सा. १-२२२। ६८. सा १-१८८। ६९. सा २-३६। ७० सा. १३०७। ७१ सा २-१७। ७२ सा १०-३०३। ७३. सा. २९०१। ७४. सा १०-६५। ७५. सा ४-६। ७६ सा ८-४। ७७ सा १०-२२८। ७८. सा १-२०५। ७९. सा ९०६। ८०. सा २५११। ८१. सा. ६८६। ८२ सा १७२९। ८३. सा. १-१८८। ८४. स. ८-१०। ८५. सा. १०-९५। ८६. सा १-६१।

प्रकृति से मेल खानेवाले और जन-साधारण के लिए बोधगम्य अवश्य होने चाहिएँ। सूर-काव्य मे प्राप्त इस प्रकार के रूपो को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—अ. सज्ञा से बने रूप और आ. विशेषण से बने रूप।

अ. संज्ञा से बने रूप—जिन सज्ञा शब्दो को धातुवत् स्वीकार करके सूरदास ने 'नो' के योग से सामान्य क्रिया-रूप बनाये हैं और जिनके विविध विकृत रूपो का अपने काव्य मे सर्वत्र प्रयोग किया है, उनमे से कुछ यहाँ सकलित हैं,—पुन्यफल अनुवभति नदघरनि[८७]। स्याम प्रीतिहिं तैं अनुरागत[८८]। वै कितनौं अपमानत[८९]। दसरथ चले अवध आनदत[९०]। सोइ तुम उपदेसियौं[९१]। को सकै उपमाइ[९२]। आजु अति कोपे हैं रन राम[९३]। कृष्न-जन्म सु प्रेमसागर क्रीड़ैं सब ब्रज लोग[९४]। इहिं तन छनभगुर के कारन गरवत कहा गँवार[९५]। थोरी कृपा बहुत गरवानी[९६]। हरि उनके दोष छमाए[९७]। यह निदिहै मोहिं[९८]। मनहुँ प्रससत पिक बर बानी[९९]। इनहिं बधायौ कस[१]। निपट निसक विवादति सम्मुख[२]। सुन्दर नारि ताहि विवाहै[३]। ज्ञान विवेक विरोधै दोऊ[४]। ओछनि हूँ व्यौहारत[५]। उडत नही मन व्रीड़त[६]। तव सडामर्का संकाइ[७]। अरु पुनि लोभ सदा सतापैं हरि माया सब जग सतापै . सुख दुख तनिकौ तिहिं न सँतापै[८]। अक्रूर सब कहि सतोपे[९]। भाल-तिलक भुव चाप लै सोइ सधान संधानत[१०]। हम प्रतिपालैं, बहुरौ संहरैं[११]। उत्तम भाषा ऊँचे चढि-चढि अग अग सगुनावै[१२]। अतिथि आए को नहिं सनमानै[१३]। मति माता करि कोप सरापै[१४]। मोहन मोहनि अग सिगारत[१५]। सेवत जाहि महेस[१६]। अलक अधिक सोभावै[१७]। कपट करि बिप्र कौ स्वाँग स्वाँग्यौ[१८]। नैना हठत खरे री[१९]। हृदय होमत हवि[२०] आदि।

आ विशेषण से बने रूप—सज्ञा शब्दो की भाँति कुछ विशेषणो को भी धातु-रूप मे स्वीकार करके कवि ने, क्रिया के सामान्य रूप के विकृत प्रयोग किये हैं, परतु ऐसे प्रयोगो की सख्या, सज्ञा-रूपो की अपेक्षा बहुत कम है, जैसे—देखत सूर अग्नि अधिकानी[२१]। यह दीन्हे ही अधिकैहै[२२]। तऊ नहिं तृपितात[२३]। जोग दृढ़ान्यौ[२४]। लोचन लोलति[२५]।

---

८७. सा. १०-१०९। ८८ सा १९०५। ८९ सा. २३१३।
९० सा ९-२७। ९१. सा. ३४३१। ९२. सा १८१९।
९३ सा ९-१५८। ९४. सा. १०-२६। ९५. सा १-८४। ९६ सा ११२७।
९७. सा ८००। ९८ सा. ३४१२। ९९ सा २७८५। १ सा. ३५८७।
२. सा १०-३२६। ३. सा ३-१३। ४ सा. १-१७३। ५ सा १-१२।
६. सा १७९१। ७. सा ७-२। ८ सा ११-३। ९. सा २९६७।
१०. सा. २३९८। ११. सा. ४-३। १२ सा. ३४५५। १३ सा. १२-३।
१४ सा ९-८४। १५. सा २६२८। १६ सा ४२१०। १७ सा १०-६५।
१८ सा. ४२१५। १९. सा. १८६४। २० सा २७८१। २१. सा. ५९३।
२२. सा २२६७। २३ सा. १२९८। २४ सा. ३६०१। २५. सा. १४३९।

उक्त तथा सूर-काव्य में प्राप्त अन्यान्य नामधातुओ को प्रयोग-विस्तार की दृष्टि से दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे वे नामधातुएँ आती है जिनको कवि-समाज ने उपयुक्त समझ कर अपना लिया है, कोशो मे जिनको स्थान मिल चुका है और गद्य मे तो कम, पद्य मे अवश्य अनेक कवियों ने जिनका यथावसर प्रयोग भी किया है, जैसे—अनुभवना, अनुमानना, अनुरागना, अपमानना, उपदेसना, कोपना, गरवना, छमाना, चोरना, प्रससना, बिवाहना, व्यवहारना, सघारना, सनमानना, सिगारना, सेवना, हठना, होमना आदि। दूसरे वर्ग मे वे प्रयोग आते हैं जिनका प्रचार तो अपेक्षाकृत सीमित रहा, परतु जिनसे कवि की स्वतंत्र मनोवृत्ति के साथ साथ नवीन शब्द-निर्माण करनेवाली उसकी अद्भुत प्रतिभा का परिचय मिलता है; जैसे—अधिकना, आदरना, आनदना उपमाना, क्रीडना, तृपिताना, दृढाना, निंदना, प्रससना, बधाना, बिबादना, बिरोधना, व्रीड़ना, लोलना, सकाना, सगुनाना, सोभना, स्वाँगनाँ आदि।

अनुकरण धातु—उक्त रूपो के अतिरिक्त सूर-काव्य मे एक प्रकार के और धातु-रूप मिलते हैं जिन्हे 'अनुकरण धातु' कह सकते है। ये रूप किसी पदार्थ या व्यापार की ध्वनि के अनुरूप बने शब्दो से अथवा उनमे 'आ' जोड़कर बनाये जाते हैं। इनमें 'ना' या 'नो' के योग से क्रिया का सामान्य रूप बनता है जिसके विकृत प्रयोगो की सख्या सूर-काव्य मे प्रर्याप्त है, जैसे—कदम करारत काग[२६]। बरत बन पात भहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायौ[२७]। घहरात गररात दररात हररात तररात झहरात माथ नाए[२८]। दरदरात घहरात प्रबल अति[२९]।

२. कृदंत—

संज्ञा और विशेषण शब्दो का प्रयोग सूरदास ने जिस प्रकार धातु रूप मे करके, 'नो' के योग से सामान्य क्रियाएँ बनायी है, उसी प्रकार अनेक धातुओ का मूल रूप मे अथवा विविध प्रत्यय जोडकर उनका प्रयोग सज्ञा, विशेषण आदि अन्य शब्द-भेदो के समान भी किया है। ये द्वितीय प्रकार के रूप ही 'कृदत' कहलाते हैं। सयुक्त क्रियाओं के निर्माण मे इनका विशेष रूप से उपयोग होता है। स्थूल रूप से इनके दो भेद किये जा सकते हैं—१. विकारी कृदत और २ अविकारी कृदंत।

१. विकारी कृदंत—इनका प्रयोग मुख्य रूप से सज्ञा और विशेषण के समान किया जाता है। इनके चार भेद होते है—क. क्रियार्थक सज्ञा, ख. कर्तृवाचक, ग. वर्तमान-कालिक कृदंत और घ भूतकालिक कृदंत।

क. क्रियार्थक संज्ञा—धातु के अत में 'नो' या 'बो' जोडने से व्रजभाषा-क्रिया का जो सामान्य रूप बनता है, उसका प्रयोग क्रियावत् न होकर प्राय. संज्ञा के समान किया जाता है। इसी को 'क्रियार्थक संज्ञा' कहते हैं। सूर-काव्य मे प्रयुक्त अधिकाश क्रियाएँ धातु मे 'ना', 'वा' अथवा इनके विकृत रूपो के सयोग से बनायी गयी हैं,

---

२६. सा. ११२६। २७ सा. ५९६। २८. सा. ८५३। २९. सा. ९३१।

यद्यपि कुछ अतिरिक्त रूप भी यत्र-तत्र मिलते है। इस प्रकार इनके तीन वर्ग किये जा सकते हैं—क्ष 'नो' से बने रूप, त्र. 'बो' से बने रूप और ज्ञ. अन्य रूप।

क्ष 'नो' से बने रूप—धातु मे 'नो' अथवा इसके जिन विकृत रूपो के सयोग से क्रियार्थक सज्ञा के रूप सूरदास ने बनाये हैं, उनमे मुख्य यहाँ दिये जाते हैं—

अ. न—अज भयोहूँ न आवन[३०]। माखन खान सिखाए[३१]। कहत तिनसौं धूम घूँटन, नाहि चालन प्रीति[३२]। मन, रहन अटल करि जान्यौ[३३]।

नकारात रूपो के साथ-साथ कही-कही सूरदास ने विभक्तियो का भी प्रयोग किया है, जैसे—सत्य के गहन की सुधि भुलाई[३४]। धाई नद सुवन-मुख जोहन कौं[३५]। दोष देन कौं नीकौ[३६]।

आ न—व्रजभाषा की ओकारात प्रकृति से मेल न खाने के कारण नाकारात रूपो की सख्या बहुत कम है। तुकात-पूर्ति के लिए अपवाद-रूप मे ही ऐसे प्रयोग दिखायी देते हैं, जैसे—तिनहि कठिन भयौ देहरि उलघना[३७]।

इ. नि—मुख की कहनि कन्हैया की[३८]। वह चलनि मनोहर[३९]। यह छाँडनि वह पोषनि[४०]। कर धरि चक्र चरन की धावनि[४१]। वा प्रताप की मधुर बिलोकनि पर वारौ सब भूप[४२]।

ई नी—निकारात रूपो की तुलना मे इस प्रकार के रूपो की सख्या बहुत कम है, जैसे—मुख मुख जोरि तिलक की करनी[४३]।

उ. नौ—स्याम कौ मिलनौ बडी दूरि[४४]। प्रानप्रियहि रूसनौ कहि कैसौ[४५]।

त्र 'बो' से बने रूप—धातु मे 'बो' या इसके निम्नलिखित रूपांतरो के संयोग से क्रियार्थक सज्ञाएँ सूरदास ने बनायी है—

अ व—दुरलभ जनम लहब बृदाबन[४६]।

आ इबे, बे—इस प्रत्यय के योग से बने रूपो के साथ कभी विभक्ति का प्रयोग सूर ने किया है और कभी नही किया है, जैसे—तीनि और कहिबे कौं रही[४७]। जोग अगिनि दहिबे कौं ध्यायो[४८]। मिलिबे मॉझ उदास अनत चित[४९]। खैबे कौं कछु भाभी दीन्हौं[५०]। मत्री काम कुमति दीबे कौं[५१]। लैबे कौं धाए[५२]। उडि न सकत उडिबै अकुलावत[५३]। ऊधौ, और कछू कहिबै कौं[५४]।

---

३० सा ३६६१ । ३१ सा २६५७ । ३२ सा ३६९१ । ३३. सा १ ३१९ ।
३४ सा ४२२१ । ३५. सा. २९८२ । ३६ सा. १-१८६ । ३७ सा १०-११३ ।
३८ सा २००३ । ३९ सा ३६०२ । ४० सा ४२५८ । ४१ सा १-२७९ ।
४२ सा ९-१३४ । ४३. सा ९-१०१ । ४४. सा. २९६१ । ४५ सा २८२६ ।
४६ सा १२१६ । ४७ सा १२-४ । ४८ सा ३६१२ । ४९ सा २५२४ ।
५० स ४२४५ । ५१ सा १-१४४ । ५२ सा ४२०० । ५३. सा १३६८ ।
५४. सा. ३५१८ ।

इ. इवैं, वैं—कहिवैं जिय न कछू सक राखौ[५५]। पग दिये तीरथ जैइवै काज[५६]। पकरिवैं धावत[५७]। अपनौ पिंड पोषिवैं कारन[५८]। फुरै न वचन वरजिवैं कारन[५९]।

ई. इवौ—कहँ माखन कौ खइवौ[६०]। ब्रज कौ बसिवौ मन भावै[६१]। वहिवौ नही निवारै[६२]। जिहि तन हरि भजिवौ न कियौ[६३]। सप्तम दिन मरिवौ निरधार[६४]।

ज्ञ अन्य रूप—धातु मे 'नौ', 'वौ' अथवा इनके विकृत रूपो का योग न करके अन्य कई प्रत्ययो के सयोग से भी सूरदास ने क्रियार्थक सज्ञाएँ वनायी हैं और कही-कही तो मूल धातु का ही प्रयोग क्रियार्थक सज्ञा के समान किया है, जैसे—

अ. मूल धातु—वाँसनि मार मची[६५]।

आ. एकारांत रूप—गाए सूर कौन नहि उवरयौ[६६]। और भजे तैं काम सरै नहिं[६७]। हरि सुमिरे तैं सव सुख होइ[६८]।

इ. ऐकारांत— जो सुख होत गुपालहि गाऐं[६९]। उनही कौ मन राखै काम[७०]।

ई. ऐकारांत—उठि चलि कहै हमारें[७१]।

ख. कर्तृवाचक सज्ञा—मूल धातु अथवा क्रियार्थक सज्ञा मे जो प्रत्यय जोडकर सूरदास ने कर्तृवाचक सज्ञा-रूप बनाये है उनको भी स्थूल रूप से चार वर्गों मे रखा जा सकता है—क्ष. 'न' के योग से वने रूप, त्र. 'वार' के योग से बने रूप, ज्ञ. 'हार' के योग से वने रूप और द्य. अन्य प्रत्ययो के योग से वने रूप।

क्ष. 'न' के योग से रूप—न, ना, नि, नी, और नौ—इन पाँच प्रत्ययो के योग से वने जो कर्तृवाचक सज्ञा-रूप सूर-काव्य में मिलते है, उनमे से प्रमुख यहाँ सकलित हैं—

अ. न—आपुन भए उधारन जग के[७२]। (नद-नदन) चरन सकल सुख के करन... रमा कौ हित करन[७३]। रावन कुल-खोवन[७४]। गनिका तारन ... मैं सठ विसरायौ[७५]। (गग तरग) भागीरथहि भव्य वर दैन[७६]। हरि ब्रज-जन के दुख विसरावन[७७]। कृपा निधान..... सदा सँवारन काज[७८]।

आ. ना—अखिल असुर के दलना[७९]।

---

५५ सा.३५४० । ५६. सा.४-१२ । ५७. सा.१०-११०। ५८. सा १-३३४ । ५९. सा.१०-२८३ । ६०. सा.३७६६ । ६१. सा.४२५४ । ६२. सा.३७७८ । ६३. सा.२-१६ । ६४. सा.१-२६० । ६५. सा.२९०५ । ६६. सा १-६६ । ६७. सा.१-६८ । ६८. सा.२-५ । ६९. सा.२-६ । ७०. सा.२५४० । ७१. सा.२५८७ । ७२. सा.१-२०७ । ७३. सा १-३०७ । ७४. सा.९-८८ । ७५ सा.२-३० । ७६. सा.९-१२ । ७७. सा.६०३ । ७८. सा.१-१०९ । ७९. सा.१०-५४।

इं नि—हरि जू की बाल छवि .. कोटि मनोज सोभा हरनि[८०]।

ई. नी—मूरति दुसह दुख भय हरनी[८१]।

उ नौ—मनिमय भूषन कठ मुकुतावलि कोटि अनग लजावनौ .. स्यामा स्याम बिहार सुर ललना ललचावनौ[८२]।

श्र. 'वार' के योग से बने रूप—वार, वारी, वारे और वारौ आदि रूपातरो के योग से इस वर्ग के रूप बनाये जाते हैं। सूर-काव्य मे इनमे से प्रथम दो के कुछ उदाहरण मिलते हैं। इनमे से प्रथम एकवचन रूप है और द्वितीय बहुवचन, जैसे—

अ. वार—यह ब्रज को रखवार[८३]।

आ वारे—बहु जोधा रखवारे[८४]।

ज्ञ 'हार' के योग से बने रूप—हार, हारि, हारी, हारे और हारौ—इन पांच रूपातरो के योग से सूरदास ने कर्तृवाचक सज्ञा-रूप बनाये हैं। इनमे से प्रथम और अतिम एकवचन पुल्लिग रूप हैं और चतुर्थ बहुवचन पुल्लिग या आदरार्थक। एकवचन हारि और हारी से स्त्रीलिंग रूप बनाये गये हैं, जैसे—

अ. हार—ओढ़नहार कमरि को[८५]। खेवनहार न खेवट मेरै[८६]। तच्छक डसनहार मत जान[८७]। काकौं दीखै दिखहार[८८]। मथनहार हरि[८९]। को है मेटनहार[९०]। राखनहार अहे कोउ औरै[९१]। साँचौ सो लिखहार कहावै[९२]।

आ हारि—हाट की बेचनहारि[९३]। मथनहारि सब ग्वारि बुलाई[९४]।

इ हारी—स्यामहिं तुम भई भिरकनहारी[९५]। यह मुरली कुस दाहनहारी[९६]। छाँडहि बेचनहारी[९७]। दीखति है कछु होवनिहारी[९८]।

ई हारे—अधम उधारनहारे[९९]। कमरी के ओढ़नहारे[१]। अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे[२]।

उ हारौ—सोइ जानत चाखनहारौ[३]। सुगंध चुरावनहारौ[४]। को जो याकौं मेटनहारौ[५]। रोकनहारौ नद महर-सुत[६]।

---

८०. सा १०-१०९। ८१ सा. ९-१०१। ८२. सा २८३२। ८३ सा १३९२। ८४ सा ९-१०५। ८५ सा १४८७। ८६. सा. १-१८५। ८७ सा १२-५। ८८ सा १२-४। ८९ सा ९२०। ९०. सा ९-१२९। ९१. सा. ७-३। ९२ सा १-१४२। ९३ सा १०-२९५। ९४. सा ५२०। ९५. सा १५३६। ९६. सा १३०९। ९७ १५१८। ९८. सा. ४-५। ९९ सा. १-२५। १ सा १५१७। २. सा १-१८५। ३. सा. १०-१३५। ४. सा २६९५। ५ सा. ९-१६। ६ सा. १५९३।

ग्र. अन्य प्रत्ययो से बने रूप—इया, ई, ऐया, क, त, ता, वा और वैया—इन आठ प्रत्ययो से बने कर्तृवाचक सज्ञा-रूप इस वर्ग में आते है। इनमें से 'ऐया' के योग से बने रूपो की सख्या सूर-काव्य मे सबसे अधिक हैं। 'ई' को छोड़कर शेष सभी प्रत्यय पुल्लिग-रूप बनाने के लिए काम मे लाये गये है, जैसे—

अ. इया—ये दोउ नीर गँभीर पैरिया[७]।

आ. ई—जग हित प्रगट करी करुनामय अगतिनि कौ गति दैनी[८]।

इ. ऐया—कोउ नहि घात करैया[९]। बिबिध चौकरी बनाउ धाय रे बनैया'' बहुविधि जरि करि जराउ ल्याउ रे जरैया''धन्य रे गड़ैया''' झूलौ हो झुलैया[१०]। ये दोउ मेरे गाइ चरैया[११]।

ई. क—कस-उरहि के सालक[१२]।

उ. त—ये सबही के त्रात[१३]।

ऊ. ता—तुमहि भोगता, हरता, करता तुमही[१४]। परम पवित्र मुक्ति को दाता[१५]।

ए वा—जानति है गोरस के लेवा याही बाखरि माँझ[१६]।

ऐ. वया—जहाँ न कोऊ हो रखवैया[१७]। मन-तंत्री सो रथ-हँकवैया[१८]।

ग. वर्तमानकालिक कृदंत—धातु के अत में 'त' जोड़कर वर्तमानकालिक कृदंत सूरदास ने बनाये हैं। स्त्रीलिंग रूपो मे 'त' के स्थान पर 'ति' मिलता है, जैसे—

अ. त—लाखागृह तैं जरत पाडु-सुत बुधि-बल नाथ उबारे[१९]। प्रात समम उठि सोवत सिसु कौ बदन उघारयौ नद[२०]।

आ. ति—ते निकसी देति असीस[२१]।

घ भूतकालिक कृदंत—धातु के अत में ई, नौ, न्ही, न्हौ, यौ आदि जोडकर सूरदास ने भूतकालिक कृदत बनाये है। इनमे 'ई' और 'न्ही' वाले रूप स्त्रीलिंग हैं, शेष सामान्य रूप अर्थात् पुल्लिग एकवचन है। भूतकालिक कृदतो का प्रयोग प्राय. विशेषणो के समान किया गाता है, जैसे—

अ. ई—दीजै बिदा...कालि्ह साँझ की आई[२२]। आनँद-भरी जसोदा उमँगि अंग न माति[२३]।

आ. नौ—दूघ-दही बहु विधि कौ दीनौ सुत सौ धरति छिपाई[२४]।

इ. न्ही—इद्रहि की दीन्ही रजधानी[२५]।

---

७. सा ३५८७। ८. सा. ९-११। ९. सा. ४२८। १०. सा. १०-४१। ११. सा ५१३। १२. सा. ४२६। १३. सा ९८६। १४ स.. ८४५। १५. सा. ९-१२। १६. सा. १६७६। १७.सा. १०-३३५। १८. सा. ४-१२। १९. सा. १-१०। २०.सा.१०-२०३। २१. स. १०-२४। २२. सा. १०-१६। २३. सा.१०-३०। २४.सा.१०-३२५। २५. सा. ८८६।

ई. न्हौ—मेरैं बहुत दई को दीन्हौ[२६] ।

उ. यौ—भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज[२७] ।

२. अविकारी कृदंत—ये कृदन प्राय क्रियाविशेषण और सबधसूचक अव्ययो के समान प्रयुक्त होते हैं। इनके भी चार भेद हैं—क पूर्वकालिक, ख तात्कालिक, ग अपूर्ण क्रियाद्योतक और घ पूर्ण क्रियाद्योतक ।

क पूर्वकालिक कृदंत—ये कृदत अकारात, आकारात, एकारात और ओकारात धातुओ मे इ, ई, ऐ, य आदि प्रत्यय लगाकर बनाये गये है। इनके अतिरिक्त धातु के साथ करि, के, कैं, कै आदि के योग से भी सूर ने पूर्वकालिक कृदत बनाये हैं, जैसे—

अ इ—सूर कहैं कमि फेंट[२८] । कचन खोइ काँच लै आए[२९] । तब मैं डरपि कियौ छोटौ तनु[३०] । तुम कर्तहि मरत हौ रोइ[३१] । तू कहि कथा समुझाइ[३२] । तन होमि मदन-मख मिलौं माधवहि जाइ[३३] ।

आ ई—(हौं) देखौं जाई[३४] । कहति हौं टेरी[३५] । न्हात भजे कुस डारी[३६] । सब भाई उत्तर दिसा गए हरि ध्याई[३७] । राखि लेहु बलि त्रास निवारी[३८] । दुरवासा दुर्जोधन पठयौ पाडव अहित बिचारी[३९] ।

इ ऐ—नैंकु चितै मन हरि लीन्हौं[४०] । ब्रजभामिनि सरबस दै सुत-सदन बिसारे[४१] । गगन-मँडल तैं गहि आन्यौ है पछी एक पठै[४२] । सूर स्याम इहि भाँति रिझै किनि तुमहुँ अधर-रस लेउ[४३] । गिरि लै भए सहाई[४४] ।

ई. य—खाय बिष गृह लाए दीन्हौं[४५] ।

उ करि—दैकरि साप पिता पहँ आयौ[४६] ।

ऊ के—मिटी प्यास जमुना-जल पीके[४७] ।

ए कैं—लच्छागृह तैं काढ़ि कें पाडव गृह लावै[४८] ।

ऐ कै—देवराज मघ भग जानिकै बरष्यौ ब्रज पर[४९] । मोहिं तजिकै[५०] । अति प्रपच की मोट बाँधि कै अपनै सीस धरी[५१] । कै प्रभु हार मानिकै बैठौ[५२] । खाइ मारिकै औरें[५३] । (माया) मुसुक्याइ कै. .. मन हरि लीन्हौ[५४] ।

उकारात धातुओ के पूर्वकालिक कृदत बनाने के लिए धातु मे 'इ' लगाने के साथ अत्य 'ऊ' के स्थान पर 'व' कर दिया गया है, जैसे—मोतन छ्वै बैहर चले[५५] ।

---

२६. सा १०-३२१ । २७ सा १-१५१ । २८ सा. १-१४५ ।
२९. सा २५११ । ३० सा ९-१०४ । ३१. सा १-२६२ ।
३२ सा. ११-२ । ३३ सा ३२९२ । ३४ सा १-२८६ । ३५ सा. १-२५२ ।
३६. सा. १-२२२ । ३७ सा. १-२८८ । ३८ सा १-१६० । ३९. १-२२२ ।
४०. सा. १-४४ । ४१ सा १-९४ । ४२ सा १०-१९५ । ४३ सा १३३० ।
४४. सा. १-१२२ । ४५ सा १-१०२ । ४६ सा १-२९० । ४७ सा १३९४ ।
४८. सा १-४ । ४९ सा १-१२२ । ५०. सा ११-२ । ५१. सा १-१८४ ।
५२. सा १-१३७ । ५३ सा १-१८६ । ५४. सा १-४४ । ५५ सा १४४३ ।

एकाक्षरी ओकारात क्रिया 'ह्वो' का पूर्वकालिक रूप सूरदास ने 'ह्वै' बनाया है; जैसे—'ह्वै' गज चल्यौ स्वान की चालहिं[56]। बान बरषा लागे करन अति क्रुद्ध 'ह्वै'[57]। नृपति रिषिनि पर 'ह्वै' असवार चल्यौ[58]। गोप-पुत्र 'ह्वै' चल्यौ[59]। उठि चल्यौ 'ह्वै' दीन[60]।

इनके अतिरिक्त कुछ धातुओ का मूल रूप मे ही पूर्वकालिक कृदंतो के समान सूरदास ने प्रयोग किया है, जैसे—मुक्त होइ नर ताकौ जान[61]। स्वामिनि-सोभा-पर वारति सखि तृन तूर[62]। जगतपति आए खगपति त्याज[63]।

ख. तात्कालिक कृदंत—ये कृदत तकारांत वर्तमानकालिक कृदतो के अंत मे मुख्यतः 'हिं', 'ही' या 'ही' जोडकर बनाये गये हैं; जैसे—

अ हिं—बसुदेव उठे यह सुनतहिं[64]।

आ हीं—आवतहीं भई कौन बिथा री[65]। यह बानी कहतहीं लजानी[66]। चितवतही सब गए झुराई[67]। मुख निरखतहीं सुख गोपी प्रेम बढा-वत[68]। प्रभु वचन सुनतहीं हनुमत चल्यौ अतुराई[69]।

इ ही—जैसी कही हमहिं आवतही[70]। सुरन के कहतही धारि कूरम तनहिं[71]। सुमिरतही ततकाल कृपानिधि-बसन-प्रवाह बढायौ[72]।

इनके अतिरिक्त सूर-काव्य के अनेक पदो मे तकारात वर्तमानकालिक कृदंतो का मूल रूप मे भी तात्कालिक कृदतो के समान प्रयोग किया गया है; जैसे—मेरी देह छुटत जम पठए दूत[73]। साँचे बिरद सूर के तारत लोकनि-लोक अवाज[74]। नाम लेत ताको दुख टार्यौ[75]। सुनत पुकार दौरि छुडायौ हाथी[76]।

ग. अपूर्णक्रियाद्योतक कृदत—ये कृदत धातु मे 'तौ' जोडकर बनाये गये है, जैसे—नैन थके मग जोइतौ[77]।

साधारणत. अपूर्णक्रियाद्योतक रूपो मे 'हिं', 'हीं' या 'हि' नही जोडा जाता, परतु अपवादस्वरूप सूरकाव्य मे कहीं-कहीं 'हिं' भी दिखायी देता है, जैसे—स्याम खेलतहिं कूदि परे कालीदह जाइ[78]।

घ. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदत—ये कृदत-रूप धातु मे प्रायः 'ए', 'ऍ', या 'न्हे', लगाकर बनाये गये हैं, जैसे—धाईं सब ब्रजनारि सहज सिंगार किए[79]। नाचत महर मुदित मन कीन्हे[80]। बन तैं आवत धेनु-चराए[81]। खेलत-फिरत कनकमय आँगन-पहिरे-

५६. सा १-७४। ५७. सा १-२७१। ५८. सा ६-७। ५९. सा ६०४।
६०. सा ११-२। ६१. सा ३-१३। ६२. सा २८६८। ६३. सा १-२५५।
६४. सा १०-८। ६५. सा ६९७। ६६. सा ७७६। ६७. सा ९२७।
६८. सा ६१७। ६९. सा ९-१४९। ७०. सा ३५१६। ७१. सा ८-९।
७२. सा १-१०९। ७३. सा १-१५१। ७४. सा १-९६। ७५. सा १-१४।
७६. सा १-११२। ७७. सा ४२५७। ७८. सा ५४३। ७९. सा १०-२४।
८०. सा १०-४। ८१. सा ४१७।

लाल पनहियाँ[८२] । बन तैं आवत गो-पद-रज लपटाए[८३] । स्याम आपने कर लीन्हे बाँटत जूठन भोग[८४]

३. वाच्य—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य, तीनो मे से प्रथम के प्रयोग तो सूर-काव्य मे सामान्य हैं, अतिम दो वाक्यो के प्रयोगो मे विशेषता मिलती है।

क. कर्तृवाच्य— इस प्रकार के प्रयोगो मे वाक्य की क्रिया का पुरुष, वचन और लिंग, तीनो बातें कर्त्ता के अनुसार होती हैं। वर्तमान और भविष्यकाल मे प्रयुक्त अकर्मक और सकर्मक, दोनो प्रकार की क्रियाएँ सूर-काव्य मे मिलती हैं, परतु भूतकाल मे केवल अकर्मक क्रियाएँ ही कर्तवाच्य मे प्रयुक्त हुई हैं, जैसे--मन मेरौ हरि साथ गयौ[८५]। चितै रही राधा हरि कौ मुख[८६] । ब्रज जुवती स्याम-सिर तिलक बनावति[८७] । बैठी मानिनी गहि मौन[८८] । बहुरि फिरि राधा सजति सिंगार[८९] ।

ख. कर्मवाच्य—वाक्य मे क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष जब कर्म के अनुसार होता है, तब उसका प्रयोग 'कर्मवाच्य' कहलाता है । ऐसे प्रयोगवाले वाक्यो मे कर्ता, यदि हो तो, करणकारक मे रहता है। इस वाच्य के रूप सूरदास ने तीन प्रकार से बनाये हैं—क्ष. 'जानो' क्रिया की सहायता से, त्र. प्रत्ययो के योग से और ज्ञ. अन्य प्रयोग ।

क्ष 'जानो' क्रिया से बने रूप—गयौ, जाइ, जाई, जात, जाति—'जानो' क्रिया के मुख्यत. इन रूपातरो से सूरदास ने कर्मवाच्य रूप बनाये हैं, जैसे--

अ. गयौ—हमपै घोष गयौ नहिं जाइ[९०] । बिनु प्रसग तहँ गयौ न जाई[९१] ।

आ. जाइ—कहि न जाइ या सुख की महिमा[९२] । तेरौ भजन कियौ न जाइ[९३] । (यह गाइ) अगह, गहि नहिं जाइ[९४] । सो काहू पै जाइ न टारी[९५] । बरनि न जाइ भक्त की महिमा[९६] ।

इ जाई—छबि कहि न जाई[९७] । रावन कह्यौ, सो कह्यौ न जाई[९८] । तात की आज्ञा मोपै मेटि न जाई[९९] । मोपै लख्यौ न जाई[१] । ताकौ बिषाद .. मोपै सह्यौ न जाई[२] ।

ई. जात—यह उपकार न जात मिटायौ[३] ।

उ. जाति—अतर-प्रीति जाति नहिं तोरी[४] । छबि नहिं जाति बखानी[५] । बिपति जाति नहिं बरनी[६] । स्वामी की महिमा कापै जाति बिचारी[७] । अब कैसैं सहि जाति ढिठाई[८] ।

---

८२. सा. ९-१९ । ८३ सा ४१७ । ८४ सा. ८४४ ।
८५. सा. १८८८ । ८६ सा १७६५ । ८७ सा ९५८ ।
८८. सा २५७४ । ८९ सा. २१८३ । ९०. सा. १०२२ ।
९१. सा. ९-३ । ९२ सा ४-१२ । ९३ सा. १-४५ ।
९४. सा. १-५६ । ९५. सा. ४-५ । ९६ सा १-११ । ९७ सा ८-१० ।
९८. सा. ९-१०४ । ९९. सा ९-५३ । १ सा ९-१६१ । २. सा. ९-७ ।
३. सा. ४-९ । ४. सा. १०-३०६ । ५ सा. १०-१५३ । ६ सा ९-७३ ।
७. सा. ३८८ । ८. सा १०-३०३ ।

ग्र. प्रत्ययो के योग से बने रूप—इयै, त आदि प्रत्ययो के योग से सूरदास ने कर्मवाच्य रूप बनाये हैं; जैसे—

अ. इयै—तुम घर मथियै सहस मथानी[९]।

आ. त—रंग कापै होत न्यारी हरद-चूनौ सानि[१०]। ये उतपात मिटत इनही पै[११]।

ङ. अन्य प्रयोग—उक्त रूपों के अतिरिक्त अनेक ऐसे कर्मवाच्य प्रयोग सूर-काव्य मे मिलते है, जिन पर उक्त नियम नही लगते। ऐसे प्रयोग मुख्यत. 'आवनो' और 'परनो' क्रियाओ के रूपातरो के सहयोग से बनाये गये है, जैसे—

अ. आवनो—करनी करुनासिंधु की मुख कहत न आवै[१२]। अंग अंग प्रति छबि तरंग गति. . .क्यो कहि आवै[१३]।

आ. परनौ—अविगत की गति कहि न परति है[१४]। अबिगत गति जानी न परै[१५]। उर की प्रीति. . .नाहिन परति दुराई[१६]। तेरी गति लखि न परै[१७]।

ग. भाववाच्य—इस वाच्य मे प्रयुक्त क्रिया में पुल्लिग, एकवचन और अन्यपुरुष होता है। साधारणत भूतकाल मे प्रयुक्त सकर्मक भाववाच्य क्रिया के साथ 'ने' का प्रयोग किया जाता है और अकर्मक मे 'से' का; परंतु सूरदास ने 'ने' का प्रयोग कहीं नही किया है; जैसे जब तैं सुनी स्रवन रह्यौ न परै भवन[१८]।

४. काल-रचना—

विभिन्न कालो का सबध क्रिया के 'अर्थ' से होता है। 'अर्थ' से तात्पर्य क्रिया के उस रूप से है जो विधान करने की रीति का बोध कराता है। इस दृष्टि से क्रिया के मुख्य पाँच अर्थ होते हैं—क. निश्चयार्थ, ख. सभावनार्थ, ग. सदेहार्थ, घ. आज्ञार्थ और ङ. सकेतार्थ। इनके आधार पर कालो के निम्नलिखित १६ भेद किये जाते हैं[१९]—

क. निश्चयार्थ—१ सामान्य वर्तमान, २. पूर्ण वर्तमान, ३. सामान्य भूत, ४. अपूर्ण भूत, ५. पूर्ण भूत और ६. सामान्य भविष्यत।

ख. संभावनार्थ—७. संभाव्य वर्तमान, ८. संभाव्य भूत और ९. संभाव्य भविष्यत।

ग. संदेहार्थ—१०. संदिग्ध वर्तमान और ११. सदिग्ध भूत।

घ. आज्ञार्थ—१२. प्रत्यक्ष विधि और १३. परोक्ष विधि।

ङ. संकेतार्थ—१४. सामान्य सकेतार्थ, १५. अपूर्ण संकेतार्थ और १६. पूर्ण संकेतार्थ।

गीतिकाव्यात्मक विशिष्ट रचना-शैली अपनायी जाने के कारण सूर-काव्य मे सभी

---

९ सा. ८८६। १०. सा. १४५९। ११. सा. ६००।
१२. सा. १-४। १३. सा. १-६९। १४. सा. १-१२।
१५. सा. १-१०५। १६. सा. ८०१। १७. सा. १-१०४। १८. सा. १३६७।
१९. प० कामता प्रसाद गुरु 'हिंदी व्याकरण', पृ. ३३५।

कालो के सभी पुरुषों, वचनो और लिंगो के पर्याप्त उदाहरण नही मिलते, विशेष रूप से सभाव्य वर्तमान, सभाव्य भूत, सदिग्ध वर्तमान, सदिग्ध भूत, अपूर्ण सकेतार्थ और पूर्ण सकेतार्थ – इन छह काल-भेदो के उदाहरण बहुत कम है। विशेष ध्यान देने पर इन कालो मे प्रयुक्त कुछ क्रिया-रूपो के उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं, जैसे—धर्म विचारत मन मे होइ[२०] (सभव्य वर्तमानकाल), प्रेमकथा सोई पै जानै जापै बीती होई[२१] (संभाव्य भूतकाल) आदि, परन्तु इनके आधार पर काल-विशेष के रूप-निर्माण-सम्बन्धी नियमो का निर्धारण करना उपयुक्त न होगा। अतएव उक्त छह काल-भेदो को छोडकर शेष दस भेदो के विभिन्न कालो, पुरुषो और वचनो के प्रयोगो का सकलन और उनके नियमो की विवेचना यहाँ करना है।

विभिन्न कालो मे प्रयुक्त रूपो मे पुरुष (उत्तम, मध्यम और अन्य), वचन (एक० और बहु०) तथा लिंग (स्त्रीलिंग और पुल्लिग) के अनुसार परिवर्तन होता है। इसे ध्यान मैं रखकर ही सूरदास के क्रिया-प्रयोगो की काल-रचना पर विचार करना है।

१. सामान्य वर्तमान[२२]—इस कारक के लिए दो प्रकार के प्रयोग सूरदास ने किये हैं। प्रथम वर्ग मे 'होना' क्रिया के विकृत रूपो या इनके योग से बने रूपो के प्रयोग आते हैं और द्वितीय वर्ग मे अन्य क्रियाओ के।

क्ष 'होना' क्रिया से वने प्रयोग—विभिन्न पुरुषो और वचनो में 'होना' क्रिया के मुख्य सामान्य वर्तमानकालिक जो प्रयोग सूर-काव्य मे मिलते हैं, उनका प्रयोग प्राय दोनों लिंगो में किया गया है—

क. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष एकवचन—इस वर्ग का प्रमुख रूप 'हौं' है जिसका प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र किया गया है, जैसे —(मैं) देखति हौं[२३]। दुख पावत हौं मैं अति[२४]। मैं तबही की चकित हौं[२५]। भक्त-भवन मैं हौं जु बसत हौं[२६]।

ख सामान्य वर्तमान उत्तमपुरुष : बहुवचन —इस वर्ग में मुख्य रूप 'आहिं' है, जैसे—तुव ननसाल माँहि हम आहिं[२७]।

ग सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : एकवचन – 'आहि' और 'हौ' इस वर्ग के दो मुख्य रूप हैं जिनमे से द्वितीय का प्रयोग सूर-काव्य मे अधिक मिलता है, जैसे—

अ आहि—मोटौ तू आहि[२८]। तू को आहि[२९]। छल करत कछू तू आहि[३०]।

आ हौ—इसका प्रयोग स्वतत्र क्रिया के रूप मे हुआ है और सहायक क्रिया के रूप मे भी, जैसे—तुमही हौ साखि[३१]। तुम हौ परम सभागे[३२]।

---

२० सा १-२९० । २१ सा. ३५४२ ।

२२ 'सामान्य वर्तमान' को 'वर्तमान निश्चयार्थ' भी कहते हैं लेखक।

२३ सा ७७४। २४ सा १-३००। २५ सा २४८७। २६ सा. १-२४३।

२७ सा ६-५। २८ सा ५-४। २९. सा ६-८। ३०. सा. ७-२।

३१. सा १-१८२। ३२ सा. १०-४।

घ. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग का मुख्य रूप 'हौ' है; जैसे—भीत बिना तुम चित्र लिखति हौ[३३]। तुम चाहति हौ गगन-तरैयाँ[३३]।

ङ. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : एकवचन— अहै, आह, आहिं, आहि, आहै, हैं और है—इस वर्ग के मुख्य रूप है जिनमे 'आहि' और 'हैं' आदरार्थक है। प्रयोग की दृष्टि से 'हैं' और 'है' का महत्व सबसे अधिक है, यो 'आहि' भी अनेक पदो मे मिलता है, जैसे—

अ. अहै—राखनहार अहै कोउ और[३४]।

आ. आह—मेरो पति सिव आह[३५]। नृपति कह्यौ, मारग सम आह[३६]। एक पद मे 'न' के साथ 'आह' की संधि भी सूरदास ने की है—तुम-सौ नृप जग मैं नाह[३७]।

इ. आहिं—इनमैं को पति आहिं तिहारे[३८]।

ई. आहि—आहि यह सो मुंडमाल[३९]। नर-सरीर सुर ऊपर आहि[४०]। औसै दंडदाता कोउ आहि[४१]। व्याह-जोग अब सोई आहि[४२]। मन तौ एकहि आहि[४३]।

उ. आहै—प्रबल सत्रु आहै यह मार[४४]।

ऊ. हैं—इस आदरार्थक एकवचन रूप का प्रयोग स्वतंत्र और सहायक, दोनो रूपो मे किया गया है, जैसे—ऐसे हैं जदुनाथ गुसाईं[४५]। प्रभु भक्तवछल हैं[४६]। अंत के दिन को हैं घनस्याम[४७]। सब संतन के जीवन हैं हरि[४८]। (बासुदेव) बिनु बदलैं उपकार करत हैं[४९]। स्याम इन्हैं भरुहावत हैं[५०]। चित्रगुप्त लिखत हैं मेरे पातक[५१]।

ए. है—'हैं' की तरह 'है' का प्रयोग भी स्वतंत्र और सहायक, क्रिया के दोनो रूपो मे सूरदास ने किया है, जैसे—अधम कौन है अजामील तैं[५२]। सूरदास की एक आँखि है[५३]। सूर पतित कौं है हरि-नाम सहारौ[५४]। पाप-पुन्य कौ फल सुख-दुख है[५५]। समदरसी है नाम तिहारौ[५६]। बड़ी है राम-नाम की ओट[५७]। अघ-सिंधु बढ़त है[५८]। जलधारा बरसंतु है[५९]।

च. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : बहुवचन—अहैं, आहिं, आहीं और हैं—

---

३३. सा ७७३। ३४. सा ७-३। ३५. सा. ४-७
३६. सा. ५-४। ३७. सा ९-४। ३८. सा. ९-४५।
३९. सा. १-२२६। ४०. सा. ५-४। ४१. सा. ६-४। ४२. सा. ९-४।
४३. सा. ३७२५। ४४. सा. १-२२९। ४५. सा. १-३।
४६. सा. १-३२। ४७. सा १-७६। ४८. सा. १-२१२।
४९. सा. १-३। ५०. सा. ३३२७। ५१. सा. १-१९७। ५२. सा. १-३५।
५३. सा. १-४७। ५४. सा. १-१३९। ५५. सा १-१५१। ५६. सा. १-२२०।
५७. सा. १-२३२। ५८. सा. १-१०७। ५९. सा. ८७६।

इस वर्ग के चार प्रमुख रूप हैं जिनमे से अतिम का प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता है, जैसे—

अ. अहैं—अहैं कुलट कुलटा ये दोऊ[६०]।

आ आहिं ये को आहिं बिचारे[६१]। ते आहि बचन बिनु[६२]।

इ. आहीं—ब्रज सु दरि नहिं नारि, रिचा स्रुति की सब आहीं[६३]।

ई हैं—इसका प्रयोग स्वतत्र और सहायक, क्रिया के दोनो रूपों के समान सूर-काव्य मे मिलता है, जैसे—और हैं आजकाल के राजा[६४]। औगुन मोमैं बहुत हैं[६५]। भावी कैं बस तीनि लोक हैं[६६]। ये कैसी हैं लोभिनी[६७]। नैन स्याम-सुख लूटत हैं आपुहिं सबैं चुरावत हैं[६८]। जोहत हैं वे पथ तिहारौ[६९]। लोग पियत हैं औरैं[७०]।

त्र अन्य क्रियाओ के सामान्य वर्तमानकालिक प्रयोग—विभिन्न कालो और वचनो के अनुसार अन्य क्रियाओ के सामान्य वर्तमानकालिक रूप भी बदलते रहते हैं। लिंग का अतर साधारणत तकारात रूपो मे होता है, पुल्लिग मे 'त' और स्त्रीलिंग मे 'ति' या 'ती'।

क सामान्य वर्तमान . उत्तमपुरुष . एकवचन—इस वर्ग मे कही तो वर्तमानकालिक मूल कृदंत रूपो का व्यवहार किया गया है और कही धातुओ और कृदतो मे निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर सामान्य वर्तमान के उत्तम पुरुष, एकवचन मे प्रयुक्त रूप बनाये गये हैं जिनमे से 'औं' का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है, जैसे —

अ उॅ—तातैं देउॅ तुम्हें मैं साप[७१]। तेइ कमल-पद ध्याउॅ[७२]। मैं सँत-मेत न विकाउॅ[७३]।

आ. ऊँ—हौं अनतहिं दुख पाऊँ ' काजर मुख लाऊँ[७४]। गौरि-गनेश्वर वीनऊँ[७५]।

इ. औं—मैं काम-क्रोधऽरु लोभ चितवौं[७६]। हौं अतर की जानौं[७७]। चरन-कमल वदौं हरि राइ[७८]। हौं बोलौं साखी[७९]। हौं तैसैं रहौं भूख सहौं भार वहौं[८०]।

ई. त—सदा करत मैं तिनकौ ध्यान[८१]। कहत मैं तोसौं[८२]। हौं तौ रहत विषय के साथ[८३]।

---

६०. सा. १३०९। ६१. सा. १-१७९। ६२ सा. ३५३४। ६३. सा. ११७५। ६४. सा. १-१४५। ६५ सा १-१८६। ६६ सा १-२६४। ६७. सा. २४०७। ६८. सा २३२७। ६९ सा. ४-१२। ७०. सा. १०-३२१। ७१. सा. ३-५। ७२. सा. १०-३६। ७३. सा. १-१२८। ७४. सा. १-१६६। ७५. सा. १०-४०। ७६. सा. १-१२६। ७७. सा. १-२४३। ७८. सा. १-१। ७९ सा. १-१२२। ८०. सा १-१६१। ८१ सा २-३५। ८२. सा. २-३१। ८३. सा. १-१२५।

उ. ति—(मैं) कोटि जतन करि-करि परमोधति[८४]। चतुराई इनकी मैं भारति[८५]।

ऊ. तु—मैं नीकैं पहिचानतु नाहिन[८६]।

ख. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : वहुवचन—इस वर्ग के रूपो की सख्या पूर्वोक्त की अपेक्षा बहुत कम है। जो प्रत्यय इस प्रकार के रूप बनाने के लिए सूर-काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं, उनमे निम्नलिखिति मुख्य है—

अ. तिं—हम जु मरतिं लवलीन[८७]।

आ. ऐं—यहै हम तुम सौं चहैं[८८]। हम तिनकौं छिन मैं परिहरैं ' बिनु अपराध पुरुष हम मारैं ' 'माया-मोह न मन मैं धारैं[८९]।

ग. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : एकवचन—ई, ऐ, त, ति, तिं और हि—विशेष रूप से इन प्रत्ययो के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं; जैसे—

अ. ई—हनू, सोच कत करई[९०]। (तू) अग्र सोच क्यौं मरई[९१]।

आ. ऐ—रे मन, अजहूँ क्यो न सम्हारै ' 'कत जनम बादि ही हारै[९२]।

इ. त—लरिकनि कौ तुम (कृष्ण) सब दिन झुठवत[९३]। पूछे तैं तुम बदन दुरावत[९४]। तुमहूँ धरत कौन कौ ध्यान[९५]। (तुम) राम न भजिकैं फिरत काल-सँग लागे[९६]। मोहन, काहे कौं लजियात[९७]।

ई. तिं(आदरार्थक) – कहा तुम (वृषभानु-घरनि) कहतिं[९८]। तुम (यशोदा) नाहिन पहिचानतिं[९९]।

उ. ति—इसके साथ कही-कही 'है' का प्रयोग मिलता है; जैसे—तू काहे कौं भूलति है[१]।

ऊ. हिं—तनक दधि-कारन जसोदा इतौ कहा रिसाहि[२]।

ङ. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप इ, ई, ऐं, ऐ, त, तिं, ति, हिं, हीं, ही आदि के सयोग से बनाये गये हैं। इनमे से इ, ई, ऐं, ए, त, ति और हिं का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, जैसे—

अ. इ—(जबै आवौं साधु-सगति) कछुक मन ठहराइ[३]। अपने कौं को न आदर देइ[४]।

आ. ई—पुरुष न तिय बध करई[५]। (वह) कछु कुलधर्म न जानई[६]। अटल न

८४. सा. २३५९। ८५. सा. १७७१। ८६. सा. १४८८।
८७. सा. ३३६४। ८८. सा. ३-६। ८९. सा. ९-२। ९०. सा. ९-९९।
९१. सा. १०-४। ९२. सा. १-६३। ९३. सा. १०-२५३। ९४. सा. १०-२७९।
९५. सा. २-३५। ९६. सा. १-६१। ९७. सा. २६७९। ९८. सा. ७५१।
९९. सा. ७०३। १. सा. १२३९। २. सा. ३५०।
३. सा. १-४५। ४. सा. १-२००। ५. सा. १०-४। ६. सा. १-४४।

कबहूँ टरई[७] । (परेवा) तीय जो देखई[८] । आनँद उर न समाई[९] ।

इ ऐं (आदरार्थक)—नदनँदन कहैं[१०] । अर्जुन रन मे गाजैं, ध्रुव आकास बिराजैं[११] । (स्याम) नैन भरि-भरि प्रिया-रूप चोरैं[१२] । (स्याम) नाना भेष बनावैं[१३] ।

ई ऐ—हरि की प्रीति उर माँहि करकै[१४] । नृप-कुल जस गावै[१५] । कर जोरैं प्रहलाद बिनवै[१६] । मूढ मन खेलत हार न मानै[१७] ।

उ त—(बासुदेव स्वारथ बिना करत मित्राई[१८] । अरबराइ कर पानि गहावत[१९] । (स्याम) बदन पुनि गोवत[२०] । इद्र राज हेत डरपत मन माँहि[२१] । निदत मूढ मलय चन्दन कौं[२२] ।

ऊ तिं (आदरार्थक)—मैया तुमकौं जानतिं[२३] ।

ए ति—नैन-बदन-छबि यौं उपचति[२४] । तृष्ना नाद करति[२५] । चद्रावली स्याम मग जोवति कबहुँ मलय रज भोवति पुनि पुनि धोवति ... ऐसैं रैन बिगोवति[२६] ।

ऐ हिं (आदरार्थक)—इक .. देहिं असीस खरी[२७] । एक भेटहिं धाइ[२८] ।

ओ हीं (आदरार्थक)—प्रभु जू साग बिदुर घर खाहीं[२९] । कै रघुनाथ अतुल बल राच्छस दसकधर डरहीं[३०] । बारबार कमलदल लोचन यह कहि-कहि पछितहीं[३१] ।

औ ही—अनुभवी जानही बिना अनुभव कहा[३२] ।

'तकारात' और 'तिकारात' रूपो के साथ-साथ कही-कही 'है' या इसके रूपातरो का प्रयोग भी किया गया है, जैसे—मुरली मे जीवन-प्रान बसत अहै मेरो[३३] । मोहिं होत है दुख बिसेषि[३४] । मुँह पाए वह फूलति है[३५] ।

च. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष . बहुवचन—इस प्रकार के रूप मुख्यत इ, ऐं त, तिं, हिं और हीं लगाकर बनाये गये हैं। इनमे से 'इ' से बने रूपो का प्रयोग बहुत कम किया गया है, शेष रूप सूर-काव्य मे प्रचुरता से मिलते हैं, जैसे—

अ इ—सूर हरि की निरखि सोभा कोटि काम लजाइ[३६] ।

---

७. सा ९-९९ । ८ सा १-३२५ । ९ सा १०-२७ । १० सा १-२४२ । ११ सा. १-३६ । १२ सा. २१९६ । १३ सा. १०-४५ । १४. सा. २९८७ । १५ सा १-४ । १६. सा. ७-४ । १७. सा. १-६० । १८. सा १-३ । १९. सा. १०-११५ । २० सा २५४२ । २१. सा ११-३ । २२ सा. २-१३ । २३. सा. ७०३ । २४ सा. १७६१ । २५ सा. १-१५३ । २६ सा. २४९८ । २७. सा. १०-२४ । २८ सा १०-२६ । २९ सा १-२४१ । ३० सा ९-९१ । ३१. सा. १०१३ । ३२ सा १-२२२ । ३३ सा १०-२८४ । ३४ सा १-२९० । ३५. सा. १२३९ । ३६. सा ३५२ ।

आ. ऐं—सासु-ननद तिन पर भहरैं[३७]। सुनि मुरलि घोरैं सुर-वेधु सीस ढोरैं[३८]। पुर-नारि कर जोरि अचल छोरि बीनवैं[३९]। रोवै वृषभ ... निसि बोलैं काग[४०]। अर्थ-काम दोउ रहैं दुवारैं[४१]।

इ. त—उधरत लोग तुम्हारे नाम[४२]। सब कोउ कहत[४३]। तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी[४४]। सुख सौं बसत राज उनकै सब[४५]। महा मोह के नूपुर वाजत[४६]। जे भजत राम कौं[४७]। सब सेवत प्रभु-पद[४८]।

ई. तिं—(नागरी सब) कबहुँ गावति' कबहुँ नृत्यति' कबहुँ उघटति रग[४९]। कहति पुर-नारि[५०]। तिहिंकौं व्रजवनिता भकभोरति[५१]। सूरदास-प्रभु व्रज-बधु निरखति[५२]। सुत कौं चलन सिखावति' दोउ जनियाँ[५३]।

उ. हि—कौसिल्या आदिक महतारी आरति करहि[५४]। ज्ञानी ताहि विराट कहाहिं[५५]। कमल-कमला रवि बिना विकसाहिं' पदुम नहिं कुम्हिलाहि .. औरहूँ विरमाहि[५६]। (ये) तस्कर ज्यौ सुकृति-धन लेहि[५७]। तीजे मास हस्त-पग होहि[५८]।

ऊ हीं—(जुवती) नैन अंजन अघर आँजही[५९]। विमुख अगति कौ जाहीं[६०]। जुवती' उलटे बसन धारही[६१]। जसुमति-रोहिनी' नचावहीं सुत कौं[६२]। (मुरली-धुनि सुनि) मृग-जूथ भुलाही[६३]। नायिका अष्ट अष्टहुँ दिसि सोहहीं[६४]।

उक्त प्रत्यात रूपो के अतिरिक्त कही-कही मूल धातु का ही प्रयोग सामान्य वर्तमान के अन्यपुरुष वहुवचन रूप मे किया गया है, जैसे—निगम अत न पाव[६५]।

२. पूर्णवर्तमान काल[६६]—इस काल मे प्रयुक्त अधिकाश क्रिया रूप 'है' युक्त हैं। रूपो की सख्या वहुत अधिक न होने और अनेक रूपो की समानता के कारण पुरुष की दृष्टि से उनका विभाजन करने की आवश्यकता नही जान पडती। वचन की दृष्टि से अधिकाश 'औ या 'यौ' आदि युक्त रूप एकवचन मे तथा 'ए' युक्त आदरार्थक एकवचन या वहुवचन मे रहते हैं। अतिम के साथ 'है' के स्थान पर 'है' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार एकारात रूप पुल्लिग मे और इकारात-ईकारात स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त हुए हैं।

---

३७. सा १९२०। ३८. सा, २८३९। ३९. सा. ३०६७।
४०. सा. १-१८६ ४१ सा १-४०। ४२ सा. ११-३।
४३. सा.. १-४४। ४४. सा १ १३३। ४५. सा. १-२९०।
४६. सा. १-१५३। ४७. सा. १०-३९। ४८. सा १-१६३। ४९. सा. १०५९।
५०. सा. ३०६९। ५१. सा १०-८८। ५२. सा. १०-११३। ५३. सा. १०-१३२।
५४. सा. ९-२९। ५५. सा ३-१३। ५६ सा १-३३८। ५७. सा. ५-४।
५८. सा. ३-१३। ५९. सा ९९८। ६० सा. २-२३। ६१. सा. ९९८।
६२. सा. १०-११६। ६३. सा. ६२०। ६४. सा. १०५२। ६५. सा. ११५५।
६६. 'पूर्ण वर्तमान' का प्रचलित नाम 'आसन्न भूतकाल है—लेखक।

ऋ. ई—देवकी-गर्भ भई है कन्या[६७]।

आ. ए—जनम-जनम बहु करम किए हैं[६८]। को जानैं प्रभु कहाँ चले हैं[६९]। द्वारैं ठाढ़े हैं द्विज बामन[७०]। रघुकुल प्रगटे हैं रघुबीर[७१]। (हरि) दाहिन हैं बैठे[७२]। सब प्रतिकूल भए हैं[७३]।

इ. औ—कह्यौ, पुरुष वह ठाढ़ौ आइ[७४]।

ई. न्हे—कहा चरित कीन्हे हैं स्याम[७५]।

उ न्हौ—तुम बहु पतितनि कौं दीन्हौ है सुखधाम[७६]।

ऊ यौ—मैं आयौ हौं सरन तिहारी[७७]। कस-काल उपज्यौ है ब्रज मे जादव राई[७८]। गोकुल...घेर्यौ है अरि मन्मथ[७९]। (सूर) द्वार पर्यौ है तेरैं[८०]। तू तौ बिषया-रग रँग्यौ है[८१]।

२. सामान्य भूतकाल[८२]—सामान्य भूतकाल (निश्चयार्थ) के प्रयोग सूर-काव्य मे दो प्रकार के मिलते हैं—क्ष 'होना' क्रिया के विकृत रूपो या इनके योग से बने प्रयोग और त्र. अन्य क्रियाओ के स्वतत्र प्रयोग।

क्ष 'होना' क्रिया के प्रयोग—सामान्य भूतकाल के 'होना' क्रिया से बने निश्चयात्मक रूप तीनो पुरुषो मे प्राय एक ही रहते हैं, उनमे केवल लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तन होता है।

क सामान्य भूत . एकवचन पुल्लिग—'होना' क्रिया के निम्नलिखित विकृत रूप इस वर्ग मे आते हैं—

अ. भयउ—नृप कैं मन भयउ कुभाउ[८३]।

आ. भए (आदरार्थक)—बेर सूर की तुम निठुर भए[८४]।

इ भयौ—तहँ न भयौ बिस्राम[८५]। सोवत मुदित भयौ सपने मैं[८६]। बिरद प्रसिद्ध भयौ जग [८७]। नरपति एक पुरुरवा भयौ[८८]।

ई. भौ—वह सुख बहुरि न भौ री[८९]।

उ हुते (आदरार्थक)—कोमल कर गोबर्धन धारयौ, जब हुते नदंदुलारे[९०]। अरजुन के हरि हुते सारथी[९१]। हुते कान्ह अबही सँग बन मैं[९२]।

---

६७ सा १०-४ । ६८. सा १-३२६ । ६९ सा ८-४ । ७० सा ८-१३ ।
७१ सा ९-१८ । ७२ सा १-२३ । ७३ सा ३५४८ । ७४ सा ९-२ ।
७५ सा १०-३१६ । ७६ सा. १-१७९ । ७७ सा १-१७८ । ७८. सा १०-४ ।
७९. सा ३३१३ । ८०. सा १-२०६ । ८१ सा. १-६३ ।
८२. 'सामान्य भूतकाल' को 'भूत निश्चयार्थ' भी कहते हैं—लेखक ।
८३. सा. १-२९० । ८४. सा १-३३३ । ८५ सा १-५७ । ८६ सा. १-१४७ ।
८७. सा १-१९१ । ८८ सा' ९-२ । ८९ सा. ३३७१ । ९० सा. १-२५ ।
९१. सा. १-२६४ । ९२. सा. १०८६ ।

ऊ. हुतोऊ—तव कत रास रच्यौ वृन्दावन जौ पै ज्ञान हुतोऊ[९३] ।

ए. हुतौ—अजामील तौ विप्र तिहारौ हुतौ पुरातन दास[९४] । हुतौ जु मोतैं आधौ[९५] । हौं हुतौ आढ्य[९६] । तहाँ हुतौ इक सुक कौ अग[९७] ।

ऐ. हो—कहा सुदामा कैं धन हो[९८] । तिहिं दिन को हितू हो[९९] । जहाँ मृतक हो हौं[१] । पहिले हौं ही हो तब एक[२] । तव धौं जोग कहाँ हो ऊधौ[३] ।

ख. सामान्य भूत : एकवचन : स्त्रीलिंग—भइ, भई, ही, हुती आदि रूप इस वर्ग में आते हैं, जिनमे से प्रथम दो का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है, जैसे—

अ. भइ—तीनि पैंड भइ (भुवि) सारी[४] । कृत्या भइ ज्वाला भारी[५] । नदी भइ भूरपूरि[६] । हौं विमुख भइ हरि सौं[७] ।

आ. भई—मुरली भई रानी[८] । हमहूँ तें तू चतुर भई[९] । प्रीति-कायरी भई पुरानी[१०] । राधा-माधव भेंट भई[११] ।

इ. ही—माता कहति, कहाँ ही प्यारी[१२] । हौं न जान्यौ री कहाँ ही[१३] ।

ई. हुती—लाज के साज मै हुती दौपदी[१४] । बूझति जननि, कहाँ हुती प्यारी[१५] । जो हुती निकट मिलन की आसा[१६] । यहै हुती मन उनकै[१७] ।

ग. सामान्य भूत : वहुवचन : पुल्लिग— भए, हुए, हुते, हे आदि रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे प्रथम अर्थात् 'भए' का प्रयोग सूर-काव्य मे सबसे अधिक मिलता है; जैसे—

अ. भए—सुत कुबेर के मत्त मगन भए[१८] । ताके पुत्र-सुता वहु भए[१९] । नैंना ढीठि अतिही भए[२०] । नैंना भए पराए चेरे[२१] । भए सखि नैंन सनाथ हमारे[२२] ।

आ. हुए—पै तिन हरि-दरसन नहिं हुए[२३] ।

इ. हुते—द्वारपाल जय-विजय हुते[२४] । असुर द्वै हुते बलवत भारी[२५] । चंद हुते तव सीतल[२६] ।

ई. हे—जाके जोधा हे सौ भाई[२७] ।

---

९३. सा. ३९७५ । ९४ सा. १-१३२ । ९५. सा. १-१३९ । ९६. सा. १-२१६ । ९७. सा. १-२२६ । ९८. सा. १-१९ । ९९. सा. १-७७ । १ सा. १-१५१ । २. सा. २-३८ । ३. सा. ३६०१ । ४. सा. ८-१४ । ५. सा. ९-५ । ६. सा. १०-५ । ७. सा. २९९७ । ८. सा. १३२९ । ९. सा. २०१२ । १०. सा. ३७१४ । ११. सा. ४२९१ । १२. सा. ६७७ । १३. सा. १४०० । १४. सा. १-५ । १५. सा. ७०८ । १६. सा. ३३९८ । १७. सा. ३८५२ । १८. सा. १-७ । १९. सा. ४-१२ । २०. सा. २३६३ । २१. सा. २३९५ । २२ सा. ३०३२ । २३. सा. ४-९ । २४. सा ३-११ । २५. सा. ८-११ २६. सा. ३७३६ । २७. सा. १-२४ ।

घ सामान्य भूत वहुवचन ' स्त्रीलिंग—भईं, हुतो आदि रूप इस वर्ग के है जिनमे से प्रथम का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है, जैसे -

अ भईं—दासी सहस प्रगट तहँ भईं[२८] । सिथिल भईं ब्रजनारि[२९] । गैयाँ मोटी भईं[३०] । हम न भईं बृंदाबन-रेनु । सब चकित भईं[३१] ।

आ. हुतीं—तहाँ हुती पनिहारी[३२] ।

त्रं अन्य क्रियाओं के प्रयोग—विभिन्न पुरुषो मे 'होना' क्रिया के सामान्य भूतकालिक रूप प्राय समान रहते हैं, परतु अन्य क्रिया रूपो मे यह वात नही होती । अतएव इनका अध्ययन पुरुष और वचन की दृष्टि से करना आवश्यक है ।

क सामान्यभूत उत्तमपुरुष ' एकवचन—यो तो इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूपो मे ई, ए, नौ, न्ह, न्हि, न्हे, न्हों, न्हौ, यों, यौ आदि प्रत्यय जोडकर बनाये गये हैं, परतु मुख्य रूप से 'ए' और 'यों' प्रत्यात रूपो का ही अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—

अ. ई—अपने जान मैं बहुत करी[३३] ।

आ ए—जे मैं कर्म करे[३४] । मैं .. कहे बचन[३५] । मैं चरन गहे . पाए , सुख[३६] । मैं सोधे सब ठौर[३७] ।

इ. नौ—मैं अपराध भक्त कौ कीनौ[३८] ।

ई. न्ह—(हरि) निसि-सुख बासर दीन्ह ..सुफल मनोरथ कीन्ह[३९] ।

उ न्हि—मैं न कीन्हि सत्राई[४०] ।

ऊ न्हे—(हौं) पाप बहु कीन्हे[४१] ।

ए. न्हों—सहस भुजा धरि (मैं) भोजन कीन्हों[४२] ।

ऐ. न्हौ—(हौं) जोग-यज्ञ-जप-तप नहिं कीन्हौ[४३] । तच्छक डसन साप मैं दीन्हौं[४४] ।

ओ यों—मैं पर्यों मोह की फाँसि[४५] । (मैं) जीत्यों महभारथ[४६] ।

औ यौ—(मैं) वेद विमल नहिं भाख्यौ यहै कमायौ[४७] । (हौं) कियौ न सत समागम कबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारौ[४८] । मैं पायौ हरि हीरा[४९] । (मैं) बाँध्यौ बैर[५०] ।

---

२८. सा ९-३ । २९. सा १०-२८३ । ३०. सा ६१३ ।
३१. सा. २८७८ । ३२. सा. ६९३ । ३३. सा. १-११५ ।
३४ सा. १-१९८ । ३५ सा. ११-२ । ३६. सा. १-१७० ।
३७. सा १-३२५ । ३८. सा ९-५ । ३९ सा २५२७ । ४० सा १-२९० ।
४१ सा. १-११६ । ४२ सा. ८४४ । ४३. सा. १-१११ । ४४. सा १-२९० ।
४५. सा. १-१११ । ४६. सा १-२८७ । ४७. सा. १-१११ । ४८ सा. १-१५२ ।
४९. सा. १-१३४ । ५०. सा. १-१७३ ।

ख. सामान्य भूत : उत्तमपुरुष . बहुवचन—ए, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययो से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं . जैसे—

अ. ए—(हम) अस्व खोज कतहूँ नहिं पाए[५१] ।

आ. न्हौ—राज कौ काज यह हमहिं कीन्हौ[५२] ।

इ. यौ—हम तौ पाप कियौ[५३] ।

ग. सामान्य भूत : मध्यमपुरुष—इस वर्ग के रूप धातु, उसके विकृत रूप या कृदत मे इसि, ई, ए, औ, नी, न्हीं, नौ, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययो से बनाये गये है। इनमे से 'ई', 'ए', और 'यौ' से बने रूप सूर-काव्य मे सर्वत्र पाये जाते हैं। इनमे से अधिकाश रूप दोनो वचनो मे प्रत्युक्त हुए हैं, जैसे—

अ. इसि—रे मन, (तू) जनम अकारथ खोइसि ... उदर भरे परि सोइसि ... अहमिति जनम बिगोइसि[५४] ।

आ. ई—(तुम) कंचन सी मम देह वरी[५५] । कहाँ तू आज गई[५६] । तिन पर तू अतिही झहरी[५७] । (तुम) जन-प्रहलाद-प्रतिज्ञा पुरई[५८] ।

इ. ए—कही कपि, कैसे उतरे पार[५९] । द्रौपति के तुम बसन छिनाए[६०] । विधन तुम टारे[६१] । तुम सब जन तारे[६२] ।

ई. औ—(तुम) भीर परें भीषम-प्रन राख्यौ, अर्जुन कौ रथ हाँक्यौ[६३] ।

उ. नी—(तुम) गर्भ परीच्छित रच्छा कीनी[६४] । भली सिच्छा तुम दीनी[६५] ।

ऊ. न्ही—(तुम) गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्ही[६६] । (तुम) असुर-जोनि ता ऊपर दीन्ही[६७] ।

ऋ. नौ—नर, तैं जनम पाइ कह कीनौ.. प्रभु कौ नाम न लीनौ...गुरु गोबिंद नहिं चीनौ . मन विषया मैं दीनौ.. फिरि वाही मन दीनौ[६८] ।

ए. न्हौ—बहुत बुरौ तैं कीन्हौ.. जो यह साप नृपति कौ दीन्हौ[६९] । तुम लीन्हौ जग मैं अवतार[७०] ।

ऐ. यौ—तुम कहा न कियौ[७१] । तुम भक्तनि अभै दियौ...गिरि कर-कमल लियौ... दावानलहिं पियौ[७२] । औसर हार्यौ रे तैं हार्यौ...हरि कौ भजन बिसार्यौ

---

५१. सा. ९-९ । ५२. सा. ५८४ । ५३. सा. १८२८ ।
५४. सा १-३३३ । ५५. सा १-११६ । ५६. सा. २०१२ ।
५७. सा. २४३४ । ५८ सा १-२६ । ५९. सा.९-८९ । ६०. सा. १-२८४ ।
६१. सा. १-२५ । ६२. सा. १-१३२ । ६३. सा. १-११३ । ६४. सा. १-११३ ।
६५. सा. ३-११ । ६६. सा १-२६ । ६७ सा. १-१०४ । ६८. सा १-६५ ।
६९. सा. १-२९० । ७०. सा. १-४१ । ७१. सा. १-२६ । ७२. सा. १-१२१ ।

. सुन्दर रूप सँवार्‍यौ[७३]। हरि, तुम बलि कौ छलि लीन्यौ कौन सयानप कीन्यौ[७४]।

घ. सामान्य भूत अन्यपुरुष एकवचन—इस वर्ग मे बीस के लगभग रूप आते हैं जिनको दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—क्ष सामान्य प्रत्ययो से बने रूप और त्र 'नो' से बने रूप।

क्ष. सामान्य प्रत्ययों से बने रूप—इस वर्ग के रूप आ, इ, इयौ, ई, ए, ऐ, औ, यौ आदि प्रत्ययो के योग से बनाये गये हैं। इनमे से इ, ए और यौ से बने रूपो का सर्वत्र प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ आ हरि दीरघ बचन उचारा[७५]। गर्ब भयौ ब्रजनारि कौं जबही हरि जाना[७६]।

आ इ—इत राजा मन मैं पछिताइ[७७]। काम-अध कछू रहि न सँभारि[७८]। असुमान साठि सहस की कथा सुनाइ[७९]। इनमैं नित.. होइ लराइ[८०]।

इ. इयौ—मेरौ माधैया जिन चरननि छलियौ बलि राजा[८१]।

ई ई—नद-घरनि ब्रँज-बधू बुलाई[८२]।

उ ई—(ब्रह्मा)सृष्टि तब और उपाई[८३]। बकी गई घोष मैं[८४]।

ऊ. ए—नद-सुवन उत ते न डगे[८५]। निकसे खभ बीच तैं नरहरि[८६]। (ताके पुत्र-सुता) बिषय-बासना नाना रए[८७]। हलधर देखि उतहिं कौं सरके[८८]।

ए ऐ—मन खन तन तबहिं कल हस गति गै री[८९]।

ऐ. औ—(तुम) ग्वालनि हेत गोबर्धन धारौ[९०]। नृप प्रजा कौं तब हँकारौ[९१]।

ओ यौ—पिय पूरन काम कयौ[९२]। गज गह्यौ ग्राह[९३]। नारी सग हेत तिन (पुरुरवा) ठयौ[९४]। (हरि) वैसी आपदा तै रास्यौ, तोष्यौ, पोष्यौ, जिय दयौ।[९५] जब लगि मन मिलयौ नही[९६]। (सकर) सेज छाँडि भू सोयौ[९७]।

त्र. 'नो' से बने रूप—'नो' या इसके रूपातरो—न, नी, ने, नौ, न्यौ, न्ह, न्हौं, न्हें, न्हे न्हौं, न्हौ, न्ह्यौ आदि—से भी सूरदास ने इस वर्ग के रूप बनाये हैं। इनमे से नी, ने, नौ आदि का प्रयोग अधिक किया गया है, जैसे—

---

७३. सा. १-३३६। ७४ सा. ८-१५। ७५ सा १०-४। ७६. सा १०८५। ७७ सा. १-२९०। ७८. सा. ६-७। ७९ सा. ९-९। ८० सा. ३-९। ८१ सा १०-१३१। ८२ सा ८९०। ८३. सा ३-७। ८४ सा १-१२२। ८५. सा १७८१। ८६ सा १-१०४। ८७ सा ४-१२। ८८. सा २८९२। ८९. सा २४५३। ९० सा. १-१७२। ९१. सा. ४-११। ९२ सा २८८९। ९३ सा १-७। ९४ सा ९-२। ९५ सा १-७७। ९६ सा. १४४३। ९७. सा. १-४३।

अ. न—कत विधना ये कीन[१८]। रघुवर···जनकसुता सुख दीन[१९]।

आ. नी—(बलि) कीनी चरन जुहारी[१]। कस अस्तुति मुख गानी[२]। तव राधा झहरानी[३]। सिव प्रसन ह्वै आज्ञा दीनी[४]। साँटी देखि ग्वालि पछितानी[५]। तिय···बलैया···लीनी[६]। महरि निरखि मुख हिय हुलसानी[७]।

इ ने—(हरि) गृह आने वसुदेव-देवकी[८]। साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि तुरत पवित्र[९]। ब्रजलोगनि नद जू दीने बसन[१०]। (प्रभु) इन्हैं पत्याने[११]। मनमोहन मन मैं मुसुक्याने[१२]।

ई. नौ—कह्यौ, जोग-बल रिषि सब कीनौ· मोहिं सुख सकल भाँति कौ दीनौ[१३]। परसुराम लीनौ अवतारा[१४]। जनम सिरानौ अटकैं अटकैं[१५]।

उ न्यौ—मथुरापति जिय अतिहि डरान्यौ· सिर धुनि-धुनि पछितान्यौ[१६]।

ऊ न्ह—(नद) प्रभु-पूजा जिय दीन्ह· काज देव के कीन्ह[१७]।

ऋ न्हीं—(हरि) विप्र सुदामा कौं निधि दीन्हीं[१८]।

ए. न्ही—कपिल-स्तुति तिहि बहु विधि कीन्ही[१९]। वाकी जाति नही उन (हरि) चीन्ही[२०]। चरन परसत (जमुन) थाह दीन्ही[२१]। इंद्रजित लीन्ही तब सक्ती[२२]।

ऐ. न्हें—(हरि) नृप मुक्त कीन्हे[२३]।

ओ. न्हे—(हरि) जे रंग कीन्हे मोसौं[२४]। पाँच बान मोहिं सकर दीन्हे[२५]।

औ. न्हौं—कृष्न सदाही गोकुल कीन्हौं थानौ[२६]। (सुरपति) एक अस वृन्छनि कौ दीन्हौं[२७]। धर्मपुत्र···द्विजमुख ह्वै पन लीन्हौं[२८]।

अं न्हौ—सोई प्रहलादहिं कीन्हौ[२९]। बसुदेव-देवकिहिं कस महादुख दीन्हौ[३०]। तेरौ सुत ऊखल चढि सीके कौ लीन्हौ[३१]।

अ न्ह्यौ—पै इन (नृपति) मोकौं कबहुँ न चीन्ह्यौ····तव दयालु ह्वै दरसन दीन्ह्यौ[३२]। हरि गिरि लीन्ह्यौ[३३]।

---

१८. सा. ३२४१। १९. सा. ९-२६। १. सा. ८-१४। २. सा. ५८९। ३. सा. १९५९। ४. सा. ९-९। ५ सा. ३४४। ६. सा. १०-२८४। ७. सा. १०-४६। ८. सा. १-१७। ९. सा. ९-९। १०. सा. १०-२७। ११. सा. २२५०। १२. सा. ६०४। १७. सा. ९-३। १४. सा. ९-१४। १५. सा. १-२९२। १६. सा. १०-६०। १७. सा. १०-२६०। १८. सा. १-३६। १९. सा ९-९। २०. सा. १३०९। २१. सा. १०-५। २२, सा. ९-१४४। २३. सा. १-१७। २४ सा. १०-३०६। २५. सा. १-२८७। २६. सा. १-११। २७. सा. ६-५। २८. सा. १-२९। २९. सा. १-१०४। ३०. सा १-१४। ३१ सा. १०-३३१। ३२ सा. ४-१२। ३३. सा. १-१७।

ङ सामान्य भूत . अन्यपुरुष : बहुवचन—इ, इयौ, ईं, ई, ए, नीं, नी, ने, न्हीं, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययो से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं। इनमे से अधिकाश का प्रयोग पिछले वर्ग मे एकवचन आदरार्थक रूप बनाने के लिए भी किया जा चुका है। प्रस्तुत वर्ग के इं, ईं, ए और यौ प्रत्यात रूपो का प्रयोग सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता है, जैसे—

अ. इ—तीरथ करत दोउ अलगाइ[३४]।

आ. इयौ—लाखा मदिर कौरव रचियौ[३५]।

इ ईं—अष्टसिद्धि बहुरो तहँ आईं[३६]। दच्छ के उपजीं पुत्री सात[३७]। चौदह सहस सुन्दरी उमहीं[३८]। धाईं सब ब्रज नारि[३९]। बहुरीं सब अति आनद निज गृह गोप-वनी[४०]। हरषीं सखी-सहेलरी[४१]।

ई ई—उन तौ करी पाछिले की गति[४२]। (नैननि) लोक-बेद की मर्यादा निदरी[४३]। जिन हरि प्रीति लगाई[४४]। तब सबनि बिनती सुनाई[४५]।

उ. ए—नाम सुनत असुर सकल पराए[४६]। इनि तव राज बहुत दुख पाए[४७]। ब्रह्मादिक हूँ रोए[४८]। (भिल्लिनि) लूटे सब[४९]। मोहिं दडत धरम-दूत हारे[५०]।

ऊ नीं—स्याम-अग जुवती निरखि भुलानीं[५१]।

ऋ. नी—असुर-बुधि इन यह कीनी[५२]। लटैं बगरानी[५३]। जुवती बिकलानी[५४]। जुवति लजानी[५५]।

ए. ने—भीर देखि (दोउ) अति डराने[५६]। रबि-छबि कैधौं निहारि पकज विकसाने[५७]। ब्रज-जन निरखत हिय हुलसाने[५८]।

ऐ. न्हीं—दूतनि दीन्हीं मार[५९]।

ओ. न्हौं—जय जय धुनि अमरनि नभ कीन्हौं[६०]। प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौं[६१]।

औ. यौ—(सब) बीचहिं बाग उजार्‌यौ[६२]। सुरासुर अमृत बाहर कियौ[६३]। जिन-जिन ही केसव उर गायौ[६४]। उन तौ. .गुन तोर्‌यौ बिच धार[६५]।

४. अपूर्ण भूतकाल—इस काल के रूप कृदतो के साथ हौं, ही, हुती, हुते, हुतौ, हे, हो आदि के प्रयोग से बनाये गये हैं और इन्ही के अनुसार उनका लिग तथा वचन होता है। पुरुष की दृष्टि से इस काल के रूपों मे विशेष अतर नही होता, जैसे—

---

३४. सा. ३-४। ३५ सा. १-२८२। ३६ सा. ५-२। ३७. सा ४-४। ३८. सा. ९-१६०। ३९ सा १०-२४। ४० सा १०-२४। ४१ सा १०-४०। ४२ सा. १-१७५। ४३. सा २३८६। ४४ सा १-३१८। ४५ सा ८-९। ४६. सा १-३४३। ४७ सा १-२८४। ४८ सा १-५२। ४९. सा १-२८६। ५० सा १-१२०। ५१. सा. ६४४। ५२ सा. ३-११। ५३ सा १०५७। ५४. सा १०१८। ५५ सा १०३७। ५६ सा १०-२८९। ५७. सा ६४२। ५८ सा. १०-११७। ५९ सा १-३२५। ६० सा ५७६। ६१. सा. १-१७६। ६२ सा. ९-१०३। ६३ सा ८-९। ६४. सा. १-१९३। ६५ सा. १-१७५।

अ. हीं—हम जरत ही[६६]।

आ. ही—जो मन मे अभिलाष करति ही सो देखति नँदरानी[६७]। हौं ही मथत दही[६८]।

इ. हुती—(सो) चितवति हुती[६९]। आजु सो बात विधाता कीन्ही, मन जो हुती अति भावति[७०]।

ई. हुते—गुरु-गृह पढ़त हुते जहँ विद्या[७१]।

उ. हुतौ—कपि सुग्रीव बालि के भय तैं वसत हुतौ तहँ आई[७२]।

ऊ. हे—स्याम धनुष तोरि आवत हे[७३]। जब हरि ऐसी साज करत हे[७४]। आजु मोहिं बलराम कहत हे[७५]। देते हे मोहिं भोग[७६]। पाछे नद सुनत हे[७७]।

ए. हो—माखन हो उतरात[७८]। कमल-काज नृप मारत हो[७९]।

५. पूर्ण भूतकाल—-इस काल के रूप भूतकालिक सामान्य क्रिया के साथ ही, हुती, हुते, हे, हो आदि के प्रयोग से वनाये गये है, जैसे—

अ. ही—मैं खेई ही पार कौं[८०]। तव न विचारी ही यह वात[८१]।

आ. हुती—तहाँ उरवसी सखिनि समेत आई हुती[८२]।

इ. हुते—हरि गए हुते माखन की चोरी[८३]। हम पकरे हुते हृदय उर-अंतर[८४]।

ई. हे—प्रगट कपाट विकट दीन्हे हे वहु जोधा रखवारे[८५]।

उ. हो—स्याम कह्यौ हो आवन[८६]। (जब) राख्यौ हो जठर मँहि[८७]।

६. सामान्य भविष्यत् काल—इस काल के रूप पुरुष और वचन के अनुसार वदलते रहते है। लिंग की दृष्टि से इकारात और ईकारात रूप प्राय स्त्रीलिंग मे आते है, शेष पुल्लिग मे।

क. सामान्य भविष्यत् : उत्तमपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप मे इहौं, उँगी, उँगौ, ऐहैं, ऐहौं, औ, औंगी, औंगौ, हुँगौ, आदि प्रत्यय जोड़कर वनाये गये है। इनमे से 'इहौं,' 'ऐहौं', 'औंगी' से वने रूपो के प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं ; जैसे—

---

६६. सा. २७०२। ६७. सा. १०-१२३। ६८ सा. ३३९५।
६९. सा. ८०८। ७० सा. १०-२३। ७१. सा. २४११।
७२. सा. ९-६८। ७३. सा. ३१००। ७४. सा. २९९७। ७५. सा. ३९९।
७६. सा. ८५३। ७७. सा. १०-२१७। ७८. सा १०-२७०। ७९. सा ६००।
८०. सा. ९-४२। ८१. सा. ३००१। ८२. सा ९-२। ८३. सा. १०-२९८।
८४. सा. ३७३४। ८५. सा. ९-१०५। ८६ सा. ३३६७। ८७. सा. १-७७।

अ. इहौं—कस को मारिहौं, धरनि निरवारिहौं, अमर उद्धारिहौं[८८]। सेवा मैं करिहौं[८९]। छाँड़िहौं नहि बिनु मारे[९०]। आजु हौं एक एक करि टरिहौं अपने भरोसैं लरिहौं पतितै ह्वै निस्तरिहौं[९१]। हौं रहिहौं अवशेष[९२]।

आ उँगी—मैं ल्याउँगी तुमकौं धरि[९३]।

इ उँगौ— जोबन-दान लेउँगौ तुमसौ[९४]।

ई ऐहैं—हमहूं कृष्न-घर जैहैं[९५]।

उ ऐहौं—मैं भक्ति स्याम की कैहौं[९६]। तब लगि हौं बैकुंठ न जैहौं[९७]। सुनि राधा, अब तोहि न पत्यैहौं तेरैं कंठ न नैहौं सो जब तोसौं लैहौं.. तबही तौ सचु पैहौं नाउँ नही मुख लैहौं[९८]।

ऊ औं—काल्हि जाहि अस उद्यम करौं, तेरे सब भंडारनि भरौं[९९]। (मैं) बचन भंग भए तैं परिहरौं[१]।

ऋ औंगी—ललन सौं झगरी माँडौंगी.. अधर दसन खाँड़ौंगी कैसे छाँड़ौंगी[२]। हौं तब संग जरौंगी[३]। मैंहुँ डुलावैंगी...स्रम मेटौंगी[४]। अब मैं याहि जकरि बाँधौंगी[५]। हौं तौ तुरत मिलौंगी हरि कौं[६]।

ए औंगौ—मैं निज प्रान तजौंगौ[७]। (हौं) चारि दुहौंगौ[८]। मैं चंद लहौंगौ... कैसैं कै जु लहौंगौ . बरज्यौ हौं न रहौंगौ.. बौराऐं न वहौंगौ ससि तन दाप दहौंगौ[९]।

ऐ व—(मैं) भूँजव क्यौं यह खेत[१०]।

ओ हुँगौ—मैं दान लेहुँगौ[११]।

ख सामान्य भविष्यत्' उत्तमपुरुष . बहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप मे इहैं, ऐंगी, ऐंगे, ऐहैं, व, हिगी, हिगे आदि प्रत्ययो के योग से बनाये गये है। इनमे से 'इहैं' से बने रूपो का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है जैसे—

अ. इहैं—नंद-नृपति-कुमार कहिहैं, अब न कहिहैं ग्वाल[१२]। अब हम तुमहिं नँगइहैं[१३]। बरस चतुरदस (हम) भवन न वसिहैं[१४]। हम न बहकिहैं[१५]।

आ ऐंगी—हम उनको देखैंगी[१६]।

---

८८ सा ५५१। ८९ सा १-२८४। ९० सा ३-११। ९१ सा १-१३४। ९२. सा २-२८। ९३ सा ६८१। ९४ सा १४६९। ९५. सा १०१७। ९६ सा ४-९। ९७ सा ७-५। ९८ सा १९७५। ९९ सा ४-१२। १. सा ९-२। २ सा. १९३६। ३. सा २-३०। ४ सा. ११४७। ५ सा १०-३३०। ६ सा. ८०८। ७ सा ९-१४६। ८ सा. ६६८। ९ सा. १०-१९४। १० सा ९-३९। ११ सा. १५३८। १२ सा. ३२२७। १३. सा. २९०३। १४ सा ९-४३। १५ सा ३६१२। १६. सा. १७३८।

इ. ऐंगे—(हम) काल्हि दुहैंगे[१७]। (हम) बहुरि मिलैंगे[१८]।

ई. ऐहे—हम कैंहे ..जसोदा सौं[१९]। कौन ज्वाव हम दैहे[२०]। कहा....लैहे हमं ब्रज[२१]।

उ. व—हम तेई करव उपाइ[२२]।

ऊ. हिंगी—दाउँ हम लेहिगी...वहै फल देहिंगी[२३]। हम मानहिगी उपकार रावरौ[२४]।

ए. हिंगे—(हम) देखहिंगे तुम्हरी अधिकाई[२५]। हम (स्याम) कछु मोल लेहिंगे[२६]।

ग. सामान्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष : एकवचन—धातु या उसके विकृत रूपो में इगौ, इहै, इहौ, ऐगी, ऐहै, ऐहौ, औगी, औगे, हुगे, हौ आदि प्रत्यय जोड़कर इस वर्ग के रूप बनाये गये है। इनमे से इहै, इहौ, ऐहै, ऐहौ आदि का प्रयोग अधिक किया गया है; जैसे—

अ. इगौ—छनकहिं मैं (तू)...भस्म होइगौ[२७]।

आ. इहै—तैं हूँ जो हरि-हित तप करिहै[२८]। (तू) देव-तन धरिहै[२९]। (तू) मुक्ति-स्थान पाइहै[३०]। मेरी कह्यौ (तू) मानिहै नाही[३१]।

इ. इहौ (आदरार्थक)—कौन गति करिहौ मेरी नाथ[३२]। जौ (तुम) मोहिं तारिहौ[३३]। (जौ) सोइ चित्त धरिहौ[३४]। (तुम) जीवित रहिहौ कौ लौं भू पर[३५]। अब रुठाइहौ जौ गिरिधारी[३६]।

ई. ऐगी—तू कहा करैगी[३७]।

उ. ऐहै—जब गर्जेद्र कौ पग तू गैहै...तू नारायन सुमिरन कैहै[३८]। जा रानी कौ तू यह दैहै[३९]। (तू) पाछैं पछितैहै[४०]। (तू) सतनि मैं कुछ पैहै[४१]। (तू) और बसैहै नैरी[४२]।

ऊ. ऐहौ (आदरार्थक)—भक्ति विनु (तुम) बैल बिराने ह्वैहौ...तब कैसैं गुन गैहौ... तऊ न पेट अघैहौ...कौ लौं धौं भुस खैहौ...तब कहँ मूड दुरैहौ...जनम गवैहौ[४३]। जज्ञ किऐं (तुम) गध्रबपुर जैहौ[४४]। (तुम) दैहौ बीरा[४५]। नाथ, फिरि पछितैहौ[४६]। (तुम) सकल मनोरथ मन के पैहौ...अजहूँ जौ हरिपद चित लैहौ[४७]।

---

१७. ६६८। १८. सा. ९-४४। १९. सा. १४८३।
२०. सा १५३३। २१. सा. १०२१। २२. सा. ३७१०। २३. सा. २८७७।
२४. सा. ७९२। २५. सा. ६६८। २६. सा. १५२९। २७. सा. ५५०।
२८. सा. ४-९। २९. सा ८-२। ३०. सा ४-९। ३१. सा. १६५०।
३२. सा १-१२५। ३३. सा. १-१३२। ३४. सा. १-१२४। ३५. सा. १-२८४।
३६. सा. २८२८। ३७. सा. ७११। ३८. सा. ८-२। ३९. सा ६-५।
४०. सा. ७११। ४१. सा. १-८६। ४२. सा. १०-३२४। ४३. सा. १-३३१।
४४. सा. ९-२। ४५. सा. १-१३४। ४६. सा. १-२४८। ४७. सा. ४-९।

ऋ. औंगे (आदरार्थक)—स्याम, फिरि कहा करौंगे[४८] ।

ए. हुगे (आदरार्थक)—मोहिं छाँडि जौ (तुम) कहुँ जाहुगे[४९] । पावहुगे (तुम) अपनौ कियौ[५०] । (तुम) अपनो बिरद सम्हारहुगे[५१] ।

ऐ हौ—(तब जसुदा) नदहिं कह्यौ, और कितने दिन जीहौ[५२] ।

सामान्य भविष्यत् मध्यमपुरुष बहुवचन—इहौ, ऐहौ, औंगी, औंगे, हुगी, हुगे आदि प्रत्ययो के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये है जिनमे से 'इहौ' से बने रूपो का प्रयोग सबसे अधिक मिलता है : जैसे—

अ. इहौ—(तुम) स्रम करिहौ जब मेरी सी बिना कष्ट यह फल पाइहौ[५३] । तुम सब मरिहौ. परसत ही जरिहौ[५४] । (तुम) जीतिहौ तब असुर कौं[५५] । जब (तुम) सुनिहौ करतूति हमारी[५६] ।

आ ऐहौ—नैंकु दरस की आस है ताहू तैं (तुम) जैहौ[५७] । मन-मन तुमही पछितैहौ[५८] ।

इ. औंगी—कत मानहु (तुम) भव तरौंगी[५९] । तुम अपने जो नेम रहौंगी[६०] ।

ई. औंगे—सूर स्याम पूछत सब ग्वालनि, खेलौंगे किहिं ठाहर[६१] ।

उ. हुगी—(तुम) रिस पावहुगी[६२] । (तुम, अब रोवहुगी[६३] । (तुम) सुनहुगी[६४] ।

ऊ. हुगे—(तुम) आवहुगे जीति भुवाल[६५] । पावहुगे (तुम) पुनि कियौ आपनौ[६६] ।

ड. सामान्य भविष्यत् : अन्यपुरुष . एकवचन—धातु या उसके विकृत रूप के अत में इ, इगी, इगौ, इहि, इहैं, इहै, ऐंगे, ऐगी, ऐगौ, ऐहैं, ऐहै, हिंगे, हिगी, हिगौ आदि प्रत्ययो के जोडने से इस काल-वर्ग के रूप बनाये गये हैं । इनमें से इहैं, ऐहैं, हिंगे और ऐंगे से बने रूप आदरार्थक हैं । प्रयोग की दृष्टि से इहैं, इहै, ऐंगे, ऐगी, ऐगौ, ऐहैं, ऐहै और हिगे से बने रूप विशेष महत्व के हैं ।

अ. इ—सप्तम दिन तोहिं तच्छक खाइ[६७] । बन मैं भजन कौन विधि होइ[६८] ।

आ इगी—दूरि कौन सौं (यह) होइगी[६९] ।

इ. इगौ—कैसैं तप निरफलहिं जाइगौ[७०] । मन बिछुरैं तन छार होइगौ[७१] ।

ई. इहि—काकी ध्वजा बैठि कपि किलकिहि[७२] । मैं निज प्रान तजौंगी सुन कपि, तजिहि ज्ञानकी सुनिकैं[७३] ।

---

४८. सा. १-२४९ । ४९ सा ६८१ । ५०. सा. ५३७ । ५१. सा. १-१३० । ५२. सा ५८९ । ५३. सा. १३३८ । ५४. सा १३४२ । ५५ सा. ८-८ । ५६ सा. १३३२ । ५७ सा १३४३ । ५८ सा १३३२ । ५९. सा. १०१६ । ६० सा १३४४ । ६१ सा १०-२४३ । ६२ सा. १३३२ । ६३. सा. १४८० ६४. सा १५८४ । ६५. सा. १५३२ । ६६. सा १५३३ । ६७. सा १-२९० । ६८ सा. १-२८४ । ६९. सा १२५२ । ७०. सा. १३४८ । ७१. सा. १-३०२ । ७२ सा. १-२९ । ७३. सा. ९-१४ ।

उ इहै (आदरार्थक)—हरि करिहै कलकि अवतार[७४]। कहिहैं तुम्हैं मयत्रेय आन[७५]। महर खीझिहैं हमकौ[७६]। रघुवर हतिहैं कुल दैयत कौ[७७]। भूमि-भार येई हरिहैं[७८]।

ऊ. इहै—वहै ल्याइहै सिय-सुधि छिन मैं अरु आइहै तुरत[७९]। को कौरव-दल-सिंधु मथन करि या दुख पार उतरिहै[८०]। अववौ वैसी करिहै दई[८१]। काल ग्रसिहै[८२]। तुव सराप तैं मरिहै सोइ[८३]।

ए. ऐगे (आदरार्थक)—हरि आवैंगे[८४]। नद सुनि मोहिं कहा कहैंगे[८५]। नंद-नदन हमकौ देखगे[८६]। वावा नंद वुरौ मानैंगे[८७]।

ऐ. ऐगी—(मुरली) अब करैगी वाद[८८]। यह तो कथा चलैगी आगैं[८९]। मैया, कवहिं वढ़ैगी चोटी[९०]। डीठि लगैगी काहू की[९१]।

ओ. ऐगौ—तेरौ कोऊ कहा करैगौ[९२]। कव मेरौ लाल वात कहैगौ[९३]। कहा घटैगौ तेरौ[९४]। सिर पर धरि न चलैगौ कोऊ[९५]। जम-जाल पसार परैगौ[९६]। वह देवता कंस मारैगौ[९७]। कछु थिर न रहैगौ[९८]। कौन सहैगौ भीर[९९]।

औ. ऐहैं (आदरार्थक)—काके हित श्रीपति ह्याँ ऐहैं[१]। नदहुँ तैं ये वडे कहैहैं... फेरि वसैहैं यह व्रजनगरी[२]। राम ...ईसहिं...दससीस चढ़ैहैं[३]। जौ जैहैं वलदेव पहिलै[४]।

अं ऐहै—खाक उड़ैहै[५]। त्रास-अक्रूर जिय (कस) कहा कैहै[६]। हरि जू ताको आनि छुटैहै[७]। (नर) जैहै काहि समीप[८]। कौसिल्या वधू-वधू कहि मोहिं वुलैहै[९]।

अः. हिंगे (आदरार्थक)—छमा करहिंगे श्रीसुन्दरवर[१०]। (स्याम) कवहिं घुटरुवनि चलहिंगे[११]। (कृष्ण) तिनके वंधन मोचहिंगे[१२]।

अआ. हिंगी—टूटहिंगी मोतिनि लर मेरी[१३]।

अइ. हिंगौ—क्यौं विस्वास करहिंगौ कौरौ[१४]।

---

७४. सा. १२-३। ७५. सा. ३-४। ७६. सा. ६ ८१। ७७. सा. ९-८४। ७८. सा. १०-८५। ७९. सा. ९-७४। ८०. सा. १-२९। ८१. सा १-२६१। ८२. सा १-३१५। ८३. सा. १-२९०। ८४. सा. ३६८३। ८५ सा. ३८७। ८६. सा. ७७९। ८७. सा. ४४५। ८८. सा. १२३४। ८९. सा. १-१९२। ९०. सा. १०-१७५। ९१. सा. ९८७। ९२. सा. १४१७। ९३. सा. १०-७६। ९४. सा. १-२६६। ९५. सा. १-३०३। ९६. सा. १-३१२। ९७ सा. ५३१। ९८. सा. १-३०२। ९९. सा. ८७४। १. सा. १-२९। २. सा. १०-३१९। ३. सा. ९-८१। ४. सा. १०-२२३। ५. सा. १-८६। ६. सा. २९२९। ७. सा. ८-२। ८. सा. १-२१०। ९. सा. ९-८१। १०. सा. ९४६। ११. सा. १०-७४। १२. सा. १६१९। १३. सा. १६७०। १४. सा. ११-१।

ष. सामान्य भविष्यत् अन्यपुरुष बहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप मे इहैं, ऐंगे, ऐहैं, हिंगी, हिंगे आदि प्रत्यय जोडकर बनाये गये हैं। इनमे से प्रथम तीन प्रत्ययो मे बने रूपो का प्रयोग अधिक किया गया है, जैसे—

अ. इहैं—निकसत हस (सब) तजिहैं[१५]। कछु (गाइ) मिलिहैं मग माँहि[१६]। कुसल सदा ये रहिहैं[१७]। वै सुनिहैं यह बात[१८]। हँसिहैं सब ग्वाल[१९]। कलि मैं नृप होइहैं अन्याई[२०]।

आ ऐंगे—जहाँ-तहाँ तैं सब आवैंगे[२१]। (वे) कहि, कहा करैंगे[२२]। व्रज लोग डरैंगे[२३]। (ये) काकी सरन रहैंगे[२४]। बानर-बीर हँसैंगे[२५]।

इ ऐहैं— स्यार-काग-गिध खैहैं[२६]। पुहुप लेन जैहैं नँद-ढोटा[२७]। तप कीन्हैं सो (गधर्व) दैहैं आग[२८]। गोपी-गाइ बहुत दुख पैहैं[२९]। (व्रजबासी) मेरैं मारत काहि मनैहैं[३०]। कलि मैं नृप, कृपी-अन्न लैहैं बरिआई[३१]।

ई हिंगी—वे मारहिंगी[३२]।

उ. हिंगे—जात-पाँति के लोग हँसहिंगे[३३]। ऐसे निठुर होहिंगे तेऊ[३४]।

७ संभाव्य भविष्यत्काल—इस काल के रूपो की सख्या भी यद्यपि कम है, फिर भी उक्त सभाव्य वर्तमान और सभाव्य भूतकालों से वह बहुत अधिक है। अतएव अन्य कालो की भाँति विभिन्न पुरुषो और वचनो की दृष्टि से इस काल के प्रयोगो पर भी विचार किया जा सकता है।

क सभाव्य भविष्यत् उत्तमपुरुष एकवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूपमे ऊँ, ऐ, औं, यौं, हूँ आदि प्रत्यय जोडकर बनाये गये हैं, जैसे—

अ ऊँ—अब मैं उनकौ ज्ञान सुनाऊँ, जिहिं तिहिं विधि बैराग्य उपाऊँ[३५]। चूक परी मोतैं मैं जानी मिलैं स्याम बकसाऊँ, लोचन-नीर बहाऊँ पुनि-पुनि सीस छुवाऊँ रुचि उपजाऊ तपति जनाऊँ. कहि कहि जु सुनाऊँ[३६]। आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ[३७]।

आ. ऐ—सूरदास विनती कह बिनवै[३८]। सोइ करहु जिहिं चरन सेवै सूर[३९]।

---

१५. सा. १-३१९। १६ सा ४४३। १७. सा ८४३। १८ सा. ५२२। १९. सा १०-२२३। २०. सा १२-३। २१. सा १-१९१। २२. सा १६८५। २३. सा ५२२। २४. सा ९२३। २५. सा. ९-७५। २६. सा. १-८६। २७. सा ५२२। २८ सा ९-२। २९ सा ४३८। ३०. सा ९०७। ३१ सा १२-३। ३२ सा. ११-२। ३३. सा १५५७। ३४. सा. १२५४। ३५. सा १-२८४। ३६ सा २१०३। ३७ सा १-२७०। ३८. सा. १-१३०। ३९. सा. १-१२६।

इ. ओं—मैं तुव सुत की रक्षा करौ, अरु तेरौ यह दुख परिहरौं[४०]। छोड़ौ नाहिं वृंदावन रजधानी[४१]। जौन दिय मैं छूटौं[४२]। (हौं) काकी सरन तकौं[४३]। कहा गुन वरनौ स्याम तिहारे[४४]। काहि भजौं हौं दीन[४५]।

ई. यौं—नैंकु रहौ, माखन द्यौं तुमकौं[४६]।

उ. हुँ—जो माँगौ सो देहुँ[४७]।

ख. संभाव्यभविष्यत् : उत्तम पुरुष : वहुवचन—'हिं', 'हं' आदि प्रत्ययो से वने इस वर्ग के रूपो का प्रयोग कुछ ही पदो मे मिलता है, जैसे—(हम) अवरनि कौ रस लेहिं...लोचन उनके आँजहीं[४८]।

ग संभाव्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष :—इन वर्ग के रूप दोनो लिंगो और वचनो मे प्राय समान होते है। प्रयोग इनका भी वहुत कम पदो मे हुआ है; जैसे—(तुम) वचन एक जौ वोलौ[४९]।

घ. संभाव्य भविष्यत् : अन्यपुरुप : एकवचन—इस वर्ग के रूप इस काल के सभी वर्गों से अधिक है और धातु या उसके विकृत रूप मे निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर लगाकर वनाये गये हैं—

अ. ई,—दीन जन कहा अव करई[५०]। कौन ऐसौ जो मोहित न होई[५१]।

आ. उ—वरु मेरी पति जाउ[५२]।

इ. ऐं (आदरार्थक)—स्याम जौ कवहूँ त्रासैं[५३]। जौ प्रभु मेरे दोप विचारैं[५४]।

ई ऐ—जातैं...जम न चढ़ावै कागर[५५]। जौ अपनौ मन हरि सौं रांचै[५६]। जौ गिरिपति . मम कृत दोष लिखै[५७]। स्यामसुन्दर जौ सेवै, क्यो होवै गति दीन[५८]।

उ. औ—लाज रहौ कि जाउ[५९]।

ऊ. वै—वह अपनौ फल भोगवै[६०]।

ए. हिं (आदरार्थक)—वहुत भीर है, हरि न भुलाहिं[६१]।

ङ संभाव्य भविष्यत् : अन्य पुरुप : वहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु मे उ, ऐं, हिं आदि प्रत्यय जोडकर वनाये गये है और इनमे भी अधिक प्रयोग हुआ है ऐं और हिं से वने रूपो का; जैसे—

अ. उ—सांवरे सौं प्रीति वढी लाख लोग रिसाउ[६२]।

---

४०. सा. ४३०७। ४१. सा १-८७। ४२. सा १-१८५। ४३. सा.१-१५१। ४४. सा. १-२५। ४५. सा १-१११। ४६. सा. १-१६७। ४७. सा. ८-१४। ४८. सा २९०९। ४९. सा. १-१३६। ५०. सा. १-४८ ५१. सा. ८-१०। ५२ सा. १-२७४। ५३. सा. २२६८। ५४. सा. १-१८३। ५५. सा. १-९१। ५६. सा. १-८१। ५७. सा. १-१११। ५८. सा. १-४६। ५९. सा. १४५६। ६०. सा. १३४३। ६१. सा. ८२७। ६२. सा. १४५६।

आ. ऐं--याकी कोख अवतरैं जे सुत[६३]। नद-गोप नैननि यह देखैं ... बडे देवता को सुख पेखैं[६४]।

इ. हिं—अपनी कृत येऊ जो जानहि[६५]। (गैयाँ) काहे न दूध देहिं[६६]।

८. प्रत्यक्ष विधिकाल[६७]—इस काल मे मुख्य रूप मध्यम और अन्यपुरुष के ही होते हैं, अतएव इन्ही की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जायगी।

क प्रत्यक्षविधि : मध्यमपुरुष एकवचन—इस वर्ग के रूपो की सख्या पर्याप्त है। धातु या उसके विकृत रूप मे जिन प्रत्ययो के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं, उनमे मुख्य ये हैं—

अ इ—तिहिं चित्त आनि[६८]। करि हरि सौं सनेह मन साँचौ[६९]। कहि, कब हरि आवैंगे[७०]। नीकैं गाइ गुपालहिं मन रे[७१]। इही छन भजि.. पाइ यह समय लाहु लहि[७२]।

आ. इए—जागिए गोपाल लाल[७३]।

इ. इऐ—कृपा अब कीजिऐ[७४]। प्रभु लाज धरिऐ[७५]। लाल, मुख धोइऐ[७६]। कृपानिधि मम लज्जा निरबहिऐ[७७]। भजिऐ नदकुमार[७८]।

ई. ईजौ—नृप कैं हाथ पत्र यह दीजौ, बिनती कीजौ मोरि मेरौ नाम नृपति सौं लीजौ।[७९]

उ. इयै—ब्रज आइयै गोपाल[८०]। अपनी धरियै नाउँ[८१]। रे मन .. जम की त्रास न सहियै . आइ परै सो सहियै . अत बार कछु लहियै[८२]। सुजल सींजियै कृपानिधि[८३]। कृपानिधान सुदृष्टि हेरियै[८४]।

ऊ. ईजै—अब मोपै प्रभु, कृपा करीजै[८५]। (तुम) आपुहि चलीजै[८६]।

ए. उ—हरि की सरन महँ तू आउ[८७]। जाउ बदरीबन[८८]। मोहि बताउ[८९]। ताकौं तू निज बश्य बनाउ[९०]। होउ मन राम-नाम को गाहक[९१]।

ओ. ओ—सुनो बिनती सुरराइ[९२]।

---

६३ सा. १०-४। ६४ सा ९२५। ६५. सा ९-९५। ६६ सा ६१३।
६७. 'प्रत्यक्ष विधिकाल' के लिए प्रचलित नाम 'विधि' है—लेखक।
६८ सा १-७७। ६९ सा. १-८३। ७० सा. ३६८३। ७१ सा. १-६६।
७२. सा. १-६८। ७३ सा. १०-२०५। ७४. सा. १-१२८। ७५ सा १-११०।
७६. सा ४३९। ७७. सा १-११२। ७८ सा १-६८। ७९ सा ५८३।
८०. सा ३२२७। ८१ सा १-१८५ ८२ सा १-६२। ८३ सा १-९८।
८४. सा १-२०५। ८५ सा ३-१३। ८६ सा २५७३। ८७ सा १-३१४।
८८. सा. ७-२। ८९ सा १-१४४। ९० सा ६-५। ९१. सा १-३१०।
९२. सा. १-२२६।

औ. औ—वैद वेगि टोहौ[१३]। स्याम, अव तजौ निठुरई[१४]। (पिय, तुम) तहँई पग धारौ[१५]। कछू अचरज मति मानौ[१६]। मेरी सुधि लीजौ व्रजराज[१७]।

अअ व—तहूँ आव[१८]

अआ ह्—एक वेर इहि दरसन देह्[१९]।

अइ. हिं—तू जननी...भूलिहुँ चित चिता नहि आनहिं[१]।

अई हि—रिषि कह्यौ, दान-रति देहि, मैं वर देउँ तोहि सो लेहि[२]। सँभारहि रे नर।[३]

अउ. हुँ—तुम सुनहुँ जसोदा गोरी[४]।

अऊ. हु—ताहि कहु कैसै कृपानिधि सकत सूर चराइ[५]। तुम जाहु[६]। सखी री दिखरावहु वह देस[७]। देहु कृपा करि वाँह[८]।

ख. प्रत्यक्ष विधि : मध्यमपुरुष : वहुवचन—इस वर्ग के रूपो की सख्या भी वहुत कम है। मुख्य रूप धातु या उसके विकृत रूप मे निम्नलिखित प्रत्यय जोड़कर वनाये गये है—

अ. ऐहौ—तुम कुल वधू''ऐसै जनि कहवैहौ 'तुम जनि हमहि हँसैहौ''कुल जनि नाउँ धरैहौ[९]।

आ. औ—सुनौ सव सतौ[१०]।

इ हू—काजर-रोरी आनहू (मिलि) करौ छठी की चार[११]।

९ परोक्ष विधिकाल—इस काल-भेद के प्रयोगो मे वचन और लिग की दृष्टि से प्राय समानता रहती है। पुरुषो की दृष्टि से उनका वर्गीकरण अवश्य किया जा सकता है, परन्तु वह भी इस कारण अनावश्यक है कि सूर-काव्य मे इस काल-भेद के प्रयोग भी अधिक नही हैं। जिन प्रत्ययो के योग से इस वर्ग के रूप सूरदास द्वारा वनाये गये है, उनमे मुख्य ये हैं—

अ. इवौ—तव जानिवौ किसोर जोर रुपि रहौ जीति करि खेत सवै फर[१२]।

आ इयौ—वधू करियौ राज सँभारे[१३]। महरि हमारी वात चलावत, मिलन हमारौ कहियौ[१४]। मेरी सौं तुम याहि मारियौ[१५]।

इ इहौ—पुनि खेलिहौ सकारे[१६]। तुम अनेक वह एक है, वासौं जनि लरिहौ[१७]।

ई नी—मेरी कैती विनती करनी[१८]।

---

१३. सा. ३६११। १४. सा २५०९। १५. सा. २४८७।
१६. सा ४२१०। १७. सा. १-२१९। १८. सा. २८८७। १९. सा. ९-२
१. सा. ९-४५। २. सा. १-२२९। ३. सा. २-२२।
४. सा. १०-२८६। ५ सा. १-५६। ६. सा. २८७७। ७ सा. ३२२५।
८. सा. ९-५१। ९. सा. १९२३। १० सा. ९-१०५। ११. सा. १०-४०।
१२. सा. २४५५। १३. सा. ९-५४। १४. सा. ७२७। १५. सा. १०-३३०।
१६. सा. १०-२२६। १७. सा. १३४२। १८. सा. ९-१०१।

उ. वी—प्रभु हिल सूचिल कँ वेगि प्रगटवी तैसी[१९]।

ऊ. वौ—या ब्रज कौ ब्यौहार सखा तुम, हरि सौं सब कहिबौ[२०]।

ए यौ—परसन हमहिं सदा प्रभु हूज्यौ[२१]।

१० सामान्य संकेतार्थकाल[२२]—इस काल-भेद के रूप जिन प्रत्ययो के योग से बनाये गये हैं, उनमे मुख्य ये हैं—

अ. ती—औरनि सौं दुराव जौ करती[२३]। तबहिं हमसौं जौ कहती[२४]। जौ मेरी अँखियनि रसना होती[२५]।

आ. ते—जौ प्रभु नर-देही नहि धरते, देवै-गर्भ नही अवतरते[२६]। भक्ति बिना जौ (तुम) कृपा न करते[२७]। एक बार'' हरि दरसन देते[२८]। राजकुमार नारि जौ पवते तौ कब अग समाते[२९]। जौ मेरे दीनदयाल न होते[३०]।

इ. तौ—मेरै गर्भ आनि अवतरतौ''राजा तोकौ लेतौ गोद[३१]। हौं आस न करतौ''हौं तिनको अनुसरतौ''सुद्ध पथ पग धरतौ नहिं साप पाप आचरतौ''मन पिटरी लै भरतौ'' मित्र-बघु सौं लरतौ[३२]। जो तू राम-नाम धन धरतौ''''भक्त नाम तेरो परतौ'' होतौ नफा'कोउ न फेंट पकरतौ''भूल गाँठि नहिं टरतौ[३३]।

संयुक्त क्रिया—वाक्य मे कभी-कभी दो क्रियाएँ साथ-साथ प्रयुक्त होती हैं—एक, मुख्य रूप मे और दूसरी, सहायक रूप मे। ऐसे सयुक्त प्रयोगो से प्राय मुख्य क्रिया के अर्थ मे कुछ विशिष्टता या नवीनता आ जाती है। सूरदास ने भी क्रिया के अनेकानेक अर्थो की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए क्रियाओ के ऐसे सयुक्त प्रयोग किये हैं। जिन क्रियाओ के योग से उन्होने इस प्रकार के सयुक्त रूप बनाये हैं उनमे मुख्य हैं—आनो, उठनो, करनो, चाहनो, जानो, देनो, पडनो, पानो, बननो, बैठनो, रहनो, लगनो, लेनो, सकनो, होनो आदि। इनमे से कुछ क्रियाएँ मुख्य और सहायक दोनो रूपो मे प्रयुक्त हुई हैं। रूप के अनुसार सूरदास द्वारा प्रयुक्त ऐसी सयुक्त क्रियाओ को आठ वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—क क्रियार्थक सज्ञा से बने रूप, ख वर्तमानकालिक कृदन्तो से वने रूप, ग भूतकालिक कृदन्तो से वने रूप, घ पूर्वकालिक कृदन्तो से वने रूप, ङ अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तो से बने रूप, च पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तो से बने रूप, छ पुनरुक्त सयुक्त क्रियाएँ और ज तीन क्रियाओ से वने रूप।

क क्रियार्थक सज्ञाओ से वने रूप—क्रियार्थक सज्ञा शब्दो से सूरदास ने जो सयुक्त क्रियाएँ बनायी हैं, कही उनसे आवश्यकता और अनुमति सूचित होती है, कही

---

१९ सा २८५२। २० सा ४०५६। २१ सा ९२१।
२२. 'सामान्य सकेतार्थकाल' का प्रचलित नाम 'हेतुहेतुमद्भूतकाल' है—लेखक।
२३ सा १७२३। २४ सा. १७३२। २५ सा १०-१३९।
२६ सा १६०७। २७. सा १-२०३। २८ सा ३७८६। २९ सा ३१५३।
३० सा १-२५९। ३१. सा ४-९। ३२ सा १-२०३। ३३ सा १-२९७।

क्रिया का आरंभ और अवकाश; जैसे—नाहिं चितवन देत सुत-तिय नाम-नौका ओर[३४] (अनुमति)। गोपी लागी पछतावन[३५] (आरंभ)। होइ कान्ह कौ अइबौ[३६] (आवश्यकता)। इस प्रकार की संयुक्त क्रियाएँ सूर-काव्य मे आदि से अंत तक मिलती हैं, जैसे—सांझ-सवारें आवन लागी[३७]। जो कछु करन चहत[३८]। पारथ-तिय कुरुराज सभा मैं बोलि करन चहै नंगी[३९]। पुरवासी नाहिन चहत जियौ[४०]। कछू चाहौं कह्यौ[४१]। (तुम प्रभु) पावक जठर जरन नहिं दीन्हो[४२]। मधुप कौं प्रेमहिं पढ़न पठायौ[४३]। अपनो वदन विलोकन लागी[४४]। लागन नहिं देत कहूँ समर आँच ताती[४५]। (स्याम) मथुरा लागे राजन[४६]। अब लाग्यौ पछितान[४७]। होन चाहत कहा[४८]।

ख. वर्तमानकालिक कृदंतों से वने रूप—वर्तमानकालिक कृदंतों की सहायता से सूरदास ने जो संयुक्त क्रियाएँ वनायी हैं, वे प्राय नित्यता या निरंतरता-सूचक है, जैसे—चितै रहति ज्यौं चद चकोरी[४९]। कुज-कुज जपत फिरौ तेरी गुन-माला[५०]। रैनि रहौगौ जागत[५१]। अब दुहत रहौंगौ[५२]।

ग. भूतकालिक कृदंतो से वने रूप—इस वर्ग के रूपो की सख्या भी सूर-काव्य में पर्याप्त है। ऐसी संयुक्त क्रियाओ से तत्परता, निश्चय, अभ्यास आदि की सूचना मिलती है; जैसे—कह्यौ, उहाँ अव गयौ न जाइ[५३]। जुग-जुग विरद यहै चलि आयौ[५४]। नरकपति दीन्हे रहत किवार[५५]। वा रूप-रासि विनु मधुकर कैसे परत जियौ[५६]। अव तौ परयौ रहैगौ दिन दिन तुमकौ ऐसौ काम[५७]। सब्द जोरि बोल्यौ चाहत हैं[५८]। (हौ) अनुचर भयौ रहौं[५९]। ताकै डर मैं भाज्यौ चाहत[६०]।

घ. पूर्वकालिक कृदंतों से वने रूप—सूरदास द्वारा प्रयुक्त पूर्वकालिक कृदंतो से वनी हुई सयुक्त क्रियाएँ प्रायः कार्य की निश्चयता, आकस्मिकता, सशक्तता, पूर्णता आदि सूचित करती हैं; जैसे औरौ आइ निकसिहैं[६१]। कामिनि आजुहिं आनि रहैगी[६२]। हरि तहँ उठि धाए[६३]। च्वै चले दोऊ नैन[६४]। नृपति जान जो पावहीं[६५]। वीचहिं वोलि उठे हलधर[६६]। अंकम भरि पिय प्यारी लीन्ही[६७]। कर रहि गयौ उचायौ[६८]।

---

३४. सा. १-९९। ३५. सा. ३६६०। ३६. सा. ३७६६।
३७. सा. ७१०। ३८. सा. १-१६३। ३९. सा. १-२१। ४०. सा. ९-४६।
४१. सा. १-११०। ४२. सा. १-११६। ४३. सा. ३६८२।
४४. सा. १०-४। ४५. सा. १-२३। ४६. सा. ३३०२। ४७. सा. १-१०१।
४८. सा. ३०६७। ४९. सा. १०-३०५। ५०. सा. १११७। ५१. सा. ४२०।
५२. सा. ४००। ५३ सा. ४-५। ५४. सा. १-११। ५५. सा. १-१४१।
५६. सा. ३७२७। ५७ सा. १-१९१। ५८. सा. १०-१०२। ५९. सा. १-१६१।
६०. सा. १-९७। ६१ सा. १-१९१। ६२. सा. २४५४। ६३. सा १-७।
६४. सा. ७४९। ६५. सा. १४६१। ६६. सा. १०-२१४। ६७. सा. २५२७।
६८. सा. ९-३।

जल मैं रह्यौ लुकाऊ[६९]। यह हमकौं बिधिना लिखि राख्यौ[७०]। (हरि) हाथ चक्र लै धायौ[७१]। रे मन, गोबिंद के ह्वै रहियै[७२]।

ङ अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदतो से बने रूप—इस वर्ग की सयुक्त क्रियाएँ प्राय योग्यता, विवशता, आश्चर्य आदि सूचित करती हैं। इनकी सख्या उक्त रूपो की अपेक्षा कम है। 'बननो' के विकृत रूपो से इस वर्ग के अधिकाश रूप बनाये गये हैं, जैसे—स्याम, कछु करत न बनिहै[७३]। आजु कलेऊ करत बन्यौ नाहि[७४]। छोड़त बनत नही कैसेहूँ[७५]। जात न बनै देखि सुख हरि कौ[७६]। घर तैं निकसत बनत नाही[७७]।

च. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतो से बने रूप—सूर-काव्य मे प्रयुक्त पूर्ण क्रियाद्योतक कृदतो से निर्मित सयुक्त क्रियाएँ प्राय कार्य की निरतरता या निश्चयता सूचित करती हैं, जैसे—नद कौ कर गहे ठाढ़े[७८]। (ते) भागे आवत ब्रज ही तन कौं[७९]। लीन्हे फिरत घरहिं के पासन[८०]।

छ पुनरुक्त सयुक्त क्रियाएँ—क्रिया की निरतरता, अधिकता आदि को प्रभावोत्पादक रीति से सूचित करने के लिए कभी-कभी क्रियाओ की आवृत्ति की जाती है। ऐसी क्रियाएँ प्राय सहचर-रूप मे प्रयुक्त होती हैं जिनकी कभी तो ध्वनि मे समानता रहती है और कभी अर्थ मे एकरूपता। गद्य मे क्रियाओ की इस प्रकार की आवृत्ति विशेप रूप से होती है। काव्य मे ऐसे प्रयोगो को प्रचुर सख्या मे सम्मिलित करके सूरदास ने अपनी भाषा को जन-रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। सयुक्त क्रियाओ की पुनरुक्तिवाले उनके कुछ वाक्य इस प्रकार है—आवत-जात चहूँ मैं लोइ[८१]। खात-खेलत रहे नीकैं[८२]। खेलत-दौरत हारि गए री[८३]। लै आईं गृह चूमति-चाटति[८४]। जान-बूझि इन मोहिं भुलायौ[८५]। तौ अब बहुत देखिबै-सुनिबै[८६]। और सकल मैं देखे-ढूँढ़े[८७]। भोग-समग्री धरति-उठावति[८८]। फूले-फले तरुवर[८९]। बैठत-उठत सेज सोवत मैं कस डरनि अकुलात[९०]। ईहिं बिधि रहसत-बिलसत दपति[९१]। नैंकु टरत नहिं सोवत-जागत[९२]।

आवृत्ति की दृष्टि से सूरदास के वे प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं, जो यद्यपि 'सयुक्त क्रिया, के अतर्गत नही आ सकते तथापि जिनमे एक ही क्रिया की द्विरुक्ति, कार्य की निरतरता, अधिकता या अन्य कोई विशेषता सूचित करने के उद्देश्य से की गयी है, जैसे—स्याम कछु कहत-कहत ही बस करि लीन्हे आइ निंदरिया[९३]। खेलत-खेलत ··

---

६९ सा १०-२२१। ७० सा १३०१। ७१ सा १-१०। ७२ सा १-६२। ७३. सा. १४७९। ७४ सा ४६१। ७५ सा ७३८। ७६ सा १०४५। ७७ सा १४५३। ७८ सा. ८३७। ७९ सा ९३२। ८० सा ९३४। ८१. सा. १२-४। ८२ सा ८५२। ८३ सा. १०-२४७। ८४ सा. १०-७८। ८५ सा. ८५१। ८६ सा. ३५१९। ८७ सा १-३२३। ८८ सा. ८९४। ८९ सा १०-३४। ९० सा १०-१२। ९१ सा ७३२। ९२ सा. १६३३। ९३. सा. १०-२४६।

झपि जमुना-जल लीन्हौ[१४]। फिरत-फिरत वलहीन भयौ[१५]। लै-लै ते हथियार आपने चले[१६]।

ज. दो से अधिक क्रियाओं से वने रूप—सूर-काव्य मे कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते है जिनमे तीन-तीन या चार-चार क्रियाओ का पूर्ण क्रिया-रूप मे प्रयोग किया गया है; जैसे—अव हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं[१७]। गगन मँडल तैं गहि आन्यौ है[१८]। ये अति चपल चल्यौ चाहत है[१९]। सूरजदास जनाइ दियौ है[१]। वहुत ढीठो दै रहे हो[२]। गर्ग सुनाइ कही जो बानी, सोई प्रगट होति है जात[३]। दिन ही दिन वह वढ़त जात है[४]। स्रवनन सुनत रहत हे[५]।

क्रिया के विशेष प्रयोग—सूरदास के अनेक पदो मे क्रिया शब्दो के चयन की एक यह विशेषता दिखायी देती है कि उन्होंने निकटवर्ती शब्द या शब्दो से अनुप्रास के निर्वाह का प्रयत्न किया है। ऐसे प्रयोग भाषा की सुदरता बढाने मे सहायक होते है। साथ ही कवि ने अर्थ की उपयुक्तता का भी उचित ध्यान रखा है, जैसे—कछु करौ कलेऊ[६]। कदम करारत काग[७]। करुना करति[८]। गुनत गुन[९]। जागु जसोदा[१०]। झरना सी झरत[११]। दमकत दसन[१२]। धरि ध्यान ध्यावहु[१३]। निसि निघटी[१४]। पहिरे पीरे पट[१५]। प्रन प्रतिपारयौ[१६]। वरवीर बिराजत[१७]। विरद वदत[१८]। विरद वुलावै[१९]। वैठी वैदेही[२०]। भए भस्म[२१]। भाजत भाजन भानि[२२]। रग रँगे[२३]। लटकन लटकि रह्यौ[२४]। लोचन लोलति[२५]। सखा सग सोहत[२६]। सुनि सुवात सजनी[२७]। सुमति सुरूप सँचै[२८]।

अव्यय और सूर के प्रयोग—

अव्यय के मुख्य चार भेद होते है—१. क्रियाविशेषण,[२९] २. सवधसूचक, ३. समुच्चय-वोधक और ४. विस्मयादिवोधक। अतएव 'अव्यय' शीर्षक के अतर्गत इन्ही भेदो के प्रयोगो की विवेचना करना है।

१. क्रियाविशेषण—अर्थ के अनुसार क्रियाविशेषण के भी चार भेद होते है—

---

१४. सा. ५७६। १५. सा ९-६। १६. सा. १-१५१। १७. सा. १-१३४। १८. सा. १०-१९५। १९. सा. ९-९२। १. सा. ४४५। २. सा. २८७६। ३. सा ९८६ ४. सा. १०-६०। ५. सा. ३०२०। ६. सा. ६०९। ७. सा. ११२६। ८. सा. ९-१६०। ९. सा. १०-२०५। १०. सा. १०-१४। ११. सा. ३५७१। १२. सा. १४४६। १३. सा. ८३५। १४. सा. १०-२३३। १५. सा. १४५२। १६. सा. ९-१५९। १७. सा. ९-१६७। १८. सा. १०-२०५। १९. सा. १-१८३। २०. सा. ९-१६१। २१. सा. ९-१५८। २२. सा. १०-२५०। २३.सा. ३५११। २४. सा. १०-९३। २५. सा. १४३९। २६. सा. ६४५। २७. सा. १०-२०१। २८. सा. २-१२।

२९. 'क्रियाविशेषण' का शाब्दिक अभिप्राय उन शब्दो से है जो क्रिया की विशेषता बताते हों; परन्तु इस शब्द-भेद के अन्तर्गत जितने शब्द-रूप आते हैं, उनमे अनेक

क. स्थानवाचक, ख. कालवाचक, ग परिमाणवाचक और घ रीतिवाचक। सूर-काव्य मे इन सबके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

क. स्थानवाचक क्रियाविशेषण—इसके पुन दो भेद किये जा सकते हैं—क्ष. स्थिति वाचक और त्र दिशावाचक। प्रथम भेद के अतर्गत आनेवाले रूपो की सख्या सूर-काव्य मे द्वितीय से अधिक है।

अ. स्थितिवाचक—सूरदास ने जिन स्थितिवाचक क्रियाविशेषणो का प्रयोग अपने काव्य मे किया है, उनमे से मुख्य यहाँ सकलित हैं। इनमे से कुछ बलात्मक रूप मे भी प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

अनत—मन अनत लगावै[३०]। यह बालक काढि अनतही दीजै[३१]।

अन्यत्र - इक छिन रहत न सो अन्यत्र[३२]।

आगैं—आगैं है सो लीजै[३३]।

इहाँ—लैन सो इहाँ सिधारे छल करि इहाँ हँकारे[३४]। इहाँ अटक अति प्रेम पुरातन[३५]।

इहाँउ—और इहाँउ बिबेक-अगिनि के बिरह-बिपाक दहौं[३६]।

उहाँ—उहाँ जाइ कुरुपति[३७]। हरि बिनु सुख नाहिं उहाँ[३८]। वै राजा भए जाइ उहाँ[३९]।

ऊपर—चरन राखि उर ऊपर[४०]।

कहँ—तब कहँ मूड दुरैहो[४१]।

कहाँ—पर-हय कहाँ बिकाऊँ[४२]। कुरुपति हैं कहाँ[४३]।

कहुँ—सूझत कहुँ न उतारौ[४४]। कहुँ हरि-कथा कहुँ सतनि को डेरौ[४५]। इक दिन मृग-छौना कहुँ गयौ[४६]।

कहुँवै—ज्ञान बिना कहुँवै सुख नाही[४७]।

कहूँ—पतित कौ ठौर कहूँ नहि[४८]। कहूँ कर न पसारौं[४९]।

ऐसे हैं जिनसे क्रिया की प्रत्यक्ष विशेषता नहीं प्रकट होती। अतएव 'क्रियाविशेषण' के 'विशेषण' अश का अभिप्राय व्यापक रूप से लेना चाहिए। इसके अनुसार क्रिया के काल, स्थान, परिमाण, ढग आदि के सबध मे प्रत्यक्ष या परोक्ष सकेत करनेवाले सभी शब्द 'क्रियाविशेषण' माने जाते हैं—लेखक।

३०. सा. ९-९। ३१ सा १०-९। ३२. सा ४-१२। ३३ सा १-१९१।
३४. सा. ३०३२। ३५. सा ३७२१। ३६. सा. ३-२। ३७ सा. १-२८४।
३८. सा. २-५। ३९ सा. ३१४६। ४० सा. १-३। ४१ सा. १-३३१।
४२. सा १-१६४। ४३. सा १-२८४। ४४. सा. १-२१०। ४५. सा १-२६६।
४६. सा. ५-२। ४७. सा. २६०६। ४८. सा. १-१४७। ४९. सा. १०-३७।

जहँ—जहँ आदर-भाव न पइयै[५०] । जहँ रघुनाथ नही[५१] । जहँ भ्रम-निसा होति नहिं[५२] ।

जहाँ—जहाँ गयौ[५३] । पांडु-सुत-मंदिर जहाँ[५४] । जहाँ न प्रेम-वियोग[५५] ।

ढिग—सिव प्रनाम करि ढिग बैठाए[५६] । पुनि अंगद कौं बोलि ढिग[५७] ।

तरैं—लोह तरैं मधि रूपा लायौ[५८] ।

तहँ—जम तहँ जात डरै[५९] । तहँ तैं फिरि निज आस्रम गयौ[६०] । दसरथ तहँ आए[६१] ।

तहँउ—तेरो प्रानपति तहँउ न छांड्यौ संग[६२] ।

तहँई—मन इंद्री तहँई गए[६३] ।

तहाँ—तहाँ जाइकैं सुख बहु पैए[६४] । राच्छसि एक तहाँ चलि आई[६५] । बालि-सुतहुँ तहाँ तैं सिधायौ[६६] ।

तहीं—काल तहीं तिहिं पकरि निकारयौ[६७] । कौतुक तहीं-तहीं[६८] ।

तीर—रुकमिनि चौंर डुलावति तीर[६९] ।

निकट—सोइ-सोइ निकट बुलायौ[७०] । कोऊ निकट न आवै[७१] । आइ निकट श्री नाथ निहारे[७२] ।

नियरैं—तीर नाहिं नियरैं[७३] ।

नीचैं—नाग रहे सिर नीचैं नाइ[७४] ।

नेरे—कोउ न आवै नेरे[७५] ।

नेरैं—तुम तौ दोष लगावन कौ सिर बैठे देखत नेरैं[७६] ।

पाछैं—डोलत पाछैं लागे[७७] । सेनापति हरि के पाछैं लागे आवत[७८] ।

बिच—कंचन कौ कठुला मनि-मोतिनि बिच बघनहँ रह्यौ पोइ[७९] ।

भीतर—तृष्ना नाद करत घट भीतर[८०] ।

मधि—लोह तरैं मधि रूपा लायौ[८१] । बिधु मधि गन तारे[८२] ।

सामुहे—सुभट सामुहैं आए[८३] ।

---

५०. सा १-२३९ । ५१. सा. १-२८३ । ५२. सा. १-३३७ । ५३. सा. १-१०२ । ५४. सा. १-२८४ । ५५. सा. १-३३७ । ५६. सा. ४-५ । ५७. सा. ९-७१ । ५८. सा. ७-७ । ५९. सा. १-३५ । ६०. सा. ६-५ । ६१. सा. ९-२४ । ६२. सा. १-३२५ । ६३. सा. २२५३ । ६४. सा १-२९० । ६५. सा. ९-५६ । ६६. सा. ९-१३५ । ६७. सा. ४-१२ । ६८. सा. १०-२४ । ६९. सा. ४२२८ । ७०. सा. १-१९३ । ७१. सा. १-१९७ । ७२. सा. १-२७४ । ७३. सा. १-१७५ । ७४. सा. ७-२ । ७५. सा. १-७९ । ७६. सा. १-२०६ । ७७. सा. १-८ । ७८. सा. ८-४ । ७९. सा. १०-१४८ । ८०. सा. १-१५३ । ८१. सा. ७-७ । ८२. सा. १०-१३४ । ८३. सा. १-२७४ ।

- ह्यॉं— इनकौं ह्यॉं तैं देहु निकास[८४]। यह सुनि ह्यॉं तैं भरत सिधायौ[८५]। इंद्रानी तजिकै ह्यॉं आयौ[८६]।

ह्वॉं— ह्वॉं (अटक) निज नेह नए[८७]।

उक्त उदाहरणो मे एक ही स्थितिवाचक क्रियाविशेषण का प्रयोग किया गया है; परतु सूर-काव्य मे ऐसे भी अनेक पद हैं जिनमे इनके दोहरे रूप मिलते हैं, जैसे—

- अनत कहूँ—हरि-चरनारबिंद तजि लागत अनत कहूँ तिनकी मति कॉंची[८८]। अनत कहूँ नहि दाउ[८९]।

कहँ अनत—गोबिंद सौं पति पाइ कहँ मन अनत लगावै[९०]।

जहॅं-तहॅं—जहॅं-तहँ सुनियत यहै बडाई[९१]। रामहि जहॅं-तहँ होत सहाई[९२]।

जहँ-तहॉं—हरि हरि हरि सुमिरौ जहँ-तहॉं[९३]।

जहॉं-तहॅं—जहॉं-तहँ गए सबही पराई[९४]।

जहॉं-तहॉं—जहॉं-तहॉं उठि धाए[९५]। जहॉं तहॉं तैं सब आवहिंगे[९६]। हरि के दूत जहॉं-तहॉं रहैं[९७]।

जहीं तहीं—रन अरु बन, बिग्रह डर आगैं, आवत जहीं-तहीं[९८]।

आ दिशावाचक— इस वर्ग के रूपो की सख्या सूर-काव्य मे स्थितिवाचक क्रियाविशेषणो से कुछ कम है। जिन दिशावाचक क्रियाविशेषणो का प्रयोग सूरदास ने किया है, उनमे प्रमुख ये हैं—

इत—इत पारथ कोप्यो हम पर[९९]। इत तैं नद बुलावत हैं[१]।

उत—उत कोप्यौ भीषम भट राउ[२]। उत तैं जननि बुलावै री[३]। नद उततैं आए[४]।

कित—निरालव कित धावै[५]। कित जाउँ[६]। कित चलन कहौ (हौ)[७]।

जित—जित जित मन अरजुन कौ तितहि रथ चलायौ[८]। अपनी रुचि जित ही ऐंचति[९]। जित देखौं[१०]।

तित—तितहिं रथ चलायौ[११]। हौं तितहीं उठि चलत[१२]। जित देखौं मन गयौ तितहि कौ[१३]।

दाहिन—बाएँ कर बाजि बाग दाहिन हैं बैठे[१४]।

दूर—कूर तैं दूर बसिये सदा[१५]।

---

८४. सा ४-५। ८५. सा ५-३। ८६. सा ६-८। ८७. सा ३७८१। ८८ सा. १-१८। ८९ सा. १-१६४। ९० सा २-९। ९१ स. १-१४५। ९२ सा ७-२। ९३. सा २-५। ९४. सा ८-८। ९५. सा १-१५८। ९६. सा १-१९१। ९७ सा ६-४। ९८. सा १-२८३। ९९ सा. १-२७४। १. सा १०-९८। २ सा १-२७४। ३ सा. १०-९८। ४ सा १०-१८३। ५ सा १-२। ६ सा. १-१९६। ७ सा. ९-३३। ८ सा. १-२३। ९ सा १-९८। १०. सा १०-१३९। ११ सा १-२३। १२ सा. १-९८। १३. सा १०-१३९। १४. सा. १-२३। १५. सा. १-२२३।

दूरि—दूरि जब लौं जरा[16]। भव-दुख दूरि नसावत[17]।

पाछे—परत सबनि के पाछे[18]।

स्थितिवाचक रूपो के समान सूरदास ने दोहरे दिशावाचक क्रिया-विशेषणो के भी प्रयोग किये हैं, यद्यपि इनकी सख्या भी अपेक्षाकृत कम है, जैसे—

इत-उत—पग न इत-उत धरन पावत[19]। ते इत-उत नहिं चाहत[20]। इत-उत देखि द्रौपदी टेरी[21]।

जित-तित—जित-तित गोता खात[22]। जित-तित हरि पर-धन[23]।

ख. कालवाचक क्रियाविशेषण—इसके तीन भेद होते है— क्ष. समयवाचक, त्र. अवधिवाचक और ज्ञ पौन पुन्यवाचक। इनमे से प्रथम दो भेदो की सख्या सूर-काव्य मे अतिम से वहुत अधिक हैं।

क्ष. समयवाचक—इस वर्ग के रूपो की सख्या सूर-काव्य मे तीस से भी अधिक है। इनमे से मुख्य रूप यहाँ सकलित है जिनमे कुछ वलात्मक भी है; जैसे—

अगमनै—सो गई अगमनै[24]।

अब—अब लाग्यौ पछितान[25]। तकै अब सरन तेरी[26]। अब वारि तुम्हारी[27]।

अबहीं—कै (प्रभु) अबही निस्तारौ[28]।

अबै - (जानकी) निसाचर के सग अबै जात हौं देखी[29]।

आगैं—पाछै भयौ न आगैं ह्वैहै[30]।

आज तैं—(यह गाइ) आज तैं आप आगैं दई[31]।

आजु—आजु गह्यौ हम पापी एक[32]।

आजुही—भावै परी आजुही यह तन[33]।

कब - कब मोसौं पतित उधार्यौ[34]। ऐसी कब करिहौ गोपाल[35]। भक्ति कब करिहौ[36]।

कबहुँ— भवसागर मे कबहुँ न झूकै[37]। हृदय की कबहुँ न जरनि घटी[38]।

कबहुँक—कबहुँक तृन बूडै पानी मे, कबहुँक सिला तरै[39]। कबहुँक भोजन लहौं... कबहुँक भूख सहौं कबहुँक चढौं तुरग ...कबहुँक भार वहौं[40]।

कबहूँ—समय न कबहूँ पावै[41]। कबहूँ...तृप्ति न पावत प्रान[42]। कबहूँ नहिं आयौ[43]।

---

१६. सा. १-३१५। १७. सा- २-१७। १८. सा. १-१३६। १९. सा. १-९९। २०. सा १-२१०। २१ सा १-२५०। २२. सा. १-१७५। २३. सा. १-२१६। २४. सा. ८०७। २५ सा. १-१०१। २६. सा. १-११०। २७. सा. १-११८। २८. सा. १-१३९। २९. सा. ९-६४। ३०. सा. १-९६। ३१. सा. १-५१। ३२. सा. ६-४। ३३. सा. २-३३। ३४. सा. १-१३२। ३५. सा. १-१८९। ३६. सा. १-३२९। ३७. सा. १-३६। ३८. सा. १-९८। ३९. सा. १-१०५। ४०. सा. १-१६१। ४१. सा. १-४०। ४२. सा. १-१०३। ४३. सा. १-१०८।

जब—जब गज-चरन ग्राह गहि राख्यौ[४४]। जब सुन्यौ बिरद यह[४५]।

जबहीं—द्रुपद-सुता कौ मिट्यौ महादुख जबहीं सो हरि टेरि पुकार्यौ[४६]।

जबै—जबै हिरनाकुस मार्यौ[४७]।

ततकाल—सुमिरत ही ततकाल कृपानिधि बसन-प्रवाह बढ़ायौ[४८]। कह दाता जो द्रवै न दीनहिं देखि दुखित ततकाल[४९]।

ततकालहिं—ततकालहि तब प्रगट भए हरि[५०]।

ततछन—सो ततछन सारिखे सँवारी[५१]। हति गज...ततछन सुख उपजाए[५२]।

ततछनही—तामैं तैं ततछनही काढ्यौ[५३]।

तब—तब धीरज मन आयौ[५४]। तब कुती बिनती उच्चारी[५५]।

तबै—उचित अपनी कृपा करिहौ, तबै तौ बन जाइ[५६]।

तुरत—सकट परैं तुरत उठि धावत[५७]। लागि पुकार तुरत छुटकायौ[५८]। सगर के पुत्र, कीन्हे सुरसरि तुरत पवित्र[५९]।

पहिलैं—मन ममता-रुचि सौं रखवारी पहिलैं लेहु निबेरि[६०]।

पहिलैं ही—मैं तौ पहिलैं ही कहि राख्यौ[६१]। सरबस मैं पहिलैं ही वार्यौ[६२]।

पहिलै—पहिलै हौं ही हो तब एक[६३]।

पाछैं—पाछैं भयौ न आगे ह्वैहै[६४]।

पुनि—पुनि अघ-सिंधु बढत है[६५]। नैंकु चूक तैं यह गति कीनी, पुनि बैकुंठ निवास[६६]। पुनि जीतौ, पुनि मरतौ[६७]।

पूर्व—कृपा करौ ज्यौं पूर्व करी[६८]।

प्रथम—जिहिं सुत कैं हित बिमुख गोबिंद तैं प्रथम तिही मुख जार्यौ[६९]।

फिरि—छ दस अक फिरि डारैं[७०]। फिरि औटाए स्वाद जात है[७१]। पत्ता फिरि न लागैं डार[७२]।

फेरि—तौ हौं अपनी फेरि सुधारौं[७३]। फेरि परैगी भीर[७४]। सुमारग फेरि चलैगौ[७५]।

---

४४ सा १-१०९ । ४५ सा. १-१२५ । ४६ सा १-१७२ । ४७ सा. १-१८० ।
४८ सा १-१०९ । ४९ सा १-१५९ । ५० सा १-१०९ । ५१ सा १-३० ।
५२ सा. ८-६ । ५३ सा २-३० । ५४ सा १-१२५ । ५५ सा १-२८१ ।
५६ सा १-१२६ । ५७. सा. १-९ । ५८ सा. १-११३ । ५९. सा. ९-९ ।
६० सा १-५११ । ६१. सा. ४-५ । ६२ सा १०-९२ । ६३. सा २-३८ ।
६४. सा १-९६ । ६५ सा. १-१०७ । ६६ सा १-१३२ । ६७ सा. १-२०३ ।
६८ सा. १-२६८ । ६९. सा १-३३६ । ७० सा १-६० । ७१. सा. १-६३ ।
७२ सा १-८८ । ७३. सा. १-१३६ । ७४ सा १-१९१ । ७५ सा. १-१९२ ।

वहुरि—वहुरि वहै सुभाइ[७६]। वहुरि जगत नहिं नाचै[७७]। वहुरि पुरान अठारह किए[७८]।

वहुरौ—वहुरौ तिन निज मन मे गुने[७९]। तू कुमारिका वहुरौ होइ[८०]। वहुरौ भयौ परीच्छित राजा[८१]।

आ. अवधिवाचक—इस वर्ग के रूपो की सख्या सूर-काव्य मे समयवाचक क्रिया-विशेषणो से कुछ अधिक ही है। दोनो मे अन्तर यह भी है कि अधिकांश अवधिवाचक रूपो का निर्माण सूरदास ने प्राय दो शब्दो से किया है। इनमे 'लगि' और 'लौं' के योग से बने रूपो की संख्या अधिक है। उनके काव्य मे प्रयुक्त मुख्य अवधिवाचक क्रिया-विशेषण नीचे दिये जाते है —

अजहुँ—अवगुन मोपै अजहुँ न छूटत[८२]।

अजहुँ लौं—अजहुँ लौं जीवत जाके ज्याए[८३]।

अजहूँ—रे मन, अजहूँ क्यौ न सम्हारै[८४]। अजहूँ करौ सत्संगति[८५]। अजहूँ चेति[८६]।

अजहूँ लगि—अजहूँ लगि...राज करै[८७]।

अजहूँ लौं— अजहूँ लौं मन मगन काम सौं[८८]।

अजौं—अजौं अपुनपौ धारौ[८९]।

आजु-कालिह—आजु-कालिह कोसलपति आवै[९०]।

अब ताईं—वहुत पच्यौ अब ताईं[९१]।

अब लौं—अब लौं नान्हे-नून्हे तारे[९२]।

अहनिसि—अहनिसि रहत वेहाल[९३]। अहनिसि भक्ति तुम्हारी करै[९४]। रानी सौं अहनिसि मन लायौ[९५]।

कब लगि—कब लगि फिरिहौ दीन वह्यौ[९६]। प्रान कौ पहिरौ कब लगि देत रह्यौं[९७]।

कबहिं लौं—अपने पाइनि कब हिं लौ मोहिं देखन धावै[९८]।

कौ लौं—जीवित रहिहौ कौ लौं भू पर[९९]। कौ लौं दुख सहियै[१]।

जब लगि—जब लगि सरवस दीजै उनकौ[२]। जब लगि जिय घट अतर मेरै[३]। जब लगि काल न पहुँचै आइ[४]।

---

७६. सा. १-४५। ७७. सा १-८१। ७८. सा. १-२३०। ७९. सा. १-२२८। ८०. सा. १-२२९। ८१. सा १-२६०। ८०. सा. १-१४७। ८३ सा. १-३२०। ८४. सा. १-६३। ८५. सा. १-८६। ८६. सा १-२६९। ८७. सा. १-३७। ८८. सा १-१८७। ८९. सा १-१५७। ९०. सा ९-८२। ९१ सा. १-१४७। ९२. सा. १-९६। ९३. सा. १-१२७। ९४. सा ३-१३। ९५. सा. ४-१२। ९६. सा. १-१६२। ९७ सा. ९-९२। ९८. सा. १०-११२। ९९. सा. १-२८४। १. सा. ३३९०। २. सा. १-१७७। ३. सा. १-२७५। ४. सा. ७-२।

जब लौं—दूरि जब लौं जरा[५]। जब लौं तन कुसलात[६]। द्वितीय सिंधु जब लौं मिलै न आइ[७]।

जौ लगि—जौ लगि आन न आनि पहूँचै[८]।

जौ लौं—जौ लौ रहे घोष मैं[९]।

तब तैं—तब तैं तिहिं प्रतिपारयौ[१०]।

तब लगि—तब लगि सेवा करि निश्चय सौ[११]। तब लगि ही बैकुंठ न जैहौं[१२]।

तबहीं लगि—तबहीं लगि यह प्रीति[१३]।

तबहुँ—तबहुँ न द्वार छांडौं[१४]।

तबहूँ—अमित अघ व्याकुल तबहूँ कछु न सँभार्‌यौ[१५]।

तौ लगि—तौ लगि बेगि हरौ किन पीर[१६]।

तौ लौं—चिरजीव तौ लौं दुरजोधन[१७]।

दिन-राती—दिन-राती पोषत रह्यौ[१८]।

नित—तेली के वृष लौं नित भरमत[१९]। नित नौबत द्वार बजावत[२०]।

नितहीं—नितहीं नौबत द्वार बजायौ[२१]।

नित्त—मुख कटु बचन नित्त पर-निंदा[२२]।

निरंतर—ज्यौं मधु माखी सँचति निरंतर[२३]। चरनन चित्त निरंतर अनुरत[२४]। यह प्रताप दीपक सु निरंतर लोक सकल भजनी[२५]।

निसिवासर—दुबिधा-दुंद रहै निसिवासर[२६]। बिषयासक्त रहत निसिवासर[२७]। स्रवन करौ निसिवासर[२८]।

निसिदिन—निसिदिन करत गुलामी[२९]। निसिदिन रोवै[३०]। निसिदिन होत खई[३१]।

निसादिन—पर-तिय-रति-अभिलाष निसादिन[३२]।

रातदिन—यह व्यौहार लिखाइ रातदिन पुनि जीतौ पुनि मरतौ[३३]।

लौं—ये देवता खान ही लौं के[३४]।

सतत—सतत दीन महा अपराधी[३५]। करुनामय संतत दीनदयाल[३६]। लेते राखि ···सतत तिन सबही[३७]।

---

५. सा १-३१५। ६ सा. २-२२। ७. सा. ९-११०।
८ सा १-१९१। ९ सा. ३७६६। १० सा १-३३६।
११ सा १-३२२। १२ सा ७-५। १३. सा. १-१७७।
१४. सा. १-१०६। १५. सा. १-१०२। १६ सा १-१९१। १७. सा १-२७५।
१८. सा १-३२५। १९. सा १-१०२। २०. सा १-१४१। २१ सा १-२०५।
२२. सा. २-१५। २३. सा. १-५०। २४. सा १-१८९। २५. सा. २-२८।
२६. सा. १-१४१। २७ सा १-३०२। २८. सा. २-३३। २९ सा १-१४८।
३०. सा १-२५९। ३१ सा १-२९९। ३२. सा. १-२०३। ३३. सा. १-१४८।
३४ सा. ९३३। ३५. सा १-१७२। ३६. सा. १-२०१। ३७. सा. १-२८१।

सदा—ईंहि लाजनि मरिऐ सदा[३८] । मुद्रिका ''सदा सुभग[३९] । सुमिरन-कथा सदा सुखदायक[४०] ।

सदाई—सहस मथानी मथति सदाई[४१] । भक्त-हेतु अवतार सदाई[४२] । रहत स्याम आधीन सदाई[४३] ।

इ. पौनःपुन्यवाचक—इस वर्ग के अतर्गत वे शब्द आते हैं जिनमे समय-सूचक शब्दो की प्रत्यक्ष आवृत्ति अथवा 'प्रति' के योग से परोक्ष आवृत्ति हो। सूर-काव्य मे ऐसे प्रयोगो की सख्या कालवाचक क्रियाविशेषण के उक्त दोनो भेदो से बहुत कम है। उनके प्रमुख प्रयोग यहाँ सकलित है—

अनुदिन—ज्यो मृग-नाभि कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत[४४]। प्रेम-कथा अनुदिन सुनै[४५]। सगति रहै साधु की अनुदिन भव-दुख दूरि नसावत[४६] ।

छिन-छिन—बढै छिन छिन[४७]। देह छिन-छिन होति छीनी[४८]। छिन-छिन करत प्रवेस[४९] ।

दिन-दिन—दिन-दिन हीन-छीन भइ काया[५०] । मन की दिन-दिन उलटी चाल[५१] ।

दिनप्रति—पतितनि सौ रति जोरत दिनप्रति[५२] ।

नित-प्रति—सूरदास प्रभु हरिगुन मीठे नितप्रति सुनियत कान[५३]। यौ ही नित प्रति आवै जाइ[५४] ।

पलपल—घटै पलपल[५५] ।

पुनि पुनि—तदुल पुनि पुनि जाँचत[५६]। पुनि पुनि योही आवै-जावै[५७]। पुनि पुनि राव सोचै सोइ[५८] ।

प्रतिदिन—प्रतिदिन जन जन कर्म सवासन नाम हरै जदुराई[५९] ।

फिरि फिरि—फिरि फिरि ऐसोई है करत[६०]। एक पौ नाम विना जग फिरि फिरि बाजी हारी[६१]। फिरि फिरि जोनि अनंतनि भरम्यौ[६२] ।

वारंवार—भक्त की महिमा वारंवार वखानी[६३]। नहिं अस जनम वारंवार[६४]। वारंवार सराहि सूर-प्रभु साग बिदुर-घर खाही[६५] ।

वारंवारी—कहति जो या विधि वारंवारी[६६] ।

---

३८. सा. १-४४ । ३९. सा. १-६९ । ४०. सा. १-८२ । ४१. सा. ८११ ।
४२. सा. ८३९ । ४३. सा. १२७४ । ४४. सा. १-४९ । ४५. सा. १-३२५ ।
४६. सा. २-१७ । ४७. सा. १-८८ । ४८. सा. १-३२१ । ४९. सा. ३३९ ।
५०. सा. १-९८ । ५१. सा. १-१२७ । ५२. सा. १-१४९ । ५३. सा. १-१६९ ।
५४. सा. ४-१५ । ५५. सा. १-८८ । ५६. सा. १-२१ । ५७. सा. ३-१३ ।
५८. सा. ४-१२ । ५९. सा. १-९३ । ६०. सा. १-५५ । ६१. सा. १-६० ।
६२. सा. १-१५६ । ६३. सा. १-११ । ६४. सा. १-८८ । ६५. सा. १-२४१ ।
६६. सा. ४-५ ।

वारबार—बारबार 'फिरत दसौं दिसि धाए[६७]। वारबार यह बिनती करै[६८]।

ग. परिमाणवाचक क्रियाविशेषण—सूरदास द्वारा प्रयुक्त परिमाणवाचक क्रिया-विशेषणों की संख्या स्थान और कालवाचक-रूपो से बहुत कम है। परिमाण-वाचक वर्ग के जो प्रयोग उनके काव्य मे मिलते हैं, स्थूल रूप से उनको निम्नलिखित चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—

अ अधिकताबोधक—निपट, बहुत, बहुतक आदि प्रयोग इस वर्ग मे आते हैं; जैसे—

निपट—अब तो जरा निपट नियरानी[६९]।
बहुत—भ्रम्यौ बहुत लघु धाम बिलोकत[७०]।
बहुतक—ता रिस मैं मोहिं बहुतक मारयौ[७१]।

आ. न्यूनताबोधक—कछुक, नेकु, नैंकु आदि प्रयोग इस वर्ग मे आते हैं, जैसे—

कछुक – जबै आवौं साधु-सगति कछुक मन ठहराई[७२]।
नेकु—टरत टारैं न नेकु[७३]।
नैंकु—पाडु की बधू जस नैंकु गायौ[७४]। प्रहलाद न नैंकु डरै[७५]।

इ. तुलनावाचक—अधिक, एतौ आदि प्रयोग तुलनावाचक हैं, जैसे -

अधिक—पवन के गवन तैं अधिक धायौ[७६]।
एतौ—तोहिं एतौ भरमायौ[७७]।

ई. श्रेणीवाचक—'क्रम क्रम' या 'क्रम क्रम करि', 'सनै सनै'-जैसे प्रयोग इस वर्ग मे आते है—

अ क्रमक्रम करि—क्रम क्रम करि सबकी गति होइ क्रम क्रम करि पग धरै[७८]। आभूषन अग जे बनाये, लालहिं क्रम क्रम पहिराए[७९]।

आ. सनै सनै—सनै सनै तै सब निस्तरै[८०]। दीनो उनहिं उरहनो मधुकर सनै सनै समुझाइ[८१]।

घ. रीतिवाचक क्रियाविशेषण—सूर-काव्य मे प्राप्त रीतिवाचक क्रियाविशेषणो की संख्या पर्याप्त है। सुविधा के लिए उनको मुख्य तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—अ. प्रकारवाचक, आ. कारणवाचक और इ निषेधवाचक।

अ प्रकारवाचक—सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रकारवाचक क्रियाविशेषणो मे निम्न-लिखित मुख्य हैं—

---

६७ सा १-१००। ६८. सा. ३-१३। ६९. सा १-५७।
७०. सा. १-८७। ७१. सा १-१५१। ७२. सा. १-४५। ७३ सा. १-१०६।
७४. सा १-५। ७५. सा १-३७। ७६. सा १-५। ७७ सा ४२१०।
७८. सा ३-१३। ७९. सा. १०-१८३। ८० सा. ३-१३। ८१. सा. ३७७५।

अचानक—परै अचानक त्यों रस लपट[८२]। आनि अचानक अँखियाँ मीचै[८३]।

अचानक ही—कबहुँ गहत दधि-मटुकी अचानक ही' कबहुँ गहत हौ अचानक ही गगरी[८४]।

अनयास—वासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास[८५]।

अनायास—सिसुपाल सुजोधा अनायास लैं जाति समोयौ[८६]। अनायास अजगर उदर भरै[८७]। अनायास चारिउँ फल पावै[८८]।

औचक—धरैं भरि अँकवारि औचक[८९]।

छरछर—छरछर मारी साँटी[९०]।

परस्पर—मोहिं देखि सब हँसत परस्पर[९१]।

मलिमलि—वस्तर मलिमलि धोए[९२]। अग मलिमलि न्हाहिं[९३]।

सूधैं—सूधैं कहत न बात[९४]।

सेतमेंत—कलुषी अरु मन मलिन बहुत मैं सेतमेत न बिकाउँ[९५]।

आ. कारणवाचक—इस वर्ग के रूपो की सख्या सूर-काव्य मे सीमित है। उसमे प्रयुक्त प्रमुख कारणवाचक क्रियाविशेषण यहाँ संकलित हैं—

कत—जननि बोझ कत मारी[९६]। कत जड़ जतु जरत[९७]। कत तू सुआ होत सेमर कौ[९८]।

कतहि—कतहि मरत हौ रोइ[९९]।

कहा—गरवत कहा गँवार[१]। कहा भयौ जुग कोटि जिएँ[२]। तुमतैं कहा न होही[३]।

काहे कौं—रे नर, काहे कौं इतरात[४]।

काहैं—काहैं सुधि बिसारी[५]। काहैं सूर बिसार्‌यौ[६]।

किन—वेगि बड़ौ किन होइ[७]। तब किन मुई[८]। धावहु नद गोहारि लगौ किन[९]।

कैसैं—सो कैसैं बिसरै[१०], कैसै तुव गुन गावै[११]। अब कैसैं पैयत सुख माँगे[१२]।

तातैं—अब सिर परी ठगौरी' तातैं बिवस भयौ[१३]। कुबिजा भई स्याम-रँग राती, तातैं सोभा पाई[१४]। तातैं कहत दयाल[१५]।

---

८२. सा. २-२४। ८३. सा. २८९६। ८४. सा. १४७८। ८५. सा. १-९०। ८६. सा. १-५४। ८७. सा. १-१०५। ८८. सा. १-२३३। ८९. सा. २८७६। ९०. सा. ३७५। ९१ सा. १-१७५। ९२. सा. १-५२। ९३. सा. १-३३८। ९४. सा. २-२२। ९५. सा. १-१२८। ९६. सा. १-३४। ९७. सा. १-५५। ९८. सा. १-५९। ९९. सा १-२६२। १. सा. १-८४। २. सा. १-८९। ३. सा. १-९५। ४. सा. २-२२। ५. सा. १-१६। ६. सा. १-१०१। ७. सा. १०-७५। ८ सा. ९-७७। ९. सा. १०-७७। १०. सा. १-३७। ११. सा. १-४२। १२. सा. १-६१। १३. सा. १-४९। १४. सा. १-६३। १५. सा. १-१०१।

यातैं—जुग-जुग विरद यहै चलि आयो, टेरि कहत हौं यातैं[१६]।

ग. निषेधवाचक—इस वर्ग के रूपो की सख्या भी सूर-काव्य मे प्रकार और कारण-वाचको के समान ही है। सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रमुख निषेधवाचक क्रियाविशेषण इस प्रकार हैं—

जनि—जनम जुआ जनि हारि[१७]। मेरी नौका जनि चढ़ौ[१८]। बालक करि इनकौ जनि जानौ[१९]।

जिनि—लोग बुरौ जिनि मानौ[२०]। कपट जिनि समझौ[२१]।

न—मारि न सकै जम न चढावै कागर[२२]। तेरी गति लखि न परै[२३]। रवि की किरन उलूक न मानत[२४]।

नहिं—हौं अजान नहिं जानौ[२५]। सुख-दुख नहि मानै[२६]। नहि अस जनम बारबार[२७]।

नहीं—हरि बिनु मीत नहीं कोउ[२८]। जात नहीं बिनु खाए[२९]। मैं निरबल बित-बल नहीं[३०]।

ना—ना जानौं करिहौ कहा[३१]। ना कुछ घटै तुम्हारौ[३२]। छिन कल ना[३३]।

नाहि—नर-बपु धारि नाहि जन हरि कौ[३४]। समुझत नाहि हठी[३५]। नाहि काँचौ कृपानिधि हौं[३६]।

नाहिन—काया-नगर बडी गुंजाइस नाहिन कछु बढयौ[३७]। मारिबै की सकुच नाहिन मोहि[३८]। कबहूँ तुम नाहिन गहरु कियौ नाहिन और बियौ[३९]।

नाहिनैं—कोटि लालच जौ दिखावहु नाहिनैं रुचि आन[४०]। मन बस होत नाहिनैं मेरे[४१]।

नाहीं—तहाँ प्रभु नाहीं[४२]। नाहीं डरत करत अनीति[४३]। सो पाएहु नाहीं पहिचानत[४४]।

मति—(नौका) मति होहि सिलाई[४५]। मुख मृदु बचन जानि मति जानहु सुद्ध पंथ पग धरतौ[४६]।

घ. अन्य रीतिवाचक क्रियाविशेषण—सूर-काव्य मे कुछ ऐसे रीतिवाचक क्रिया-विशेषण मिलते हैं जो उक्त तीनो भेदो—प्रकार, कारण और निषेधवाचक—मे नही आते।

---

१६ सा १-१३७। १७. सा. १-३१। १८. सा ९-४२।
१९. सा. १०-८५। २०. सा १-६३। २१ सा ९-८७। २२ सा १-९१।
२३. सा. १-१०४। २४ सा १-११४। २५ सा. १-११। २६. सा. १-८१।
२७ सा १-८८। २८. सा. १-८५। २९ सा १-१००। ३०. सा. ९-४२।
३१. सा १-१३०। ३२. सा १-२१५। ३३ सा १० ५४। ३४. सा १ ८६।
३५ सा. १-९८। ३६. सा १-१०६। ३७ सा. १-६४। ३८ सा १-१०६।
३९ सा १-१२१। ४०. सा १-१०६। ४१. सा १-२०३। ४२ सा १-११।
४३. सा. १-१०६। ४४. सा १-११४। ४५. सा ९-४२। ४६ सा. १-२०३।

इनको निश्चयवाचक—जैसे 'निसदेह'— और अवधारणसूचक—जैसे 'तौ'– आदि कहा जा सकता है : जैसे—

तौ (अवधारण०)—तुम तौ तीनि लोक के ठाकुर[४७] ।

निसंदेह (निश्चय०)— या विधि जौ हरि-पद उर धरिहौ, निसंदेह सूर तौ तरिहौ[४८] ।

२. संबंधसूचक अव्यय—संज्ञा अथवा उसी के समान प्रयुक्त शब्द के पश्चात् आकर जो अव्यय वाक्य की क्रिया, क्रियार्थक संज्ञा अथवा इसी प्रकार के अन्य शब्द के साथ उसका सबध जोडते है, वे 'सबधसूचक' कहलाते हैं। प्रयोग के अनुसार इसके दो भेद होते हैं क सवद्ध सवधसूचक और ख. अनुवद्ध सवधसूचक ।

क. संवद्ध संबंधसूचक—ये संबंधसूचक अव्यय सज्ञा अथवा उसी के समान प्रयुक्त शब्द के मूल रूप की विभक्ति— प्राय सबधकारकीय विभक्ति— के अनतर प्रयुक्त होते हैं; कभी कभी इनका विभक्तिरहित प्रयोग भी किया जाता है। सूर-काव्य मे दोनो प्रकार के प्रयोग मिलते है जैसे—

अ. विभक्ति के पश्चात प्रयोग—उलटि भई सव हरि की धाई[४९] । रहै हरि के ढिग[५०] । दूरि गयौ दरसन के ताईं[५१] । भ्रमि आयौ कपि गुंजा की नाईं[५२] ।

आ. विभक्तिरहित प्रयोग—सूर-काव्य मे इस वर्ग के प्रयोगो की सख्या उक्त वर्ग से वहुत अधिक है : जैसे—पथिक जात मधुवन तन[५३] । गई वन तीर[५४] । भगवत भजन विनु[५५] । कौडी लगि मग की रज छानत[५६] । याहि लागि को मरै हमारैं[५७] । क्यौ नाही जदुपति लौं जात[५८] । सूखचौ सलिल -समेत[५९] । गिरिवर सह व्रज देहुँ वहाई[६०] । कपिध्वज सहित गिराऊँ[६१] ।

ख. अनुवद्ध सबंधसूचक—ये शब्द सज्ञा अथवा समवर्गीय शब्दों के विकृत रूपो के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं, जैसे—नद-गोप-ग्वालनि पे आगै देव कह्यौ यह प्रगट सुनाई[६२] । सवनि तन हेरी[६३] । सुरनि समेत[६४] । भक्तनि हित तुम धारी देह[६५] ।

इ. समुच्चयवोधक अव्यय—इस अव्यय-रूप के दो भेद होते है—क. समानाधिकरण और ख. व्यधिकरण । दोनो प्रकार के पर्याप्त प्रयोग सूर-काव्य मे मिलते हैं ।

क. समानाधिकरण—इस अव्यय—रूप के जो प्रयोग सूरदास ने किये हैं, उनको पुन. चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—अ. सयोजक, आ. विभाजक, इ. विरोधसूचक और ई. परिणामसूचक ।

---

४७. सा. १-२३९ । ४८ सा. १-३४२ । ४९. सा. २८२८ । ५०. सा. ३५२३ ।
५१. सा. १-११५ । ५२. सा. १-१४७ । ५३. सा ३२९५ । ५४. सा २६०४ ।
५५. सा २-३ । ५६ सा. १-११४ । ५७. सा. ३७२४ । ५८. सा ४२२५ ।
५९. सा. १-३२५ । ६०. सा. ९८३ । ६१. सा. १-२७० । ६२. सा. ८७१ ।
६३. सा. १-२५२ । ६४. सा. ७-२ । ६५. सा. ७-२ ।

अ. संयोजक—इस वर्ग का मुख्य रूप 'अरु' है जिसका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—सुत-कलत्र कौं अपनौ जानै, अरु तिनसौं ममत्व बहु ठानै[६६]। मैं तौ एक पुरुष कौं ध्यायौ अरु एकहिं सौं चित्त लगायौ[६७]। पठियौ कहि उपनंद बुलाई अरु आनौ बृषभानु लिवाई[६८]।

आ विभाजक—अथवा, कि, किधौं, की, कै, कैधौं, भावै आदि अव्यय इस वर्ग मे आते हैं जिनमे से 'की' और 'कै' के प्रयोग सूर-काव्य मे विशेष रूप से मिलते हैं, जैसे—

अथवा—जघनि कौं कदली सम जानै अथवा कनकखभ सम मानै[६९]।

कि—हौं उन माहँ कि वै मोहि महियाँ . तरु मैं बीजु कि बीज माँह तरु[७०]।

किधौं—किधौं बारि-बूंद सीप हृदय हरष पाए। किधौं चक्रवाकि निरखि पतिही रति मानै[७१]।

की—रसना-स्रवन नैन की होते की रसना ही इनही दीन्ही[७२]। स्याम-सखा तुम साँचे, की करि लियौ स्वाँग बीचहिं तैं[७३]।

कै—रक होइ कै रानी[७४]। भृगु कै दुरबासा....कपिल कै दत्त[७५]। कै वह भाजि सिंधु मे बूडी, कै उहिं तज्यौ परान[७६]।

कैधौं—धनुष-बान सिरान कैधौं गरुड बाहन खोर.. चक्र काहु चौरायौ, कैधौं भुजनि बल भयौ थोर[७७]। कैधौं नव जल स्वातिचातक मन लाए . कैधौं मृग-जूथ जुरे मुरली-धुनि रीझे[७८]।

भावै—भावै परौ आजुही यह तन भावै रहौ अमान[७९]। असुर होइ भावै सुर होइ[८०]।

इ विरोधसूचक—नतरु, नतरुक, नातरु, पै आदि रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे से अंतिम दोनो का प्रयोग सूर-काव्य मे अधिक मिलता है, जैसे—

नतरु—अजहूँ सिय सौंपि नतरु बीस भुज भानै[८१]।

नतरुक—तजि अभिमान राम कहि बौरे नतरुक ज्वाला तचिवौ[८२]।

नातरु—गाइ लेउ मेरे गोपालहिं नातरु काल-व्याल लेते है[८३]। रामहिं-राम कहौ दिन रात, नातरु जन्म अकारथ जात[८४]। मोकौं राम रजायसु नाही, नातरु प्रलय करौं छिन माही[८५]।

पै—सिवहू ताके पाछैं धाए, पै ताकौ मारन नहिं पाए[८६]। याही बिधि दिलीप तप कीन्हौ, पै गगा जू बर नहिं दीन्हौ[८७]। बरस सहस्र भोग नृप किये, पै सतोष न आयौ हिये[८८]।

---

६६. सा ३-१३। ६७ सा ४-३। ६८ सा ८८७।
६९. सा २-१३। ७०. सा १०-१३५। ७१ सा. ६४२। ७२. सा १८५८।
७३. सा. ३५१६। ७४. सा १-११। ७५. सा. ५-४। ७६ सा ९ ७५।
७७ सा १-२५३। ७८ सा. ६४२। ७९. सा. २-३३। ८०. सा. ७-२।
८१. सा. ९-९७। ८२. सा १-५९। ८३ सा. १-७४। ८४ सा ७-२।
८५ सा. ९-१३२। ८६. सा. १-२२६। ८७. सा. ९-९। ८८. सा. ९-१७४।

ई. परिणामसूचक—जातैं, तातैं आदि रूप इस वर्ग मे आते हैं जिनमे से द्वितीय का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है, जैसे—

जातैं—कौन पाप मैं ऐसौ कियौ जातैं मोकौ सूली दियौ[८९]।

तातैं—कर्दम-मोह न मन तैं जाइ, तातैं कहियैं सुगम उपाइ[९०]। सिव की लागी हरि पद तारी, तातैं नहिं उन आँखि उघारी[९१]।

ख. व्यधिकरण—इस वर्ग के अव्यय एक मुख्य वाक्य का सम्बन्ध एक या अधिक वाक्यो से जोड़ते हैं। सूर-काव्य मे इनके जो प्रयोग मिलते हैं, उनके तीन भेद किये जा सकते हैं—अ. उद्देश्यसूचक, आ. सकेतसूचक और इ. स्वरूपवाचक।

अ. उद्देश्यसूचक—जातैं, जौ आदि अव्यय इस वर्ग मे आते है जिनमे से प्रथम का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है, जैसे—

जातैं—अब तुम नाम गहौ मन नागर, जातैं काल-अगिनि तैं बाँचौ[९२]। सोई कछु कीजै दीनदयाल, जातैं जन छन चरन न छाँड़ै[९३]। जातैं रहै छत्रपन मेरौ सोइ मत्र कछु कीजै[९४]।

जौ—अब तुम मोकौं करौ अजाँची, जौं कहुँ कर न पसारौं[९५]।

आ. संकेतसूचक—जद्यपि, जद्यपि ...तऊ, जद्यपि ...पै, जौ, जौ...तउ, जौ.... तऊ, जौ ..तौ, जौपै, जौपै...तौ, तौ . जौ, तौपै ...जौ, यदि...तो आदि रूप इस वर्ग मे आते है; जैसे—

जद्यपि—प्रकट खंभ तैं दए दिखाई जद्यपि कुल कौ दानौ[९६]।

जद्यपि ...तऊ—जद्यपि मलय-बृच्छ जड काटै कर कुठार पकरै, तऊ सुभाव न सीतल छाँड़ै[९७]।

जद्यपि ...पै—जद्यपि रानी वरी अनेक, पै तिनतैं सुत भयौ न एक[९८]।

जौ—जौ तू रामहिं दोष लगावै, करौं प्रान कौ घात[९९]।

जौ...तउ—छहौ रस जौ धरौं आगैं तउ न गध सुहाइ[१]।

जौ ...तऊ—जौ गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं ...तऊ नही मिति नाथ[२]।

जौ...तौ—जौ हरि-व्रत निज उर न धरैंगौ तौ को अस त्राता जु अपुन करि कर कुठावँ पकरैंगौ[३]। प्रभु हित कै सुमिरौ जौ, तौ आनद करिकै नाचौ[४]।

जौपै—जौपै रामभक्ति नहिं जानी, कह सुमेरु सम दान दिएँ[५]।

जौपै...तौ—जौपै तुमही विरद विसारौ, तौ कहौ, कहाँ जाइ करुनामय कृपिन करम कौ मारौ[६]। जौपै यही विचार परौ तौ कत कलि-कलमष लूटन कौं मेरी देह धरी[७]।

---

८९. सा. ३-५ । ९०. सा. ३-१३ । ९१. सा. ४-५ । ९२. सा. १-९१ । ९३. सा. १-१२७ । ९४. सा. १-२६९ । ९५. सा. १०-३७ । ९६. सा. १-११ । ९७. सा. १-११७ । ९८. सा ६-५ । ९९ सा ९-७७ । १. सा. १-५६ । २. सा १-१११ । ३. सा १-७५ । ४. सा. १-८३ । ५. सा. १-८९ । ६. सा. १-१५७ । ७. सा. १-२११ ।

तौ · · जौ—तौ तुम कोऊ तारयौ नाहि, जौ मोसौं पतित न दारयौ[८]। तौ जानौं जौ मोहिं तारिहौ[९]।

तौपै···जौ—तौपै सूर पतिव्रत साँचौ, जौ देखौं रघुराइ[१०]।

(यदि)· ·जौ—नाथ, (यदि) सकौ तौ मोहिं उधारौ[११]।

३. स्वरूपवाचक—जो, मनहुँ, मनु, मनौ, मानौ आदि अव्यय इस वर्ग मे आते हैं जिनमे से अतिम तीन का प्रयोग सूरदास ने बहुत किया है, जैसे—

जो—मैं निरबल बित-बल नही जो और गढाऊँ[१२]।

मनहुँ—सदन-रज तन स्याम सोभित मनहुँ अग बिभूति राजति[१३]। भुजा बाम पर कर-छबि लागति' 'मनहुँ कमल-दल नाल मध्य तैं उयौ[१४]।

मनु—ललित लट छिटकाति मुख पर मनु मयकहिं अक लीन्हौ सिंहिका कै सून[१५]। मोलन कर तैं धार चलति, परि मोहनि मुख अतिही छबि बाढी, मनु जलधर जलधार बृष्टि लघु पुनि-पुनि प्रेम-चद पर बाढी[१६]।

मनौ—स्वाति-सुत-माला बिराजत' 'मनौ गगा गौरि डर हर लई कठ लगाइ[१७]। तनक कटि पर कनक करधनि मनौ कनक कसौटिया पर लीक सी लपटाति[१८]।

मानहुँ—कोउ मरम न पावत, मानहुँ मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख[१९]।

मानौ—मुख आँसू अरु माखन कनुका ' मानौ स्रवत सुधानिधि मोती उडुगन अवलि समेत[२०]। त्रास तैं अति चपल गोलक सजल सोभित छोर, मीन मानौ बेधि बसी करत जल झकझोर[२१]।

४. विस्मयादिबोधक अव्यय—सूरदास द्वारा प्रयुक्त विस्मयादिबोधक अव्ययो से आश्चर्य, तिरस्कार, शोक, हर्ष आदि सूचित होते हैं, जैसे—

अ आश्चर्य—इद्र हाथ ऊपर रहि गयौ, तिन कह्यौ, दई ! कहा यह भयौ[२२]।

आ तिरस्कार—धिक् तुम, धिक् या कहिबे ऊपर[२३]।

इ शोक—त्राहि त्राहि द्रौपदी पुकारी[२४]। त्राहि त्राहि करि ब्रजजन धाए[२५]। हा करुनामय ! कुजर टेरयौ[२६]। हा जगदीस ! राखि इहिं अवसर[२७]। हा हा लकुट त्रास दिखरावति[२८]।

ई. हर्ष—जय जय कृपानिधान[२९]। जय जय जय चिंतामनि स्वामी[३०]। बलि

---

८ सा. १-७३। ९ सा १-१३२। १० सा ९-७७। ११. सा. १-१३१। १२ सा ९-४२। १३ सा. १०-१६९। १४. सा. ६८७। १५ सा १०-१८४। १६ सा. ७३६। १७. सा १०-१७०। १८. सा १०-१८४। १९. सा ६४८। २०. सा ३४९। २१ सा ३५८। २२ सा. ९-३। २३. सा. १-२८४। २४. सा. १-२४९। २५ सा १०-५११। २६. सा १-११३। २७. सा १-२४७। २८. सा. ३५६। २९. सा. १-९७। ३०. सा १-२७४।

वलि नंददुलारे[३१] । बसन-प्रवाह वढ्यौ जव जान्यौ, साधु-साधु सवहिंनि मति फेरी[३२] । साधु-साधु सुरसरी-सुवन तुम[३३] ।

वाक्य-विन्यास—

वाक्य-विन्यास का अध्ययन मुख्यत गद्य-रचनाओ को लेकर किया जाता है । कारण यह है कि वाक्य मे विभिन्न शब्द-भेदो, वाक्याशो, उपवाक्यो आदि के क्रम और पारस्परिक सबध के विषय मे जो नियम निर्धारित किये जाते है, वे प्रायः गद्य-रचनाओ के आधार पर ही होते हैं और गद्य-लेखक ही उनका उचित निर्वाह भी करते है । इसके विपरीत, पद्य-लेखक को तो इस क्रम मे अपनी इच्छा या रुचि और छद की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने की पूर्ण स्वतत्रता रहती है । अतएव न तो तत्सबधी नियम सरलता से बनाये जा सकते है और न उनसे विशेष लाभ ही हो सकता है । सभवतः इसी कारण डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'व्रजभाषा-व्याकरण' नामक अपने पुराने और 'व्रज-भाषा' नामक नये ग्रथ मे वाक्य का विवेचन गद्य-रचनाओ के आधार पर ही किया है ।

फिर भी किसी काव्य के वाक्य-विन्यास का अध्ययन दो विषयो – १ वाक्य में शब्दो का क्रम और उनका पारस्परिक सबध तथा २. सरल और जटिल वाक्य-रचना— की दृष्टि से किया जाय तो निस्सदेह कुछ ऐसी बातें प्रकाश मे आयँगी जिनकी ओर गद्य-रचनाओ का अध्ययन करते समय कम ही ध्यान जाता है । अतएव सूरदास के वाक्य-विन्यास का अध्ययन उक्त शीर्षको के अतर्गत इसी दृष्टिकोण से करना है ।

१. **वाक्य में शब्दो का क्रम और उनका पारिस्परिक संबंध**—वाक्य के दो भाग होते हैं—एक, उद्देश्य और दूसरा, विधेय । उद्देश्य के अंतर्गत क्रिया का कर्त्ता और कर्त्ता के विशेषण आते हैं तथा विधेय मे क्रिया, उसका कर्म और क्रियाविशेषण । वाक्य मे इन्ही पाँच के क्रम और पारस्परिक सबध पर विचार करना है ।

क. **क्रिया का कर्त्ता या मुख्य उद्देश्य**—सज्ञा, सर्वनाम, क्रियार्थक संज्ञा और सज्ञावत् प्रयुक्त कुछ विशेषण शब्द वाक्य मे मुख्य उद्देश्य के रूप मे प्रयुक्त होते हैं । इनका स्थान क्रिया के पूर्व और पश्चात्, प्रभाव की दृष्टि से जहाँ भी उपयुक्त हो, हो सकता है, जैसे—

१. मन हरि लीन्हौ कुँवर कन्हाई[३४] ।
२. नैना घूँघट में न समात[३५] ।

पहले वाक्य मे 'कुँवर कन्हाई' उद्देश्य है जो क्रिया 'हरि लीन्हौ' के बाद प्रयुक्त हुआ है और दूसरे मे 'नैना' उद्देश्य 'समात' क्रिया के पूर्व ही है ।

अर्थ-बोध की दृष्टि से उक्त वाक्यो मे एक और बात ध्यान देने की है । पहले मे दो संज्ञा शब्द हैं—'मन' और 'कुँवर कन्हाई' । दोनों विभक्तिरहित है । इसलिए

---

३१. सा. १-२५७ । ३२. सा. १-२५२ । ३३. सा. १-२७४ ।
३४. सा. १८७६ । ३५. सा. २३४६ ।

गद्य-रचना के वाक्यो का शब्द-क्रम ध्यान मे रखनेवाला साधारण पाठक वाक्यारंभ मे प्रयुक्त 'मन' को ही उद्देश्य या कर्त्ता मान सकता है । इस भ्रम का किसी सीमा तक निवारण यह कह कर किया जा सकता है कि चेतन व्यक्ति कुँवर कन्हाई मे 'हरण करने' की जितनी क्षमता है, 'मन' मे 'हरे जाने' की ही उतनी योग्यता है । अत यहाँ 'कुँवर कन्हाई' को ही उद्देश्य मानना चाहिए । दूसरे वाक्य मे दो सज्ञा शब्द हैं—'नैना' और 'घूंघट' । इनमे से दूसरा अर्थात् 'घूंघट' अधिकरणकारक मे है जिसकी ओर उसकी विभक्ति 'मे' भी सकेत करती है । अत यहाँ कर्त्ता के सबध मे कोई भ्रम नही उठता । सूरदास का एक तीसरा वाक्य देखिए—

बहुरि **बन** बोलन लागे **मोर**[३६] ।

यहां भी क्रिया का उद्देश्य या कर्त्ता 'मोर' वाक्यान्त मे है, यद्यपि क्रिया के पूर्व एक और सज्ञा शब्द 'बन' प्रयुक्त हो चुका है ।

यह ठीक है कि ब्रजभाषा मे सभी कारकीय विभक्तियो का लोप किया जा सकता है, परन्तु कभी-कभी, विशेषत उद्देश्य के साथ, विभक्ति न रहने से वाक्य-रचना भ्रमोत्पादक हो जाती है । उक्त उदाहरणो मे कर्त्ता के सम्बन्ध मे जो भ्रम होता है, उसका यही मुख्य कारण है । इसी प्रकार नीचे के वाक्यो मे भी कर्त्ता के सबध मे अनिश्चयता के लिए स्थान है—

१. भली बात सुनियत हैं आज ।
कोऊ कमलनैन पठयौ है तन बनाइ अपनौ सौ साज[३७] ।

२. सुने **ब्रज लोग** आवत **स्याम**[३८] ।

३. साठ सहस्र **सगर के पुत्र**, कीने **सुरसरि** तुरत पवित्र[३९] ।

पहले वाक्य का अर्थ है 'कमलनैन ने कोऊ को भेजा है', परन्तु भ्रम से जान पड़ता है 'किसी कमलनैन ने भेजा है' अथवा 'किसी ने कमलनैन को भेजा है' । दूसरे मे कर्त्ता है 'ब्रजलोग', परन्तु 'स्याम' के भी कर्त्ता होने का भ्रम होता है । तीसरे मे कर्त्ता है 'सुरसरि', परन्तु 'पुत्र' की ओर भी भ्रम से सकेत किया जा सकता है ।

कुछ विभक्तियाँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग सूर ने कई कारको मे किया है । वाक्य मे ऐसी विभक्ति किसी शब्द के साथ रहने पर भी भ्रम के लिए स्थान रह ही जाता है, जैसे—

जानत हैं **तुम जिनहिं** पठाए[४०] ।

यहां 'हिं' विभक्ति कर्त्ता के साथ प्रयुक्त है जिससे वाक्य का अर्थ है—तुमको जिसने भेजा है ? परन्तु कर्त्ता कारक मे 'हिं' का प्रयोग बहुत कम होता है, इसलिए भ्रम से यह अर्थ भी निकलता है—तुमने जिसको भेजा है । यह भ्रम होता ही नहीं, यदि 'हिं' विभक्ति 'जिन' के साथ न होकर 'तुम' के साथ रहती अथवा 'जिन'

---

३६. सा ३२२५ । ३७. सा. ३४७६ ।
३८. सा. ३४६३ । ३९. सा. ९-९ । ४०. सा. ३५१० ।

या 'जिनहिं' का प्रयोग तुम के पहले किया जाता। इस वाक्य का यह शुद्ध रूप एक अन्य पद मे मिलता भी है—

जानी सिद्धि तुम्हारे सिधि की जिन तुम इहाँ पठाए[४१]।

विभक्ति या विभक्तियो का लोप रहने पर भी शब्दो के क्रम से ही इस वाक्य का अर्थ सरलता से निकल आता है—जिन्होने तुम्हे भेजा है। वास्तव मे गद्य हो चाहे पद्य, वाक्य-रचना ऐसी होनी चाहिए कि भ्रम के लिए अवकाश ही न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब वाक्य का प्रथम सज्ञा, सर्वनाम या अन्य समकक्ष प्रयोग, उद्देश्य या कर्त्ता के रूप मे प्रयुक्त हो। सूरदास ने अनेक पदो मे ऐसा किया भी है : जैसे—

१. कंस नृप अक्रूर ब्रज पठाये[४२]।
२. कहति दूतिका सखिनि बुझाइ[४३]।
३. मै तौ तुम्है हँसत ऽरु खेलतहिं छाँड़ि गई[४४]।
४. लाल उनींदे लोइननि आलस भरि लाए[४५]।
५. सिखिनि सिखर चढि टेर सुनायौ[४६]।

इन वाक्यो में 'कस नृप', 'दूतिका', 'मैं', 'लाल', 'सिखिनि' शब्द क्रियाओ के कर्त्ता हैं और इनका प्रयोग अन्य सज्ञा-सर्वनाम शब्दो से पूर्व होने के कारण वाक्यार्थ-बोध मे किसी प्रकार की असुविधा नही होती।

वाक्य मे प्रयुक्त अन्य शब्दो के बीच से 'कर्त्ता' को चुन लेने मे कोई कठिनाई न हो, इसका दूसरा उपाय यह है कि या तो उसी के साथ अथवा अन्य समकक्ष शब्दो के साथ कारकसूचक विभक्तियो का प्रयोग किया जाय। जहाँ-जहाँ सूर ने ऐसा किया है, वहाँ-वहाँ अर्थ की स्पष्टता मे कोई बाधा नही होती और 'कर्त्ता' को भी सरलता से बताया जा सकता है, जैसे—

१. भीजत कुंजनि मैं दोउ आवत[४७]।
२. नंदहिं कहत हरि[४८]।
३. कहति सखिनि सौं राधिका[४९]।
४. सुफलक-सुत के संग तै हरि होत न न्यारे[५०]।
५. स्यामहिं सुख दै राधिका निज धाम सिधारी[५१]।

इन वाक्यो मे उद्देश्य है क्रमश 'दोउ', 'हरि', 'राधिका', 'हरि' और 'राधिका'। वाक्यारभ मे न प्रयुक्त होने पर भी इनके पहचाने जाने मे कोई भ्रम नही उठता, क्योकि इनके पूर्व प्रयुक्त अन्य समकक्ष शब्दो के साथ कारकीय विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अतिम

---

४१ सा. ३६९३। ४२. सा. २९५६। ४३. सा. २४२५। ४४. सा. २७९१। ४५. सा. २५१२। ४६. सा. ३३२८। ४७. सा. १९९२। ४८. सा. ३१२१। ४९. सा. २६५३। ५०. सा. २९७६। ५१. सा. २६५१।

वाक्य मे अवश्य 'सुख' और 'धाम' के साथ कोई विभक्ति नही है, परतु 'सिधारी' क्रिया इनके अनुकूल न होकर 'राधिका' के लिंग-वचन के अनुसार है जिससे भ्रम को स्थान नही मिलता। ऐसी स्पष्ट वाक्य-रचना सूर काव्य मे सर्वत्र मिलती है।

ख. विशेषण—इस शीर्षक के अन्तर्गत सामान्य विशेषण शब्दो के अतिरिक्त सबध-कारकीय रूप भी आ जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि वाक्यातर्गत उद्देश्य भाग के 'कर्त्ता' और विधेय भाग के 'कर्म' दोनो के विशेषण रूप में इनका—सबधकारकीय रूपो और सामान्य विशेषण शब्दो का—प्रयोग किया जाता है। वाक्य योजना मे विशेष्य या सबधी शब्द के पूर्व भी सूरदास ने इनको स्थान दिया है और उनके पश्चात् भी, जैसे—

१ दीजै स्याम **कांधे को** कबर[५२]।

२. **सब खोटे मधुबन के** लोग[५३]।

३. **नंद के** लाल हर्‌यो मन मोर[५४]।

४ गोबिंद बिनु कौन हरै **नैननि की** जरनि[५५]।

५ तुम आए लै जोग सिखावन, सुनत **महा** दुख दीनौ[५६]।

इन वाक्यो मे विशेष्य या सबधी शब्द हैं—कबर, लोग, लाल, जरनि और दुख। बडे टाइप मे छपे शब्द इनके विशेषण हैं जो इनके पूर्व प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित वाक्यो मे विशेषणो का प्रयोग विशेष्यो के बाद किया गया है—

१ रे मधुकर, **लंपट अन्याई**, यह सँदेस कत कहैं कन्हाई[५७]।

२ रहु रहु रे बिहग, **बनवासी**[५८]।

३ ऊधौ, जननी **मेरी को** मिलि अरु कुसलात कहौगे[५९]।

४. तजी सीख **सब सास-ससुर की**[६०]।

इन वाक्यो मे विशेष्य हैं—मधुकर, बिहग, जननी और सीख, जिनके विशेषण या सबंधकारकीय रूप—लपट-अन्याई, बनवासी, मेरी को और सब सास ससुर की—उनके पश्चात् प्रयुक्त हुए हैं।

विशेषण शब्द का प्रयोग विशेष्य के पूर्व किया जाय चाहे उसके पश्चात्, परतु होना चाहिए वह सर्वथा स्पष्ट ही—उसके विशेष्य के सबध मे किसी प्रकार का भ्रम नही होना चाहिए। सूरदास का एक वाक्य ऊपर दिया गया है—

साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि तुरत पवित्र[६१]।

इसमे 'साठ सहस्र' विशेषण का विशेष्य है—'पुत्र', परतु बीच मे 'सगर' शब्द आ जाने से इसी के विशेष्य होने का भ्रम हो सकता है। ऐसे भ्रमोत्पादक विशेषण-प्रयोग

---

५२ सा १९९१। ५३ सा. ३५९०। ५४ सा १८७१। ५५ सा. ३३४४। ५६. सा ३५६३। ५७. सा. ४०४९। ५८. सा. ३३३१। ५९. सा. ३४४०। ६०. सा. ३५६६। ६१. सा. ९-९।

सूर-काव्य में बहुत कम है, यद्यपि विशेष्य और विशेषण के बीच मे अन्य शब्द अनेक वाक्यो मे आये हैं, जैसे—

१. रितु बसत अरु ग्रीषम बीते **बादर** आए **स्याम**[61] ।

....

तारे गनत **गगन** के सजनी, बीतैं चारौ जाम[62] ।

२. मित्र एक **मन** बसत **हमारैं**[63] ।

इन वाक्यो मे विशेषण है—स्याम, गगन के और हमारैं, एव विशेष्य हैं—बादर तारे और मन। इनके बीच मे 'आए', 'गनत' और 'बसत' के आने पर भी विशेषण-विशेष्य के संबंध मे कोई भ्रम नही होता।

ग. क्रिया—वाक्य के विधेयाश का सबसे महत्वपूर्ण अग है क्रिया। गद्य-रचना मे तो वाक्य की पूर्णता इसी अग पर निर्भर रहती है और 'हाँ', 'ना'—जैसे एक-दो शब्दो के वाक्यो को छोडकर, जो प्राय वार्तालाप मे ही प्रयुक्त होते हैं, साधारणत क्रिया ही वाक्यों को विन्यास की दृष्टि से पूर्ण करती है। काव्य मे ऐसा नही होता, उसमे विन्यास से बहुत अधिक ध्यान अर्थ पर रहता है और अनेक वाक्यो के अर्थ की सिद्धि क्रिया न रहने पर भी सुगमता से हो जाती है। सूरदास के काव्य मे भी अनेक वाक्य ऐसे मिलते है जिनमे क्रिया है ही नही। यह बात पद के प्रथम चरण मे विशेष रूप से देखने को मिलती है; जैसे—

१. वासुदेव की बडी बड़ाई[64] ।

२. हरि सौ ठाकुर और न जन कौ[65] ।

३. अद्भुत राम-नाम के अक ।
   धर्म-अकुर के पावन द्वै दल मुक्ति-वधू ताटंक[66] ।

४. दानव वृषपर्वा वल भारी, नाम समिष्ठा तासु कुमारी ।
   तासु देवयानी सौ प्यार·· ....[67] ।

५. सखी री, काकै मीत अहीर[68] ।

उक्त वाक्यो मे कोई क्रिया शब्द प्रयुक्त नही है, फिर भी अर्थ की दृष्टि से उनमें कोई कमी नही जान पडती। इसी प्रकार पद के वीच वीच मे भी कभी कभी ऐसे क्रिया-रहित वाक्य मिल जाते हैं, यद्यपि इनकी सख्या अपेक्षाकृत कम है, जैसे—

१. हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाही[69] ।

---

६१. सा. ९-९ । ६२. सा. ३३०९ । ६३. सा ३८४९ ।
६४. सा. १-३ । ६५. सा. १-९ । ६६. सा. १-९० । ६७ सा. ९-१७४ ।
६८. सा. ३१५६ । ६९. सा. १-११ ।

२ माता-पिता-बंधु-सुत तौ लगि, जौ लगि जिहिं कौ काम ।
आमिष-रुधिर-अस्थि अँग जौ लौं, तौ लौ कोमल चाम[७०] ।

३. राम-राम तौ बहुरि हमारी[७१] ।

इन वाक्यो में भी, क्रिया न रहने पर, अर्थ की दृष्टि से अपूर्णता नहीं है। इस प्रकार के वाक्यो का अर्थ प्रसग के साथ बडी सरलता से समझ मे आ जाता है। परतु सूरदास केवल छुट-पुट वाक्यो के क्रिया-लोप से ही संतुष्ट नही रहे। उन्होने पूरे-पूरे पद ऐसे लिख दिये हैं जिनमे कोई क्रिया नही है, जैसे—

१ हरि-हर सकर नमो नमो ।
अहिसायी अहि-अग-बिभूषन, अमित-दान, बल-बिष-हारी ।
नीलकठ, बर नील कलेवर, प्रेमपरस्पर कृतहारी ।
कठ चूड, सिखि -चद्र-सरोरुह, जमुनाप्रिय गगाधारी ।
सुरभि-रेनु तन, भस्म-बिभूषित, बृष-बाहन, बन बृष-चारी ।
अज-अनीह-अविरुद्ध, एकरस, यहै अधिक ये अवतारी ।
सूरदास सम, रूप-नाम-गुन अतर अनुचर-अनुसारी[७२] ।

२. गिरिधर, बज्रधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ, पीताबरधर ।
सख-चक्रधर, गदा-पद्मधर, सीस मुकुटधर, अधर-सुधाधर ।
कबु कठ धर, कौस्तुम मनि धर, बनमाला धर, मुक्त माल धर ।
सूरदास प्रभु गोप बेष धर, काली फन पर चरन कमल धर[७३] ।

प्रथम पद की प्रारभिक पक्ति मे केवल 'नमो नमो' पद क्रिया वर्ग मे आता है। इसके अतिरिक्त और कोई सामान्य क्रिया-रूप इन पदो मे नही है। ऐसी क्रियारहित वाक्य-योजना सूरदास की सामासिक पद-प्रधान स्तुतियो मे विशेष रूप से देखने को मिलती है। इस प्रकार की रचना की सबसे बडी विशेषता यह है कि क्रिया न रहने पर भी वाक्य का अर्थ समझने मे कठिनाई नही होती। भाषा का सामान्य कार्य, कवि के विचारो का बोध पाठक को सुगमता से करा देना होता है। क्रिया न रहने पर भी सूरदास के वाक्य इस दायित्व का निर्वाह सरलता से कर देते हैं।

वाक्य मे यदि कर्त्ता या उद्देश्य एक से अधिक हैं और उनमे पहला एकवचन मे है और दूसरा बहुवचन मे, तो सूरदास ने क्रिया द्वितीय या अतिम के अनुसार रखी है, जैसे—

इक मन अरु ज्ञानेंद्री पाँच, मन कौं सदा नचावैं नाच[७४] ।

इस वाक्य मे 'इक मन' और 'ज्ञानेन्द्री पाँच', दोनो सम्मिलित रूप से 'नचावैं' क्रिया

---

७०. सा. १-७६ । ७१. सा २८२८ । ७२. सा. १०-१७१ । ७३. सा. ५७२ । ७४ सा. ५-४ ।

के कर्ता हैं; परंतु क्रिया को वहुवचन रूप द्वितीय को ध्यान मे रखकर ही दिया गया है। इसी प्रकार यदि दो एकवचन कर्त्ता किसी क्रिया के साथ है, तो भी सूरदास ने इसको वहुवचन कर दिया है; जैसे—

मत्स्य अरु सर्प तिहिं ठौर परगट भए[७५]।

यहाँ 'मत्स्य' और 'सर्प', दोनो एकवचन मे हैं। इन दोनो कर्त्ताओ के सम्मिलित रूप के अनुसार क्रिया 'परगट भए' वहुवचन मे आयी है।

किसी वाक्य में यदि क्रिया द्विकर्मक रूप मे प्रयुक्त हुई है तब मुख्य कर्म तो सदैव उसके पूर्व प्रयुक्त हुआ है और गौण कर्म कभी पहले और कभी बाद मे; जैसे—

१. ध्रुवहिं अभै पद दियौ मुरारी[७६]।

२ अति दुख मैं सुख दै पितु-मातहिं सूरज-प्रभु नँद-भवन सिधारे[७७]।

३. ललिता कौ सुख दै गए स्याम[७८]।

इन वाक्यो मे मुख्य कर्म हैं—'अभै पद', 'सुख' और 'सुख' जो तीनो कियाओ—'दियौ', 'दै' और 'दै गए' के पूर्व प्रयुक्त हुए हैं तथा गौण कर्म हैं—'ध्रुवहिं', 'पितु-मातुहिं' और 'ललिता कौ' जिनमे प्रथम और अन्तिम तो क्रियाओ के पूर्व आये है, परन्तु द्वितीय 'पितु-मातुहिं' को उसके पश्चात् स्थान मिला है।

विनोदी कवि सूरदास ने यदि कुछ ऐसे पद रच दिये है जिनमे कोई क्रिया नही है, तो ऐसे पदो की रचना भी उन्होने की है जिनमे एक ही क्रिया-पद की अनेक बार आवृत्ति है; जैसे—

आँखिनि में बसै, जिय में बसै हिय में बसत निसि दिवस प्यारौ।
तन मैं बसै, मन मैं बसै, रसना हू मैं बसै नंदवारौ।
सुधि मैं बसै बुधिहू मैं बसै अग अंग बसै मुकुटवारौ।
सूर वन बसै, घरहू मैं बसै सग ज्यौं तरंग जलतें न न्यारौ[७९]।

घ. अव्यय—वाक्य मे अव्यय-प्रयोगो के सम्वन्ध मे एक मुख्य वात यह है कि जव तव, जौ तौ, जद्यपि तद्यपि या तथापि आदि कभी तो साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं और कभी चरण मे स्थान न रह जाने पर द्वितीय रूप का लोप भी कर दिया जाता है। सूरदास ने दोनो तरह के प्रयोग किये हैं, जैसे—

१. जब गज गह्यौ ग्राह जल भीतर तब हरि कौ उर ध्याए (हौ)[८०]।

२. जब जब दीननि कठिन परी...तब तब सुगम करी[८१]।

३. जहँ जहँ गाढ परी भक्तनि कौ, तहँ तहँ आपु जनायौ[८२]।

---

७५. सा. ८-१६। ७६. सा १-२९। ७७. सा १०-१०। ७८. सा. २४७८। ७९. सा. १९१९। ८०. सा. १-७। ८१. सा. १-१६। ८२. सा. १-२०।

४. **जहँ जहँ** जात **तहीं तहिं** त्रासत[८३] ।

५. हमता **जहाँ, तहाँ** प्रभु नाही[८४] ।

६. **जौ** मेरे दीनदयाल न होते ।
तौ मेरी अपत करत कौरव-सुत होत पाडवनि ओते[८५] ।

७ **ज्यौं** कपि सीत हतन हित **त्यौं** सठ बृथा तजत नहिं कबहूँ[८६] ।

जब तब, जब जब तब तब, जहँ जहँ तहँ तहँ, जहँ जहँ तही तहिं, जौ तौ, ज्यौं त्यौं आदि सम्बन्धवाचक अव्ययो का सामान्य प्रयोग तो सूर-काव्य मे सर्वत्र मिलता ही है, इनका विलोम रूप भी कही कही दिखायी देता है, जैसे—

तब तब रच्छा करी, भगत पर **जब जब** बिपति परी[८७] ।

तीसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमे एक अव्यय के साथ उसके सामान्य सम्बन्धी शब्द का प्रयोग न करके अन्य रूप का प्रयोग किया गया है, जैसे—

१ **जब जब** भीर परी सतन कौ, चक्र सुदरसन **तहाँ** सँभारयौ[८८] ।

२ **जब लगि** जिय घट अतर मेरे. .चिरजीव **तौलौं** दुरजोधन[८९] ।

इन वाक्यो मे 'जब जब' के साथ 'तब' या 'तब तब' का प्रयोग न करके 'तहाँ' का और 'जब लगि' के साथ 'तब लगि' के स्थान पर 'तौलौं' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के और भी अनेक प्रयोग सूर-काव्य मे मिलते हैं, जैसे—'जद्यपि' के साथ 'तथापि' या 'तद्यपि' का प्रयोग न करके 'तउ' या 'तऊ' का प्रयोग किया गया है। इसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

चौथे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमे केवल प्रथम रूप का प्रयोग मिलता है और द्वितीय रूप लुप्त रहता है और एक अल्पविराम से उसका काम निकाला गया है, जैसे—

१ द्रुपद-सुता **जब** प्रगट पुकारी, गहत चीर हरि नाम उबारी[९०] ।

२. **जब लगि** डोलत बोलत चितवत, धन-दारा हैं तेरे[९१] ।

३ **जौ** तू राम-नाम-धन-धरतौ ।
अबकौ जन्म, आगिलौ तेरौ, दोऊ जन्म सुधरतौ[९२] ।

पहले वाक्य मे 'तब', दूसरे मे 'तब लगि' या 'तौलौं' और तीसरे मे 'तौ' आदि लुप्त हैं। भाषा-सगठन की दृष्टि से यह अन्तिम रूप अपेक्षाकृत सफल समझना चाहिए।

---

८३ सा १-१०३। ८४. सा १-११। ८५. सा १-२५९। ८६ सा. १-१०२। ८७. सा. १-१६। ८८ सा. १-१४। ८९ सा. १-२७५। ९०. सा. १-२८। ९१ सा. १-३१९। ९२. सा १-२९७।

२. सरल और जटिल वाक्य-रचना—रचना की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सरल वाक्य और जटिल वाक्य। सरल वाक्यो मे एक मुख्य क्रिया अपने उद्देश्य या कर्त्ता के साथ अपना स्वतन्त्र परिवार बनाकर विराजती है जिससे वाक्य छोटा परन्तु सगठित रहता है। जटिल वाक्यो मे एक से अधिक मुख्य क्रियाएँ अपने-अपने कर्त्ताओ के साथ सम्मिलित परिवार बनाकर रहती हैं। ऐसे वाक्यो मे कभी-कभी एक दो क्रियाओ के कर्त्ता लुप्त भी रहते है और उनके छोटे-छोटे उपवाक्यो को परस्पर सम्बन्धित करने के लिए अतिरिक्त अव्ययो की आवश्यकता पड़ती है। काव्य मे साधारणत. प्रथम अर्थात् सरल वाक्यो की और गद्य मे जटिल वाक्यो की अधिकता रहती है।

क. सरल वाक्य—सूर-काव्य मे भी सर्वत्र सरल वाक्यो की ही अधिकता है। ये वाक्य चार-पाँच शब्दो से लेकर दस-बारह शब्दो तक के हैं, जैसे—

१. नमो नमो हे कृपानिधान[13]।
२. जज्ञ-प्रभु प्रगट दरसन दिखायौ[14]।
३. मन बच-क्रम मन, गोविंद सुधि करि[15]।
४. सूरजदास दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई[16]।
५. आदर सहित विलोकि स्याम-मुख नद अनदरूप लिए कनियाँ[17]।
६. राहु ससि-सूर के बीच मैं बैठिकै मोहिनी सौ अमृत माँगि लीन्ह्यौ[18]।

ऊपर के सभी वाक्य एक ही चरण मे पूर्ण हो जाते है। परन्तु सूरकाव्य मे कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमे एक ही चरण मे सूरदास ने कई सरल वाक्य रख दिये हैं। ऐसा वाक्य-विन्यास नेत्रो के सामने विषय का पूरा दृश्य अकित कर देता है, जैसे—

प्रभु जागे। अर्जुन तन चितयौ। कब आये तुम? कुसल खरी[19]?

इस चरण मे चार सरल वाक्य माने जा सकते है। ये सभी वाक्य पूर्ण हैं; यद्यपि द्वितीय मे कर्त्ता 'प्रभु' लुप्त है और अतिम मे क्रिया 'है', परन्तु काव्य मे ऐसा लोप अनुचित नही होता; क्योकि कर्ता तो पूर्व वाक्य मे आ ही चुका है और क्रिया-लुप्त अनेक वाक्य पूर्ण वाक्यवत् सूर-काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार नीचे के चार चरणो में से पहले, दूसरे और चौथे से तीन, और तीसरे से चार सरल वाक्य बनाये जा सकते हैं; केवल कर्त्ता जोडने की कही-कही आवश्यकता होगी—

जागी महरि। पुत्र-मुख देख्यौ। पुलकि अंग उर मैं न समाई।
गदगद कठ। बोल नहिं आवै। हरषवत ह्वै नंद बुलाइ।

---

१३. सा. २-३३। १४. सा. ४-६। १५. सा. १-३१२। १६. सा. ९-७। १७. सा. १०-१०६। १८. सा. ८-८। १९. सा. १-२६८।

आवहु कन्त । देव परसन भये । पुत्र भयौ । मुख देखौ धाइ ।
दौरि नन्द गये । सुत मुख देख्यौ । सो सुख मोपै बरनि न जाइ[1] ।

कुछ सरल वाक्यो की रचना इतने व्यवस्थित ढग से की गयी है कि गद्य मे उनका अन्वय करने की आवश्यकता ही नही रह जाती, जैसे—

(माइ) मोहन की मुरली मैं मोहिनी बसत है[2] ।

इस वाक्य मे सभी आवश्यक विभक्तियाँ प्रयुक्त हैं, किसी का भी लोप कवि ने नही किया है । यही इस वाक्य के गद्यात्मक विन्यास का प्रमुख कारण है ।

इसी प्रकार सूर-काव्य मे कुछ पूरे-पूरे पद मिलते हैं जिनका वाक्य-विन्यास बिलकुल सीधा-सादा है और उनमे अधिकाश वाक्य भी सरल ही हैं, जैसे—

चलन कौ कहियत हैं हरि आज ।
अबही सखी देखि आई है, करत गवन कौ साज ।
कोउ इक कस कपट करि पठयौ, कछु सँदेस दै हाथ ।
सु तौ हमारौ लिये जात है सरबस अपनैं साथ ।
सो यह सूल माहिं सुनि सजनी सहियै धरि जिय लाज ।
धीरज जात, चलौ अबही मिलि, दूरि गऐ कह काज ।
छाँडौ जग जीवन की आसा अरु गुरुजन की कानि ।
बिनती कमलनयन सौ करियै, सूर समै पहचानि[3] ।

ख जटिल वाक्य—सूरदास के जटिल वाक्यो की रचना भी सरल वाक्यो के समान ही सीधी-सादी है । साधारणत एक या दो चरणो मे उनके जटिल वाक्य पूर्ण हो जाते हैं । समस्त सूर-काव्य मे बहुत थोडे वाक्य ऐसे हैं जो एक चरण मे समाप्त नही होते । पहले स्कध का यह वाक्य तीन चरणो मे समाप्त हुआ है ।

लै लै ते हथियार आपने, सान धराए त्यौं ।
जिनके दारुन दरस देखि के पतित करत म्यौं म्यौं ।
दाँत चबात चले जमपुर तैं धाम हमारे कौं[4] ।

इस वाक्य मे दूसरे चरण का अश 'जिनके दारुन दरस देखि कै पतित करत म्यौं-म्यौं' विशेषण उपवाक्य है जिसका विशेष्य है 'ते' । इतना जान लेने पर पूरे वाक्य का अर्थ समझने मे कोई कठिनाई नही होती । जटिल परन्तु सरल वाक्यो का यह अच्छा उदाहरण है । इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है—

---

१. सा १०-१३ । २. सा. १३६७ । ३. सा २९८३ ।
४. सा १-१५१ ।

जहाँ सनक सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि लीजै[५]।

यह वाक्य चार चरणो मे पूरा होता है और इसमे नौ उपवाक्य तक बनाये जा सकते है, फिर भी अर्थ स्पष्ट है और विन्यास भी सुन्दर है।

सूरदास की रचना मे अपवादस्वरूप ही ऐसे जटिल वाक्य मिलते है जो एक पूरे चरण से आगे बढकर दूसरे चरण के मध्य मे समाप्त हुए हो। 'सूरसागर' के दूसरे स्कन्ध मे इस प्रकार का एक उदाहरण है—

मेरें जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान।
स्रवन करौ निसि बासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन[६]।

यहाँ दूसरे चरण के अन्त मे दिया गया 'सूर तुम्हारी आन' वास्तव मे एक स्वतंत्र और सरल वाक्य है। इसको हटा देने पर मुख्य जटिल वाक्य दूसरे चरण के मध्य मे 'हित सौं' के बाद ही समाप्त हो जाता है।

व्याकरण मे गद्य-रचना के वाक्य विश्लेषण के उद्देश्य से जटिल वाक्यो को सयुक्त और मिश्रित, दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है। परन्तु काव्य के जटिल वाक्यो की चर्चा करते समय इन भेदो को ध्यान मे रखने की आवश्यकता नही है। सामान्य जटिल वाक्य के अन्तर्गत जो उपवाक्य रहते हैं, वे मुख्यत. छ. प्रकार के होते हैं—अ. प्रधान उपवाक्य, आ. प्रधान के समानाधिकरण उपवाक्य, इ. सज्ञा उपवाक्य, ई विशेषण उपवाक्य, उ क्रियाविशेषण उपवाक्य, और ऊ. सज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण उपवाक्यो के सामानाधिकरण उपवाक्य। यह आवश्यक नही कि 'सूर-काव्य' के प्रत्येक जटिल वाक्य मे उक्त छहो प्रकार के उपवाक्य मिल सकें; क्योकि काव्य मे साधा-रणत एक ऐसे वाक्य मे दो से लेकर तीन चार तक ही उपवाक्यो का प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ. प्रधान उपवाक्य—वाक्य मे प्रधान उपवाक्य का स्थान निश्चित नही रहता; अन्य उपवाक्यो के पहले अर्थात् वाक्यारंभ मे भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और अंत मे भी, जैसे—

१. जब जब दुखी भयौ, तब तब कृपा करी बलबीर[७]।

२. तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी।
जिनकें बस अनिमिष अनेक गन अनुचर आज्ञाकारी[८]।

पहले वाक्य का प्रधान उपवाक्य, 'तब तब कृपा करी बलबीर' अंत मे और दूसरे का 'तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी' आरंभ मे रखा गया है।

---

५. सा. १-३३७। ६. सा. २-३३। ७. सा. १-१७। ८. सा. १-१६३।

आ प्रधान का समानाधिकरण—सूरदास के जिन जटिल वाक्यो मे प्रधान उपवाक्य के समानाधिकरण मिलते हैं, वे बहुत सरल हैं, जैसे—

१. कर कपैं, **कंकन नहिं छूटै**[९] ।

२ सुरनि हित हरि कच्छप रूप धर्‌यौ, **मथन करि जलधि अमृत निकार्‌यौ**[१०] ।

इ. सज्ञा उपवाक्य—सूरदास के जटिल वाक्यो मे जब सज्ञा उपवाक्य मिलता है, तब भी वाक्य छोटे-छोटे हैं और दो-तीन से अधिक उपवाक्यो को उसमे स्थान देने के पक्ष मे कवि नही रहा है, जैसे—

१ इद्र कह्यौ, **मम करौ सहाइ**[११] ।

२ श्री सुक के सुनि बचन नृप लाग्यौ करन बिचार,
झूठे नाते जगत के, सुत-कलत्र-परिवार[१२] ।

३. देखौ कपिराज, **भरत वै आए**[१३] ।

इन वाक्यों मे बडे टाइप मे छपे उपवाक्य, सज्ञा उपवाक्य हैं। दोहरे सज्ञा उपवाक्यो का एक रोचक उदाहरण निम्नलिखित वाक्य मे मिलता है—

कठिन पिनाक, कहौ किन तोर्‌यौ, (परसुराम) क्रोधित बचन सुनाए[१४] ।

'परसुराम क्रोधित बचन सुनाए' हैं प्रधान उपवाक्य, 'कहौ' है पहला सज्ञा उपवाक्य जिसमे कर्ता लुप्त है और 'कठिन पिनाक किन तोर्‌यौ' दूसरा सज्ञा उपवाक्य है प्रधान के आश्रित और दूसरे रूप मे 'कहौ' वाले उपवाक्य का भी सज्ञा उपवाक्य है। ऐसे उदाहरण भी सूर-काव्य मे कम ही हैं ।

ई. विशेषण उपवाक्य—सूर-काव्य मे सामान्य विशेपण उपवाक्यो का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। उनके विशिष्ट प्रयोगो के सबध मे दो बातें महत्व की हैं। पहली तो यह कि दो-चार पदो मे ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमे प्रधान उपवाक्य के साथ विशेषण उपवाक्यो की झडी-सी लगा दी गयी है, जैसे—

वदौं चरन-सरोज तिहारे।
सुदर स्याम कमल-दल-लोचन ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे।
जे पद-पदुम सदा सिव के धन, सिन्धु-सुता उर तैं नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात रिस त्रासत, मन बच क्रम प्रहलाद सँभारे।
जे पद-पदुम परस जल पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पद-पदुम परस रिषि-पतिनी, वलि, नृग, व्याध, पतित वहु तारे।

---

९. सा. ९-२५ । १०. सा. ८-८ । ११. सा. १-३४३ ।
१२. सा २-२९ । १३ सा ९-१६८ । १४ सा ९-२६ ।

जे पद-पदुम रमत बृन्दावन अहिसिर धरि, अगनित रिपु मारे।
जे पद-पदुम परसि ब्रजभामिनि सरबस दै, सुत-सदन बिसारे।
जे पद-पदुम रमत पाडव-दल दूत भए, सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध ताप दुख-हरन हमारे।[१५]

इस पद मे 'जे पद पदुम' से आरभ होनेवाला प्रत्येक चरण एक विशेषण उपवाक्य है जो अतिम चरण के प्रधान उपवाक्य के आश्रित है। ऐसी वाक्य-योजना सूरदास के वहुत कम पदो मे मिलती है। एक दूसरा उदाहरण है—

स्याम कमल-पद नख की सोभा।
जे नख-चद्र इद्र सिर परसे, सिव-विरंचि मन लोभा।
जे नख-चद्र सनक मुनि ध्यावत, नहिं पावत भरमाही।
ते नख-चंद्र प्रगट ब्रज-जुबती, निरखि निरखि हरषाही।
जे नख-चद्र फनिंद्र हृदय तैं एकौ निमिप न टारत।
जे नख-चद्र महा मुनि नारद, पलक न कहूँ विसारत।
जे नख-चद्र भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति।
सूर स्याम नख-चद्र विमल छवि, गोपीजन मिलि दरसति[१६]।

प्रथम पद मे केवल दो वाक्य हैं—एक सरल और दूसरा जटिल, परतु इस दूसरे पद मे तीन वाक्य है—प्रथम चरण एक सरल वाक्य है, फिर तीन चरणो का एक जटिल वाक्य है और शेष चार चरणो मे दूसरा। 'जे नख-चद्र' से आरभ होनेवाला प्रत्येक चरण इसमे भी विशेषण उपवाक्य रूप मे है। ऐसे पद भक्ति के भावावेश मे लिखे जाते हैं, और वैसी स्थिति मे कवि अपने आराध्य की महिमा गाता नही अघाता।

सूरदास के विशेपण उपवाक्यो के सवध मे दूसरी महत्वपूर्ण वात यह है कि कही-कही उन्होने इनके सवधसूचक शब्द 'जो' आदि लुप्त भी रखे हैं जिससे उपवाक्य एक साधारण वाक्याश-सा जान पडता है, जैसे—

नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै[१७]।

इस वाक्य मे 'जन' के पूर्व 'जो' न रहने से यह विशेपण उपवाक्य, वाक्याश मात्र जान पड़ता है विशेपकर इसलिए कि इसमे क्रिया भी लुप्त है। परतु 'जो' का सवधी शब्द 'सो' आगे के उपवाक्य 'जम की मार सो खैहै' मे रखा हुआ है, अतएव पूर्ण विशेषण उपवाक्य इस प्रकार होना चाहिए—नर वपु धारि जो जन नाहिं हरि को; क्योकि पूरे वाक्य का अर्थ इसे इसी रूप मे स्वीकार करके करना पडता है।

उ. क्रियाविशेपण उपवाक्य—विशेपण उपवाक्यो के समान ही क्रियाविशेपण उपवाक्य भी सूर-काव्य मे सर्वत्र सामान्य रूप मे ही प्रयुक्त हुए है। अधिकाश पदो मे क्रियाविशेषण उपवाक्य सवधी शब्द की दृष्टि से पूर्ण हैं, जैसे—

---

१५. सा. १-९४। १६ सा १८०६। १७. सा. १-८६।

जौलौं सत सरूप नहिं सूझत ।
तौलो मृग-मद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत[१८] ।

कुछ पदो मे तो ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमे एक क्रियाविशेषण उपवाक्य के साथ काल या स्थान-सूचक कई कई अव्ययो का प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—

जनम जनम, जब जब, जिहिं जिहिं जुग, जहाँ जहाँ जन जाइ ।
तहाँ तहाँ हरि चरन-कमल-रति सो दृढ होइ रहाइ[१९] ।

इस वाक्य मे प्रथम चरण क्रियाविशेषण उपवाक्य रूप मे है जिसमे बडे टाइप मे छपे अनेक अव्यय शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार के उपवाक्य सूर-काव्य मे कम ही हैं, यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से यह रचना अधिक सफल है।

कही-कही ऐसे वाक्य भी सूरदास ने बनाये हैं जिनमे एक मुख्य उपवाक्य के साथ पाँच-छह क्रियाविशेषण उपवाक्यो की योजना है और क्रिया, कर्त्ता आदि की दृष्टि से सभी पूर्ण भी हैं, जैसे—

डोलै गगन सहित सुरपति अरु पुहुमि पलटि जग परई।
नसै धम मन बचन काय करि, सिंधु अचंभो करई ।
अचला चलै, चलत पुनि थाकै, चिरंजीवि सो मरई ।
श्रीरघुनाथ प्रताप पतिव्रत, सीता-सत नहिं टरई[२०] ।

इस वाक्य मे प्रधान उपवाक्य अतिम चरण मे है और प्रथम तीन चरणो मे सात क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं। 'चाहे', 'बरु' या इनका पर्यायवाची सबधी शब्द इन सबमे लुप्त है। प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से यह शैली निश्चय ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार का एक अन्य वाक्य है—

डुलै सुमेरु, शेष-सिर कपै, पश्चिम उदै करै बासरपति ।
सुनि त्रिजटी, तौहूँ नहिं छाँडौं मधुर मूर्ति रघुनाथ-गात-रति[२१] ।

इस वाक्य मे भी प्रथम चरण मे तीन क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं। सबधी शब्द तीनो मे लुप्त है, फिर भी अर्थ स्पष्ट है और ऐसे उपवाक्यो की सम्मिलित योजना ने कथन को बहुत ओजपूर्ण बना दिया है।

ऊ समानाधिकरण उपवाक्य—सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण, तीनो प्रकार के उपवाक्यो के समानाधिकरण उपवाक्य भी सूरदास के अनेक वाक्यो मे मिलते हैं। सज्ञा उपवाक्य के समानाधिकरण का उदाहरण—

कह्यो सुक श्री भागवत विचारि ।
हरि की भक्ति जुगै जुग विरधै, **आन धर्म दिन** चारि[२२]।

---

१८. सा २-२५। १९ सा १-३५५। २० सा ९-७८। २१ सा ९-८२। २२ सा १-२३१।

यहाँ प्रथम चरण प्रधान वाक्य के रूप मे है, द्वितीय चरण का पूर्वार्द्ध संज्ञा उपवाक्य है और उत्तरार्द्ध का उपवाक्य इसके समानाधिकरण-रूप मे है।

विशेषण और क्रियाविशेषण उपवाक्यो की चर्चा करते समय पूरे पदो या तीन-चार चरणो के अनेक उद्धरण ऊपर दिये गये हैं। इनमे कई कई विशेपण और क्रिया-विशेषण उपवाक्य साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी परस्पर समानाधिकरण हैं। अतएव इनके अतिरिक्त उदाहरण देना अनावश्यक है।

साराश यह कि सूरदास के सरल और जटिल, दोनो तरह के वाक्यो का विन्यास अर्थवोध की दृष्टि से साफ और सुदर है। उनके काव्य मे ऐसे वाक्य वहुत कम हैं जिनके उपवाक्यो के क्रम मे अर्थ के लिए उलट-फेर करना पडे। निम्नलिखित-जैसे वाक्य खोजने पर ही उनके काव्य मे मिलते है—

तेरौ तव तिहिं दिन, कौ हितू हो हरि विन,
सुधि करिकै कृपिन, तिहि चित आनि।
जब अति दुख सहि, कठिन करम गहि,
राख्यौ हो जठर माँहि स्रोनित सौ सानि[२३]।

इस वाक्य मे तीन उपवाक्य हैं—

क. तेरौ तव तिहिं दिन को हितू हो हरि विन—सज्ञा उपवाक्य।

ख. सुधि करिकै कृपिन तिहिं चित आनि—प्रवान उपवाक्य।

ग. जब अति दुख सहि ' स्रोनित सौं सानि—क्रियाविशेषण उपवाक्य।

अर्थ की स्पष्टता के लिए इन उपवाक्यो का क्रम उलट कर क, ग और ख; या ख, ग और क करना पडता है। अन्यत्र लवे वाक्यो मे भी, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, उनकी उपवाक्य योजना सीधी-सादी है।

गठन की दृष्टि से भी सूर-काव्य मे अपवादस्वरूप ही ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनके वाक्य-विन्यास को शिथिल कहा जा सके, जैसे—

सभु सुत को जो वाहन है कुहुकै असल सलावत[२४]।

यहाँ 'जो वाहन है' विशेपण उपवाक्य है जिसके वीच मे आ जाने से वाक्य शिथिल हो गया है; परतु इसका कारण दृष्टकूट पद्धति का अपनाया जाना कहा जा सकता है। अतएव अर्थवोध और गठन, दोनो की कसौटी पर उनकी वाक्य-योजना खरी उतरती है और यह भी उनके काव्य की वढ़ती हुई लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण है।

२३. सा. १-७७। २४. सा. ३६८२।

६ सूर की भाषा का व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष

आत्मानुभूति की मार्मिक व्यजना कविता का आवश्यक गुण है। बाल्यकालीन वातावरण के सस्कार, पूर्ववर्ती साहित्य के अध्ययन, भूतकालिक जीवन मे सचराचर विश्व के मनन और सामयिक विचारधारा के प्रभाव से जो अनुभूतियाँ जाग्रत होती हैं, बुद्धितत्व और कल्पनाशक्ति द्वारा पोषित करके जो व्यक्ति उन्हे व्यक्त कर सकता है, वही 'कवि' है एव जो रचना इस प्रकार प्रत्यक्ष होती है, वही 'कविता' है। मानव की स्वभावगत सौंदर्यप्रियता उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि भावो और अनुभूतियो की यह व्यजना अधिक से अधिक रोचक और आकर्षक रूप मे हो। भावाभिव्यजन का सर्वश्रेष्ठ साधन है 'भाषा' जिसे सार्थक, सबल और अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयत्न अनादि काल से होता आया है। काव्य के शास्त्रीय पक्ष का सबध इसी प्रयत्न से है। भाषा के मुख्य अग हैं 'शब्द' और 'अर्थ' जिनके कई भेद और उपभेद हैं। भाषा को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए उसके सभी अगो-उपागो को अलकृत करने की आवश्यकता होती है। साहित्यशास्त्रियो ने इनकी विवेचना करके, नियम और लक्षणो के साथ तत्सबधी परिभाषाएँ प्रस्तुत की है। कला-पक्ष के शास्त्रीय ग्रंथो के ये ही प्रतिपाद्य विषय हैं।

काव्यभाषा का दायित्व—भाषा और काव्य के कलापक्ष का सबध एक दृष्टि से और भी महत्व का है। अन्य विषयो मे प्रसग का स्पष्ट रूप से बोध करा देने पर ही भाषा का दायित्व समाप्त हो जाता है, परन्तु काव्य मे तो वस्तु-बोध के पश्चात् ही भाषा का कार्य, एक प्रकार से आरम्भ होता है। हल्की-गहरी, पूरी-अधूरी प्रत्येक रेखा, चित्र की सपूर्णता मे योग देने के साथ-साथ स्वतत्र रूप से भी जिस प्रकार विशेष सदेश की साकेतिक वाहिका रहती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ काव्य के शब्द, सामान्य अर्थ-बोध मे योग देने के अतिरिक्त विज्ञ पाठक के लिए विशिष्टता-निर्देशक भी होते हैं। शब्द-विशेष के अर्थ मे, व्युत्पत्ति के आधार पर, जो ऐतिहासिक साकेतिकता रहती है, प्रसग के उपयुक्त समझे जाने के कारण भाव के सूक्ष्म निर्देशन का जो दायित्व उसको सौंपा जाता है, वक्ता की भाव-भगिमा की जो छाया उस पर प्रतिबिंबित होकर पाठक या श्रोता के मानस पटल पर प्रत्यावर्तित होने की क्षमता रखती है और कवि के कठ की जो वक्रता उसमे ध्वनित होती है, जिज्ञासु पाठक को सामान्य अर्थ-बोध के अतिरिक्त, इन सबसे भलीभाँति परिचित कराना भी काव्य-भाषा का ही कार्य है। साराश यह कि कवि के शब्द उसके हृदय और मस्तिष्क के ऐसे सदेशवाहक हैं जो उसके अभीष्ट भाव को तो पूर्णतया हृदयगम किये रहते हैं, परन्तु प्रत्येक श्रोता या पाठक के लिए उतना ही रहस्य उद्घोषित करते हैं जितने को आत्मसात् करने की मानसिक योग्यता उसमे होती है।

वे कवि के भाव-कोष के मुक्त, परन्तु सुचतुर दाता है और पात्रता के अनुसार ही अर्थ-दान दिया करते हैं। उनके पास जाकर कोई खाली हाथ नही लौटता, सभी उनकी उदारता से लाभ उठाते और चमत्कृत होते हैं, फिर भी यह कोष रिक्त नही होता। इस कोष को अक्षय बनाये रखने का दायित्व भी काव्यभाषा का ही है।

भाषा के व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष—काव्यभाषा के जिन दो कार्यों—सामान्य अर्थ-द्योतन और विशेषार्थ-बोधन की ऊपर चर्चा की गयी है, उनके आधार पर उसके अध्ययन के दो पक्ष हो जाते हैं—प्रथम है व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय है शास्त्रीय पक्ष। प्रथम के अंतर्गत विषय, पात्र और मनोभावो के विभिन्न रूपो, सामान्य और प्रयासपूर्ण शब्द-योजनाओ, मुहावरो-कहावतो के प्रयोगो आदि का अध्ययन किया जाता है। द्वितीय अर्थात् शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत उन विषयो की चर्चा की जाती है जिनकी विवेचना भाषा के अगों के रूप मे रीति या लक्षण-ग्रथो मे मिलती है, यथा – शब्दशक्ति वृत्ति, रीति, अलकार, गुण, दोष और रस-छन्द की दृष्टि से भाषा की उपयुक्तता आदि। सूर की भाषा का अध्ययन इन विषयो के आधार पर भी करना है।

सूर का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण—भाषा के व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान सभी कवियो को योग्यतानुसार रहता है और रचनाभ्यास के साथ-साथ वढता भी जाता है। अत इस पक्ष का अध्ययन भी सुगमता से किया जा सकता है। परन्तु शास्त्रीय पक्ष का अध्ययन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक होता है कि कवि ने काव्य-शास्त्र का कितना अध्ययन किया था और काव्य-रचना के समय उसका तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या था। इससे भाषा के तद्विषयक अध्ययन मे सुगमता होती है। परन्तु सूरदास अन्य विषयो की तरह इस सम्बन्ध मे भी मौन हैं। उन्होने अपने ग्रथो मे कही इस बात का प्रत्यक्ष या परोक्ष सकेत नही किया है कि उन्होने भाषा के शास्त्रीय या कला पक्ष का कितना और कब अध्ययन किया था। हाँ, 'साहित्यलहरी' के अनेक पदो मे नायिकाओ और अलकारो के नाम अवश्य मिलते हैं, जैसे—

१. सूरस्याम सुजान **सुकिया अघट उपमा** दाव[२५]।
२ सूरस्याम कोविदा **सुभूषन** कर **विपरीत** बनावै[२६]।
३. सूरज प्रभु **उल्लेख** सबन कौ हौ **परपतनी** हेरो[२७]।
४ सूरज प्रभु पर होहु **अनूढ़ा सुमिरन** जनि बिसरावो[२८]।
५. सूर **छेक** ते **गुप्त** बातहू तोकों सब्र समुझैहै[२९]।
६. सूर सरस **सरूप गर्वित** दीपिकावृत चाइ[३०]।
७. सूर **प्रस्तुत** कर **प्रसंसा** करत **पंडिता** नास[३१]।
८. सूरज प्रभु **बिरोध** सो भाषत **बस परजंक** निहार[३२]।

---

२५. लहरी, १। २६ लहरी, ५। २७. लहरी, ८। २८. लहरी, ९।
२९. लहरी, १०। ३०. लहरी, १८। ३१. लहरी, २८। ३२. लहरी, ३५।

९ सूर **अनसग** तजत तावत **अयोपतिका** सूप[३३],

इन वाक्यो मे क्रमश स्वकीया, प्रौढा (कोविदा = पडिता = प्रौढा), परकीया, अनूढा, सुरतगुप्ता, रूपगर्विता, खडिता, वासकसज्जा (वस-परजक = पर्यंक पर बसी या बैठी), आगतपतिका नायिकाओ और पूर्णोपमा (अघट = न घटने वाली = पूर्ण), प्रतीप (विपरीत उल्टा = प्रतीप) उल्लेख, स्मरण, छेकापह्नुति, आवृत्तिदीपक, अप्रस्तुत-प्रशसा, विरोधाभास, असगति (अनसंग = अन्य का सग अलकारो का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त 'साहित्यलहरी' मे अनेक पद ऐसे भी हैं जिनमे केवल अलकारो के ही नाम आये हैं, जैसे—

१ सूरदास अनुराग प्रथम ते **बिषम** बिचार बिचारो[३४]।
२ सूरस्याम सुजान **सम** बस भई है रस रीति[३५]।
३ सूरजदास **अधिक** का कहियै करौ सत्रु-सिव साखी[३६]।
४ **अल्प** सूर सुजान कासो कहौ मन की पीर[३७]।
५ **उक्तगूढ़** तें भाव उदै सब सूरज स्याम सुजान[३८]।

इन वाक्यो मे क्रमश विषम, सम, अधिक, अल्प और गूढोक्ति अलकारो के नाम आये हैं। इसी प्रकार 'साहित्यलहरी' के कुछ पदो मे सचारी भावो के साथ-साथ अलकारो का नाम-निर्देश है, जैसे –

१ **एक अवल** करि रही **असूया** सूर सुतन कह चाई[३९]।
२ **भूषन सार** सूर **स्रम** सीकर सोभा उडत अमल उजियारी[४०]।
३ सूरज **आलस** **जथासंख** कर बूझ सखी कुसलात[४१]।
४ कासो कहो **समूचे** भूषन **सुमिरन** करत बखानी[४२]।
५ **अपसमार** जहँ सूर सम्हारत बहु **बिषाद** उर पेरो[४३]।

इन वाक्यो मे एकावलि, सार, यथासख्य, समुच्चय और विषाद अलकारो के साथ-साथ असूया, श्रम, आलस्य, स्मरण और अपस्मार सचारी भावो के नाम आये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पद भी 'साहित्यलहरी' मे हैं जो रस-विशेष के उदाहरण-रूप मे प्रस्तुत किये गये जान पडते हैं[४४]। इन सब बातो से स्पष्ट होता है कि सूरदास को काव्यागो का सामान्य ही नही, अच्छा ज्ञान था, परन्तु उन्होंने इसका अर्जन कब और किससे किया, यह प्रामाणिक रूप से नही कहा जा सकता। अनुमान यह होता है कि नैत्यिक रूप से ज्ञान-भक्ति-चर्चा मे रत रहनेवाले सूरदास तथा उनके वर्ग के अन्य

---

३३. लहरी, ३९। ३४ लहरी ४०। ३५ लहरी ४१। ३६ लहरी ४३। ३७ लहरी ४४। ३८. लहरी ८५। ३९ लहरी ४९। ४०. लहरी ५१। ४१. लहरी ५२। ४२ लहरी ५५। ४३ लहरी ६७।
४४. लहरी ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८ आदि।

कवियों में नैमित्यिक रूप से काव्यशास्त्र की चर्चा अवश्य होती होगी जिसको हृदयंगम कर लेना आलोच्य कवि के लिए एक सामान्य बात थी। उनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी ही; अतएव वे कूटपदो मे विभिन्न अलकारो और रसो के उदाहरण देने मे सहज ही समर्थ हो सके।

काव्यशास्त्र की इस प्रकार की जानकारी रखने और 'साहित्यलहरी' की रचना करके उसका परिचय भी देनेवाले सूरदास ने अपने को न आचार्य समझा और न तद्विषयक उल्लेख ही किया। गोस्वामी तुलसीदास जब अपने को काव्यागो के ज्ञान से सर्वथा शून्य बताते है—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू, सकल कला सब बिद्या हीनू।
आखर अरथ अलकृति नाना, छद-प्रबध अनेक बिधाना।
भाव-भेद रस-भेद अपारा, कवित दोष-गुन बिविध प्रकारा।
कवित बिबेक एक नहि मोरे, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।
भनिति मोर सब गुन-रहित . . . . ., . . .[४५]।

तब उनकी विनम्रता के प्रति सम्मान-भाव रखते हुए भी, स्थूल रूप से तो यही जान पडता है कि वस्तुत वे अनेक काव्यागो के ज्ञान मे पारगत होने की ही सूचना देते हैं। और उक्त कथन को उनकी शुद्ध विनयोक्ति के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाय, तब भी इतनी ध्वनि तो उससे निकलती ही है कि वे उन सभी विषयो से परिचित अवश्य थे। सूर-काव्य मे इस प्रकार की कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वीकारोक्ति कही नही मिलती। 'सूरसागर' के कुछ पदो मे 'कवि' शब्द का प्रयोग इस ढग से अवश्य मिलता है कि उसका संकेत सूरदास की ओर ही जान पडता है, जैसे—

१. तौ जानिहौ जौ मोहिं तारिहौ सूर कूर कवि ढोट[४६]।
२. कवि उपमा बरनै कछु छोटी[४७]।
३ बारबार जमुहात सूर प्रभु इहि उपमा कवि कहै कहा री[४८]।
४. दामिनि घन पटतर दीजै क्यौ सकुचत कवि लिये नामा[४९]।
५. कनक जटित जराइ बीरे, कवि जु उपमा पाइ[५०]।
६. बन-विलास व्रज-बास रास-सुख देखि देखि सुख पावत।
सूरदास बहुरौ बियोग गति कुकवि निलज ह्वै गावत[५१]।

इन वाक्यो मे प्रयुक्त 'कवि' शब्द का सकेत निश्चय ही 'सूरसागर' के रचयिता की ओर ही है। केवल अतिम वाक्य में सूरदास ने अपने लिए 'कुकवि' कर रहा है। उसका तात्पर्य तो यह है कि श्रीकृष्ण के व्रज-विलास की अनेक सुखद लीलाओ का चित्रण करने के

---

४५. 'मानस', बालकाण्ड, दोहा ९, पृ० १३।
४६. सा. १-१३२। ४७. सा. १०-१६५। ४८. सा. १०-२८८। ४९. सा. २१८१।
५०. सा. २८३१। ५१. सा. ४०२६।

पश्चात् अब उनके मथुरा चले जाने पर, उनके प्रिय सबधियो और प्रेमिकाओ के वियोग-दुख का वर्णन जिसको करना पड़े, निस्सदेह वह कवि 'अभागा' ही है। अतएव इन वाक्यो मे 'कवि' शब्द के प्रयोग द्वारा वह अपने को स्पष्ट रूप से 'कवि' स्वीकार करता और एक बड़े दायित्व के निर्वाह की प्रतिज्ञा मे बद्ध होता है। इसी तरह के कुछ और भी वाक्य 'सूरसागर' मे मिलते हैं जिनमे प्रयुक्त 'कवि' शब्द का सकेत निश्चयपूर्वक दूसरो की ओर है, जैसे—

१ लाल गोपाल बाल-छबि बरनत करिहै **कवि-कुल** हास री[५२]।
२ लोचन आँजि स्रवन-तरिवन छबि को **कवि** कहै निवारि[५३]।
३ सूरदास प्रभु-प्यारी की छबि प्रिय गावत नित,
पावत **कवि** उपमा जे ते बढभागे[५४]।
४ तुम अँग अँग छबि की पटतर कौं **कविअनि** बुद्धि नची[५५]।
५ सूरस्याम उर-करज कौं को बरनि सकै **कवि**[५६]।

इन वाक्यो मे प्रयुक्त 'कवि' शब्द प्रत्यक्ष रूप से सूरदास की ओर भले ही सकेत न करता हो, परन्तु उससे यह ध्वनि तो निकलती ही है कि वह अपने को कवि वर्ग मे ही समझता है। अब प्रश्न यह है कि इस शब्द के प्रयोग से, काव्य-प्रतिभा के अभिमान में, सूरदास अपने को 'कवि' घोषित करते हैं अथवा यह सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है ? इन पक्तियो के लेखक की सम्मति मे 'सूर-काव्य' मे प्रयुक्त 'कवि' शब्द मे किसी प्रकार के अभिमान का भाव नही है और वह सामान्य स्थिति मे ही प्रयुक्त हुआ है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे प्रवेश के उपरात, आराध्य की सगुण लीला-गान की प्रतिज्ञा[५७] कर लेने पर सूरदास का कवि-रूप गौण हो गया और भक्त-रूप प्रधान जिसका समर्थन इस बात से भी होता है कि 'कवि-रूप' की घोषणा करनेवाले उक्त वाक्य तो 'सूरसागर' मे बहुत थोड़े हैं, परन्तु भक्त-रूप समस्त सूर-काव्य मे व्याप्त है। कवि को प्रसिद्धि की चाह हो सकती है, परन्तु भक्त को तो उसके लिए भी अवकाश नही मिलता। यही कारण है कि काव्य-ज्ञान के सम्बन्ध मे सूरदास ने जानबूझकर कोई उल्लेख करने की आवश्यकता नही समझी। आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन और आराध्य-युग्म की मधुर लीलाओ के वर्णन का जो प्रिय कार्य वह सपादित कर रहा था, उसमे आतरिक अनुभूति और तन्मयता की जितनी आवश्यकता थी, उसकी तुलना मे काव्य-ज्ञान की अपेक्षा सूरदास को उसके सताश की भी नही थी। यह ठीक है कि ऊपर उद्धृत 'साहित्यलहरी' के उदाहरणो से कवि की तद्विपयक प्रदर्शन-प्रवृत्ति स्पष्ट होती है, परन्तु उसका सम्बन्ध कवि की विनोदी प्रकृति से अधिक है, शास्त्रज्ञता का परिचय देकर उस क्षेत्र मे कीर्ति-लाभ के लोभ से बहुत कम।

---

५२ सा. १०-१३९। ५३ सा. २०२७। ५४ सा २१७१।
५५ सा २४४८। ५६ सा. २७३१।
५७. सब विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन (लीला) पद गावै—सा १-२।

व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन—

इस शीर्षक के अंतर्गत सूरदास की भाषा के जिन पक्षो का अध्ययन करना है, उनमे मुख्य है—१. विषय के अनुसार भाषा-रूप, २. पात्र के अनुसार भाषा-रूप, ३. मनोभावो के अनुसार भाषा-रूप, ४. सवादो की भाषा, ५. सूक्तियो की भाषा, ६. मुहावरो के प्रयोग और ७. कहावतो के प्रयोग।

विषय के अनुसार भाषा-रूप—

विषय की दृष्टि से समस्त सूर-काव्य—'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी'—को स्थूल रूप से ग्यारह वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है— क. विनयपद और स्तुतियाँ, ख. पौराणिक कथाएँ, ग. बाललीला और माता-पिता की अभिलाषाओ का चित्रण, घ. रूप-वर्णन, ङ. सयोग-वर्णन, च. मुरली के प्रति उपालभ, छ. नेत्रो के प्रति उपालभ, ज. पर्वोत्सव और ऋतु-चित्रण, झ. वियोग-वर्णन और भ्रमर-गीत, ञ. स्फुट विषय . पारिभाषिक विवेचन और ट कूट पद। प्रत्येक के अनुसार सूरदास की व्यावहारिक भाषा मे क्या परिवर्तन हुआ है, इसी की सोदाहरण व्याख्या यहाँ की जायगी।

क. विनयपद और स्तुतियाँ—इस वर्ग मे सूर-काव्य का जो अंश आता है, उसको पुन तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे वे सामान्य पद आते है जिनमे भक्त का दैन्य-प्रदर्शन है और अपनी अकिंचनता का दीन स्वर मे तथा आराध्य की अति महानता और परम उदारता का गद्‌गद् होकर वह वर्णन करता है। ऐसे पद मुख्य रूप से 'सूरसागर' के प्रथम स्कध के पूर्वार्द्ध मे सकलित है, जैसे—

१. स्याम गरीबनि हूँ के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति-निवाहक।
कहा बिदुर की जाति-पाँति-कुल, प्रेम-प्रीति के लाहक।
कह पाडव कै घर ठकुराई ? अरजुन के रथ-वाहक।
कहा सुदामा कै धन हो ? तौ सत्य प्रीति के चाहक।
सूरदास सठ, तातै हरि भजि आरत के दुख-दाहक[५८]।

२. प्रभु तेरौ वचन-भरोसौ साँचौ।
पोषन-भरन बिसभर साहब, जो कलपै सौ काँचौ[५९],

३. बिनती करत मरत हो लाज।
नख-सिख लौ मेरी यह देही है पाप की जहाज।

---

५८. सा. १-१९। ५९. सा. १-१२।

और पतित आवत न आँखि तर देखत अपनौ साज।
तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ तऊ न आयौ बाज।
पाछें भयौ न आगे ह्वैहै, सब पतितनि-सिरताज।
नरकौ भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज।
अबलौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब बृथा अकाज।
साँचे बिरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज[६०]।

४ प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि कैं, हौ तौ जनमत ही कौ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौं।
मोहिं छाँडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौ जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं, मोहूँ तैं कौ नीकौ[६१]।

५ तुम तजि और कौन पै जाउँ ?
काकै द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर-हथ कहा बिकाउँ ?
ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दिऐं अघाउँ ?
अतकाल तुम्हरें सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं ठाउँ ?[६२]।

इन पदो की भाषा मे प्रयास नही है और अर्द्धतत्सम-तद्भव शब्दो की सख्या तत्सम से कुछ अधिक है। बीच-बीच मे विदेशी शब्द भी अनायास आ गये हैं। आराध्य की उदारता को नतमस्तक होकर स्वीकार करने और अपनी दीनता दिखाने के लिए आडबर की तो कभी आवश्यकता होती नही, फिर जिस कवि को विश्वास हो कि उसका इष्टदेव भाव का ही भूखा है, भाव मे ही बसता है[६३], वह भाषा मे शब्दो के चयन और सस्कार की भी क्यो चिंता करने लगा ? अतएव सीधी-सादी प्रसादगुण-युक्त भाषा मे भक्त सूर अपनी दीनता दिखाता हुआ, इष्टदेव से कृपा-दृष्टि एक बार इधर भी फेरने की प्रार्थना करता है। भगवान यदि कृत्रिमता या सजावट नही चाहते तो भक्त भी भाषा को सजाने-सँवारने की आवश्यकता नही समझता। अतएव इस प्रकार के विनय-पदो मे न अलकारो का चमत्कार है और न लक्षणा-व्यजना की कवित्वपूर्ण मार्मिकता है। इनमे तो दीन प्राणी के हृदय की करुण पुकार है जो आत्मानुभूति की तीव्रता के कारण सभी को प्रभावित करती है। अपनी अत्यधिक हीनता दिखाने के लिए इन पदो मे सूरदास ने कही-कही दृष्टात, उदाहरण—जैसे अलकारो का सहारा भले ही लिया हो, परन्तु उसका उद्देश्य भी काव्यात्मक चमत्कार-प्रदर्शन नही, विपय को सरल करते हुए आत्मनिवेदन की पुप्टि करना मात्र है।

---

६० सा १-९६। ६१ सा १-१३८। ६२ सा. १-१६४।
६३ भाव सौं भजै, विनु भाव मैं ये नहीं, भाव ही माँहि ध्यानहिं वसावैं—१००६।

उक्त पदो की भाषा कही-कही बड़ी सशक्त हो गयी है। कारण यह है कि भक्त का इह लोक मे तिरस्कृत और सुख-सौभाग्य से वचित हृदय ऊँचे स्वर मे अपनी मूर्खता, असार-प्रियता और असफलता की कहानी विश्व के कोने-कोने मे फैलाकर, अपनी पापमय सुख-लोलुपता का प्रायश्चित-सा करके, शीघ्र से शीघ्र इसलिए निर्मल हो जाना चाहता है जिससे भगवान की दयामय उदारता का वह भी पात्र हो सके। उसे न लोक-लाज का ध्यान है, न सामाजिक मर्यादा या शिष्टाचार का। जो अपने को तुच्छतम पापी घोषित और सिद्ध करने पर तुला है, उसे उच्चवर्गीय वस्त्राभूषणो की क्या चिंता ? अतएव अनलकृत और आडवररहित भाषा मे रचे सूरदास के ये विनय-पद, दीन-निरीह के करुण स्वर की तीव्रता के समान ही, भक्तजन को आकृष्ट कर लेते है।

विनय-पदो के दूसरे वर्ग मे वे पद आते हैं जिनमे उक्त विषयो के साथ-साथ माया के प्रपचो और उसके प्रलोभन मे फँस जाने की मूर्खता का वर्णन है, परन्तु जिसके लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयासपूर्ण भाषा का उपयोग किया गया है। ऐसे पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कध के उत्तरार्द्ध और द्वितीय स्कध मे विशेष रूप से मिलते है; जैसे—

१. अद्भुत राम-नाम के अक।
धर्म-अँकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति-वधू ताटंक।
मुनि-मन-हस पच्छ जुग, जाकै बल उड़ि ऊरध जात।
जनम-मरन काटन कौ कर्तरि तीछनि वहु विख्यात।
अधकार-अज्ञान-हरन कौ रबि-ससि जुगल प्रकास।
बासर-निसि दोउ करै प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुखकरन, हरनदुख, बेद-पुराननि साखि।
भक्ति-ज्ञान के पथ सूर ये, प्रेम निरतर भाखि[६४]।

२. ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसानाथ, मनोरथ-दाता, हौ प्रभु दीनदयाल।
चरननि चित्त निरतर अनुरत, रसना चरित रसाल।
लोचन-सजल, प्रेम-पुलकित तन, गर अचल, कर माल।
इहिं बिधि लखत, झुकाइ रहे जम अपनै ही भय भाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि जातना कराल[६५]।

३. द्वै मैं एकौ तौ न भई।
न हरि भज्यौ, न गृह-सुख पायौ, बृथा बिहाइ गई।
ठानी हुती और कुछ मन मै, औरै आनि ठई।

---

६४. सा. १-९०। ६५. सा. १-१८९।

अविगत-गति कछु समुझि परत नहिं, जो कछु करत दई।
सुत-सनेहि-तिय सकल कुटुँब मिलि, निसिदिन होत खई।
पद-नख-चद चकोर बिमुख मन, खात अँगारमई।
बिषय-बिकार दवानल उपजी, मोह-बयारि लई।
भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहुँ न टेव गई।
होत कहा अबके पछताऐ, बहुत देर बितई।
सूरदास सेये न कृपानिधि जो सुख सकल मई[६६]।

४. चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल-कमला, रबि बिना बिकसाहिं।
हस उज्जल, पख निर्मल, अग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ, चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन-मध्य समाहिं।
पदुम-बास सुगध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहै, जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुजत बैठि उन पर भौंरहूँ बिरमाहिं।
देखि नीर जु छिलछिलौ जग, समुझि कछु मन माहिं।
सूर क्यौं नहिं चलै उडि तहँ, बहुरि उडिबौ नाहिं[६७]।

५ भजन बिनु जीवत जैसे प्रेत।
मलिन मदमति डोलत घर घर, उदर भरन के हेत।
मुख कटु बचन, नित्त पर निंदा, सगति सुजस न लेत।
कबहूँ पाप करै पावत धन, गाडि धूरि तिहिं देत।
गुरु ब्राह्मन अरु सत सुजन के, जात न कबहुँ निकेत।
सेवा नहिं भगवत-चरन की, भवन नील कौ खेत।
कथा नही, गुन-गीत सुजस हरि, सब काहूँ दुख देत।
ताकी कहा कहौ सुनि सूरज, बूडत कुटुँब समेत[६८]।

इन पदो की भाषा पूर्वोद्धृत पदो से निश्चय ही अधिक तत्समता-प्रधान है। कारण यह है कि इनकी रचना अपेक्षाकृत कम भावावेश मे और अधिक चिंतन के पश्चात् हुई है। अपनी अकिंचनता की चर्चा कवि ने ऐसे पदो मे कम की है। वह तो जैसे अपनी जन्म-जन्म की मूर्खता के ही चिन्तन मे और अपने मन के प्रबोधन मे लीन है जिससे भावोद्गार कुछ दब-सा गया है। आश्वासन उसे अपने इष्टदेव की दयालुता और उदारता का है।

---

६६. सा. १-२९९। ६७ सा १-३३८। ६८ सा. २-१५।

वह विश्वस्त है कि मोह-ममता के बधनो को जब उसने जान लिया है, सासारिक संबधों की निस्सारता और दृश्य जगत की क्षणभगुरता से जब वह परिचित हो गया है, तब आराध्य की कृपा से उसका उद्धार अवश्य हो जायगा। चिंतन के ऐसे क्षणो मे भाषा का भी अपेक्षाकृत तत्समता-प्रधान हो जाना स्वाभाविक ही है।

विनय-पदो के तीसरे वर्ग मे स्तुतियाँ आती हैं। इनकी सख्या सूर-काव्य में अधिक नही है, फिर भी इनका इस दृष्टि से अधिक महत्व है कि इनकी भाषा उक्त दोनो रूपो की भाषा से कही मिलती-जुलती है और कही भिन्न है, जैसे—

> प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।
> जग सिरजत-पालत-सहारत, पुनि क्यो बहुरि करै।
> ज्यो पानी मैं होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ।
> त्योही सब जग प्रगटत तुमतै, पुनि तुम माहिं बिलाइ।
> माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहिं कोइ।
> नाम-जहाज चढै जो कोऊ, तुव पद पहुँचै सोइ।
> पापी नर लोहै जिमि प्रभु जू, नाही तासु निबाह।
> काठ उतारत पार लौह ज्यो, नाम तुम्हारौ ताह।
> पारस परसि होत ज्यो कचन, लौहपनौ मिटि जाइ।
> त्यो अज्ञानी ज्ञानहिं पावत, नाम तुम्हारौ गाइ।
> अमर होत ज्यो संसय नासै, रहत सदा सुख पाइ।
> यातैं होत अधिक सुख भगतनि, चरन-कमल चित लाइ।
> थावर-जगम सब तुम सुमिरत, सनक-सनदन ताही।
> ब्रह्मा-सिव अस्तुति न सकै करि, मै बपुरा केहि माही[६९]।

इस पद मे श्रीकृष्ण के प्रति नारद की स्तुति है। इसके पूर्व ऋपि और वेद की स्तुतियाँ भी इसी ढंग की हैं, यद्यपि उनका राग भिन्न है। ये स्तुतियाँ लगभग उसी भाषा मे लिखी गयी है जो विनय-पदो के प्रथम वर्गीय पदो की है। उद्देश्य-साम्य ही भाषा की समानता का प्रमुख कारण ह। कुछ स्तुतियाँ इससे परिष्कृत भाषा मे भी सूर-काव्य मे मिलती हैं, जैसे—

> १. हरि जू की आरती बनी।
> अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
> कच्छप अघ आसन अनूप अति, डाँडी सहसफनी।
> मही सराव, सप्त सागर घृत, वाती सैल घनी।

---

६९. सा. ४३०२।

रबि-ससि ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी।
उडत फूल उडगन नभ-अतर, अजन घटा घनी।
नारदादि-सनकादि-प्रजापति-सुर-नर-असुर-अनी।
काल-कर्म-गुन ओर अत नहिं, प्रभु-इच्छा रचनी।
यह प्रताप-दीपक सुनिरतर, लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान मे, अति बिचित्र सजनी[७०]।

२ नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारे, मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह-निसा कौ लेस रह्यौ नहिं, भयौ बिबेक बिहान।
आतम-रूप सकल घट दरस्यौ, उदय दियौ रबि-ज्ञान।
मै-मेरी अब रही न मेरै, छुट्यौ देह-अभिमान।
भावै परौ आजुही यह तन, भावै रहौ अमान।
मेरै जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान्।
स्रवन करौ निसि बासर हित सौ, सूर तुम्हारी आन[७१]।

३ जय जय जय जय माधव बेनी।
जग हित प्रकट करी करुनामय, अगतिनि कौ गति दैनी।
जानि कठिन कलिकाल कुटिल नृप, सग सजी अघ-सैनी।
जनु ता लगि तरवारि त्रिबिक्रम, धरि करि कोप उपैनी।
मेरु मूठि, बर बारि पाल छिति, बहुत बित्त की लैनी।
सोभित अग तरग त्रिसगम, धरी धार अति पैनी।
जा परसै जीतै जम सैनी, जमन, कपालिक, जैनी।
एकै नाम लेत सब भाजै, परि सो भव भय सैनी।
जा जल सुद्ध निरखि सम्मुख है, सुन्दरि सरसिज-नैनी।
सूर परस्पर करत कुलाहल, गर-सृग पहिरावैनी[७२]।

इन तीनो स्तुतियो की भाषा प्रथम वर्गीय विनय-पदो से अधिक साहित्यिक होने के कारण द्वितीय वर्ग की तत्समता प्रधान भाषा के अधिक निकट है। भावातिरेक के बुद्धि तत्व का प्रयोग सूर-काव्य मे जहाँ भी हुआ है, भाषा का यही रूप वहाँ देखा जाता है। स्तुतियो के तीसरे वर्ग की भाषा इससे भिन्न है। जैसे—

१. हरि हर सकर, नमो नमो।
अहिसायी, अहि अग विभूषन, अमित दान, बल विष हारी।

---

७०. सा. २-२८। ७१. सा. २-३३। ७२ सा. ९-११।

नीलकंठ, बर नील कलेवर, प्रेम परस्पर कृतहारी ।
कठ चूड, सिखि चद सरोरुह, जमुना प्रिय, गंगाधारी ।
सुरभि रेनु तन, भस्म बिभूषित, बृष-बाहन, बन बृष चारी ।
अज अनीह अविरुद्ध एकरस, यहै अधिक ये अवतारी ।
सूरदास सम, रूप-नाम-गुन अतर अनुचर अनुसारी [७३]।

२. जयति नँदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति व्रजलाल आनंदकारी ।
कृष्न कमनीय मुखकमल राजिव सुरभि, मुरलिका मधुर धुनि बन बिहारी ।
स्याम घन दिव्य तन पीत पट दामिनी, इद्र धनु मोर कौ मुकुट सोहे ।
सुभग उर-माल मनि कठ चदन अग, हास्य ईषद जु त्रैलोक्य मोहे ।
सुरभि मडल मध्य भुज सखा अस दियै, त्रिभगि सुन्दर लाल अति बिराजै ।
बिश्व पूरन काम कमल लोचन खरे, देखि सोभा काम कोटि लाजै ।
स्रवन कुडल लोल, मधुर मोहन बोल, बेनु धुनि सुनि सजनि चित्त मोदै ।
कलप तरुवर मूल सुभग जमुना कूल, करत क्रीडा रग सुख बिनोदै ।
देव, किन्नर, सिद्ध, सेस सुक, सनक, सिव, देखि विधि, ब्यास मुनिसुजस गायौ ।
सूर श्री गोपाल सोइ सुख निधि नाथ, आपुनौ जानि कै सरन आयौ [७४] ।

इन दोनो स्तुतियो की भाषा मे तत्सम शब्दो का प्रयोग तो दूसरे वर्ग से अधिक हुआ ही है, सामासिक पद भी अनेक आये है । पीछे बताया जा चुका है कि सूरदास ने अपने काव्य मे छोटे-छोटे सामासिक पदो का अधिक प्रयोग किया है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त होते हैं । उक्त स्तुतियो मे जैसे लबे-लबे सामासिक पद आये है, वैसे सूर-काव्य मे बहुत कम पदो मे प्रयुक्त हुए है । इन पदो की सामासिक प्रधानता गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के प्रारभिक पदो की भाषा से कुछ-कुछ मेल खाती है ।

ख. पौराणिक कथाएँ 'सूरसागर' के द्वितीय स्कध से नवें तक, दशम के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवें-बारहवे स्कधो मे, श्रीमद्भागवत के क्रम-निर्वाह के उद्देश्य से, उसमे वर्णित अनेक पौराणिक कथाएँ दी गयी हैं अथवा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की उन लीलाओ का वर्णन है जिनका सबंध व्रजवासियो से किसी रूप मे नही रहा । भाषा की दृष्टि से सूर-काव्य के इस अश के तीन वर्ग किये जा सकते है—प्रथम वर्ग मे 'सूरसागर' के नवें स्कध मे वर्णित राम-कथा आती है, द्वितीय मे दशम को छोडकर शेष स्कधो मे वर्णित अन्य पौराणिक कथाएँ और तृतीय मे श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की लीलाएँ । राम-कथा के प्रति कवि की श्रद्धा और रुचि अन्य पौराणिक कथानको की अपेक्षा बहुत अधिक है । संभवत इसी कारण नवम स्कध मे सकलित राम-कथा सबंधी १५७ पदो की भाषा अपेक्षाकृत सुन्दर है । जैसे—

---

७३ सा १०-१७१ । ७४ सा. ९८० ।

१. धनुही-बान लए कर डोलत।
चारो बीर सग इक सोभित, बचन मनोहर बोलत।
लछिमन-भरत-सत्रुहन सुदर, राजिव-लोचन राम।
अति सुकुमार, परम पुरुषारथ, मुक्ति-धर्म-धन-धाम।
कटि तट पीत पिछौरी बाँधे, काकपच्छ धरै सीस।
सर-क्रीड़ा दिन देखन आवत, नारद, सुर तैंतीस।
सिव मन सकुच, इद्र मन आनँद, सुख-दुख बिधिहिं समान।
दिति दुर्बल अति, अदिति हृष्टचित, देखि सूर सधान [७५]।

२ कर कपै, ककन नहिं छूटै।
राम-सिया कर परस मगन भए, कौतुक निरखि सखी सुख लूटै।
गावत नारि गारि सब दै दै, तात-भ्रात की कौन चलावै।
तब कर-डोरि छुटै रघुपति जू, जब कौसिल्या माता आवै।
पूँगीफल जुत जल निरमल धरि, आनी भरि कडी जो कनक की।
खेलत जूप सकल जुवतिनि मे, हारे रघुपति, जिती जनक की।
धरे निसान अजिर गृह-मगल, बिप्र-बेद अभिषेक करायौ।
सूर अमित आनद जनकपुर, सोइ सुकदेव पुराननि गायौ [७६]।

३ फिरत प्रभु पूछत बन दुम-बेली।
अहो बधु, काहूँ अवलोकी इहिं मग बधू अकेली।
अहो बिहग, अहो पन्नग नृप, या कदर के राइ।
अबकै मेरी बिपति मिटावौ, जानकि देहु बताइ।
चपक पुहुप-बरन तन सुदर, मनो चित्र अवरेखे।
हो रघुनाथ, निसाचर कै सँग अबै जात हौ देखी।
यह सुनि धावत धरनि चरन की प्रतिमा पथ मे पाई।
नैन नीर रघुनाथ सानि सो, सिव ज्यौं गात चढाई।
कहुँ हिय हार, कहूँ कर-ककन, कहुँ नूपुर, कहुँ चीर।
सूरदास बन-बन अवलोकत बिलख बदन रघुबीर [७७]।

४ मनिमय आसन आनि धरे।
दधि-मधु-नीर कनक के कोपर आपुन भरत भरे।
प्रथम भरत बैठाइ बधु कौं, यह कहि पाइ परे।

---

७५. सा. ९-२०। ७६ सा ९-२५। ७७. सा ९-६४।

हौं पावौं प्रभु-पाइँ पखारन, रुचि करि सो पकरे ।
निज कर चरन पखारि प्रेम-रस आनँद-आँसु ढरे ।
जनु सीतल सौं तप्त सलिल दै, सुखित समोइ करे ।
परसत पानि चरन पावन, दुख अँग-अँग सकल हरे ।
सूर सहित आमोद चरन-जल लै करि सीस धरे[७८] ।

ये चारो पद राम-कथा के विविध प्रसगो से सबधित हैं । इनकी भाषा विनय-पदो के द्वितीय वर्ग की तत्समता-प्रधान भाषा के अधिक निकट है । अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो का पर्याप्त प्रयोग होते हुए भी कवि का झुकाव तत्सम शब्दो की ओर कुछ अधिक है । परतु राम-कथा विषयक पदो मे सर्वत्र ऐसा नही है । नीचे के पद की भाषा उक्त पदो से भिन्न है—

बैठी जननि करति सगुनौती ।
लछिमन-राम मिलैं अब मोकौं, दोउ अमोलक मोती ।
इतनी कहत, सुकाग उहाँ तैं हरी डार उडि बैठ्यौ ।
अचल गाँठि दई, दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर पैठ्यौ ।
जब लौं हौं जीवौं जीवन भर, सदा नाम तव जपिहौं ।
दधि-ओदन दोना भरि दैहौं, अरु भाइनि मैं थपिहौं ।
अब कैं जो परचौ करि पावौं अरु देखौं भरि आँखि ।
सूरदास सोने कैं पानी मढौं चोंच अरु पाँखि[७९] ।

इस पद मे तत्सम से अधिक अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो का प्रयोग किया गया है । यह भाषा विनय-पदो के प्रथम वर्ग की भाषा से मिलती-जुलती है । इसका कारण है माता का पुत्रो और पुत्र-वधू के प्रति उमडता हुआ वात्सल्य । पुत्रो की अनुपस्थिति से विकल विधवा माता कौशल्या का हृदय भाषा के सस्कार-परिष्कार की चिंता ही कैसे करता ? उसका बल तो उसका वात्सल्य है । अतएव भाषा की सरलता और स्वाभाविकता ही ऐसे हृदयस्पर्शी प्रसगो के उपयुक्त होती और उसकी मार्मिकता बढ़ा सकती है ।

अन्य पौराणिक कथाएँ जिस भाषा मे लिखी गयी हैं वह बहुत साधारण और विशेषता-रहित है । 'सूरसागर' मे इन कथाओ का समावेश 'श्रीमद्भागवत' के केवल क्रम-निर्वाह के उद्देश्य से किया गया था । कवि स्वभावत इनमे कोई रुचि न ले सका और बडे चलताऊ ढग से उसने इनका वर्णन किया है । भाषा भी इन पदो की चलताऊ ही है; जैसे—

---

७८. सा ९-१७१ । ७९ सा ९ १६४ ।

१. भारत जुद्ध होइ जब बीता। भयौ जुधिष्ठिर अति भयभीता।
गुरुकुल - हत्या मोतें भई। अब धौं कैसी करिहै दई।
करौं तपस्या, पाप निवारौं। राज-छत्र नाही सिर धारौं।
लोगनि तिहिं बहु बिधि समुझायौ। पै तिहिं मन सतोष न आयौ[८०]।

२. ब्रह्मा यो नारद सौं कह्यो। जब मैं नाभि-कमल मैं रह्यौ।
खोजत नाल कितौं जुग गयौ। तौहूँ मैं कछु मरम न लयौ।
भई अकासबानी तिहिं बार। तू ये चारि स्लोक बिचार।
इन्हैं बिचारत ह्वैहै ज्ञान। ऐसी भाँति कह्यो भगवान[८१]।

३ ब्रह्मा रिषि मरीचि निर्मायौ। रिषि मरीचि कस्यप उपजायौ।
सुर अरु असुर कस्यप के पुत्र। भ्रात-बिमात आप मैं सत्रु।
सुर हरि-भक्त असुर हरि-द्रोही। सुर अति छमी, असुर अति कोही।
उनमैं नित उठि होइ लराई। करै सुरनि की कृष्न सहाई[८२]।

४ ब्रह्मा, महादेव, रिषि सारे। इक दिन बैठे सभा मँझारे।
दच्छ प्रजापति हूँ तहँ आए। करि सनमान सबनि बैठाए।
काहू समाचार कछु पूछे। काहू सौं उनहूँ तब पूछे।
सिव की लागी हरि-पद तारी। तातै नहिं उन आँखि उघारी[८३]।

५ रिषभदेव जब बन कौ गए। नव सुत नवौ खड नृप भए।
भरत सो भरतखड कौ राव। करै सदाही धर्मऽरु न्याव।
पालै प्रजा सुतनि की नाई। पुरजन बसै सदा सुख पाई।
भरतहु दै पुत्रनि कौं राज। गए बन कौ तजि राज समाज[८४]।

६ इद्र एक दिन सभा मँझारि। बैठ्यौ हुतौ सिहासन डारि।
सुर, रिषि, सब गधर्ब तहँ आए। पुनि कुबेरहू तहाँ सिधाए।
सुर गुरुहू तिहिं औसर आयौ। इन्द्र न तिहिं उठि सीस नवायौ।
सुर गुरु, जानि गर्व तिहिं भयौ। तहँ तै फिर निज आस्रम गयौ[८५]।

७ हिरनकसिप दुस्सह तप कियौ। ब्रह्मा आइ दरस तब दियौ।
कह्यौ तोहि इच्छा जो होइ। माँगि लेहि हमसौं बर सोइ।
राति-दिवस नभ-धरनि न मरौ। अस्त्र-सस्त्र परहार न डरौं।
तेरी सृष्टि जहाँ लगि होइ। मोकौ मारि सकै नहिं कोइ[८६]।

---

८०. सा १-२६१। ८१ सा २-३७। ८२. सा ३-९। ८३ सा ४-५।
८४ सा. ५-३। ८५ सा ६-५। ८६. सा ७-२।

८. असुर द्वै हुते वलवत भारी । सुद-उपसुन्द स्वेच्छा-विहारी ।
भगवती तिन्है दीन्ही दिखाई । देखि सुन्दरि रहे दोउ लुभाई ।
भगवती कह्यौ तिनकौ सुनाई। जुद्ध जीतै सो मोहि वरै आई।
तब दुहुनि जुद्ध कीन्हौ वनाई । लरि मुए तुरत ही दोउ भाई[८७] ।

९ एक बार महा परलै भयौ । नारायन आपुहिं रहि गयौ ।
नारायन जल मै रहे सोइ । जागि कह्यौ, बहुरौ जग होइ ।
नाभि-कमल तै ब्रह्मा भयौ । तिन मन मैं मरीचि कौ ठयौ।
पुनि मरीच कस्यप उपजायौ। कस्यप की तिय सूरज जायौ[८८]।

१० ब्रह्मा हरि-पद ध्यान लगाये । तव हरि हस-रूप धरि आए।
सवनि सो रूप देखि सुख पायौ। सवहिनि उठि क माथौ नायौ।
सनकादिकन कह्यो या भाइ । हमकौ दीजै प्रभु समुझाइ ।
को तुम, क्यौ करि इहाँ पधारे । परमहस तव वचन उचारे[८९] ।

११. असुर इक समै सुक्र पै जाइ । कह्यो, सुरनि जीतै किहिं भाइ ।
सुक्र कह्यो, तुम जग विस्तरौ। करिकै जज्ञ सुरनि सौ लरौ ।
याही विधि तुम्हरी जय होइ । या बिनु और उपाइ न कोइ।
असुर सुक्र की आज्ञा पाइ। लागे करन जज्ञ वहु भाइ[९०] ।

इन उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि कवि को न तो ऐसे पौराणिक विषय प्रिय ही थे और न उसने इनकी चर्चा मे किसी प्रकार का श्रम ही किया। वर्णन का जो शिथिल ढग इन पदो मे मिलता है, उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है। ऐसी कथाओ के लिए जो छद अपनाये गये है, वे 'सूरसागर' के मार्मिक और कवित्वमय अशो के छदो से भिन्न है। उनमें उस सगीतात्मकता का भी अभाव है जिसके कारण गीतिकाव्यकारो मे सूरदास को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। इन पदो के द्रुतगामी छद इतनी गति से विषय को आगे वढाते हैं कि कवि, वर्णित और वर्ण्य विपय के सवध तक का ध्यान नही रख पाता। एक मुख्य वात यह भी है कि ऐसी कथाओ का वर्णन वहुत साधारण ढग से करने के वाद कवि ने उनकी अपने प्रिय विषयो की तरह विभिन्न दृष्टिकोणो से आवृत्ति भी नही की है। इससे स्पष्ट है कि कवि सूर के लिए 'श्रीमद्भागवत' का यह सवध-निर्वाह एक भार-सा था जिसे ढोना उसे लगा तो वहुत अप्रिय, परतु उसने किसी प्रकार प्रस्तावक के आदेश की मर्यादा निभा दी।

रूप की दृष्टि से ऐसे प्रसंगो की भापा मे तत्सम शब्दो का प्रयोग कुछ अधिक ही हुआ है; क्योकि छोटे छद के शिथिल वाक्यो मे कवि को अपने ढंग से पूरी वात कहने का अवकाश ही नही मिल पाता। ऊपर के उदाहरणो मे जिस प्रकार कुछ शब्द वार-

---

८७. सा. ८-११ । ८८. सा. ९-२ । ८९. सा. ११-४ । ९०. सा. १२-२ ।

बार दोहराये गये हैं, उनसे भी भाषा की शिथिलता बढी ही है। साराश यह है कि इन प्रसगो मे न कवि सूर की काव्य-प्रतिभा की रमणीयता के दर्शन होते हैं, न भक्त सूर की आत्मानुभूति की तीव्रता-जन्य प्रभावोत्पादकता के और न गायक की सगीतात्मक मधुरिमा के ही।

तीसरे वर्ग मे द्वारिकावासी श्रीकृष्ण की लीलाओ की गाथा है। 'सूरसागर' के दशम स्कध के उत्तरार्द्ध मे इन लीलाओ की चर्चा है। इनमे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-रूप के दर्शन होते हैं। व्रजवासी जिस प्रकार श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य रूप से तृप्त न हो सके, जान पडता है, उसी प्रकार सूरदास की वृत्ति भी उन लीलाओ मे बहुत न रम सकी। अधिक से अधिक, इस सबध मे, यह कहा जा सकता है कि जितनी श्रद्धा राम-कथा के प्रति उन्होंने दिखायी थी, लगभग उतनी ही श्रद्धा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की इन लीलाओ के प्रति वे दिखा सके। वर्णन भी अधिकाश लीलाओ का उन्होने गेय पदो मे ही किया है। अतएव राम-कथा मे भाषा के जो दो रूप दिखायी देते हैं, प्राय वे ही द्वारकावासी श्रीकृष्ण की इन लीलाओ मे भी मिलते हैं, जैसे—

१ आवहु री मिलि मगल गावहु।
हरि रुकमिनी लिए आवत है, यह आनद जदुकुलहि सुनावहु।
बाँधहु बदनवार मनोहर, कनक कलस भरि नीर धरावहु।
दधि-अच्छत-फल-फूल परम रुचि, आँगन चदन चौक पुरावहु।
कदली-जूथ अनूप किसल दल, सुरँग सुमन लै मडल छावहु।
हरद-दूब-केसर मग छिरकहु, भेरि-मृदँग-निसान बजावहु।
जरासध-सिसुपाल नृपति तै, जीते है उठि अरघ चढावहु।
बल समेत तन कुसल सूर प्रभु, आए है आरती बनावहु[११]।

२ बारुनी बलराम पियारी।
गौतम-सुता भगीरथ धीवर, सबहिनि ते सुन्दर सुकुमारी।
ग्रीवा बाहु गलारत गाजत, सुख सजनी सतिभाइ सँवारी।
सकर्षन कै सदा सुहागिनि, अति अनुराग भाग बहु वारी।
वसुधातल जु बाम गिरि राजत, भ्राजत सकल लोक सुखकारी।
प्रथम समागम आनँद आगम, दूलह बर दुलहिनी दुलारी।
रति-रस रीति प्रीति परगट करि, राम काम पूरन प्रतिपारी।
सूर सुभाग उदित गोपिनि के हरि मूरति भेटे हलधारी[१२]।

प्रथम पद श्रीकृष्ण के विवाह-प्रसग का है और द्वितीय मे बलराम-'वारुनी' की प्रेम-चर्चा है। इनकी भाषा राम-कथा के उन पदो की भाषा से मिलती-जुलती है जिनमे तत्सम शब्दो की अधिकता है और तद्भव शब्दो का प्रयोग अपेक्षाकृत कम

---

११. सा. ४१८५। १२. सा. ४२०२।

हुआ है। दशम स्कध उत्तरार्द्ध मे इस प्रकार के गेय पद अधिक नही है; अधिक संख्या तो ऐसे पदो की है जिनमे कथा को वर्णनात्मक ढग से लिखा गया है। उक्त पदो में भी सस्कृत और परिष्कृत भाषा का प्रयोग सभवत इस कारण किया गया है कि इनमे कवि के परम आराध्य और उनके प्रिय वधु के शुभ विवाह और प्रेम की चर्चा है जिससे कवि इतने उल्लास से भर जाता है कि प्रथम प्रसग को लेकर कई लबे पद रचकर ही उसको सतोष होता है। इनके अनतर तो कवि प्राय' प्रत्येक पद मे नये विषय को आरभ करता है और उसके वर्णनात्मक ढंग से जान पडता है कि वह अपने काव्य को समाप्त करने की शीघ्रता मे है। ऐसे पद प्राय. पौराणिक कथाओ की भाषा-शैली मे लिखे गये हैं। तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो की मिश्रित योजना की दृष्टि से निम्नलिखित पदो की भाषा ध्यान देने योग्य है—

१. द्विज कहियौ जदुपति सौं बात।
वेद बिरुद्ध होत कुडिनपुर, हस के अस काग नियरात।
जनि हमरे अपराध बिचारहु, कन्या लिख्यो मेटि गुरु तात।
तन आतमा समरप्य तुमकौं, उपजि परी तातैं यह बात।
कृपा करहु उठि वेगि चढ़हु रथ, लगन समै आवहु परभात।
कृष्न सिंह बलि धरी तुम्हारी, लैबै कौं जंबुक अकुलात।
तातैं मैं द्विज वेगि पठायौ, नेम-धरम मरजादा जात।
सूरदास सिसुपाल पानि गहै पावक रचौ करौ अपघात[१३]।

२. चले हरि धर्म-सुवन के देस।
सतन हित भू-भार उतारन, काटन वदि नरेस।
जब प्रभु जाइ सख-ध्वनि कीन्ही, होत नगर परवेस।
सुनि नृप वधु सहित उठि धाए, झारत पद-रज केस।
आसन दै भोजन-विधि पूछी, नारद सभा सुदेस।
तच्छन भीम धनञ्जय माधौ, धर्यो विप्र कौ भेष।
पहुँचे जाइ राजगिरि द्वारैं, घुरैं निसान सुदेस।
माँग्यौ जुद्धहिं जरासिधु पै, छत्री कुल आवेस।
जरासंध कौं जुद्ध अर्थ, वल रहत न क्षत्री लेस।
सूरज प्रभु दिन सात वीस मैं काटे सकल कलेस[१४]।

३. ऐसी प्रीति की वलि जाउँ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाउँ।

---

१३. सा. ४१७१। १४. सा. ४२१४।

कर जोरे हरि बिप्र जानि कै, हित करि चरन पखारे ।
अक-माल दै मिले सुदामा, अर्धासन बैठारे ।
अर्धंगी पूछत मोहन सौं, कैसे हितू तुम्हारे ।
तन अति छीन मलीन देखियत, पाउँ कहाँ तै धारे ।
सदीपन कै हमऽरु सुदामा, पढे एक चटसार ।
सूर स्याम की कौन चलावै, भक्तनि कृपा अपार[९५] ।

प्रथम पद मे रुक्मिणी की विनय है और अतिम मे सुदामा पर श्रीकृष्ण की कृपा देखकर कवि का उल्लास जिसके फलस्वरूप दोनो पदो की भाषा सरल और सरस हो गयी है । द्वितीय पद मे सामान्य वर्णन है जिसके अनुरूप भाषा भी सामान्य ही है । इन उदाहरणो की भाषा राम-कथा के अतर्गत 'बैठी जननि करति सगुनौती' से आरभ होने वाले पद की भाषा के समकक्ष कही जा सकती है । पौराणिक कथा-प्रसगो की भाषा की तुलना में तत्सम शब्दो का प्रयोग इसमे कही कही कम हुआ है, परतु वाक्य-विन्यास मे उतनी शिथिलता नही है और न शब्दो की शिथिल आवृत्ति ही यहाँ की गयी है ।

भाषा का जो सामान्य रूप पौराणिक कथाओ मे दिखायी देता है, प्राय वही रूप 'सूरसारावली' के अधिकाश भाग मे मिलता है । कारण यह है कि इस काव्य मे भी कवि ने विषय का बहुत चलताऊ ढग से वर्णन किया है जिसमे रुचि और लीनता न्यून है । उदाहरणार्थ—

१ देवहुती कर्दम को दीनी तिन कीन्हो तप भारी ।
बिंदु सरोवर आये माधव किये गरुड असवारी ।
दियौ बरदान सृष्टि करिबे को अस्तुति करी प्रमान ।
मेरो अस अवतार होयगो कहि भये अतरध्यान[९६] ।

२ चार बेद लै गयौ सँखासुर जल मे रह्यो छपाय ।
धरि हय-ग्रीव रूप हरि मारेउ लीने बेद छुडाय[९७] ।

३ हरिनकसिप अति प्रबल दनुज है कीन्हो तप परचड ।
तब उन वर दीन्हो चतुरानन कीन्हो अमर अखड[९८] ।

ये तो हुए पौराणिक प्रसग जिनकी भाषा मे तत्सम शब्दो का कुछ अधिक प्रयोग भले ही किया गया हो, परतु वाक्य-विन्यास विलकुल शिथिल है । यही भाषा 'सारावली' के उन छदो मे भी मिलती हैं जिनमे श्रीकृष्ण की ब्रज या परवर्ती जीवन की लीलाएँ वर्णित हैं, जैसे—

---

९५. सा. ४२३० । ९६ सारा. न. कि. ५१-५२ । ९७ सारा. न. कि. ९० ।
९८ सारा न कि. १०१ ।

१. गर्गराज मुनिराज महाऋषि सो बसुदेव पठायो ।
नामकरन ब्रजराज महरघर अति आनदित आयो[११] ।
नामकरन कीन्हो दोहुन को नारायन सम भाषे ।
तुम्हरे दु.ख मिटावन कारन पूरन को अभिलाषे[१] ।

२. राधा सो मिलि अति सुख उपज्यो उन पूछी इक बात ।
कहो जु आज रैन कहँ सोये हम देखे तुम जात[२] ।
तब हरि कहेउ सुनौ मृगनैनी गाय गई इक दौर ।
ताको लेन गयो गोबर्धन सोय रहेउँ तेहि ठौर[३] ।

३. कछु हमको उपहार पठायो भाभी तुम्हरे साथ ।
फाटे बसन सकुच अति लागत काढत नाहिन हाथ[४] ।
हरि अपने कर छोरि बसन को तदुल लीन्हे हाथ ।
मुठ्ठी एक प्रथम जब लीन्हे खान लगे जदुनाथ[५] ।

४. पुनि मिथिला यक दिवस पधारे हरि बलदेव गोसाईं ।
गदा युद्ध दुर्योधन सिखयो नाना भेद बताई[६] ।
पुनि द्वारका पधारे निजपुर अति आनँद-सुख बाढ़्यो ।
प्रगट ब्रह्म नित बसत द्वारका कलह भूमि को काढ्यो[७] ।

इन उदाहरणो की भाषा अपेक्षाकृत कम तत्समप्रधान है, परन्तु वाक्य-विन्यास की शिथिलता इनमे भी पूर्ववत् है और एक के बाद दूसरी ही पक्ति मे कुछ शब्दो की आवृत्ति भी स्थान-स्थान पर खटकती है ।

ग. इतिवृत्तात्मक कथा-वर्णन—श्रीकृष्ण की ब्रज-लीला के अनेक प्रसगो का सुन्दर गेय पदो मे वर्णन करने के पश्चात् कवि ने सामान्य छन्दो मे उनको पुन. इतिवृत्तात्मक ढग से लिखा है । यमलार्जुन-उद्धार, चीर-हरण, ब्रह्मा द्वारा बाल-वत्स हरण, कालिय-नाग-दमन, गोवर्धन-धारण, दान-लीला, श्रीकृष्ण-विवाह, रास-लीला, मान-लीला आदि लीलाओ को लेकर इनके विविध अगो का वर्णन पहले तो कवि सुन्दर पदो मे करता है; तदनंतर पद्यवद्ध स्फुट कथा के रूप मे भी उनको लिखता है । इन वर्णनात्मक प्रसगो की भाषा पौराणिक कथानको की भाषा के निकट होने पर भी उससे सरल और परिष्कृत है, जैसे—

१. भक्त-वछल हरि अतरजामी । सुत कुबेर के ये दोउ नामी ।
ईहि अवतार कह्यो इन तारन । इनको दुख अब करौं निवारन ।

---

११ सारा. वें ४३०१. । सारा. वें. ४३१ । २ सारा. वें. ९११ । ३ सारा. वें. ९१२ । ४ सारा. वें. ८१४ । ५ सारा. वें. ८१५ । ६ सारा. वें. ८३७ । ७ सारा. वें. ८३८ ।

जो जिहिं ढँग तिहिं ढँग सब लाए। जमला-अर्जुन पै प्रभु आये।
बृच्छ जीव ऊखल लै अटक्यो। आगैं निकसि नैंकुगहि झटक्यो।
अरअरात दोउ बृच्छ गिरे घर। अति आघात भयो ब्रज भीतर।
भए चकित सब ब्रज के वासी। इहिं अतर दोउ कुँवर प्रकासी।
सख चक्र कर सारँगधारी। भगत हेत प्रगटे बनवारी।
देखि दरस मन हरष बढायौ। तुमहिं बिना प्रभु कौन सहायौ[८]।

२. हरि लै बालक - बच्छ ब्रह्म लोकहिं पहुँचाए।
फिरि आए जो कान्ह, कहूँ कोऊ नहिं पाए।
प्रभु तबही जान्यौ यहै, बिधि लै गयौ चोराइ।
जो जिहिं रँग जिहिं रूप कौ, बालक - बच्छ बनाइ।
तातै कीनै और ब्रह्म - हृद नाल उपायौ।
अपनौ कर तिहिं जानि कियौ ताकौ मन भायौ।
उद्धारन मारन छमी, मन हरि कीन्हो ज्ञान।
अनजानै बिधि यह करी, नए रचे भगवान[९]।

३. बिषधर झटकी पूँछ, फटकि सहसौ फन काढौ।
देख्यौ नैन उघारि, तहाँ बालक इक ठाढौ।
बार बार फन घात कै बिष ज्वाला की झार।
सहसौ फन फनि फुकरै, नैंकु न तिन्हैं बिकार।
तब काली मन कहत, पूँछ चाँपी इहिं पग सौं।
अतिहिं उठ्यौ अकुलाइ, हर्‌यौ हरि बाहन खग सौं।
यह बालक धौं कौन कौ, कीन्हौ जुद्ध बनाइ।
दाउँ - घात बहुतै कियौ, मरत नही जदुराइ[१०]।

४ भूषन-वसन सबै हरि ल्याए। कदम-डार जहँ-तहँ लटकाए।
ऐसौ नीप बृच्छ बिस्तारा। चीर-हार धौं कितक हजारा।
सबै समाने तरुवर डारा। यह लीला करी नन्द कुमारा।
हार-चीर मान्यौं तरु फूल्यौ। निरखि स्याम आपुन अनुकूल्यौ[११]।

५ गोपनि कियौ विचार, सकट सवहिन मिलि साजे।
वहु विधि लै पकवान, चले सँग वाजत वाजे।
इक तौ वन ही वन चले, एक जमुन-तट भीर।
एक न पैंडौ पावही, उमडे फिरत अहीर।

---

८. सा ३९१। ९. सा ४३७। १०. सा ५८९। ११. सा. ७९९।

इक घर तै उठि चले, एक घर कौ फिर जाही ।
गावत गुन गोपाल ग्वाल उमँगे न समाही ।
गोपनि कौ सागर भयौ, गिरि भयौ मंदर चारु ।
रत्न भई सब गोपिका, कान्ह विलोवनहारु[१२] ।

६. ब्रज जुवतिन घेरे ब्रजराज । मनहुँ निसाकर किरनि समाज ।
रास-रसिक गुन गाइहो ।
हरिमुख देखत भूले नैन । उर उमँगे कछु कहत न बैन ।
स्यामहिं गावत काम बस ।
हँसत हँसावत करि परिहास । मन मैं कहत, करैं अब रास ।
अचल गहि चंचल चल्यौ ।
ल्यायौ कोमल पुलिन मँझार । नख-सिख-भूषन अंग सँवार ।
पट-भूषन जुवतिनि सजे[१३] ।

इन तथा ऐसे ही अन्य पदो में वर्ण्य विषय को स्वतत्र पद्यवद्ध कथा का रूप दिया गया है । अपने परम आराध्य की ब्रज-लीला होने के कारण कवि ने इसमें पूर्ण रुचि ली है और अनेक कथाओ का तो वडे उल्लास से वर्णन किया है । इसका प्रमाण यह है कि जहाँ पौराणिक प्रसंग, दो-एक—यथा श्री नृसिंह-अवतार[१४], राजा-पुरुरवा का वैराग्य[१५] आदि—को छोड़कर शेष प्राय. सभी वहुत सक्षेप में वर्णित हैं, वहाँ ब्रजलीला-सबधी इतिवृत्तात्मक कथानक वड़े विस्तार से, कोई-कोई तो सात-सात आठ-आठ पृष्ठो तक मे, लिखे गये है । दूसरी वात यह है कि लवे पौराणिक प्रसगो का वर्णन उन्होने प्रायः 'राग विलावल' ही में किया है, परंतु ब्रज-लीलाएँ इसके अतिरिक्त, गौरी, जैतश्री, धनाश्री, विहागरौ, मारू, राग्नी हठीली, सूहौ आदि अनेक रागो मे लिखी गयी हैं । स्थान स्थान पर सांगोपांग चित्रो, मनोहर रूप के हृदयाकर्षक वर्णनो और पात्रो की मानसिक दशाओ के अनुरूप भापा-प्रयोगो के कारण श्रीकृष्ण की इन लीलाओ के वर्णनात्मक पद वहुत रोचक हो गये हैं । विभिन्न गेय पदो के वीच-वीच में ये सरल कथानक रसमग्न पाठक को प्रकृतिस्थ करके आगे के सुन्दर प्रसगो का आस्वादन करने को पुन. प्रोत्साहित करते हैं । सरल अलंकारो का प्रयोग भी इन पदो मे विपय की स्पष्टता के लिए किया गया है और कथोपकथन का निखरा हुआ रूप भी इनमे कही-कही दिखायी देता है । साराश यह है कि इतिवृत्तात्मक होते हुए भी ये पद कई दृष्टियो से महत्व के है और इनका सरल भाषा-रूप इनकी रोचकता-वृद्धि मे सहायक होता है । सामान्य ब्रजभापा का मुहावरो से युक्त प्रयोग इनकी भाषा की अन्य विशेषता है ।

घ. वाल-लीला-वर्णन—इन वर्ग मे श्रीकृष्ण का जन्म, उनकी वाल लीलाएँ, उन्हें देखकर पुरजन-परिजन का आनद-विनोद, वालक के सवध मे माता-पिता की वात्सल्यभरी

१२. सा. ८४१ । १३. सा ११८० । १४. सा. ७-२ । १५. सा. ९-२ ।

कल्पनाएँ और अभिलाषाएँ आदि विषय आते हैं। 'सूरसागर' के दशम स्कंध के आरम्भ में इन विषयो की चर्चा है। इन सभी का वर्णन सूरदास ने सामान्यत. मिश्रित भाषा मे किया है, जैसे—

१ उठी सखी सब मगल गाइ।
जागु जसोदा, तेरै बालक उपज्यौ कुँवर कन्हाइ।
जो तू रच्यौ-सच्यौ या दिन कौं, सो सब देहि मँगाइ।
देहि दान बदीजन गुनिगन, ब्रज-बासिनि पहिराइ।
तब हँसि कहति जसोदा ऐसैं, महरहिं लेहु बुलाइ।
प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ।
आए नद हँसत तिहिं औसर, आनँद उर न समाइ।
सूरदास ब्रजबासी हरषे, गनत न राजा-राइ[१६]।

२ नान्हरिया गोपाल लाल तू बेगि बडौ किन होइ।
इहिं मुख मधुर बचन हँसिकै धौं, जननि कहै सब मोहिं।
यह लालसा अधिक मेरै जिय जौ जगदीस कराहिं।
मो देखत कान्हर इहिं आँगन, पग द्वै धरनि धराहिं।
खेलहिं हलधर-सग रग-रुचि, नैंन निरखि सुख पाऊँ।
छिन-छिन छुधित जानि पय कारन, हँसि-हँसि निकट बुलाऊँ।
जाकौ सिव बिरचि-सनकादिक मुनिजन ध्यान न पाव।
सूरदास जसुमति ता सुत-हित मन अभिलाष बढाव[१७]।

३. कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सुउर की।
रोचन भरि लै देत सीक सौं, स्रवनि निकट अतिही चातुर की।
कचन के द्वै दुर मँगाइ लिए, कहौं कहा छेदनि आतुर की।
लोचन भरि भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी।
हँसत नद, गोपी सब विहँसी, झमकि चली सब भीतर ढुरकी।
सूरदास नँद करत वधाई, अति आनन्द बाल ब्रजपुर की[१८]।

४ आजु सखी मनि खभ निकट हरि, जहँ गोरस कौं गो री।
निज प्रतिविंव सिखावत ज्यौ सिसु, प्रगट करै जनि चोरी।

---

१६. सा. १०-१४। १७. सा १०-७५। १८. सा. १०-१८०।

अरध बिभाग आजु तैं हम तुम, भली वनी है जोरी।
माखन खाहु कतहिं डारत हौ, छाँडि देहु मति भोरी।
बाँट न लेहु, सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी।
मीठौ अधिक, परम रुचि लागै, तौ भरि देउँ कमोरी।
प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ, तब प्रगट हँसी मुख मोरी।
सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुज की खोरी[१९]।

५. चले सब गाइ चरावन ग्वाल।
हेरी टेर सुनत लरिकनि के, दौरि गए नँदलाल।
फिरि इत उत जसुमति जो देखै, दृष्टि न परै कन्हाई।
जान्यौ जात ग्वाल सँग दौरचौ, टेरति जसुमति धाई।
जात चल्यौ गैयनि के पाछै, वलदाऊ कहि टेरत।
पाछै आवति जननी देखी, फिरि फिरि इत कौ हेरत।
बल देख्यौ मोहन कौ आवत, सखा किये सब ठाढ़े।
पहुँची आइ जसोदा रिस भरि, दोउ भुज पकरे गाढे।
हलधर कह्यौ, जान दै मो सँग, आवहिं आज सवारे।
सूरदास वल सौ कहै जसुमति, देखे रहियौ प्यारे[२०]।

श्रीकृष्ण की वाललीला के विविध प्रसगो से उद्धृत इन सभी उदाहरणो की भाषा का लगभग एक ही रूप है जिसमे वाल-लीला से सवधित प्राय सभी पद रचे गये हैं। जिन तत्सम शब्दो का प्रयोग ऐसे पदो मे किया गया है, वे सभी छोटे छोटे और सरलोच्चरित हैं। यदि तत्सवधी किसी दृश्य या लीला का वर्णन सूरदास ने इससे कुछ भिन्न भाषा मे किया है तो उसमे तत्सम शब्दो की सख्या कुछ अधिक हो गयी है; परतु इतनी नही कि उसको साहित्यिक रूप के अतर्गत माना जा सके। इसी प्रकार जहाँ लालसाओ अथवा मनोभावो का वर्णन है, वहाँ उनकी सख्या कभी कभी कम भी हो गयी है। विनय-पदो के प्रथमवर्गीय पदो की भाषा से यह मिश्रित रूप मिलता-जुलता है।

ङ रूप-वर्णन—सूरदास ने अपने आराध्य का रूप-चित्रण करते हुए भी अनेक पद लिखे है। इनको पढ़कर कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि दिव्य चक्षु-सपन्न यह कवि जैसे चित्रकार वन गया है और श्रीकृष्ण की प्रत्येक अवस्था की प्रत्येक मुद्रा के विभिन्न अवसरो, स्थानों और वातावरणो मे अनेकानेक चित्र अकित करते नही अघाता। विषय की अतिशय प्रियता के कारण ऐसे पदो की भाषा आलंकारिक-सी हो गयी है जो मिश्रित और साहित्यिक रूपो से सर्वथा भिन्न है, जैसे--

१. ललन हौं या छवि ऊपर वारी।
वाल गोपाल लगौ इन नैननि, रोग-वलाइ तुम्हारी।

---

१९. सा. १०-२६७। २० सा. ४१३।

लट लटकनि, मोहन मसि बिंदुका, तिलक भाल सुखकारी ।
मनौ कमल-दल सावक पेखत, उडत मधुप छबि न्यारी ।
लोचन ललित, कपोलनि काजर, छबि उपजति अधिकारी ।
सुख में सुख औरे रुचि बाढति, हँसत देत किलकारी ।
अलप दसन, कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत बिचारी ।
विकसित ज्योति अधर बिच, मानौ बिधु मैं बिज्जु उज्यारी ।
सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी ।
सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी[21] ।

२ हरि के बाल-चरित अनूप ।
निरखि रही ब्रजनारि इकटक अग अग प्रति रूप ।
बिथुरि अलकें रही मुख पर बिनहिं बपन सुभाइ ।
देखि कजनि चद के वस मधुप करत सहाइ ।
सजल लोचन चारु नासा परम रुचिर बनाइ ।
जुगल खजन करत अबिनति, बीच कियौ बनराइ ।
अरुन अधरनि दसन झाईं कहौ उपमा थोरि ।
नील पुट बिच मनौ मोती धरे बदन बोरि ।
सुभग बालमुकुद की छबि बरनि कापै जाइ ।
भृकुटि पर मसि बिंदु सोहै सकै सूर न गाइ[22] ।

३ सोभा कहत कही नहिं आवै ।
अँचवत अति आतुर लोचन पुट, मन न तृप्ति कौ पावै ।
सजल मेघ घनस्याम सुभग बपु, तडित बसन बनमाल ।
सिखि सिखड, बनधातु बिराजत, सुमन सुगध प्रबाल ।
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति, गोरज मडित केस ।
सोभित मनु अवुज पराग रुचि रजित मधुप सुदेस ।
कुडल किरनि कपोल लोल छबि, नैन कमल-दल मीन ।
प्रति प्रति अग अनग कोटि छबि, सुनि सखि परम प्रबीन ।
अधर मधुर मुसुक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन ।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तही लवलीन[23] ।

४. देखौ माई सुन्दरता कौ सागर ।
बुधि विवेक वल पार न पावत, मगन होत मन नागर ।

२१. सा. १०-९१ । २२ सा १०-२२५ । २३. सा ४७८ ।

तनु अति स्याम अगाध अबु निधि, कटि पट पीत तरग ।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति, भँवर परति सब अग ।
नैन मीन, मकराकृत कुडल, भुज सरि सुभग भुजग ।
मुक्ता माल मिली मानौ द्वै सुरसरि एकै संग ।
कनक खचित मनिमय आभूषन, मुख, स्रम-कन सुख देत ।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत ।
देखि सरूप सकल गोपी जन, रही बिचारि बिचारि ।
तदपि सूर तरि सकी न सोभा, रही प्रेम पचि हारि[२४] ।

५. देखि सखी मोहन मन चोरत ।
नैन कटाच्छ विलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि बिबि मोरत ।
चदन खौरि ललाट स्याम कै, निरखत अति सुखदाई ।
मनौ एक सँग गग जमुन नभ, तिरछी धार वहाई ।
मलयज भाल भ्रकुटि रेखा की, कवि उपमा इक पाई ।
मानहुँ अर्द्धचद्र तट अहिनी, सुधा चुरावन आई ।
भ्रकुटि चारु निरखि ब्रज सुन्दरि, यह मन करति बिचार ।
सूरदास प्रभु सोभा सागर, कोउ न पावत पार[२५] ।

इन पदो मे श्रीकृष्ण की विभिन्न अवस्थाओ के वे सुन्दर चित्र है जो कवि के मानस-पटल पर अकित थे और जिनका दर्शन स्वय वह दिव्य चक्षुओ से सतत किया करता था । साथ ही वह इतना उदार है कि अपने आराध्य के अलौकिक रूप की प्रत्येक झाँकी अपने पाठक के लिए भी अकित कर देता है जिससे लौकिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने नेत्रो की सार्थकता सिद्ध कर सके । उक्त पदो मे श्रीकृष्ण के ऐसे ही पूर्ण चित्र हैं । इनके अतिरिक्त उनके एक एक अग को लेकर भी सूरदास ने अनेक पद इसी प्रकार की भाषा मे लिखे हैं, जैसे—

देखि सखी अधरन की लाली ।
मनि मरकत तै सुभग कलेवर, ऐसे है वनमाली ।
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास ।
ज्यौ दामिनि विच दमकि रहत है फहरत पीत सुवास ।
कीधौ तरुन तमाल वेलि चढ़ि, जुग फल विंव सुपाके ।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके ।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ ।
मनौ नीलमनि पुट मुकुता-गन, वदन भरि वगराइ ।

२४. सा. ६२८ । २५. सा. १८१४ ।

किधौं बज्रकन, लाल नगनि खचि, तापर बिद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बधूक कुसुम तर, झलकत जलकन काँति।
किधौं अरुन अबुज बिच बैठी सुदरताई जाइ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा बरनत बरनि न जाइ[२६]।

पूर्ण और एकागी रूप-चित्रण विषयक जो पद ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनकी भाषा विनय-पदो की द्वितीय वर्गीय भाषा से भी अधिक तत्समता-प्रधान है जिसका मुख्य कारण है शैली की आलकारिता। कवि अपने आराध्य के रूप-वर्णन के लिए जिस प्रकार उपमाओ-उत्प्रेक्षाओ का बडी सावधानी से चयन करता है, उसी प्रकार इन पदो की शब्दावली भी ऐसी रखना चाहता है जिसका प्रयोग अन्य विषयो के वर्णन के लिए न किया गया हो। और यह नि सकोच कहा जा सकता है कि सूरदास को इस प्रयत्न में पूरी सफलता मिली है। यदि किसी अन्य विषय के लिए कवि ने इस भाषा का प्रयोग किया है, तो वह है केवल राधा का रूप-वर्णन। परन्तु सूर-काव्य मे राधा के किशोरी रूप के चित्र हैं, बाल-रूप के नही, जैसे—

१ कबहुँक केलि करति सुकुमारी।
अति सूछम कटि तट आड़े जिमि, बिसद नितब पयोधर भारी।
अचल चचल, फटी कचुकी, बिलुलित बर कुच सटी उघारी।
मनु नव जलद बध कीनौ बिधु, निकसी नभ कसली अनियारी।
तिलक तरल, ताटक निकट तट, उभय परस्पर सोम सिंगारी।
जलरुह हस मिले मनु नाचत, ब्रज कौतुक बृष-भानु दुलारी।
मुक्तावलि कौ हार लोल गति, तापर लटपटाति लट कारी।
तामैं सो लर मनौ तरगिनि, निसिनायक तम मोचनहारी।
अरु ककन किंकिन नूपुर छबि, निसा पान सम दुति रतनारी।
श्री गोपाल लाल उर लाई, बलि बलि सूर मिथुन-कृत भारी[२७]।

२ मोहिनी मोहन की प्यारी।
रूप उदधि मथि कै बिधि, हठि पचि रची जुवति यह न्यारी।
चपंक कनक कलेवर की दुति, ससि न बदन समता री।
खजरीट मृग मीन की गुरुता, नैननि सबै निवारी।
भृकुटी कुटिल सुदेस सोभित अति, मनहुँ मदन धनु धारी।
भाल विसाल, कपोल अधिक छवि, नासा द्विज मदगारी।
अघर बिंब वधूक निरादर, दसन कुद अनुहारी।
परम रसाल स्याम सुखदायक वचननि सुनि, पिक हारी।

---

२६. सा॰ १८३२। २७ सा॰ ११९४।

कवरी अहि जनु हेम खभ लगी, ग्रीव कपोत बिसारी ।
बाहु मृनाल जु उरज कुभ-गज निम्न नाभि सुभ गारी ।
मृग-नृप खीन सुभग कटि राजति जंघ जुगल रभा री ।
अरुन रुचिर जु बिडाल-रसन सम चरन-तली ललिता री ।
जहँ तहँ दृष्टि परति तहँ अरुझति, भरि नहि जाति निहारी ।
सूरदास-प्रभु रस वस कीन्हे, अंग अंग सुखकारी[२८] ।

३. आजु अति राधा नारि बनी ।
प्रति प्रति अग अनग जीति, रस-बस त्रैलोक्य धनी ।
सोभित केस विचित्र भाँति दुति सिषि सिषंड हरनी ।
रची माँग सम भाग राग-निधि, काम धाम सरनी ।
अलक तिलक राजत अकलकित, मृग-मद अक बनी ।
खुभिनि जराव फूल दुति यौ, मनु द्वै ध्रुव-गति रजनी ।
भौंह कमान समान बान मनु, है जुग नैन अनी ।
नासा तिल प्रसून, बिंबाधर, अमल कमल बदनी ।
चिबुक मध्य मेचक रुचि राजत, बिंदु कुद रदनी ।
कबु कठ विधि लोक विलोकत, सुदरि एक गनी ।
बाहु मृनाल, लाल कर पल्लव, मद गज-गति गवती ।
पति मन मनि कचन संपुट कुच, रोम राजि तटनी ।
नाभि भँवर, त्रिवली तरग गति, पुलिन तुलिन ठटनी ।
कृस कटि, पृथु नितंब, किंकिनि जुत, कदलि खभ जघनी ।
रचि आभरन सिंगार, अंग सजि, ज्यौ रति पति सजनी ।
जीते सूर स्याम गुन कारन, मुख न मुरचौ लजनी[२९] ।

ये तो हुए व्यक्तिगत रूप-चित्रण की भाषा के उदाहरण । इनके अतिरिक्त 'सूरसागर' मे रासलीला-जैसे अवसरो पर सामूहिक रूप से अनेक ब्रज-वालाओ का अथवा उनके साथ विराजते रसिकवर श्रीकृष्ण का भी रूप-वर्णन लगभग ऐसी ही आलकारिक भाषा मे किया गया है, जैसे—

१. बनी ब्रज नारि सोभा भारि ।
पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अग पँचरँग सारि ।
किंकिनी कटि, कनित ककन, कर चुरी झनकार ।
हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिनि हार ।

---

२८. सा. ११९७ । २९ सा. २१८४ ।

कठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंद।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नँद-नद।
स्रवन बर ताटक की छबि, गौर ललित कपोल।
सूर प्रभु बस अति भए हैं निरखि लोचन लोल[३०]।

२ देखौ माई रूप सरोवर साज्यौ।
व्रज-बनिता बर बारि बृद मैं, श्री व्रजराज बिराज्यौ।
लोचन जलज, मधुप अलकावलि, कुंडल मीन सलोल।
कुच चकवाक बिलोकि बदन-बिधु, बिछुरि रहे अनबोल।
मुक्ता-माल बाल बग-पगति, करत कुलाहल कूल।
सारस हस मोर सुक स्रेनी, बैजयति सम तूल।
पुरइनि कपिस निचोल, बिबिध अग, बहु रति-रुचि उपजावै।
सूर स्याम आनदकद की सोभा कहत न आवै[३१]।

आराध्य-प्रिया के साथ प्रेममयी गोपिकाओ के प्रति कवि की पूर्ण श्रद्धा रहने के कारण ये पद भी प्राय. उसी आलकारिक भाषा मे लिखे गये हैं जिसका दर्शन श्रीकृष्ण के रूप-चित्रण वाले पदो मे मिलता है। तत्समता-प्रधानता और आलकारिता की दृष्टि से सूरदास की व्रजभाषा का यह रूप सर्वोत्कृष्ट है।

च. **संयोग शृङ्गार वर्णन**—दशम स्कध के पूर्वार्द्ध का दूसरा महत्वपूर्ण विषय है सयोग शृगार वर्णन। सगुण ब्रह्म के समीप रहकर नाना केलि-क्रीडाओ मे भाग लेना ऐसे परम सौभाग्य की बात है जिसके लिए देवता और उनकी पत्नियाँ सदैव ल.लायित रही हैं और वैसा सौभाग्य न मिलने पर अपना अभाग्य समझती और व्रजवासियो का भाग्य सराहती है[३२]। सूरदास-जैसे भक्त कवियो की सारी साधना इसी अपूर्वानद

---

३० सा १०४३। ३१ सा १०४९।

३२. अ. सुरगन चढ़ि विमान नभ देखत।
ललना सहित सुमनगन बरषत धन्य जन्म ब्रज लेखत—'सागर', १०४४।

आ हमकों विधि ब्रज-वधू न कीन्ही, कहा अमरपुर बास भएँ।
बार-बार पछितातिं यहै कहि सुख होतौ हरि सग रहैं—'सागर', १०४६।

इ. सूर अमर ललनागन अबर, बिथरी लोक बिसारी—'सागर', १०४७।

ई. मुरली धुनि वैकुठ गई।
नारायन कमला सुनि दम्पति, अति रुचि हृदय भई।
. ...
धनि वन धाम, धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै जो धूरि।
यह सुख तिहूँ भुवन मे नाहीं, जो हरि सग पल एक।
सूर निरखि नारायन इकटक, भूले नैन निमेष—'सागर', १०६४।

की प्राप्ति के लिए है। अतएव उन्होने सयोग शृङ्गार का वर्णन सदैव आनन्द मे विभोर रहकर ही किया हैं। भाषा के मुख्यत दो रूप इस वर्णन मे दिखायी देते है—एक, परिष्कृत मिश्रित और दूसरा, साहित्यिक। इनमे से प्रथम का प्रयोग सामान्य संयोग वर्णन के लिए किया गया है, जैसे—

१. गावत स्याम स्यामा रग।
सुघर गति नागरि अलापति, सुर भरति पिय सग।
तान गावति कोकिला मनु, नाद अलि मिलि देत।
मोर संग चकोर डोलत, आपु अपने हेत।
भामिनी अँग जोन्ह मानौ, जलद स्यामल गात।
परस्पर दोउ करत क्रीड़ा, मनहिं मनहिं सिहात।
कुचनि बिच कच परम सोभा, निरखि हँसत गुपाल।
सूर कचन-गिरि बिचनि मनु, रह्यौ है अँधकाल[३३]।

२. मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरनि, नैन फेरनि, तहाँ तै नहिं टरे।
अग निरखि अनग लज्जित, सकै नहि ठहराइ।
एक की कह चलै, सत सत कोटि रहत लजाइ।
इते पर हस्तकनि गति छबि, नृत्य भेद अपार।
उड़त अचल, प्रगटि कुच दोउ, कनकघट रससार।
दरकि कचुकि, तरकि माला रही धरनी जाइ।
सूर प्रभु करी निरखि करुना तुरत लरि उचाइ[३४]।

इन पदो की भाषा सामान्य रूप से तो मिश्रित ही है; परन्तु विनय-पदो की मिश्रित भाषा से इसमे तत्सम शब्दो का प्रयोग कुछ अधिक हुआ है, यद्यपि हैं वे बहुत सरल ही। रुचिकर विषय के कारण अनुभवी पाठक के लिए इसमे सामान्य मिश्रित रूप से कुछ अधिक सरसता भी है; इसी कारण इसको 'परिष्कृत मिश्रित रूप' कहा गया है। साहित्यिकता की दृष्टि से भाषा का वह रूप इससे भी सुन्दर समझा जायगा जो निम्नलिखित पदो मे मिलता है—

१. राजत दोउ निकुज खरे।
स्यामा नव किसोर, पिय नव रग, अति अनुराग भरे।
अति सुकुमारि सुभग चपक तनु, भूषन भृग अरे।

उ. आजु हरि ऐसौ रास रचायौ।
. . . . . .
सिव नारद सारदा कहत यौं, हम इतने दिन वादि पच्यौ—'सागर', ११३९।

ऊ. गन गधर्व देखि सिहात।
धन्य ब्रज ललनानि कर तैं, ब्रह्म माखन खात—'सागर', १६०३।

३३ सा. १०८३। ३४ सा. ११४५।

मरकत कमल सरीर सुभग हरि, रति पिय बेष करे।
चर्चित चारु कमल दल मानौं, पिय के दसन समात।
मुख मयक मधु पियत करनि कसि, ललना तउ न अघात।
लाजति बदन दुराइ मधुर, मृदु, मुसुकनि मन हरि लेत।
छूटी अलक भुवगिनि कुच तट, पैठी त्रिबलि निकेत।
रिस रुचि रग बरह के मुख लौं, आने सोम समेत।
प्रेम पियूष पूरि पोछत पिय, इत उत जान न देत।
बदन उघारि निहारि निकट करि, पिय के आनि धरे।
बिष सका नख रहत मुदित मन, मनसिज ताप हरे।
जुगल किसोर चरन रज बदौं, सूरज सरन समाहिं।
गावत सुनत स्रवन सुखकारी, बिस्व-दुरित दुरि जाहिं[३५]।

२ जमुना-पुलिन रच्यौ हिंडोर।
घोष-ललना सग तरुनी, तरुन नद-किसोर।
एक सँग लै मचति मोहन, एक देति झुलाइ।
एक निरखत अग माधुरि, इक उठति कछु गाइ।
स्याम सुदर गोपिकागन, रही घेरि बनाइ।
मनु जलद कौ दामिनीगन, चहत लेन लुकाइ।
नारि सँग बनवारी गावत, कोकिला छबि घोर।
डुलत झूलत मुकुट सिर पर, मनौ नृत्यत मोर।
सुभग मुख दुहुँ पास कुडल, निरखि जुवती भोर।
चक्रवाक चकोर लोचन, करि रही हरि ओर।
थकित सुर ललना सहित नभ, निरखि स्याम बिहार।
हरषि सुमन अपार बरषत, मुखहिं जै-जै कार।
करत मन-मन यहै बाछा, भए न बन द्रुम-डार।
देह धरि प्रभु सूर बिलसत ब्रह्म पूरन सार[३६]।

३ झूलत नदनदन डोल।
कनक खभ जराइ पटुली, लगे रतन अमोल।
सुभग सरल सुदेस डाँडी, रची बिधना गोल।
मनौ सुरपति सुर-सभा तै, पठै दियौ हिंडोल।
जबहिं झपति तबहिं कपति, बिहँसि लगति उरोल।

---

३५ सा २४७२ । ३६ सा २८३६ ।

त्रिदसपति सजि चढ़ि विमाननि, निरखि दै दै ओल।
थके मुख कछु कहि न आवै, सकल मप कृत झोल।
सखी नवसत साज कीन्हे, वदति मधुरे बोल।
थक्यौ रति-पति देखि यह छबि, भयौ बहु भ्रम भोल।
सूर यह सुख गोप गोपी, पियत अमृत कलोल[३७]।

इन पदो मे तत्सम शब्दो का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग होने से यह भाषा-रूप विनय संबंधी द्वितीय वर्गीय पदो की भाषा के समकक्ष हो जाता है, यद्यपि विषयानुसार सरसता इसमे अधिक है। स्थान-स्थान पर शृंगार के ऐसे पदो मे उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो का प्रयोग सयोग-लीला का स्पष्ट चित्र पाठक के सामने अंकित कर देता है। आलकारिक भाषा वाले पदो की, प्रत्येक चरण मे सप्रयास अलकार योजना की अपेक्षा इन पदो मे उनका प्रयोग अधिक सयत है।

छ् मुरली के प्रति उपालंभ—सयोग शृंगार के अंतर्गत ही सूरदास के वे पद भी आते हैं जिनमे मुरली के प्रति गोपियो के उपालभ हैं। दशम स्कंध मे संगृहीत ये पद सूर-काव्य का बहुत महत्वपूर्ण अश हैं जिनसे कवि की काव्य-कला और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय मिलता है। इन पदो मे से कुछ मिश्रित भाषा मे लिखे गये हैं और कुछ साहित्यिक मे, जैसे—

१. अधर-रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कौं षट रितु तप कीन्हौ, सो रस पियति सभागी।
कहाँ रही, कहँ तै इहँ आई, कौनैं याहि बुलाई।
चक्रित भई कहति व्रज-वासिनि, यह तौ भली न आई।
सावधान क्यौ होति नही तुम, उपजी बुरी बलाइ।
सूरदास प्रभु हम पर ताकौ, कीन्ही सौति बजाइ[३८]।

२ मुरली कै बस स्याम भए री।
अधरनि तै नहि करत निनारी, वाकै रंग रए री।
रहत सदा तन-सुधि विसराए, कहा करन धौ चाहति।
देखी, सुनी न भई आजु लौ, बाँस बँसुरिया दाहति।
स्यामहिं निदरि, निदरि हमहूँ कौ, अबही तै यह रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुँह पाऐ, बोलति वचन अनूप[३९]।

३. सुनहु री मुरली की उतपत्ति।
बन मैं रहति, बाँस कुल याकौ, यह तौ याकी जत्ति।
जलधर पिता, धरनि है माता, अवगुन कहौ उघारि।

३७. सा॰ २९२१, ३८. सा. १२२१। ३९. सा. १२३१।

बेनहूँ तै याकौ घर न्यारे, निपटहि जहाँ उजारि।
इक तै एक गुननि है पूरे, मातु पिता अरु आपु।
नहि जानियै कौन फल प्रगट्यौ, अतिही कृपा प्रताप।
बिसवासिन पर-काज न जानै, याके कुल कौ धर्म।
सुनहु सूर मेघनि की करनी अरु धरनी के कर्म[४०]।

१ रिझै लेहु तुमहूँ किन स्यामहि।
काहे को बकबाद बढावति, सतर होति बिनु कामहि।
मैं अपने तप कौ फल भोगवति, तुमहूँ करि फल-लीजौ।
तब धौं बीच बोलिहै कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ।
अपनौ भाग नही काहूसौं, आपु आपनै पास।
जो कछु कहौ सूर के प्रभु कौं, मो पर होति उदास[४१]।

इनमे से प्रथम तीन पदो में गोपियो के वचन हैं और अतिम मे उनके प्रति मुरली का उत्तर है। भाषा चारो पदो की मिश्रित है। मुरली-संबधी अधिकाश पद इसी भाषा मे लिखे गये हैं। विनय-पदो की सामान्य मिश्रित भाषा से इन पदो की भाषा कभी कभी कुछ अधिक तत्समता-प्रधान हो जाती है और मुहावरो का प्रयोग भी इसमे उससे अधिक हुआ है। इसके कई कारण हैं। मुरली के प्रति गोपियो के उपालभो की नयी सूझ मे कवि की चमत्कारप्रियता की देन अधिक है, भावावेश की कम। अत भाषा के सस्कार-परिष्कार की भी उसे कभी-कभी आवश्यकता पड जाती है जिससे तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक हो ही जाता है। और मुहावरो की अधिकता का कारण है इन पदो मे गोपियो की उक्तियो की प्रधानता होना। नारियो की ईर्ष्या और व्यंग्य-प्रधान भाषा मे मुहावरो की स्वत अधिकता हो जाना स्वाभाविक ही समझा जायगा। इस भाषा से कुछ अधिक तत्समता-प्रधान रूप भी मुरली-सबधी कुछ पदो मे मिलता है, जैसे—

१ स्याम-मुख मुरली अनुपम राजत।
सुभग श्रीखड पीड सिर सोहत, स्रवननि कुडल भ्राजत।
नील जलद पर सुभग चाप सुर मद मद रव बाजत।
पीतावर कटि तडित भाव जनु नारि, विबस मन लाजत।
ठाढे तरु तमाल तर सुदर, नदनँदन बन माली।
सूर निरखि व्रजनारि चकित भई, लगी मदन की भाली[४२]।

२ जौ पै मुरली कौ हित मानौ।
तौ तुम वार वार ऐसे कहि, मन मे दोष न आनौ।
व्रासर याम विरह अति ग्रासित, हूजत मृतक समान।

---

४० सा. १२५६ ४१. सा. १३३६। ४२. सा. १२२६।

लेति जिवाइ सुमत्र सुरस कहि, करति न डर अपमान ।
निज सकेत लेखावति अजहूँ, मिलवति सारँगपानि ।
सरद निसा रस रास करायौ, बोलि बोलि मृदु बानि ।
परकृत सील सुकृत उपमा रमी तासौ यौ कत कहियै ।
पर कौ सूरजदास मेटि कृत, न्याइ इतौ दुख सहियै [४३] ।

भाषा का जो साहित्यिक रूप इन पदो मे मिलता है वह विनय के द्वितीय वर्गीय पदो से कुछ कम तत्सम शब्दो से युक्त है । वस्तुत इसे मिश्रित और साहित्यिक भाषा का मध्यवर्ती रूप कहना चाहिए । इन पदो मे ग्राम-वासिनी व्रजबालाओ की उक्तियाँ हैं जिनकी भाषा सस्कृत और परिष्कृत होने पर अपनी स्वाभाविकता खो बैठती है । अतएव विषय-लीनता की स्थिति मे कवि की प्रतिभा पाठक को चमत्कृत करनेवाला कोई नया सूत्र जब पा जाती है तब भाषा के मिश्रित रूप मे तत्सम शब्दो का अधिक प्रयोग स्वत हो जाता है । ऐसी भाषावाले पद मुरली-प्रसग मे पूर्वोद्धृत पदो की अपेक्षा कम है । कभी-कभी अलकारो की योजना ने भी भाषा को कुछ-कुछ साहित्यिक रूप प्रदान किया है ।

ज. नेत्रो के प्रति उपालंभ—सयोग शृगार के अंतर्गत अतिम महत्वपूर्ण प्रसग है गोपियो के अपने नेत्रो के प्रति उपालंभ जो श्रीकृष्ण के दिव्य रूप पर अत्यत मुग्ध होकर उन्ही मे रम गये हैं । भावो की सुकुमारता और उक्तियो की मार्मिकता की दृष्टि से 'सूरसागर' का यह अश बहुत सुन्दर है । मुरली-संबधी पदो के समान ही नेत्रोपालभ विषयक पद भी मिश्रित और साहित्यिक, दोनो भाषा-रूपो मे लिखे गये है । इनमे प्रधानता प्रथम प्रकार के रूपो की ही है, जैसे—

१ नैना भए बजाइ गुलाम ।
मन बेच्यौ लै वस्तु हमारी, सुनहु सखी ये काम ।
प्रथम भेद करि आयौ आपुन, माँगि पठायौ स्याम ।
बेचि दिये निधरक हरि लीन्हे, मृदु मुसुकनि दै दाम ।
यह बानी जहँ तहँ परकासी, मोल लए कौ नाम ।
सुनहु सूर यह दोष कौन कौ, यह तुम कहौ न बाम [४४] ।

२. नैना अतिहिं लोभ भरे ।
सगहिं सग रहत वै जहँ तहँ, बैठत चलत खरे ।
काहू की परतीति न मानत, जानत सबहिनि चोर ।
लूटत रूप अखूट दाम कौ, स्याम बस्य यौ भोर ।
बड़े भागमानी यह जानी, कृपिन न इनतै और ।
ऐसी निधि मै नाउँ न कीन्हौ, कहँ लैहै, कहँ ठौर ।

४३. सा. १३५६ । ४४. सा. २२३९ ।

आपुन लेंहिं औरहूँ देते, जस लेते ससार।
सूरदास प्रभु इन्हिं पत्याने, को कहै बारबार[४५]।

३ नैना है री ये बटपारी।
कपट नेह करि करि इन हमसौं, गुरुजन तैं करी न्यारी।
स्याम दरस लाडू कर दीन्हौ, प्रेम ठगौरी लाइ।
मुख परसाइ हँसनि माधुरता, डोलत सग लगाइ।
मन इनसौं मिलि भेद बतायौ, बिरह-फाँस गर डारी।
कुल-लज्जा-सपदा हमारी, लूटि लई इन सारी।
मोह-बिपिन मैं परी कराहति नेह-जीव नहिं जात।
सूरदास गुन सुमिरि सुमिरि वै अतरगत पछितात[४६]।

४ कपटी नैननि तै कोउ नाही।
घर कौ भेद और के आगैं, क्यौ कहिबै कौ जाही।
आपु गए निधरक ह्वै हमतै, बरजि बरजि पचि हारी।
मनकामना भई परिपूरन, ढरि रीझे गिरिधारी।
इन्हिं बिना वै, उन्हिं बिना ये, अतर नाही पावत।
सूरदास यह जुग की महिमा कुटिल तुरत फल भावत[४७]।

इन पदो की मिश्रित भाषा मे तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दो की प्रधानता देखी जा सकती है। यह भाषा सरलहृदया गोपियो की मार्मिक उक्तियो के सर्वथा अनुकूल है। कारण यह है कि इनमे कल्पना और आलकारिक योजना का उतना चमत्कार नही है जितना उक्तियो की मार्मिकता का प्रभाव है। इसके विपरीत, जिन पदो मे कवि की कल्पना ने कुछ चमत्कार दिखाया है अथवा अलंकारो की जिनमे योजना है, उनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक हो गयी है, जैसे —

१ लोचन भए पखेरू माई
लुब्धे स्याम-रूप-चारा कौ, अलक-फद परे जाई।
मोर-मुकुट टाटी मानौ, यह बैठनि ललित त्रिभग।
चितवनि लकुट, लास लटकनि पिय, काँपा अलक तरग।
दौरि गहनि मुख मृदु मुसुकावनि, लोभ-पीजरा डारे।
सूरदास मन-व्याध हमारौ, गृह-वन तै जु बिसारे[४८]।

२ मेरे इन नैननि इते करे।
मोहन-वदन चकोर-चद ज्यौ, इकटक तै न टरैं।

४५. सा २२६६। ४६ सा २२९०। ४७. सा २३३५। ४८. सा. २२७२।

प्रमुदित मनि अवलोकि उरग ज्यौ, अति आनद भरे।
निधिहि पाइ इतराइ नीच ज्यौ, त्यौ हमकौ निदरे।
जौ अटके गोचर घूँघट पट, सिसु ज्यौ अरनि अरे।
धरे न धीर निमेष रुदन जल, सौ हठ करनि परे।
रही ताड़ि, खिझि लाज-लकुट लै, एकहु डर न डरे।
सूरदास गथ खोटो, काहे पारखि दोष धरे[४९]।

३ मेरे नैना अटकि परे।
सुन्दर स्याम अग की सोभा, निरखत भटकि परे।
मोर मुकुट लट घूँघरवारी, तामैं लटकि परे।
कुडल तरनि किरनि ते उज्जवल चमकनि चटकि परे।
चपल नैन मृग मीन कज जित, अलि ज्यो लुब्धि परे।
सूर स्याम मृदु हँसनि लुभाने, हमतै दूरि परे[५०]।

४. नैना नाहिन कछू विचारत।
सनमुख समर करत मोहन सौं, जद्यपि है हठि हारत।
अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित दोष अति आरत।
तमकि तमकि तरकत मृगपति ज्यौ घूँघट पटहिं विदारत।
बुधि-बल, कुल-अभिमान, रोष-रस जोवत भँवहिं निवारत।
निदरे व्यूह समूह स्याम अँग, पेलि पलक नहिं पारत।
स्रमित सुभट सकुचत, साहस करि, पुनि पुनि सुखहिं सम्हारत।
सूर स्वरूप मगन झुकि व्याकुल टरत न इकटक टारत[५१]।

पूर्वोद्धृत उदाहरणो से इन पदो की भापा निस्सदेह अधिक तत्समता-प्रधान है। ऐसे पदो मे कवि की दृष्टि उक्ति की मार्मिकता पर न टिकी रहकर कुछ-कुछ आलंकारिक योजना की ओर झुक गयी है। पैंनी अतर्दृष्टिवाले कवि के लिए यह स्वाभाविक ही कहा जायगा, क्योकि उसकी जिस नवोन्मेपशालिनी प्रतिभा ने नेत्रो की आकर्पण-वृत्ति-जैंसे सामान्य प्रकृत विपय को लेकर अनेक हृदयहारी पदो की रचना कर दी, वह केवल एक ही प्रकार की भापा से संतुष्ट कैंसे रह सकती थी ? फिर भी नेत्र-विपयक थोड़े पदो मे ही इस साहित्यिक भापा के दर्शन होते हैं; अधिक सख्या तो भापा के सामान्य मिश्रित रूप मे रचे गये पदो की ही है जिनकी सरलता सहृदय पाठक को सहज ही मुग्ध कर लेती है। परन्तु मुरली सम्वन्धी साहित्यिक भापा प्रधान पदो से नेत्र-विपयक तत्सम्वन्धी भापा वाले पदो की संख्या निश्चय ही अधिक है और इसका कारण यह है कि उनमे ईर्प्या-व्यग्य इतने हल्के स्तर पर व्यजित है कि इन भावो की

४९. सा. २३४०। ५०. सा. २३६७। ५१. सा. २३८३।

अभिव्यक्ति भाषा को अधिक सस्कृत परिष्कृत बनाने मे बाधक है, परन्तु नेत्रों के प्रति उपालभ वाले पदो मे व्रजबालाओ की, प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति, प्रेमासक्ति की गूढता-गम्भीरता ने भाषा को साहित्यिक बनाने मे अधिक सुयोग दिया है।

ङ. पर्वोत्सव और ऋतु-चित्रण—जीवन-व्यस्तता के लिए उत्सव के आयोजन विश्राम के ऐसे स्थल हैं जो शारीरिक और मानसिक श्राति को दूर करके नव स्फूर्ति प्रदान करते हैं। जटिल से जटिल परिस्थिति मे पडा व्यक्ति इस लाभ से वचित न रह जाय, इस उद्देश्य से सामान्य उत्सवो के साथ धार्मिक पर्वों को भी सबद्ध कर दिया गया है। इसी प्रकार वर्षा[५२], शरद्, वसत आदि ऋतुओ का शुभागमन भी स्वस्थ चित्त को उल्लास से भर देता है। तात्पर्य यह है कि ये सभी विषय उल्लास-प्रदत्तता की दृष्टि से एक ही वर्ग मे रखे जा सकते हैं। और सूरदास ने अपने काव्य, विशेषत 'सूरसागर' के दशम स्कध, मे इन सबका चित्रण बहुत उमग मे भरकर किया भी है। कृष्ण-जन्मोत्सव, दीप-मालिका पर्व, वसतागमन और होलिकोत्सव, सभी के वर्णन मे यह बात देखी जा सकती है। भावोल्लास के ऐसे क्षणो में भाषा के सस्कार-परिष्कार की आवश्यकता नही होती। अतएव मिश्रित भाषा मे ही सूरदास ते पर्वोत्सवो और ऋतुओ का सुन्दर चित्रण किया है, जैसे—

१. ब्रज भयो महर कै पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक गुनी।
.
सुनि धाई सब ब्रजनारि सहज सिंगार किये।
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिये।
.
ते अपनै अपनै मेल, निकसी भाँति भली।
मनु लाल मुनैयनि पाँति, पिंजरा तोरि चली।
गुन गावत मगल गीत मिलि दस-पाँच अली।
मनु भोर भएँ रबि देखि, फूली कमल कली[५३]।

२ हो हो हो हो हो हो होरी।
खेलत अति सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहिं राधिका गोरी।
बाजत ताल मृदग झाँझ डफ, बीच बीच बाँसुरी धुनि थोरी।हो०।

---

५२ व्रजवासियों को गोवर्द्धन—पूजा से क्षुब्ध होकर इद्र ने उनके प्रदेश पर जो घोर वर्षा की, वह स्वाभाविक न थी। अतएव उसका चित्रण सूरदास ने उल्लास से नहीं किया है—लेखक।

५३. सा १०-२४

गावत दै दै गारि परस्पर, उत हरि, इत बृषभानु-किसोरी ।
मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै मिलै मथि घोरी ।हो०।
गोपी-ग्वाल गुलाल उड़ावत, मत्त फिरै रति-पति मनु धोरी ।
भरति रंग रति नागरि राजति, मनहुँ उमँगि बेला बल फोरी ।हो०।
छूटि गई लोक-लाज कुल-सका, गनति न गुरु गोपिनि कौ को री ।
जैसें अपने मेर मतै मैं, चोर भोर निरवत निसि चोरी ।हो०।
उन पट पीत किये रँग राते, इन कंचुकी पीत रँग बोरी ।
रही न मन मरजाद अधिक रुचि सहचरि सकति गाँठि गहि जोरी ।हो०।
बरनि न जाय बचन रचना रचि, वह छबि झकझोरा झकझोरी ।
सूरदास सारदा सरल मति, सो अवलोकि भूल भई भोरी"[५४] ।हो०।

ऐसे सभी उदाहरणो की रचना आनद-विभोर अवस्था मे की गयी जान पडती है । इसीलिए भाषा का वह स्वाभाविक रूप इनमे मिलता है जिसमे प्रयास का सर्वथा अभाव है । कवि ने ऐसे पदो मे न शब्द-चयन की ओर विशेष ध्यान दिया है और न आलकारिक योजना की ओर ही । इनकी भाषा विनय के प्रथम वर्गीय पदो की भाषा के समकक्ष कही जा सकती है, यद्यपि तत्सम शब्दो का प्रयोग इसमे उससे कुछ अधिक है । इनके अतिरिक्त कुछ पदो मे साहित्यिक भाषा का वह रूप भी मिलता है जिसमे तद्भव वर्गीय शब्दो से अधिक तत्सम शब्दो का प्रयोग किया गया है, जैसे –

१ आजु दीपति दिव्य दीपमालिका ।
मनहु कोटि रबि-चद्र कोटि छवि मिटि जो गई निसि कालिका ।
गोकुल सकल बिचित्र मनि मडित सोभित झाक झव झालिका ।
गज मोतिनि के चौक पुराये विच विच लाल प्रवालिका ।
वर सिंगार बिरचि राधा जू चली सकल व्रज वालिका ।
झलमल दीप समीप सौज भरि लेकर कचन थालिका ।
करी प्रगट मदन मोहन पिय थकित विलोकि विसालिका ।
गावत हँसत गवाय हँसावत पटकि पटकि करतालिका ।
नद-द्वार आनद वढ्यौ अति देखियत परम रसालिका ।
सूरदास कुसुमनि सुर वरषत कर सपुट करि मालिका"[५५]।

२. मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि व्रज-भामिनि ।

---

५४. सा. २८६८ । ५५. सा ८०९ ।

जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।
सुदर ससि गुन रूप राग निधि, अग-अग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिकराइ सौ, मुदित भई गुनग्रामिनि।
रूप-निधान स्याम सुदर बर आनँद मन बिस्रामिनि।
खजन मीन मयूर हस पिक भाइ-भेद गजगामिनि।
को गति गनै सूर मोहन सँग, काम बिमोह्यौ कामिनि [५६]।

३ अद्भुत कौतुक देखि सखी री बृन्दावन नभ होड परी।
उत घन उदित सहित सौदामिनि, इतहिं मुदित राधिका हरी।
उत बग-पाँति, सु इतहिं स्वाति-सुत दाम, बिसाल सुदेस खरी।
ह्वाँ घन गरज, इहाँ मुरली धुनि, जलधर उत, इत अमृत भरी।
उतहिं इद्र धनु, इत बनमाला, अति बिचित्र हरि कठ धरी।
सूरदास प्रभु कुँवरि राधिका, गगन की सोभा दूरि करी [५७]।

इन पदो मे क्रमश दीपावली पर्व, रासलीलोत्सव और वर्षा-सौंदर्य वर्णित है। इनकी भाषा पूर्वोद्धृत पदो से अधिक तत्समता-प्रधान है कारण स्पष्ट है द्वितीय पद का विषय भक्तो के जीवन का चरम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि कोमल कलेवरा गोपिकाओ को वर्ष भर कठोर व्रत-साधन के पश्चात् प्राप्त हो सकी थी समस्त वस्त्राभूषणों से अलकृत होकर रसिकवर प्रियतम के साथ उन्होने जो आनद शरद् की उस शुभ्र रजनी मे अनुभव किया, वह असाधारण था, दिव्य था। स्वय कवि भी इस अलौकिक रस में आकठ निमग्न है और उसका वर्णन भी सामान्य शब्दावली मे करना उसको अनुपयुक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रथम पद मे इद्र-विजय के पश्चात् के दीपमालिकोत्सव का वर्णन है जिसको व्रजवासी अपने परम सौभाग्य की सराहना करते हुए अत्यत उल्लास से मनाते हैं और अतिम पद मे ऋतु-शोभा का अद्भुत दृश्य कवि की कल्पना को सजग कर देता है। सूर की अतर्दृष्टि ऐसे अवसरो पर अलकारो की जिस कौशलपूर्ण योजना में सलग्न हो जाती है, उससे शब्दावली स्वभावत अत्यन्त परिष्कृत और साहित्यिक हो गयी है।

ञा **वियोग वर्णन और भ्रमर गीत**—सयोग शृगार के पश्चात् 'सूरसा र' के दशम स्कध का सबसे महत्वपूर्ण विषय है गोपियो का वियोग वर्णन जिससे 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध पद भी घनिष्ठ रूप से सबद्ध है। 'सूरसागर' का यह अश उक्तियो की मार्मिकता और वाग्विदग्धता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। मिश्रित, साहित्यिक और आलकारिक, तीनो भाषा रूपो के दर्शन इसमे होते हैं, जैसे—

१ वारक जाइयौ मिलि माधौ।
को जानै तन छूटि जाइगौ, सूल रहै जिय साधौ।

---

५६. सा १०४८। ५७ सा ११८९।

पहुनहु नन्द बवा के आवहु, देखि लेउँ पल आंधौ।
मिलैंही मैं बिपरीत करी बिधि, होत दरस कौ बाधौ।
सो सुख सिव सनकादि न पावत, जो सुख गोपिनि लाधौ।
सूरदास राधा बिलपति है, हरि कौ रूप अगाधौ[५८]।

२. ऊधौ, हम हैं हरि की दासी।
काहे कौं कटु बचन कहत हौ, करत आपनो हाँसी।
हमरे गुनहिं गाँठि किन बाँधौ, हम कह कियौ बिगार।
जैसी तुम कीन्ही सो सबही, जानत हैं ससार।
जो कुछ भलो बुरी तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहैं।
आपन कियो आपही भुगतहिं, दोष न काहू दैहैं।
तुम तौ बड़े बड़े कुल जनमे, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयौ सूर के प्रभु सौं, कहत लगावन छार[५९]।

३. और सकल अंगनि तैं ऊधौ, अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिराति सिराति न कबहू, बहुत जतन करि हारी।
मग जोवत पलकौं नहि लावति, बिरह बिकल भईं भारी।
भरि गइ बिरह-बयारि दरस बिनु, निसि दिन रहति उघारी।
ते अलि अब ये ज्ञान-सलाकैं, क्यौं सहि सकति तिहारी।
सूर सु अंजन आँजि रूप-रस, आरति हरहु हमारी[६०]।

४. ऊधौ-अब कछु कहत न आवै।
सिर-पर सौति हमारे कुबिजा, चाम के दाम चलावै।
कछु इक मत्र करयो चदन मैं, तातैं स्यामहि भावै।
अपने ही रँग रँगे साँवरे, सुक ज्यौं बैठि पढ़ावै।
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-बधू कहावै।
नटिनी लौं कर लिए लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।
टूट्यौ नातौ या गोकुल कौ, लिखि लिखि जोग पठावै।
सूरदास प्रभु हमहिं निदरि, डाढ़े पर लोन लगावै[६१]।

५. (ऊधौ) जौ कोउ यह तन फेरि बनावै।
तौऊ नंदनँदन तजि मधुकर, और न मन में आवै।

---

५८. सा. ३२३२। ५९. सा. ३५४३। ६० सा. ३५७०। ६१. सा. ३६३९।

जौ या तन की त्वचा काटि कै, लै करि दुन्दुभि साजै।
मधुर उतग सप्त सुर निकसै, कान्ह कान्ह करि बाजै।
निकसै प्रान परै जिहिं माटी, द्रुम लागै तिहिं ठाम।
अब सुनि सूर पत्र-फल-साखा, लेत उठै हरि नाम[६२]।

इस प्रकार के पद गोपियो की विरह-दशा से परिचित कराते हैं, इनमे विरहिणी व्रजबालाओ का करुण क्रदन सा गूँजता हैं। प्रियतम से विमुक्त होने पर जिस प्रकार गोपिकाओ को साज-शृगार नही सुहाता, उसी प्रकार कवि ने भी उक्त विषयक अनेक पदो की भाषा को अनलकृत ही रखा है। विनय-पदो की मिश्रित भाषा से विरह-संबधी पदो की ऐसी भाषा मे एक मुख्य विशेषता है मुहावरे-कहावतो के प्रयोग मे। एक तो ग्रामीण युवतियो की सीधी-सादी भाषा मे साधारणत मुहावरो-कहावतो का प्रयोग खूब रहता है, फिर भग्नहृदय की जो दयनीय स्थिति इन पदो मे दर्शायी गयी है, भाषा को उसके अनुरूप बनाने के उद्देश्य से, उसमे जैसा कि उक्त पदो के बड़े टाइप मे छपे अश से स्पष्ट है, मुहावरो और कहावतो का और भी अधिक प्रयोग किया गया है भोली-भाली प्रेममयी गोपिकाओ की विरह-जन्य कातरता कभी संयोग की पूर्व स्मृतियो से उन्हें पुलकित करती है, कभी अपने अभाग्य को कोसने को विवश करती है और कभी क्षुब्ध स्वर मे प्रियतम की निष्ठुरता का बखान करने को प्रेरित करती है। निराशा, उन्माद और प्रलाप की ऐसी स्थितियो में सामान्य भाषा का इस प्रकार मुहावरे और लोकोक्तियो से युक्त हो जाना स्वाभाविक ही कहा जायगा। अस्तु, भाषा के केवल मिश्रित रूप की दृष्टि से यदि देखा जाय तो कहा जा सकता है कि वियोग-वर्णन और भ्रमर-गीत-प्रसंग के पदो मे आधे से कम ही इस प्रकार की भाषा मे लिखे गये हैं और अधिकाश पदो की भाषा इससे अधिक परिष्कृत और तत्समता-प्रधान है, जैसे —

१ देखियत कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक, कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह-जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि घँसि, तरँग-तरफ तन भारी।
तट-बारू उपचार चूर, जल-पूर-प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस-काँस कूल पर, पक जु काजल सारी।
भौर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी[६३]।

२ बरु ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनदन, गरजि गगन घन छाए।

---

६२ सा ३१८०। ६३ सा. ३१९१।

कहियत है सुर-लोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-पिक की पीर जानि कैं, तेउ तहाँ तैं धाए।
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिली, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन सँचि सँचि, पंछिनहूँ मन भाए।
समुझति नही चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुवन बसि बिसराए[६४]।

३. कोउ माई, बरजै री या चदहिं।
अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि-कुल आनदहिं।
कहाँ कहौ बरषा रबि तमचुर, कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर कैं रथ, बिरहिनि के तन जारे।
निंदति सैल उदधि पन्नग कौ, श्रीपति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरा देवी कौ, राहु-केतु किन जोरहिं।
ज्यौ जल-हीन मीन तन तलफति, ऐसी गति ब्रजबालहि।
सूरदास अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिं[६५]।

४. ऊधौ, क्यौ राखौं ये नैन।
सुमरि सुमरि गुन अधिक तपत है, सुनत तुम्हारे बैन।
ये जु मनोहर वदन-इंदु के, सारद कुमुद चकोर।
परम तृषारत सजल स्याम घन-तन के चातक-मोर।
मधुप-मराल जु पद-पकज के, गति-विलास-जल मीन।
चक्रवाक दुतिमनि दिनकर के, मृग मुरली आधीन।
सकल लोक सूनौ लागत है, बिनु देखे वर रूप।
सूरदास प्रभु नदनँदन के नख-सिख अग अनूप[६६]।

५. ऊधौ, अब हम समुझि भई।
नंदनँदन के अग अग प्रति, उपमा न्याय दई।
कुंतल कुटिल भँवर भामिनि वर, मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियौ तिन कपटी, जानी निरस भई।
आनन इदु विमुख सपुट तजि, करखे तैं न नई।
निर्मोही नव नेह कुमुदिनी, अतहु हेम हई।
तन घन सजल सेइ निसि-वासर, रटि रसना छिजई।
सूर विवेकहीन चातक मुख, बूँदौ तौ न सई[६७]।

---

६४. सा. ३३०८। ६५ सा. ३३५९। ६६. सा. ३५६९। ६७. सा. ३९१८।

सूरदास के ऐसे पद प्रौढावस्था की रचना हैं। इस समय तक इस प्रकार की साहित्यिक भाषा पर उनका इतना अधिकार हो गया था कि उसका यही रूप प्राय सदैव उनके मुख से नि सृत होता था। सामान्य विषयो पर भी इसी प्रकार की भाषा मे रचना करने के वे अभ्यस्त थे। यही कारण है कि वियोग-वर्णन और भ्रमरगीत के अधिकाश पदो की भाषा इसी प्रकार परिष्कृत और तत्समता-प्रधान है। इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमे सर्वत्र ऐसे ही तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो उच्चारण की दृष्टि से साधारणतया प्रचलित थे, जिससे वे सामान्य पाठक को नही खटकते। मुहावरो-कहावतो का प्रयोग भी ऐसे पदो मे कही-कही किया गया है, यद्यपि उतना नही जितना पूर्वोद्धृत पदो मे मिलता है। सरल अलकारो की योजना ने भी इन पदो की भाषा को साहित्यिक बनाने मे योग दिया है। साहित्यिक शब्दो की इससे कुछ अधिक योजना उन पदो मे मिलती है जिनमे कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो के प्रयोग मे विशेष रुचि दिखायी है, जैसे—

१ सखी री, इन नैननि तै घन हारे।
बिनही रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वाँस समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन करि बसे बचन-खग, दुख-पावस के मारे।
दुरि दुरि बूँद परति कचुकि पर, मिलि अजन सौं कारे।
मानौ परन-कुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरति धरि न्यारे।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँडत, डर लागत अँधियारे।
बूडत ब्रजहिं सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे[६८]।

२ देखियत चहुँ दिसि तै घन घोरें।
मानौ मत्त मदन के हथियनि, बल करि बधन तोरे।
स्याम सुभग तन चुवत गडमद, बरषत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावतहूँ पै, मुरत न अकुस मोरे।
मानौ निकसि बग-पक्ति दत, उर-अवधि-सरोवर फोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल, कुच-कचुकि-बँद बोरे।
तब तिहिं समय आनि ऐरावति, ब्रजपति सौ कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु गरत गात जैसें ओरे[६९]।

३ नैननि नद-नदन ध्यान।
तहाँ यह उपदेस दीजै, जहाँ निरगुन ज्ञान।

---

६८. सा. ३२३४। ६९. सा. ३३०३।

पानि पल्लव रेख गनि गुन, अवधि बिन्निध बिवान ।
इते पर उन कटुक वचननि, क्यौ रहै तन प्रान ।
चद कोटि प्रकास मुख, अवतस कोटिक भान ।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजत दान ।
भृकुटि कोटि कोदड रुचि, अवलोकनी सधान ।
कोटि बारिज बक्र नैंन कटाच्छ, कोटिक वान ।
मनि कंठ-हार, उदार उर, अतिसय बन्यौ निरमान ।
सख, चक्र, गदा धरे कर पद्म सुधा-निधान ।
स्याम तनु पट पीत की छबि, करै कौन बखान ।
मनहु नृत्यत नील घन मे, तडित देती भान ।
रास रसिक गुपाल मिलि, मधु-अधर करती पान ।
सूर ऐसे स्याम बिनु, को इहाँ रच्छक आन × ।

यहाँ उद्धृत प्रथम दोनो पदो की भाषा को आलकारिक योजना ने और अतिम को श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन ने अधिक साहित्यिक बना दिया है। इस प्रकार की भाषा के उदाहरण वियोग शृगार और भ्रमरगीत विषयक पदो मे अधिक नही हैं। यह आलकारिक भाषा कल्पना के विशेष सक्रिय होने पर ही प्रयुक्त होती है, हृदय के सामान्य गतिशील भावो के प्रवाह की तीव्रता का साथ इस भाषा मे आये हुए सचित और बोझिल शब्द नही दे पाते। वियोग की प्रबलता मे जब नेत्रो से निरतर अश्रु-वर्षा हो रही हो तब मौखिक साज-शृगार की रक्षा कैसे हो सकती है और उसकी चिता भी कौन करता है ? यही कारण है कि सामान्य मिश्रित और सरल साहित्यिक भाषा ही, जो कवि की भाषा के प्रकृत और अकृत्रिम रूप हैं, ऐसे प्रसगो मे प्रयुक्त होने पर खूब फबती है। इसका आलंकारिक रूप, प्रयास का बोझीलापन लिये हुए, केवल उन स्थलो पर दिखायी देता है, जहाँ भाव अपेक्षाकृत कम तीव्र है और उद्धव-जैसे शुष्कहृदय व्यक्ति को सामने पाकर भग्नाश गोपिकाओ को चिंतन का कुछ अवकाश मिल जाता है।

ट. स्फुट विषय—इस शीर्षक के अतर्गत मुख्य रूप से दो विषयों पर विचार करना है—प्रथम है पारिभाषिक विवेचन और द्वितीय, वर्णन-विस्तार-युक्त प्रसंग। पौराणिक कथानको के साथ साथ 'सूरसागर' के कई स्थलो पर ज्ञान, भक्ति, योग, मुक्ति आदि विषयो का विवेचन मिलता है जो न विषय की स्पष्टता की दृष्टि से महत्व का है और न जिसमे वाछनीय गंभीरता ही है। सूरदास वास्तव मे अनन्य भक्त, सगुणोपासक भावुक कवि और सफल गायक थे ऐसे व्यक्तित्ववाले सहृदय मनुष्य के लिए दार्शनिक चिंतन मे कोई आकर्षण नही रहता और न उसकी वृत्ति ही तात्विक विवेचन मे रम

× सा. ३५६१ ।

सकती है। यही कारण है कि जिन पदों मे सूरदास ने पारिभाषिक विवेचना की है, वे कदाचित् किसी भी दृष्टि से सफल नही कहे जा सकते। भाषा-शैली भी इनकी सामान्य ही है, जैसे—

१. भक्ति पथ कौ जो अनुसरै। सो **अष्टांग** जोग कौ करै।
यम, नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ **निष्काम**।
प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छाँडि बासना आन।
क्रम क्रम सौं पुनि करै **समाधि**। सूर स्याम भजि मिटै **उपाधि**[७०]।

२ माता, **भक्ति** चारि परकार। **सत, रज, तम** गुन, **सुद्धा** सार।
भक्ति एक, पुनि बहु बिधि होइ। ज्यौं जल रग मिलि रग सो होइ।
भक्ति **सात्विकी** चाहत **मुक्ति**। **रजोगुनि,** धन-कुटुबऽनुरक्ति।
तमोगुनी चाहे या भाइ। मम बैरी क्यौहूँ मरि जाइ।
सुद्धा भक्त मोहिं कौं चाहै। मुक्तिहुँ कौं सो नहिं अवगाहै[७१]।

३ **इड़ा पिंगला सुषमन** नारी। **सुन्य** सहज मैं बसत मुरारी।
ब्रह्म भाव करि सब मैं देखौ। **अलख निरंजन** ही कौं लेखौ।
पदमासन इक चित मन ल्यावौ। नैन मूँदि **अंतरगत ध्यावौ**।
हृदै **कमल** मैं **ज्योति** प्रकासी। **सोइ अच्युत अबिगत अबिनासी**[७२]।

४. **हृदय-कमल** तें **जोति** बिराजै। **अनहद नाद** निरतर बाजै।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज **सुन्न** मैं बसत मुरारी[७३]।

उक्त पदो मे जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनका सम्यक् ज्ञान सूर-काव्य से नही होता। ऐसे विवेचन से केवल इतना लाभ माना जा सकता है कि सूरदास के समय मे प्रचलित और उनको ज्ञात पारिभाषिक शब्दो की सूची भले ही बना ली जाय, अन्यथा ये पारिभाषिक व्याख्याएँ अपूर्ण हैं। पौराणिक कथाओ की-सी सामान्य भाषा मे ही यह विवेचन मिलता है। अनेकानेक पारिभाषिक शब्दो के कारण कहीं कहीं इस भाषा मे तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक हुआ है और ऐसा केवल लबी व्याख्या वाले पदो मे हो, सो बात भी नही है। मिश्रित भाषा मे लिखे गये अनेक पदो के कुछ चरणो मे भी, पारिभाषिक शब्दो के आ जाने पर, भाषा का यह रूप देखा जा सकता है, जैसे—

१ प्रथम **ज्ञान, विज्ञानक** द्वितीय मत, तृतीय **भक्ति** कौ भाव।
सूरदास सोई **समष्टि** करि, **व्यष्टि** दृष्टि मन लाव[७४]।

२ **सालोकता सामीपता सारूपता,** भुज चारि।
इक रही **सायुज्यता** सो, **सिद्ध** नहिं विनु ज्ञान[७५]।

---

७०. सा २-२१। ७१ सा ३-१३। ७२ सा. ४०४९। ७३ सा ४०९४।
७४. सा. २-३८। ७५ सा ३४३१।

३. षट दल, अठ द्वादस दस निरमल अजपा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, यौ मिलिहैं बनमाली ७६ ।

वास्तविकता यह है कि सूरदास अपने भक्त, कवि और गायक-रूपो मे ही सतुष्ट थे; दार्शनिक विवेचक और तत्त्वदर्शी चितक बनने के लिए न उनके पास अवकाश था और न साधन ही। इसीलिए दार्शनिक व्याख्या-प्रधान स्थलो की अति सामान्य विवेचना मे पारिभाषिक शब्दो का सग्रह-मात्र है और इनकी भाषा को उसका स्वतत्र रूप भी नही कहा जा सकता।

अब रही वर्णन-विस्तारयुक्त प्रसगो की भाषा की बात। इन प्रसगो मे आशय उन पदो से है जिनमे कवि सूर ने वस्तुओ-पदार्थों की लबी-लबी सूचियाँ प्रस्तुत की है। ऐसे स्थलो की भाषा बहुत सामान्य और सर्वथा विशेषतारहित है, तथा वाक्य-विन्यास भी बहुत शिथिल और अरोचक है। 'सूरसागर' मे भोज्य पदार्थों, वस्त्राभूषणो, वाद्ययत्रो आदि और 'सारावली' मे राग-रागिनियो आदि की सूचियोवाले पदो मे इस प्रकार का वर्णन-विस्तार मिलता है। 'व्याकरणिक अध्ययन' वाले परिच्छेद मे विशेषणो की सूची-वाला जो लबा पद उद्धृत किया गया है, उससे इस प्रकार के विस्तारवाले पदो की भाषा का कुछ अनुमान हो सकता है। स्थानाभाव से अन्य उदाहरण देना अनावश्यक जान पडता है।

ठ कूट पद—सूरदास के 'साहित्यलहरी' नामक सग्रह मे तो कूट पद मिलते ही है, 'सूरसागर' के दशम स्कध मे भी ऐसे अनेक पद सकलित है। इन पदो मे से कुछ के अत मे शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनकी सोदाहरण चर्चा इस परिच्छेद के आरभ मे की जा चुकी है, शेष पद सामान्य हैं। भाषा-रूप की दृष्टि से दोनो प्रकार के पदो मे कोई अंतर नही है और दोनो मे समान रूप से प्रत्येक चरण मे छोटे-बडे सामासिक पदो का प्रयोग किया गया है। सूर-काव्य की भाषा के जो मुख्य चार रूप विविध विषयो के आधार पर ऊपर बनाये गये है, यदि उन्ही को ध्यान मे रखकर कूट पदों की भाषा का रूप निश्चित किया जाय तो कह सकते हैं कि मिश्रित भाषा को ही समास-प्रधान बनाकर कवि ने उसमे कूट पद रचे है। इनके मुख्य विषय हैं स्याम-स्यामा-प्रेम, सौंदर्य, मान, क्रीडा आदि। 'सूरसागर' के साधारण पदो मे इन विषयों का जैसा वर्णन है, प्राय वैसा ही कूट पदो मे भी है। अतर केवल इतना है कि 'सूरसागर' के सामान्य पदो का अर्थ सहज ही समझ मे आ जाता है, परंतु कूट पदो के सामासिक शब्दो का अर्थ निकालने मे बडी माथा-पच्ची करनी पडती है, इनका ठीक-ठीक अर्थ समझना साधारण पाठक के वश की बात है ही नही। इसके लिए तो द्राविडी प्राणायाम-जैसा भीषण मानसिक व्यायाम चाहिए और स्थान-स्थान पर पाठक को पहेलियाँ भी बुझानी पडती हैं। इनका ठीक-ठीक तात्पर्य समझने के लिए शब्दो के प्रचलित अर्थ जानने से ही काम नही चलता, प्रत्युत शब्द के अनेक अर्थों मे से पाठक

---

७६. सा. ३८६६।

को वही अर्थ छाँटना होता है जो कवि को अभीष्ट है। उदाहरण के लिए 'कुती-सुत' का सकेत चार पुत्रो मे से किसके लिए हैं, तभी ज्ञात होगा जब पारस्परिक प्रसग स्पष्ट हो जाय। नीचे कूट पदो के कुछ वाक्यो के अर्थ दिये जा रहे है। इनसे ज्ञात हो जायगा कि 'साहित्यलहरी' की जटिलता और दुरूहता किस प्रकार की है और उसकी क्लिष्टता के परिहार के लिए कितना मानसिक व्यायाम अपेक्षित है। जिन-जिन प्रणालियो से सूरदास ने कूट पदो की रचना की है अथवा जिन प्रणालियो से अर्थ-बोध मे सहायता मिलती है, उनको, स्थूल रूप से, छह वर्गों मे विभाजित किया जा सकता हैं—

अ **पर्यायवाची प्रणाली** कुछ पदो मे कवि ने एक पद के भिन्न भिन्न अर्थो और उनके पर्यायवाची शब्दो को लेकर खेल किया है, जैसे —

१ दरभूषन छन छन उठाय कै **नीतन** हरि घर हेरत [७७]।

'नीतन' से कवि ने 'नेत्र' का अर्थ इस प्रकार निकाला है—'नीतन' =नीत+न। नीत—१ 'नेत्र' का अपभ्रश, २ नीति। नीति— नय। नीतन = नय+न = नयन।

२ **दधिसुत-सुत-पतिनी** न निकासत [७८]।

इस वाक्य मे 'दधि-सुत सुत-पतिनी' से 'बोली' का अर्थ इस प्रकार निकाला गया है—दधि—उदधि—समुद्र—जल। दधिसुत —जल-सुत—कमल। दधि-सुत सुत—कमल-सुत—ब्रह्मा। दधि-सुत-सुत पतिनी – ब्रह्मा की स्त्री—सरस्वती—गिरा—वचन—बोली।

३ **अष्टसुर** इनको पठाए कंस नृप के पास[७९]।

'वसुदेव' (कृष्ण के पिता) अर्थ यहाँ 'अष्टसुर' से इस तरह निकाला गया है—अष्टसुर—अष्ट+सुर। अष्ट = आठ=वसु—'वसु' आठ होते हैं, इसलिए 'आठ' शब्द 'वसु' का सकेतार्थ मान लिया गया है। सुर = देव (पर्यायवाची)। अष्टसुर=(वसु+देव) वसुदेव।

४ **दधि-सुत-अरि-भष-सुत-सुभाव** चलि तहाँ उताइल आई[८०]।

इस पक्ति मे 'दधिसुत अरि-भप-सुत-सुभाव'-जैसे वडे सामासिक पद से कवि ने पर्यायवाची प्रणाली द्वारा 'सखी' अर्थ यो निकाला है--दधि=उदधि। दधि-सुत=उदधि-सुत=चद्रमा जो समुद्र मथन से निकले रत्नो मे एक है। दधि-सुत-अरि=चद्रमा का शत्रु = राहु। दधि-सुत-अरि-भष = राहु का भक्षण = सूर्य। दधि-सुत-अरि-भष-सुत= सूर्य का पुत्र=कर्ण। दधि-सुत-अरि-भष-सुत-सुभाव = कर्ण का स्वभाव = दान करना= 'दानी' होना—'दानी' को उर्दू मे 'सखी' कहते हैं, अत दानी = सखी, सहेली।

आ **प्रहेलिका प्रणाली**—कुछ पदो मे कवि ने शब्द के आदि, मध्य अथवा अत के अक्षरो का लोप करके नया शब्द वनाया है और तव उसका अभीष्ट अर्थ मे प्रयोग किया है, जैसे—

---

७७ लहरी ३। ७८ लहरी. ६। ७९ लहरी ३८। ८०. लहरी. ८७।

कारन-अंत अंत ते घट कर आदि घटत पै जोई।
मद्ध घटे पर नास किथौ है नीतन में मन मोई।[८१]

यहाँ उक्त दोनो पंक्तियो के प्रारंभिक चौदह शब्दो से एक छोटा सा शब्द 'काजल' इस प्रकार निकाला गया है - कारन अत = कारण का अत = काम, काज; 'कारण' का फल 'काज' होता ही है। पै = पय = जल। नास = नाश = काल, 'काल' सबका नाश करता ही है। अब कवि जैसे पहेली बुझाता है। वह तीन प्रश्न पूछता है— १. वह कौन सा-शब्द है जिसका 'अत ते घट कर' अर्थात् अत्यक्षर हटाने पर 'काज' (कारन अत) बच रहेगा ? २. वह कौन सा शब्द है जिसका 'आदि घटत' अर्थात् आद्य अक्षर हटाने पर 'जल' बच रहेगा ? ३. वह कौन सा शब्द है जिसका 'मद्ध घटे पर' अर्थात् बीच का अक्षर हटाने पर 'काल' बच रहेगा ? तीनो प्रश्नो का एक ही उत्तर है — काजल।

इ **पुनरावृत्ति प्रणाली**—कही-कही कवि ने अक्षरो, शब्दाशो अथवा शब्दो की अनेक आवृत्तियाँ करके अभीष्ट अर्थ निकाला है; जैसे—

१. **तीन लल** बल करे तो सँग कौन भल अलि जान।
डेढ़ लल कल लेत नाही प्रान प्रीतम आन।
तीन कीकी रूप रति पति व्रज न दूजी आन।[८२]

'छल', 'तिल', 'छकी' शब्द उक्त पक्तियो के बड़े छपे अंशों से कवि ने इस प्रकार निकाले हैं - तीन लल—तीन बार 'लल' कहने से छह 'ल' हुए; अतः छह = छ + ल = छल। डेढ लल — डेढ़ बार 'लल' कहने से तीन 'ल' हुए, अत. तीन + ल = ति + ल = तिल। तीन कीकी—तीन बार 'की की' कहने से छह 'की' हुई, अत. छह + की = छ + की = छकी।

२. **ति पीपी** पल माँझ कीनो निपट जीव निरास[८३]।

यहाँ 'ति पीपी' से गोपी' का अर्थ इस प्रकार निकलता है—ति = तीन बार 'पीपी' कहने से हुआ छह 'पी,' अत छह + पी = छ + पी = छपी = छिपी। अब छिपी = छिपाना = गोपना = 'गोपी', क्योंकि 'गोपी' का अर्थ भी 'छिपायी', 'छपी' या 'छिपी' होता है।

ई. **गणित प्रणाली**—इनमे निश्चत सख्यावाले शब्द का प्रयोग करके, उसका सकेतार्थ केवल उस संख्या को ही मान लिया जाता है; जैसे—

१. **ग्रह, नक्षत्र अरु वेद अरध** करि को वरजै मुहि खात[८४]।

हमारे यहाँ ग्रहो की संख्या ९, नक्षत्रों की २७ और वेदो की ४ मानी गयी है। इनका योग ९ + २७ + ४ = ४० हुआ; अत ग्रह, नछत्र अरु वेद = ४०। इनका 'अरध' = आधा; ४० का आधा = २० या बीस (अर्द्धतत्सम रूप) = विष (तत्सम रूप)।

---

८१. लहरी. ५। ८२. लहरी. २१। ८३. लहरी. ३८। ८४. लहरी. २३।

२ **ग्रह, नछत्र अरु बेद** सबन मिलि तन प्रन करिकै बेचो[८५]।

इस पक्ति के 'ग्रह नक्षत्र अरु वेद' उक्त उदाहरण की तरह ही हैं, परतु अर्थ इनसे दूसरा ही निकाला गया है—ग्रह ९, नक्षत्र २७ और वेद ४, इनका योग हुआ ४०। ४० सेर का होता है एक मन, अत ४० मन = चित्त।

उ **क्रम प्रणाली**—कुछ पदो मे कवि ने तीन-तीन चार-चार शब्दो के क्रमानुसार अक्षरो के योग से अभीष्ट अर्थ-द्योतक शब्द बनाया है, जैसे—

चपला औ बराह रस आखर आद देख झपटाने[८६]।

इस पक्ति के प्रथम छह शब्दो से नया शब्द 'चकोर' इस प्रकार बनाया गया है—बराह = कोल। अब 'चपला', 'कोल' और 'रस' के प्रथम अक्षर (= आखर आद) जोडने से बनता है— 'चकोर'।

ऊ. **विपर्यय प्रणाली**—कुछ पदों मे सूरदास ने शब्दो के अक्षरो का क्रम 'उलटा' करके नया शब्द बनाया है, जैसे—

सारँग पलट पलट छबि दोई लै गौ आइ चुराइ[८७]।

यहाँ 'सारग' के अनेक अर्थो मे से कवि को अभीष्ट है 'लवा' पक्षी, फिर इसके अक्षरो का क्रम पलट कर नया शब्द बनाया गया है—लवा = वाल = बाल (ग्वाल-बाल)। इसी प्रकार 'छवि' = छब के अक्षरो का क्रम पलट कर 'बछ' शब्द बना जो 'वत्स' का अपभ्रश है। अत 'सारँग-पलट' का अर्थ हुआ 'ग्वाल-बाल' और 'पलट-छबि' का 'गोवत्स'।

ए **सम्मिलित प्रणाली**—अनेक पदो मे कवि ने उक्त छहो प्रणालियो मे से दो-एक को मिला दिया है अर्थात् अपने अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने के लिए उक्त प्रणालियो मे से एक से अधिक का आश्रय लिया है, जैसे—

१ **अत ते कर हीन माने तीसरो दो बार**[८८]।

इस पक्ति के शब्दो को लेकर कवि ने प्रहेलिका और गणित प्रणाली द्वारा 'कृतकृत्य' अर्थ इस प्रकार निकाला है = तीसरो = तीसरा = कृतिका नक्षत्र, क्योकि इसका स्थान नक्षत्रों में तीसरा माना जाता है। तीसरो दो बार = दो बार कृतिका कृतिका = कृतका कृतका। अब इन 'कृतका कृतका' को अत से हीन अर्थात् अत्यक्षर-रहित करने पर हुआ 'कृत कृत' = कृतकृत्य = धन्य होना = सफल होना, कृतकार्य होना।

२ **ग्रह नक्षत्र है बेद** जासु घर ताहि कहा सारग सम्हारो[८९]।

गणित प्रणाली के अनुसार ग्रह, नक्षत्र और वेद की सख्या का योग ४० होता है।

---

८५ लहरी ४८। ८६ लहरी ७२। ८७ लहरी ७८। ८८ लहरी १०१। ८९. लहरी १११।

इससे, पूर्वोद्धृत एक पक्ति मे कवि ने 'मन' = चित्त अर्थ निकाला है। अव इस उदाहरण में, पर्यायवाची प्रणाली द्वारा, 'मन' का सकेतार्थ 'मनि' = मणि निकाला गया है।

३. सिंधु-रिपु-हित तासु पतिनी भ्रात सिव कर जौन।
आदि कासो पदो बैंरी जान परत न तौन[१०] ॥

इस उदाहरण मे प्रथम दस शब्दो से पर्यायवाची और क्रम प्रणालियो द्वारा कवि ने 'मत्र' अर्थ इस प्रकार निकाला है—सिंधु-रिपु = समुद्र का शत्रु = अगस्त्य मुनि। अगस्त्य-हित = श्रीराम। तासु पतनी = श्रीराम की पत्नी = सीता। सीता भ्रात = सीता का भाई, मगल; क्योकि 'मंगल' की उत्पत्ति भी सीता की तरह पृथ्वी से ही मानी गयी है। सिव कर जौन = शिव जी के हाथ मे जो रहता है, त्रिशूल। अव 'मगल' और 'त्रिशूल' = त्रशूल का आदि अर्थात् पहला अक्षर मिलाने से वना 'मत्र'।

उक्त उदाहरणो से 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर' के कूट पदो की भाषा का अर्थ लगाने की पद्धति पर प्रकाश पडता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, संभव, है इसी प्रकार की दो-एक और प्रणालियाँ भी ज्ञात हो, परन्तु मुख्य ये ही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कूट पदो मे सूरदास ने एक ही शब्द की अनेक वार आवृत्ति की है। ऐसे शब्द अनेकार्थी होते है और प्राय प्रत्येक आवृत्ति मे उनका भिन्नार्थ लगता है, जैसे—

१. वोल न वोलिए व्रजचंद।
कौन है सतोष सव मिलि जानि आप अनद।
कहै सारँग सुत वदन सुनि रही नीचे हेर।
निरखि सारँग वदन सारँग सुमुख सदर फेर।
गहत सारँग रिपु सुसारँग दियौ सारँग सीस।
कियौं भूषन पुत्र सारँग सग सारँग दीस।
उदै सारँग जान सारँग गयौ अपने देस।
'सूर' स्याम सुजान सँग ह्वै चली विगत कलेस[११]।

इस पद मे 'सारँग' शब्द दस वार आया है और क्रमश इन अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है—१. समुद्र (सारँग-सुत=समुद्र का सुत, चद्रमा), २. कृष्ण, ३. कमल, ४. दीपक (सारँग रिपु = दीपक का शत्रु, वस्त्र), ५. कर-कमल, ६. मेघ, पयोधर, स्तन। ७. दीपक (पुत्र सारँग—दीपक का पुत्र, काजल), ८ कृष्ण, ९. सूर्य और १०. चद्रमा।

२. सारँग सारँगधरहि मिलावहु।
सारँग विनय करति सारँग सौ, सारँग दुख विसरावहु।
सारँग समय दहत अति सारँग, सारँगतिनहि दिखावहु।
सारँगपति[१२] सारँगधर जे है, सारँग जाइ मनावहु।

---

१०. लहरी. ११६। ११. लहरी. ५६। १२. पाठा. 'सारंगगति' सूरसागर २०९७।

सारँग-चरन सुभग-कर **सारँग**, **सारँग**-नाम बुलावहु ।
सूरदास **सारँग** उपकारिनि, **सारँग** मरत जियावहु[९३] ।

इस पद मे 'सारँग' शब्द सोलह बार प्रयुक्त हुआ है जिसके अर्थ क्रमश इस प्रकार है—१ श्रेष्ठ उर या हृदयवाली (सारँग= मयूर, 'मयूर'का पर्याय है 'वर्ही'=वरही=वर हिय = श्रेष्ठ हृदयवाली), २ (गिरि सारँगधर=गिरिधर), ३ अनत, असीम (सारँग= आकाश, अनत), ४. विष्णु, ५ ताप, काम-ताप (सारँग = सूर्य, तपन = ताप), ६ रात्रि, ७ कमल, हृदय-कमल, ८ कृष्ण, ९ दीप्ति, १०. दीपक, ११ नेह, स्नेह, १२. कमल, १३ कमल, १४ सखी (सारँग = अलि = सखी), १५ दुर्दशाग्रस्त, पीडित (सारँग = मृग = कुरग, फिर कुरग = बुरे रगवाला, कातिहीन, दुर्दशाग्रस्त, पीडित), १६ सखी ।

साराश—साराश यह है कि विषय के अनुसार सूरदास की भाषा के प्रमुख चार रूप सूर-काव्य मे मिलते हैं—सामान्य, मिश्रित, साहित्यिक और आलकारिक । प्रथम रूप मे तत्सम शब्द कुछ अधिक मिलते है, परन्तु एक तो उसमे मुहावरो-कहावतो का प्रयोग नही है और दूसरे, विन्यास भी बहुत अनगढ और शिथिल है । अतएव भाषा का यह रूप सूरदास की गौरव-वृद्धि मे बाधक ही है, सहायक नही । मिश्रित रूप मे तत्सम, अर्द्धतत्सम, और तद्भव रूप प्राय समान अनुपात मे मिलते है तथा विदेशी शब्दो का भी यत्र—तत्र प्रयोग करने मे कवि ने सकोच नही किया है । साथ ही, स्थान-स्थान पर मुहावरो-कहावतो के प्रयोग ने इस मिश्रित रूप को और भी सजीवता प्रदान की है । तत्कालीन जन-भाषा का परिचय ओर व्रजभाषा की प्रारभिक अवस्था का ज्ञान कराने की दृष्टि से यह भाषा-रूप विशेष महत्व का है ।

अतिम दोनो रूपो मे सस्कृत के तत्सम शब्दो की अधिकता है, अतएव इनमे विदेशी शब्दो का विशेष रूप से और तद्भव-अर्द्धतत्सम शब्दो का सामान्य रूप से, कम प्रयोग किया गया है । इस बात को ध्यान मे रखकर यदि साहित्यिक और आलकारिक भाषा-रूपो का अतर देखा जाय तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रथम मे तत्सम शब्दो के साथ-साथ तद्भव और अर्द्धतत्सम रूप तो मिल ही जाते है, प्रचलित विदेशी शब्दो को भी कवि ने रुचि से उसमे स्थान दिया है, परन्तु आलकारिक रूप मे सूरदास ने इनसे, विशेपकर विदेशी शब्दो से, बचने का ही प्रयत्न किया है ।

दूसरा अन्तर अलकारो के प्रयोग से सवध रखता है । भाषा के सामान्य रूप मे इनका प्रयोग नही के वरावर किया गया है, मिश्रित रूप मे कही-कही सरल अलकार मिलते हैं, साहित्यिक मे सामान्य अनुप्रासो की तो प्रचुरता है ही, अन्य अलकारो के साथ साथ साग रूपक वाले पद भी अनेक हैं, परन्तु अतिम रूप मे कवि ने अलकारो की झडी-सी लगा दी है । जिन पदो की भापा आलकारिक है उनके प्राय प्रत्येक चरण मे अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा अथवा रूपक मे से एक न एक अलकार अवश्य मिलता है । सक्षेप मे, कहा जा सकता है कि व्रजभापा के सभी रूपो पर सूरदास का पूरा पूरा अधिकार था और विपय के अनुसार भापा लिखने मे वे प्राय सर्वत्र सफल हुए हैं ।

---

९३. सा २०९७ ।

२. पात्र के अनुसार भाषा-रूप—

सूर-काव्य मे जितने पात्र आये है, स्थूल रूप से उनको तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है क. पौराणिक पात्र, ख गोकुल-वृदावन-वासी पात्र और ग. मथुरा-द्वारिका-वासी पात्र। इन तीनो वर्गों के पात्रो की भाषा मे जो अतर है उसकी भी विवेचना करना आवश्यक है।

क. पौराणिक-पात्र—जिन पौराणिक पात्रो की सूर-काव्य मे चर्चा है उनमे मुख्य पुरुष पात्र हैं—अबरीष, अर्जुन, ऋषभदेव, कपिल, जड़भरत, दशरथ, दुर्योधन, धृतराष्ट्र, नारद, परशुराम, परीक्षित, पुरुरवा, प्रहलाद, ब्रह्मा, भरत, भीष्म, महादेव, मैत्रेय, युधिष्ठिर, राम, रावण, लक्ष्मण, वामन, विदुर, विभीषण, शुकदेव, हनुमान आदि। और मुख्य स्त्री पात्र है – कुती, कैकेयी, कौशल्या, पार्वती, मदोदरी, सीता, सुमित्रा आदि। स्त्री और पुरुष, इन दोनो वर्गों के ये प्राय सभी पात्र कुलीन, योग्य और विद्वान हैं। इसलिए सामान्य स्थिति मे इन सभी की भाषा प्राय मिश्रित है। अंतर उसमे जिन कारणो से होता है, उनमे तीन प्रधान हैं। पहला है तात्विक विवेचन की स्थिति जिसके फलस्वरूप भाषा मे पारिभाषिक शब्द कुछ अधिक आ जाते हैं। इस प्रकार की भाषा के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। दूसरा कारण है पात्र का भावावेश जिसमे भाषा कभी-कभी साहित्यिक हो जाती है। इसका उदाहरण 'नमो नमो हे करुना-निधान' से आरभ होनेवाले पद मे मिलता है। परीक्षित द्वारा कहे गये इस पद की भाषा शुकदेव के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता के कारण साहित्यिक हो गयी है। तीसरा कारण है कवि की रुचि। जिन व्यक्तियो की कथा मे कवि ने विशेष रुचि नही ली, उनके काव्यो की भाषा सामान्य श्रेणी की है; परतु जिनमे कवि ने रुचि ली है—जैसे राम-कथा – उनके वक्तव्य विशेष स्थलो पर साहित्यिक भाषा मे भी हुए हैं। इस प्रकार के उदाहरण भी पीछे दिये जा चुके हैं।

निम्नलिखित पदो की भाषा को इन पौराणिक पात्रो की प्रतिनिधि भाषा कहा जा सकता है—

१. कह्यौ सुक श्री भागवत विचारि।
हरि कौ भक्ति जुगै जुग विरधै, आन धर्म दिन चारि।
चिता तजौ परीच्छित राजा सुनि सिख साखि हमार।
कमल नैन की लीला गावत कटत अनेक विकार।
सतजुग सत, त्रेता तप कीजै द्वापर पूजा चारि।
सूर भजन कलि केवल कीजै, लज्जा कानि निवारि[१४]।

२. ऐसी जिय न धरी रघुराइ।
तुम सौ प्रभु तजि मो सी दासी, अनत न कहुँ समाइ।
तुमरो रूप अनूप भानु ज्यौं, जब नैननि भरि देखौ।

१४. सा. २-२।

ता छिन हृदय-कमल प्रफुलित ह्वै, जनम सफल करि लेखौं।
तुम्हरे चरन-कमल सुख-सागर, यह ब्रत हौ प्रतिपलिहौ।
सूर सकल सुख छाँडि आपनौ, बन-बिपदा सँग चलिहौ[१५]।

३ वै लखि आए राम रजा।
जल कै निकट आइ ठाढे भए, दीसति बिमल ध्वजा।
सोवत कहा चेत रे रावन, अब क्यौ खात दगा।
कहति मदोदरि, सुनु पिय रावन, मेरी बात अगा।
तृन दसननि लै मिलि दसकधर, कठनि मेलि पगा।
सूरदास प्रभु रघुपति आए, दहपट होइ लँका[१६]।

ख. गोकुल-वृ दावन-वासियों की भाषा – नद, उपनद, वृषभानु और उनके समवयस्क अन्य गोप, कृष्ण, बलराम और उनके सखा, गोकुल-वृ दावन के प्रमुख पात्र हैं तथा कीर्ति, यशोदा और उनकी समवयस्क गोपियाँ, राधा और उसकी सखियाँ-सहेलियाँ प्रमुख स्त्री पात्र हैं। इन सभी पात्र-पात्रियो की भाषा प्राय मिश्रित है, परतु इसकी सबसे बडी विशेषता है मुहावरो-कहावतो का प्रयोग। साधारण वार्तालाप मे भी उपयुक्त अवसर पर इनकी भाषा से मुहावरो-कहावतो का प्रयोग स्वतत्रतापूर्वक किया गया है और भावावेश मे तो कवि ने इनकी झडी ही लगा दी है। इस द्वितीय प्रकार के भावावेश के कारण परिवर्तित भाषा-रूप के उदाहरण तो आगे दिये जायँगे, सामान्य स्थिति में इन पात्र-पात्रियो की प्रतिनिधि भाषा निम्नलिखित पदो मे मिलती है—

१ बोलि लियौ बलरामहिं जसुमति।
लाल, सुनौ हरि के गुन, काल्हहिं तै लँगरई करत अति।
स्यामहिं जान देहि मेरे सँग, तू काहै डर मानति।
मैं अपने ढिग तै नहिं टारौ जियहिं प्रतीति न आनति।
हँसी महरि वल की वतियाँ सुनि, वलिहारी या मुख की।
जाहु लिवाइ सूर के प्रभु कौ, कहति वीर के रुख की[१७]।

२ दै री मैया, दोहनी, दुहिहौं मैं गैया।
माखन खाए वल भयौ, करौ नद-दुहैया।
कजरी, धौरी सेदुरी, धूमरि मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ मैं तुरत ही, तू करि दै घैया।
ग्वालनि की सरि दुहत हौ, वूझहिं वल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तव लेति वलैया[१८]।

---

१५ सा. ९-३५। १६ सा. ९-११४। १७. सा. ४२५। १८. सा ६६६।

३. सखियनि यहै विचार परचौ ।
राधा कान्ह एक भए दोऊ, हमसौं गोप करचौ ।
बृंदाबन तैं अबही आई, अति जिय हरष बढ़ाए ।
औरै भाव, अग छवि औरै, स्याम मिले मन भाए ।
तब वह सखी कहति मैं बूझी, मोतन फिरि हँसि हेरचौ ।
जबहिं कही सखि मिले तोहिं हरि, तब रिस करि मुख फेरचौ ।
औरै बात चलावन लागी, मैं वाकौ पहिचानो ।
सूर स्याम कै मिलत आजुही, ऐसी भई सयानी[११] ।

४. तब बोले हरि नंद सौं, मधुरै करि बानी ।
गर्ग बचन तुमसौं कही, नहिं निहचै जानी ।
मैं आयौ ससार मैं, भुव - भार उतारन ।
तिनकौ तुम धनि धन्य हौ, कीन्हौ प्रतिपारन ।
मातु-पिता मेरै नही, तुमतैं अरु कोऊ ।
एक बेर ब्रज लोग कौ, मिलिहौ सुनौ सोऊ ।
मिलन-हिलन दिन चारि कौ, तुम तौ सब जानौ ।
मोकौ तुम अति सुख दियौ, सो कहा - बखानौ[१] ।

५. कहिबे जिय न कछू सक राखौ ।
लाँबी मेलि दई है तुमकौ, बकत रहौ दिन आखौ ।
जाकी बात कहौ तुम हमकौ, सु धौ कहौ को काँधी ।
तेरै कहौ पवन कौ भुस भयौ, बह्यौ जात ज्यौ आँधी ।
कत स्रम करत सुनत को ह्याँ है, होत जु बन कौ रोयौ ।
सूर इते पर समुझत नाहीं, निपट दई कौ खोयौ[२] ।

६. गुप्त मते की बात कहौ, जो कहौ न काहू आगैं ।
कै हम जानैं कै हरि तुमहूँ, इतनी पावहिं मागैं ।
एक बेर खेलत बृंदावन, कटक चुभि गयौ पाइ ।
कटक सौ कटक लै काढ्यौ, अपनै हाथ सुभाइ ।
एक दिवस बिरहत बन भीतर, मैं जु सुनाई भूख ।
पाके फल वै देखि मनोहर, चढे कृपा करि रूख ।
ऐसी प्रीति हमारी उनकी, बसतै गोकुल बास ।
सूरदास प्रभु सब बिसराई, मधुबन कियौ निवास[३] ।

---

११ सा १७२० । १. सा ३११४ । २ सा. ३५४० । ३. सा. ३८२२ ।

ऊपर के प्रायः सभी पद पात्र-पात्रियो की सामान्य मानसिक स्थिति मे कहे गये हैं और प्राय सभी की भाषा सरल और सादे ग्रामीण जीवन से मेल खाती है। इसमे प्रधानता तो अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो की ही है, परतु तत्सम शब्द भी वे ही प्रयुक्त हुए है जिनका उच्चारण बहुत सुगम है और जो उनकी भाषा मे घुलमिल गये हैं। इस प्रकार की सरलता का निर्वाह सूरदास जैसे सरल और आडबरहीन जीवन बितानेवाले कवि के ही वश की बात थी और अपनी इस सादगी मे भी वे कदाचित् बेजोड ही हैं।

(ग) **मथुरा-द्वारका-वासियों की भाषा**—अक्रूर, उद्धव, कस और उसके असुर सभासद, वसुदेव और अन्य यदुवशी मथुरा-द्वारकावासी पुरुष-पात्रो मे प्रमुख हैं एव देवकी, रुक्मिणी, सत्यभामा तथा अन्य पुरनारियाँ स्त्री पात्रो मे। गोकुल-वृदावन के नर-नारियो से इन नागरिक पात्र-पात्रियो की शिक्षा-दीक्षा निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और उसका प्रभाव इनकी भाषा पर पडना भी स्वाभाविक ही है। अत. मथुरा और द्वारिकावासी पात्र-पात्रियो की भाषा-मिश्रित भाषा-रूप की ओर तो कम, साहित्यिक की ओर अधिक झुकी हुई है, जैसे—

१. रथ पर देखि हरि-बलिराम।
निरखि कोमल चारु मूरति, निरखि मुक्ता-दाम।
मुकुट कुडल पीत पट छबि, अनुज भ्राता स्याम।
रोहिनी-सुत एक कुडल, गौर तनु सुख-धाम।
जननि कैसैं धर्‌यौ धीरज, कहति सब पुर-बाम।
बोलि पठयौ कस इनकौं, करै धौ कह काम।
जोरि कर बिधि सौं मनावति, आसिष दै दै नाम।
न्हात बार न खसै इनकौ, कुसल पहुँचै धाम।
कस कौ निरबस ह्वैहै, करत इन पर ताम।
सूर-प्रभु नँद-सुवन दोऊ हस-बाल उपाम[४]।

२. देखि री आवत वे दोऊ।
मनि कंचन की रासि ललित अति, यह उपमा नहिं कोऊ।
कीधौं प्रात मानसरवर तैं, उडि आए दोउ हस।
इनकौं कपट करै मथुरापति, तौ ह्वैहै निरबस।
जिनके सुने करत पुरुषारथ, तेई है की ओर।
सूर निरखि यह रूप माधुरी, नारि करति मन डोर[५]।

ये वाक्य मथुरा की नारियों के है जो श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्यो की कथा सुनकर उन पर पहले ही मुग्ध हो चुकी हैं और जो आज उनके दिव्य रूप का प्रत्यक्ष दर्शन करके

---

४. सा ३०२९। ५ सा ३०६१।

सौभाग्य सराहती है। स्पष्ट है कि यह भाषा सामान्य स्थिति की अपेक्षा प्रेम को मुग्धावस्था मे नि सृत हुई है और श्रीकृष्ण-बलराम के रूप के कारण कुछ अधिक साहित्यिक भी हो गयी है। फिर भी इन पदो मे मुहावरो का प्रयोग उनकी भाषा को अन्य पात्रों की भाषा से भिन्न कर देता है।

उद्धव की भाषा के दो रूप 'सूरसागर' मे मिलते है। जब वे गोपियो को शुष्क ज्ञान का उपदेश देते है, तब उनकी भाषा दार्शनिक विवेचन के नीरस, पारिभाषिकता-प्रधान सामान्य भाषा-रूप के निकट पहुँच जाती है. जैसे—

वे हरि सकल ठौर के वासी।
पूरन ब्रह्म अखंडित, मडित, पंडित मुनिनि बिलासी।
सप्त पताल ऊरध अध पृथ्वी, तल नभ बरुन बयारी।
अभ्यतर दृष्टी देखन कौ, कारन-रूप मुरारी।
मन बुधि चित अहँकार, दसेद्रिय प्रेरक थंभनकारी।
ताकै काज वियोग विचारत, ये अबला ब्रजनारी।
जाको जैसौ रूप मन रुचै, सो अपबस करि लीजै।
आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै।
षट दल अठ द्वादस दल निरमल, अजपा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, यौ मिलिहैं बनमाली।
एकादस गीता स्रुति साखी, जिहिं विधि मुनि समुझाए।
ते सदेस श्रीमुख गोपिनि कौ, सूर सु मधुप सुनाए[६]।

इसके विपरीत, जब वे गोपियो के प्रेम से प्रभावित होकर मथुरा लौटते है और श्रीकृष्ण से व्रजवासियो की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन करते हैं, तब भाषा का रूप पूर्णतया बदल जाता है। उसमें न अब प्रयास है, न शुष्कता और व्रजवासियों की सी मिश्रित शब्दावली मे ही वे कहने लगते है—

१. सुनियै ब्रज की दसा गुसाईं।
रथ की धुजा पीत-पट भूषन, देखत ही उठि धाईं।
जो तुम कही जोग की बाते, सो हम सबै बताईं।
स्रवन मूँदि गुन-कर्म तुम्हारे, प्रेम मगन मन गाईं।
औरौ कछू सँदेस सखी इक, कहत दूरि लौ आई।
हुतौ कछू हमहूँ सौं नातौ, निपट कहा बिसराई।
सूरदास प्रभु बन बिनोद करि, जे तुम गाइ चराईं।
ते गाईं अब ग्वाल न घेरत, मानौं भईं पराईं[७]।

---

६. सा १८६६। ७. सा. ४०९१।

२ कहाँ लौ कहिए ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगनि, जैसै दिवस बिहात ।
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत सब, मलिन बदन कृस गात ।
परम दीन जनु सिसिर हेम हत, अबुजगन बिनु पात ।
जो आवत देखि दूरि तै, उठि पूछत कुसलात ।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर चरननि लपटात ।
पिक चातक बन बसन न पावत, बायस बलि नहिं खात ।
सूर स्याम सदेसनि कै डर, पथिक न उहिं मग जात[८] ।

रसिकवर श्रीकृष्ण ऊधव के इस हृदय परिवर्तन को लक्ष्य करते है और उन्ही की सी शब्दावली मे व्रजवासियो के प्रति अपनी अविचल प्रीति की सात्वनामय घोषणा करते हैं—

ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाही ।
हस-सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुजन की छाही ।
वै सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाही ।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाही ।
यह मथुरा कचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाही ।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाही ।
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा-नद निबाही ।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताही[९] ।

मथुरा आने पर नागरिक वातावरण मे पर्याप्त समय विताने और शिक्षा ग्रहण करने के फलस्वरूप श्रीकृष्ण की भाषा मे अब परिवर्तन हो जाना चाहिए था; परन्तु उसका कोई सकेत उक्त पद की भाषा से नही मिलता । कारण है श्रीकृष्ण की मानसिक स्थिति । व्रजवासियो के निर्मल प्रेम के सामने वे जिस प्रकार मथुरा के राजसी वैभव को तुच्छ समझते है, उसी प्रकार उनकी स्मृति से पुलकित होने पर भाषा भी नागरिक सस्कार त्याग कर अपने मूल प्राकृतिक रूप मे ही सामने आती है ।

मथुरा-द्वारका के अन्य स्त्री-पुरुषो के, सामान्य स्थिति के वक्तव्य 'सूरसागर' मे नही के वरावर हैं । वे सव तो अव श्रीकृष्ण के परम प्रिय सपर्क का सुख भोग रहे हैं । अतएव उनके हर्षयुक्त हृदय से जो उद्‌गार निकलते है, उनकी भाषा मथुरा के नर-नारियो की भाषा से ही मिलती-जुलती है, जिसके उदाहरण आगे दिये जायँगे ।

इ मनोभावो के अनुसार भाषा-रूप—

हर्ष-शोक, प्रेम-घृणा, क्रोध-ईर्ष्या आदि मनोभाव विशेष परिस्थिति मे विविध कारणों से सजग होकर जिस प्रकार जीवन का सामान्य क्रम परिवर्तित कर देते है, उसी प्रकार

---

८. सा. ४११९ । ९. सा. ४१५७ ।

उसकी नियमित गति मे भी तीव्रता ला देते है। भाव-विशेष की सजगता-जन्य इस परिवर्तन का पात्र-पात्री की भाषा पर स्पष्ट प्रभाव पडता है। सूरदास ने श्रीकृष्ण की कथा को जिस रूप मे अपनाया है उसमे अतिशय सुख के अनेक अवसर हैं। द्रौपदी की लाज-रक्षा नद-गृह मे पुत्र-जन्म, अनेक आपत्तियो से उसकी रक्षा, कस-वध के पश्चात् भय और सकट से प्रजा का मुक्त होना, बारह वर्ष से बिछुडे पुत्रो से वसुदेव देवकी की भेंट आदि के साथ साथ प्रिय समागम के अनेक सुखद प्रसगो की चर्चा सूर-काव्य मे मिलती है। सूरदास ने अपनी ओर से तो इन प्रसगो का वर्णन असाधारण उल्लास से किया ही हैं, साथ साथ ऐसे अवसरो पर हर्षातिरेक और कृतज्ञता की जो लहर सबधित पात्र-पात्रियो के हृदय-सागर मे हिलोरें लेती है, भाषा के माध्यम से वह पाठक को भी आनदसिक्त करने में समर्थ है, जैसे—

१. उठी सखी सब मगल गाइ।
जागु जसोदा, तेरै बालक उपज्यौ, कुँवर कन्हाइ।
जो तू रच्यौ-सच्यौ या दिन कौ, सो सब देहि मँगाइ।
देहि दान बदीजन गुनि-गन, ब्रज-बासिनि पहराइ।
तब हँसि कहति जसोदा ऐसैं, महरहिं लेहु बुलाइ।
प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ[10]।

२ जल तै आए स्याम तब, मिले सखा सब धाइ।
मातु-पिता दोउ धाइ कै, लीन्हौ कठ लगाइ।
फेरि जन्म भयौ कान्ह, कहत लोचन भरि आए।
जहाँ तहाँ ब्रज-नारि गोप आतुर ह्वै धाए।
अकम भरि भरि मिलत है, मनु निधनी धन पाइ।
मिली धाइ रोहिनि जननि, चूमति लेति बलाइ।
सखा दौरि कै मिले, गए हरि हम पर रिसि करि।
धनि माता, धनि पिता, धन्य सो दिन जिहि अवतरि[11]।

३. गोविंद गोकुल जीवन मेरे।
जाहि लगाइ रही तन-मन-धन, दुख भूलत मुख हेरै।
जाके गर्व बच्यौ नहिं सुरपति, रह्यौ सात दिन घेरे।
ब्रज-हित नाथ गोवर्धन धारयौ, सुभग भुजनि नख नेरैं।
जाकौ जस रिषि गर्ग बखान्यौ, कहत निगम नित टेरे।
सोइ अब सूर सहित संकर्षन पाए जतन घनेरे[12]।

---

१०. सा. १०-१४। ११. सा. ५८९। १२. सा. ३११५।

४ आजु बजाई मुरली मनोहर, सुधि न रही कछु तन-मन मैं ।
मैं जमुना-तट सहज जाति ही, ठाढे कान्ह बृँदाबन मैं ।
नाना राग-रागिनी गावत, धरे अमृत मृदु बैननि मैं ।
सूर निरखि हरि अग त्रिभगी, वा छबि भरि लियौ नैननि मैं[१३] ।

५ धाइ मिले पितु-मात कौं यह कहि मैं निजु तात ।
मधुरै दोउ रोवन लगे, जिन सुनि कस डरात ।
. . . .
निहचै जननी जानि कठ धरि रोवन लागी ।
तब बोले बलराम, मातु, तुम तै को भागी ।
बार-बार देवै कहै, गोद खिलाए नाहिं ।
द्वादस बरस कहाँ रहे, मातु-पिता बलि जाहिं[१४] ।

इस सभी पदो में सूरदास के विभिन्न पात्र-पात्रियो के विविध अवसरो पर व्यक्त किये गये हर्षोद्गार हैं । अतिम पद में माता देवकी प्रिय पुत्र को बारह वर्ष पश्चात् ललक कर कठ लगाती है, परतु दीर्घकालीन बदी जीवन से मुक्ति, कस के अत्याचारो से मुक्ति, लाल के प्रिय दर्शन का आनद और उसको गोद मे खिलाने से वचित रहने, बाल क्रीडा का सुख न देख सकने के पश्चाताप, इन सब सम्मिलित भावो के सहसा उदीप्त हो जाने से उसके अश्रु भी तब तक नही थमते जब तक श्रीकृष्ण सकट के दिवसो के समाप्त हो जाने और भावी जीवन के सभी प्रकार से सुखमय होने का परम सतोषमय आश्वासन नही दे देते—

पुनि पुनि बोधत कृष्न, लिखौ मेटै नहिं कोई ।
जोइ जोइ मन की साध कही करिहौ मैं सोई ।
जे दिन गए सु तौ गए अब सुख लूटौ मातु ।
तात नृपति रानी जननि जाके मोसौ तात ।
जो मन इच्छा होइ तुरत देखौ मैं करिहौं ।
गगन धरनि पाताल जात कतहूँ नहिं डरिहौ ।
मातु हृदय की कहो तब, मन बाढ्यौ आनद ।
महर सुवन मैं तौ नही, मै वसुदेव कौ नद ।
राज करौ दिन बहुत जानि कै है अब तुमकौं ।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि देउँ मथुरा घर-घर कौं ।

---

१३. स.. १३६५ । १४. सा ३०९० ।

रमा सेवकिनि देउँ करि, कर जोरैं दिन जाम।
अब जननी जनि दुख करौ, करौ न पूरन काम[१५]।

श्रीकृष्ण के इन परम संतोषदायक वचनो को सुनकर वसुदेव-देवकी ही नही, समस्त भक्तजन भी आश्वस्त हो जाते है और स्वय कवि हर्षातिरेक से गा उठता है—

तब बसुदेव हरषित गात।
स्याम रामहि कठ लाए, हरषि देवै मात।
अमर दिवि दुदुभी दीन्ही, भयौ जैजैकार।
दुष्ट दलि सुख दियौ सतनि, ये बसुदेव कुमार।
दुख गयौ बहि हर्ष पूरन, नगर के नर-नारि।
भयौ पूरब फल सँपूरन, लह्यौ सुत दैत्यारि।
तुरत विप्रनि वोलि पठये, धेनु कोटि मँगाइ।
सूर के प्रभु ब्रह्म पूरन, पाइ हरखे राइ[१६]।

पात्र-पात्रियो के हृदय मे असाधारण आनद का जो स्रोत उमडता है, उसको व्यक्त करने वाले निजी वक्तव्य सूर काव्य मे अधिक नही है। इसके कई कारण है। सुख के ऐसे व्यक्तिगत अवसरो को सूरदास ने बड़ी व्यापक दृष्टि से देखा है और उन्हे समस्त लोक के लिए आनंदकारी समझा है। दूसरी बात यह है कि ऐसे अवसरो पर लोक का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वयं कवि ने बड़े विस्तार से हर्षोद्‌गार व्यक्त किये है जिनमे पात्रो की आतरिक प्रफुल्लता भी व्यजित है। इसका उदाहरण अतिम—'तब बसुदेव हरषित गात' से आरभ होनेवाले—पद मे मिलता है। इन सभी पदो में भाषा का मिश्रित रूप ही दिखायी देता है। व्यक्ति को अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते समय भाषा का ध्यान रहता ही नही। यही कारण है कि सरल और स्वाभाविक भाषा मे ही सूरदास ने ऐसे अधिकाश पद लिखे है। परतु जिन पदो मे श्रीकृष्ण के दर्शन से व्रज अथवा मथुरा- वासियो की प्रसन्नता प्रकट की गयी है अथवा स्वय उन्ही के मुख से उनके मोहक रूप के प्रति आसक्ति अभिव्यक्त करायी गयी है और उसकी असाधारणता के सबध मे भी कुछ सकेत किये गये हैं, वहाँ भाषा मिश्रित की अपेक्षा साहित्यिक अधिक हो गयी है। श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन पर मथुरा की नारियो ने उनका परिचय देते हुए जो पद पीछे कहे है, उनकी भाषा से इस कथन की पुष्टि होती है।

हर्षोद्‌गारो की अपेक्षा दुख और वियोग की स्थितियो मे प्रकट किये गये विचार वाले पदो की सख्या बहुत अधिक है। सूर-काव्य मे उस सगुण ब्रह्म की लीलाएँ गायी गयी हैं जो भू-लोक-वासियो के दुख से द्रवित होकर अवतार लेता है। अतएव सगुणोपासक भक्त-कवि की रचनाओ मे ऐसे पदो की अधिकता होना स्वाभाविक ही था। बाल्यावस्था मे श्रीकृष्ण को जब-जब सकटो का सामना करना पडा, तब तब माता यशोदा,

---

१५. सा ३०९०। १६. सा. ३०९१

ये दोउ भैया जीवन हमरे, कहति रोहनी रोई।
धरनी गिरति, उठति अति ब्याकुल, कहि राखत नहि कोई।
निठुर भए जब तैं यह आयौ, घरहू आवत नाहिं।
सूर कहा नृप पास तुम्हारौ, हम तुम बिनु मरि जाहिं [२१]।

३. मोहन नैंकु बदन-तन हेरौ।
राखौ मोहिं नात जननी कौ, मदन गुपाल लाल मुख फेरौ।
पाछैं चढौ बिमान मनोहर, बहुरौ ब्रज मैं होत अँधेरौ।
बिछुरन भेंट देहु ठाढे ह्वै, निरखौ घोष जनम कौ खेरौ।
समदौ सखा स्याम यह कहि कहि, अपने गाइ-ग्वाल सब घेरौ।
गए न प्रान सूर ता अवसर, नद जतन करि रहे घनेरौ [२२]।

४. कहा हौं ऐसे ही मरि जैहौं।
इहिं आँगन गोपाल लाल कौ, कबहुँ कि कनिया लैहौं।
कब वह मुख बहुरौ देखौगी, कह वैसौ सचु पैहौं।
कब मोपै माखन माँगैगे, कब रोटी धरि दैहौं।
मिलन आस तन प्रान रहत हैं, दिन दस मारग ज्वैहौं।
जौ न सूर आइहैं इते पर, जाइ जमुन धँसि लैहौं [२३]।

प्राण-प्रिय पुत्र का मथुरा-प्रवास माता यशोदा के जीवन का सबसे दुखमय प्रसग था, परन्तु उसमे आशा की एक किरण शेष थी। वह यह कि अनेकानेक आपत्तियो से जिस प्रकार श्रीकृष्ण की पहले रक्षा हो चुकी है, उसी प्रकार कस को मार कर पिता नद के साथ वे इस बार भी सकुशल ब्रज लौट आयेंगे। परन्तु माता यशोदा को जीवित रखनेवाली यह आशा उस दिन अधकारमयी निराशा मे परिणत हो गयी जब उसने पति को अकेले ही घर लौटते देखा। पुत्र के वियोग के अनत दुख से अब उसका हृदय फटने लगा जिससे पति पर वह बार-बार खीझती और झुंझलाती है। इस अवसर पर यशोदा की भाषा का परिचय निम्नलिखित पदो से मिलता है –

१. जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौ, कैसे मारग सूझै।
इक तौ जरी जात बिनु देखें, अब तुम दीन्ही फूंकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूक।
धिक तुम धिक ये चरन अहो पति, अध बोलत उठि धाए।
सूर-स्याम-बिछुरन की हम पै दन बधाई आए [२४]।

---

२१. सा. २९७८। २२. सा. २९९०। २३. सा. ३०११। २४ सा. ३१३४।

२. कह ल्यायौ तजि प्रान जिवन धन ।
राम कृष्न कहि मुरछि परी धर, जसुदा देखत ही पुर लोगन ।
विद्यमान हरि-वचन स्रवन सुनि, कैसे गए न प्रान छूटि तन ।
सुनी न कथा राम-दसरथ की, अहौ न लाज भई तेरे मन ।
मद हीनमति भयौ नंद अति, होत कहा पछिताने छन-छन ।
सूर नद फिरि जाहु मधुपुरी, ल्यावहु सुत करि कोटि जतन धन[२५] ।

श्रीकृष्ण के व्रजवास-कालीन सकटो से उनके सखाओ और उनकी प्रिय व्रज-बालाओ को अत्यत दुख होना तो स्वाभाविक था; परतु उनके तत्सवधी उद्‌गारवाले पद सूर-काव्य मे वहुत कम है। हाँ, प्रेमलीलाओ के अवसर पर प्रियतम के अतर्धान हो जाने पर उनकी सुकुमार प्रेमिकाएँ जिस वियोग-जन्य दुख का अनुभव करती है, उसके द्योतक वक्तव्यो की भाषा का परिचय नीचे लिखे पदो से मिल सकता है—

१. सखी मोहिं मोहनलाल मिलावै ।
ज्यौ चकोर चदा कौ, कीटक भृंगी ध्यान लगावै ।
विनु देखे मोहिं कल न परति है, यह कहि सवनि सुनावै ।
विनु कारन मैं मान कियौ री, अपनेहि मन दुख पावै ।
हा-हा करि-करि, पायनि परि-परि, हरि-हरि टेर लगावै ।
सूर स्याम विनु कोटि करौ जौ, और नही जिय आवै[२६] ।

२. अहो कान्ह, तुम्हैं चहौ, काहै नहिं आवहु ।
तुमही तन, तुमही धन, तुमही मन भावहु ।
कियौ चहौ अरस-परस, करौं नही माना ।
सुन्यौ चहौं स्रवन, मधुर मुरली की ताना ।
कुंज-कुंज जपत फिरौ, तेरी गुन-माला ।
सूरज-प्रभु वेगि मिलौ, मोहन नँदलाला[२७] ।

परतु प्रियतम कृष्ण को मथुरा जाते देखकर कोमल कलेवरा गोपियो का सुकुमार और प्रेमपूर्ण हृदय असह्य वियोग का भार सहन नही कर पाता और निम्नलिखित शब्दो मे विलख उठता है—

१. चलन कौ कहियत है हरि आज ।
अवही सखी देखि आई है, करत गवन कौ साज ।
कोउ इक कंस कपट करि पठयौ, कछु संदेस दै हाथ ।
सु तौ हमारौ लिये जात है, सरवस अपनै साथ ।

---

२५. सा. ३१३९ । २६. सा. ११९४ । २७. सा. ११९७ ।

सो यह सूल नाहि सुनि सजनी, सहियै धरि जिय लाज।
धीरज जात, चलौ अबही मिलि, दूरि गऐ कह काज।
छाडौ जग जीवन की आसा, अरु गुरुजन की कानि।
बिनती कमल-नयन सौ करियै, सूर समै पहिजानि[२८]।

२ पाछै ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पायँ।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाय।
पवन न भई, पताका अबर, भई न रथ के अग।
धूरि न भई चरन लपटाती, जाती उहँ लौ सग।
ठाढी कहा, करौ मेरी सजनी, जिहि बिधि मिलहि गुपाल।
सूरदास-प्रभु पठै मधुपुरी, मुरझि परी ब्रजबाल[२९]।

अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण के मथुरा जाते समय माता यशोदा के वियोग-वर्णन मे ही कवि का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहा है। इसलिए व्रजवासियो के तत्सबधी कथन वाले पद इस प्रसंग मे अधिक नही मिलते। परतु आगे चलकर 'सूरसागर' मे गोपियो के विरह-वर्णन को कवि ने बहुत विस्तार दिया है और प्राय प्रत्येक पद मे कोई न कोई ऐसी मार्मिक उक्ति पाठक को अवश्य मिल जाती है जिससे वह कवि की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाता है। वियोगिनी व्रज-बालाओ के विरह-वर्णन वाले इन पदो को स्थूल रूप से दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—प्रथम मे उनके पारस्परिक वचन हैं और द्वितीय मे अपनी दयनीय दशा का वर्णन उन्होने उद्धव से किया है। प्रथम वर्ग के कुछ उदाहरण ये हैं—

१ इहिं बिरियाँ बन तै ब्रज आवत।
दूरहि तै वह बेनु अधर धरि, बारबार बजावत।
कबहुँक काहूँ भाँति चतुर चित, अति ऊँचे सुर गावत।
कबहुँक लै लै नाम मनोहर, धौरी धेनु बुलावत।
इहिं बिधि बचन सुनाइ स्याम घन, मुरछे मदन जगावत।
आगम सुख उपचार बिरह-जुर, बासर अत नसावत।
रचि रुचि प्रम पियासे नैननि, क्रम क्रम बलहि चढावत।
सूर सकल रसनिधि सुदरघन, आँनद प्रगट करावत[३०]।

२. फिरि व्रज वसौ गोकुलनाथ।
अब न तुमहिं जगाइ पठवै, गोधननि के साथ।
बरजै न माखन खात कबहूँ, दह्यौ देत लुटाइ।

२८. सा २९८३। २९ सा २९९९। ३०. सा. ३२०१।

अब न देहि उराहनौ, नँद-घरनि आगै जाइ।
दौरि दाँवरि देहिं नहिं, लकुटी जसोदा पानि।
चोरी न देहिं उघारि कै, औगुन न कहिहै आनि।
कहिहै न चरननि देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहै न करन सिंगार कबहूँ, वसन जमुना-कूल।
करिहै न कबहूँ मान हम, हठिहै न माँगत दान।
कहिहै न मृदु मुरली बजावन, करन तुम सौ गान।
देहु दरसन नद-नदन, मिलन की जिय आस।
सूर हरि के रूप कारन मरत लोचन प्यास[31]।

३. सखी इन नैननि तें घन हारे।
बिनही रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग दुख-पावस के मारे।
दुरि-दुरि बूँद परति कचुकि पर, मिलि अजन सौ कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरत धरि न्यारे।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँडत, डर लागत अँधियारे।
बूडत ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे[32]।

४. अब यह तनहिं राखि कह कीजै।
सुन री सखी, स्यामसुदर बिनु, बाँटि विषम विष पीजै।
कै गिरिऐ गिरि चढि सुनि सजनी, सीस सकरहि दीजै।
कै दहिऐ दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै।
दुसह वियोग बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे सोचि सोचि कर मीजै[33]।

इसी प्रकार के लगभग ढाई सौ पदो मे गोपियो के हृदयस्पर्शी वचन हैं जो श्रीकृष्ण के वियोग-जन्य दुख से अत्यत व्यथित होकर उन्होने परस्पर कहे है। इनके पश्चात्, उद्धव के आगमन पर और उनका उपदेश सुनकर वे अपनी अनन्य प्रीति की दृढता का परिचय देती हुई असह्य विरह-व्यथा का निवेदन करती है—

१. और सकल अंगनि तें ऊधौ, अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिराति सिराति न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी।
मग जोवत पलकौ नहिं लावति, विरह-विकल भइँ भारी।
भरि गई विरह वयारि दरस बिनु, निसि दिन रहत उघारी।

---

३१. सा. ३२२८। ३२. सा. ३२३४। ३३. सा. ३३६२।

ते अलि अब ये ज्ञान-सलाकैं, क्यौं सहि सकति तिहारी।
सूर जु अजन आँजि रूप रस, आरति हरहु हमारी[३४]।

२. बहुत दिन गये ऊधौ, चरन-कमल सुख नही।
दरस हीन दुखित दीन, छिन-छिन बिपदा सही।
रजनी अति प्रेम पीर, बन गृह मन धरै न धीर।
बासर मग जोवत उर, सरिता बही नैन-नीर।
नलिनी जनु हेम घात, कपित तन कदलि पात।
लोचन जल पावस भयौ, रही री कछु समुझि बात।
जौ लौं रही अवधि आस, दिन गनि घट रही स्वास।
अब बियोग बिरहनि तन तजिहै कहि सूरदास[३५]।

३. ऊधौ, हमहिं कहा समुझावहु।
पसु-पछी सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु।
त्रिन न चरत गो, पिवत न सुत पय ढूँढत बन-बन डोलैं।
अलि कोकिल दै आदि बिहगम, भाँति भयानक बोलैं।
जमुना भई स्याम स्यामहिं बिनु, इदु छीन छय रोगी।
तरुवर पत्र-बसन न सँभारत, विरह बृच्छ भए जोगी।
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यौं मीन।
सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि-आस मैं लीन[३६]।

४ नदनँदन सौं इतनी कहियौ।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि डारचौ, तद्यपि सुरति किए चित रहियौ।
तिनका-तोर करहु जनि हमसौं, एक बात की लाज निबहियौ।
गुन औगुननि दोष नहिं कीजतु, हम दासिनि की इतनी सहियौ।
तुम विन प्रान कहा हम करिहैं, यह अवलब न सुपनेहु लहियौ।
सूरदास पाती लिखि पठई, जहाँ प्रीति तहँ ओर निबहियौ[३७]।

५ (ऊधौ) देखत हौ जैसे ब्रजवासी।
लेत उसाँस नैन जल पूरत, सुरिरि सुमिरि अविनासी।
भूलि न उठति जसोदा जननी, मनौ भुवगम डासी।
छूटत नही प्रान क्यौं अटके, कठिन प्रेम की फाँसी।
आवत नही नंद मदिर मैं, भयौ फिरत वनवासी।

---

३४. सा ३५७०। ३५. सा ३६०५। ३६. सा. ३७९८। ३७. सा. ४०६६।

परम मलीन धेनु दुर्बल भई, स्याम-विरह की त्रासी।
गोपी-ग्वाल-सखा बालक सब कहूँ न सुनियत हाँसी[३८]।

यह तो हुई श्रीकृष्ण के जीवन से सबधित व्यक्तियो के वियोग-जन्य दुख की बात जो 'सूरसागर' के दशम स्कंध के मुख्य विपयो मे प्रधान है। इसके पूर्व, प्रथम और नवम स्कधो मे भी संकट मे पडे कुछ पात्र-पात्रियो की करुणोक्तियाँ वहुत मार्मिक हैं—

१. राखौ पति गिरिवर-गिरधारी।
अब तौ नाथ, रह्यौ कछु नाहिन, उघरत, नाथ अनाथ पुकारी[३९]।

२. रघुनाथ पियारे आजु रहौ (हो)।
चारि जाम बिस्राम हमारै, छिन-छिन मीठे बचन कहौ (हो)।
वृथा होहु वर बचन हमारौ, कैकई जीव कलेस सहौ (हो)।
आतुर ह्वै अब छाँड़ि अवधपुर, प्रान-जिवन कित चलन कहौ (हो)।
बिछुरत प्रान पयान करैंगे, रहौ आजु पुनि पथ गहौ (हो)।
अब सूरज दिन दरसन दुरलभ, कलित कमल कर कठ गहौ (हो)[४०]।

३. फिरत प्रभु पूछत वन-द्रुम वेली।
अहो बंधु, काहूँ अवलोकी, इहिं मग वधू अकेली ?
अहो बिहग, अहो पन्नग-नृप या कंदर के राइ।
अबकै मेरी बिपति मिटावौ, जानकि देहु वताइ[४१]।

४. मैं परदेसिनि नारि अकेली।
बिनु रघुनाथ और नहिं कोऊ, मातु-पिता न सहेली।
रावन भेष धरयौ तपसी कौ, कत मैं भिच्छा मेली।
अति अज्ञान मूढ-मति मेरी, राम-रेख पग पेली।
विरह-ताप तन अधिक जरावत, जैसै दव द्रुम वेली।
सूरदास प्रभु वेगि मिलावौ, प्रान जात है खेली[४२]।

दुख, शोक, वियोग और मानसिक क्लेश की स्थिति मे कहे गये इन सभी उद्धरणों की भाषा सामान्यतया मिश्रित है। उसमे तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो का प्राय समान प्रयोग किया गया है और विदेशी शब्द भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए है। कहावतों का प्रयोग इनमे कम है; परतु मुहावरो के प्रयोग मे उपयुक्तता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। दुख-शोक का आवेग जब असह्य हो जाता है और पात्र-पात्री को प्रलाप के आवेश मे अपनी स्थिति तक का पता नही रहता, तब भाषा मे तत्सम शब्दो की कुछ कमी हो

---

३८. सा. ४०९१। ३९. सा. १-२४८। ४०. सा. ९-३३। ४१. सा. ९-६४। ४२. सा ९-९४।

जाती हैं और भाषा का रूप जन-बोली के अधिक निकट जान पडता है। इसके विपरीत, पूर्व क्रीडाओ और सयोग-लीलाओ की स्मृति जहाँ सजग हो जाती है, वहाँ तत्सम शब्दो की सख्या मिश्रित रूप से कुछ बढ जाती है। इसी प्रकार गोपियो ने पूर्व स्मृति के रूप मे प्रियतम श्रीकृष्ण के उस मनोहर और दिव्य रूप की जहाँ चर्चा की है, जिस पर आसक्त होकर वे हृदय हार बैठी थी और लोक-लाज, कुल-कानि को भी उन्होने सहर्ष त्याग दिया था, वहाँ भाषा का रूप पूर्णतया साहित्यिक हो जाता है, यद्यपि उसमे अलकारो की योजना नही के बराबर है। आलकारिक भाषा के उदाहरण वियोग मे न हो, ऐसा तो नही है, परतु उनकी सख्या बहुत कम है। गोपियो के साग रूपको मे इस प्रकार की भाषा मिलती है, यद्यपि शुद्ध रूप मे उनमे स्व-दुख वर्णन नही हैं।

सुख-दुख की सामान्य स्थितियो मे प्रकट किये गये इन विचारो के अतिरिक्त आश्चर्य, प्रोत्साहन, उपालभ, क्रोध, पश्चाताप, वीरावेश, व्यग्य-विनोद आदि वृत्तियो और भावो के उमडने पर जिस प्रकार की भाषा विभिन्न पात्र पात्रियो के मुख से निकलती है, उसकी भी सूरदास को पूरी जानकारी थी। अतएव प्रत्येक मनोभाव के उपयुक्त शब्दा-वली का उन्होने सर्वत्र प्रयोग किया है।

क **आश्चर्ययुक्त स्थलो की भाषा**—किसी के असाधारण कृत्य को देखकर सामान्य स्त्री पुरुषो को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। स्त्रियो की भाषा ऐसी स्थिति में सामान्यतया मुहावरेदार हो जाती है, परतु बालको की शब्दावली मे उनकी प्रकृति की छाया ही प्रतिबिबित होती है। यदि व्यक्ति आश्चर्य के अनेक कार्य कर चुका हो, तो उसका नवीन अद्भुत कृत्य देखते ही पूर्व कर्मों का स्मरण भी प्राय हो आता है जिससे हर्ष का अन्य भाव भी सजग होकर उक्ति को प्रशसात्मक बना देता है। ऐसे स्थलो पर भाषा मे तत्सम शब्दो की कुछ अधिकता हो जाती है। सूरदास के निम्नलिखित पदो मे भाषा के ये तीनो रूप मिलते हैं।

१ देखौ री जसुमति बौरानी।
घर घर हाथ दिवावति डोलति, गोद लिए गोपाल बिनानी।
जानत नाहिं जगतगुरु माधौ, इहिं आए आपदा नसानी।
जाकौ नाउँ सक्ति पुनि जाकी, ताकौ देत मत्र पढि पानी।
अखिल ब्रह्माड उदरगत जाके, जाकी जोत जल-थलहि समानी।
सूर सकल साँची मोहिं लागति जो कछु कही गर्ग मुख बानी[४३]।

२ ब्रज मैं को उपज्यौ यह भैया।
सग सखा सब कहत परस्पर, इनके गुन अगमैया।
जब तैं ब्रज अवतार धर्यौ इन, कोउ नहिं घात करैया।
तृनावर्त पूतना पछारी, तब अति रहे नन्हैया।

४३ सा. १-२५८।

कितिक बात यह वका विदारयौ, धनि जसुमति जिन जैया।
सूरदास प्रभु की यह लीला, हम कत जिय पछितैया[४४]।

३. चकित देखि यह कहै नर-नारी।
धरनि-अकास वरावरि ज्वाला, झपटति लपटि करारी।
नहिं वरष्यौ, नहिं छिरक्यौ काहू, कहँ धौ गई बिलाइ।
अति आघात करति बन-भीतर, कैसे गई बुझाइ[४५]।

४. व्रज-वनिता सव कहति परस्पर, नद महर कौ सुत वड़ वीर।
देखौ धौं पुरुषारथ इहिंकौ अति कोमल है स्याम सरीर।
गयौ पताल उरगि गहि आन्यौ, ल्यायौ तापर कमल लदाइ।
कमल-काज नृप व्रज-मारत हो, कोटि जलज तिहिं दिए पठाइ।
दावागिनि नभ-धरनि बरावरि, दसहुँ दिसा तें लीन्हौ घेरि।
नैन मुँदाइ कहा तिहिं कीन्हौ, कहूँ नही जो देखै हेरि।
ये उतपात मिटत इनही पैं, कंस कहा वपुरौ है छार।
सूर-स्याम अवतार वडौ व्रज, येई है कर्त्ता संसार[४६]।

श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्य देखकर व्रजवासियो को जो आश्चर्य होता है, वही उक्त पदो मे ~भिव्यक्त है। प्रथम और तृतीय पदो मे व्रज-वालाओ की उक्तियाँ हैं। भाषा की दृष्टि से पहले पद मे जहाँ अनेक मुहावरो का प्रयोग है, वहाँ तृतीय की भाषा सीधी-सादी है। दूसरे पद मे वालको का कथन भी इसी प्रकार की सरल भ षा मे है। अतिम पद मे हैं तो गोपियो के पारस्परिक वचन, परन्तु, श्रीकृष्ण के आश्चर्यजनक पूर्व कृत्यो की स्मृति ने उनके मानस मे हर्ष का ऐसा संचार किया है कि वाक्य प्रशसात्मक हो गये हैं और भाषा मे तत्सम शब्दों का, अन्य पदो की अपेक्षा, अधिक प्रयोग हुआ है।

ख. प्रोत्साहनयुक्त स्थलो की भाषा—कार्य विशेप मे सोत्साह प्रवृत्त करने के लिए कहे गये वाक्य 'सूरकाव्य' मे मुख्यतया सयोग लीला प्रसंग मे मिलते हैं। राधा किसी कारण से मान करती है और कृष्ण मनाने मे जव असफल होते हैं, तव दूती दोनो को मिलाने का दायित्व अपने ऊपर लेती है। प्रिया की मान युक्त उदासीनता से खिन्न कृष्ण को वह अपने वचनो से उत्साहित करती है, राधा से कभी चाटुकारिता प्रधान वचन कहकर उसके रूप-गुण की प्रशसा करती है, कभी मान करने पर सम्भाव्य अनिष्ट की ओर से शुभाकाक्षिणी वनकर, उसको सचेत करती है और इस प्रकार वडी आत्मीयता से उसके मान को अनुचित वताती है। इन प्रोत्साहन वाक्यो की भाषा का अनुमान निम्नलिखित उद्धरणो से हो सकता है—

---

४४ सा. ४२८। ४५ सा ५९८। ४६ सा. ६००

जाती हैं और भाषा का रूप जन-बोली के अधिक निकट जान पडता है। इसके विपरीत, पूर्व क्रीडाओ और सयोग-लीलाओ की स्मृति जहाँ सजग हो जाती है, वहाँ तत्सम शब्दो की सख्या मिश्रित रूप से कुछ बढ जाती है। इसी प्रकार गोपियो ने पूर्व स्मृति के रूप मे प्रियतम श्रीकृष्ण के उस मनोहर और दिव्य रूप की जहाँ चर्चा की है, जिस पर आसक्त होकर वे हृदय हार बैठी थी और लोक-लाज, कुल-कानि को भी उन्होने सहर्ष त्याग दिया था, वहाँ भाषा का रूप पूर्णतया साहित्यिक हो जाता है, यद्यपि उसमें अलकारो की योजना नही के बराबर है। आलकारिक भाषा के उदाहरण वियोग मे न हो, ऐसा तो नही है, परतु उनकी सख्या बहुत कम है। गोपियो के साग रूपको मे इस प्रकार की भाषा मिलती है, यद्यपि शुद्ध रूप मे उनमे स्व-दुख वर्णन नही हैं।

सुख-दुख की सामान्य स्थितियो मे प्रकट किये गये इन विचारो के अतिरिक्त आश्चर्य, प्रोत्साहन, उपालभ, क्रोध, पश्चाताप, वीरावेश, व्यग्य-विनोद आदि वृत्तियो और भावो के उमडने पर जिस प्रकार की भाषा विभिन्न पात्र पात्रियो के मुख से निकलती है, उसकी भी सूरदास को पूरी जानकारी थी। अतएव प्रत्येक मनोभाव के उपयुक्त शब्दावली का उन्होने सर्वत्र प्रयोग किया है।

क आश्चर्ययुक्त स्थलों की भाषा—किसी के असाधारण कृत्य को देखकर सामान्य स्त्री पुरुषो को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। स्त्रियो की भाषा ऐसी स्थिति में सामान्यतया मुहावरेदार हो जाती है, परतु बालको की शब्दावली मे उनकी प्रकृति की छाया ही प्रतिबिंबित होती है। यदि व्यक्ति आश्चर्य के अनेक कार्य कर चुका हो, तो उसका नवीन अद्‌भुत कृत्य देखते ही पूर्व कर्मों का स्मरण भी प्राय हो आता है जिससे हर्ष का अन्य भाव भी सजग होकर उक्ति को प्रशसात्मक बना देता है। ऐसे स्थलो पर भाषा मे तत्सम शब्दो की कुछ अधिकता हो जाती है। सूरदास के निम्नलिखित पदो मे भाषा के ये तीनो रूप मिलते है।

१ देखौ री जसुमति बौरानी।
घर घर हाथ दिवावति डोलति, गोद लिए गोपाल बिनानी।
जानत नाहिं जगतगुरु माधौ, इहिं आए आपदा नसानी।
जाकौ नाउँ सक्ति पुनि जाकी, ताकौ देत मत्र पढि पानी।
अखिल ब्रह्मड उदरगत जाके, जाकी जोत जल-थलहिं समानी।
सूर सकल साँची मोहिं लागति जो कछु कही गर्ग मुख बानी[४३]।

२ ब्रज मैं को उपज्यौ यह भैया।
सग सखा सब कहत परस्पर, इनके गुन अगमैया।
जब तै ब्रज अवतार धरचौ इन, कोउ नहिं घात करैया।
तृनावर्त पूतना पछारी, तब अति रहे नन्हैया।

४३ सा. १-२५८।

कितिक बात यह बका विदारयौ, धनि जसुमति जिन जैया।
सूरदास प्रभु की यह लीला, हम कत जिय पछितैया[४४]।

३. चकित देखि यह कहै नर-नारी।
घरनि-अकास बराबरि ज्वाला, झपटति लपटि करारी।
नहिं बरष्यौ, नहिं छिरक्यौ काहू, कहँ धौ गई बिलाइ।
अति आघात करति बन-भीतर, कैसैं गई बुझाइ[४५]।

४. ब्रज-वनिता सब कहंति परस्पर, नंद महर कौ सुत बड़ बीर।
देखौ धौ पुरुषारथ इंहिकौ अति कोमल है स्याम सरीर।
गयौ पताल उरगि गहि आन्यौ, ल्यायौ तापर कमल लदाइ।
कमल-काज नृप ब्रज-मारत हो, कोटि जलज तिहिं दिए पठाइ।
दावागिनि नभ-धरनि बराबरि, दसहुँ दिसा तैं लीन्हौ घेरि।
नैन मुँदाइ कहा तिहि कीन्हौ, कहूँ नही जो देखै हेरि।
ये उतपात मिटत इनही पै, कस कहा बपुरौ है छार।
सूर-स्याम अवतार बड़ौ ब्रज, येई है कर्त्ता संसार[४६]।

श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्य देखकर व्रजवासियो को जो आश्चर्य होता है, वही उक्त पदो मे ञभिव्यक्त है। प्रथम और तृतीय पदो मे व्रज-बालाओ की उक्तियाँ हैं। भाषा की दृष्टि से पहले पद मे जहाँ अनेक मुहावरो का प्रयोग है, वहाँ तृतीय की भाषा सीधी-सादी है। दूसरे पद मे बालको का कथन भी इसी प्रकार की सरल भ षा मे है। अतिम पद मे हैं तो गोपियो के पारस्परिक वचन, परन्तु, श्रीकृष्ण के आश्चर्यजनक पूर्व कृत्यों की स्मृति ने उनके मानस मे हर्ष का ऐसा सचार किया है कि वाक्य प्रशसात्मक हो गये हैं और भाषा मे तत्सम शब्दों का, अन्य पदो की अपेक्षा, अधिक प्रयोग हुआ है।

ख. प्रोत्साहनयुक्त स्थलों की भाषा—कार्य विशेष मे सोत्साह प्रवृत्त करने के लिए कहे गये वाक्य 'सूरकाव्य' मे मुख्यतया सयोग लीला प्रसंग मे मिलते है। राधा किसी कारण से मान करती है और कृष्ण मनाने मे जब असफल होते हैं, तब दूती दोनो को मिलाने का दायित्व अपने ऊपर लेती है। प्रिया की मान युक्त उदासीनता से खिन्न कृष्ण को वह अपने वचनो से उत्साहित करती है, राधा से कभी चाटुकारिता प्रधान वचन कहकर उसके रूप-गुण की प्रशसा करती है, कभी मान करने पर सम्भाव्य अनिष्ट की ओर से शुभाकाक्षिणी बनकर, उसको सचेत करती है और इस प्रकार बडी आत्मीयता से उसके मान को अनुचित बताती है। इन प्रोत्साहन वाक्यो की भाषा का अनुमान निम्नलिखित उद्धरणों से हो सकता है—

४४ सा. ४२८। ४५ सा ५९८। ४६ सा. ६००

१. कहा बैठे, चलै बनिहै, आपहूँ नहिं मानिहौ।
तुम कुँवर **घर ही के बाढ़े**, अब कछू जिय जानिहौ।
बेगि चलियै अनखिहै, तुम इहाँ वह उहँ जरति है।
वाके जिय कछु **और ह्वैहै**, कपट करि हठ धरति है।
राधिका अति चतुर जानौ, जाइ ता ढिग ही रहौ।
कहा जो **मुख फेरि बैठी**, मधुर-मधुर बचन कहौ।
सूर प्रभु अब **बनै नाचे, काछ जैसी तुम कछ्यौ**।
कहियै गुननि प्रबीन राधा, क्रोध बिष काहैं भछ्यौ[४७]।

२. स्याम चतुरई कहाँ गँवाई।
अब जाने **घर के बाढ़े** हौ, तुम ऐसें कह रहे मुरझाई।
बिना जोर अपनी जाँघनि के, कैसे सुख कीन्हौं तुम चाहत।
आपुन दहत अचेत भए क्यौं, उत मानिनि मन काहै दाहत।
उहँई रहौ कहैंगी तुमकौ, कतहूँ जाइ रहे बहुनायक।
सूरस्याम मन-मोहन कहियत, तुम हौ सब ही गुन के लायक[४८]।

३. तू तौ प्रान प्रान-बल्लभ कैं, वैं तुव चरन-उपासी।
सुनिहै कोऊ, चतुर नारि, कत **करति प्रेम की हाँसी**।

× × ×

इन द्योसनि रूसुनौ करति है, करिहै कबहिं कलोलै।
कहा **दियौ पढ़ि सीस स्याम कैं**, खीचि अपनो सो लै।
तोहिं हठ परयौ प्रानबल्लभ सौं, छूटत नही छुडायौ।
देखहु मुरछि परयौ मनमोहन, मनहुँ भुअगिनि खायौ।

× × ×

जानहुगी तब मानहुगी मन, जब तनु काम दहैगौ।
करिहौ मान मदनमोहन सौं, **मानै हाथ रहैगौ**[४९]।

इन पदो की भाषा तो मिश्रित ही है, परतु मुहावरो-कहावतो का, जैसा कि बडे छपे अश से स्पष्ट है, इनमे अधिक प्रयोग किया गया है। सीधी-सादी भाषा मे इतनी अधिक स्पष्टता रहती है कि श्रोता को प्रत्यक्ष अर्थ के आगे सोचने का अवसर कम मिलता है, परतु मुहावरो-कहावतो की अभिप्राय-सूचक साकेतिकता, विशेष प्रभावोत्पादक होने के साथ-साथ, श्रोता की चितन-वृत्ति को भी सजग करती है। सामान्य शब्दावली स्मृति मे देर तक टिकती भी नही, परतु लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपनी अर्थ-

---

४७ सा २८१०। ४८ सा २८१२। ४९ सा. २८२६।

विषयक विशिष्टता के कारण मस्तिष्क मे बहुत समय तक चक्कर काटा करते हैं। ऊपर उद्धृत पदो की भाषा इसी दृष्टि से महत्व की है। प्रश्नवाचक वाक्यो की योजना ने भी कही-कही इस भाषा को बहुत प्रभावशालिनी बना दिया है।

ग. **उपालंभयुक्त स्थलो की भाषा**—बालक कृष्ण की 'अचगरी' और किशोर कृष्ण की छेड़छाड जब बहुत बढ जाती है, तब व्रज की गोपियाँ उपालभ के लिए माता यशोदा के पास जाती हैं। इस अवसर पर कहे गये उनके वाक्यो मे खीझ है, झुँझलाहट है और रोष भी है। वे कभी तो पुत्र के प्रति यशोदा के लाड-प्यार का उपहास करती हैं, कभी कृष्ण की करतूतो और अपनी हानियो का बखान करती है और कभी गाँव छोडने की धमकी दे जाती है। ऐसे स्थलो की भाषा निम्नलिखित पदो मे देखी जा सकती है—

१. कान्हहिं बरजति किन नँदरानी।
एक गाउँ के बसत कहाँ लौ करै नद की कानी।
तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया गगा कैसौ पानी।
बाहिर तरुन किसोर वयस वर, बाट-घाट कौ दानी।
बचन विचित्र, कमल-दल-लोचन, कहत सरस वर बानी।
अचरज महरि तुम्हारे आगें, अबैं जीभ तुतरानी[५०]।

२. सुनि-सुनि री तैं महरि जसोदा, तैं सुत बड़ो लड़ायौ।
इहि ढोटा लै ग्वाल भवन मैं, कछु बिचरयौ कछु खायौ।
काकै नही अनौखौ ढोटा, किहिं न कठिन करि जायौ।
मैं हूँ अपनैं औरस पूतें बहुत दिननि मै पायौ[५१]।

३. महरि स्याम कौ बरजति काहे न।
जैसे हाल किए हरि हमकौ, भए कहूँ जग आहें न।
और बात इक सुनौ स्याम की, अतिहिं भए है ढीठ।
बसन बिना अस्नान करति हम, आपुन मीड़त पीठ।
आपु कहति मेरौ सुत बारौ, हियौ उघारि दिखाऊँ।
सुनतहुँ लाज कहत नहि आवै, तुमकौं कहा लजाऊँ[५२]।

४. देखौ महरि स्याम के ये गुन, ऐसे हाल करे सबके उन।
चोली, चीर, हार बिखराए। आपुन भागि इतहिं कौ आए।
× × ×
इनके गुन कैसे कोउ जानै। औरै कहत और धरि बानै।
देन उरहनौ तुमकौ आई। नीकी पहरावनि हम पाई[५३]।

---

५०. सा. १०-३११। ५१. सा. १०-३३९। ५२. सा. ७७२। ५३ सा. ७९९।

उपालँभ की स्थिति साधारणतया खीझ और झुँझलाहट के बहुत बढ जाने पर आती है। परतु गोपियो के उक्त वाक्यो से सूचित खीझ या झुँझलाहट वास्तविक नही, कृत्रिम ही है। कारण यह है कि प्रिय कृष्ण के प्रति उनकी प्रीति असीम है और उनके प्रत्येक व्यवहार से उन्हे अपूर्वानद ही मिलता है। उपालभो के मिस कभी तो वे उनके दर्शन को जाती हैं और कभी गुरुजन को उँगली उठाने या बुरा-भला कहने का अवसर न देने के लिए उलाहना देती हैं। माता यशोदा से कहे गये उनके वाक्यो से यद्यपि इन मनोभावो की स्पष्ट सूचना नही मिलती, तथापि वे इस बात को समझती अवश्य है। अतएव उनकी शब्दावली मे झुँझलाहट का सामान्य सकेत भर है, चुभनेवाले शब्दों का प्रयोग उन्होने कही नही किया है। मुहावरो का प्रयोग उक्त वाक्यो मे अवश्य अधिक है, जिनमे से कुछ बहुत अर्थगर्भित हैं। इनका प्रयोग एक तो ग्रामवासिनी गोपियो के स्वभावानुकुल है और दूसरे, खिझलाहट की उस स्थिति के अनुरूप जिसमे भाषा कुछ व्यग्यपूर्ण हो ही जाती हैं। ऐसे अवसर पर सूरदास की भाषा की यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि गोपियो का व्यग्य सयत ही है, वह श्रोता को खिझलाता भर है, उसको क्रोध से अन्धा नही कर देता। तत्सम-तद्भव शब्दो की दृष्टि से उपालभ-प्रसगो की भाषा प्राय सर्वत्र मिश्रित है जो पात्र और मनोभाव, दोनो की दृष्टि से उपयुक्त है।

घ **क्रोधयुक्त स्थलों की भाषा**—सूर-काव्य मे प्राप्त क्रोध की व्यजनावाले पदो को, स्थूल रूप से, दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे वे पद आते हैं जिनमे क्रोध की सामान्य स्थिति अभिव्यक्त है। खीझ, झुँझलाहट आदि हल्के भावो का योग रहने के कारण क्रोध का यह रूप सर्वथा निष्क्रिय ही रहता है। दूसरे रूप मे, इसके विपरीत, घृणा या तिरस्कार का भाव इतना प्रबल हो जाता है कि क्रोध का आवेश बहुत बढ जाता है। सहचर-भाव से प्रयुक्त व्यग्य क्रोध के पहले रूप मे साभिप्राय रहने पर भी अधिक तीखा नही होता, परन्तु दूसरी स्थिति मे उसके तीखेपन की इतनी वृद्धि हो जाती है कि लक्षित श्रोता तो तिलमिला ही जाता है, पाठक को भी क्रोध के सक्रिय हो जाने की सम्भावना दीखने लगती है। क्रोध की सामान्य स्थिति मे सूरदास द्वारा प्रयुक्त भाषा का परिचय निम्न पदो से मिलता है—

१ सुन री ग्वारि, कहौ इक बात।
मेरी सौं तुम याहि मारियौ, जबही पावौ घात।
अब मैं याहि जकरि बाँधौगी, बहुतै मोहिं खिजायौ।
साटिनि मारि करौ पहुनाई, चितवत कान्ह डरायौ[५४]।

२ सुनहु बात मेरी बलराम।
करन देहु इनकी मोहिं पूजा, चोरी प्रगटत नाम[५५]।

३ कुँवरि सौ कहति वृषभानु-घरनी।
नैकु नहिं घर रहति, तोहि कितनौ कहति,

---

५४ सा १०-३३०। ५५ सा ३७६।

रिसनि मोहि दहति बन भई हरनी।
लरिकिनी सबनि घर, तोसी नहि कोउ निडर,
चलति नभ चितै नहि तकति धरनी।
बडी करवर टरी, साँप सौ ऊबरी,
बात कै कहत तोहि लगति जरनी[५६]।

४. क्रोध करि सुता सौ कहति माता।
तोहिं बरजति मरी, अचगरी सिर परी, गर्व-गजन नाम है बिधाता।
तोहि कछु दोष नहिं, भ्रमति तू जहाँ तहिं, नदी, डोगर बनहिं पात-पाता।
मातु-पितु लोक की कानि मानै नही, निलज भई रहति नहि लाज गाता।
भली नहिं उन करी, सीस तोको धरी, जगत मैं सुता तू महर ताता।
बात सुनिहै स्रवन, भई बिनही भवन, सूर डारै मारि आजु भ्राता[५७]।

प्रथम दो उदाहरणो मे श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा का क्रोध व्यक्त हुआ है और अन्तिम दो मे राधा के प्रति माता कीर्ति का। दोनो के कथन छोटे बच्चो को सम्बोधित करते हैं, इसलिए बहुत ही सरल शब्दो का प्रयोग इन वाक्यो में हुआ है। वाक्य-विन्यास भी बिल्कुल सीधा-सादा है। भाषा का रूप यद्यपि मिश्रित है, तथापि उसमें तत्सम शब्दो का प्रयोग समान अनुपात मे नही है, प्रत्युत अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दो की ही इनमे प्रधानता है। यशोदा के क्रोध मे कृत्रिमता होने से खीझ का भाव बहुत हल्का हो गया है जिससे भाषा को मुहावरेदार बनाने मे सहायता मिली है। कीर्ति के प्रथम कथन मे पुत्री के प्रति उमडता वात्सल्य क्रोध के वेग को कम कर देता है जिससे मुहावरो का प्रयोग स्वत. हो जाता है। परतु अन्तिम पद मे झुंझलाहट का शुद्ध रूप मुहावरो के अधिक प्रयोग मे अपेक्षाकृत बाधक हुआ है।

उक्त वाक्य क्रोध की सामान्य स्थिति मे कहे गये हैं। इनसे कुछ अधिक तीव्रता, जो उक्त अन्तिम पद मे व्यजित क्रोध से भी अधिक आवेगपूर्ण है, नीचे लिखे उदाहरणो मे मिलती है—

१. फेंट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा
काहे कौ तुम रारि बढावत, तनक बात कै कामा।
मेरी गेंद लेहु ता बदले, बाँह गहत हौ धाई।
छोटौ बड़ौ न जानत काहूँ, करत बराबरि आई।
हम काहे कौ तुमहिं बराबर, बड़े नद के पूत।
सूर स्याम दीन्हे ही बनिहै, बहुत कहावत धूत[५८]।

५६. सा. ६९८। ५७. सा. १९७१। ५८. सा. ५३६।

इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि-बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ[६६]।

२ रावन-से गहि कोटिक मारौ।
जो तुम आज्ञा देहु कृपानिधि, तौ यह परिहस सारौ।
कहौ तौ जननि जानकी ल्याऊँ, कहौ तौ लंक बिदारौं।
कहौ तौ अबही पैठि सुभट हति, अनल सकल पुर जारौं।
कहौ तौ सचिव-सबधु सकल अरि, एकहि एक पछारौ।
कहौ तौ तुव प्रताप श्री रघुबर, उदधि पखाननि तारौ।
कहौ तौ दसौ सीस, बीसौं भुज, काटि छिनक मैं डारौ।
कहौ तौ ताकौं तृन गहाइ कै, जीवत पाइनि पारौ।
कहौ तो सैना चारु रचौं कपि, धरनी-ब्योम-पतारौ।
सैल-सिला-द्रुम बरषि, ब्योम चढ़ि, सत्रु-समूह सँहारौं।
बार-बार पद परसि कहत हौं, हौ कबहूँ नहिं हारौ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे बचन लगि, सिव-बचननि कौ टारौं[६७]।

३. रघुपति, मन सदेह न कीजै।
मो देखत लछिमन क्यौ मरिहैं, मोकौ आज्ञा दीजै।
कहौ तौ सूरज उगन देउँ नहिं, दिसि दिसि बाढ़ै ताम।
कहौ तौ गन समेत ग्रसि खाऊँ, जमपुर जाइ न राम।
कहौ तौ कालहि, खड खड करि टूक टूक करि काटौ।
कहौ तौ मृत्युहि मारि डारि कै, खोद पतालहिं पाटौं।
कहौ तौ चद्रहि लै अकास तै, लछिमन मुखहिं निचोरौ।
कहौ तौ पैठि सुधा के सागर, जल समस्त मैं घोरौ।
श्री रघुबर, मोसौ जन जाकै ताहि कहा सँकराई।
सूरदास मिथ्या नहिं भाषत, मोहिं रघुनाथ दुहाई[६८]।

४ दूसरैं कर बान न लैहौ।
सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, एकहि बान असुर सब हैहौ।
सिव-पूजा जिहिं भाँति करी है सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौं।
दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर-माला सिव-सीस चढैहौ।
मनौ तूल-गन परत अगिनमुख, जारि जडनि जम-पथ पठैहौ।

---

६६ सा १-२७०। ६७ सा. ९-१०८। ६८ सा ९-१४८।

करिहौ नाहि विलंब कछू अब, उठि रावन सम्मुख ह्वै धैहौं ।
इमि दलि दुष्ट देव-द्विज मोचन, लंक विभीषन, तुमकौ दैहौ ।
लछिमन-सिया समेत सूर कपि सब सुख सहित अजोध्या जैहौ[६९] ।

प्रथम उदाहरण मे भीष्म की और अतिम मे श्रीराम की प्रतिज्ञा है। दूसरे और तीसरे पदो मे हनुमान की वीरोक्तियाँ है। मुहावरो कहावतो का प्रयोग इन पदो मे बहुत कम हुआ है; लेकिन भाषा का मिश्रित रूप सामान्य से कुछ अधिक तत्समता-प्रधान है। द्वित्व वर्णों का प्रयोग न होने पर भी इन पदो की भाषा ओज-पूर्ण और बहुत प्रभावोत्पादक है।

छ व्यंग्य-और विनोद-पूर्ण स्थलो की भाषा—सूर काव्य मे व्यग्य और विनोद के जितने उदाहरण उद्धव गोपी-सवाद मे मिलते है, उतने अन्यत्र नही। प्रेममयी गोपियो को उद्धव का उपदेश है कि श्रीकृष्ण को भूलकर निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति की साधना मे प्रवृत्त हो। इनका यह मत इतने हठधर्मीपन के साथ सामने रखा जाता है कि गोपियो को वह फूटी आँखो नही सुहाता। उनके तर्कों से चिढकर कभी वे उनकी हँसी उडाती है, कभी उनके सिद्धातो की, कभी उनके काले-पीले रूप पर व्यग्य करती हैं, कभी भ्रमर-जैसी उनकी चचल प्रवृत्ति पर। गोपियों की इन उक्तियो के मूल मे स्वयं कवि की सगुण ब्रह्म के प्रति पूर्ण आस्था है जो उन्हे शुष्क वेदातियो और इंद्रिय निग्रही योग-साधको के तर्कों का विनोद और व्यग्ययुक्त स्वर मे उत्तर देने को प्रेरित करती है। श्रीकृष्ण के परम आनदमय रूप के प्रति अनन्यता का भाव गोपियो की अनेकानेक उक्तियों मे इतनी स्पष्टता से व्यजित है कि अत मे उद्धव-जैसे शुष्कहृदय व्यक्ति भी उससे प्रभावित होकर उन्ही के स्वर मे स्वर मिलाने लगते हैं। इस दृष्टि से ब्रज बालाओं के निम्नलिखित विनोद और व्यंग्यपूर्ण वाक्य निश्चय ही महत्व के हैं—

१ कोउ माई, मधुवन तै आयौ ।
सखी सिमिट सब सुनौ सयानी, हित करि कान्ह पठायौ ।
जो मोहन बिछुरे ते गोकुल, इते दिवस दुख पायौ ।
सो इन कमलनैन करुनामय, हिरदै माँझ बतायौ ।
जाकौ जोगी जतन करत है, नैकहुँ ध्यान न आयौ ।
सो इन परम उदार मधुप ब्रज-वीथिनि माँझ बहायौ ।
अति कृपालु आतुर अबलनि कौ, व्यापक अगह गहायौ ।
समुझि सूर सुख होत स्रवन सुनि, नेति जु निगमनि गायौ[७०] ।

२. परम हस बहुतक सुनियत हैं, आवत भिच्छा माँगन[७१] ।

३. ऊधौ, जाहु तुम्हहि हम जाने ।
स्याम तुम्हहि ह्याँ कौं नाहि पठायौ, तुम हौ बीच भुलाने[७२] ।

---

६९ सा. ९-१५७। ७० सा. ३५१२। ७१ सा. ३५१५। ७२ सा. ३५२१।

४. सखी री, मथुरा मैं द्वै हंस।
वे अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीकै गस।
ये दोउ नीर गँभीर पैरिया इनहि बधायौ कस।
इनकै कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बस।
अब इन कृपा करी ब्रज आये, जानि आपनो अस।
सूर सु ज्ञान सुनावत अबलनि, सुनत होत मति भ्रंस[७३]।

५. मधुबन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत है, बोलत बचन सुसीले।
प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधुरिपुहिं सिधारे।
उहाँ कस ह्याँ हम दीननि कौ, दूनौ काज सँवारे।
हरि कौं सिखै सिखावत हमकौ, अब ऊधौ पग धारे।
ह्वाँ दासी रति की कीरति कै, इहाँ जोग बिस्तारे[७४]।

६. आए जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँडे[७५]।

७. ऊधौ, तुम अपनौ जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागति, कत बेकाज ररौ।
जाइ करौ उपचार आपनौ, हम जु कहति हैं जी की।
कछुवै कहत कछुक कहि आवत, धुनि दिखियत नहिं नीकी।
साधु होइ तिहिं उत्तर दीजै, तुमसौं मानी हारि।
यह जिय जानि नद-नदन तुम, इहाँ पठाए टारि।
मथुरा राहौ बेगि इनि पाइनि, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सु बैद बेगि टोहौ किन, भए मरन के जोग[७६]।

८. निरगुन कौन देस कौ बासी।
मधुकर, कहि समुझाई सौह दै बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।
कैसे वरन, भेप है कैसौ, किहिं रस मैं अभिलाषी[७७]।

९ सुनि-सुनि ऊधौ, आवति हाँसी।
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कस की दासी।

---

७३ सा ३५८७। ७४ सा ३५९४। ७५ सा ३६०४। ७६ सा. ३६११।
७७. सा. ३६३१।

इंद्रादिक की कौन चलावै, सकर करत खवासी।
निगम आदि बदीजन जाके, सेष सीस के वासी।
जाकै रमा रहति चरननि तर, कौन गनै कुविजा सी।
सूरदास प्रभु दृढ करि बाँधे, प्रेम-पुज की पासी[७८]।

१०. ऊधो, धनि तुम्हरौ ब्यौहार।
धनि वै ठाकुर, धनि तुम सेवक, धनि हमैं बर्तनहार।
काटहु अब बबूर लगावहु, चदन की करि वारि।
हमकौं जोग भोग कुविजा कौ, ऐसी समुझि तुम्हारि।
तुम हरि पढे चातुरी विद्या, निपट कपट चटसार।
पकरौ साह चोर कौं छाँड़ौ, चुगलनि को इतवार।
समुझि न परै तिहारी मधुकर, हस ब्रजनारि गँवार।
सूरदास ऐसी क्यौं निवहै, अधधुध सरकार[७९]।

११. ऊधौ, जोग कहा है कीजतु।
ओढियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत।
कीधौं कछू खिलौना सुदर, की कछु भूषन नीकौ[८०]।

गोपियो के इन वाक्यो की भाषा सामान्यतया मिश्रित है जिसमे तत्सम, तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों का लगभग समान रूप मे प्रयोग हुआ है। विनोदपूर्ण उक्तियों की भाषा प्राय सर्वत्र ऐसी ही हैं। परतु श्रीकृष्ण के मनोहर और आकर्षक रूप के सक्षिप्त साकेतिक वर्णन मे, पूर्व की सुखद स्मृतियो की कसकभरी चर्चा मे अथवा प्रियतम की असभावित निष्ठुरता के उल्लेख मे जब वे प्रवृत्त होती हैं तब भाषा का रूप कुछ अधिक तत्समता-प्रधान हो जाता है। व्यग्य की सामान्य स्थिति मे कहे गये वाक्यों की भाषा मे यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। व्यग्य जब बहुत तीखा हो जाता हैं, तब तत्सम शब्दों के स्थान पर चुभते हुए मुहावरो का प्रयोग किया गया है जो अर्थ-गाभीर्य की दृष्टि से विशेष प्रभावशाली है। ऐसे वाक्यो मे 'उदार', 'धरमीले', 'धन्य', 'परमहंस', 'हंस' आदि जो प्रशंसात्मक शब्द हैं, उनका विपरीतार्थ गोपियों को अभीष्ट है जिसकी व्यग्यात्मक ध्वनि उक्तियों की तीव्रता को बहुत-कुछ सयत कर देती है।

भ्रमर-गीत-प्रसग के अतिरिक्त भी सूर-काव्य के कुछ स्थलों पर व्यंग्य-विनोद-पूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं। ऐसे प्रसगो मे दो प्रधान हैं। प्रथम के उदाहरण प्रलय-मेघो के अभियान को देखकर कहे गये भयभीत व्रजवासियों के वाक्यो मे मिलते है और द्वितीय के श्रीकृष्ण के संयोग-सवधी वचनो का निर्वाह न करने पर, खिन्नता की स्थिति मे,

---

७८. सा. ३६४३। ७९. सा. ३९०९। ८०. सा. ३९६६।

पुन उन्ही को सामने पाकर कहे गये प्रेमिकाओ के वाक्यो मे। प्रथम प्रसग की उक्तियों मे केवल व्यग्य है, द्वितीय मे व्यग्य और विनोद, दोनो का मिश्रण है।

इद्र की परपरागत सेवा मे लगे व्रजवासियो को श्रीकृष्ण ने गिरि गोवर्द्धन का महत्व समझाया और उसकी पूजा के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया। पिता नद, पुत्र के प्रस्ताव से सहमत हो गये तो सीधे-सादे व्रजवासी भी उनके साथ हो लिये। बडे उत्साह से पूजन और भोजन की अपार सामग्री एकत्र की गयी। प्रत्यक्ष दर्शन देकर देव-रूप गिरि गोबर्द्धन सहस्र भुजाएँ पसारकर मनो भोजन चट कर गया। इद्र ने व्रजवासियो द्वारा की गयी इस अवज्ञा से अपना घोर अपमान समझा और इसके प्रतिकार के लिए मेघो को व्रज पर प्रलय-वृष्टि करने की आज्ञा दी। धर्मभीरु व्रजवासी प्रलयकरी घटाओ को देखकर, अत्यंत भयभीत होकर व्यग्य के साथ कहते हैं—

१. बतियाँ कहति है व्रज-नारि।
धरति सँतति धाम-बासन, नाहि सुरति सम्हारि।
पूजि आए गिरि गोबरधन, देति पुरुषनि गारि।
आपनौ कुलदेव सुरपति, धर्यौ ताहि बिसारि।
दियौ फल यह गिरि गोबरधन, लेहु गोद पसारि।
सूर कौन उबारि लैहै, चढ़्यौ इंद्र प्रचारि[८१]।
२. सूरदास गोबर्धन-पूजा कीन्है कौ फल लेहु बिहाने[८२]।
३. व्रज-नर-नारि नद-जसुमति सौ कहत, स्याम ये काज करे।
कुल-देवता हमारे सुरपति, तिनकौं सब मिलि मेटि धरे[८३]।
४. व्रजबासी सब अति अकुलाने। काल्हिहिं पूज्यौ फल्यौ बिहाने।
कहाँ रहे अब कुँवर कन्हाई। गिरि गोबर्धन लेहि बुलाई।
जेवन सहस भुजा धरि आवै। अब द्वै भुज हमकौं दिखरावै।
ये देवता खात ही लौ के। पाछे पुनि तुम कौन, कहौ के[८४]।

इन पदो की भाषा यो तो सामान्य रूप से मिश्रित है, परतु भय और आकुलता के कारण तत्सम शब्दो का प्रयोग इसमे कम हुआ है। व्यग्यात्मक ध्वनियुक्त मुहावरो का प्रयोग यो तो प्राय प्रत्येक वाक्य मे किया गया है, परतु इनका वास्तविक चमत्कार अतिम पद मे देखा जा सकता है। व्यग्योक्तियो की दृष्टि से ये उदाहरण सूर-काव्य के आदर्श उदाहरणो मे हैं। दूसरी बात यह है कि व्यग्य और विनोद मे से, उक्त सभी वाक्यो मे प्रथम की प्रधानता है, भयावह दृश्य-जन्य आकुलता के कारण विनोद-वृत्ति की सजगता के लिए इस प्रसग मे अवकाश ही नही था।

दूसरे वर्ग के व्यग्य और विनोदपूर्ण उदाहरण सयोग-लीला-प्रसग मे मिलते हैं। रसिकवर श्रीकृष्ण सयोग के लिए उत्कठिता समस्त व्रजबालाओ को प्रेम-प्रदान से तुष्ट

८१. सा. ८५९। ८२ सा. ८६०। ८३. सा ८६२। ८४. सा. ९३३।

करता चाहते हैं; परन्तु इसमे कभी-कभी वे सामान्य नायक की तरह असफल होते है। एक प्रेमिका को वे मिलने के लिए वचन देते हैं, दूसरी उन्हे मार्ग या वन मे ही आ घेरती है और उसको आनद देने के लिए श्रीकृष्ण उसी के साथ चलने को विवश हो जाते हैं। कभी कोई व्रजवाला द्वार से उनको अन्यत्र जाते देख अपने आवास मे आमन्त्रित कर लेती है। इसी प्रकार अकस्मात दर्शन हो जाने का लाभ भी कोई-कोई प्रेमिका उठा लेती है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को जब अपने पूर्व प्रदत्त वचनो की याद आती है, तो वे अपराधी रूप मे खीझ-भरी बैठी प्रेमिका के सम्मुख उपस्थित होते हैं। अन्यत्र विलास के चिह्न प्रियतम के अगो और वस्त्रो पर अकित देखकर जिस प्रकार के व्यग्य-विनोद-युक्त वाक्यो से मानिनी नायिका उनका स्वागत करती है, उनमे से कुछ यहाँ उद्धृत हैं—

१. वन तन तैं आए अति भोर।
राति रहे कहुँ गाइनि घेरत, आए हौ ज्यौ चोर।
अग अंग उलटे आभूषन, वनहुँ मैं तुम पावत।
बड़भागी तुम तै नहिं कोऊ, कृपा करत जहँ आवत[८५]।

२. जानति हौ जिहि गुननि भरे हौ।
काहे दुराव करत मनमोहन, सोइ कहौ तुम जाहिं ढरे हौ।
निसि के जागे नैन अरुन दुति, अरु स्रम आलस अग भरे हौ।
वदन तिलक कपोलनि लाग्यौ काम-केलि उर नख उघरे हौ।
अव तुम कुटिल किसोर नद-सुत, कहौ, कौन के चित्त हरे हौ।
एते पर ये समुझि सूर-प्रभु सौह करन कौ होत खरे हौ[८६]।

३. आजु निसि कहाँ हुते हो प्यारे।
तुम्हरी सौ कछु कहि न जात छवि, अरुन नैन रततारे।
बोल के साँचे, आए भोर भए प्रगटित काम-कला रे।
दसन-वसन पर छापि दृगन छवि, दई वृषभानु-सुता रे।
अरु देखौ मुसकाइ इते पर, सर्वस हरत हमारे।
सूर स्याम चतुरई प्रगट भई, आगे तै होहु न न्यारे[८७]।

४. मोहन, काहे कौ लजियात।
मूँदि कर मुख रहे सन्मुख कहि न आवत वात[८८]।

५. काहे कौ पिय भोरही मेरे गृह आए।
इतने गुन हमपै कहाँ, जे रैंनि रमाए[८९]।

---

८५. सा. २६३३। ८६. सा २६३७। ८७. सा. २६९३।
८८. सा. २६७९। ८९. सा २६८८।

६ कृपा करी उठि भोरही मेरे गृह आए।
अब हम भई बडभागिनी, निसि-चिह्न दिखाए[१०]।

मिश्रित भाषा का तत्सम-प्रधान जो रूप उद्धव गोपी-प्रसग की व्यग्योक्तियो मे मिलता है, लगभग वही इन पदो की भाषा का है। इसका कारण है प्रियतम के सयोग-चिह्नयुक्त अगो-वस्त्रो के वर्णन की प्रवृत्ति। गोवर्द्धन प्रसग के व्यग्य-वाक्यो मे मुहावरो का जितना अधिक प्रयोग है, उतना न होने पर भी गोपियो की इन उक्तियो मे उनका सर्वथा अभाव भी नही है। विनोद की प्रवृत्ति ऐसे वाक्यो मे कही-कही अवश्य दिखायी पडती है, परतु ईर्ष्या, खीझ और मान के भावो ने उसका रूप अधिक निरखने नही दिया है।

साराश यह कि विभिन्न मनोभावो की सजगावस्था मे आवेशो की तीव्रता-अतीव्रता के अनुरूप भाषा-रूप मे जो परिवर्तन साधारणतया होता है उसका भी सूरदास ने अपने काव्य में सर्वत्र ध्यान रखा है। मुहावरो-कहावतो की न्यूनता-अधिकता, तद्भव-अर्द्धतत्सम की अपेक्षा तत्सम शब्दो के कम-ज्यादा प्रयोग, विदेशी शब्दो के अपनाने मे निसकोच, वाक्य-विन्यास की कही सरलता और कही मिश्रित या समानाधिकरण वाक्यो की योजन, आदि ने विभिन्न वर्गीय मनोभावो और वृत्तियो के आवेश मे कही गयी उक्तियो के अनुकूल भाषा-रूपो के निर्माण मे महत्वपूर्ण योग दिया है।

४. **सवादों की भाषा**—सवादो का रूप वस्तुत गेय पदो मे उतना नही निखरता जितना क्रमबद्ध वर्णन मे और सूर-काव्य का समस्त श्रेष्ठ अश है गेय पदो के रूप मे। जो पौराणिक कथाएँ अथवा श्रीकृष्ण की जीवन-लीलाएँ सामान्य पद्यबद्ध कथाओ के रूप मे सूरदास ने लिखी हैं, उनमे भी उन्होने विशेष रुचि नही ली और बडी द्रुतगति से कथा-सूत्र को आगे बढाते हुए उन्हे समाप्त किया है। अतएव अनेक अवसर सुलभ रहने पर भी सूर-काव्य मे सवादो की सख्या बहुत कम है। वस्तुत सवादो के अन्तर्गत काव्य के वे ही स्थल लिये जा सकते हैं जिनमे प्रसग-विशेष के सबध मे छोटे-छोटे क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर हो। उद्धव के एक प्रश्न को लेकर उत्तर मे गोपियो के पचीसो पद-जैसे अश सवाद नही कहला सकते। इस दृष्टि से सूर-काव्य मे प्राप्त संवादो मे मुख्य हैं—श्रीकृष्ण-दुर्योधन-सवाद दुर्योधन-भीष्म-सवाद, हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-सवाद, हनुमान राम-सवाद, निशिचरी जानकी-सवाद, श्रीकृष्ण नागिनि सवाद, यशोदा राधा-सवाद, कृष्ण गोपी-सवाद, राधा दूती सवाद और उद्धव गोपी-सवाद।

क श्रीकृष्ण-दुर्योधन-सवाद—'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध के चार-पाँच पदों मे यह सवाद मिलता है। इनमे तीन पदो के सवाद मुख्य हैं—

१. "सुनि राजा दुर्जोधना, हम तुम पै आए।
पाडव - सुत जीवन मिले, दै कुसल पठाए।

१०. सा २६८९।

छेम-कुसल अरु दीनता, दंडवत सुनाई।
कर जोरे विनती करी, दुरवल-सुखदाई।
पाँच गाँउँ पाँचौ जननि, किरपा करि दीजै।
ये तुम्हरे कुल-वस हैं, हमरी सुनि लीजै"।
"उनकी मोसौ दीनता कोउ कहि न सुनावौ।
पांडव-सुत अरु द्रोपदी कौ मारि गड़ावौ।
राजनीति जानौ नही, गो - सुत - चरवारे।
पीवौ छाँछ अघाइ कै, कव के रयवारे"।
"गाइ-गाँउँ के वत्सला मेरे आदि सहाई।
इनकी लज्जा नहिं हमै, तुम राज-वडाई"[११]।

२ "हमतै बिदुर कहा है नीकौ ?
जाकै रुचि सौ भोजन कीन्हौ, कहियत सुत दासी कौ।"
"द्वै विधि भोजन कीजै राजा, बिपति परै कै प्रीति।
तेरै प्रीति न मोहि आपदा, यहै बड़ी बिपरीति।
ऊँचे मदिर कौन काम के, कनक-कलस जो चढ़ाए।
भक्त-भवन मे हौ जु वसत हौ जद्दपि तृन करि छाए।
अतरजामी नाउँ हमारौ, हौ अतर की जानौ।
तदपि सूर मैं भक्तवछल हौ, भक्तनि हाथ विकानौ[१२]।

३. 'हरि, तुम क्यौ न हमारै आए ?
षट-रस व्यंजन छाँड़ि रसोई, साग विदुर-घर खाए।
ताके झुगिया मैं तुम वैठे, कौन वड़प्पन पायौ।
जाति-पाँति कुलहूँ तै न्यारौ, है दासी कौ जायौ।"
"मैं तोहि सत्य कहौ दुरजोधन, सुनि तू वात हमारी।
विदुर हमारौ प्रान पियारौ, तू विपया-अधिकारी।
जाँति-पाँति सवकी हौ जानौ, वाहिर छाक मँगाई।
ग्वालनि कै सँग भोजन कीन्हौ, कुल कौ लाज लगाई।
जहँ अभिमान तहाँ मै नाही, यह भोजन विप लागै।
सत्य पुरुष सो दीन गहत है, अभिमानी कौ त्यागै।
जहँ जहँ भीर परै भक्तनि कौ तहाँ तहाँ उठि धाऊँ।

---

११ सा. १-२३८। १२. सा. १-२४३।

भक्तनि के हौं सग फिरत हौं, भक्तनि हाथ बिकाऊँ।
भक्तबछल है बिरद हमारौ, बेद-सुमृति हूँ गावै[१३]।

इन तीनो पदो की भाषा सामान्य रूप मे ही है। सवाद भी कला की दृष्टि से बहुत साधारण हैं, परतु दीन और साधनहीन भक्तहृदय इनको पढकर बहुत आश्वस्त होता है और यही इस सवाद का उद्देश्य है।

ख **दुर्योधन-भीष्म-सवाद**—इस शीर्षक से सबधित केवल एक ही सुदर पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कध मे है—

मतौ यह पूछत भूतलराइ।
"सुनौ पितामह भीषम, मम गुरु, कीजै कौन उपाइ।
उत अर्जुन अरु भीम, पडु-सुत दोउ बर बीर गँभीर।
इत भगदत्त, द्रोन, भूरिस्रव, तुम सेनापति धीर।
जे जे जात, परत ते भूतल, ज्यौ ज्वाला-गत चीर।
कौन सहाइ, जानियत नाही, होत बीर निर्बीर।"
"जब तोसौं समुझाइ कही नृप, तब तै करी न कान।
पावक जथा दहत सबही दल तूल-समेरु समान।
अबिगत, अबिनासी, पुरुषोत्तम, हाँकत रथ कै आन।
अचरज कहा पार्थ जौ बेधै, तीनि लोक इक बान।"
"अब तौ हौ तुमकौ तकि आयौ, सोइ रजायसु दीजै।
जातै रहै छत्रपन मेरौ, सोई मत्र कछु कीजै।
जा सहाइ पाडव-दल जीतौ, अर्जुन कौ रथ लीजै।
नातरु कुटुंब सकल सहरि कै, कौन काज अब जीजै?"
"तेरै काज करौं पुरुषारथ, जथा जीव घट माही।
यह न कहौं, हौ रन चढि जीतौ, मो मति नहिं अवगाही।
अजहूँ चेति, कह्यौ करि मेरौ, कहत पसारे बाही।
सूरदास सरवरि को करिहै, प्रभु-पारथ द्वै नाही[१४]।

यह सवाद भी पूर्वोक्त की तरह सामान्य ही है, केवल भीष्म पितामह जैसे प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध व्यक्ति के मुख से श्रीकृष्ण की महिमा दुर्योधन पर प्रकट कराना इसका उद्देश्य है।

ग हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-सवाद—'सूरसागर' के सातवें स्कध मे नृसिह-अवतार की कथा है। उसमे दो सवाद है—हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-सवाद और नृसिह-प्रह्लाद-सवाद।

---

१३ सा. १-२४४। १४ सा १-२६९।

द्वितीय, पूर्वोक्त सवादो के ढग का ही है; इसलिए उसको उद्धृत करना अनावश्यक है। प्रथम सवाद इस प्रकार है—

नृप कह्यौ, "मंत्र-जत्र कछु आहि। कै छल करत कछू तू आहि।
तोकौ कौन बचावत आइ। सो तू मोकौ देहि बताइ"।
"मत्र-जत्र मेरैं हरि-नाम। घट-घट मैं जाकौ बिस्राम।
जहाँ-तहाँ सोइ करत सहाइ। तासौ तेरौ कछु न बसाइ।"
कह्यौ, "कहाँ सो मोहि बताइ। नातरु तेरौ जिय अब जाइ।"
"सो सब ठौर", "खभहूँ होइ"? कह्यौ प्रहलाद, "आहि, तू जोइ[९५]।"

ओजपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर की दृष्टि से यह सवाद बहुत सुदर है। बालक से वार्तालाप होने के कारण इसकी भाषा भी सीधी-सादी है जिसमे बहुत सरल तत्सम शब्दो का प्रयोग हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यो के कारण इस सवाद मे स्वाभाविकता है और कथा विकास मे इनसे सहायता भी मिलती है।

घ. हनुमान-राम-सवाद—नवे स्कध मे हनुमान और राम का एक सक्षिप्त संवाद है—

मिले हनु, पूछी प्रभु यह बात।
"**महा मधुर प्रिय बानी बोलत**, साखामृग, तुम किहि के तात"?
"अजनि कौ सुत, केसरि कै कुल, पवन-गवन उपजायौ गात।
तुम को बीर, नीर भरि लोचन, मीन हीन-जल ज्यौ मुरझात"?
"दसरथ-सुत कोसलपुर-वासी, त्रिया हरी तातै अकुलात।
इहिं गिरि पर कपिपति सुनियत है, बालि-त्रास कैसे दिन जात"?
"महादीन, बलहीन, बिकल अति।" .. ..[९६]।

हनुमान और राम का यह प्रथम परिचयात्मक सवाद है, इसमे एक-दूसरे की स्थिति और आकृति को लक्ष्य करके परस्पर परिचय पूछा गया है। 'महा मधुर प्रिय बानी बोलत' कहकर जब राम, हनुमान की प्रशंसा करते हैं, तो उन्ही के अनुकरण पर, उत्तर मे उनके वीर वेश को लक्ष्य करके, हनुमान भी 'वीर' शब्द से उनको सबोधित करते है। यह पारस्परिक शिष्टाचार-निर्वाह इस परिचयात्मक सवाद की एक विशेषता है। भाषा कुछ तत्समता-प्रधान एव वाक्य छोटे-छोटे और विषयानुकूल है।

ङ. निशिचरी-जानकी-सवाद—दूती के रूप मे रावण द्वारा भेजी गयी निशिचरी से अशोकवाटिका मे बदिनी सीता का यह सवाद कवि सूरदास की नयी सूझ का परिचायक जान पडता है—

"समुझि अब निरखि जानकी मोहिं।
बडौ भाग गुनि, अगम दसानन, सिव वर दीनौ तोहिं।

---

९५ सा. ७-२। ९६ सा. ९-६९।

केतिक राम कृपन, ताकी पितु-मातु घटाई कानि।
तेरौ पिता जो जनक जानकी, कीरति कहौं बखानि।
बिधि सजोग टरत नहिं टारै, बन दुख देख्यौ आनि।
अब रावन-घर बिलसि सहज सुख, कह्यौ हमारौ मानि।"
इतनौ बचन सुनत सिर धुनि कै, बोली सिया रिसाइ।
"अहो ढीठ, मति-मुग्ध निसिचरी, बैठी सनमुख आइ।
तव रावन कौ बदन देखिहौ, दससिर-स्रोनित न्हाइ।
कै तन देउँ मध्य पावक के, कै बिलसै रघुराइ।"
"जौ पै पतिब्रता-ब्रत तेरैं, जीवति बिछुरी काइ?
तब किन मुई, कहौ तुम मोसौं, भुजा गही जब राइ?
अब झूठौ अभिमान करति हौ, झुकति जो उनके नाउँ।
सुख ही रहसि मिलौ रावन कौ, अपनै सहज सुभाउ।"
"जौ तू रामहिं दोप लगावै, करौ प्रान कौ घात।
तुमरे कुल कौ बेर न लागै, होत भस्म सघात।
उनकै क्रोध जरै लकापति, तेरै हृदय समाई।
तौ पै सूर पतिब्रत साँचौ, जौ देखौं रघुराइ[१७]।

इस सवाद का आरभ निशिचरी दूती के, चाटुकारी के उद्देश्य से कहे गये प्रशसात्मक वाक्यो से होता है। इसके पश्चात् सीता की तिरस्कारयुक्त भर्त्सना का उत्तर वह भी व्यग्यपूर्ण और चुटीले शब्दो मे देती है जिसकी ध्वनि से मुँह चिढाने और हाथ मटकाने का भाव भी सामने आ जाता है। दूती का अकाट्य तर्क क्षण भर के लिए तो सीता को स्तभित कर देता है और उन्हे जैसे कोई उत्तर नही सूझता, परतु अत मे उनके दृढ निश्चयात्मक वचन सुनकर दूती निरुत्तर हो जाती है। इस प्रकार क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर, अभिनयात्मक दृश्याकन-कला, प्रश्नवाचक वाक्यो की योजना आदि की दृष्टि से यह सवाद अच्छा है।

च नागिनि-कृष्ण-सवाद—कस के मँगाये हुए कमल के फूल लाने की मन ही मन योजना बनाकर श्रीकृष्ण कालीदह मे कूद गये। नाग सो रहा था। उसकी स्त्री कृष्ण के सुदर बाल-स्वरूप पर मुग्ध होकर, पति के जागने के पूर्व ही वहाँ से भाग जाने की उनको सलाह देती है। पश्चात्, कृष्ण से उसका इस प्रकार संवाद होता है—

१ (नारि) कह्यौ, "कौन कौ बालक है तू, बार-बार कही भागि न जाई।
छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई"।

---

१७ सा ९-७७।

× × ×

"मोकौ कंस पठायौ देखन, तू याको अब देहि जगाई"।
"कहा कस दिखरावत इनकौ, एक फूंक मैं ही जरि जाई"[१८]।

२. "कहा डर करौ इहिं फनिग कौ बाबरी ?"
"कह्यौ मेरौ मानि, छाँड़ि अपनी बानि, टेक परिहै जानि सब रावरी।
तोहि देखे मया, मोहिं अतिही भई, कौन कौ सुवन, तू कहा आयौ।
मरौ वह कस, निरवस वाकौ होइ, करयौ यह गस तोकौ पठायौ"
"कस कौ मारिहौ धरनि निरवारिहौ, अमर उद्धारिहौ उरग-धरनी।"
सूर-प्रभु के बचन सुनत उरगिनि कह्यौ, "जाहि अब क्यौ न, मति भई मरनी[१९]।"

३. "भागि-भागि सुत कौन कौ, अति कोमल तव गात।
एक फूंक कौ नाहिं तू, विष ज्वाला अति तात"॥
तब हरि कह्यौ प्रचारि "नारि, पति देइ जगाई।
आयौ देखन याहि, कस मोहिं दियौ पठाई।"
"कस कोटि जरि जाहिंगे, विष की एक फुंकार।
कही मेरी करि जाहि तू, अति बालक सुकुमार"।

× × ×

"बालक-बालक करति कहा, पति क्यौ न उठावै ?
कहा कस, कह उरग यह, अबहिं दिखाऊँ तोहिं।
दै जगाइ मै कहत हौ, तू नहिं जानति मोहिं"।
"छोटे मुँह वड़ी बात कहत, अबही मरि जैहै।
जो चितवै करि क्रोध, अरे, इतनेहि जरि जैहै।
छोह लगत तोहि देखि मोहि, काकौ बालक आहि।
खगपति सौं सरवरि करी, तू बपुरौ को ताहि"।
"बपुरा मोको कहति, तोहिं बपुरी करि डारौं।
एक लात सौं चाँपि, नाय तेरे की मारौं।
सोवत काहु न मारियै, चलि आई यह बात।
खगपति कौं मैं ही कियौ, कहति कहा तू जात"।
"तुमहिं बिधाता भए, और करता कोउ नाहीं।
अहि मारौगे आपु तनक से, तनक सी बाहीं।
कहा कहौं, कहत न बनै, अति कोमल सुकुमार।

---

१८ सा. ५५० । १९ सा. ५५१ ।

देती अबहिं जगाइ कै, जरि-बरि होत्यौ छार" ।
"तू धौं देहि जगाइ, तोहिं कछु दूषन नाही ।
परी कहा तोहिं नारि, पाप अपनै जरि जाही ।
हमकौं बालक कहति है, आपु बडे की नारि ।
बादति है बिनु काजही, बृथा बढावति रारि ।"
"तुही न लेत जगाइ, बहुत जौ करत ढिठाई ।
पुनि मरिहै पछिताइ, मातु, पितु, तेरे भाई ।
अजहुँ कह्यौ करि, जाहि तू, मरि लैहै सुख कौन ।
पाँच बरस कै सात कौ, आगै तोको हौन"[1] ।

क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा पात्रो की प्रकृति का परिचय और कथा विकास मे योग, दोनो दृष्टियो से यह वार्तालाप सुदर है । नारी-हृदय की कोमलता और दयार्द्रता ने इस कथोपकथन के छोटे-छोटे वाक्यो को विशेष स्वाभाविक बना दिया है । इसी प्रकार तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दो के बीच-बीच मे मुहावरो का प्रयोग भी नारी-प्रकृति के अनुरूप ही हुआ है । इस विषय मे उरग-नारी की भाषा व्रजबालाओ की भाषा से मिलती जुलती है । श्रीकृष्ण की बाल-प्रकृति के अनुसार उनकी भाषा सरल है और वाक्य-योजना भी, साथ-साथ उसमे वीर भाव के उपयुक्त ओज भी है ।

छ **यशोदा-राधा-सवाद**—किशोरी राधिका का अनुपम रूप और श्रीकृष्ण के साथ उसका हेल-मेल देखकर यशोदा का मातृ-हृदय प्रसन्नता से खिल जाता है । पहले यशोदा जी उसका परिचय पूछती हैं, फिर वे उसे चिढाने के लिए उसके माता-पिता के सबध मे कुछ अनुचित बातें विनोद के साथ कहती हैं । कुशाग्रबुद्धि राधा इनका उत्तर इस प्रकार देती हैं कि माता यशोदा हर्षोन्मत्त होकर उसे छाती से लगा लेती हैं—

"नाम कहाँ तेरौ री प्यारी ?
बेटी कौन महर की है तू, को तेरी महतारी ।
धन्य कोख जिहिं तोकौ राख्यौ, धनि घरि जिहिं अवतारी ।
धन्य पिता माता तेरे" छबि निरखति हरि-महतारी ।
"मै बेटी बृषभानु महर की, मैया तुमको जानति ।
जमुना-तट बहु बार मिलन भयौ, तुम नाहिंन पहचानति" ।
ऐसी कहि, "वाकौ मै जानति, वह तौ बडी छिनारि ।
महर बडी लगर सब दिन कौ" हँसति देति मुख गारि ।
राधा बोलि उठी "बाबा कछु तुमसौ ढीठौ कीन्हौ ।"
" ऐसे समरथ कब मै देखे", हँसि प्यारिहिं उर लीन्हौ[2] ।

१. सा. ५८९ । २. सा. ७०३ ।

इस सरस सलाप की भाषा बहुत सरल है। सात-आठ वर्ष की, गाँव मे पली बालिका को अधिक तत्सम शब्दो का ज्ञान नही हो सकता। सभवत. इसी कारण यशोदा ने केवल 'माता-पिता' दो तत्सम शब्दो का प्रयोग किया है। 'धन्य' शब्द श्रीकृष्ण के अलौकिक कामो की प्रशसा मे इतने वार व्रज मे प्रयुक्त हो चुका है कि सुख के आवेश मे वे उसका प्रयोग भी कर जाती है। राधा केवल एक तत्सम शब्द, 'तट' का प्रयोग यहाँ करती है। इसी प्रकार उक्त कथोपकथन का वाक्य-विन्यास भी सीधा-सादा और स्वाभाविक है।

ज **श्रीकृष्ण-गोपी-सवाद**—व्रज की प्रेममयी गोपियो से श्रीकृष्ण के सवाद अनेक अवसरो पर हुए हैं जिनमे तीन मुख्य है—चीर-हरण-प्रसग का संवाद, राम-लीला-प्रसग का सवाद और दान-लीला प्रसग का सवाद। भिन्न-भिन्न पात्रो और विविध प्रसगों के जो सवाद ऊपर उद्धृत किये गये है, प्रथम अर्थात् चीर-हरण लीला से सवधित सलाप भी भाषा और वाक्य-योजना की दृष्टि से लगभग वैसा ही है, अत उसके उदाहरण देना अनावश्यक है। शेष दोनो प्रसगो मे एक नवीनता यह है कि इनमे पूरे छंदो या पदो मे एक पात्र वात करता है और दूसरे छद या पद मे उत्तर मिलता है। रास-लीला के अवसर का संवाद सक्षिप्त है, परतु दान-लीला से सवधित वार्तालाप कई पदो मे विस्तृत है। दोनो के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

१. "गेह-सुत-पति त्यागि आई, नाहिनै जु भली करी।
पाप-पुन्य न सोच कीन्हौ, कहा तुम जिय यह धरी।
अजहुँ घर फिरि जाहु कामिनी, काहु सौ जो हम कहै।
लोक-बेदनि विदित गावत, पर-पुरुष नहिं धनि लहै।"

+ + +

"तुव दरस की आस पिय व्रत-नेम दृढ यह है धरचौ।
कौन सुत को मातु को पति कौन तिय को किनि करचौ।
कहाँ पठवत, जाहि काकै, कहौ कहँ मन मानिहै।
यहाँ वरु हम प्रान त्यागै, आई जहँ सोइ जानिहै"[3]।

२. "कौन कान्ह, को तुम, कह माँगत ?
नीकै करि सवकौ हम जानति, वातै कहत अनागत।
छाँड़ि देहु हमकौ जनि रोकहु, वृथा वढावति रारि।
जैहै वात दूरि लौ ऐसी, परिहै वहुरि खँभारि।
आजुहि दान पहिरि ह्याँ आए, कहा दिखावहु छाप।
सूर स्याम वैसैंहि चलौ, ज्यौं चलत तुम्हारी वाप"[4]।

---

३. सा. ११८२। ४. सा. १५०७।

३ कान्ह कहत, "दधि-दान न दैहौ ?
लैहौ छीन दूध दधि माखन, देखत ही तुम रैहौ।
सब दिन कौ भरि लेउँ आजु ही, तब छाडौं मैं तुमकौ।
उघटति हौ तुम मातु-पिता लौ, नहिं जानति हौ हमकौ"।
"हम जानति हैं तुमकौं मोहन, लै लै गोद खिलाए।
सूर स्याम अब भए जगाती, वै दिन सब बिसराए[५]।"

४ "गिरिवर धार्‍यौ आपने घर कौ।
ताही कै बल दान लेत हौ, रोकि रहत तिय-पर कौं।
अपनेही घर बडे कहावत, मन धरि नद महर कौं।
यह जानति तुम गाइ चरावन जात सदा बन वर कौ।
मुरली कर काछनि आभूषन मोर पखौवा सिर कौ।
सूरदास काँधे कामरिया और लकुटिया करकौ[६]।"

५ "यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय मैं, सो तितनौ अनुमानति।
या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटबर।
सो कमरी तुम निंदति गोपी, जो तिहुँ लोक अडबर।
कमरी कै बल असुर सँहारे, कमरिहिं तै सब भोग।
जाति-पाँति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग[७]।"

६ "को माता को पिता हमारे।
कब जनमत हमको तुम देख्यौ, हँसियत बचन तुम्हारे।
तुम माखन चोरी करि खायौ, कब बाँधे महतारी।
दुहत कौन को गैया चारत बात कही यह भारी।
तुम जानत मोहि नद-ढुटौना, नद कहाँ तै आए।
मै पूरन अबिगत अबिनासी, माया सबनि भुलाए[८]।"

७. "तुमकौ नद-महर भरुहाए।
मात-गर्भ नाहि तुम उपजे तो कहौ कहाँ तै आए ?
घर-घर माखन नही चुरायौ ? ऊखल नही बँधाए ?
हा हा करि जसुमति कै आगै, तुमकौ हमहिं छुडाए ?
ग्वलिनि सग-सग वृन्दावन, तुम नहिं गाइ चराए ?
सूर-स्याम दस मास गर्भ धरि, जननि नही तुम जाए[९] ?"

५. सा १५०८। ६. सा १५१४। ७. सा १५१५। ८ सा. १५२०।
९. सा १५२१।

८. "तुम देखत रैहौ, हम जैहै ।
गोरस बेचि मधुपुरी तै पुनि, याही मारग ऐहै ।
ऐसे ही सब बैठे रैहौ बोलै ज्वाब न दैहै ।
घरि लै जैहै जसुमति पै, हरि तब धौं कैसी कैहैं ।
काहे कौ मोतिनि लर तोरी, हम पीतांबर लैहैं ।
सूर स्याम सतरात इते पर, घर बैठे तब रैहै[10] ।"

९. "मेरे हठ क्यौ निवहन पैहौ ?
अब तौ रोकि सबनि कौ राख्यौ कैसे करि तुम जैहौ ?
दान लेहुगी भरि दिन दिन कौ, लेख्यौ करि सब दैहौ ।
सौह करत हौ नद बबा की, मैं कैहौ तब जैहौ ।
आवति-जाति रहति याही पथ, मोसौ बैर बढैहौ ।
सुनहु सूर हम सौ हठ माँडति, कौन नफा कर लैहौ[11] ।"

ऊपर उद्‌धृत रास-लीला-सबधी सवाद बहुत साधारण हैं, उसमे अपेक्षित सजीवता नही है। इसका मुख्य कारण यह है कि वशी की मधुर ध्वनि को प्रियतम का साकेतिक निमत्रण समझकर दौडती आती युवतियो से कृष्ण ने सहसा जो प्रश्न कर दिये, वे सर्वथा अप्रत्याशित थे और इसलिए वे हतबुद्धि-सी हो जाती हैं। इसके विपरीत दान-लीला-प्रसग का वार्तालाप बहुत सजीव और प्रवाहपूर्ण हैं। उससे गोपियो की चतुरता और तुरतबुद्धि का अच्छा परिचय मिलता हैं। श्रीकृष्ण अथवा उनके सखा जिस स्वर मे प्रश्न करते हैं, उसी मे उन्हे उत्तर भी मिलता हैं। भावो की कृत्रिमता दोनो पक्षो मे हैं जिससे क्रोध और व्यग्ययुक्त उक्तियाँ तीखी होकर उभयपक्षीय श्रोताओ को चुभती नही, प्रत्युत सरस विनोद से पुलकित कर देती हैं। इन सलापो की भापा मिश्रित हैं जिसमे तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक नही है। चुने हुए मुहावरो के प्रयोग ने कही-कही भाषा को बहुत सरल बना दिया हैं। वाक्य सभी पदो के सीधे-सादे हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

झ. दूती-राधा-सवाद—सयोग के लिए दिये गये वचन का रसिकप्रवर श्रीकृष्ण को पालन न करते देख राधा जब मान करती है, तब वे इसे मनाने के लिए दूती को भेजते हैं। सारी परिस्थिति से अवगत यह दूती अपने कार्य मे बडी कुशल होती हैं और नायिका का मान भग करने के अनेक उपाय करती है। कभी वह उसका रूप-गुण बखानती हैं, कभी उसकी प्रशंसा और चाटुकारी करती हैं, कभी यौवन की अस्थिरता जताकर सुखोपभोग का उपदेश देती हैं, कभी उसकी अज्ञानता पर झुँझलाकर उसका उपहास करती हैं और कभी मान से संभाव्य अनिष्ट की बातकर शुभाकाक्षिणी के समान उसे सचेत करती हैं। इसी प्रकार मान के आवेश मे राधा कभी उसकी बात ही नही सुनना चाहती, कभी उसको बुरी तरह झिड़क देती है, कभी प्रियतम की रस-लोलुपता पर व्यग्य कसती है और कभी

१० सा. १५३७। ११. सा. १५३८।

उदासीनता के साथ सयोग प्रपच मे भविष्य में न पडने का अपना निश्चय उसे सुना देती है, जैसे—

"मानि मनायौ राधा प्यारी ।
दहियत मदन मदन-नायक है, पीर प्रीति की न्यारी ।
तू जु झुकति ही औरनि रूसत, अब कहि कैसे रूसी ?
बिनुही सिसिर तमकि तामस मैं, तू मुख कमल बिदूषी ।
× × ×
तू तौ प्रान प्रानबल्लभ के, वै तुव चरन उपासी ।
सुनिहै कोऊ चतुर नारि, कत करति प्रेम की हाँसी ।
× × ×
जौ गौरी पिय-नेह-गरब तौ, लाख कहै किन कोई ।
काहू लियौ प्रेम कौ परचौ, चतुर नारि है सोई ।
कत ह्वौ रही नारि नीची करि, देखति लोचन झूले ।
मानौ कुमद रूठि उडुपति सौ, सकुचि अधोमुख फूले ।
× × ×
जोबन-जल बरषा की सरि ज्यौं चारि दिना कौ आवै ।
× + +
लै चलि भवन भावतेहिं भुज गहि, को कहि गारि दिवावै ।"
झुकि बोली, "ह्याँ तै ह्वै हाती, कौनै सिखै पठाई ?
लै किनि जाहि भवन आपने, ह्याँ लरन कौन सौ आई ?"
+ + +
"जे जे प्रेम छके मैं देखे, तिनहिं न चातुरताई ।
तेरे मान-सयान सखी तोहिं, कैसे कै समुझाई ।
परिहै क्रोध-चिनगि भाँवरि मैं, बुझिहै नहीं बुझाई ।
हौ जु कहति तै बादि बावरी, तृन तै आगि उठाई ।"
× + +
इन घोसनि रूसनौ करति है, करिहै कबहिं कलोलै ?
कहा दियौ पढि सीस स्याम कै, खीचि आपनौ सो लै"[१२] ।

दूती के वाक्यो की जिन विशेषताओ के सम्बन्ध मे ऊपर सकेत किया गया है, वे प्राय सभी इस पद की उक्तिया मे मिलती है । राधा का वक्तव्य इसमे अवश्य सक्षिप्त

१२. सा २८२६ ।

है। उसका वास्तविक रूप, श्रीकृष्ण की ओर से राधा को मनाने आयी हुई सखियो से होने वाले निम्नलिखित वार्तालाप मे मिलता है—

"घायल जिमि मूर्छित गिरिधारी। अमी-बचन अब सीचि पियारी।
बहुनायक वै तू नहिं जानै। तिनसौं कहा इतौ दुख मानै।
वाहँ गहैं हरि कौ ढिग ल्यावै। अब वै निज अपराध छमावै।"
"गहति बाहँ तुमही किन जाई। मोसौ वाहँ गहावन आई।
काल्हिहिं सौह मोहिं उन दीनी। आजुहिं यह करनी पुनि कीनी।
देखि चुकी उनके गुननि, निज नैननि सुख पाइ।
तिन्है मिलावति मोहिं अव, वाहँ गहावति आइ।
मिलौं न तिनसौ भूलि, अब जौ लौ जीवन जियौ।
सहौ विरह कौ सूल, वरु ताकी ज्वाला जरौ।
मैं अब अपने मन यह ठानी। उनकै पंथ न पीवौ पानी।
कवहूँ नैन न अजन लाऊँ। मृग-मद भूलि न अंग चढाऊँ।
हस्त-बलय पट नील न धारौ। नैननि कारे घन न निहारौ।
सुनौ न स्रवननि अलि-पिक बानी। नील जलज परसौ नहिं पानी।"

× × ×

"तुम वै एक न दोइ पियारी। जल तै तरँग होति नहिं न्यारी।
रिस-रूसनी ओस-कन जैसौ। सदा न रहै चाहियै तैसौ।
तजि-अभिमानमिलहि पिय प्यारी। मानि राधिका कही हमारी।"
"चुप न रहति कह कहति मनावन। तुम आई हौ वात वनावन।
बहुत सही घर आई यातै। सुरति दिवावति पिछली वातै।
मोसौ वात कहति हौ काकी। जाहु घरनि अब कछु है वाकी।
को उनकी ह्यॉं वात चलावत। है वै अब तुमही कौ भावत।
तुम पुनीत अरु वै अति पावन। आई हौ सब मोहिं मनावन[13]।

मान-प्रसग के इस वार्तालाप मे प्रवाह तो वहुत अधिक नही है, परन्तु भाषा का प्रयोग दोनो पक्षो के मनोभावो के अनुकुल हुआ है। दूती अथवा उसका कार्य करने वाली सखियां राधा का हित चाहती है। वे कहावतो और सूक्तियो का प्रयोग अधिक करती है जिससे राधा परिस्थिति को समझकर मान छोड दे, परन्तु राधिका की खीझ भरी उक्तियो मे स्वाभाविक तीखापन है। उसके वाक्यो को कही तो शब्द की व्यग्यात्मक ध्वनि ने और कही चुभते हुए मुहावरो के प्रयोग ने मनोदशा के सर्वथा अनुकुल वना दिया है।

---

१३. सा. २८२८।

८ **उद्धव-गोपी-सवाद**—यह प्रसग सूर-काव्य के श्रेष्ठतम अशो मे है। इसमे उद्धव-गोपी का सवाद है अवश्य, परतु वह क्रमिक नही है। प्रियतम कृष्ण के वियोग का दुख बहुत समय तक सहनेवाली गोपियो के पास कहने के लिए इतनी बातें हैं कि उद्धव की एक उक्ति सुनते ही वे पचासो पदो मे उसका उत्तर देने को प्रस्तुत हो जाती हैं। यही कारण है कि 'सूरसागर' के भ्रमरगीत-प्रसग मे चार-पाँच प्रतिशत पद ही उद्धव के हैं, शेष मे गोपियो की ही इतनी मार्मिक-मार्मिक उक्तियाँ हैं कि अन्त मे उद्धव भी इन्ही के रग मे रँग जाते हैं। इस प्रसग के अतिम भाग मे सूरदास ने सक्षेप मे उद्धव और गोपियो का क्रमबद्ध वार्तालाप भी दिया है जिसमे क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर के ढग का निर्वाह किया गया है और जो पीछे उद्धृत दानलीला प्रसग की पद्धति पर है। भ्रमरगीत के अनेक पद पिछले पृष्ठो मे उद्धृत किये जा चुके हैं, अतएव यहाँ केवल क्रमबद्धात्मक कथोपकथन का ही कुछ अश उद्धृत किया जा रहा है—

१. उद्धव—मैं तुम पैं ब्रजनाथ पठायौ। आतम-ज्ञान सिखावन आयौ।

\+ \+ \+

जोग समाधि ब्रह्म चित लावहु। परमानद तबहिं सुख पावहु।
गोपी—जोगी होइ सो जोग बखानैं। नवधा-भक्ति दास रति मानैं।
भजनानद हमैं अति प्यारौ। ब्रह्मानद सुख कौन बिचारौ।

\+ \+ \+

रूप-रासि ग्वारनि कौ सगी। कब देखैं वह ललित त्रिभगी।
जौ तुम हित की बात बतावहु। मदन गुपालहिं क्यो न मिलावहु।
उद्धव—जाकैं रूप बरन बपु नाही। नैंन मूँदि चितवौ मन माही।
हृदय-कमल तैं जोति बिराजै। अनहद नाद निरतर बाजै।

\+ \+ \+

इहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग पथ क्रम-क्रम-अनुसरिहौ।
गोपी—हम ब्रज-बाल गोपाल उपासी। ब्रह्मज्ञान सुनि आवै हाँसी।

\+ \+ \+

नीरस ज्ञान कहा लै कीजै। जोग-मोट दासी सिर दीजै।
उद्धव—पारब्रह्म अच्युत अविनासी। त्रिगुन-रहित प्रभु बरैं न दासी।
नहिं दासी ठकुराइनि कोई। जहँ देखौ तहँ ब्रह्म है सोई।
उर मैं आनौ ब्रह्महि जानौ। ब्रह्म बिना द्विजौ नहिं मानौ।
गोपी—खरे करौ अलि जोग सवारौ। भक्ति-विरोधी ज्ञान तुम्हारौ।

× × ×

नंदनँदन कौ देखैं जीवै। जोग-पथ पानी नहिं पीवै।
× × ×
दुसह वचन अलि हमैं न भावै। जोग कहा ओढ़ै कि बिछावै।
उद्धव—(ऊधौ कह्यौ) "धन्य व्रजबाला। जिनके सरबस मदन गुपाला।
× × ×
तुम भम गुरु मैं दास तुम्हारौ। भक्ति सुनाइ जगत निस्तारौ[14]।
२. उद्धव—एकै अलख अपार आदि अविगत है सोई।
आदि निरजन नाम ताहि रीझै सव कोई।
नैंन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म कौ वास।
अबिनासी बिनसै नही, सहज जोति परगास।
गोपी—जौ तौ कर-पग नही, कहौ ऊखल क्यौ बाँध्यौ।
नैंन नासिका मुखन चोरि दधि कौनै खाध्यौ।
तबै खिलाए गोद लै कहे तोतरे वैन।
ऊधौ, ताकौ न्याउ यह, जाहि न सूझै नैन।
उद्धव—माया नित्यहि अध, ताहि द्वै लोचन जैसे।
ज्ञानी नैन अनंत ताहि सूझत नहिं कैसे।
× × ×
गोपी—ऊधौ, कहि सति भाइ न्याइ तुम्हरै मुख साँचै।
जोग प्रेम रस कथा कहौ कचन कौ काँचै।
× × ×
उद्धव—धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य ये सव व्रजवासी।
धनि यह पावन भूमि, जहाँ बिलसे अविनासी।
उपदेसन आयौ हुतौ, मौहिं भयौ उपदेस[15]।

इन सवादो की भापा मिश्रित है। ब्रह्म की परिचयात्मक व्याख्या करते समय उद्धव अनेक पारिभापिक शब्दो का प्रयोग कर जाते है, जिससे वाक्य-योजना शिथिल हो गयी है। परंतु रसिकिनी गोपियाँ तार्किक वाद-विवाद मे न पडकर हार्दिक भावो को सहज भापा मे स्वाभाविक रूप से व्यक्त करती हैं जिससे उनके वाक्यो मे हृदयस्पर्शिता का गुण आ गया है। इन संवादो की एक विशेपता है इनकी क्रमवद्धता; परतु काव्य-कला की दृष्टि से ये अश साधारण ही हैं। गोपियो का हृदय तो वस्तुत उन पदो मे हैं जो उद्धव के मुख से 'अलख', 'निरजन'-जैसे शब्द सुनते ही विविध स्वरो मे सुनायी देते हैं। ऐसे कुछ पद पीछे उद्धृत किये जा चुके हैं।

---

१४. सा. ४०९४। १५. सा ४०९५।

८ कृष्ण-उद्धव-सवाद—ब्रज जाने के पूर्व और वहाँ से लौटने के बाद, दो बार उद्धव से श्रीकृष्ण का सवाद होता है। दोनो ही अवसरो का वार्तालाप क्रमबद्ध न होकर पूरे-पूरे पदो मे है और कही कही एक पद के उत्तर मे कई-कई पद भी कहे गये हैं। अतर दोनो मे यह है कि ब्रज जाने के पूर्व होनेवाले सवाद मे उद्धव की शकाओ का समाधान करने अथवा उन्हे अपने कथन से सहमत करने के लिए श्रीकृष्ण को कई कई पद एक साथ कहने पडते है और ब्रज से लौटने के पश्चात् के वार्तालाप मे ब्रजवासियो की उत्कट प्रीति की प्रशसा करते हुए यही स्थिति उद्धव की हो जाती है, जैसे—

१ "सुनहु उपँगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अबही, इहाँ नही मन लागत।
गोपी ग्वाल गाइ बन चारन, अति दुख पायौ त्यागत।
कहँ माखन-रोटी, कहँ जसुमति, जेवहु कहि-कहि प्रेम"[१६]।

२ सुनहु ऊधौ, "मोहि ब्रज की सुधि नही बिसराइ।
रैन सोवति, दिवस जागत, नाहिनै मन आन।
नद जसुमति, नारि-नर-ब्रज तहाँ मेरौ प्रान।"
कहत हरि सुनि उपँगसुत यह, "कहत हौ रस-रीति।
सूर चित तै टरति नाही, राधिका की प्रीति"[१७]।

३ "सखा, सुनि मेरी इक बात।
वह लता-गृह सग गोपिनि, सुधि करत पछितात।
बिधि लिखी नहिं टरत क्योहूँ," यह कहत अकुलात।
हँसि उपँग-सुत वचन बोले, "कहा करि पछितात।
सदा हित यह रहत नाही, सकल मिथ्या जात"[१८]।

४ "ऊधौ, तुम यह निस्चय जानौ।
मन वच क्रम मैं तुर्महि पठावत, ब्रज कौ तुरत पलानौ"[१९]।

५ "ऊधौ, बेगि ही ब्रज जाहु।
सुति-सँदेस सुनाइ मेटौ बल्लभिनि को दाहु"[२०]।

६ "ऊधौ, ब्रज कौ गमन करौ।
हमहिं विना गोपिका बिरहिनी, तिनके दुख हरौ"[२१]।

श्रीकृष्ण और उद्धव का यह वार्तालाप इनके ब्रज जाने के पूर्व का है। ब्रजवासियो की स्मृति मे पुलकित होकर जब श्रीकृष्ण लगभग तीन पद कह जाते हैं, तब उद्धव हँसकर उपहास के स्वर मे केवल डेढ पक्ति कहने की आवश्यकता समझते हैं। यही क्रम

१६ सा ३४२२। १७ सा ३४२३। १८ सा ३४२४। १९. सा. ३४२६।
२० सा ३४२७। २१. सा. ३४२८।

आगे भी चलता रहता है। परतु व्रज से उद्धव के लौटने के पश्चात् यह क्रम परिवर्तित हो जाता है। सुख-राशि श्रीकृष्ण के प्रति गोपियो की अनन्य भक्ति और परम प्रीति से प्रभावित होकर अव वे लौटे है। अतएव कई पदो मे जब वे उनके प्रति अपने प्रशंसात्मक उद्गार व्यक्त कर चुकते है, तब श्रीकृष्ण को दो-चार पक्तियाँ कहने का अवकाश मिलता है; जैसे—

१. "व्रज के निकट जाइ फिर आयौ।
गोपी-नैन-नीर-सरिता तैं, पार न पहुँचन पायौ।
तुम्हरी सीख सुनाव वैठि कै, चाहत पार गयौ।
ज्ञान ध्यान व्रत नेम जोग कौ, सँग परिवार लयौ।
इहि तट तैं चलि जात नैकु उत, विरह-पवन झकझोरे।
सुरति वृच्छ सो मारि वाहुवल, टूक टूक करि तोरे।
हौं हूँ वूड़ि चल्यौ वा गहिरैं, केतिक वुडकी खाईं।
ना जानौ वह जोग वापुरौ, कहँ धौं गयौ गुसाईं।
जानत हुतौं थाह वा जल की, औ तरिबे कौ धीर।
सूर कथा जु कहा कहौ उनकी, परचौ प्रेम की भीर"[२२]।

२. "जब मैं इहाँ तै जु गयौ।
तव व्रजराज, सकल गोपीजन आगैं होइ लयौ"[२३]।

३. "सुनियै व्रज की दसा गुसाईं।
रथ की धुजा पीत-पट भूषन देखत ही उठि धाईं"[२४]।

४. "हरि जू, सुनहु वचन सुजान।
विरह व्याकुल छीन, तन-मन हीन लोचन-कान"[२५]।

५. "ऊधौ, भलौ ज्ञान समुझायौ।
तुम मोसौं अव कहा कहत हौ, मैं कहि कहा पठायौ।
कहवावत हौ वड़े चतुर पै, उहाँ न कछु कहि आयौ"[२६]।

६. "मैं समुझायौ अति अपनौ सौ।
तदपि उन्हे परतीति न उपजी, सबै लख्यौ सपनौ सौ[२७]।

७. "वातैं सुनहु तौ स्याम, सुनाऊँ।
जुवतिनि सौ कहि कथा जोग की, क्यौं न इतौ दुख पाऊँ"[२८]।

---

२२. सा. ४०९७। २३. सा. ४०९८। २४. सा. ४०९९। २५. सा ४१०१। २६. सा. ४१२४। २७ सा. ४१२५- २८. सा. ४१२६।

कृष्ण और उद्धव के इन दोनो सवादो की भाषा सामान्य मिश्रित है। शब्दो का चुनाव दोनो मे एक सा है। पहले सवाद मे कृष्ण जिस प्रकार गद्‌गद् कठ से मार्मिक वाक्य कहते हैं, वही, बल्कि उससे भी अधिक, आर्द्र कठ, दूसरे सवाद मे उद्धव का है। मुहावरो का प्रयोग पूर्वोद्‌धृत सवादो की तुलना मे, इन दोनो मे बहुत कम है। कारण यह है कि शुद्ध भावातिरेक की स्थिति मे कहे गये सरल वचन स्वत प्रभावोत्पादक होते हैं, शाब्दिक या आर्थिक वक्रता इनके लिए अनावश्यक ही होती है। अतएव क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर न होने पर भी ये सवाद मर्मस्पर्शिता के कारण सुन्दर हैं।

सवादो का वास्तविक महत्व वाक्‌चातुर्य मे है और उसके उपयुक्त शब्द-चयन के लिए कौशलपूर्ण सतर्कता अपेक्षित है। इस दृष्टि से सूर काव्य का उद्धव-गोपी-सवाद वाला अश सबसे महत्वपूर्ण है। अनेकानेक पदो मे नयी-नयी उक्तियाँ और नये-नये अकाट्‌य तर्क गोपियो ने उद्धव के सामने प्रस्तुत करके अपने पक्ष का समर्थन किया और उन्हे निरुत्तर कर दिया। वास्तव मे श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अनन्य प्रीतिमय भक्ति ने उनकी वाणी को विशेष दृढता प्रदान कर दी थी जिसने उनकी भाषा को भी बहुत सशक्त बना दिया। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि सामूहिक रूप से सूरदास के सवाद चाहे अधिक विशेषतायुक्त न भी हो, परतु तर्क की स्पष्टता, विन्यास की सरलता और भाषा की सुबोधता ने उनको विषय, पात्र और परिस्थिति की दृष्टि से स्वाभाविक अवश्य बना दिया है।

५. सूक्तियो की भाषा--

सूर-साहित्य, विशेषत 'सूरसागर', मे सूक्तियो का प्रचुर प्रयोग मिलता है। जीवन के अनेक सारपूर्ण तथ्यो को उन्होने सूक्ति रूप मे इस प्रकार लिखा है कि उनकी सत्यता से परिचित पाठक का चित्त सदैव चमत्कृत हो जाता है। ये सूक्तियाँ एक ओर तो कवि के अनुभव-जन्य ज्ञान का परिचय देती हैं और दूसरी ओर, कथन की प्रभावोत्पादकता-वृद्धि मे सहायक होती हैं। सूरदास द्वारा इनके प्रयोग की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने प्रत्येक स्थल पर विषय के अनुरूप सूक्तियो का ही चयन किया है। उनकी कुछ सूक्तियाँ 'सूरसागर' के विभिन्न स्कधो से यहाँ उद्‌धृत है—

१. दुख, सुख, कीरति भाग आपनैं, आइ परै सो गहियै[२९]।
२ प्रेम के सिधु कौ मर्म जान्यौ नही, सूर कहि कहा भयौ देह बोरौ[३०]।
३ ताहि कै हाथ निरमोल नग दीजियै, जोइ नीकै परखि ताहि जानै[३१]।
४ ससि-सन्मुख जो धूरि उडावै, उलटि ताहि के मुख परै[३२]।
५ जो कछु लिखि राखी नँदनदन मेटि सकै नहिं कोइ[३३]।
६ यह जग-प्रीति सुवा-सेमर ज्यौ, चाखत ही उडि जात[३४]।

---

२९ सा १-६२। ३० सा ३१-२२२। ३१ सा १-२२३। ३२ सा. १-२३४। ३३. सा. १-२६२। ३४ सा. १-३१३।

७. सुख-संपति दारा-सुत हय-गय छूट सबै समुदाइ।
छनभगुर यह सबै स्याम विनु अत नाहि सँग जाइ[३५]।

८. जीवन-जन्म अल्प सपनौ सौ, समुझि देखि मन माही।
बादर-छाँह, धूम-धौराहर, जैसै थिर न रहाही[३६]।

९. झूठे नाते जगत के सुत-कलत्र-परिवार[३७]।
१०. किये नर की स्तुती कौन कारज सरै, करै सो आपनौ जन्म हारै[३८]।
११. विनु जानै कोउ औषधि खाइ। ताकौ रोग सकल नसि जाइ[३९]।
१२. हारि-जीति नहि जिय कै हाथ। कारन-करता आनहि नाथ[४०]।
१३. नर-सेवा तै जौ सुख होइ। छनभगुर थिर रहै न सोइ[४१]।
१४. नारि के रूप कौ देखि मोहै न जो, सो नहि लोक तिहु माहि जायौ[४२]।
१५. (कह्यौ) बिपय सो तृप्ति न होइ। कैतो भोग करौ किन कोइ[४३]।
१६. धनि जननी जो सुभटहि जावै।
भीर परै रिपु कौ दल दलि-मलि, कौतुक करि दिखरावै[४४]।
१७. अति रिस ही तै तनु छीजै। सुठि कोमल अग पसीजै[४५]।
१८. जहाँ बसे पति नाहि आपनी, तजन कह्यौ सो ठौर[४६]।
१९. सूरदास ऊसर की वरषा, थोरे जल उतरानी[४७]।
२०. सिहिनि कौ छौना भलौ, कहा बड़ौ गजराज[४८]।
२१. सेवक करै स्वामि सौ सरवरि, इन वातनि पति जाई[४९]।
२२ जाकौ मन जहँ अँटकै जाइ, ता विनु ताकौ कछू न सुहाइ।
कठिन प्रीति कौ फद है[५०]।

२३. (जैसै) चोर चोर सौ रातै, ठठा ठठा एकै जानि।
कुटिल कुटिल मिलि चलै, एक ह्वै, दुहुनि बनी पहिचानि[५१]।
२४. धनी धन कबहूँ न पगटै, धरै ताहि छपाइ[५२]।
२५. विष कौ कीट विपहि रुचि मानै, कहा सुधा रसही री[५३]।
२६. जाकी जैसी वानि परी री।
कोऊ कोटि करै नहि छूटै, जो जिहि धरनि धरी री[५४]।

---

३५. सा. १-३१७। ३६. सा. १-३१९। ३७. सा. २-२९। ३८ सा ४-११।
३९ सा ६-४। ४०. सा. ६-५। ४१. सा. ७-२। ४२ सा. ८-१०।
४३. सा. ९-८। ४४. सा. ९-१५२। ४५. सा. १०-१८३। ४६. सा. १०-३२३।
४७. सा. १०-३३७। ४८. सा. ५८९। ४९. सा. ९५३। ५०. सा. ११८०।
५१. सा १२७९। ५२. सा. १८४३। ५३. सा. १९२४। ५४. सा. २३१६

२७. नाहिंन कढत और के काढे, सूर मदन के बान[५५] ।
२८ प्यासे प्रान जाइँ जौ जल बिनु पुनि कह कीजै सिंधु अमी को ।
२९ जीवन सुफल सूर ताही कौ, काज पराए आवत[५६] ।
३०. प्रेम प्रेम तैं होइ, प्रेम तैं पारहिं जइयै ।
प्रेम बँध्यौ ससार प्रेम परमारथ लहियै[५८] ।

इन सूक्तियो की भाषा सीधी-सादी और अनलकृत है । जिस उक्ति को अनुभव-जन्य सत्यता का बल प्राप्त हो, उसकी भाषा को साज-शृगार की आवश्यकता नही होती। इसीलिए सूरदास ने व्याख्यात्मक और निष्कर्षात्मक, दोनो प्रकार की सूक्तियो को मिश्रित भाषा मे ही लिखा है और उसको तत्सम शब्दो के अधिक प्रयोग से तो बचाया ही है, मुहावरो-कहावतो को भी उसमे बहुत कम स्थान दिया है। यह ठीक है कि कबीर, रहीम, तुलसी आदि की सूक्तियो के समान सूरदास की समवर्गीय उक्तियो का अभी तक विशेष प्रचार नही हो सका है, परन्तु इसका प्रधान कारण सूर-साहित्य का सर्वसुलभ न होना ही कहा जा सकता है। अतएव अब 'सूरसागर' के प्रकाशित हो जाने पर यह आशा अवश्य की जा सकती है कि अपने सरल और स्वाभाविक भाषा-रूप के कारण सूरदास की सूक्तियाँ लोकप्रिय हो सकेंगी ।

मुहावरो के प्रयोग—

भाषा मे मुहावरो के प्रयोग से सजीवता और सशक्तता आती है। रचना को जन-साधारण मे प्रिय बनाने मे भी मुहावरो का बहुत हाथ रहता है। जिस लेखक की भाषा जनता की बोली के जितना निकट होगी, उसमे सामान्यतया मुहावरो का प्रयोग उतना ही अधिक होना चाहिए। मुहावरेदार भाषा ही वास्तव मे उसका स्वाभाविक रूप है। मुहावरो के प्रयोग से कभी-कभी भाषा पर लेखक के अधिकार का भी परिचय मिलता है। साधारणत जन-सपर्क मे अधिक रहनेवाले और विनोदी प्रकृति के व्यक्तियो की भाषा मे मुहावरो का प्रयोग खूब मिलता है। सूरदास की भाषा मे भी मुहावरो की प्रचुरता के ये ही मुख्य कारण हैं। प्रकृति से वे एकातवासी नही थे। स्वभाव से वे विनोदी भी बहुत थे और जनसाधारण की भाषा को ही उन्होने काव्य-भाषा का-रूप देने का सफल प्रयास किया था। ऐसी स्थिति मे मुहावरो का प्रेमी होना सूरदास के लिए स्वाभाविक ही जान पडता है।

सूरकाव्य मे प्रयुक्त मुहावरो की सूची बहुत लबी है। 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' मे इनका प्रयोग अवश्य कम हुआ है, परतु 'सूरसागर' मे इनकी भरमार है और शायद ही कोई भावप्रधान पद उसमे ऐसा मिले जिसमे दो-चार मुहावरो का प्रयोग उन्होने न किया हो। विषय के अनुसार 'सूरसागर' के जो तीन बडे विभाग— (१) विनय पद और पौराणिक कथाएँ, प्रथम से नवम स्कध तक , (२) श्रीकृष्ण

---

५५ सा २५९९। ५६ सा ३७३८। ५७ सा. ३३३४। ५८ सा ४०९५।

की व्रज-लीला, दशम स्कंध, पूर्वार्द्ध; और (३) श्रीकृष्ण की मथुरा-द्वारका-लीला, दशम स्कध उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कध—पीछे किये गये है, उनमे से प्रथम और अतिम मे इनका प्रयोग बहुत कम और द्वितीय मे बहुत अधिक किया गया है। इसके चार प्रमुख कारण हो सकते हैं—

पहला तो यह कि कवि को श्रीकृष्ण-कथा का यही अश सर्वाधिक प्रिय है।

दूसरे, इस अश मे ग्रामीण पात्रो की, विशेषत स्त्रियो की प्रधानता है जिनका स्वभाव ही मुहावरेदार जन-भाषा मे बातचीत करने का होता है।

तीसरे, उक्त तीनो विभागों मे से प्रथम और अतिम का अधिकाश स्वय कवि द्वारा वर्णित है, पात्रो को बोलने का उनमे बहुत कम अवसर मिला है, परन्तु द्वितीय भाग का अधिकाश पात्र-पात्रियो के पारस्परिक वचनो से पूर्ण है।

चौथा प्रमुख कारण यह है कि दशम स्कध के पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त शेष सभी स्कधों मे हर्ष, शोक, प्रेम, विरह आदि भावो की सामान्य स्थितियाँ ही पाठको के सामने आती है जिनके वर्णन में सामान्य भाषा-रूप से भी काम चल जाता है। परन्तु दशम स्कध मे यदि हर्ष और प्रेम है तो चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ और शोक या विरह की वेदना है तो अपार और निस्सीम। इसके अतिरिक्त अपनी प्रीति की अनन्यता को सिद्ध करने की कडी समस्या भी व्रजबालाओ के सामने आती है। इन सबकी व्यंजना सामान्य भाषा मे अपेक्षित प्रभावात्मक रूप में हो ही नही सकती थी। अतएव उक्तियो की वक्रता और वाणी की विदग्धता के उपयुक्त मुहावरो के चयन और प्रयोग में उनका प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही नही, आवश्यक भी था।

'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के साथ-साथ 'सूरसागर' के उक्त तीनो वर्गों में प्राप्त मुहावरो मे से कुछ के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है।

अ **'सारावली के मुहावरे**— 'सूरसागर' के पौराणिक कथा-प्रसगो की इतिवृतात्मक शैली पर ही 'सारावली' की रचना भी हुई है। अतएव बाइस सौ के लगभग पक्तियो मे चार सौ के लगभग मे मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं जिनमे से कई तो तीन-चार बार दोहराये भी गये हैं। 'सारावली' से दस चुने हुए मुहावरो के प्रयोग इस प्रकार है—

१. अब न **परत मोकूँ** कल छिनहूँ चित मैं अति अकुलाई[५९]।
२. **गढ़ि गढ़ि छोलत** कहा रावरे लूटत हौ व्रजबाल[६०]।
३ मन-क्रम-वचन यहै वर दीजौ **माँगत गोद पसारी**[६१]।
४ बालक बह्यौ सिंधु मे हमरो सो नितप्रति **चित लाग्यो**[६२]।
५. तरुन रूप धरि गोपिनि के हित **सबको चित हरि लीन्हो**[६३]।

---

५९. सारा. ८७४। ६०. सारा ८८५। ६१. सारा. २२०। ६२. सारा. ५३९। ६३. सारा ८७२।

६. तब हरि भिरे मल्ल-क्रीडा करि बहु बिधि **दाँव दिखाए**[६४] ।
७. अति आनद कुलाहल घर घर **फूले अंग न समात**[६५] ।
८. जो तुम राजनीति सब जानत बहुत **बनावत बात**[६६] ।
९. जसुमति माय धाय उर लीन्हो **राई-लोन उतारो**[६७] ।
१०. भूषन बसन आदि सब रचि रचि माता लाड लडावै[६८] ।

आ **'साहित्यलहरी' के मुहावरे**—कूट पदो का सकलन होने के कारण 'साहित्य-लहरी' मे मुहावरो का प्रयोग बहुत कम हुआ है , क्यो कि गूढार्थ-द्योतक सामासिक पदों की रचना मे ही कवि का ध्यान अधिक केंद्रित रहा है। अतएव इस काव्य मे प्रयुक्त मुहावरों मे से केवल पाँच के उदाहरण परिचय के लिए पर्याप्त हो गे—

१ यहै चिंता **दहै छाती** कामघाती बीर[६९] ।
२ का सतरात अली बतरावत उतने **नाच नचावै**[७०] ।
३. निस दिन **पंथ जोहत** जाइ[७१] ।
४ मोहिं आन बृषभान बबा की मैया **मंत्र न लैहै**[७२] ।
५. मोहन मो **मन बसिगो** माई[७३] ।

इ. **'सूरसागर' के मुहावरे**—'सूरसागर' एक प्रकार से मुहावरो का भी 'सागर' है। एक शब्द से बने हुए अनेक मुहावरो को यदि स्वतत्र प्रयोग मान लिया जाय तो दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' मे लगभग बीस हजार मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। इनमे से अनेक मुहावरे ऐसे भी जिनका प्रयोग बार-बार किया गया है। इस प्रकार केवल इस एक काव्य-कृति के आधार पर ऐसे मुहावरो का एक अच्छा कोश तैयार किया जा सकता है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त हैं। यहाँ 'सूरसागर' के विभिन्न अशो से अलग-अलग मुहावरो के उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनसे स्पष्ट हो सकता है कि सूरदास भाषा की सजीवता-वृद्धि के लिए इनका प्रयोग आवश्यक समझते थे और इनसे युक्त भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था—

क्ष **प्रथम से नवम स्कंध तक**—'सूरसागर' के इन नौ स्कधो मे लगभग ढाई हजार पंक्तियो में मुहावरो का प्रयोग किया गया है जिनमें से चुने हुए केवल पचास प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं—

१ बान-बरसा लगे करन अति क्रुद्ध ह्वै, पार्थ-अवसान तब सब **भुलाए**[७४] ।
२ आजु-कालिह दिन **चारि-पाँच** मैं लका होति पराई[७५] ।

---

६४ सारा ५२१। ६५ सारा ६५० । ६६ सारा ८२४। ६७ सारा. ४५७। ६८ सारा. १८२। ६९ लहरी ५३ । ७० लहरी ८४। ७१ लहरी २२ । ७२ लहरी १० । ७३. लहरी ४३। ७४ सा १-२७१। ७५. सा. ९-११७।

३. और पतित आवत न आँखि-तर देखत अपनौ साज[७६]।
४. यह तौ कथा चलैगी आगैं, सब पतितनि मैं हाँसी[७७]।
५. मदिर की परछाया वैठ्यौ, कर मींजै पछिताइ[७८]।
६. नृप कह्यौ, मैं उत्तर नहिं पायौ। मेरौ कह्यौ न मन मै ल्यायौ[७९]।
७. मारि न सकै, विघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर[८०]।
८. सूरदास के प्रभु सो करियै, होइ न कान-कटाई[८१]।
९. जब तोसौ समुझाइ कही नृप, तब तै करी न कान[८२]।
१०. अब तौ परचौ रहैगौ दिन-दिन तुमकौ ऐसौ काम[८३]।
११. ताकौ केस खसै नहिं सिर तै जौ जग वैर परै[८४]।
१२. तुमही कहौ कृपानिधि रघुपति। किहिं गिनती मै आऊँ[८५]।
१३. सहसबाहु के सुतनि पुनि राखी घात लगाइ[८६]।
१४. सुवा पढावति जीभ लड़ावति, ताहि विमान पठायौ[८७]।
१५. लोक तिहुँ माहिं कोउ चितु न आयौ[८८]।
१६. टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी, टेढै-टेढै धायौ[८९]।
१७. कवहुँकि फूलि सभा मैं वैठ्यौ, मूँछनि ताव दिखायौ[९०]।
१८. भुजा छुड़ाइ, तोरि तृन ज्यौ हित, कियौ प्रभु निठुर हियौ[९१]।
१९. दाउँ अवकै परचौ पूरौ, कुमति पिछली हारि[९२]।
२०. दाँत चबात चले जमपुर तै धाम हमारे कौ[९३]।
२१. सूर श्री गोविंद-भजन-विनु चले दोउ कर झारि[९४]।
२२. कीजै लाज नाम अपने की, जरासध सौ असुर सँघारौ[९५]।
२३. गनिका तरी आपनी करनी, नाम भयौ प्रभु तेरौ[९६]।
२४. दासी वालक मृतक निहारि। परी धरनि पर खाइ पछारि[९७]।
२५. वड़े पतित पासंगहु नाहीं, अजामिलि कौन विचारौ[९८]।
२६. प्रभु मै पीछौ लियौ तुम्हारौ[९९]।
२७. सूरदास ऐसे स्वामी कौ, देहिं पीठि सो अभागे[१]।

---

७६. सा. १-९६। ७७. सा. १-१९२। ७८. सा. ९-७५।
७९. सा. ५-४। ८०. सा. १-९१। ८१ सा. १-१८५।
८२. सा. १-२६९। ८३. सा. १-१९१। ८४ सा. १-३७। ८५. सा ९-१७२।
८६. सा. ९-१४। ८७. सा. १-१८८। ८८. सा. ८-८। ८९ सा. १-३०१।
९०. सा. १-३०१। ९१ सा. ९-४६। ९२. सा. १-३०९। ९३. सा. १-१५१।
९४. सा. १-३०९। ९५ सा. १-१७२। ९६. सा. १-१३२। ९७ सा ६-५।
९८. सा. १-१३१। ९९ सा १-२१८। १. स. १-८।

६. तब हरि भिरे मल्ल-क्रीडा करि बहु बिधि **दाँव दिखाए**[६४] ।
७. अति आनद कुलाहल घर घर **फूले अंग न समात**[६५] ।
८. जो तुम राजनीति सब जानत बहुत **बनावत बात**[६६] ।
९. जसुमति माय धाय उर लीन्हो **राई-लोन उतारौ**[६७] ।
१०. भूषन बसन आदि सब रचि रचि माता **लाड लडावै**[६८] ।

आ. **'साहित्यलहरी' के मुहावरे**—कूट पदो का सकलन होने के कारण 'साहित्य-लहरी' मे मुहावरो का प्रयोग बहुत कम हुआ है , क्यो कि गूढार्थ-द्योतक सामासिक पदों की रचना मे ही कवि का ध्यान अधिक केंद्रित रहा है । अतएव इस काव्य मे प्रयुक्त मुहावरों मे से केवल पाँच के उदाहरण परिचय के लिए पर्याप्त हो गे—

१ यहै चिता **दहै छाती** कामघाती बीर[६९] ।
२ का सतरात अली बतरावत उतने **नाच नचावै**[७०] ।
३ निस दिन **पंथ जोहत** जाइ[७१] ।
४ मोहिं आन बृषभान बबा की मैया **मंत्र न लैहै**[७२] ।
५. मोहन मो **मन बसिगो** माई[७३] ।

इ **'सूरसागर' के मुहावरे**—'सूरसागर' एक प्रकार से मुहावरो का भी 'सागर' है । एक शब्द से बने हुए अनेक मुहावरों को यदि स्वतत्र प्रयोग मान लिया जाय तो दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' मे लगभग बीस हजार मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं । इनमे से अनेक मुहावरे ऐसे भी जिनका प्रयोग बार-बार किया गया है । इस प्रकार केवल इस एक काव्य-कृति के आधार पर ऐसे मुहावरो का एक अच्छा कोश तैयार किया जा सकता है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त हैं । यहाँ 'सूरसागर' के विभिन्न अशो से अलग-अलग मुहावरो के उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनसे स्पष्ट हो सकता है कि सूरदास भाषा की सजीवता-वृद्धि के लिए इनका प्रयोग आवश्यक समझते थे और इनसे युक्त भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था—

क्ष **प्रथम से नवम स्कंध तक**—'सूरसागर' के इन नौ स्कधो मे लगभग ढाई हजार पक्तियो में मुहावरो का प्रयोग किया गया है जिनमें से चुने हुए केवल पचास प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं—

१ वान-वरसा लगे करन अति क्रुद्ध ह्वै, पार्थ-अवसान तव सब **भुलाए**[७४] ।
२ आजु-कालिह दिन **चारि-पाँच** मैं लका होति पराई[७५] ।

---

६४ सारा ५२१ । ६५. सारा ६५० । ६६ सारा ८२४ । ६७ सारा. ४५७ ।
६८ सारा. १८२ । ६९ लहरी ५३ । ७० लहरी ८४ ।
७१ लहरी २२ । ७२ लहरी १० । ७३. लहरी ४३ ।
७४ सा १-२७१ । ७५. सा. ९-११७ ।

३. और पतित आवत न आँखि-तर देखत अपनी साज[७६]।
४. यह तौ कथा चलैगी आगैं, सब पतितनि मैं हाँसी[७७]।
५. मंदिर की परछाया बैठ्यौ, कर मींजै पछिताइ[७८]।
६. नृप कह्यौ, मैं उत्तर नहिं पायौ। मेरौ कह्यौ न मन मै ल्यायौ[७९]।
७. मारि न सकै, विघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर[८०]।
८. सूरदास के प्रभु सो करियै, होइ न कान-कटाई[८१]।
९. जब तोसौं समुझाइ कही नृप, तब तैं करी न कान[८२]।
१०. अब तौ परचौ रहैगौ दिन-दिन तुमकौ ऐसौ काम[८३]।
११. ताकौ केस खसै नहिं सिर तैं जौ जग बैर परै[८४]।
१२. तुमही कहौ कृपानिधि रघुपति। किहिं गिनती मैं आऊँ[८५]।
१३. सहसबाहु के सुतनि पुनि राखी घात लगाइ[८६]।
१४. सुवा पढावति जीभ लड़ावति, ताहि विमान पठायौ[८७]।
१५. लोक तिहूँ माहिं कोउ चितु न आयौ[८८]।
१६. टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी, टेढै-टेढै धायौ[८९]।
१७. कबहुँकि फूलि सभा मैं बैठ्यौ, मूँछनि ताव दिखायौ[९०]।
१८. भुजा छुड़ाइ, तोरि तृन ज्यौं हित, कियौ प्रभु निठुर हियौ[९१]।
१९. दाउँ अबकैं परचौ पूरौ, कुमति पिछली हारि[९२]।
२०. दाँत चबात चले जमपुर तैं धाम हमारे कौ[९३]।
२१. सूर श्री गोविंद-भजन-बिनु चले दोउ कर झारि[९४]।
२२. कीजै लाज नाम अपने की, जरासंध सौ असुर सँघारौ[९५]।
२३. गनिका तरी आपनी करनी, नाम भयौ प्रभु तेरौ[९६]।
२४. दासी बालक मृतक निहारि। परी धरनि पर खाइ पछारि[९७]।
२५. बड़े पतित पासंगहु नाहीं, अजामिलि कौन बिचारौ[९८]।
२६. प्रभु मैं पीछौ लियौ तुम्हारौ[९९]।
२७. सूरदास ऐसे स्वामी कौ, देहिं पीठि सो अभागे[१]।

---

७६. सा. १-९६। ७७ सा. १-१९२। ७८. सा. ९-७५।
७९. सा. ५-४। ८०. सा. १-९१। ८१. सा. १-१८५।
८२. सा. १-२६९। ८३. सा. १-१९१। ८४. सा. १-३७। ८५. सा. ९-१७२।
८६. सा. ९-१४। ८७. सा. १-१८८। ८८. सा. ८-८। ८९ सा. १-३०१।
९०. सा. १-३०१। ९१ सा. ९-४६। ९२. सा. १-३०९। ९३. सा. १-१५१।
९४. सा. १-३०९। ९५. सा. १-१७२। ९६. सा. १-१३२। ९७ सा. ६-५।
९८. सा. १-१३१। ९९ सा. १-२१८। १. स. १-८।

२८ होडा-होडी मनहिं भावते किए पाप **भरि पेट**[२]।
२९ इहि कृति कौ **फल** तुरत **चखैहौं**[३]।
३० सूरदास बैकुंठ-पैंठ मैं, **कोउ न फैंट पकरतौ**[४]।
३१ **परै बज्र** या नृपति-सभा पै, कहति प्रजा अकुलानी[५]।
३२ तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ, तऊ **न आयौ बाज**[६]।
३३ मन बिछुरे तन छार होइगौ, **कोउ न बात पुछातौ**[७]।
३४ प्रिया-बियोग **फिरत मन मारे** परे सिंधु-तट आनि[८]।
३५ पटकि पूँछ **माथौ धुनि** लोटै, लखी न राघव-नारि[९]।
३६ अष्ट सिद्धि बहुरौ तहँ आईं। रिषभदेव ते **मुँह न लगाईं**[१०]।
३७ निसि दिन फिरत रहत **मुँह बाए** अहमिति जनम बिगोइसि[११]।
३८ मिथ्याबाद आप-जस सुनि सुनि **मूँछहिं पकरि अकरतौ**[१२]।
३९ अब **मेरी-मेरी करि** बौरे, बहुरौ बीज बयौ[१३]।
४०. जिनके दारुन दरस देखि कै, पतित करत **म्यौं म्यौं**[१४]।
४१ परम कुबुद्धि, तुच्छ रस लोभी, कौडी लगि मग की **रज छानत**[१५]।
४२ पति अति **रोष मारि मनहीं** मन भीषम दई बचन बँधि बेरी[१६]।
४३ लादत जोतत **लकुट बाजिहै** तब कहँ मूँड दुरैहौ[१७]।
४४ कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, **खैंचि कहत हौं लीको**[१८]।
४५. तिन देखत मेरौ पट काढत, **लीक लगै तुम लाज**[१९]।
४६ हम कछु **लेन न देन** मैं, ये बीर तिहारे[२०]।
४७ नगन न होति चकित भयौ राजा, **सीस धुनै, कर मारै**[२१]।
४८ हौ बड, हौ बड बहुत कहावत, **सूधैं करत न बात**[२२]।
४९ सूरदास रावन कुल-खोवन **सोवत सिंह जगायौ**[२३]।
५० द्विज कुल-पतित अजामिल विषयी, गनिका **हाथ बिकायौ**[२४]।

त्र दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध)—इस शीर्षक के अतर्गत सभा के 'सूरसागर' मे ४१६० पद दिये गये है। इनकी लगभग सोलह हजार पंक्तियो मे सूरदास ने मुहावरो के प्रयोग किये है। यह ठीक है कि अनेक पंक्तियो मे पूर्व प्रयुक्त मुहावरे दोहराये गये हैं, फिर भी

---

२ सा १-१०६। ३ सा ७-५। ४ सा १-२९७। ५ सा १-९५०। ६ सा १-९६। ७ सा. १-३०२। ८ सा ९-८३। ९ सा. ९-७५। १० सा ५-२। ११ सा १-३३३। १२ सा १-२०३। १३ सा १-७८। १४ सा १-१५१। १५ सा १-११४। १६ सा १-२५२। १७ सा १-३३१। १८ सा १-१३८। १९ सा १-२५५। २० सा १-२३८। २१ सा १-२५७। २२ सा २-२२। २३ सा ९-८८। २४ सा. १-१०४।

इसमे कोई सदेह नही कि सजीवता और साकेतिकता की दृष्टि से इनमे से अधिकाश पदो की भाषा अत्यत उत्कृष्ट है। दशम स्कध से यहाँ लगभग सौ मुहावरो के ही उदाहरण दिये जा रहे है—

१. जोग की गति सुनत मेरैं अंग आगि **वई**[२५]।
२ निदरि बैठी सवनि कौ यह **पुलकि अग न समाति**[२६]।
३. मैं तौ जे हरे है, ते तौ सोवत परे है, ये करे है कौनैं आन, **अँगुरीनि दंत दै रह्यौ**[२७]।
४. तुम **बाँधति आकास** बात झूठी को सैहै[२८]।
५. **आस जनि तोरहु** स्याम, हमारी[२९]।
६. प्रीति के वचन वाँचे, बिरह अनल आँचे, आपनी गरज कौ तुम **एक पायँ नाचे**[३०]।
७. मुरलिया स्यामहिं **और कियौ**[३१]।
८. अव तुम मोकौ करौ अजाँची, जो कहुँ **कर न पसारौ**[३२]।
९. **कान परी सुनियै नहीं** वहु वाजत ताल मृदग[३३]।
१० सूरदास स्वामी विनु गोकुल **कौड़ी हू न लहै**[३४]।
११ बहुत दिवस मैं **कौरैं लागी**, मेरी **घात न आयौ**[३५]।
१२ मानौ पून्यौ चद्र **खेत चढ़ि** लरि स्वरभानु सौ घायल आयौ[३६]।
१३. आपु अपनी **घात निरखत** खेल **जम्यौ** वनाइ[३७]।
१४ कोउ वरषत, कोउ अगिनि जरावत, दई **परचौ है खोज हमारे**[३८]।
१५. तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया **गंगा कैसौ पानी**[३९]।
१६ दधि-माखन **गाँठी दै राखति**, करत फिरत सुत चोरी[४०]।
१७. वह मघवा वलि लेत है नित **करि करि गाल**[४१]।
१८. देखहु जाइ चरित तुम वाके जैसै **गाल वजैहै**[४२]।
१९ चोरि-चोरि दधि-माखन मेरौ, नित प्रति **गीधि रहे हो** छीकें[४३]।
२० इक तैं एक **गुननि हैं पूरे** मातु, पिता अरु आपु[४४]।
२१ दियौ फल यह गिरि गोवरधन, लेहु **गोद पसारि**[४५]।
२२. तुम कुँवर **घर ही के वाढ़े** अव कछू जिय जानिहौ[४६]।

---

२५ सा. ३७०३। २६ सा. १२९८। २७ सा. ४८४। २८ सा. १४९१। २९. सा. १०२९। ३० सा. २५४९। ३१. सा १२७७। ३२ सा. १०-३७। ३३. सा. २९०७। ३४. सा. ३१८०। ३५ सा. १०-२८८। ३६. सा. १६११। ३७. सा. १०-२४४। ३७. सा. ५९५। ३९. सा. १०-३११। ४०. सा. १०-३४२। ४१ सा. ८२३। ४२. सा. १७२४। ४३. सा. १०-२८७। ४४. सा. १२५६। ४५. सा. ८५९। ४६. सा. २८१०।

२३. आपुनि गई कमोरी माँगन, हरि **पाई** ह्याँ **घात**[४७]।
२४ सखा साथ के **चमकि गए** सब, गह्यौ स्याम-कर धाइ[४८]।
२५ चितवत **चित लै चुराइ,** सोभा बरनी न जाइ[४९]।
२६ सूरदास प्रभु दूत दिनहिं दिन, पठवत चरित **चुनौती दैन**[५०]।
२७ **छठ-आठैं** मोहिं कान्ह कुँवर सौं, तिनकी कहति प्रीति तोसौं है[५१]।
२८- वह पापिनी दाहि कुल आई, देखि **जरति है छाती**[५२]।
२९- बिना **जोर अपनी जाँघनि के** कैसैं सुख कीन्हौ तुम चाहत[५३]।
३० जाहु घरहिं तुमकौ मैं चीन्ही। तुम्हरी **जाति जानि** मैं **लीन्ही**[५४]।
३१ **हाथ नचावति** आवति ग्वारिनि, **जीभ करै किन थोरी**[५५]।
३२ अचरज महरि तुम्हारे आगैं, अबै **जीभ तुतरानी**[५६]।
३३ ऊँच-नीच **जुवती** बहु **करिहैं,** सतएँ राहु परे हैं[५७]।
३४ सूरदास जसुदा कौ नदन, **जो कछु करै सो थोरी**[५८]।
३५ **ज्यौं-त्यौं करि** इन दुहुनि सँघारौ, बात नही कछु और[५९]।
३६ सूर स्याम मैं तुम न डरैहौ, **ज्वाब** स्वाल कौ **दैहौं**[६०]।
३७ अतिहिं आई गरब कीन्हे, गई घर **झख मारि**[६१]।
३८ ऐसैं **टूटि परी** उन ऊपर, तुमही कीन्हौ **बैरी**[६२]।
३९ सूरदास प्रभु कह्यौ न मानत, **परचौ** आपनी **टेक**[६३]।
४०. जनु हीरा हरि **लियौ** हाथ तै, **ढोल बजाइ** ठगी[६४]।
४१. लरिकिनी सबनि घर तोसी नहिं कोउ निडर,

चलत **नभ चितै नहिं तकत धरनी**[६५]।
४२ जननी कहति, **दई की घाली,** काहे कौं इतराति[६६]।
४३ (माई) नैकहूँ न **दरद करति,** हिलकिनि हरि रोवै[६७]।
४४ अचिरज आइ सुनौ री, भूषन **देखि न सकत** हमारौ[६८]।
४५ सूर परेखौ काकौ कीजै, **बाप कियौ** जिन **दूजौ**[६९]।
४६ **द्वै कौड़ी** के कागद-मसि कौ, लागत है बहु मोल[७०]।

---

४७. सा १०-२७०। ४८ सा १०-३१४। ४९ सा १०-१४६।
५० सा. १७७६। ५१ सा १७१७। ५२ सा १३१५।
५३. सा. १८१२। ५४ स ७९९। ५५ सा १०-२९३। ५६ सा १०-३११।
५७. सा १०-८६। ५८. सा १०२९३। ५९. सा २९२६। ६० सा १४०५।
६१ सा १७४१। ६२ सा २०८७। ६३. सा. ४११। ६४ सा. ३२६५।
६५. सा ६९८। ६६ सा १००३। ६७ सा ३४८। ६८ सा १५४१।
६९ सा ३६५०। ७० सा ३२५४।

४७. अब ये भवन देखियत सूने, धाइ धाइ हमको ब्रज खात[७१]।
४८. कीधौ कहुँ प्यारी कौ, लागी टटकी नजरि[७२]।
४९. दंडौ काम-दड पर-घर कौ नाउँ न लेइँ वहोरी[७३]।
५०. गिरिधर कौं अपनै बस कीन्हे, नाना नाच नचावै री[७४]।
५१. त्रिभुवन मैं अति नाम जगायौ, फिरत स्माम सँगही-सँगही[७५]।
५२. आजु मोंहि वलराम कहत हे, झूठहिं नाम धरति हैं तेरौ[७६]।
५३. करन देहु इनकी मोंहि पूजा, चोरी प्रगटत नाम[७७]।
५४. महादेव की नारी छूटी, अति ह्वै रहे अचेत[७८]।
५५. गिरिधर बर मैं नेकु न छाँडौ, मिली निसान बजाइ[७९]।
५६ इनको गुन कैसे कहि आवै, सूर पयारहिं झारत[८०]।
५७. देखौ जाइ आजु बन कौ सुख, कहा परोसि धरचौ है[८१]।
५८. देन उरहनौ तुमकौ आई। नीकी पहरावनि हम पाई[८२]।
५९. साटिनि मारि करौं पहुँनाई, चितवत कान्ह डरायौ[८३]।
६०. पाँच की सात लगायौ, झूठी झूठी कै वनायौ,
साँची जौ तनक होइ, तौलौ सव सहियै[८४]।
६१. असुर कस दै पान पठाई[८५]।
६२. जाकौ व्रह्मा पार न पावत, ताहि खिलावत ग्वालिनियाँ[८६]।
६३ वहियाँ गहत सतराति कौन पर, मग धरि डग कौन पर होति पीरी-कारी[८७]।
६४. ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री[८८]।
६५ नाच कछ्यौ तव घूंघट छोरचौ। लोक-लाजि सव फटकि-पछोरचौ[८९]।
६६. फूली फिरति ग्वालि मन मै री[९०]।
६७. याकै वल हम वदत न काहुंहि, सकल भूमि तृन चारचौ[९१]।
६८. जा कारन तुम यह बन सेयौ, सो तिय मदन-भुअगम खाई[९२]।
६९. हौ तौ न भयौ री घर, देखत्यौ तेरी यौ अर,
फोरतौ वासन सव, जानति वलैया[९३]।
७०. झूठे ही यह वात उड़ी है, राघा-कान्ह कहत नर-नारी[९४]।

---

७१. सा. ३२५१। ७२. सा. ७५२। ७३. सा १९३८। ७४. सा १२३८।
७५. सा. २२४१। ७६. सा. ३९९। ७७. सा. ३७६। ७८. सा. ११८३।
७९. सा. १६६३। ८०. सा. २३०१। ८१. सा ४१४। ८२. सा. ७९९।
८३. सा. १०-३३०। ८४. सा. १७३४। ८५ सा १०-५०। ८६. सा. १०-१३२।
८७. सा. २५९५। ८८ सा. १०-१३५। ८९. सा. १६६१। ९०. सा. १०-२६६।
९१. सा. ४३३। ९२. सा. ७४८। ९३. सा ३७२। ९४. सा. १७१०।

७१ मेरी **बात गई** इन आगें, अबहिं **करति बिनु पानी** [९५]।
७२ को इनकी ह्याँ **बात चलावै**, इतनौ हित है काकै [९६]।
७३ **बातनि ही उड़ि जाहिं** और ज्यौ, त्यौं नाही हम काँची [९७]।
७४ न्हात **बार न खसै** इनकौ, कुसल पहुँचै धाम [९८]।
७५ सूर सकल षटदरसन वै, हौं **बारहखरी पढ़ाऊँ** [९९]।
७६ यह सुनि नृपति हरष मन कीन्हौ, तुरतहिं **बीरा दीन्हौ** [१]।
७७ चतुराई अँग-अग भरी है, पूरन ज्ञान, न **बुधि की मोटी** [२]।
७८ तिहिं कारन मैं आइकै तुव **बोल रखायौ** [३]।
७९ सूर स्याम तजि को **भुस फटकै** मधुप, तुम्हारे हेति [४]।
८० अधर कप रिस **भौंह मरोरयौ** मन ही मन गहरानी [५]।
८१ नैकहूँ नहिं **मत्र लागत**, समुझि काहु न जाइ [६]।
८२ सूर सनेह ग्वालि **मन अँटक्यौ** अतर प्रीति जाति नहिं तोरी [७]।
८३ जिहिं जिहिं भाँति ग्वाल सब बोलत, सुनि स्रवननि **मन राखत** [८]।
८४ वे सब ढीठ गरब गोरस कै, **मुख सँभारि बोलत** नहिं बात [९]।
८५ कबहूँ बालक **मुँह न दीजियै, मुँह न दीजियै** नारी [१०]।
८६ काहे कौं **मुँह परसन** आए, जानति हौं चतुराई [११]।
८७ **मुँह पावति** तबही लौ आवति, औरै लावति मोहिं [१२]।
८८ भलो काम है सुतहिं पढायौ, बारे ही तै **मूड़ चढायौ** [१३]।
८९ मन ही मन बलबीर कहत हैं, ऐसे **रग बनावत** [१४]।
९० **रसना तारू सौं नहिं लावत** पीवै-पीव पुकारत [१५]।
९१ सूर स्यामसुदर मुख देखे बिनु री **रह्यौ न जाइ** [१६]।
९२ सूर स्याम गाइनि सँग आए मैया **लीन्हे रोग** [१७]।
९३ तुव प्रताप जान्यौ नहिं प्रभु जू, करै अस्तुति **लट छोरे** [१८]।
९४ लरिकनि कै बर करत यह, **घरिहैं लाड़ उतारि** [१९]।
९५ **जैसे लौन हमारौ मान्यौ**, कहा कहौ, कहि काहि सुनाऊँ [२०]।

---

९५ सा १७६७ । ९६ सा २७५८ । ९७ सा ३६८६ । ९८ सा. ३०२९ ।
९९ सा ४१२६ । १ सा १०-६१ । २ सा १९०१ । ३ सा ७१६ ।
४ सा ३८६१ । ५ सा २४१४ । ६ सा ७४५ । ७ सा १०-३०५ ।
८ सा. ४९३ । ९ सा १०-३०८ । १० सा १५१८ । ११ सा. २५०५ ।
१२ सा ७२३ । १३ सा ३९१ । १४ सा. १०-१२५ । १५ सा. २३३२ ।
१६ सा २३६० । १७ सा ४९३ । १८ सा ४८८ । १९ सा. १६१८ ।
२० सा २२५९ ।

९६. घर-घर कहत बात नर-नारी। दूत सुन्यौ सो स्त्रवन पसारी [२१]।
९७. स्वारथ मानि लेत रति करि कै, बोलत हाँ जी, हाँ जी [२२]।
९८ घर-घर हाथ दिवावति डोलति, बाँधति गरे बघनियाँ [२३]।
९९. सूर स्याम अति करत अचगरी, कैसेहुँ काहू हाथ न आवै [२४]।
१०० सूर स्याम के हाथ बिकानी अलि अबुज अनुरागे [२५]।
१०१. मेरी जोरी है श्रीदामा हाथ मारे जात [२६]।
०२. करिहौ मान मदनमोहन सौ, मानै हाथ रहैगो [२७]।
०३ अबही तै यह हाल करत है, दिन-दिन होत प्रकास [२८]।
१०४. सूर स्याम अब तजौ निठुराई, गाँठि हृदय की खोलौ जू [२९]।

ञ. दशम (उत्तरार्द्ध), एकादश और द्वादस स्कध—इन स्कधो के लगभग १६० पदों मे मुहावरो के प्रयोग अधिक नही है। कारण यह जान पडता है कि कुछ तो इनके विषयो मे से अनेक मे कवि की रुचि ही नही थी और कुछ वह ग्रय-समाप्ति की शीघ्रता था। फिर जो मुहावरे इस भाग मे प्रयुक्त भी हुए हैं वे वहुत प्रचलित और साधारण ही हैं; जैसे—

१. झूठे नर सौं लेहि अँकोरि। लावै साँचै नर कौ खोरि [३०]।
२. सूर हृदय तै टरत न गोकुल, अंग छुअत हौं तेरी [३१]।
३. मथुरा हू तै गए सखी री, अब हरि कारे कोसनि [३२]।
४ जज्ञ छाँड़ि हरि-पद चित लायौ [३३]।
५ ज्यौ जुवारि रस-वीधि हारि गथ सोचत पटकि चिती [३४]।
६ निरखि सुर-नर सकल मोहे, रहि गए जहँ के तहाँ [३५]।
७. जब जब मोंहि घोष-सुधि आवत नैननि वहति पनारी [३६]।
८. ऐसी प्रीति की बलि जाउँ [३७]।
९. धरिहौ कहा जाइ तिय आगे, भरि-भरि लेत हियौ [३८]।
१०. नृप, मैं तोहि भागवत सुनायौ। अरु तुम सुनि हिय माँहि बसायौ [३९]।

'सारावली', 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर' से जो मुहावरे ऊपर सकलित किये गये हैं, वे सामान्य स्फुट विषयो, अगो आदि से सबधित है। यहाँ इनके अतिरिक्त

२१. सा. ९२२। २२ सा २२५७। २३ सा. १०-८७। २४. सा १४३३।
२५. सा. १००३। २६ सा. १०-२१३। २७ सा. २८२६। २८. सा. १०-६०।
२९. सा. २५०९। ३०. सा. १२-३। ३१. सा. ४२९५। ३२. सा. ४२५८।
३३. सा. १२-५। ३४. सा ११-१। ३५ सा. ४१८६। ३६. सा. ४२७४।
३७. सा. ४२३०। ३८. सा. ४२३४। ३९. सा. १२-४।

'सूर-काव्य' मे प्रयुक्त 'आँख'-सबधी कुछ उदाहरण और दिये जाते है। कवि सूर नेत्र-ज्योति-हीन थे । अतएव यह स्वाभविक ही था कि नेत्रो का अभाव उन्हे कभी-कभी बहुत विकल कर देता हो। सभवत इसी कारण-नेत्र सबधी मुहावरे उनको बहुत प्रिय थे और उन्होने उनमे से अनेक का प्रयोग अपने काव्य मे किया है, जैसे —

१. तब नारायन **आँखि उघारी** [४०] ।
२. हमरौ जोबन-रूप **आँखि** इनकी **गड़ि लागत** [४१] ।
३ और पतित **आवत न आँखि तर** देखत अपनौ साज [४२] ।
४. **आँखि दिखावत** हौ जु कहा तुम करिहौ कहा रिसाय [४३] ।
५ हरि की माया कोउ न जानै **आँखि धूरि-सी दीनी** [४४] ।
६ काहे कौं अब रोष दिखावत, देखत **आँखि बरत है** मेरी [४५] ।
७ बहुरयौ भूलि न **आँखि लगी** [४६] ।
८ अबकैं जौ परचौ करि पावौं अरु **देखौं भरि आँखि** [४७] ।
९ तिहिं जल गाजत महावीर सब तरत **आँखि नहिं मारत** [४८] ।

ऊपर कहा गया है कि सूर-काव्य के आधार पर मुहावरो का एक कोश तैयार किया जा सकता है । 'आँख' सबधी उक्त मुहावरो से इस कथन की पुष्टि होती है। वीररस सबधी पद सूर-काव्य मे नही है और युद्धो का वर्णन भी उन्होने एक दो पक्तियो मे ही समाप्त कर दिया है। अतएव तद्विषयक मुहावरो का उसमे भले ही अभाव हो, परन्तु शृगार, करुण और शात रस के उपयुक्त मुहावरे उनके काव्य मे बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं और इस दृष्टि से वे हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित कवियो से बहुत आगे बढ जाते है।

ऊपर के उदाहरणो से मुहावरों के प्रयोग के सबध मे एक महत्व की बात यह भी स्पष्ट होती है कि सूरदास कही इनकी सप्रयास योजना मे प्रवृत्त नही हुए । उनकी भाषा के सभी रूपो मे मुहावरे सहज रीति से ही प्रयुक्त हुए हैं जिससे अर्थ-व्यजना के साथ-साथ भाषा-सौंदर्य की स्वाभाविक वृद्धि हुई है। साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि अपने समय मे प्रचलित अगणित मुहावरो मे से सूरदास ने केवल उन्ही का चयन किया है जिनमे दीर्घायु होने की क्षमता थी । यही कारण है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अधिकाश मुहावरे आज भी प्रचलित और लोकप्रिय हैं। तीसरी बात यह है कि सूरदास ने मुहावरो का रूप विगाडने का प्रयत्न कही नही किया जिससे भाषा की सुबोधता और स्वच्छता सर्वत्र बनी रहती है। विदेशी शब्दो से बने मुहावरो को अपनाते समय भी उन्होने इन बातो का बराबर ध्यान रखा है।

---

४०. सा ११-३। ४१ सा १४६१। ४२. सा १-९६। ४३. सा. वें. २४४७ (७)। ४४ सा. ६९४। ४५ सा ३५२८। ४६ सा वें २७९०। ४७ सा. ९-१६४। ४८ सा ९-११२।

७ कहावतो के प्रयोग—मुहावरो के समान ही कहावतो के प्रयोग से भी भाषा सजीव और सशक्त होती है। मुहावरे, भाषा के सामान्य अर्थ मे ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं, परन्तु कहावतो मे जीवन के महत्वपूर्ण अनुभवो का सार इस प्रकार सकलित रहता है कि पाठक के सामने प्रसग-विशेष का एक सागोपाग चित्र-सा अकित हो जाता है। सूर-काव्य मे इनका भी प्रयोग अनेक पदो मे हुआ है। 'सूरसागर' के दशम स्कध मे ही इनकी अधिकता है, उसके अन्य स्कधो, 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' मे इनके प्रयोग बहुत कम हुए हैं। 'सूरसागर' मे प्राप्त कहावतो के कुछ प्रयोग यहाँ सकलित हैं—

१. अँगुरी गहत गह्यौ जिहि पहुँचौ कैसैं दुरति दुराए[४९]।
२. सूरदास प्रभु आक चचोरत, छाँड़ि ऊख कौ मूढ[५०]।
३ इत की भई न उत की सजनी, भ्रमत भ्रमत मै भई अनाथ[५१]।
४. भई रीति हठि उरग-छछूँदरि छाँड़े बनै न खात[५२]।
५. सूरदास ऊसर की बरषा थोरे जल उतराती[५३]।
६. जोइ जोइ आवत वा मथुरा तैं, एक डार के तोरे[५४]।
७. कहौ मधुप, कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े[५५]।
८ सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताकौ कहा करै काजी[५६]।
९. सूरदास सुरपति रिस पाई। कीरी तनु ज्यौं पंख उपाई[५७]।
१०. कुटिल कुटिल मिलि चले एक ह्वै[५८]।
११. ज्यौं गजराज काज के औरै, औसर दसन दिखावत[५९]।
१२. सूरदास अबला हम भोरी गुर-चींटी ज्यौं पागी[६०]।
१३. जैसैं चोर चोर सौं रातैं[६१]।
१४. छोटे मुँह बड़ी बात कहत, अबही मरि जैहैं[६२]।
१५. ऊधौ जौ जिय जानि कै, देत जरे पर लौन[६३]।
१६. करियै कहा लाज मरियै जब अपनी जाँघ उघारी[६४]।
१७. जूठौ खैयै मीठैं कारन, आपुहि खात अडावत[६५]।
१८. सूरदास प्रभु आपुहि जैयै, जैसी बयारि तैसी दीजै पीठि[६६]।

---

४९. सा. १३०५। ५०. सा. ३७३३। ५१ सा. ३३१७।
५२ सा. ३७३९। ५३. सा १०-३३७। ५४. सा. ३५९५। ५५. सा. ३६०४।
५६. सा. ३१४७। ५७. सा ९२३। ५८. सा. १२७९। ५९. सा. ३६४७।
६०. सा. ३९५८।
६१. सा. १२७९। ६२. सा. ५८९। ६३. सा. ३५२२। ६४. सा. १-१७३।
६५. सा. २३४१। ६६. सा. २५७१।

१९ जैसौ कियौ लह्यौ फल तैसौ हमही दूषन आयौ[६७]
२० जैसोइ बोइयै तैसोइ लुनिए, कर्मन भोग अभागे[६८]।
२१ जौ कोउ पर-हित कूप खनावै परै सु कूपहिं माहीं[६९]।
२२ ठठा ठठा एकै जानि[७०]।
२३ सूरदास प्रभु दुरत दुराए डुंगरनि ओट सुमेर[७१]।
२४ दाई आगै पेट दुरावति, वाकी बुद्धि आजु मैं जानी[७२]।
२५ हम जातहिं वह उघरि परैगी, दूध-दूध पानी सो पानी[७३]।
२६ हम तन हेरि चितै अपनी पट देखि पसारहिं लात[७४]।
२७ सूरदास कहुँ सुनी न देखी, पोत सूतरी पोहत[७५]।
२८ बीस बिरियाँ चोर की तौ कबहुँ मिलिहै साधु[७६]।
२९ बोवत बबुर दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे[७७]।
३० मरे कौं मारत बड़े लोग भाई[७८]।
३१. सूरदास प्रभु सीख बतावै सहद लाइ कै चाटी[७९]।
३२ सूधे होत न स्वान पूँछ-ज्यौं पचि पचि बैद मरे[८०]।

कहावतो का प्रयोग साधारणत वार्तालाप मे अधिक होता है और पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों की इनके प्रति अधिक रुचि रहती है । ऊपर सकलित वाक्यो मे से अधिकाश स्त्रियो के ही हैं। सूरदास की भाषा को इन कहावतो के प्रयोग से कही कही बडा बल मिला है— और जब हम देखते हैं कि उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक कहावतें आज भी ज्यो की त्यो, सामान्य वार्तालाप की भाषा मे ही नही, काव्यभाषा मे भी प्रयुक्त होती हैं तब इस अध कवि की रचना कुशलता पर हमे गर्वमिश्रित आश्चर्य होता है ।

शास्त्रीय दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

सूरदास को काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन करने का अवसर नही मिला था, फिर भी जब उनको हिंदी के सर्वप्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास के समकक्ष पद प्रदान किया जाता है, तब शास्त्रीय दृष्टि से उनकी भाषा का अध्ययन करना भी बहुत आवश्यक हो जाता है। इस शीर्षक के अतर्गत सूरदास की भाषा के, जिन पक्षो का अध्ययन करना है, उनमे मुख्य हैं—१ सूर के छद और उनकी भाषा, २ शब्दशक्तियाँ ३. ध्वनि, ४ अलकार ५ गुण, रीति और वृत्ति, ६ रस और भाषा का सबध एव ७. सूर की भाषा के दोष ।

(१) सूर के छद और उनकी भाषा—अच्छी कविता के लिए जिस प्रकार भाषा का

---

६७ सा १०१८। ६८ सा १-६१। ६९ सा ३६८७।
७० सा १-७९। ७१ सा ४५८। ७२. सा १७२३ ।
७३ सा १७२३। ७४ सा ३८९३। ७५ सा ३६९०। ७६ सा १७४१।
७७ सा. १-६१। ७८. सा २३०३। ७९. सा. ३९२६। ८०. सा. ३७३०।

भाव के अनुकूल होना आवश्यक है उसी प्रकार छंदो का चुनाव भी भाव विशेष के ध्यान से किया जाता है। भाषा और छद, दोनो के भावानुकूल होने पर काव्य का सौंदर्य निखरता है। काव्य की श्री-वृद्धि का यह कार्य भाषा और छंद के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। छोटे छदो मे लिखी गयी कविता तभी सुदर लगती है जब उसके साथ छोटे-छोटे सरस शब्दो का चुनाव किया गया हो, इसी प्रकार बडे छदो के लिए छोटे-बडे, दोनो प्रकार के शब्दो का मिला-जुला प्रयोग किया जा सकता है। यह तो हुआ भाषा का सहयोग, और छद का सहयोग भी कम महत्व का नही है। छद तो स्फुट रूप से बिखरे शब्दो को नियमानुसार क्रम मे रखने पर उनमे अपूर्व नाद-सौंदर्य की सृष्टि करता है जिससे भाव को हृदयगम करने मे कभी-कभी बहुत सहायता मिलती है। इसीलिए छद के बधन से मुक्ति पाने का प्रश्न उठने पर शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा था, 'छद के बधन के सर्वथा त्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impu'se) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखायी पडता है[८१]।' इस कथन के द्वारा वे भी जैसे भाषा और छद के घनिष्ठ सबध की आवश्यकता का ही समर्थन करते है।

समस्त सूर काव्य, प्राचीन परपरा के अनुसार, छदबद्ध रूप मे लिखा गया है। सामान्य काव्य से सूरदास के छद-प्रयोग मे एक विशेषता यह भी है कि उन्होने अपने अधिकाश साहित्य को गेय रूप प्रदान किया है। उनके पद सफलतापूर्वक गाये जाते है और सगीतज्ञो को उनमे अपार आनद मिलता है। काव्य-कला की कसौटी पर सामान्य और खरे उतरनेवाले, दोनो प्रकार के पदो मे प्राय यह गुण मिलता है। जिन साधनो से सूर-काव्य को सगीत की दृष्टि से यह सफलता मिल सकी, उनमे भाषा का भी प्रमुख स्थान है। सरल, विषय और भावानुकूल शब्दो की नियमित योजना ने उसमे सगीत की जो मधुरिमा भर दी, वह असाधारण है। उनके प्राय सभी मर्मस्पर्शी पद बहुत छोटे—अधिक से अधिक आठ चरणो के है जिनमे सहज और भावपूर्ण शब्दो की अधिकता है। कवि स्वत ऐसे पदो की रचना करते समय भावमग्न हो जाता है और वैसी स्थिति मे उसकी विनोदी प्रकृति भी रसलीनता का अनुभव करती है जिसके फलस्वरूप भाषा-शैली के साथ खिलवाड करने के लोभ का सवरण करने मे समर्थ होती है। ऐसे पदो मे रूपक सरल है, उपमाएँ सुदर और उत्प्रेक्षाएँ सहृदयता को उल्लसित करनेवाली है। इनके साहचर्य से भाषा इस प्रकार खिल उठी है कि सगीतज्ञ भी उस पर लट्टू हो जाता है। भाषा-सबधी सूर का यह कौशल उनके समस्त सुदर पदों मे देखा जा सकता है।

वास्तव मे गेय पदो की सगीतात्मकता के उपयुक्त शब्दावली का चयन सूरदास के लिए बहुत साधारण बात थी। बाल्यावस्था से ही जिस कवि ने गाने का अभ्यास किया हो, स्व-रचित पदो को जो आरभ से ही गाता रहा हो और गुणज्ञो को रिझाने मे भी समर्थ हुआ हो, उसके लिए सगीत की प्रकृति को समझना और उसके अनुकूल शब्दो का

---

८१. आचार्य रामचद्र शुक्ल, 'काव्य मे रहस्यवाद', पृ० १३५।

चयन करना स्वभावतया सुगम हो जाता है। सूर ऐसे ही व्यक्ति थे। भक्त, कवि और गायक—एक ही व्यक्तित्व मे मानव-समाज के तीन प्रमुख वर्गो के सामजस्य ने उनको ऐसे सभी विषयो से परिचित करा दिया जो धर्मप्राण जनता को मोह सकते है, केवल भवुको और सहृदयो को ही नही, मानव-मात्र को प्रभावित कर सकते है और काव्य को स गीत का अत्यत मुग्धकारी रूप प्रदान कर सकते हैं। भाषा के प्रयोग इन तीनों क्षेत्रो मे वे पचास वर्ष से भी अधिक समय तक करते रहे, फिर ब्रजभाषा उनकी मातृभाषा थी और उसी का सस्कार-परिष्कार श्री और सपन्नता-वृद्धि उनके जीवन का प्रिय लक्ष्य रहा। अतएव इस प्रकृत सगीतज्ञ के काव्य मे उपयुक्त भाषा देखकर नही, न देखकर अवश्य आश्चर्य हो सकता था, अस्तु।

सूर-काव्य मे प्रयुक्त छदो को स्थूल रूप से दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—(क) छोटे छद, जैसे उपमान, कुडल, चौपई, चौपाई, चौबोला आदि, और (ख) बडे छद, जैसे—लावनी, विष्णुपद, वीर, सरसी, सार, हरिप्रिया आदि। इनमे से प्रत्येक वर्ग के कुछ छदो के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) छोटे छद—(अ) **उपमान**—२३ मात्राएँ=१३, १०, अत मे दो गुरु—

सूरदासदपति-दसा, कापै कहि जाई[८२]।

(आ) **कुडल**—२२ मात्राएँ=१२, १०, अत मे दो गुरु—

चतुरानन-बल सँभारि, मेघनाद आयौ[८३]।

(इ) **चौपई**—१५ मात्राएँ, अत मे गुरु-लघु—

बाल-अवस्था मैं तुम धाइ, उडति भँभीरी पकरी जाइ[८४]।

(ई) **चौपाई**—१६ मात्राएँ, अत मे जगण, तगण या गुरु लघु न हो—

जाति-पाँति तिन सब बिसराई। भच्छ अभच्छ सबै सो खाई[८५]।

(उ) **चौबोला**—१५ मात्राएँ, अत मे गुरु—

बहुरि पुरान अठारह किये। पै तउ साति न आई हिये[८६]।

(ख) बडे छद—(अ) **लावनी**—३० मात्राएँ=१६, १४, अतिम वर्ण गुरु—

सूरदास तिहिकौं ब्रज-बनिता, झकझोरति उर अक भरे[८७]।

(आ) **विष्णुपद**—२६ मात्राएं=१६, १०, अन मे गुरु—

सूरदास प्रभु प्रिया-प्रेम-बस निज महिमा बिसरी[८८]।

(इ) **वीर**—३१ मात्राएँ=१६, १५, अत मे गुरु-लघु—

सूरदास प्रभु सिसु-लीला-रस आवहु देखि नद सुख धाम[८९]।

---

८२ सा ७१५। ८३ सा ९-९६। ८४ सा ३-५। ८५ सा ६-४।
८६. सा १-२३०। ८७ सा १०-८८। ८८. सा ९-६३। ८९ सा. १०-१५७।

(ई) सरसी—२७ मात्राएँ = १६, ११, अत मे गुरु-लघु—

सूरज-प्रभु पर सकल देवता, बरषत सुमन अपार।*

(उ) सार—२८ मात्राएँ = १६, १२, अत मे दो गुरु—

सूरदास प्रभु मधुर वचन कहि, हरषित सबहिं बुलाए[१०]।

(ऊ) हरिप्रिया—४६ मात्राएँ = १२, १२, १२, १० अत मे दो गुरु—

गावत गुन सूरदास, बढ्यौ जस भुव-अकास नाचत त्रैलोकनाथ, माखन के काजै[११]।

इन छदो के अतिरिक्त यद्यपि चद्र, तोमर, दोहा, भानु, राधिका, रूपमाला, रोला, शोभन, सवैया, सुखदा, हसाल, हरी आदि अनेक छदो का प्रयोग भी सूर-काव्य मे किया गया है, तथापि छदानुसार भाषा-रूप को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण ही पर्याप्त होगे। उनमे से अधिकाश पद के अतिम चरण हैं जिनसे विभिन्न छन्दो के भाषा-रूप के मिलान मे विशेष सहायता मिल सकती है। इन उद्धरणो से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि छोटे छन्दो मे कवि की छाप के अतिरिक्त प्राय सभी शब्द दो-तीन अक्षरो के ही हैं जबकि बडे छन्दों मे उनके साथ साथ कही-कही चार-पाँच अक्षरों वाले शब्द भी प्रयुक्त हुए है, यद्यपि हैं ये बहुत कम। दूसरी बात यह है कि चौपई, चौपाई, चौबोला आदि छन्दो मे प्रयुक्त भाषा मे कुछ शिथिलता मिलती है, अन्य छन्दो की भाषा अपेक्षाकृत प्रवाहपूर्ण है। इसका कारण सम्भवत यह है कि सूरदास ने चौपई-जैसे छन्दो मे इतिवृत्तात्मक प्रसग अधिक लिखे हैं और भावात्मक विषयो के लिए अन्य छन्दो का प्रयोग किया है।

लय या गति और तुक, छद के मुख्य अग है जिनका घनिष्ठ सबध शब्द-योजना से है। गेय काव्य मे इन दोनो का महत्व और भी बढ जाता है जिसके फलस्वरूप गीति-काव्यकार शब्द-रूप-निर्माण-सबधी कुछ स्वच्छदता से भी काम लेता है। सूरदास मे यह स्वच्छंदता तीन रूपो मे दिखायी देती है—एक, शब्द-चयन मे, दूसरे, उनके रूप-निर्माण मे और तीसरे, भरती के अनावश्यक शब्दो के प्रयोग मे। इनमे से अतिम दो की सोदाहरण विवेचना काव्य-दोषो के अतर्गत आगे की जायगी। प्रथम के सबध मे एक बात यह ध्यान देने की है कि सूरदास ने एक ही शब्द के तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव रूपो का तो मनमाना प्रयोग किया ही है, अरबी-फारसी और प्रातीय शब्दो को भी निसकोच अपनाया है। तात्पर्य यह है कि छद की गति या लय के निर्वाह के लिए शब्द के सभी रूपो को उन्होने समान समझा, केवल उसके तत्सम रूप का ही आग्रह कभी नही किया, प्रत्युत जिस रूप मे भी छद की सगीतात्मकता का निर्वाह वे कर सके, उन्होने उसका स्वच्छदता से प्रयोग किया। शुद्ध काव्य-भाषा की दृष्टि से, सभव है, किसी को यह बात खटकती हो, परतु न हो भक्त के लिए शुद्धता का यह प्रश्न उतने महत्व का है और न गायक के लिए ही। भक्त तो केवल आतरिक अनुभूति

* २९०६। १०. सा ५०३। ११. सा. १०-१४६।

की स्पष्ट अभिव्यक्ति भर चाहता है और गायक के लिए मुख्य बात है ताल, लय और सुर के उपयुक्त आयोजन की। ऊपर कहा जा चुका है कि सूरदास के कवि, भक्त और गायक, तीनो रूप उनके काव्य मे स्पष्ट है जिनमे से अतिम दो तो सर्वत्र व्याप्त है। अतएव शब्द-चयन सबधी स्वच्छदता से काम लेने के वे निश्चय ही अधिकारी थे। परतु यह उनकी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इस स्वछदता का उपयोग उन्होने प्राय ऐसे ही स्थलो पर अधिक किया है जो सामान्य मिश्रित भाषा मे लिखे गये हैं। साहित्यिक और आलकारिक भाषा युक्त पदो मे उन्होने विशेष सयम से काम लिया है और भाषा की शुद्धता के निर्वाह के साथ-साथ ताल-सुर का भी पूरा ध्यान रखा है जिससे छद की लय या गति मे लालित्य की वृद्धि ही हुई है।

२ **शब्द-शक्ति और सूर की भाषा**—शब्द की शक्ति ही उसकी सार्थकता की द्योतक होती है और इसके अभाव मे वह निरर्थक होता है। वाक्यो मे प्रयुक्त होने पर शब्द की शक्ति प्रत्यक्ष होती है और प्रयोग की विशेषता होती है उसकी सुष्ठता मे। सुष्ठु प्रयोग के लिए शब्द और उसके पर्यायो की समानार्थता, एकार्थता, अनेकार्थता, विशेषार्थता आदि का विधिवत् अध्ययन अपेक्षित है। काव्य में अभीप्सित अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि भाषा मे शिष्टता, रमणीयता, चमत्कारिता और सवेदनशीलता भी हो। अतएव श्रेष्ठ साहित्य या काव्य मे ऐसे ही शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो रचयिता मे तो सुप्त भावो का उदय करें ही, पाठक या श्रोता को भी अनुरचित करते हुए उसमे यथावसर सवेदनशीलता को यहाँ तक उद्‌बुद्ध करने मे समर्थ हो कि वह निष्क्रिय या निश्चेष्ट न रहकर सजग और सक्रिय हो जाय। सूर की भाषा की शक्ति इस लक्ष्य की पूर्ति करने मे कहाँ तक समर्थ हो सकी है, इसी की विवेचना प्रस्तुत शीर्षक के अतर्गत की जायगी।

क **अभिधा शक्ति और सूर-काव्य**—सूर-काव्य के विनय-पद, पौराणिक कथाएँ, वात्सल्य-वर्णन, सयोग-लीला, रूप-चित्रण, मथुरा-द्वारका लीला के सामान्य इतिवृत्तात्मक अशो मे तो अभिधा-शक्ति से द्योतित वाच्यार्थ की प्रधानता स्वभावतया है ही, विशेष भावपूर्ण स्थलों पर भी उसका चमत्कार देखा जा सकता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। भक्तप्रवर सूरदास को अपनी सरलता और सत्यता का ही बल था, आडबर और कृत्रिमता से उन्हे चिढ थी। विनय-पदो मे जिस घट-घटवासी आराध्य के प्रति उनका आत्म-निवेदन है, उसके सामने छल-कपट या चातुर्य-प्रदर्शन को सर्वथा हास्यास्पद समझकर, सीधे-सादे वाच्यार्थयुक्त वाक्य रखने मे ही कवि को सतोष होता है। इसी प्रकार स्वस्थ-सुदर बालक और किशोर कृष्ण के प्रति माता, पिता तथा अन्य गुरुजन का उमडता हुआ वात्सल्य भी प्राय अभिधा शक्ति-सपन्न शब्दो मे ही वर्णित है। राधा-कृष्ण-रूप-वर्णन करते समय प्रज्ञाचक्षु कवि दिव्य दर्शन से अपार आनद मे मग्न हो जाता है और सयोग-लीला के अवसर पर परम पुलकित। दोनो ही अवस्थाएँ मत्रमुग्धवत् आत्म-समर्पण की हैं जिसके मूल मे निश्छल भावना का होना अत्यत आवश्यक है। साराश यह है कि सूर-काव्य के उक्त प्रसग ऐसे हैं जिनमे

सरल भावो की व्यंजना के लिए वाचक शब्दो का ही कवि ने अनेक पदों मे प्रयोग किया है, जैसे—

१. जा दिन मन-पछी उडि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै[१२]।

२. जिन जिनही केसव उर गायौ।
तिन तुम पै गोविंद-गुसाई, सबनि अभै-पद पायौ[१३]।

३. पसु जाके द्वारे पर होइ। ताकौं पोषत अह-निसि सोइ।
जो प्रभु कै सरनागत आवै। ताकौ प्रभु क्यौ करि बिसरावै[१४]।

४. राजा, इक पंडित पौरि तुम्हारी।
चारौ वेद पढत मुख-आगर, ह्वै वामन-वपुधारी[१५]।

५. सकुचनि कहत नही महराज।
चौदह वर्ष तुम्हे वन दीन्हौ। मम सुत कौ निज राज[१६]।

६. कहौ कपि, रघुपति कौ सदेस।
कुसल बधु लछिमन, वैदेही, श्रीपति सकल नरेस[१७]।

७. आजु नद के द्वारे भीर।
इक आवत, इक जात विदा ह्वै, इक ठाढे मदिर के तीर[१८]।

८. आँगन खेलत घुटुरुनि धाए।
नील जलद अभिराम स्याम तन, निरखि जननि दोउ निकट बुलाए[१९]।

९ जागहु हो व्रजराज हरी।
लै मुरली आँगन ह्वै देखौ, दिनमनि उदित भए द्वि घरी[१]।

१०. देखौ री नँद-नदन आवत।
वृदावन तै घेनु-वृद मैं वेन अधर धरे गावत[२]।

११. पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अग पँच-रँग सारि।
किंकिनी कटि, कनित ककन, कर चुरी झनकार[३]।

श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर माता-पिता और गोप-गोपियो के विरह का प्रसग भी अत्यत भावपूर्ण है। वियोग की तीव्रता मे उनके मुख से कुछ ऐसी मार्मिक उक्तियाँ नि सृत होती है जिनके अर्थ-बोध मे अभिधा शक्ति सहायक होती है। ऐसे वाक्यो का हृदय पर सीधा प्रभाव पडता है, जैसे –

---

१२. सा १-८६। १३. सा १-१९३। १४. सा. २-२०।
१५. सा ८-१४। १६ सा ९-२२। १७. सा. ९-१५१। १८. सा. १०-२५।
१९. सा. १०-१०४। १ सा ४०४। २ सा. ६१७। ३. सा. १०४३।

१. बहुत दुख पैयत हैं इहि बात।
तुम जु सुनत हौ माधौ, मधुबन सुफलक-सुत सँग जात [४]।

२ नहिं कोउ स्यामहिं राखै जाइ।
सुफलक-सुत बैरी भयौ मोकौं, कहति जसोदा माइ [५]।

३ भोर भयौ ब्रज लोगन कौं।
ग्वाल सखा सब ब्याकुल सुनि कै, स्याम चलत हैं मधुबन कौं [६]।

४ केतिक दूरि गयौ रथ माई।
नद - नँदन के चलत सखी हौ, हरि सौं मिलन न पाई [७]।

५ ब्रज तजि गए माधव कालि।
स्याम सुन्दर कमल लोचन, क्यौ बिसारौ आलि [८]।

सूर-काव्य मे वाचक शब्दो की अधिकता का दूसरा कारण यह है कि कवि पाठक या श्रोता को सामान्य अर्थ मात्र से अवगत कराने मे ही कला की चरम सिद्धि नही समझता, प्रत्युत अर्थ-बोध के साथ साथ वर्ण्य विषय का सपूर्ण चित्र भी उसके सामने प्रस्तुत कर देना चाहता है। अर्थ और दृश्य, इन दोनो के बोध मे अभिधा शक्ति विशेष सहायक होती है। अतएव सामान्य अर्थ-ज्ञान के साथ-साथ चित्र या दृश्य के चित्रण मे भी जब जब कवि प्रवृत्त होता है, तब तब उसे वाचक शब्दो का अधिक प्रयोग करना पडता है। सूरदास के निम्नलिखित उदाहरणो मे यही बात देखी जा सकती है —

१. तरु दोउ धरनि गिरे भहराइ।
जर सहित अरराइ कै, आघात सब्द सुनाइ।
भए चकित लोग ब्रज के, सकुचि रहे डराइ।
कोउ रहे आकास देखत, कोउ रहे सिर नाइ [९]।

२ प्रभु हँसि कै गेंदुक दई चलाइ, मुख पट दै राधा गई बचाइ।
ललिता पट-मोहन गह्यौ धाइ, पीताबर मुरली लई छिडाइ।
हौ सपथ करौ छाँडो न तोहिं, स्यामा जू आज्ञा दई मोहिं।
इक निज सहचरि आई बसीठि, सुनि री ललिता, तू भई ढीठि [१०]।

अभिधा शक्ति के मुख्य तीन भेद होते हैं—(क्ष) रुढि, (त्र) योग और (ज्ञ) योग रुढि। सूरदास के निम्नलिखित वाक्यो मे प्रयुक्त अधिकाश शब्द 'रूढि' शक्ति-सपन्न हैं, क्योंकि उनका व्युत्पत्ति के आधार पर विभाजन नही किया जा सकता—

बौरे मन, रहन अटल करि जान्यौ।
धन - दारा - सुत - वधु - कुँटुव - कुल निरखि निरखि बौरान्यौ।

---

४ सा २९६६। ५ सा २९७२। ६ सा २९८२। ७ सा २९९७।
८ सा. ३७६७। ९ सा १८६। १० सा. २८५६।

जीवन-जन्म अल्प सपनौ सौ, समुझि देखि मन माही।
वादर-छाँह, धूम-धौराहर, जैसैं थिर न रहाही[११]।

सूरदास के नीचे लिखे वाक्यो मे प्रयुक्त अनेक शब्द 'योग' वर्ग के उदाहरण हैं; क्योकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन किया जा सकता है —

१. छाँड़ि कनक-मनि रतन **अमोलक** काँच की किरच गही[१२]।
२. **वालापन** खेलत ही खोयौ, **तरुनाई** गरवानौ[१३]।
३. **नृपति सुरसरी** कैं तट आइ[१४]।
४. भक्त **सात्विकी** सेवैं संत[१५]।
५. अस्व पाँच **ज्ञानेंद्रिय** पाँच[१६]।
६. देखि **सुरूप** **सकल** **कृष्णाकृति** कीनी चरन जुहारी[१७]।

सूरदास के निम्नलिखित वाक्यो मे प्रयुक्त इद्रजित (इद्र को जीतनेवाला), घनस्याम (श्याम घन या घन के समान श्याम), चतुरानन (चार मुखवाला), जादौपति (यादवो का स्वामी), दससीस (दस सिर वाला), वीस भुज (वीस भुजाओ वाला) दामोदर (दाम या रस्सी हो पेट या कमर मे जिसके, वह), धर्मपुत्र (धर्म का पुत्र) और महादेव (वड़ा देवता)—ये शब्द 'योग रूढि' शक्ति-युक्त हैं, क्योकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन तो किया जा सकता है, परतु इस प्रकार प्राप्त कोण्ठक मे दिये व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को छोड़कर क्रमश मेघनाद, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, श्रीकृष्ण, रावण, रावण, श्रीकृष्ण,युधिष्ठिर और शिव के लिए प्रयुक्त हुए हैं—

१. **इंद्रजित** चढयौ निज सैन सव साजि कै[१८]।
२. अत के दिन कौं हैं **घनस्याम**[१९]।
३. कृपानिधान दानि **दामोदर**, सदा सवाँरन-काज[२०]।
४ अव किहि सरन जाउँ **जादौपति**, राखि लेहु, वलि, त्रास निवारी[२१]।
५ वहुरी **धर्म-पुत्र** पैं आयौ[२२]।
६. कुंभकरन **दससीस** **वीसभुज** दानव-दलहिं विदारी[२३]।
७. **चतुरानन** पग परसि कै लोक गयौ सुख पाइ[२४]।
८. **महादेव** कौ भाषत साधु[२५]।

ख. लक्षणा शक्ति और सूर-काव्य—शब्द का अर्थ कभी तो सीधा-सादा

११. सा. १-३१९। १२. सा. १-३२४। १३. सा. १-३२९। १४. सा. १-३४१। १५. सा. ३-१३। १६. सा. ४-१२। १७. सा. ८-१४। १८. सा. ९-१३६। १९ सा. १-७६। २०. सा. १-१०९। २१. सा. १-१६०। २२. सा. १-२८४। २३. सा. ९-१३७। २४. सा. ४१२। २५. सा. ४-४।

और स्पष्ट होता है, कभी साकेतिक और चमत्कारपूर्ण। प्रथम का सबध अभिधा शक्ति से रहता है और द्वितीय का लक्षणा अथवा व्यजना से। इसी सबध की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, 'भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरजन इत्यादि और जो कुछ भाषा करती है, उसमे अर्थ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन मे यह योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण-सबद्धता नही दिखायी पडती, वहाँ लक्षणा और व्यजना नामक शक्तियो का आह्वान किया जाता है और योग्य अथवा प्रकरणसबद्ध अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या सबद्ध अर्थ की प्राप्ति नही होती, तो वह वाक्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप मे परिणत होकर हमारे सामने आता है'[२६]।

वास्तविकता यह है कि मनुष्य की बौद्धिकला उसे न साधारण शब्दो से सतुष्ट रहने देती है, न अर्थों से और न सामान्य भावाभिव्यजन-प्रणाली से ही। स्व और अपर वर्गों की स्थिति एव रीति-नीति का समय-समय पर अध्ययन करके, उनकी प्रकृति-जन्य विशेषताओ तथा नैसर्गिक दृश्यो एव पदार्थों का जो अनुभव और ज्ञान उसने अर्जन किया है, अपनी अभिव्यजना-प्रणाली मे प्रभविष्णुता लाने के लिए वह उसका उपयोग सदा से करता आया है। सुमनो की सुकुमारता का अनुभव करके किसी के कोमल करो को वह 'कमल' बताता है, उनकी स्निग्धता और सुगधपूर्ण सरसता देखकर किसी सुदर मुख की मधुर-मनोहर वाणी को 'फूलो का झडना' या उसकी मस्वरता को 'कोकिल का कूजन' समझता है। इसी प्रकार कलियाँ खिली हैं, चाँदनी फैली है आदि सीधे-सादे शब्दो का प्रयोग इन व्यापारो के लिए न करके कवि कहता है—कलियाँ 'मुस्करा' रही हैं, चाँदनी 'थिरक' रही है। ऐसे प्रयोगो मे वह शब्दो के मुख्य या साक्षात् सकेतित अर्थ से होता हुआ तत्सबधी एक नवीन अर्थ का बोध कराता है जो असाक्षात् होते हुए भी अयोग्य, अनुपयुक्त या असगत तो होता ही नही, साथ साथ पाठक या श्रोता के सामने वर्ण्य विषय, वस्तु या व्यापार का साकार या मूर्त-सा चित्र भी उपस्थित करता है जो कभी कल्पना और कभी प्रकृत ज्ञान द्वारा सहज ही ग्राह्य होता है। काव्यभाषा की चित्रमयिता नामक विशेषता प्राय इस लक्षणाशक्ति की ही देन होती है। शुक्ल जी के शब्दो मे, 'चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक पद्धति मे वाचक पदो के स्थान पर लक्षक पदो का व्यवहार होता है'[२७] जिससे पाठक या श्रोता को विशेष रसानुभूति होती है। इतना ही नही, शब्दो के आर्थिक विकास या ह्रास की कहानी सुनाने मे भी यही शक्ति प्राय अधिक समर्थ होती है। मुहावरो और आलकारिक प्रयोगो के रहस्य का उद्घाटन करने मे भी 'लक्षणा' का बहुत हाथ रहता है और जहाँ प्रसग या प्रयोग-विशेष में किसी शब्द के मुख्यार्थ से काम नही चलता, वहाँ यही अर्थ की सगति भी बैठाती है।

२६ आचार्य रामचद्र शुक्ल, 'इदौर-सम्मेलन का भाषण', पृ० ७।
२७. आचार्य रामचद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृ० ८०७।

सूरदास की भाषा मे लक्षक प्रयोगो की संख्या भी बहुत अधिक है। ऊपर कहा गया है कि उनके काव्य की लगभग बीस हजार पंक्तियों मे मुहावरो के प्रयोग मिलते हैं। इनमे से अधिकाश मुहावरो मे लक्षणा शक्ति का ही चमत्कार देखने को मिलता है। इस दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' को—समस्त सूरकाव्य को इस कारण नही कि 'सारावली और 'साहित्यलहरी' मे मुहावरो के प्रयोग अधिक नही हैं—दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है वाचक शब्दो की प्रधानता वाले विषय आते है, यथा विनय पद, पौराणिक कथाएँ, वात्सल्य वर्णन, सयोग-लीला, मथुरा-द्वारका-लीला आदि। इन प्रसगो के प्राय. प्रत्येक पद मे चार-पाँच मुहावरो का प्रयोग किया गया है, परतु जिन पदो मे भावावेश की स्थिति का चित्रण है अथवा भावोद्रेक-जन्य उक्तियाँ है, उनमे लक्षक शब्दो की अधिकता हो गयी है, जैसे—

१ अर्जुन स्रवत नैन-जल धार। परचौ धरनि पर खाइ पछार[२८]।
२. सूर श्री गोपाल की छबि, दृष्टि भरि भरि लेहु[२९]।
३. सीत-बात कफ कठ बिरोधै, रसना टूटै बात[३०]।
४. अग सुभग सजि, ह्वै मधु-मूरति, नैननि माँह समाऊँ[३१]।
५. ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ तन मन ह्वै गयौ कारौ री।
देखत आनि सँच्यौ उर अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री[३२]।
६. मुरली मैं जीवन-प्रान बसत अहै मेरौ[३३]।
७. सूर सनेह ग्वालि मन अँटक्यौ अतर प्रीति जाति नहिं तोरी[३४]।
८. जरै रिसि जिहिं तुमहिं बाँध्यौ[३५]।
९. भलौ काम तैं सुतहिं पढ़ायौ। बारे ही तैं मूड़ चढ़ायौ[३६]।
१०. आस जनि तोरहु स्याम हमारी[३७]।

उक्त उदाहरणो मे प्रयुक्त 'पछार' खाने योग्य पदार्थ नही है, 'छबि' साकार पदार्थ नही है जो कही भरा जा सके, और न 'दृष्टि' पात्र है जिसमे या जिससे कुछ भरा जा सके। इसी प्रकार 'बात' के साथ टूटना, 'नैननि' मे समाना, 'प्रान' का पलटना, 'तन-मन' का प्रिय-दर्शन से काला होना, प्रिय को 'उर' मे सचित करना, 'पलको' का ताला लगाना, 'मुरली' मे जीवन-प्राण बसना, 'मन' का अटकना, 'प्रीति' का तोड़ा जाना, 'रिसि' का जलना, सुत को 'मूड' चढ़ाना, 'आस' को तोडना आदि प्रयोगो मे भी लक्षणा का चमत्कार है जो सहृदयो को मुग्ध कर लेता है।

ये उदाहरण सूरदास के सामान्य प्रयोगो से लिये गये है, भावावेश की स्थिति मे कही गयी उक्तियो मे लाक्षणिक प्रयोगो की सख्या इनसे अधिक है। परतु सूर-काव्य मे लक्षणा का वास्तविक रूप निखरा है उपालभो और सवादो मे। मुरली और स्व-नेत्रो

---

२८. सा. १-२८६। २९. सा. १-३०७। ३०. सा. १-३१९। ३१. सा. १०-४९। ३२. सा. १०-१३५। ३३. सा. १०-२८४। ३४. सा. १०-३०५। ३५. सा. ३८७। ३६. सा. ३९१। ३७. सा. १०२९।

के प्रति गोपियो के उपालभ, दान और मान-लीला-प्रसग, विरह-वर्णन, उद्धव-गोपी सवाद आदि विषय ऐसे हैं जिनका वर्णन कवि ने बडे चाव से किया है और तत्सबधी पदो मे लाक्षणिक वक्रता देखते ही बनती है, जैसे—

१. वह पापिनी दाहि कुल आई देखि **जरति है छाती**[३८]।
२ हमरौ जोबन-रूप, आँखि इनकी, **गडि लागत**[३९]।
३. **कचन कलस** महारस भारे, हमहूँ तनक चखावहु[४०]।
४ तुम **बाँधति आकास** बात झूठी को सैहै[४१]।
५ लरिकनि कै बर करत यह, **धरिहैं लाड़ उतारि**[४२]।
६ लोक-लाज सब **फटकि पछोरयौ**[४३]।
७. झूठे ही यह **बात उड़ी है**, राधा-कान्ह कहत नर नारी[४४]।
८ गाँस दियौ डारि, कह्यौ कुँवरि मेरी वारि, सूर-प्रभु-**नाम झूठे उड़ायौ**[४५]।
९ **नैना भए बजाइ गुलाम**[४६]।
१० नैन **परे बहु लूटि मै**, नोखै निधि पाई[४७]।
११. **रोम-रोम ह्वै नन गए री**[४८]।
१२ **नैना नैननि माँझ समाने**[४९]।
१३ (**नैना**) नँदलाल के **रंग गए रँगि**, अब नाहिन बस मेरे[५०]।
१४ मोर-मुकुट मुरली पीताबर, **एक बात को बीस बनाई**[५१]।
१५ अजन अधर, **सुमंत्र लिख्यौ** रति, **दीच्छा लेन गए**[५२]।
१६ हमारे **हिरदै कुलिसहु जीत्यौ**[५३]।
१७ वे **बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं** जे नँदलाल कही[५४]।
१८. (ऊधौ) सिर पर सौति हमारे कुबिजा, **चाम के दाम चलावै**[५५]।
१९ (ऊधौ) **काटे ऊपर लौन लगावत**, लिखि-लिखि पठवत चीठी[५६]।
२०. (मधुकर) जे कच कनक **कटोरा भरि-भरि** मेलत तेल-फुलेल[५७]।

लाक्षणिक प्रयोगो मे शब्दो के वाच्यार्थ से काम नही चलता, प्रत्युत सबधानुसार उनका नया सकेतित अर्थ ही सगत बैठता है। यही बात ऊपर के सब उद्धरणो मे देखी जा सकती है। छाती का 'जलना' (दुख होना), जोबन-रूप का आँख मे 'गडना' (खटकना), आकाश का 'बाँधना' (असभव कार्य-सपादन का निष्फल प्रयत्न करना), लाड का 'उता-

---

३८ सा १३५१। ३९ सा १४६१। ४० सा १४६९। ४१ सा १४९१।
४२. सा १६१८। ४३ सा २६६१। ४४ सा १७१०। ४५. सा १७१९।
४६ सा २२३९। ४७ सा. २२४३। ४८ सा. २२९२। ४९ सा २२९७।
५० सा. २३९५। ५१. सा २६३२। ५२ सा २६३४। ५३. सा ३३८३।
५४ ३३९५। ५५ सा ३६३९। ५६ ३६७२। ५७. सा ३८१५।

रना' (धृष्टता का दड देना), लोक-लाज को 'फटकना-पछोरना' (दूर कर देना, छोड देना), वात का 'उडना' (चर्चा होना), नाम का 'उडाना' (वदनाम करना), नेत्रो का 'गुलाम होना' (अत्यत आसक्त होना), 'लूट मे पडना' (प्रिय रूप के दर्शन से सुखी होना), 'दूसरो के नेत्रो मे समाना' (दूसरे के नेत्रो पर अत्यत मुग्ध होना), और किसी के 'रग मे रँगना' (वशीभूत होना), एक वात की 'बीस वनाना' (एक असत्य की रक्षा के लिए अनेक असत्य वातें कहना), रति का 'अधरो पर अजन से सुमंत्र लिखना' (रति-प्रसग मे प्रिया के काजर लगे नेत्रो को चूमना), रति से 'दीक्षा लेने जाना' (कामाधीन होना), हृदय का 'कुलिश को जीतना' (वहुत ही निर्दयी या कठोर होना), वातो का छाती पर 'लिख रखना' (वहुत अच्छी तरह याद रखना), कुब्जा का 'चाम के दाम चलाना' (अवेर करना), किसी प्रेमी का प्रेमिका को पत्र भेजकर 'जले पर नमक लगाना' (असगत वात कहकर पीडित को और भी दुख देना), शृगार के लिए वालो मे 'कटोरा भर भर कर' (वहुत अधिक), तेल-फुलेल मेलना'—ये सभी प्रयोग ऐसे हैं जिनमे सामान्य वाच्यार्थ से काम नही चलता, इनके स्थान पर कोष्ठको मे दिये गये अथवा इनसे मिलते-जुलते अर्थ ही प्रसग की दृष्टि से सगत वैठते है। इसी प्रकार तीसरे उदाहरण मे 'कचन कलस' से आशय उन्नत उरोजो' से है, 'सोने के सामान्य कलश' से नही।

लाक्षणिक प्रयोगो का अर्थानुसार वर्गीकरण करने पर उनके मुख्य चार भेद हो सकते है—(क) लक्षणलक्षणा, (ख) उपादान लक्षणा, (ग) सारोपा लक्षणा और (घ) साध्यवसाना लक्षणा। सवध के अनुसार लक्षणा के दो भेद और किये जाते है—गौणी और शुद्धा। प्रथम का आधार गुण-सादृश्य होता है तो दूसरे का कार्यकारणभाव, तादर्थ्यता आदि अन्य सवध। उक्त चार भेदो मे पहले दो अर्थात् लक्षणलक्षणा और उपादान लक्षणा तो 'शुद्धा' होती है, क्योकि इनका आधार प्राय गुणसादृश्य नही होता[५८], परतु अतिम दोनों लक्षणा-भेदों—सारोपा और साध्यवसाना—के दो-दो उपभेद और हो सकते हैं। सूर-काव्य मे लक्षणा के इन सव भेदो-उपभेदो के उदाहरण भी मिलते है। कुछ भेदों के उदाहरण यहाँ दिये जाते है—

क. लक्षणलक्षणा—सूरदास के निम्नलिखित प्रयोग इसके उदाहरण हैं—

१ नद-द्वारें भेट लै लै उमह्यौ गोकुल-ग्राम[५९]।

२. यह सुनि दूत गयौ लका मैं, सुनत नगर अकुलान्यौ[६०]।

३ सवै व्रज है जमुना कै तीर[६१]।

---

५८ श्रीपद्मनारायण आचार्य का 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १६, अंक ४, मे प्रकाशित 'साहित्य की आत्मा और शक्ति' शीर्षक लेख का फुटनोट—"लक्षण-लक्षणा और उपादान लक्षणा मे सादृश्य सवध नहीं रहता, वे केवल शुद्धा ही होती हैं"। किसी-किसी के अनुसार उनके भी शुद्धा और गौणी दो-दो भेद होते हैं। (देखिए 'साहित्य-दर्पण' २-९); पर यह भेद व्यावहारिक नहीं होता।

५९. सा. १०-२६। ६०. सा. ९-१२१। ६१. सा. ४७५।

इन वाक्यो मे 'गोकुल ग्राम','नगर', 'सबै ब्रज' स्थान और स्थिति सूचक सीधे-सादे अर्थ को छोडकर अपने निवासियो के बोधक है। यही बात नीचे के उदाहरणो मे भी देखी जा सकती है—

१. सूर सबै जुवतिनि कै देखत, **पूजा करौं बनाइ**[६२]।
२ जाहु कान्ह महतारी टेरति, **बहुत बड़ाई** करि हम आई[६३]।
३ नद महर की कानि करत हौं न तु करती **मेहमानी**[६४]।
४ फँसिहारिनि, बटपारिनि हम भई आपुन भए **सुधर्मा** भारि[६५]।

यहाँ 'पूजा करना','बडाई', 'मेहमानी' और 'सुधर्मा' शब्दो का प्रयोग सामान्य 'पूजन', 'प्रशसा', 'स्वागत-सत्कार और 'धर्मात्मा' अर्थों मे नही क्रमश 'डाँटना,' 'फटकारना या दड देना', 'बुरा भला कह आना', 'खरी-खोटी सुनाना', 'अधर्मी या अन्यायी' जैसे अर्थों मे किया गया है।

ख. **उपादान लक्षणा**—सूरदास के निम्नलिखित उदाहरण 'उपादान लक्षणा' के हैं—

१ काली उरग रहै जमुना मैं, तहँ तै कमल मँगावहु।

\+ \+ \+

पुहुप लैन जैहैं नँद-ढोटा, **उरग** करै तहँ घात[६६]।
२ कहि-कहि टेरत **धौरी कारी**।
देखौ धन्य भाग गाइन के प्रीति करत बनवारी[६७]।
३ लिखि नहिं पठवत है द्वै बोल।
द्वै कौड़ी के कागद-मसि कौ लागत है बहु मोल[६८]।

इन वाक्यो मे 'उरग' (सर्प), धौरी (धवल, सफेद), 'कारी' (काली) और 'द्वै कौडी' का मुख्यार्थ भी सामने रहता है और साथ साथ इनका लक्ष्यार्थ 'कालिय नाग', 'सफेद काली गाएँ और 'अत्यत तुच्छ' भी तत्काल स्पष्ट हो जाता है।

ग **गौणी सारोपा लक्षणा**—सूरदास के निम्नलिखित पद मे वर्ण्य विषय तो 'कारी रात' है, परतु इसके-अर्थ पर गुण-सादृश्य के कारण दूसरे का आरोप किया गया है—

पिय विनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात[६९]।

उक्त पद मे, 'काली रात' को डसने के समान कष्ट पहुँचानेवाले स्वभाव के कारण, 'नागिनि' कहा गया है। आरोप का आधार या विषय और आरोप्यमाण या विषयी, दोनो

---

६२ सा १५४५। ६३. सा १४२५। ६४ सा १४७९। ६५ सा. १५८१।
६६ सा ५२२। ६७. सा. ६१३। ६८ सा ३२५४। ६९. सा. ३२७२।

का स्पष्ट उल्लेख होने से यह लक्षणा 'सारोपा' और दोनो मे गुण-अवगुण की समानता बतायी जाने के कारण लक्षणा 'गौणी सारोपा' है।

घ. गौणी साध्यवसाना लक्षणा—सूरदास के निम्नलिखित पद मे उपमेयो (राधा के अगो) का उपमानो (शरीर, कमल, सिंह, सरवर, गिरिवर, कज, कपोत, अमृतफल, पुहुप, पल्लव, सुक, पिक, मृग-मद, काग, खजन, धनुष, चद्रमा, नाग आदि) मे अध्यवसान हो जाने के कारण 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' के कई उदाहरण मिल जाते है—

अदभुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद, काग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग[७१]।

'दान-लीला' प्रसग के एक अन्य पद मे 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' के अनेक सुदर उदाहरण मिलते हैं। श्रीकृष्ण गोपागनाओ से कहते हैं—

लैहौ दान इनहिं कौ तुम सौ।
मत्त गयंद, हंस हम सौहैं, कहा दुरावति हम सौ।
केहरि, कनक - कलस अमृत के, कैसे दुरै दुरावति।
बिद्रुम, हेम, बज्र के कनुका, नाहिन हमहिं सुनावति।
खग कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल मृग जानति।
मनि कंचन के चक्र जरे है, एते पर नहिं मानति।
सायक, चाप, तुरय, बनिजति हौ, लिये सबै तुम जाहु।
चंदन, चँवर, सुगंध, जहाँ तहँ कैसे होत निबाहु[७२]।

इस पद मे उन उपमानो की लबी सूची है जिनसे व्रजबालाओ के अगो की उपमा दी गयी है। प्रमुख उपमान हैं—मत्त गयद, हस, केहरि, कनक-कलस, विद्रुम, हेम, ब्रज के कनुका, खग कपोत, कोकिला, कीर, खजन, चचल मृग, मनि-कचन के चक्र, सायक, चाप, तुरय, चदन, चँवर, सुगध। इन उपमानो का गुण-सादृश्य जिन उपमेयो से है, उनकी सूची भी स्वय श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दी है—

चिकुर चमर, घूंघट हय-बर, बर भ्रुव-सारँग दिखराऊँ।
बान-कटाच्छ, नैन-खंजन, मृग नासा सुक उपमाऊँ।
तरिवन चक्र, अधर-बिद्रुम छवि, दसन बज्रकन ठाऊँ।
ग्रीव-कपोत, कोकिला बानी, कुच घट कनक सुभाऊँ।

---

७१. सा. २११०। ७२. सा १५४९।

जोबन-मद रस-अमृत् भरे है रूप रग झलकाऊँ।
अंग सुगंध बास पाटंबर, गनि गनि तुमहिं सुनाऊँ।
कटि केहरि, गयंद गति सोभा, हंस सहित इकनाऊँ।
फेरि किये कैसे निबहति हौ, घरहिं गए कहँ पाऊँ।
सुबहु सूर यह बनिज तुम्हारे, फिरि फिरि तुमहिं मनाऊँ[७३]।

उपमेय और उपमानो, दोनो का स्पष्ट उल्लेख इस पद मे कर दिया गया है, अतएव उनकी पुन व्याख्या अनावश्यक है।

ड शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा—निम्नलिखित उदाहरण मे 'हस' का आरोप 'प्राण' पर और 'घट' का शरीर पर हुआ है, परतु आरोप का एक विषय 'प्राण' लुप्त है। आरोप्यमाण शब्द द्वारा ही यहाँ इस अर्थ का बोध होता है कि एक बार शरीर से प्राण चले ज.ने पर वापस नही लौटते—

बिछुर्‌यौ हंस काय घटहू तै फिरि न आव घट माही[७४]।

ग व्यजना शक्ति—कुछ प्रयोग ऐसे होते हैं जिनके द्वारा कुशल कलाकार साधारण अर्थ के अतिरिक्त कुछ विशेषार्थ भी ध्वनित करना चाहता है। साधारण पाठक भले ही ऐसे वाक्यो के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से सतुष्ट हो जाय, परतु विज्ञ अध्येता के लिए ऐसे प्रयोगो का आनद उन ध्वनितार्थ मे रहता है, जो अभिधा और लक्षणा के कार्य-विरत हो जाने के पश्चात् व्यजित होता है। सूर-काव्य मे व्यग्यार्थ-प्रधान पदो के अनेक सुदर उदाहरण मुरली और स्व-नेत्रो के प्रति व्रज ललनाओ के उपालभो, उनके विरह-वर्णन और उद्धव-गोपी-सवाद मे मिलते हैं। सूरदास का एक पद है—

वरु ए बदरौ वरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनदन गरजि गगन घन छाए।
कहियत है सुर-लोक वसत सखि सेवक सदा पराए।
चातक-कुल की प्रीति जानिकै, तेउ तहाँ तै धाए[७५]।

इस पद का मुख्यार्थ सीधा-सादा है—वर्षा ऋतु आरभ हो गयी है। पानी बरसाने का समय जानकर बादल उमडने-घुमडने लगे हैं। यद्यपि ये दूसरो के सेवक हैं और वहुत दूर सुरलोक मे वसते हैं, तथापि अपने प्रेमी चातक-कुल की प्रीति का स्मरण करके उन्हे सुख-सात्वना देने दौड पडे हैं।

इम मुख्यार्थ का वोध कराने के पश्चात् अभिधा शक्ति अपने कार्य से विरत् हो जाती है। पश्चात्, सहृदय पाठक के लिए यह विशेषार्थ व्यजित होता है—प्रिय कृष्ण, वर्षा ऋतु आरभ हो गयी है। इतने दिन तुमने दर्शन न दिया। हमने यह सोचकर तुम्हारा वियोग सहन किया कि तुम्हे यहाँ आने का अवसर न मिला होगा, परतु इस उद्दीपन-

७३ सा १५५३। ७४ सा ३२२९। ७५ सा ३३०८।

कारी ऋतु मे तो सयोग-सुख हमे अवश्य मिलना चाहिए। हमारी इस कामना मे कोई नवीनता या विचित्रता नही समझी जानी चाहिए। प्राकृतिक व्यापार भी इसके पोषक या समर्थक हैं। देखो, परवशता के कारण, सुरलोक जैसे सुदूरवर्ती स्थान मे वसनेवाले मेघ भी स्व-प्रिय चातकों की प्रीति का स्मरण करके, उन्हे सयोग-सुख देने के लिए दौड पड़े हैं। ये जड हैं, तुम चेतन हो, ये परवश हैं, तुम स्वतत्र हो, ये इतनी दूर वसते हैं, तुम तो हमारे ग्राम के समीप ही हो। अब तक तुम कदाचित् विविध कार्यों मे व्यस्त रहे, हमने भी तुम्हारा वियोग सहन किया, अव प्रेमवृत्ति को उद्दीप्त करनेवाली इस वर्षा ऋतु मे तो हे प्रियतम, आकर हमे दर्शन दो।

सूर काव्य मे इस प्रकार के व्यग्यार्थ-प्रधान वाक्य गोपियो के विरह-वर्णन और भ्रमरगीत प्रसंग मे वहुत मिलते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे स्थलों को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—शाव्दी व्यजना-प्रधान वाक्य और आर्थी व्यजना-प्रधान वाक्य किसी वाक्य के व्यग्यार्थ तक पहुँचने मे कभी तो अभिधा शक्ति या वाच्यार्थ सहायक होता है, कभी लक्षणा शक्ति या लक्ष्यार्थ और कभी कभी वाक्य का सामान्य व्यग्यार्थ ही दूसरे व्यग्यार्थ को ध्वनित करता है। अतएव शाव्दी व्यजना-प्रधान वाक्यो के मुख्य दो भेद होते हैं—(क) अभिधामूला शाव्दी व्यजना और (ख) लक्षणामूला शाव्दी व्यजना। इसी प्रकार आर्थी व्यजना को तीन उपभेदो मे विभाजित किया जा सकता है—(ग) वाच्यसभवा आर्थी व्यजना, (घ) लक्ष्यसभवा आर्थी व्यजना और (ङ) व्यग्यसंभवा आर्थी व्यजना।

क. अभिधामूला शाव्दी व्यजना—एक शव्द के अनेक अर्थ होते हैं और अभिधा शक्ति प्रसग के अनुसार उसके योग्य या उपयुक्त वाच्यार्थ का निर्देश करने मे सहायक होती है। इस वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि कोई अन्य ध्वनि कथन या वाक्यार्थ से निकलती है तो इसका कारण 'अभिधामूला शाव्दी व्यजना' होती है, जैसे—

> निरखति अंक स्याम सुदर के वार वार लावति लै छाती।
> लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै ह्वै गइ **स्याम** स्याम जू की पाती[७६]।

सूरदास की इस उक्ति मे 'अंक' और 'स्याम' (स्याम स्याम जू की पाती) शव्दो के क्रमश. सामान्य अर्थ हैं 'अक्षर' और 'श्याम' या काली। इनके आधार पर पूरे वाक्य का अर्थ हुआ —'श्रीकृष्ण के अक्षरो (पत्र) को देखकर राधा उसे वार-वार छाती से लगाती है और उसके आनन्द-अश्रुओ से भीग जाने के कारण, स्याही के फैलने से श्याम की 'पाती' श्याम या काली (कृष्णमय) हो गयी। अभिधा द्वारा निर्देशित इस मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक वहुत मर्मस्पर्शी ध्वनि इन प्रयोगो से व्यजित होती है—'श्रीकृष्ण का पत्र पाकर राधा को ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे उन्होने दीर्घ वियोग के पश्चात् साक्षात् प्रिय को ही पा लिया हो। इस प्रकार वह पत्र ही साक्षात् प्रियतम का रूप हो गया। श्रीकृष्ण के 'अंक' (गोद, शरीर या आलिंगन) के स्पर्श से पुलकित होकर जिस प्रकार

---

७६. सा. ३४८७।

सयोगावस्था मे वे उन्हे हृदय से लगाती वैसे ही बार-बार पत्र को छाती से लगाने लगी। यह मार्मिक व्यजना 'अक' और 'स्याम'—इन दो प्रयोगो से ही सभव है, इनके स्थान पर समानार्थी पद रख देने से अभिधामूलक मुख्यार्थ तो अक्षुण्ण रहेगा, परन्तु व्यजनामूलक व्यग्यार्थ नष्ट हो जायगा।

अभिधामूला शाब्दी व्यजना मे सामान्य निर्दिष्ट अर्थ तक पहुँचने के लिए जिन साधनो से काम लिया जाता है, उनमे मुख्य हैं सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य और देश। सूरदास के अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना सबधी प्रयोगो मे भी इन्ही साधनो को अपनाया गया है।

(अ) **सयोग**—प्रसिद्ध सबध के आधार पर अर्थ विशेष का द्योतन—

मुरली नहिं करत **स्याम** अधरन तैं न्यारी[७८]।

इस वाक्य मे 'मुरली' का प्रसिद्ध सयोग 'स्याम' शब्द के अनेक अर्थों मे से केवल 'श्रीकृष्ण' का बोधक है।

(अ) **वियोग**—प्रसिद्ध वस्तु-सबध के अभाव द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

स्रम कै सूर जाउँ **प्रभु** पासहिं, मन मैं भले मनाऊँ।
नवकिसोर मुख **मुरलि बिना** इन नैननि कहा दिखाऊँ[७९]।

इस उद्धरण मे प्रसिद्ध सबंधित वस्तु 'मुरली' के अभाव से 'प्रभु' शब्द के अनेक अर्थों मे से केवल पति, स्वामी या प्रियतम श्रीकृष्ण का बोध होता है।

(इ) **साहचर्य**—प्रसिद्ध सहचर की उपस्थिति द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

राधिका, हरि अतिथि तिहारे[८०]।

इस वाक्य मे 'राधिका' के साहचर्य से 'हरि' के अनेक अर्थों मे से केवल 'श्रीकृष्ण' का बोध होता है।

(ई) **विरोध**—प्रसिद्ध विरोधी की उपस्थिति के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

रे **दसकंध**, अधमति, तेरी आयु तुलानी आनि।
सूर **राम** की करत अवज्ञा, डारैं सब भुज भानि।[८१]

इस उदाहरण मे प्रसिद्ध विरोधी 'दसकध' (रावण) की उपस्थिति से 'राम' शब्द से तात्पर्य जानकीपति श्रीरामचन्द्र से ही है, परशुराम, बलराम आदि से नही।

(उ) **अर्थ**—तात्पर्य या प्रयोजन के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

भीषम धरि **हरि कौ उर ध्यान**, हरि के देखत तजे परान[८२]।

हृदय मे ध्यान किया जाता है परब्रह्म का। अत यहाँ इस प्रयोजन के आधार पर

---

७७ सा १८६६। ७८. सा. ४२५५। ७९. सा ३४४०।
८० सा १७१। ८१ सा १-२८०

'हरि' शब्द का अर्थ ब्रह्मावतार श्रीकृष्ण से है, उसके अन्य अर्थ सगत नही हो सकते।

(ऊ) **प्रकरण**—प्रसग या संदर्भ द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन —

मधुकर, मधु माधव की बानी[८२]।

इस वाक्य मे 'मधु' का अर्थ प्रसग या प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थो मे से केवल 'मधुर' हो सकता है, क्योकि 'वाणी' के विशेषण-रूप मे यही सगत है।

(ऋ) **लिंग**[८३]—विशिष्ट गुण, धर्म-चिन्ह या लक्षण के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

पीन **पयोधर** सघन उनत अति, ता तर रोमावली लसी री[८४]।

यहाँ 'पयोधर' का अर्थ 'थन' या 'मेघ' न होकर, 'उरोज' है, क्यो कि 'पीन' और 'उन्नत' होना इन्ही का लक्षण है।

(ए) **अन्य सन्निधि**—दूसरे शब्द की सन्निधि के द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

माखन - दधि **हरि** खात ग्वाल सँग[८५]।

इस उदाहरण मे 'हरि' का अर्थ उसके अनेक अर्थों मे से 'श्रीकृष्ण' ही होगा, क्योंकि 'माखन-दधि' की समीपता इसी की घोषणा करती है, 'हरि' शब्द के अन्य अर्थों की सगति निकटवर्ती 'माखन-दधि' से नही बैठती।

(ऐ) **सामर्थ्य**—कार्य या व्यवहार को सिद्ध करने की शक्ति के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

इंद्रजीत लीन्ही तव **सत्ती** देवनि हहा करयौ।
छूटी बिज्जु-रासि वह मानौ, भूतल बंधु परयौ[८६]।

इस उद्धरण मे 'सत्ती' शब्द अस्त्र-विशेष के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, क्योकि 'बिज्जुरासि' के समान छूटने और शत्रु को घायल करने या मारने की सामर्थ्य उसी मे है।

(ओ) **औचित्य** - अर्थ-विशेष का द्योतन उसकी प्रसगानुकूल योग्यता के आधार पर करना—

ब्रज-वनिता-वर-बारि वृंद मै **श्री** ब्रजराज विराज्यौ[८७]।

इस काव्य मे 'श्री' का अर्थ धन-संपति, लक्ष्मी या शोभा आदि सगत नही है। अतएव औचित्य के आधार पर यह केवल सम्मानसूचक प्रयोग है।

औ. **देश**—अर्थ-विशेष के द्योतन में स्थान के सवध का आश्रय लेना—

---

८२. सा. ४४५०।

८३ व्याकरण अथवा साधारण व्यवहार मे 'लिंग' शब्द जिस अर्थ मे आता है, यहाँ उससे भिन्न मे प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इसका तात्पर्य द्रव्य, वस्तु या पदार्थ के धर्म, गुण या लक्षण से है जो अन्य वस्तु या पदार्थ से उसकी भिन्नता प्रकट करने में समर्थ हो सके—लेखक।

८४. सा. २४४७। ८५. सा. २२१५। ८६. सा. ९-१४४। ८७. सा. १०४९।

मुरली-धुनि बैकुंठ गई।
नारायन कमला सुनि दपति अति रुचि हृदय भई[८८]।

यहाँ 'कमला' का अर्थ, बैकुठ के सबध से 'लक्ष्मी' ही स्पष्ट होता है और 'नारायण' तथा 'दपति' शब्दो से इसकी पुष्टि होती है।

ख लक्षणामूला शाब्दी व्यजना—कवि या लेखक किसी प्रयोजन या व्यग्यार्थ को जब ध्वनित या सूचित करना चाहता है, तब उसे लक्षणा का आश्रय लेना पडता है। ऐसे स्थलो मे 'लक्षणा मूला शाब्दी व्यजना' ही उसके लाक्षणिक प्रयोगो की अभीष्ट ध्वनि को व्यजित करती है। सूरदास का एक वाक्य है—

तै महानग स्याम पायौ,प्रगटि कैसै जाइ[८९]।

यहाँ 'महानग' का लक्ष्यार्थ है 'नीलम' और वाक्य का व्यग्यार्थ है कि तू (राधा) बडी भाग्यशालिनी तो है ही, बहुत चतुर भी है, क्योकि मूल्यवान निधि को गुप्त रखने की योग्यता भी तुझमे है।

ग. वाच्यसभवा आर्थी व्यजना—सूरदास की गोपियाँ शकर जी का पूजन करके ध्यान लगाती हैं और कहती हैं—

बड़े देव तुम हौ त्रिपुरारी[९०]।

इस वाक्य का वाच्यार्थ स्पष्ट है—देवताओ मे तुम सबसे महान हो। इस वाच्यार्थ मे निहित व्यग्यार्थ यह है कि आपकी कृपा से हमारा मनोरथ बहुत सरलता से पूर्ण हो सकता है। यह व्यग्यार्थ 'बडे देव' शब्दो पर नही, इनके अर्थ पर निर्भर है।

घ लक्ष्यसभवा आर्थी व्यजना—किसी वाक्य या कथन के लक्ष्यार्थ मे यदि व्यग्यार्थ की ध्वनि रहती है तो वहाँ यह व्यजना होती है। गोपियो की निम्नलिखित उक्ति मे इसका चमत्कार देखा जा सकता है—

भूलिहुँ जनि आवहु इहि गोकुल, तपति तरनि ज्यौ चद।
सुदर-वदन स्याम कोमल तन, क्यौ सहिहैं नँद नद।
मधुकर मोर प्रबल पिक चातक बन उपवन चढि बोलत।
मनहुँ सिंह की गरज सुनत गोबच्छ दुखित तन डोलत।
आसन असन अनल विष अहि-सम, भूषन विविध बिहार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुम प्रति धनुष धरे सत मार[९१]।

व्रजवालाएँ ऊधव के द्वारा प्रिय कृष्ण तक यह सदेश पहुँचाना चाहती है कि मथुरा मे ही रहो, यहाँ मत आओ। कारण यह है कि गोकुल मे चन्द्रमा, प्रचण्ड सूर्य के समान तप रहा है, मधुकर मोर, पिक, चातक आदि कर्कश स्वर मे बोल रहे हैं, आवास, भोजन और आभूषण आग के समान झुलसाने, विष के समान घातक और सर्प के

---

८८ सा. १०६४। ८९. सा. १८४३ ९०. सा. ७९९। ९१ सा. ४०६७।

समान डसनेवाले हो रहे है, एवं कामदेव तो धनुष-वाण लिये वृक्ष-वृक्ष पर घूम रहा है।

श्रीकृष्ण के वियोग मे दुखी गोपियो के इस सदेश का लक्ष्यार्थ यह है कि विरहावस्था मे चद्रमा; मधुकर, मोर, पिक और चातक के बोल, आवास, भोजन और आभूषण आदि सुखदायी न रहकर अत्यंत दुखदायी हो गये हैं और कामदेव विरह-व्यथा को और भी उद्दीप्त करके हार्दिक क्लेश दे रहा है।

इस लक्ष्यार्थ के आधार पर यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता हैं कि सकट के अनेक अवसरो पर तुम हमारी पहले रक्षा कर चुके हो। आज चारो ओर से संकटो ने हमको घेर लिया है। अतएव पूर्व सबंध को स्मरण कर, यहाँ आकर हमारी रक्षा करो। हमारी पुकार केवल तुम्ही तक है और तुम्हीं इन कष्टो से हमे छुटकारा दिला सकते हो। व्यग्य की यह व्यंजना लक्ष्यार्थ पर आधारित है। ऊपर दिया गया पहला लक्ष्यार्थ शाब्दी व्यजना द्वारा सिद्ध होता है और दूसरा अन्य अर्थ की ओर सकेत करता है।

ड. व्यग्यसंभवा आर्थी व्यंजना—गोपियो की निम्नलिखित उक्ति के व्यग्यार्थ की व्यंजना उसके व्यग्यार्थ द्वारा ही ध्वनित होती है—

किधौ घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौ हरि हरषि इद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेषनि।
किधौ उहिं देस बगनि मग छाँडे, धरनि न बूँद प्रबेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधिकनि बधे बिसेषनि।
किधौं उहिं देस बाल नहि झूलहिं, गावति सखि न सुबेसनि[१२]।

इस पद का वाच्यार्थ यह है—'क्या श्रीकृष्ण के देश मे बादल नही गरजते ? स्वयं उन्होने इद्र को इसके लिए कही रोक तो नही दिया है ? कही सर्पो ने मेढको को खा तो नही डाला है ? अथवा बगलो ने वह मार्ग ही छोड दिया है ? बधिको ने सारे मोरो, चातको और कोकिलो को मार डाला है ? अथवा उस देश मे किशोर-किशोरियाँ सुदर वेश-भूषा धारण करके झूलती या गाती ही नही ?

इस कथन का व्यग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आगमन से हमारी प्रेम-भावना विशेष उद्दीप्त ही उठी है और हम प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलने के लिए व्याकुल हो रही हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को भी हमसे मिलने की उत्कठा होनी चाहिए थी ; तब उनके यहाँ न आने का कारण क्या है ? क्या उनके देश मे वर्षा ऋतु का प्रवेश ही नही हुआ ?

यह व्यंग्य पुन दूसरे व्यग्य की ओर सकेत करता है—प्रियतम श्रीकृष्ण हमको भूल गये हो अथवा वर्षा ऋतु के इस आगमन से—घन-गर्जन, दादुर-रटन, चातक-मोर-कोकिला- कूजन आदि सुनकर, किशोर-किशोरियो को झूलते-गाते और आमोद करते देखकर—उनके मन मे प्रेम-भावना न जागती हो, उनको हमारी याद न आती हो और वे

---

१२. सा ३३१०।

हमसे मिलने को उत्कंठित होकर यहाँ न आयें, इन सब बातो को तो हम मान ही नही सकती। इस उन्मादकारी ऋतु का हमारी तरह उन पर भी प्रभाव पडेगा, इसका भी हमे पूर्ण विश्वास है।

यह दूसरा व्यग्यार्थ गोपियो के कथन के मूल व्यग्यार्थ पर ही आधारित है। सूरदास के विरह-वर्णन विषयक पदो मे इस प्रकार की 'व्यग्यार्थसभवा आर्थी व्यजना-युक्त उक्तियो की प्रधानता है।

३. ध्वनि—सूरदास के विरह-वर्णन के अनेक पदो मे ध्वनि का चमत्कार पाठक को मुग्ध कर लेता है। श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर नद उनके साथ गये, परतु लौटे अकेले। प्रिय पुत्र के लिए माता के तडपते हुए हृदय को इससे और भी चोट पहुँची और वे खीझकर पति से कहती हैं—

> नद, ब्रज लीजै ठोकि बजाइ।
> देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ[१३]।

इस उक्ति के ध्वनि-जन्य चमत्कार के प्रभाव की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है—"ठोकि बजाय' मे कितनी व्यजना है! 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो, तुम्हे इसका गहरा लोभ है, मैं जाती हूँ'। एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखायी दे रहा है। एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावो से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानो से युक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शवलता कहे या भाव-पचामृत, क्योकि एक ही वाक्य, 'नद, ब्रज लीजै ठोकि बजाइ' मे कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष, इन तीनो की मिश्र व्यजना—जिसे शवलता ही कहने से सतोष नही होता—पायी जाती है"*।

स्थूल रूप से 'ध्वनि' के दो मुख्य भेद हैं—एक, लक्षणामूला और दूसरी अभिधा-मूला। सूर-काव्य मे इन दोनो के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

क लक्षणामूला ध्वनि—वाक्य के वाच्यार्थ से जब वक्ता का आशय स्पष्ट न हो और ध्वनि, लक्षणा पर आधारित हो, तब 'लक्षणामूला ध्वनि' होती है। श्रीकृष्ण की प्रीति में पगी गोपियाँ, उद्धव को बार-बार निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते देख, उनके हठधर्मी-पन से खीझकर कहती हैं—

> दुसह बचन अलि, हमैं न भावै। जोग कहा, ओढै कि बिछावै[१४]।

'ओढै कि बिछावै' का लक्षणा मे तात्पर्य है, 'हमारे किसी काम का न होना'। इस प्रयोग से, लक्षणामूला ध्वनि द्वारा वे स्पष्ट कह देती हैं कि सगुण के प्रति हमारी भक्ति अनन्य है, और तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की कथा हमारे लिए सर्वथा निरर्थक है।

ख. अभिधामूला ध्वनि—सूरदास का निम्नलिखित पद 'अभिधामूला ध्वनि' का सुंदर उदाहरण है—

---

१३. सा० ३१६८।   *'सूरदास', पृ १८८।   १४. सा० ४०१४।

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतग करी पावक सौ आपै प्रान दह्यौ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौ, सन्मुख बान सह्यौ।
हम जौ प्रीति करी माधव सौ, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ[९५]।

इस पद का वाच्यार्थ स्पष्ट है। श्रीकृष्ण के विरह मे दुखी गोपियो ने एक सत्य की पुष्टि अपने दृष्टिकोण से अनेक उदाहरण देकर की है और पद के वाच्यार्थ से गोपियो की वियोग-दशा ध्वनित होती है।

साहित्याचार्यों ने लक्षणामूला अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद किये है–(अ) 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य' और (आ) 'अत्यततिरस्कृतवाच्य'। इसी प्रकार अभिधामूला ध्वनि के भी दो उपभेद है—(इ) 'असलक्ष्यक्रम ध्वनि' और (ई) 'सलक्ष्यक्रम ध्वनि। सूर-काव्य मे इन उपभेदो के भी अनेक उदाहरण मिलते है।

अ. **अर्थांतरसंक्रमित वाच्य**—अपने नेत्रो के प्रति उपालभ देती हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं—

१. लोचन मेरे भृंग भए री।
लोक-लाज बन- घन बेली तजि आतुर ह्वै जु गए री[९६]।

२ मेरे नैन कुरग भए।
जोबन-बन तै निकसि चले ये, मुरली-नाद रए[९७]।

इन वाक्यो का वाच्यार्थ वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल नही है, प्रत्युत लक्षणा से उसका तात्पर्य है कि ये नेत्र भौंरो की तरह रसलोलुप और कुरगो की तरह नाद-प्रेमी हो गये है। इस लक्ष्यार्थ से, 'भृंग' और 'कुरग' शब्दो के अर्थांतर मे सक्रमण कर जाने से, श्रीकृष्ण के दिव्य रूप के प्रति गोपियो की उत्कट आसक्ति ध्वनित होती है।

आ . **अत्यंत तिरस्कृत वाच्य**—लक्षणामूला ध्वनि के इस भेद मे मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके, उससे नितात भिन्न नवीन अर्थ लेना कवि को अभीष्ट रहता है। निम्न उदाहरण मे 'धनि' (= धन्य, प्रशसासूचक) शब्द के वाच्यार्थ का अर्थातर अर्थात् तिरस्कार सूचक 'धिक्कार' अर्थ मे सक्रमण होने से अत्यत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है—

ऊधौ धनि तुम्हरौ ब्योहार[९८]।

इ. **असलक्ष्यक्रम ध्वनि**—किसी किसी उक्ति के व्यग्यार्थ मे ध्वनित रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि की प्रतीति इतनी शीघ्रता से होती है कि वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ के मध्य का व्यवधान या क्रम जान ही नही पडता। जिस तरह बिजली का 'मेन स्विच' दबाते ही सारे घर मे प्रकाश इतनी शीघ्रता से हो जाता है कि एक 'बल्ब' से दूसरे तक उसके पहुँचने

९५. सा० ३२८८। ९६. सा० २२७७। ९७ सा० २२८०। ९८. सा ३९०९।

की क्रमिक गति का ज्ञान हो ही नही पाता, अथवा जिस प्रकार फूल की गध और वायु का व्यवधान-रहित-सा घनिष्ठतम सबध रहता है, उसी प्रकार किसी किसी उक्ति के वाच्यार्थ के साथ ही व्यग्यार्थ की भी प्रतीति इस त्वरा से होती है कि दोनो का बोध लगभग साथ साथ ही होता है। सूरदास की निम्न उक्तियो मे ऐसी ही ध्वनि का चमत्कार दिखायी देता है।

१ तुम जानति राधा है छोटी।
+ + +
सूरदास-प्रभु वै अति खोटे, **यह उनहूँ तै अतिहीं खोटी**[९९]।

२ सूरदास सरबस जौ दीजै, **कारौ कृतहिं न मानै**[१]।

ये दोनो उक्तियाँ गोपियो की हैं। प्रथम, राधा को लक्ष्य करके परस्पर कही गयी है और दूसरी, श्रीकृष्ण के व्यवहार को लक्ष्य करके उद्धव से। दोनो उक्तियो के मूल मे आतरिक विनोद है और दोनो मे रति-भाव ध्वनित है। अतर इनमे यह है कि प्रथम वाक्य राधा-कृष्ण का प्रेम देखकर पुलकित होती हुई सखी का है और द्वितीय, श्रीकृष्ण की निष्ठुरता से कुछ खीझी हुई सखी का।

ई **सलक्ष्यक्रम ध्वनि** - कभी-कभी रचना के वाच्यार्थ का बोध होने के पश्चात् ध्वनित व्यग्यार्थ की प्रतीति तुरत या साथ-साथ न होकर क्रमिक गति से होती है। सूरदास का एक पद है—

निर्गुण **कौन देस को बासी।**
मधुकर, कहि समुझाइ सौह दै, बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन, भेष है कैसो, किहिं रस मैं अभिलासी[२]।

साधारण रूप से तो गोपियाँ यहाँ उद्धव से 'निर्गुन' की रूप-रेखा बताने को कहती हैं और उसके माता-पिता, वेश-भूषा, रूप-रग आदि का परिचय पूछती हैं, परतु इन बातो तक ही अर्थ सीमित नही रहता। इस पद का व्यग्यार्थ है कि जब निर्गुण मे रूप, रग, गुण, आकार, कुछ है ही नही, तब उस पर मन टिकाया कैसे जा सकता है? उनके इस कथन से अत मे ध्वनि यह निकलती है निर्गुण हमारे लिए अगम है, अतएव इस पद मे निर्गुण भक्ति का खडन हुआ है।

४ **अलकार**—काव्य को अलकृत करने का अर्थ है बात को कुछ विशेषता के साथ कहना। काव्यगत इस विशेपता के अनेक रूप होते हैं। भाषा के अग हैं वाक्य, शब्द और वर्ण जिनके सयोग से वक्ता अभिप्राय व्यक्त करता है। रचना को अलकृत करने के उद्देश्य से कवि या लेखक इन सभी मे ऐसी विशेपता लाने का प्रयत्न करता है जिससे पाठक या श्रोता का मन उसकी उक्ति मे रम जाय। प्रसग को स्पष्ट करने के लिए

---

९९ सा १९०१। १ सा ३७५०। २ सा ३६३१।

अप्रस्तुत विषयो का विधान भी कभी कभी आवश्यक हो जाता है और कल्पना के विना तो कोई व्यक्ति कभी कवि हो ही नही सकता। इन दोनो की योजना मे भी अलकारो के साहचर्य से विशेषता आ जाती है। इस प्रकार भावो और विचारो की स्पष्टता के जितने भी साधन हो सकते हैं, सभी मे कुछ न कुछ विशेषता लाकर अपने व्यक्तित्व की छाप उस पर लगाने का प्रयत्न कवि सदैव किया करता है और तभी उसकी रचना अलंकृत समझी जाती है।

अलकारो के मुख्य भेद है—शब्दालकार और अर्थालकार। इनमे से भाषा को अलकृत करने मे शब्दालकारो का ही विशेष योग रहता है। अतएव सूर काव्य मे प्रयुक्त केवल शब्दालकारो का सोदाहरण परिचय देना यहाँ अभीष्ट है। सूरदास ने जिन शब्दालकारो का विशेष रूप से प्रयोग किया है, वे है अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश, यमक, वीप्सा और श्लेष।

क **अनुप्रास**—इस अलकार के पाँच भेद होते है—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट। इनमे से अतिम मे कवि ने कोई रुचि नही दिखायी है और पूर्वांतिम अर्थात् 'अत्य' की कुछ चर्चा 'छंद और तुक' शीर्षक के अतर्गत पीछे की जा चुकी है। अतएव अनुप्रासालकार के प्रथम तीन भेदो की चर्चा ही यहाँ की जायगी।

अ. **छेकानुप्रास**—शब्दालकारो मे सूरदास का सबसे प्रिय अलकार है 'छेकानुप्रास'। उनके प्राय समस्त पदो मे इसके अनेक उदाहरण सरलता से मिल सकते हैं, जैसे—

१. माया **नटी** लकुटि कर लीन्हे कोटिक **नाच नचावै**[३]।
२ **नाक निरै सुख दुःख सूर** नहिं, जिहि की भजन प्रतीति[४]।
३ **अपनी करनी** विचारि गुसाई काहे न **सूल सहौ**[५]।
४. **चरचित चंदन** नील कलेवर, **बरषत बूँदनि** सावन[६]।
५ **चरन परसि पाषान** उडत है, कत वेरी उडि जात[७]।
६ **धूसर धूरि घुटुरुवनि** रेगनि ··· ··· ················[८]।
७ **धनि ब्रज बास आस** यह पूरन कैसे होति हमारी[९]।
८ **अटपटात अलसात पलक पट** मूँदत कबहूँ करत उघारे[१०]।
९ रितु वसत **फूली फुलवाई**। मद सुगध बयार बहाइ[११]।
१०. यह सुनि असुरनि जज्ञहि त्यागि। दया-धर्म मारग अनुरागि[१२]।
११. मोकूँ लाड़ लड़ायौ उन जो कहँ लगि करै वडाई[१३]।
१२ कद मूल फल दीने गोधन सो निसि कौ मै खायौ[१४]।
१३. **कासे कहो सनूचै भूषन सुमिरन** करत वखानी[१५]।
१४ लै कर **गेंद** गये है खेलन लरिकन सग कन्हाई[१६]।

३. सा. १-४२। ४ सा. २-१२। ५. सा ३-२। ६. सा. ८-१३। ७. सा. ९-४१। ८. सा. १०-१०५। ९ सा. १४७। १० सा २६८२। ११. सा. ११-३। १२. सा १२-२। १३. सा ५८७। १४. सा. ९१३। १५. लहरी. ५५। १६. सा. १०२।

१५. हरि सुर भषन बिना बिरहाने छीन लई तिन तातैं[17]।

अनुप्रास के इस भेद से कवि को इतना प्रेम है कि अनेक विशेष्य-विशेषण और कर्त्ता-क्रिया-रूप इस प्रकार उसने रखे हैं कि वाक्य मे छेकानुप्रास की योजना हो गयी है।

आ वृत्यनुप्रास—'सूरसागर' मे छेकानुप्रास की अपेक्षा वृत्यनुप्रास की योजना बहुत कम है, 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' मे भी इसकी योजना अधिक नही है। फिर भी लगभग एक सहस्र पक्तियो मे इस अलकार के उदारण अवश्य मिलतेहैं, जैसे—

१ अ—अकरम अबिधि अज्ञान अवज्ञा अनमारग अनरीति[18]।

२ क—कामी कृपन कुचील कुदरसन को न कृपा करि तारचौ[19]। कटक कर्म कामना कानन कौ मग दियौ दिखाई[20]। किंकिनी कटि कनित कंकन कर चुरी झनकार[21]। मुकुट कुडल किरनि करननि किये किरनि की हान[22]।

३ ग—गरजत गगन गयद गुंजरत[23]।

४ च—चत—चिंतत ही चित मैं चितामनि चक्र लिए कर धायौ[24]। चमकि चमकि चपला चकचौंधति[25]। अति चतुर चितवन चित चुरावति चलत ध्रुव धीरज हरैं[26]।

५ छ—छनहिं छन छबि छोर—३६४। छीर छींटि छल छोरे[27]।

६ ज—जग जानत जदुनाथ जिते जन निज भुज-स्रम सुख पायौ[28]। जल थल जीव जिते जग जीवन निरखि दुखित भए देव[29]।जनम जनम जब-जब जिहि जिहि जुग जहाँ जहाँ जन जाइ[30]। जोरि जोरि चित जोरि जुरान्यौ जोरचौ जोरि न जान्यौ[31]।

७ झ—रही झुकि झुकि झाँखि[32]।

८ ट—धरनि पग पटकि कर झटकि भौंहनि मटकि अटकि मन तहाँ रीझे कन्हाई। तब चलत हरि मटकि रही जुवती भटकि लटकि लटकनि छटकि छबि बिचारे[33]।

९ त—ताकत नही तरनिजा के तट तरुवर महा निरास[34]।

१० द—कह दाता जो द्रवै न दीनहिं देखि दुखित ततकाल[35]। दामिनि दुरि-दुरि देति दिखाई[36]।

---

१७ लहरी उ ४६। १८. सा १-१२९। १९ सा १-१०१। २०. सा. १-१८७। २१ सा १०-४३। २२ सा १३७९। २३ सा ३३०५। २४ सा. ८-३। २५ सा ८७७। २६ सा ४१८७। २७ सा ७३२। २८ सा १-१५। २९. सा १-१५०। ३० सा २-१२। ३१. सा ३६०१। ३२. सा ३५८४। ३३. सा १०४१। ३४. लहरी २६। ३५ सा १-१५९। ३६. सा ६१६।

११. न—रूप-रहित निरगुन नीरस नित निगमहु परत न जानि[३७]।

१२. प—प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम कै बनबास[३८]।

१३ ब—बिषधर बिषम-बिषम-बिष बाँचौ[३९]। बनमाली बामन बीठल बल, बासुदेव बासी ब्रज भूतल[४०]। बिरह बिभूति बढी बनिता बपु सीस जटा बनवारि है[४१]। बिट्ठल बिपुल बिनोद बिहारन ब्रज कौ बसिबौ छाजै[४२]।

१४ भ—भद्रा भली भरनि भय हरनी[४३]।

१५. म—मोहन मुखमुरली मन मोहिनि बस करै[४४]। मधुर माधुरी मुकुलित पल्लव लागत परम सुहायौ[४५]।

१६. र—राजति रोम-राजी रेष[४६]।

१७ ल—लटकति ललित ललाट लटूरी[४७]। नदलाल ललना ललचि ललचावै री[४८]।

१८ स—सूर सुकृत सेवक सोइ साँचौ जो स्यामहिं सुमिरैगौ[४९]। सदा सुभाव सुलभ सुमिरन वस[५०]। सासु की सौति सुहागिनि सो सखि[५१]। सूरदास स्वामी सखसागर सुंदर स्याम कन्हाई[५२]। सुरन सारग के सम्हारत सरस सारग नैन[५३]। सहित सैन सुत संग सिधारत सो सब सजे सरूप[५४]।

१९. ह—हारि मानि हहर्‌यौ हरि चरननि हरषि हियै अब हेत करै[५५]। हेरि हेरि अहेरिया हरि रहीं झुकि झुकि झाँखि[५६]। हो रही इह बिपत तेरी विपत होइ सहाइ[५७]।

छेकानुप्रास की अपेक्षा वृत्यनुप्रास-योजना जहाँ भाषा का सौंदर्य अधिक वढाती है, वहाँ प्रयास के कारण कभी कभी उसमे कृत्रिमता भी आ जाती है। परतु सूर-काव्य मे वृत्यनुप्रास-योजना से भाषा की श्रीवृद्धि तो हुई ही है, साथ ही कृत्रिम आडवर के दोष से वह मुक्त भी रह सकी और प्राय सर्वत्र उसमे अपेक्षित प्रवाह मिलता है।

इ श्रुत्यानुप्रास—स्थान-विशेष से उच्चरित होनेवाले वर्णों की आवृत्ति मे भी सूर वहुत कुशल है, जैसे—

१ धन्य नंद जसुदा के नंदन।

धनि राधिका धन्य सुंदरता धनि मोहन की जोरी[५८]।

---

३७. सा ३५४१। ३८. सा ३८१३। ३९. सा १-८३। ४०. सा. ९८१। ४१. सा २११६। ४२. सा ३०९६। ४३ सा. ३८२८। ४४ सा ६५२। ४५. सा १०४२। ४६. सा ६३५। ४७. सा. १०-११७। ४८ सा. ६२९। ४९. सा. १-७५। ५० सा. १-१२१। ५१ सा. ९-४४। ५२. सा १०-२१। ५३. लहरी. ६६। ५४. लहरी. ७४। ५५. सा ९५५। ५६. सा. ३५८४। ५७. लहरी. १८। ५८ सा १०४७।

२ उत कोकिलागन करै कुलाहल इत सकल ब्रज-नारियाँ [५९] ।
३ उरज उर सौ परस कौ सुख बरनि कापै जाइ [६०] ।
४. ऐसे हम देखे नँदनंदन ।

स्याम सुभग तनु, पीत बसन जनु नील जलद पर तडित सुछदन [६१] ।

उक्त उदाहरणो मे से प्रथम और चतुर्थ मे दत्य, द्वितीय मे कठ्य और तृतीय मे ओष्ठय वर्णों की अधिकता है।

ई. ध्वन्यनुप्रास—अनुप्रास के उक्त तीनो भेदो के अतिरिक्त अँगरेजी का एक अलकार 'ध्वन्यनुप्रास' भी बहुत लोकप्रिय हो गया है। यह अलकार उन स्थलो पर माना जाता है जहाँ वर्णों की ध्वनि से अर्थ भी प्रतिध्वनि-सा हो। सूर-काव्य मे इस प्रकार के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

१ अलप दसन कलबल करि बोलनि [६२] ।
२. अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया [६३] ।
३ बरत बन-पात, भहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायौ [६४] ।
४ घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए [६५] ।
५. घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थररात ब्रज लोग डरपे [६६] ।

इन पक्तियो की शब्द-योजना इस प्रकार की है कि प्रथम से बालक की 'अस्फुट' ध्वनि और द्वितीय से बच्चे की चाल की डगमगाहट-सी सुनायी देती है। इसी प्रकार अतिम दोनो उदाहरणो की शब्दयोजना से वातावरण की भयानकता का सहज ही आभास मिल जाता है।

अनुप्रास के उक्त उदाहरण विभिन्न पदो से सकलित है, परतु सूर-काव्य मे ऐसे भी कुछ पद मिलते हैं जिनके प्रत्येक चरण मे अनुप्रास की योजना है। ऐसे केवल दो उदाहरण ही पर्याप्त होगे—

१ जागिए गोपाल लाल, आनँद निधि नन्द-बाल,
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयौ प्यारे,
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल।
मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे,
उगत अरुन, विगत सर्वरी, ससाक किरन हीन।
दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे,
मनौ ज्ञान-घन-प्रकास, वीते सव भव-विलास।

---

५९ सा १०७२। ६० सा १०८१। ६१ सा. १७८०। ६२ सा. १०-९१। ६३ सा १०-११५। ६४. सा ५९६। ६५. सा ८५३। ६६. सा. ८५५।

आस-त्रास-तिमिरि तोष-तरनि-तेज जारे,
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर होइ प्रतीति सुनौ।
परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम बारे,
मनौ वेद बदीजन सूत-बृन्द मागधगन।
विरद वदत जै जै जै जैति कैटभारे,
बिकसत कमलावली, चले प्रपुज-चचरीक।
गजत कलकोमल धुनि त्यागि कज न्यारे,
मानौ बैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिहाइ।
प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे,
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे असिसय दयाल।
भागे जजाल-जाल, दुख-कदब टारे,
त्यागे भ्रम-फद-द्वद, निरखि कै मुखारविंद[६७]।
सूरदास अति-अनद मेटे मद भारे।

+ + +

२. स्याम के बचन सुनि, मनहिं मन रह्यौ गुनि,
काठ ज्यौ गयौ घुनि, तनु भुलानौ।
भयौ बेहाल नँदलाल कै खयाल इहिं,
उरग तै बाँचि फिरि ब्रजहिं आयौ।
कह्यौ दावानलहि देखौ तेरे वलहि,
भस्म करि ब्रज पतिहि, कहि, पठायौ।
चल्यौ रिस पाइ अतुराइ तब धाइ कै,
ब्रजजननि वन सहित जारि आऊँ।
नृपति के लै पान, मन कियौ अभिमान,
करत अनुमान चहुँ पास धाऊँ×।

(ख) पुनुनरुक्ति प्रकाश—सूरदास ने अनेक पदो मे शब्द या शब्दो की इस प्रकार आवृत्ति की है कि उससे अर्थ की सुदरता वढ जाती है। ऐसे स्थलो पर 'पुनरुक्ति-प्रकाश' अलकार होता है। इसकी योजना सूर-काव्य की लगभग पाँच सौ पक्तियो मे मिलती है। उनमे से कुछ उदाहरण यहाँ सकलित हैं—

१. जनम सिरानौ अटकै अटकै[६८]।

---

६७. सा. १०-२०५। × सा. ५९०। ६८. सा २९२।

२ बालक अबल अजान रह्यौ वह, **दिन दिन** देत त्रास अधिकाई[६९] ।
३ **मंद-मंद** मुसुक्यानि, मनौ घन दामिनि **दुरि-दुरि** देति दिखाई[७०] ।
४ **बार-बार** पिय **देखि-देखि** मुख **पुनि-पुनि** जुवति लजानी[७१] ।
५ सुर-ललना पति-गति बिसराए, रही **निहारि-निहारि**[७२] ।

पुनरुक्तिप्रकाश अलकार के उक्त उदाहरण विभिन्न पदो से चुने गये हैं। साथ ही 'सूरसागर' मे कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनके प्राय प्रत्येक पद मे इसकी योजना है, जैसे—

रे मन, सुमिरि हरि-हरि-हरि ।
सत जज्ञ नाहिन नाम सम, परतीति करि करि करि ।
हरि-नाम हरिनाकुस बिसारचौ, उठयौ बरि बरि बरि ।
प्रहलाद-हित जिहिं असुर मारचौ, ताहि डरि डरि डरि ।
गज-गीध-गनिका-व्याध के अघ गए गरि गरि गरि ।
रस-चरन-अबुज बुद्धि-भाजन, लेहि भरि भरि भरि ।
द्रौपदी के लाज कारन, दौरि परि परि परि ।
पाडु-सुत के बिघन जेते, गये टरि टरि टरि ।
करन, दुरजोधन दुसासन, सकुनि अरि अरि अरि ।
अजामिल सुत-नाम लीन्हैं, गए तरि तरि तरि ।
चारि फल के दानि हैं प्रभु, रहे फरि फरि फरि ।
सूर श्री गोपाल हिरदै राखि धरि धरि धरि[७३] ।

(ग) **यमक** इस अलकार की विशेष रूप से योजना 'साहित्यलहरी' मे की गयी है जहाँ एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों मे अनेक वार प्रयोग किया गया है, जैसे—

उदै **सारँग** जान **सारँग** गयो अपने देस[७४] ।

यह पक्ति पूरे पद का, जिसमे 'सारँग' शब्द दस बार आया है, केवल एक चरण है। इसमे प्रयुक्त पहले 'सारँग' का अर्थ है 'सूर्य' और दूसरे का 'चद्रमा'। इस प्रकार की योजना मे वस्तुत आलकारिक चमत्कार नही रहता। 'सूरसागर' के कुछ पदो मे यमक के सुदर उदाहरण भी मिलते हैं, यद्यपि इनकी सख्या सौ के आसपास ही होगी, जैसे—

१ ताके कोटि विघन हरि हरि कै अभै प्रताप दियौ[७५] ।
२ तैं जोवन-मद तैं यह कीन्यौ[७६] ।

---

६९. सा ७-४। ७०. सा ६७६। ७१ सा. १०३७। ७२ सा. १०४५।
७३. सा.१-३०६। ७४. लहरी ५६। ७५ सा. १-३८। ७६. सा. ९-१७४।

३. सूरदास मानहुँ **करभा** कर बारबार डुलावत[७७] ।
४ **बिधि** की **विधि** मेटि करति अपनी रस-रीति[७८] ।
५. **बीरा** खात दोउ **बीरा** जब, दोउ जननी मुख देखि सिहानी[७९] ।
६. वार - वार सकरषन भाषत, **बारन** बनि **बारन** करि न्यारौ[८०] ।
७. छार सुगध सेज पुहुपावलि, **हार** छुवे हिय **हार** जरैगौ[८१] ।
८. ऊधौ **जोग जोग** हम नाही[८२] ।

(घ) **वीप्सा**—आदर, आश्चर्य, उत्साह, घृणा, शोक आदि मानसिक विकारो को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने अनेक पदो मे विस्मयादिबोधक अव्ययो की आवृत्ति की है। ऐसे स्थलो पर प्राय 'वीप्सा' अलकार के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

१. **त्राहि-त्राहि** कहि, **पुत्र-पुत्र** कहि, मातु सुमित्रा रोयौ[८३] ।
२. **हाय-हाय** करि सखनि पुकारचौ[८४] ।
३. **जय जय** धुनि अमरनि नभ कीन्हौ[८५] ।
४. **सरन-सरन** अब मरत हौ, मै नहि जान्यौ तोहि[८६] ।
५ **साधु-साधु** पुनि-पुनि हरषित ह्वै मन ही मन भाष्यौ[८७] ।
६. **धन्य-धन्य** दृढ नेम तुम्हारौ[८८] ।
७. **हा हा** नाथ अनाथ करौ जिनि, टेरति बाँह पसारि[८९] ।

(ङ) **श्लेष**—इस अलंकार के अनेक उदाहरण 'साहित्यलहरी' मे ही अधिक मिलते हैं, एक पद ही पर्याप्त होगा—

कत मो **सुमन** सो लपटात ।
समुझ **मधुकर** परत नाही मोहि तोरी बात ।
हेमजुही है न जा सँग रहे दिन पस्चात ।
कुमुदनी सँग जाहु करके केसरी को गात ।
सेवती सतापदाता तुमै सब दिन होत ।
केतकी के अग सगी रंग बदलत जोत[९०] ।

इस पद मे सुमन'='मोगरे'[(१) वेला फूल, (२) मेरे गले से], 'मधुकर'[(१) भौरा, (२) रसिक नायक], 'हेमजुही' = 'सोनजुही' [(१) पुष्प विशेप, (२) सो = वह + न = हीन + जु = जो + ही = हृदय], 'कुमुदनी' [(१) पुष्प विशेप, कुँई, (२) बुरी वातो मे आनद लेने-वाली स्त्री], 'सेवती' [(१) पुष्प-विशेष, (२) सेव + ती, तिय = सेवा करने वाली स्त्री], 'केतकी' [१) पुष्प विशेप, (२) कितनी ही स्त्रियाँ] शब्द श्लिष्ट है।

---

७७. सा. ६३२ । ७८. सा. ६५३ । ७९ सा. १३९८ । ८० सा. ३०५३ । ८१. सा. ३३६८ । ८२. सा ३९२४ । ८३ सा. ९-१५१ । ८४ सा. ५४० । ८५. सा. ५७९ । ८६ सा ५८९ । ८७ म. १०३२ । ८८ सा. १०३४ । ८९. सा. १०८८ । ९० लहरी. ७१ ।

५. सूर-काव्य मे गुण, वृत्ति और रीति—मानव-प्रकृति गुणो का आदर करती है; सभी वस्तुओ मे गुणो की खोज करना उसका स्वभाव है। स्थूल रूप से मानवीय गुण दो प्रकार के होते हैं— एक तो वाह्य शारीरिक गुण, जैसे सुकुमारता, स्निग्धता आदि; और दूसरे, आतरिक गुण जैसे शूरता, उदारता, त्याग, सहनशीलता आदि। इसी प्रकार काव्य मे शब्द और अर्थ, दोनो मे कुछ गुण माने जाते हैं जो काव्य को सुशोभित करते हैं और जिनके कारण रचना का विशेष आदर होता है। जिस प्रकार समाज मे गुणहीन व्यक्ति समादृत नही होता, उसी प्रकार गुणहीन काव्य भी सहृदयो को रुचिकर नही लगता। काव्य-विषयक गुणो के तीन मुख्य भेद हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

वृत्ति—किसी मार्मिक और मनोहर प्रसग का वर्णन करने के लिए कोमल, मधुर और समासरहित शब्दो का तथा सरल विषयो के लिए सुबोध शब्दो का प्राय व्यवहार होता है। प्रसग, रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ की इस प्रकार की उचित और उपयुक्त योजना को ही 'वृत्ति' कहते हैं। गुणो के तीन भेदों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—के अनुसार शब्दाश्रित वृत्तियाँ भी तीन मानी गयी हैं—मधुरा या उपनागरिका, परुषा और प्रौढा या कोमला वृत्ति।

रीति—कवि अपना आशय प्रकट करता है वाक्यो मे और वाक्य की रचना पद-सघटन पर निर्भर है। विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अभीष्ट अर्थ का बोध कराने की उपयुक्ततम योग्यता किस शब्द मे है और वाक्य मे किस स्थान पर उसका प्रयोग करने से वह इस दायित्व का अधिकतम निर्वाह कर सकता है, विशिष्ट पद-रचना से अभिप्राय इन्ही दो विषयो से है। शब्दो का चयन और वाक्य मे उनका स्थान विषय, भाव, सस्कार आदि की दृष्टि से निर्धारित होता है। स्पष्टता और रसानुभूति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो कुछ कहना हो, सरल और सीधे ढग से कहा जाय। स्थूल रूप से 'रीति' के अतर्गत इन्ही सब बातो का अध्ययन किया जाता है। सस्कृत शैलियो के आधार पर इसके भी प्रमुख तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौणी और पाचाली।

क. माधुर्यगुण, मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति—भाषा मे माधुर्य गुण की योजना के लिए शब्दो के चुनाव का विशेष ध्यान रखा जाता है। सूरदास अपनी भाषा को माधुर्य गुण-युक्त बनाने के लिए इस विषय मे सदैव सतर्क रहे हैं। इस गुण-युक्त भाषा की विशेष आवश्यकता प्राय सरस और मार्मिक प्रसगो के लिए होती है। श्रीकृष्ण की किशोरावस्था की प्रेम-लीलाओ के वर्णन मे ऐसी भाषा के प्रयोग का सूरदास को बराबर अवसर मिला है। अपने आराध्य-युगल के रूप का वर्णन भी इसी भाषा मे करने के कारण ही उन्हे अभिनदनीय सफलता मिली है।

सूरदास ने अपनी भाषा मे ट ठ ड ड ढ ढ-आदि कर्णकटु वर्णों का प्रयोग नही के बराबर किया है। सयुक्ताक्षर भी उनकी भाषा मे बहुत कम मिलते हैं। मधुरता प्रकट करने वाले वर्णों अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा पाँचो पचमाक्षरो—ङ, ञ, ण, न और म—से निर्मित शब्दो की अधिकता के कारण ऐसी भाषा मे 'मधुरा' या 'उपनागरिका वृत्ति' और ललित पद-योजना के कारण 'वैदर्भी' रीति मानी जाती है। माधुर्य

गुण-युक्त भाषा मे सूरदास ने प्राय दो-तीन अक्षरो से बने छोटे शब्दो का ही प्रयोग अधिक किया है। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

बिनु माधौ राधा-तन सजनी सब बिपरीत भई।
गई छपाइ छपाकर की छबि, रही कलंकमई।
अलक जु हुती भुवगम हू सी, वट-लट मनहु भई।
तनु-तरु लाइ-बियोग लग्यौं जनु, तनुता सकल हई।
अँखियाँ हुती कमल पँखुरी सी, सुछबि निचोरि लई।
आँच लगे च्यौनो सोनो सौ यौ तनु धातु धई।
कदली दल सी पीठि मनोहर, मानौ उलटि ठई।
सपति सब हरि हरी सूर-प्रभु बिपदा देह दई[११]।

इस पद मे केवल तीन वार 'ट' और एक वार 'ठ' का प्रयोग किया गया है और सो भी ऐसे शब्दो मे जो बहुत सरल और प्रचलित है। 'बिपरीत', 'छपाकर', 'भुवगम' और मनोहर'—केवल चार शब्द ऐसे हैं जो चार अक्षरो से बने है। शेप सभी शब्द एक, दो या तीन अक्षरो के हैं और कोमल वर्णों से ही निर्मित है। नौ शब्दो मे अनुस्वार का प्रयोग है जिनसे भाषा की मधुरिमा और भी बढ गयी है। 'च्यौनौ' को छोडकर और कही सयुक्ताक्षर का प्रयोग भी नही किया गया है। सूर काव्य मे सयोग-वियोग-वर्णन और रूप-चित्रण प्राय' ऐसी ही भाषा मे किया गया है।

ख. ओज गुण, परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति—जिस रचना को सुनकर चित्त मे विशेष स्फूर्ति जान पडे, मन शौर्य और उत्साह से भर जाय एव आवेश उमडने लगे, वह ओजयुक्त मानी जाती है। सूर-साहित्य मे इस प्रकार की रचनाओ की सख्या बहुत कम है। अपने आराध्य की जीवन लीला के जिस विशेप भाग के कीर्तन का भार उन्हे सौपा गया था, उसका प्रतिपादन ओजपूर्ण भाषा मे किया ही नही जा सकता था। जो दस पाँच उदाहरण उनके काव्य मे ऐसी भापा के मिलते भी हैं, उनका कारण श्रीमद्भागवत के क्रम या उसकी छाया के अनुकरण का प्रयास कहा जा सकता है। ऐसे स्थानो पर भी कवि की वृत्ति विषय मे पूर्णतया लीन नही हुई है। अतएव वीर रस के योग्य विषयो का प्रतिपादन भी आदि से अत तक उन्होने ओजस्विनी भापा मे नही किया है।

ओजपूर्ण भाषा के शब्दो का निर्माण 'परुषा' वृत्ति से सबधित ओजस् गुण को प्रकाशित करनेवाले वर्णो अर्थात् टवर्ग के अक्षरो, द्वित्व, सयुक्त वर्णो और र के सयोग से होता है। वाक्य-योजना मे भी बडे सामासिक पदो की प्रधानता के कारण इसमे 'गौडी' रीति मानी जाती है। सूर-काव्य मे जो इने-गिने उदाहरण ओजपूर्ण भापा मे लिखे मिलते है, उनमे भी यह बात विशेष रूप से नही मिलती, जैसे—

१. आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौ गगा जननी कौ, सांतनु-सुत न कहाऊँ।

---

११ सा ३४०४।

स्यदन खडि महारथि खडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पाडवदल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ[१२]।

२ दूसरै कर बान न लैहौं।
सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, एकहिं बान असुर सब हैहौ।
सिव-पूजा जिहिं भाँति करी है सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौ।
दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर-माला सिव-सीस चढैहौं।
मनौ तूल-गन परत अगिनि-मुख, जारि जडनि जम-पथ पठैहौं।
करिहौ नाहिं बिलब कछू अब, उठि रावन सन्मुख ह्वै धैहौ।
इमि दमि दुष्ट देव-द्विज मोचन, लक बिभीषन, तुमको दैहौ।
लछिमन सिया समेत सूर कपि,सब सुख सहित अजोध्या जैहौ[१३]।

पहले पद मे भीष्म की ओर दूसरे मे राम की प्रतिज्ञा है। दोनो पद बहुत ओजपूर्ण भाषा मे लिखे जा सकते थे, परन्तु सूरदास ने इनमे भी सामान्य शब्दावली का ही प्रयोग किया है। इन पदो मे कुछ सामासिक शब्दो का प्रयोग सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक किया गया है, परन्तु हैं ये सरल ही। इसी प्रकार सयुक्त वर्णों से युक्त जो शब्द—यथा सस्त्र, स्यदन, कपिध्वज, पद्धति, परतच्छ, प्रहारि, प्रेरित, दुष्ट आदि—इन पदों मे प्रयुक्त हुए हैं, वे भी सामान्य ही है।

भाषा को ओजपूर्ण और प्रभावशाली बनाने के लिए कभी कभी प्रश्नवाचक वाक्यो का भी प्रयोग किया जाता है। सूरदास ने भी ऐसे प्रश्नवाचक वाक्यो की तो नही, उनसे मिलते-जुलते वाक्यो की योजना श्रीराम के प्रति हनुमान के इन वचनो मे की है

१ कहौ तौ जननि जानकी ल्याऊँ, कहौ तौ लक बिदारौ।
सैल-सिला-द्रुम बरषि, ब्योम चढि, सत्रु-समूह-सँहारौ[१४]।

२ कहौ तो सूरज उगन देउँ नहिं, दिसि दिसि बाढै ताम।
कहौ तौ गन समेत ग्रसि खाऊँ, जमपुर जाइ न, राम।
कहौ तौ कालहिं खड-खड करि टूक टूक, करि काटौ।
कहौ तौ मृत्युहिं मारि डारि कै, खोदि पतालहिं पाटौं।
कहौ तौ चद्रहिं लै अकास त, लछिमन मुखहिं निचोरौ।
कहौ तौ पैठि सुधा के सागर, जल समस्त मैं घोरौं[१५]।

इन वाक्यो मे सामासिक पद और समुक्ताक्षरो से वने शब्द बहुत कम है, केवल 'कहौ तौ' की अनेक वार आवृत्ति से ही भाषा मे ओज लाने का सूरदास ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार की भी भाषा के उदाहरण सूर-काव्य मे अधिक नही हैं।

---

१२. सा. १-२७०। १३. सा ९-१५७। १४. सा. ९-१०८। १५. सा ९-१४८।

ग. प्रसाद गुण, कोमला वृत्ति और पाचाली रीति - जिस रचना मे व्यक्त विचार, वाग्जाल से रहित होने के कारण, पूर्णत स्पष्ट होते है, वह 'प्रसाद' गुण-युक्त कही जाती है। निर्मल जल के तल मे पडी वस्तु जैसे ऊपर से ही दिखायी दे जाती है उसी प्रकार रचना को सुनते या पढते ही रचयिता के तात्पर्य का वोध करानेवाला गुण 'प्रसाद' है। इसका सबध 'प्रौढा' या 'कोमला' वृत्ति और 'पाचाली' रीति से रहता है। सूर-काव्य मे इस गुण-युक्त भाषा की ही प्रधानता है। विनय के पद, श्रीकृष्ण की वाल-लीलाएँ, माता-पिता-गुरुजन की वात्सल्यमयी कामनाएँ आदि प्रसाद गुण-युक्त भाषा मे ही सरल तथा रोचक ढंग से लिखी जा सकती थी। भक्त को आत्मनिवेदन और स्व-दैन्य-प्रदर्शन के लिए कृत्रिमता या प्रयास युक्त शब्द चयन का आश्रय लेने की चाह हो ही नही सकती, एव वालको की सरल क्रियाओ, उनकी भोली भाली वातो और उनके प्रति वात्सल्य-जनित मनोकामनाओ का वर्णन भी सहज ढग से होने पर ही हृदयहारी और आनददायी हो सकता है। अतएव इन सभी विपयो का वर्णन सूरदास ने सरल सुबोध और अति प्रचलित शब्दो मे किया है, जैसे—

१. मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सौ कहाँ छिपी करुनामय, सवके अतरजामी।
जो तन दियौ ताहि विसरायौ, ऐसौ नोन-हरामी।
भरि भरि द्रोह बिषै कौ धावत, जैसै सूकर ग्रामी।
सुनि सतसग होत जिय आलस, विषयिनि सँग बिसरामी।
श्री हरि चरन छाँडि विमुखन की निसि-दिन करत गुलामी।
पापी परम, अधम,अपराधी, सब पतितनि मैं नामी।
सूरदास-प्रभु अधम-उधारन सुनियै श्रीपति स्वामी[१६]।

२ हरि अपनै आँगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सौ नाचत, मनही मनहिं रिझावत।
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि वुलावत।
कबहुँक वावा नद पुकारत, कवहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपनै कर लै, तनक वदन मैं नावत।
कवहुँक चितै प्रतिबिंव खभ मै, लौनी लिए खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनद वढावत।
सूर स्याम के वाल-चरित नित-नित ही देखत मन भावत[१७]।

६. रस और भाषा का संबध—कवि की सफलता स्वानुभूति के साधारणीकरण मे है जिसके लिए भापा का माध्यम प्रधान सहायक है। साधारणीकरण का तात्पर्य है रचयिता की अनुभूति से सामान्य पाठक की अनुभूति का तादात्म्य। साहित्यकार प्रसग-

१६. सा. १-१४८। १७. सा. १०-१७७।

विशेष को जिस दृष्टि से देखता और जिस उद्देश्य से चित्रित करता है, पाठक या श्रोता भी पढ़ या सुनकर उसी दृष्टि से देखने और उसी उद्देश्यानुभूति का अनुभव करने लगे—स्थूल रूप से इसी को 'साधारणीकरण' कहते हैं। इसकी सिद्धि सार्थक, उपयुक्त और उपयोगी भाषा अपनाने पर ही सम्भव होती है। मानवीय भावो का विकास सस्कार-सभूत प्रभावो के कारण यद्यपि विभिन्न दिशाओ मे होता है, तथापि मूलत सभी मे समान भाव बीज-रूप मे तो रहते ही हैं। कवि की रचना भाषा के माध्यम से साकार होकर इन्ही समान भावो को कुरेदती-उकसाती है। भावुक होने के साथ-साथ जिस व्यक्ति का शब्द-भाडार जितना विस्तृत होगा, जिसकी भाषा भाव व्यजना मे जितनी समर्थ और स्पष्ट होगी, वह उतना ही सफल कवि या लेखक समझा जायगा अतएव भाषा का आश्रय भावाभिव्यक्ति के लिए तो आवश्यक है ही, उसकी सहायता पाठक या श्रोता के मन में समान रसानुभूति की सजगता के लिए भी अपेक्षित है।

रस-भेद और भाषा-रूप—रसो के मुख्य नौ भेद माने गये हैं—शृगार (+वात्सल्य) हास्य, करुणा, वीर, अद्भुत, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शात। भाषा-रूप की दृष्टि से इन रसो के तीन वर्ग बना लिये गये हैं। प्रथम में शृगार, करुण और शात, द्वितीय में वीर, रौद्र और बीभत्स, तथा तृतीय मे हास्य, अद्भुत और भयानक माने गये हैं। प्रथम वर्ग के रसो के लिए माधुर्य गुण युक्त भाषा आवश्यक होती है और द्वितीय के लिए ओज-गुण-युक्त। प्रसाद गुण-प्रधान भाषा हास्य, अद्भुत और भयानक रसो में ही नही, प्रथम दोनो वर्गों के भी सब रसो के उत्कर्ष मे सहायक होती है।

इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि माधुर्य या ओज गुणो के नियमानुसार वर्ण या शब्द-योजना मात्र से काव्यानंद प्राप्त हो जाता है। वास्तव मे काव्य की आत्मा रस हैं और इसका आस्वादन अर्थोत्कर्ष द्वारा ही सभव है। वाक्य मे विशिष्ट पद-योजना काव्य-शरीर के वाह्यावरण-रूप मे रहती है जो अनुकूल होने पर सुरुचिवर्द्धक और मनोहारिणी जान पडती एव रचना के प्रभाव को द्विगुणित कर देती है तथा प्रतिकूल होने पर अर्थोत्कर्ष मे ही नही, रसास्वादन मे भी विरोधिनी सिद्ध होती है। साराश यह है कि रस-विशेष के परिपाक मे जिस गुण-युक्त पद-योजना की अपेक्षा है, उसे अपनाने पर ही कवि का अभीष्ट सिद्ध होता है, क्योकि तभी रचना मे पाठक को रस-मग्न करने की क्षमता आती है।

सयोग-वियोग शृगार (+वातसल्य), करुण और शात—इन तीन रसो के लिए माधुर्य गुण ऊपर आवश्यक कहा गया है। कारण यह है कि उक्त भावनाओ के जाग्रत होने पर प्राणी को एक प्रकार की मधुरता का अनुभव होता है और मधुर वर्णों की योजना इसकी पोषक एव वर्द्धक होती है। सामान्यत मधुरता की सबसे अधिक विद्यमानता जान पडती है सयोग शृगार मे और सबसे कम शात रस मे। परन्तु वियोग शृगार वस्तुत हृदयगत मधुर भाव का रूप निखारने मे सयोग की अपेक्षा अधिक समर्थ होता है। सयोग-सुख प्राप्त करने की लालसा प्राणी-मात्र मे रहती है, परन्तु प्रिय वस्तु या पात्र की अनुपस्थिति अथवा अप्राप्ति-काल मे तत्सवधी लालसा इतनी तीव्र हो जाती है कि इस व्यवधान मे चित्त बराबर उसी मे रमा रहता है। उसकी कसकभरी स्मृति हृदय

को सालनेवाली होने पर भी इतनी प्रिय लगती है कि चित्त उसे भुला नही पाता — भुलाना चाहता भी नही। ऐसी स्थिति मे अतीत की सुप्त स्मृतियाँ बार बार जाग्रत होकर प्राप्ति-लालसा की तीव्रता को बहुत बढा देती हैं और हृदय प्रतिपल अत्यत विकल रहता है। फलत वियोग शृगार मे मधुर भाव सयोग की अपेक्षा तीव्रतर रूप मे रहता है और यही उसका रूप भी अपेक्षाकृत अधिक निखरता है।

करुण रस मे हृदय की तीव्रता एक प्रकार से विप्रलभ शृंगार से भी बढकर होती है। कारण, प्रिय वस्तु या पात्र की अनुपस्थिति मे तो मिलन की आशा बनी रहती है, परन्तु करुण स्थिति मे उसकी ओर से प्राणी सर्वथा निराश हो जाता है और भविष्य उसके लिए सर्वथा अधकारमय हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्राय. सभी प्रकार के पाठको और श्रोताओ की सहानुभूति भी सयोग सुख और वियोग दुख भोगनेवाले व्यक्ति से अधिक उस प्राणी के प्रति होती है जिसकी करुण दशा भावुक साहित्यकर को द्रवित कर देती है।

शात रस मे माधुर्य भाव की उपस्थिति के सम्वन्ध मे मतभेद है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि सासारिकता से निवृत्ति मिलने पर प्राणी को ऐसा आत्मसतोष प्राप्त होता है जो उसके लिए निस्सदेह मधुर भाव-युक्त होता है। इसी के सन्निवेश के कारण शात रस मे भी माधुर्य भाव की योजना प्राय कवियो ने की है।

सूर-काव्य मे रस और भाषा का सबध—सूर-काव्य मे यो तो 'वीभत्स' को छोडकर सभी रसों के उदाहरण देखे जा सकते है, परतु मुख्य रूप से उन्होने सयोग-वियोग शृगार और वात्सल्य, करुण तथा शात रसो का ही वर्णन किया है एव गौण रूप से अद्भुत और हास्य का। 'वीभत्स' के उदाहरण उनके काव्य मे न मिलने का मुख्य कारण यह है कि वे मधुर और सरस भावनाओ के ही कवि है और प्रतिपल अपने रसिकप्रवर आराध्य के सपर्क का आनददायी अनुभव करते है।

क. शृंगार, करुण और शांत रसो की भाषा—शृगार और करुण रसो के लिए तो सूरदास ने सदैव मधुर-भाव युक्त शब्दावली का प्रयोग किया है, परन्तु वात्सल्य और शात मे, जैसा पीछे कहा जा चुका है, सर्वत्र ऐसा नही हुआ है। वात्सल्य के जिन पदो मे बालक कृष्ण की आनददायिनी लीलाएँ है, वे प्राय प्रसाद गुणयुक्त भाषा मे लिखे गये हैं, परतु जिनमे माता की ममतामयी कामनाएँ-कल्पनाएँ हैं, उनकी भाषा मे माधुर्य गुण प्रधान है। इसी प्रकार शात-रस सम्बन्धी जिन पदो मे कवि ने अपनी दीनता का निश्छल और निष्कपट होकर वर्णन किया है, उनकी भाषा मे माधुर्य नही, प्रसाद गुण की योजना है। इसके विपरीत, अपने इष्टदेव की महिमा-गान मे जब वह लीन होता है, तब भाषा माधुर्य गुण-युक्त हो जाती है। वात्सल्य और शात रसो की प्रसाद गुण-प्रधान भाषा के उदाहरण पीछे दिये जा चुके है। अतएव यहाँ सयोग-वियोग शृगार-वात्सल्य, करुण और शात रसो के माधुर्य गुण-युक्त भाषा वाले पद ही उद्धृत किये जाते है—

१. संयोग शृंगार—

नवल निकुज नवल नवला मिलि नवल निकेतन रुचिर बनाए।
बिलसत बिपिन बिलास बिबिध बर बारिज-बदन विकच सचु पाए।

लागत चद्र मयूख सु तिय तनु, लता-भवन-रध्रनि मग आए।
मनहुँ मदन-बल्ली पर हिमकर, सीचत सुधा धार सत नाए।
सुनि सुनि सुचित स्रवन जिय सुन्दरि, मौन किये मोदति मन-लाए।
सूर सखी राधा माधव मिलि क्रीडत रति रतिपतिहिं लजाए[१८]।

२ वियोग शृंगार—

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिंगे।
वै जौ देखत राते राते, फूलनि फूली डार।
हरि बिनु फूल झरी सी लागत, झरि झरि परत अँगार।
फूल बिनन नहि जाउँ सखी री, हरि बिनु कैसे बीनौं फूल।
सुनि री सखी, मोहिं राम दुहाई, लागत फूल त्रिसूल।
जब मैं पनघट जाउँ सखी री, वा जमुना कै तीर।
भरि भरि जमुना उमडि चलति है, इन नैननि कै नीर।
इन नैननि कै नीर सखी री, सेज भई घरनाउ।
चाहति हौ ताही पै चढि कै, हरि जू कै ढिग जाउँ।
लाल पियारे प्रान हमारे, रहे अधर पर आइ।
सूरदास प्रभु कुजबिहारी, मिलत नही क्यौं धाइ[१९]।

३ संयोग वात्सल्य—

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की।
छिटकि रही चहुँ दिसि जु लटुरियाँ, लटकन लटकति भाल की।
मोतिनि सहित नासिका नथुनी, कठ-कमल-दल-माल की।
कछुक हाथ, कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन बिसाल की।
सूरदास प्रभु-प्रेम-मगन भई, ढिग न तजनि ब्रजबाल की[१]।

४. वियोग वात्सल्य—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसेहिं धर्‌यौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेति गहै।
सूने भवन जसोदा सुत के, गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै।
जो ब्रज मैं आनद हुतौ, मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी विनु गोकुल कौडी हू न लहै[२]।

सा १७. १९८७। १९ सा. ३२७५। १ सा. १०-१०५। २. सा. ३१८०।

५. करुण रस—

राखि लेहु अब नदकिसोर।
तुम जो इद्र की मेटी पूजा, बरसत है अति जोर।
ब्रजवासी तुम तन चितवत है, ज्यौं करि चद चकोर।
जनि जिय डरौ, नैन जनि मूँदौ, धरिहौं नख की कोर।
करि अभिमान इद्र झरि लायौ, करत घटा घनघोर[3]।

६. शांत रस—

माधौ जू, मन माया वस कीन्हौ।
लाभ-हानि कछु समुझत नाही, ज्यौ पतग तन दीन्हौ।
गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर।
मैं मति-हीन मरम नहिं जान्यौ, परचौ अधिक करि दौर।
विवस भयौ नलिनी के सुख ज्यौ, बिन गुन मोहि गह्यौ।
मै अज्ञान कछू नहिं समुझचौ, परि दुख-पुज सह्यौ।
बहुतक दिवस भए या जग मै, भ्रमत फिरचौ मति-हीन।
सूर स्याम सुदर जौ सेवै, क्यौ होवै गति दीन[४]।

इन सभी पदो का विषय सरस अथवा मार्मिक है जिसके लिए कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पचमाक्षरो से निर्मित शव्दो का ही अधिकाश मे प्रयोग किया गया है। कर्णकटु टवर्गीय वर्णों से बने शब्दो की भी इन पदो मे वहुत कमी है और जहाँ ऐसे शब्द आये भी है, वहाँ या तो मधुर व्यजनो के बीच मे प्रयुक्त होने से वे स्वय अपनी कटुता त्याग देते है या कवि उन्हे मधुर बनाने मे प्रयत्नशील रहा है। सयुक्ताक्षर-युक्त शब्दो से भी ऐसे विषयों की भाषा को सूरदास ने बचाया है। वडे-वडे सामासिक पदो का भी इसमे अभाव है। अतएव इन उदाहरणो की भाषा सभी दृष्टियो से माधुर्य-गुण-युक्त है।

ख. **वीर, बीभत्स और रौद्र रसो की भाषा**—वीर, वीभत्स और रौद्र रसो के परिपाक से चित्त मे एक प्रकार के आवेग का उदय होता है जो प्रथम मे सयत, द्वितीय मे कुछ तीव्र और तृतीय मे अत्यत उग्र हो जाता है। इन रसो के स्थायी भाव क्रमश उत्साह घृणा—विरोध या तिरस्कार की प्रवृत्ति—और क्रोध हैं जिनके जाग्रत होने पर चित्त सहसा दीप्तियुक्त हो जाता है। अतएव इन रसो के उत्कर्प मे ओजगुण-युक्त भापा विशेष सहायक होती है।

सूर-काव्य मे वीभत्स के उदाहरण तो है नही, वीर और रौद्र रसात्मक प्रसगो का वर्णन भी उन्होंने इतना कम किया है कि इनकी योजनावाले पदो की सख्या एक प्रतिशत कठिनता से ही होगी। इन रसो के लिए सूरदास ने जिस भापा का प्रयोग किया है उसका अनुमान निम्नलिखित उदाहरणो से हो सकता है—

---

३. सा ८३५। ४. सा १-४६।

१. वीररस—

(अ) गह्यौ कर स्याम भुज मल्ल अपने धाइ, झटकि लीन्हौ तुरत पटकि धरनी।
मटकि अति सब्द भयौ, खटक नृप के हियै, अटकि प्रानिनि परयौ चटक करनी।
लटकि निरखन लग्यौ, मटक सब भूलि गइ, हटत करि देउँ इहै लागी।
झटकि कुडल निरखि, अटक ह्वै कै गयौ, गटकि सिर सौं रह्यौ मीच जागी[५]।

(आ) देखि नृप तमकि हरि चमक तहँई गए, दमकि लीन्हौ गिरहबाज जैसैं।
घमकि मारयौ घाव, गुमकि हिरदै रह्यौ, झमकि गहि केस लै चले ऐसैं[६]।

२. रौद्ररस—

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ।
ब्रज-घातनि करौ चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ।
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौं, लोग देउँ बहाइ।
खात-खेलत रहे नीकैं, करी उपाधि बनाइ।
बरस दिन मोहिं देत पूजा, दई सोउ मिटाइ।
रिस सहित सुरराज लीन्हे, प्रलय मेघ बुलाइ[७]।

साधारणत वीर और रौद्र रसोत्कर्ष के लिए कर्णकटु टवर्गीय, सयुक्त, द्वित्व आदि वर्णों से निर्मित्त बडे सामासिक शब्दो की योजना की जाती है। परतु सूरदास के उक्त उदाहरणो मे से केवल प्रथम मे 'ट' युक्त शब्दो का प्रयोग किया गया है, शेष दोनो मे नही। प्रथम दो पदो मे 'टक' या 'टकि' और 'मक' या 'मकि' की आवृत्ति अवश्य मिलती है जिससे भाषा मे ओज आ गया है। सयुक्त या द्वित्व वर्णों से बने शब्द भी इनमे बहुत सामान्य हैं। साराश यह है कि वीर और रौद्र रसो के लिए भी सूरदास ने सामान्य शब्दावली से ही काम निकाला है और कृत्रिम शाब्दिक आडवर के चक्कर मे वे कही नही पडे हैं।

ग हास्य, अद्भुत और भयानक रसो की भाषा—प्रसाद गुण की विशेषता है उसकी प्रयास और कृत्रिमतारहित सरलता। भावो को स्पष्टतम रूप मे दूसरो तक पहुँचाना साहित्य के समस्त रूपो का चरम ध्येय है और प्रसाद गुण इसकी सिद्धि मे विशेप सहायक होता है। हास्य, अद्भुत और भयानक रसो के लिए प्रमाद गुण-युक्त भापा की आवश्यकता वताने का तात्पर्य भी यही है कि सप्रयास माधुर्य अथवा ओजगुण युक्त पद-योजना इन रसो की अनुभूति मे बाधक होती है। सूर-काव्य मे प्राप्त इन रसो के प्रसगो मे प्राय सर्वत्र इस बात का ध्यान रखा गया है, जैसे —

५ सा ३०७३। ६ सा ३०७९। ७ सा, ८५२।

१. हास्य रस--

मेरे आगे महरि जसोदा तोको गारी दीन्ही।
वाकी घात सबै मैं जानति, वै जैसी मैं चीन्ही।
तोकों कहि पुनि कह्यौ बाबा कौ बड़ौ धूत वृषभान।
तब मैं कह्यौ, ठग्यौ कब तुमकौ, हँसि लागी लपटान।
भली कही तू मेरी बेटी, लयौ आपनौ दाउ।
जौ मोहिं कह्यौ सबै गुन उनके, हँसि हँसि कहत सुभाउ।
फेरि फेरि बूझति राधा सौ सुनत हँसति सब नारि।
सूरदास वृषभानु-घरनि जसुमति कौ गावति गारि[८]।

२. अद्भुत रस--

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनै अकेले, हरषि-हरषि अपनै रँग खेलत।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ्यौ सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दंतीनि सकेलत।
मुनि - मन भीत भए, भुव कपति, सेष सकुचि सहसौं फन पेलत।
उन ब्रज-बासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत[९]।

३. भयानक रस--

मेघ दल प्रबल ब्रज लोग देखै।
चकित जहँ-तहँ भए निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखै।
ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भए नंद, सब महर चकित भए, चकित नर नारि हरि करत ख्याला।
घटा घनघोर फहरात, अररात, दररात, थरररात, बज लोग डरपे।
तड़ित आघात तररात उतपात सुनि नर नारि सकुचि तन प्रान अरपे।
कहा चाहत होन, भई कबहूँ जौन, कबहुँ आँगन भौन बिकल डोलै[१०]।

ऊपर दिये गये हास्य और अद्भुत रसो के उदाहरणो मे तो सूरदास ने सामान्य शब्दावली का प्रयोग किया है; परतु अतिम मे वातावरण की भयानकता सूचित करने के लिए ध्वनात्मक शब्दो की योजना और दीर्घ स्वरो की पुनरावृत्ति गयी है। साराश यह है कि विभिन्न रसो के लिए उपयुक्त शब्द-चयन मे कवि सूर सिद्धहस्त हैं।

७. सूर की भाषा के कुछ दोष—भावाभिव्यजन की कामना समस्त साहित्य का मूल है। जो बातें इसकी पूर्ति मे अधिक से अधिक सहायक होती है, वे 'गुण' हैं और

---

८. सा. ७०९। ९. सा. १०-३३। १० सा. ८५५.।

जो विरोधिनी होती हैं, वे दोष है। ये दोष तीन प्रकार के होते हैं—पद या शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। भाषा के अध्ययन मे पद या शब्द-दोषो की चर्चा ही विशेष रूप से की जाती है। अतएव प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत सूरदास की भाषा को लेकर केवल पद-दोषो की सोदाहरण विवेचना करना ही पर्याप्त होगा।

'काव्य-प्रकाश' के अनुसार पद-दोष सोलह प्रकार के होते है– श्रुतिकटु, च्युत-सस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट, विधेयाश और विरुद्ध मतिकृत[११]। जिस कवि को स्वय अपनी कविता लिखने और आगे चलकर उसमे सशोधन-परिवर्द्धन करने का अवसर न मिला हो, उसके काव्य मे यदि इनमे से कुछ दोष मिल जायँ तो आश्चर्य की बात नही होगी। सूरदास की काव्यभाषा मे भी इनमे से कुछ दोष अवश्य मिलते हैं जिनमे से कुछ के उदाहरण पीछे भी दिये जा चुके हैं, कुछ यहाँ और दिये जाते हैं।

क. श्रुतिकटु—मधुर शब्दो के स्थान पर कानो को खटकनेवाले परुष या कठोर शब्दो का प्रयोग करने पर 'श्रुतिकटु' दोष होता है। यह दोष सूर की भाषा मे बहुत कम मिलता है। इसके अपवादस्वरूप उदाहरण निम्नलिखित पक्तियो मे देखे जा सकते हैं–

१. राधे कत रिस सरसतई।
   तिष्ठति जाइ बारबारनि पै होति अनीति नई[१२]।
२. **धनुर्भ जन** जज्ञ हेत बोले इन्हैं और डर नही सब कहि सँतोषे[१३]।
३. **विद्वाचारि** गुपाल लाल की, सूरदास तजि सर्बस लूट्यो[१४]।

'तिष्ठति'-जैसे सस्कृत क्रिया-प्रयोग सूरदास के समस्त काव्य मे बहुत कम हैं और 'धनुर्भ जन'-जैसे विसर्ग-सधि वाले उदाहरण भी अपवादस्वरूप ही मिलते हैं। इसी प्रकार 'विद्वाचारि'-जैसे प्रयोग भी उनकी सरस और सरल शब्दावली मे 'श्रुतिकटु' दोष के अन्तर्गत आ सकते हैं।

ख. च्युत-सस्कार—काव्य की भाषा जहाँ व्याकरणसम्मत न हो और रचना मे जहाँ व्याकरण के सामान्य नियमो की अवहेलना की गयी हो, वहाँ यह दोष होता है। इसके अन्तर्गत लिग, वचन, कारक, समास, सधि आदि सभी प्रकार के दोष आ जाते हैं। सूरदास की काव्यभाषा मे यह दोष कई पदो मे मिलता है, जैसे—

अ लिंग-दोष—

१ सुनि **मेरी अपराध** अधमई, कोऊ निकट न आवै[१५]।
२. प्रभु, राखि लेहु हम **सरन** तिहारे[१६]।
३ माता **सॅटिया** द्वैक लगाए[१७]।

---

११. 'काव्य प्रकाश', सप्तम उल्लास, श्लोक ५०-५१, पृ० १६८।
१२ सा. २८०६। १३. सा २९६७। १४ सा २७०२। १५. सा. १-१९७। १६. सा. ३८५। १७ सा ३९१।

प्रथम वाक्य मे 'मेरी' सवधकारकीय स्त्रीलिंग सर्वनाम है। इसके आगे 'अपराध' शब्द सम्बन्धी रूप मे आया है। 'अपराध-अधम₂' युग्म के साथ सम्बन्धकारकीय स्त्रीलिंग विभक्ति या सर्वनाम बोलचाल की भाषा मे भले ही प्रयुक्त हो जाय, काव्य-भाषा मे इसका प्रयोग दोष ही समझा जायगा। दूसरे वाक्य मे 'सरन' स्त्रीलिंग सज्ञा है जिसके साथ पुल्लिग सम्बन्धकारकीय शब्द 'तिहारे' आना भी दोष है। तीसरे मे 'सँटिया' स्त्रीलिंग के साथ पुल्लिग क्रिया 'लगाए' रखने मे दोष आ गया है।

आ. वचन-दोष—

१. ललनासहित **सुमनगन** बरषत, धन्य धन्य व्रज लेखत[१८]।
२ निरखि **कुसुमगन** बरषत सुरगन प्रेम मुदित जस गावैं[१९]।

इन वाक्यो मे प्रयुक्त 'सुमन' और 'कुसुम' शब्द प्राय सर्वत्र बहुवचन मे आते है। इनके साथ पुन 'गन' जोडना अनावश्यक है।

इ. कारक-दोष—व्रजभाषा मे प्राय सभी कारको की विभक्तियो का लोप कर दिया जाता है, परंतु ऐसा करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अर्थ समझने में किसी प्रकार की कठिनाई, अथवा एक से अधिक अर्थ वाक्य विशेष से निकलने की सभावना न हो। सूरदास ने विभक्तियो का लोप समझ-बूझ कर किया है, फिर भी ऐसे वाक्य कुछ पदो मे मिल ही जाते है जिनके ठीक अर्थ-बोध मे कठिनाई हो सकती है, जैसे—

संकर पारवती उपदेसत तारक मत्र लिख्यौ स्तुति द्वार[२०]।

इस वाक्य मे न 'सकर' के साथ विभक्ति है और न 'पारवती' के साथ। विज्ञ पाठक तो जानता है कि उपदेश देनेवाले शंकर ही हो सकते है, परतु नया पाठक पार्वती को भी उपदेशक मानने की भूल कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि विभक्तिरहित शब्दो मे पहला ही कर्त्ताकारक मे प्रयुक्त होता है, तब नीचे लिखे वाक्य दोषयुक्त हो जायँगे—

१ **दुरबासा दुरजोधन** पठयौ पाडव अहित विचारी[२१]।
२. **हिरनकसिप इनही** सहार्‍यौ[२२]।
३. भली भई **नृप मान्यौ तुमहूँ**[२३]।
४. भली करी, **उनि स्याम** बँधाए[२४]।

दूसरे वाक्य मे 'इनही' और तीसरे मे 'तुमहूँ' के साथ 'ही' ओर 'हूँ' के योग से इन सर्वनामो को बलात्मक रूप दिया गया है। इस प्रकार ये दोनो शब्द विभक्तिरहित ही हैं। अब सभी वाक्यो मे विभक्तिरहित प्रथम रूपो—'दुरबासा', 'हिरनकसिप', नृप', 'उनि'—को कर्त्ताकारक मे समझा जाय तो सगत अर्थ नही निकलता। अतएव विभक्ति लोप के कारण इन सभी मे कारक-दोष है।

---

१८. सा. १०४४। १९. सा. १०५५। २० सा. २-३। २१ सा. १-१२२। २२ सा. ७-७। २३ सा. १५०७। २४ सा २२७०।

ई. समास दोष—राम-स्याम **निधि-पियूष** नैननि भरि पीजै[२५]।

यहाँ पीयुष-निधि' सामासिक पद को 'निधि-पियूष' लिखना खटकता है, क्योकि इससे अर्थ-बोध मे कठिनता होती है। ऐसे उदाहरण सूरकाव्य मे बहुत हैं।

उ. **संधि-दोष** - सूर-काव्य मे संधियो के कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो बड़े विचित्र जान पडते हैं। इनमे वास्तविक दोष भले ही न माना जाय, परतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे प्रयोग प्रचलित नही हैं, जैसे—

१ बहुरि सखासुरहिं मारि **बेदाऽनि** दिए[२६]।

२ तुमसौ नृप जग मैं अब **नाह**[२७]।

३ निरखि जदुबस कौ रहस मन मैं भयौ, देखि अनिरुद्ध को **मूरछाई**[२८]।

इन वाक्यो मे प्रयुक्त 'वेदाऽनि', 'नाह' और 'मूरछाई' शब्द क्रमश 'वेद+आनि', 'न+आह' और 'मूरछा+आई' की संधि से बनाये गये हैं[२९]। इस प्रकार के प्रयोग सरल होते हुए भी काव्यभाषा मे खकटते हैं।

ऊ प्रत्यय-दोष—

१ स्याम काम तनु **आतुरताई** ऐसे स्यामा बस्य भए री[३०]।

२ जहाँ तहाँ दधि धर्यौ, कहौ कह **उज्ज्वलताई**[३१]।

३ कहाँ तब लहति ही **निठुरताई**[३२]।

'आतुरता', 'उज्ज्वलता' और 'निठुरता' सामान्य भाववाचक सज्ञा रूप है। इनमे पुन भाववाचक प्रत्यय 'ई' जोडना दोष है। सूर-काव्य मे इस प्रकार के प्रयोग सौ से भी अधिक मिलते है।

३ असमर्थ—अर्थ-विशेष को प्रकट करने के लिए जब ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जिसमे उसका बोध कराने की शक्ति न हो तब यह दोष होता है। सूरदास के कुछ पदो मे यह दोष भी पाया जाता है, जैसे—

मेली सजि मुख अबुज भीतर उपजी **उपमा मोटी**[३३]।

यहाँ 'उपमा' के विशेषण-रूप मे 'मोटी' ठीक ठीक अर्थ का संकेत नही करता।

४. निरर्थक[३४]—सूर-काव्य मे सौ से अधिक स्थलो पर छद की पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्दो का निष्प्रयोजन प्रयोग हुआ है, जैसे—

२५ सा ३७००। २६ सा.८-१६। २७ सा. ९-४। २८ सा. ४१९७।

२९ विचित्र संधियो के इन उदाहरणों को 'विसंधि' नामक वाक्य-दोष के अतर्गत भी रखा जा सकता है - लेखक।

---

३० सा १०९९। ३१ सा ८४१। ३२ सा १३६३। ३३. सा १०-१६४।

३४. इस शीर्षक के अतर्गत दिये गये उदाहरणो मे से कुछ को 'न्यूनपद', 'अधिकपद' और 'कथितपद' नामक वाक्य-दोषो के अतर्गत भी दिया जा सकता है—लेखक।

१. करनी करुनासिंधु की, मुख कहत न आवै[३५] ।
२. काकै वल वैर तै जु राम तै वढायौ[३६] ।
३. सूर स्याम मुख निरखि जसोदा मनही मन जु सिहानी[३७] ।
४. जहाँ तहँ करत अस्तुति मुखनि देव-नर धन्य जै शब्द तिहुँ भुवन भारी[३८] ।
५. चढि बिमान सुर सुमन जु बरषै, जै जै धुनि नभ पावनौ[३९] ।

पहले, तीसरे और चौथे वाक्यो मे 'मुख' और 'मुखनि' शब्द व्यर्थ हैं, क्योकि इनके न होने पर भी अर्थ पूर्ण रहता है। शेष वाक्यो मे 'जु' का निरर्थक प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार नीचे लिखे वाक्यो मे भी 'जज्ञहु', 'सब्द', 'दोउ' और 'जुगुल' शब्द अनावश्यक हैं।

१. अस्वमेध जज्ञहु जो कीजै, गया, वनारस अरु केदार[४०] ।
२. अमर बिमान चढ़े सुख देखत जै धुनि सब्द सुनाई[४१] ।
३. अजन दोउ दृग भरि दीन्हौ[४२] ।
४ जुगल जघनि खंभ रभा नाहिं समसरि ताहिं[४३] ।

'मेध' का अर्थ ही है जज्ञ, अतएव पुन 'जज्ञहु' लिखना निरर्थक है। 'धुनि' का प्रयोग करने के वाद 'शब्द' भी अनावश्यक ही है। 'दृग' और 'जंघनि' सदैव बहुवचन मे प्रयुक्त होते हैं, इनका एकवचन-रूप सूचित करने की तो आवश्यकता होती है और सूर ने अनेक अवसरो पर ऐसा किया भी है, जिसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं, परतु इनके साथ 'दोऊ' या 'जुगल'-जैसे प्रयोग व्यर्थ ही हैं।

५. ग्राम्य—कुछ पदो मे सूरदास ने ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जो सभ्य समाज की शालीनता के उपयुक्त नही जान पडते, जैसे —

१. पारथ-तिय कुरुराज सभा मैं बोलि करन चहै नंगी[४४] ।
२ जैसै जननि जठर अतरगत सुत अपराध करै।
तौऊ जतन करै अरु पोषै, निकसै अक भरै[४५] ।

'नगी' और 'निकसै' शब्दो मे गँवारूपन है, साहित्यिक भाषा की गभीरता नही।

६. क्लिष्टत्व— किसी शब्द या पद की अर्थ-प्रतीति मे जव वाधा पडे और उसका अर्थ-ज्ञान विलव से हो, तव 'क्लिष्टत्व' दोष होता है। सूरदास की 'साहित्यलहरी' मे तो यह दोष प्राय प्रत्येक पद मे मिलता ही है, 'सूरसागर' मे भी ऐसे कुछ पद हैं जिनकी अर्थ-प्रतीति सरलता से नही होती[४६]। 'कूट पदो की भाषा' शीर्षक के

---

३५. सा. १-४। ३६. सा ९-९७। ३७. सा १०-२०८।
३८. सा. ६०२। ३९. सा. २८३२। ४०. सा. २-३। ४१. सा. १०-२२।
४२. सा. १०-१८३। ४३. सा १०-२३४। ४४. सा १-२१। ४५. सा १-११७।
४६. 'सूरसागर', पद संख्या २०८५, २०८६, २४६९, २४९५, २६२४, २६९६ आदि।

अतर्गत इस प्रकार के अनेक उदाहरण पीछे दिये जा चुके है। यहाँ एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

गिरजा-पति-पितु-पितु-पितु ही ते सौ गुन सो दरसावैं।
ससि-सुत बेद-पिता की पुत्री आजु कहा चित चावैं[४७]।

यहाँ 'गिरजा-पति-पितु-पितु-पितु' और 'ससि-सुत बेद-पिता की पुत्री' के अर्थ 'समुद्र' (गिरिजापति = शिव , पितु = ब्रह्मा , ब्रह्मा पितु = कमल , कमल-पितु = जल अर्थात् समुद्र) और 'यमुना' (शशि-सुत = चद्रमा का पुत्र = बिधु , वेद चार हैं, अत बुध मे चौथा ग्रह हुआ शनि , शनि-पिता = सूर्य , सूर्य की पुत्री = यमुना नदी) बिना सकेत के समझ मे नही आ सकते। ऐसे उदाहरणो मे 'क्लिष्टत्व' दोष है।

७ **अनुचितार्थ और विरुद्धमतिकृत**—दो-एक पदो मे सूरदास ने ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जो अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ का बोध कराते है , जैसे—

१ अब रघुनाथ मिलाऊँ तुमकौ सुंदरि, सोक निवारि[४८]।
२. बर्ष दिवस कौ नेम लेइ सब, रुद्रहिं सेवहु मन बच क्रम अब[४९]।

पहला वाक्य सीता जी के प्रति हनुमान का है। 'सुन्दरि' शब्द रूप-प्रशसावाची होने के कारण यहाँ अभीष्ट अर्थ से प्रतिकूल की प्रतीति कराता है, तभी तो सीता जी इस सबोधन से शकित होकर कहती हैं—

स्रवन मूँदि, मुख आँचर ढाँप्यौ, अरे निसाचर चोर।
काहे कौ छल करि करि आवत, धर्म-बिनासन मोर[५०]।

'रुद्र' का तात्पर्य मुख्यत शिव के उस रूप से है जिससे 'उन्होने कामदेव को भस्म किया था और दक्ष के यज्ञ का नाश किया था'[५१] इसी से 'रौद्र' शब्द बना है। युद्ध-प्रसग मे प्राय 'रुद्र' का प्रयोग किया जाता है, वर-प्राप्ति-प्रसग मे नही।

उक्त प्रमुख दोषो के अतिरिक्त सूरदास की वाक्य-रचना मे सर्वनाम और क्रिया-शब्दो के कुछ प्रयोग भी खटकते हैं। उनके कुछ सबोधनो मे मर्यादोल्लघन भी हुआ है। वाक्याशो, उपवाक्यो या वाक्यो की खटकनेवाली आवृत्ति उनके काव्य मे कही कही मिलती है तो कही शब्दो का रूप विकृत करने मे उन्होने मनमानी की है। इन बातो के भी उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१ **वाक्य-दोष**—शिव-पार्वती का वार्तालाप हो रहा है। पति के गले मे मुडमाला देखकर पार्वती पूछती हैं—यह मुडमाल कैसी है ?

सिव बोले तव वचन रसाल। उमा, आहि यह सो मुंडमाल।
जब जब जनम तुम्हारौ भयौ। तब तब मुडमाल मैं लयौ[५२]।

---

४७ लहरी १५। ४८ सा ९-८३। ४९ सा ७९९। ५० सा ९-८३।
५१ देखिए, 'हिंदी शब्द-सागर', चौथा भाग, पृ. २९५८।
५२. सा. १-२२६।

दूसरा वाक्य पूर्ण है , परतु 'आहि यह सो मुँडमाल' उपकाव्य वाक्य-रचना की दृष्टि से अपूर्ण ही रह जाता है।

२. **आवृत्ति दोष**—सूरदास ने एक ही विषय को लेकर अनेक पद लिखे है। विषय के सीमित होने पर भी दृष्टिकोण की कुछ न कुछ विशेपता या उक्ति की नवीनता प्राय. उनके प्रत्येक पद मे मिलती है, साथ ही शब्दावली भी सभी पदो मे एक सी नही है। नये पद, नयी तुक, नया दृष्टिकोण—इन सव नवीनताओ के कारण विषय की समानता रहने पर भी पाठक का मन नही ऊवता। यह ठीक है कि प्रत्येक कवि की शब्द-सूची निश्चित रहती है, किसी भी विषय पर रचना करते समय वह उसी मे से शब्द चुनता है और इस प्रकार एक ही शब्द सैकडो वार प्रयुक्त होता है, परतु नवीन वातावरण मे नये शब्दो के साहचर्य से पाठक को उसकी आवृत्ति खटकती नही, कभी कभी तो रुचिकर ही प्रतीत होती है। सूरदास ने भी प्राय सर्वत्र ऐसा ही किया है। फिर भी प्रयत्न करने पर अपवादस्वरूप ऐसे पद उनके काव्य मे मिल जाते हैं जिनमे शब्द-विशेष को ही नही, तीन तीन चार चार शब्दो के वाक्याशो या उपवाक्यो को ही कवि ने दोहरा दिया है। उदाहरणार्थ प्रथम स्कध के एक पद मे यह पक्ति मिलती है—

कामी, कृपिन, कुचील, कुदरसन को न कृपा करि तार्‌यौ[५३]।

दस पदो के वाद ही इस पक्ति के तीन विशेपण इसी क्रम से दोहरा दिये गये हैं—

कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन अपराधी मतिहीन[५४]।

चौदह पदो के वाद इनमे से तीन विशेपण फिर दोहराये गये हैं—

हौं तो कुटिल, कुचील कुदरसन[५५]।

नब्बे पदो के वाद फिर सबकी आवृत्ति है—

कपटी कृपन कुचील कुदरसन दिन उठि बिषय बासना वानत[५६]।

इस शब्द-समूह की आवृत्ति एक कारण से वहुत खटकती है और वह है विपय की एकता। सभव है अन्य प्रसग मे इसी क्रम मे प्रयुक्त होने पर भी ये शब्द इतना न खटकते, क्योकि नये विपय मे दृष्टिकोण भी थोडा-वहुत अवश्य भिन्न हो जाता। इसी प्रकार प्रथम स्कन्ध के एक पद मे युधिष्ठिर अर्जुन से पूछते हैं—

राजा **कह्यौ, कहा भयौ तोहिं, तू क्यौं कहि न** सुनावै **मोहिं**[५७]।

लगभग इन्ही शब्दो को शृगी ऋषि के पिता अपने पुत्र से दोहराते हैं—

सुत सौं **कह्यौ, कहा भयौ तोहिं। क्यौं न सुनावत** निज दुख **मोहिं**[५८]।

कुछ पदो मे निम्नलिखित उपवाक्य या वाक्य भी ज्यो के त्यो दोहराये गये है—

१. अ. तुम **सम द्वितिया और न कोई**[५९]।

---

५३. सा. १-१०१। ५४. सा १-१११। ५५ सा. १-१२५। ५६ सा. १-२१७। ५७. सा. १-२८६। ५८. सा. १-२९०। ५९. सा. २-३५।

आ. ता सम द्वितिया और न कोइ[६०] ।
इ तातें द्वितिया और न कोई[६१] ।
२. अ. सौ बातनि की एकै बात[६२] ।
आ सौ बातनि की एकै बात[६३] ।
३ अ. कोउ न आवत नेरे[६४] ।
आ. कोउ न आवत नेरे[६५] ।
अ. मेरौ कह्यौ मानि करि लीजै[६६] ।
आ मेरौ बचन मानि करि लेहु[६७] ।

जैसे वाक्य थोडे-बहुत अतर के साथ कही कही एक ही पद में मिल जाते हैं।

आवृत्ति-सबधी ऊपर दिये गये अधिकाश उदाहरण पौराणिक प्रसगो के हैं जिनमे कवि ने विशेष रुचि नही ली है। परतु जो विषय कवि को विशेष प्रिय है उससे सबधित पदो मे ऐसी आवृत्ति न मिलती हो, सो बात भी नही है। नीचे लिखे उदाहरण इस कथन की पुष्टि करते हैं—

१ अ कापर नैन चढाए डोलति ब्रज मैं तिनुका तोर[६८] ।
आ कापर नैन चलावति आवति, जाति न तिनका तोर[६९] ।
२ अ. मदमंद मुसुक्यानि मनौ घन, दामिनि दुरि दुरि देति दिखाई[७०] ।
आ बिकसत बदन दसन अति चमकत, दामिनि दुरि दुरि देति दिखाई[७१] ।
३ अ चमकि चमकि चपला चकचौंधति, स्याम कहत मन धीर[७२] ।
आ चपला चमकि चमकि चकचौंधति, करति सब्द आघात[७३] ।

३. क्रिया-दोष—दो-एक वाक्यो मे सूरदास के क्रिया-प्रयोग बिलकुल कथावाचको के ढग पर हैं, जैसे—

तब नारद गिरिजा पै गए। तिनसौं या बिधि पूछत भए[७४] ।

इस वाक्य का 'पूछत भए' क्रियारूप काव्यभाषा के उपयुक्त नही माना जा सकता।

४ सबोधनो मे मर्यादोल्लघन—माता, पिता, सास, श्वसुर, पति आदि गुरुजन का नाम लेना हमारे समाज मे अनुचित समझा जाता है। कही कही सूरदास यह बात भुला बैठे हैं, जैसे—

१. रामहिं राखौ कोऊ जाइ।
जब लगि भरत अजोध्या आवैं, कहति कौसिला माइ।

---

६० सा ६४। ६१ सा. ८-२। ६२. सा. ५-२। ६३ सा ७२। ६४ सा १-७९। ६५. सा. १-८५। ६६ सा. ४-५। ६७ सा. ४-५। ६८ सा १०-३१०। ६९. सा. १०-३२०। ७० सा ६१६। ७१. सा. ६३९। ७२ सा ८७४। ७३. सा ८७७। ७४. सा. १-२२६।

पठवौ दूत भरत को ल्यावन, बचन कह्यौ बिलखाई।
दसरथ वचन राम बन गवने, यह कहियौ अस्थाइ[७५]।

२. भरत कह्यौ, तैं कैकई कुमंत्र कियौ[७६]।

३. लोटति धरनि परी सुनि सीता, समुझति नहिं समुझाइ।

....

दुरलभ भयौ दरस दसरथ कौ, सो अपराध हमारे[७७]।

४. बंधू करियौ राज सँभारे।

... .

कौसल्या, कैकई, सुमित्रा दरसन साँझ सवारे[७८]।

५. जननी, हौ रघुनाथ पठायौ।
रामचंद्र आए की तुमकौ देन बधाई आयौ[७९]।

इन वाक्यो मे कौशल्या, पति 'दशरथ' का, भरत, माता 'कैकेयी' का; सीता, श्वसुर 'दशरथ का, राम, माता कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा का, और हनुमान, स्वामी 'रामचद्र' का नाम लेते है। ये सबोधन निश्चय ही खटकते हैं।

५. **तुक-दोष**—कुछ पदो मे सूरदास ने तुक का भी उचित निर्वाह नही किया है, यद्यपि ऐसे स्थलो की सख्या है बहुत कम; जैसे—

१. जब लगि भजै न चरन मुरारि। तब लगि होइ न भव जल पार[८०]।

२. तृन दसननि लै मिलि दसकंधर, कंठनि मेलि पगा।
सूरदास प्रभु रघुपति आए, दहपट होइ लँका[८१]।

३. आवन आवन कहि गए ऊधौ, करि गए हम सौ छल।
हृदय की प्रीति स्याम जू जानत, कितिक दूरि गोकुल[८२]।

४. मधुकर देखौ स्याम दसा।
इती बात तुमसौ कहियत है, जौ तुम स्याम सखा।
जे कारे ते सबै कुटिल हैं, मृतकनि के जो हता।
तुम बिरहिनी विरह दुख जानत, कहियौ गूढ कथा[८३]।

'मुरारि पार', 'पगा-लँका', 'छल-गोकुल', और 'दसा-सखा-हता-कथा' प्रयोगो का तुक दोष वास्तव मे खटकता है।

६. **विकृत रूप**—शब्दो का रूप विकृत करने की थोडी-बहुत स्वतत्रता कवियो को रहती है, परन्तु शब्द का विकृत रूप, मूल से इतना भिन्न नही हो जाना चाहिए कि

---

७५. सा ९-४७। ७६. सा. ९-४८। ७७. सा. ९-५२। ७८. सा. ९-५४। ७९. सा. ९-८७। ८०. सा. ५-४। ८१. सा. ९-११४। ८२. सा. ३८२९। ८३. सा. ३९५५।

सहज ही पहचाना न जा सके। सूरदास ने यद्यपि इस बात का ध्यान रखा है, फिर भी उनके कुछ विकृत शब्द, मूल रूप से भिन्न हो गये हैं कि दूसरे भिन्नार्थक शब्द का भ्रम होता है। ऐसे रूप कही तो तुकात के लिए गढे गये हैं और कही, चरण के बीच, अनुप्रास की सगति मिलाने अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए।

ख. **तुकात के लिए विकृत रूप**—ऐसे रूपो की सख्या सौ से भी अधिक है, जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं—

१ राजसूय मै चरन पखारे स्याम लिए कर **पानौ**[८४]।
२ जूठनि की कछु सक न मानी, भच्छ किए सत **भाई**[८५]।
३ भयौ सुरुचि तैं उत्तम **क्वार**[८६]।
४ एक गाउँ के बसत कहाँ लौं करैं नद की **कानी**[८७]।
५ मथनहारि सब ग्वारि बुलाई भोर भयौ उठि मथौ **दह्यौ**[८८]।
६ सूर स्याम मुख कपट, हृदय रति, जुवतिनि कैं अति **भर्म**[८९]।
७ सुनि सूरदासहिं भयौ अनद, पूजी मन की **साधिका**[९०]।

उक्त उदाहरणो मे प्रयुक्त 'पानौ' = पानी, 'भाई' = भाव, 'क्वार' = कुमार, 'कानी' = कानि = लज्जा, 'दह्यौ' = दही, 'भर्म' = भ्रम, 'साधिका' = साध = कामना शब्द तुकात के लिए विकृत किये गये हैं। इनमे से कुछ रूपो से दूसरे अर्थों यथा पाणि = हाथ, भ्राता, क्वार मास, एक आँख की, जलाया, साधना करनेवाली—का भ्रम होता है। 'भर्म' रूप भी मूल से दूर हो गया है।

ख **अनुप्रास, पाद-पूर्ति आदि के लिए विकृत रूप**—इस वर्ग के रूपो की सख्या भी पर्याप्त है। इनमे से अधिकाश तो स्पष्ट हैं, परतु दो-चार खटकते भी हैं, जैसे -

१ भू **भर** हरन प्रगट तुम भूतल, गावत सत समाज[९१]।
२ बहुरि करि कोप हल अग्र पर **नग्र** धरि, गग मैं डारि चाहत डुबायौ[९२]।
३ सूरदास **लच्छि** दई कृपा करि टारी निधि न टरै[९३]।

इन वाक्यो मे 'भर', 'नग्र' और 'लच्छि' क्रमश 'भार', 'नगर' और लक्ष्मी' के विकृत रूप हैं। इनके मूल का पता पूरी पक्ति पढने पर लगता है।

७ **अशुद्ध प्रयोग**—तुकात-निर्वाह के लिए सूरदास ने व्याकरण के नियमो की भी उपेक्षा की है। व्रजभाषा काल-रचना मे अधिकाश क्रियाएँ दोनो लिंगो मे समान रूप मे व्यवहृत होती हैं, परतु 'तकारात' पुल्लिग रूप स्त्रीलिंग मे 'तिकारात' हो जाते हैं। सूरदास ने इस नियम का निर्वाह प्राय सर्वत्र किया है, केवल तुकात के लिए दो चार स्थलो पर इसका उल्लघन किया गया है, जैसे—

---

८४. सा १ ११। ८५. सा १-१३। ८६ सा. ४-९। ८७ सा १०-३११। ८८ सा ५२०। ८९ सा १०३२। ९०. सा. १०७२। ९१ सा. १-२१५। ९२. सा. ४२०९। ९३. सा ४२४२।

जैसै तृषावंत जल अँचवत, वह तौ पुनि ठहरात।
यह राधा आतुर छबि लै उर धारति नैंकु नही तृपितात[१४]।

इस उदाहरण मे राधा स्त्रीलिग के साथ एक स्थान पर तो सूरदास ने 'धारत' पुल्लिग क्रिया के स्त्रीलिंग-रूप 'धारति' का प्रयोग किया है, परतु चरणात मे 'ठहरात' की तुक निभाने के लिए राधा के लिए ही पुल्लिग रूप 'तृपितात' ही चलने दिया है। यही वात नीचे के उदाहरण मे भी देखने को मिलती है —

भीजत कुजनि मैं दोउ नागर नागरि आवत।
.. ..
वै हँसि ओट करत पीतावर, ये चूनरी उढ़ावत[१५]।

यहाँ 'नागरि' के साथ 'उढावत' क्रिया पुल्लिग रूप मे प्रयुक्त हुई है, क्योकि तुक का निर्वाह इसी रूप से हो सकता था।

सूर-काव्य के भापा-सवधी दोषो की जो विवेचना ऊपर की गयी है, उसके सवध मे एक बात यह कही जा सकती है कि कवि, विशेषत गीतिकार, को इनमे से वहुत सी बातो की स्वतत्रता रहती है और प्राय सभी कवियो ने इससे लाभ उठाकर ऐसे प्रयोग किये हैं। दूसरी वात यह है कि कवि को स्वय संशोधन-परिवर्द्धन का अवसर न मिलने के कारण भी कुछ दोप उसकी भापा मे रह जाना सभव है, अन्यथा उनमे से अधिकाश इतने सामान्य हैं कि उनका सुधार वहुत सरलता से किया जा सकता था। तीसरे, लिपिकारो और सपादको का सूर की भाषा को दोषयुक्त वनाने मे कितना हाथ रहा है, इसके जानने का यद्यपि कोई साधन हमारे पास नही है, फिर भी सहस्रो पदो की सुसंगठित और प्रवाहपूर्ण भाषा देखकर यह अनुमान स्वभावत होता है कि सामान्य दोषो की सख्या वढाने का कुछ न कुछ दायित्व उन पर अवश्य है। जो हो, इन दोषो मे से अधिकांश उन प्रसगो पर लिखे गये पदो मे मिलते हैं जिनमे कवि ने विशेष रुचि नही ली, जो कला की दृष्टि से सामान्य और शिथिल है एव सूर-काव्य मे जिनके रहने से कवि का महत्व घटता ही है, वढता नही। काव्य-कला की दृष्टि से सूर काव्य का जो महत्वपूर्ण अश है, उसमे ऐसे दोषो की संख्या एक तो अपेक्षाकृत कम है, दूसरे, अन्य विशेषताओं के कारण खटकनेवाली सामान्य वातो की ओर पाठक का ध्यान प्राय जाता भी नही। हिंदी-जगत मे कवि की ख्याति का कारण उसके काव्य का यही भाग है। अतएव इसकी काव्यभाषा अपने गुणो के कारण सदैव समादृत रहेगी।

---

१४. सा. २१२१। १५. सा १९९२।

६. सांस्कृतिक दृष्टि से सूर की भाषा का महत्व

सूर और समकालीन समाज—कवि या लेखक समाज से कितना ही उदासीन क्यो न हो, अपने युग की सस्कृति और सामाजिक विचारधारा के संबध मे कुछ न कुछ सकेत वह अपनी रचनाओ मे कर ही देता है। यह ठीक है कि काव्य मे ऐसा सामयिक चित्रण सागोपाग नही हो सकता और गीतिकाव्य मे तो इसके लिए और भी कम अवकाश रहता है, परतु धर्म-प्राण देश की जनता के अत्यत प्रिय आराध्य की लोक-लीला को कवि सूर ने जब अपनी रचना का विषय बनाया, तब अपने समय की सास्कृतिक स्थिति का परिचय कराने का अवसर उसको स्वभावत मिल गया। विभिन्न वर्गों के आचार-विचार, नियम-सिद्धात, निष्ठा-विश्वास, धर्म और कला-संबंधी उनकी मान्यताएँ, समाज मे प्रचलित रीतियाँ-नीतियाँ आदि विषयो से सबधित सूरदास की शब्दावली का सकलन करने पर हमे तत्कालीन जन-जीवन का अच्छा परिचय मिल जाता है।

सूरदास ने गोकुल-वृदावन के ग्राम्य जीवन के चित्रण मे जितनी रुचि दिखायी है, उतनी नागरिक जीवन का परिचय देने मे नही। अयोध्या, मथुरा और द्वारका—प्राचीन भारत के इन तीन प्रमुख नगरो से सबद्ध अपने आराध्य की कथाएँ उसने गौण रूप मे अपनायी हैं। इनमे से अयोध्या का तो उसने, एक प्रकार से नाम भर लिया है, मथुरा के राजमार्ग पर अपने इष्टदेव के साथ वह कुछ समय के लिए घूमा है और द्वारका मे वासुदेव कृष्ण के ऐश्वर्य-वर्णन मे भी उसकी रुचि कम ही रमी है। अतएव नागरिक जीवन-सबधी उसके सकेत बहुत सामान्य हैं। हाँ, इन नगरो की वास्तुकला और वैभव-सपन्नता का वर्णन अवश्य उसने कुछ विस्तार से किया है।

सूर काव्य मे प्राप्त तत्कालीन सास्कृतिक और सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने-वाली शब्दावली आगे के पृष्ठो मे सकलित है जिससे कवि के तद्विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान हो सके। सुविधा के लिए ऐसे शब्द-समूह को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—वातावरण परिचायक शब्द, सामान्य जीवन-चर्या सबधी शब्द और सास्कृतिक जीवन-चर्या-सबधी शब्द।

क्ष **वातावरण-परिचायक शब्द**—सूरदास ने श्रीकृष्ण की उन लीलाओ का ही विशेष रूप से वर्णन किया है जो उन्होंने गोकुल और वृदावन के गोपो-गोपिकाओ के बीच मे की थी। गो-पालन, गैयो की सेवा करना, वन वन जाकर उनको चराना, उनसे प्राप्त दूध-दही को या उससे बनाये दही-माखन को निकटवर्ती मथुरा नगर मे जाकर बेचना—ये ही उन गोप-गोपियो के दैनिक कार्य थे। उनका सारा समय प्रकृति के बीच ही बीतता था। उनका पारिवारिक और सामाजिक जीवन सुखी था। मथुरा

के राजा से उनका सबंध इतना ही था कि वे वर्ष मे एक-दो बार जाकर कर दे आते थे। जीवन के इन सब अगो के परिचायक जो वातावरण-सूचक शब्द सूर-काव्य मे मिलते है, स्थूल रूप से, उनको चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक।

क भौगोलिक वातावरण-परिचायक शब्द—सूरदास ने जिन कीट-पतगो, क्षुद्र जतुओ, जलचरो, पक्षियो, पशुओ, पेड-पौधो, फलो और फूलो की चर्चा की है, उनमे निम्नलिखित मुख्य है:—

अ. **कीट-पतग तथा क्षुद्र जतु**—अलि[११] (=चचरीक[१२], छपद[१३], भँवर[१४], मधुकर[१५], मधुप[१६], षटपद[१७]), अहि[१८] (=उरग[१९], नाग[१], ब्याल[२], भुअग[३]), खद्योत[४], झिली[५], दादुर[६], पिपीलिका[७], भृगी[८] और मूसा[९]।

आ **जलचर**—कच्छप[१०], कमठ[११], ग्राह[१२], नक्र[१३], मकर[१४] या मगर[१५] और मीन[१६]।

इ. **पक्षी**—उलूक[१७], कपोत[१८] या पारावत[१९], काग[२०] या वायस[२१], कीर[२२], (=सुक[२३], सुवटा[२४], सुवा[२५]), कुलाल[२६], केकी[२७] (=मयूर[२८], मोर[२९]), कोक[३०] (=चक्रवाक[३१], चकवा[३२]), कोकिल[३३] (=कोकिला[३४], पिक[३५]), खंजन[३६] या खंजरीट[३७], गरुड[३८], गीध[३९], चातक[४०], (=पपीहरा[४१], पपीहा[४२]), चकोर[४३], तमचुर[४४], बग[४५], भरुही[४६], मराल[४७], हंस[४८], लालमुनैयाँ[४९], सचान[५०], सारस[५१] और सारिका[५२]।

---

११. सा. ३५९९। १२. सा १०-२०५। १३. सा ३५९४। १४. सा २८५३।
१५. सा. ३५०३। १६ सा. १०-२०७। १७ सा. ३६०४। १८. सा ११५८।
१९. सा ५७३। १ सा. ३२६०। २ सा. ४१४१। ३. सा. ७४३।
४. सा. ९५०। ५. सा २८५३। ६. सा ३३१३। ७ सा. १-१५२।
८. सा. १-३३९। ९. सा. २-१४। १० सा. २-५८। ११. सा. १-०२२१।
१२. सा १-९९। १३. सा. १-१०९। १४. सा. ६२७।
१५. सा. ९७६। १६ सा. १.३३७। १७. सा. १९२४।
१८. सा. ७३९। १९. सा. ४१६५। २०. सा. ३१५२।
२१. सा. ४२७६। २२. सा. ७३९। २३. सा १०४९। २४. सा. २-२६।
२५. सा १-३४०। २६. सा. २-९। २७ सा २८५३। २८. सा. ४१०५।
२९ सा ६१५। ३०. सा. २८५३। ३१. सा. १०-४९। ३२ सा. ३३३२।
३३. सा. ६२२। ३४ सा. २८५३। ३५. सा. ६१५। ३६. सा २६६७।
३७. सा. ११९७। ३८. सा. ५७३। ३९. सा. ९-६०। ४०. सा.१०-२१८।
४१. सा. २८३०। ४२. सा. ६२२। ४३ सा १-२९९। ४४. सा १०-२०२।
४५ सा. ३३२४। ४६. सा. ४१६९। ४७. सा. १०९१। ४८. सा. १-३३७।
४९. सा.१०-२४। ५०. सा. १-९७। ५१. सा १०४९। ५२. सा. ३३६४।

ई. **पशु** – अज[53], अजा[54], ऊँट[55], कपि[56] (=वानर[57], मरकट[58]), करिनि[59] या गजिनी[60],कुरग[61], मिरग[62] (=मृग[63], मृगा[64]),हरिनि[65] कूकर[66] या स्वान[67], केहरि[68] या सिंह[69], खर[70] या गर्दभ[71], कुजर[72] (=गज[73], गयद[74], गय[75], न,ग[76], हाथी[77] , गाय[78] (=गो[79], घेनु[80], सुरभी[81]), जबुक[82] (=सृगाल[83], सियार[84],स्यार[85]), तुरग[86] (=तुरग[87], तुरय[88], हय[89]), बछरा[90], वराह[91] (=बाराह[92], सूकर[93]), बसह[94], (=बैल[95], वृष[96], बृषभ[97]) बिलाव[98], वृक[99], भैंसो[1], मजार[2], महिष[3], मेढा[4], रिच्छ[5], लगूर[6], ससा[7] ।

उ **पेड-पौधे** असोक[8], आम[9] या रसाल[10], कदव[11], कदली[12], करवीर[13], कुद[14], कोविद[15], ढाक[16], तमाल[17] ताल[18], तुलसी[19], नीप[20], नीम[21], पलास[22], पीपर[23], बदरी[24], बट[25], मलय[26], सिवारि[27] या सेवार[28], लवँग लता[29] ।

ऊ **फल** – अब[30] (= अँबुआ[31], रसाल[32]), ककरी[33], खीरा[34],

---

५३, सा. ४-५ । ५४ सा १-१६६ । ५५ सा २-१४ । ५६ सा ९-१६६ ।
५७ सा ९-७५ । ५८ सा ४१६९ । ५९ सा २८६२ । ६० सा २९११ ।
६१. सा २२८० । ६२ सा १-२२१ । ६३ सा १-४९ । ६४ सा ९-६० ।
६५. सा ६१५ ६६ सा २-१४ । ६७ सा ३७३० । ६८ सा ९-६३ ।
६९ सा १५५१ । ७० सा १-३३२ । ७१ सा १-१६४ ।
७२. सा १-११३ । ७३ सा ५८९ । ७४. सा ६१८ । ७५ सा १५५१ ।
७६ सा १-२८६ ७७ सा. ३६०४ । ७८ सा १-५१ । ७९. सा १०-२०२ ।
८०. सा ६११ । ८१ सा ६२० । ८२ सा ४१६९ । ८३ सा ९.१५८ ।
८४. सा १-४१ । ८५ सा १-२८६ । ८६ सा १५५० । ८७ सा १-२८६ ।
८८ सा १५४९ । ८९ सा १५५१ । ९० सा ६१९ । ९१. सा ६१५ ।
९२ सा १०-२२१ । ९३ सा. २-१६ । ९४ सा ९७६ । ९५ सा १-३३१ ।
९६. सा २-१४ । ९७ सा १-२८६ । ९८ सा २-१४ । ९९. सा १-२०१ ।
१. सा. २-१४ । २. सा १६१८ । ३ सा ९७६ । ४. सा ९७६ ।
५. सा. ९-७५ । ६ सा ९-९६ । ७ सा ४२०५ । ८ सा ९-७५ ।
९. सा ९२४ । १०. सा २८४९ । ११ सा ७८५ । १२ सा १०९१ ।
१३ सा. १०९१ । १४. सा. ३३१४ । १५ सा. ३३१४ । १६ सा ९-४२ ।
१७ सा ६८८ । १८. सा १०९१ । १९ सा १०९१ । २० सा ७८४ ।
२१. सा ९२४ । २२ सा. २८५३ । २३ सा. १४८८ । २४ सा. १०९१ ।
२५ सा १०९१ । २६ सा १०९१ । २७ सा. १-९९ । २८. सा ४१८३ ।
२९ सा. ३३१४ । ३० सा २९१७ । ३१ सा. २८५४ । ३२ सा २८४९ ।
३३ सा ३२९६ । ३४. सा. ४०४१ ।

दाडिम [३५], निवुआ [३६], श्रीफल [३७]।

ए. फूल—अंबुज [३८] (=इदीवर [३९], कज [४०], कमल [४१], कुसेसय [४२], जलज [४३], जलजात [४४], तामरस [४५], पुष्कर [४६], वारिज [४७], राजिव [४८], राजीव [४९], सतदल [५०], सरोज [५१]), अतिसी [५२], कदव [५३], कनिआरी [५४], कनीर [५५], कनेल [५६], करना [५७], कुद [५८], कुमुद [५९], कुमुदिनि [६०], कूजा [६१], केतकि [६२] या केतकी [६३], केवरा [६४], चपक [६५], चमेलि [६६] या चमेली [६७], जूही [६८], टेसू [६९], निवारी [७०], पाटल [७१], वधूक [७२], वकुल [७३], वेला [७४], मरुआ [७५] या मरुवौ [७६], माधवी [७७], मालती [७८], मोगरी [७९], सेमर [८०] और सेवती [८१]।

कीट पतगो, पशु-पक्षियो, पेड पौधो और फल-फूलो आदि के साथ साथ इनके प्रमुख अगो-उपागो या उनसे सबधित अन्य पदार्थों की भी चर्चा सूरदास ने यत्र-तत्र की है। सम्मिलित रूप से यह सूची इस प्रकार है—अकुर [८२], अकुस [८३], अडा [८४], किंजल्क [८५], कैंचुरि [८६], चोच [८७], थन [८८], पख [८९], पराग [९०], मकरद [९१], परिमल [९२], पल्लव [९३], पाँखि [९४], पिंजरा [९५], भुस [९६], मजरी [९७], मृनाल [९८], सांकर [९९], सुडि [१], सृग [२] और सौरभ [३]।

---

३५. सा ९-६३। ३६ सा. २९१७। ३७. सा २८५४।
३८. सा. ११५९। ३९. सा १८११। ४०. सा. १०-२१८।
४१. सा. १०-२०२। ४२. सा. १८११। ४३. सा. १०४९। ४४ सा. २८६३।
४५. सा २७८९। ४६ सा ५५४। ४७ सा २८७५। ४८ सा १८१३।
४९. सा १८११। ५० सा. १८१३। ५१ सा. २८७५। ५२. सा ११५९।
५३ सा १०९१। ५४ सा १०९५। ५५ सा. २९०३। ५६ सा २९१७।
५७. सा. १०९५। ५८. सा. १०९१। ५९ सा १०-२०२। ६०. सा १०९१।
६१. सा १०९५। ६२ सा २९०३। ६३ सा २९१७। ६४. सा २९११।
६५. सा. १०७६। ६६. सा २९१७। ६७ सा १०९५। ६८. सा. १०९५।
६९. सा २८५४। ७० सा ३३१४। ७१. सा. २८४४। ७२ सा ११९७।
७३. सा. १०९१। ७४ सा ३३१४। ७५. सा १०९५। ७६ सा २९०३।
७७ सा. २९०३। ७८ सा १०९१। ७९. सा. ३३१४।
८०. सा. १-१००। ८१ सा १०९५। ८२. सा. ११६१।
८३. सा. ४०३७। ८४ सा ४१५९। ८५ सा १-३३९।
८६. सा. ११५८। ८७. सा ९-१६। ८८. सा ६१६। ८९. सा. ९-६०।
९० सा २८५३। ९१. सा ११५९। ९२. सा. २८५४। ९३. सा २८४८।
९४. सा. ९-१६४। ९५. सा. १०-२४। ९६. सा. १-३३१। ९७. सा. २८५३।
९८. सा. ११९७। ९९. सा. ४०३७। १. सा. २६१०। २. सा. १-३३१।
३. सा. २-२६।

इनके अतिरिक्त ग्राम और नगर के जिन भागो मे मनुष्य वास और विचरण करता है, अथवा जिनसे किसी अन्य प्रकार से सबधित है उनकी सूची भी सूर-काव्य मे मिलती है। ऐसे स्थानो मे कुछ मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और कुछ प्रकृति द्वारा, जैसे—

अखारा[४], अटा[५] या अटारी[६], अवास[७], आस्रम[८], उपवन[९], कँगूरनि[१०], कुज[११], कूप[१२], कोट[१३], खाई[१४] खोह[१५], गुफा[१६], गुहा[१७], घाट[१८], छीलर[१९], डोगर[२०], दह[२१], देहरी[२२], नगपति[२३], नदी[२४], सरिता[२५], परबत[२६], पुलिन[२७], फुलवारी[२८], बजार[२९], वन[३०], बस्ती[३१]। बाइ[३२] या बापी[३३], बाग[३४], बापिका[३५], बारी[३६], बिपिन[३७], वीथी[३८], भवन[३९], मठ[४०], महल[४१], सदन[४२], सभा[४३], सरवर[४३], सरितापति[४५] (=उदधि[४६], सागर[४७], सिंधु[४८]), सेतु[४९], हाट[५०]।

ख. **पारिवारिक वातावरण-परिचायक शब्द**—अग्रज[५१] या दाऊ[५२], अर्धंगी[५३], (=धरनी[५४], तिया[५५], तिरिया[५६], त्रिय[५७], दारा[५८] पत्नी[५९], बनिता[६०], बाम[६१], भामिनी)[६२], अली[६३] (सखी[६४], सजनी[६५], सहेलरी[६६], सहेली)[६७], कत[६८] (=पति[६९], पिय[७०]) गुरु भगिनी[७१], जननी[७२] (महतारी[७३] मा[७४], माई[७५], मात[७६], माता[७७], मातु[७८], मैया[७९]) जमाता[८०], जार[८१], जेठी[८२],

---

४. सा ९-४ । ५ सा. ३७८१ । ६ सा ९-१०० । ७ सा. ९-८३ ।
८. सा. १८९३ । ९. सा. १०-७८ । १०. सा. ३०२० । ११. सा. २८५३ ।
१२ सा. ९-९६ । १३. सा. ४२६२ । १४. सा ४२६२ । १५. सा. ३५३९ ।
१६. सा १६१८ । १६ सा ४०७६ । १८ सा. २८७४ । १९ सा १-१६६ ।
२० सा ९२५ । २१ सा ५३९ । २२ सा १०-१३५ । २३ सा ९-९६ ।
२४ सा १०-३२ । २५ सा २८३० । २६ सा १०-३२ । २७ सा २८३० ।
२८ सा २८६४ । २९. सा. १० २८ । ३० सा ४१६५ । ३१ सा ३५७९ ।
३२ सा ९-९६ । ३३ सा १-१४० । ३४ सा ९-९१ । ३५ सा १०-२०५ ।
३६ सा ९-६० । ३७ सा २८५३ । ३८ सा २८५३ । ३९ सा. ९-४९ ।
४०. सा ९-६६ । ४५ सा ३०२० । ४२ सा ९-५३ । ४३. सा ९-१६६ ।
४४ सा ९-९६ । ४५ सा ९-१०४ । ४६ सा २८३० । ४७ सा. १-११६ ।
४८ सा ५४५ । ४९ सा ९-१२४ । ५० सा १०-२८ । ५१ सा ३४६५ ।
५२. सा ७५२ । ५३ सा ४२३० । ५४ सा ९ ७३ । ५५ सा. ८०० ।
५६ सा ३२७३ । ५७ सा ५६९ ५८ सा १६१८ । ५९ सा ९-१२४ ।
६० सा १-५० । ६१. सा ९-४० । ६२ सा ९-१११ । ६३ सा. १०-२४ ।
६४. सा ९-४४ । ६५ सा ९-४४ । ६६ सा १०-४० । ६७. सा. ९.९४ ।
६८ सा २८५१ । ६९ सा १८७२ । ७० सा ९-४४ । ७१. सा. ९-१३७ ।
७२ सा ९-५३ । ७३ सा १०-११ । ७४ सा ५९५ । ७५ सा. ९-८१ ।
७६ सा १०-२११ । ७७ सा ९-४९ । ७८ सा ९-९४ । ७९. सा. १०-१०१ ।
८० सा ९-२७ । ८१ सा १६१८ । ८२. सा. ४२०५ ।

डिंभ[८३], ढोटा[८४] (छोहरा[८५], पुत्र[८६], पूत[८७], बालक[८८], लरिका[८९], सुत[९०]), तनया[९१], दपति[९२], दास[९३] (=भृत्य[९४], सेवक[९५]), दासी[९६] या लौंडी[९७], देवर[९८], ननद[९९] या ननदी[१], ठाकुर[२], (=नाथ[३], स्वामी[४]) नानी[५], परदेसिनि[६], पास परोसिनै[७], पाहुनी[८], पिता[९] (=पितु[१०], बाप[११]), प्यौसार[१२], बधु[१३] या बधू[१४], भाई[१५] (=भैया[१६], भ्रात[१७]), बधू[१८], भगिनी[१९] या भैनी[२०], मेहमान[२१], सतान[२२], सखा[२३], सजन[२४], समधी[२५], ससुर[२६], सहोदर[२७], सास[२८] या सासु[२९], सौति[३०], स्वामिनी[३१]।

इनके अतिरिक्त 'गुसाई' शब्द का प्रयोग 'सूरसागर' के एक पद मे पिता के लिए आदरसूचक सबोधन के रूप मे किया गया है—

> होहु बिदा घर जाहु गुसाई, माने रहियौ नात।
> धकधकात हिय बहुत सूर उठि चले नद पछितात।[३२]

'तात' या 'ताता' का प्रयोग तो सूरदास ने पिता, पुत्र और प्रभु, तीनो अर्थों मे किया है, जैसे—

१. **तात** (=पिता) वचन रघुनाथ माथ धरि जब बन गौन कियौ[३३]।
२. सूनौ भवन सिंहासन सूनौ, नाही दसरथ **ताता** (=पिता[३४])।
३. चौदह बरष **तात** (=पिता) की आज्ञा मोपै मेटि न जाई[३५]।
४ मिले हनु, पूछी प्रभु यह बात।
महा मधुर प्रिय बानी बोलत, साखामृग तुम किहि के **तात** (=पुत्र)[३६]।
५ कहत नद, जसुमति सुनि बात।

---

८३ सा. १०-११७। ८४. सा १०-३२। ८५ सा. १६१८। ८६. सा. ९-१५१। ८७. सा १०-३२। ८८ सा ९-४६। ८९. सा. १०-२२०। ९० सा १-५०। ९१. सा. २८३५। ९२. सा २८५१। ९३. सा १०-२१८। ९४ सा. १०-२०५। ९५ सा. ३३१४। ९६ सा ९-७९। ९७. सा. ३६५२। ९८. सा. ९-५४। ९९. सा. १९२१। १. सा. १९१६। २. सा. ९-१५४। ३ सा. ९-१५१। ४ सा १-१४८। ५. सा. ३४४२। ६. सा ९-७४। ७. सा १०-४०। ८. सा १०-१८२। ९. सा. ९-९४। १०. सा. १-२७५। ११. सा. ३६५०। १२. सा. ९-१२४। १३. सा १-३३६। १४. सा ९-५४। १५ सा. ९-५९। १६ सा. १०-२१७। १७. सा. ९-५२। १८. सा. ९-८१। १९. सा ९-१७३। २०. सा. १३६०। २१. सा. ३५१६। २२ सा. १-५०। २३. सा. १०-२१९। २४. सा. १८७२। २५. सा. १-१५१। २६. सा. ३५६६। २७ सा. १-३३६। २८. सा. १०-२७६। २९. सा १०-१३५। ३०. सा. ९-४९। ३१. सा. ९-१५२। ३२. सा. ३१२४। ३३. सा. ९-४६। ३४. सा. ९-४९। ३५. सा. ९-५३। ३६. सा. ९-६९।

अब अपने जिय सोच करति कत, जाके त्रिभुवन पति से तात (=पुत्र[३७])
६ जानिहौ अब बाने की बात।
मोसौ पतित उधारौ प्रभु जौ, तौ बदिहौ निज तात (=प्रभु[३८])।

ग. **सामाजिक वातावरण-परिचायक शब्द**—अहीर[३९], अहीरि[४०], आभीर[४१], कनधार[४२] (केवट[४३], धीवर[४४], मल्लाह[४५]), कपालिक[४६], कहार[४७], कुलाल[४८], गधिनि[४९], गढ़ैया[५०], गनिका[५१] या बेस्या[५२], गारुडी[५३], चोलिनि[५४], जगा[५५], जमन[५६], जरैया[५७], जाचक[५८], जैनी[५९], जोगिनि[६०], जोगी[६१], ढाढिनि-ढाढी[६२], तपसी[६३], दरजिनि[६४], दरजी[६५], दाई[६६], दानव[६७], नट[६८], नाइनि[६९], निसाचर[७०], पसुपति[७१], पारधी[७२]। बदीजन[७३], बटाऊ[७४], बढ़ैया[७५] (=बढई), बारिनि[७६], बैद्य[७७], ब्रह्मचारी[७८], भाट[७९], भिक्षुक[८०], महत[८१], महावत[८२], मागध[८३], मालिनि[८४], माली[८५], रँगरेजिनि[८६], रजक[८७], राकस[८८], सतगुरु[८९], सुतहार[९०], सुनार[९१], सुनारि[९२], सूत[९३]।

घ. **राजनीतिक वातावरण परिचायक शब्द**—उजीर[९४], कटक[९५] (=चमू[९६], दल[९७], फौज[९८], सेना[९९] [चतुरँगिनि], सैन[१]), खवास[२], चर[३] (दूत[४], धावन[५]), छरीदार[६], जगाती[७], जसूस[८], जोधा[९] (=भट[१०],

---

३७ सा ९८६। ३८. सा १-१७९। ३९ सा. ७४०। ४०. सा. ३५४९।
४१ सा. ३७६८। ४२ सा. ९-८९। ४३ सा ९-४०। ४४ सा. ९-४२।
४५ सा ३२९६। ४६ सा ९-११। ४७ सा ५-४। ४८ सा ३७८१।
४९ सा १०७५। ५०. सा १०-४१। ५१. सा. २८५३। ५२. सा. २९१४।
५३ सा ७४६। ५४. सा १०७५। ५५ सा १०-३९। ५६ सा ९-११।
५७ सा १०-४१। ५८ सा १०-३०। ५९ सा ९-११। ६० सा ९-९१।
६१. सा. १-३५। ६२ सा १०-३१। ६३ सा. ९-९४। ६४. सा १०७५।
६५. सा ३०४७। ६६ सा १० १६। ६७. सा. ९-१७४। ६८. सा. २३८९।
६९ सा १०-४०। ७० सा. ९-९५। ७१ सा. ९-१६९। ७२ सा १-९७।
७३. सा. १०-३५। ७४. सा. ३६७०। ७५ सा. १०-४१। ७६ सा. १०-१९।
७७ सा ९-३। ७८ सा. ४०९४। ७९. सा. १०-२८। ८० सा. १०-३५।
८१. सा ४०४५। ८२. सा. ४०३७। ८३ सा १०-२८। ८४. सा. १०-३२।
८५. सा ९-१०३। ८६ सा २४८५। ८७ सा. ३०४८। ८८. सा ९-७९।
८९. सा. ४०३७। ९०. सा. १०-४०। ९१. सा. १०-४१। ९२. सा १७७५।
९३ सा १०-२८। ९४ सा. १-६४। ९५. सा. ९-१०६। ९६. सा ३७६८।
९७. सा. ९-१५५। ९८. सा. १-१४४। ९९. सा. ३३१३। १ सा ९-१३६।
२. सा. १-१६१। ३ सा. २८४७। ४. सा १-१४१। ५ सा ३३२४।
६ सा १-४०। ७. सा. १५०८। ८ सा. ४२६७। ९. सा. ९-१०५।
१०. सा. ३३१३।

सुभट[११], सूर[१२], सूरमा[१३], द्वारपाल[१४], नकीब[१५], नरपति[१६], (=नृप[१७], नृपति[१८] भुवाल[१९], भुवाला[२०], भूप[२१], भूपति[२२], भूपाल[२३], महीपती[२४]), राई[२५], राजा[२६], रानी[२७], परजा[२८] या प्रजा[२९], पहरुआ[३०], पाटरानी[३१], पायक[३२], पौरिया[३३], प्रतिहार[३४], बन्दी[३५], बनैत[३६] या बानैत[३७], मत्री[३८], मोदी[३९], रखवारे[४०], रथी[४१], सारथी[४२] या सूत[४३] और सुलतान[४४]।

सूरदास के समकालीन भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण-परिचायक उक्त शब्दो को, सूर-काव्य मे इनके प्रयोग की दृष्टि से, स्थूल रूप से दो वर्गो मे रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग मे भौगोलिक, पारिवारिक और सामाजिक वातावरण सबधी शब्द आते हैं जो सूर-काव्य मे सर्वत्र बिखरे मिलते है। द्वितीय वर्ग मे केवल राजनीतिक वातावरण का परिचय देनेवाले शब्द आते हैं जो 'सूरसागर' के उन पदो मे ही मिलते है जिनके वर्ण्य विषय की स्पष्टता के लिए साग रूपको का आश्रय लिया गया है और जिनकी सख्या बहुत ही कम है। पारिवारिक सबध और सामाजिक वर्ग यो तो ग्राम और नगर, दोनो मे समान रूप से होते हैं ; परतु सूरदास ने इनमे से अधिकाश की चर्चा श्रीकृष्ण की गोकुल-वृदावन-लीला के साथ ही की है। यही कारण है कि पारिवारिक सबधो के लिए तत्सम शब्दो का व्यवहार कम किया गया है और सामाजिक वर्गो मे भी धनियो, महाजनो, व्यवसयियो आदि की चर्चा सूर-काव्य मे नहीं की गयी है। तात्पर्य यह है कि उक्त सूचियो से तत्कालीन ग्राम्य वातावरण का तो मुख्य रूप से और नागरिक वातावरण का केवल गौण रूप से ही परिचय मिलता है।

त्र **सामान्य जीवनचर्या-संबंधी शब्द**—सूरदास की रचनाओ मे लगभग एक सहस्र शब्द ऐसे प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे तत्कालीन जीवन-चर्या का अच्छा परिचय मिलता है। जन-जीवन के जिन अंगो से इनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सबध है, उनको सात वर्गो मे रखा जा सकता है—क. खानपान, ख वस्त्र, ग आभूषण, घ व्यवहार की अन्य वस्तुएँ, ड. मनोविनोद, च वाणिज्य-व्यवसाय और छ. लोकव्यवहार।

---

११. सा. ९-९७। १२ सा १९४२। १३. सा. २४६१।
१४. सा १-१४१। १५ सा १-१४१। १६ सा ४१८३। १७. सा. ४१८३।
१८. सा. ४१८५। १९. सा. ९-१०५। २०. सा. १०-४। २१. सा १-४०।
२२ सा ४१६२। २३ सा १६१८। २४ सा २९१३। २५ सा. ९-४४।
२६. सा. १-१४४। २७ सा. १-११। २८. सा ९-५४। २९. सा. ९-५५।
३०. सा. १८७२। ३१ सा. ३१५०। ३२. सा १-१४१। ३३. सा. ३२२७।
३४. सा. ४-१२। ३५. सा. ३७६८। ३६. सा. ४१६२। ३७. सा. १-१४१।
३८. सा. ९-४६। ३९ सा. १-१४१। ४० सा ९-१०५। ४१. सा. ४१६२।
४२. सा. ४१८३। ४३. सा. १-१४१। ४४. सा. १-१४५।

फ खानपान—सूर-काव्य मे जिन जिन विषयो की सूचियाँ मिलती हैं, उनमे सबसे लबी सूची भोज्य पदार्थों की है। इसके दो प्रमुख कारण जान पडते है। मुख्य तो यह है कि छप्पन प्रकार के भोजन तैयार करना जब हमारे यहाँ सामान्य मुहावरा रहा है, तब परम आराध्य के भोग के लिए, अपनी विनीत तथा श्रद्धामयी कृतज्ञता प्रकट करते हुए जो पदार्थ उपस्थित किये जाते है, उनकी सख्या का पर्याप्त बढ जाना नितात स्वाभाविक ही माना जायगा। पुष्टिमार्गीय 'सेवा' मे भोज्य वस्तुओ की सख्या को वहुत अधिक महत्व दिये जाने के मूल मे भी सभवत उक्त मनोवृत्ति ही है।

दूसरा कारण यह है कि प्रति दिन चार बार भगवान् का भोग लगता है और प्रति बार सब नही तो कुछ नये व्यजन अवश्य तैयार किये जाते है। इसी प्रकार रोज रोज के व्यजनो मे, स्वाद और पौष्टिकता, दोनो दृष्टियो से, कुछ न कुछ नवीनता रखनी ही पडती है। तीज-त्योहारो और उत्सवो के अवसर पर तो यह सख्या और भी बढ जाती है।

सूरदास ने चार समय के भोजनो की चर्चा अपने काव्य मे की है—कलेऊ, दोपहर का भोजन, छाक और सायकाल का भोजन या 'बियारी'। कलेऊ से तात्पर्य, प्रात कालीन भोजन से है और 'छाक' दोपहर या तीसरे पहर उन ग्वाल-बालो के लिए भेजी जाती है, जो वन मे गाय चराने के लिए जाते हैं। 'छाक' में कौन कौन पदार्थ रहते हैं, इसकी चर्चा सूर-काव्य मे विस्तार से नही मिलती, शेष तीनो अवसरो से सम्बन्धित व्यजनो की सूचियाँ सूरदास ने बडे मनोवेग से प्रस्तुत की हैं। दही, माखन, मेवा, पकवान, मिठाइयाँ आदि पदार्थ तो प्राय प्रत्येक समय के भोजन मे मिलते हैं, परन्तु तरकारियाँ और फल कलेऊ मे अधिक नही रहते, दोपहर और सायकाल के भोजनो मे इनकी भरमार रहती है।

अ कलेऊ—सूरदास ने कलेऊ का वर्णन यो तो कई पदो मे किया है, परन्तु उसके लिए प्रस्तुत भोज्य पदार्थों का पूर्ण ज्ञान केवल चार पदो से हो सकता है। पहले पद[४५] मे जिन पदार्थो की चर्चा है, वे हैं—अँदरसे, खजूरी, खिरलाडु (लौंग लगे), खुरमा, गालमसूरी, गूझा (पूर भरे), घृत-पूरी, घेवर- (घिरत चभोरे), जलेबी, दधि, दधिवरा, दहिरौरी, दूध (अघावट), दूधवरा, पचकौरी, प्यौसर (सोठ-मिरिच की), मधु, माखन, मालपुआ, मिठाई (खोवामय), मिसिरी, मोतीलाडू, लाडू, सक्करपारे, साढी, सीरा, सेव और हेसमि।

दूसरे पद[४६] मे कुछ व्यजन तो ऊपर दिये हुए ही हैं, नये ये हैं—आम, ऊख रस, केरा, खारिक, खीरा, खुबानी, खोपरा, खोवा, चिउरा, चिरौंजी, दाख, पिराक, फेनी, श्रीफल, सफरी, सुहारी।

तीसरे पद[४७] मे उक्त व्यजनो मे से कुछ के अतिरिक्त 'पटरस के मिष्टान्न' और

---

४५. सा.१०-१८३। ४६. सा.१०-२११। ४७. सा.१०-२१२।

ये पदार्थ हैं—किसमिस, गरी, छुहारे, तरबूजा, पिस्ता, बादाम और रोटी । चौथे पद[४८] मे केवल खाझा और मटरी – दो ही नये पदार्थ है। कलेऊ के अन्त मे तमोल[४९] या बीरी[५०] भी खिलायी गयी है ।

आ. दोपहर का भोजन—सूरदास ने दोपहर के भोजन मे जो पदार्थ गिनाये हैं, उनमें से मुख्य ये हैं[५१]—अगस्त की फरी, अँचार, अँदरसा, अदरख, इँडहर, इमली की खटाई, उभकौरी, ककरी, ककोरा, कचनार, कचरी, कचोर, कचौरी, कढी (खाटी), करवँदा, करील के फूल, करेला, कुनरू, केला, खाँड की खीर, खीचरी, खीरा, खोवा, गालमसूरी (मेवा और कपूर पडी), गोझा, घेवर, चने का साग, चिचीडा, चौराई, छाँछ, छुगारी, जलेबी, टेटी, ढरहरी (मूँग की, हीग पडी), तोरई, दही (मलाईदार , निवुआ, निमोना, पकौरी, परवर, पाकर की कली, पानौरा, पापर, पूरी, पेठा, फाँगफरी, फेनी (मिस्री-दूध मे मिली), बथुआ, बरा, (खट्टे, खारे, मीठे), बरी, वेसन-सालन, भाँटा-भरता (खटाई पडा), भात (पसाया हुआ, रामभोग भात), माखन (तुलसी पडा), मालपुआ, मुँगछी, रतालू, राइता, राम तरोई, रोटी (अजवाइन और सेंधा नमक पडी वेसन की रोटी), लाडू, लापसी, लुचई, सरसो (साग), सहिजना के फूल, सिखरन, सीगरी, सुहारी, सूरन, सेम, सेव, सोवा आदि । अन्त मे 'पीरे पान पुराने बीरा' दिये जाते है ।

इ बियारी—रात्रि के भोजन के लिए सूरदास ने 'बियारी' शब्द का प्रयोग किया है । 'सूरसागर' के एक पद[५२] मे बियारी' मे निम्नलिखित व्यजन गिनाये गये हैं—अँदरसा, अमिरती, इलाचीपाक, उरद की दाल, कढी, काचरी, कूरवरी, केरा, कौरी, खरबूजा (छिला हुआ), खरिक, खाँड की खीर, खाजा, खूआ, गरी, गिदौरी, गुझा, गुडबरा, (कोरे और भिजे), गोदपाक, घेवर, चने की भाजी और दाल, चिचिडा, चिरौरी, चौराई, जलेवी, झोरी, तिनगरी, दाख, दूध, निमोना (बहुत मिरचदार), पतवरा, पनो (पना), पापर, पालक, पिंड, पिंडारू, पिंडीक, पिठौरी पूआ (घी चभोरे), पेठापाक, पोई (नीबू निचुडी), पौर, फुलौरी, फेनी, बथुआ, बदाम, बनकौरा, बरी, बाटी, वेसन-दोने (वेसन के बने अनेक पदार्थ), वेसन-पुरी, भात (घृत सुगन्धि मे पसाया नीलावती चांवर), भिंडी, मसूर की दाल, मिथौरि, मूँग की दाल, मूँग पकौरा, मूरा (उज्जवल, चरपरे और मीठे), मेथी, रोटी, लापसी, लाल्हा, लावनि-लाडू , लुचुई, लोनिका, सरसो, सीरा, सेव और सोवा । इनके अतिरिक्त 'हीग हरद मिरच' के साथ तेल मे छौंके, तथा अदरख, आँवरे और आंब पडे हुए कपूर से सुवासित अनेक सालन । अन्त मे कपूर-कस्तूरी से सुवासित पान ।

---

४८. सा ८१० । ४९. सा.१०-२११ । ५०. सा.१०-१८३ । ५१. सा. १२१३ ।
५२. सा. ३९६ ।

'बियारी' का वर्णन 'सूरसागर' के दो-तीन पदो मे और मिलता है। उनमे से एक[५३] मे खजूरी, गालमसूरी, दूधबरा, मोतिलाड़ू आदि तथा दूसरे[५४] मे अथानौ करौंदा, मैंदा की पूरी, सूरन आदि नये व्यजन दिये गये है।

कलेऊ, दोपहर का भोजन और 'बियारी' के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले उक्त व्यजनो के अतिरिक्त सूर-काव्य मे कुछ और भोज्य पदार्थों की भी चर्चा यत्र-तत्र की गयी है, जैसे—अन्न[५५], कदुआ[५६] या कुम्हड़ा[५७], गोरस[५८], ज्वारि[५९], चिउरा[६०], तदुल[६१], तिल[६२], दधि-ओदन[६३], धान[६४], मूली[६५], मोदक[६६], लहसुन[६७] सातू-साग[६८]।

यह तो हुआ मनुष्यो का भोजन। राक्षसो के भोजन की चर्चा सूरदास ने नही की है। बानरो मे हनुमान के भोजन की चर्चा एक स्थान पर अवश्य है। अशोकवाटिका मे वे 'अगनित तरु फल सुगध मृदुल मिष्ट खाटे'[६९] से तृप्त होते हैं।

भोजन के लिए प्रयुक्त होनेवाले मसालो मे अजवाइन, खटाई, मिरच, सेंधा (नमक), हरद, हीग आदि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। धनिया[७०], राई[७१] और लोन[७२] की चर्चा स्वतत्र पदो मे मिलती है। शेष मसालो की सूची वाणिज्य की वस्तुओ के अतर्गत आगे दी जायगी।

पेय पदार्थों मे जल या नीर[७३] और दूध तो सभी प्राणियो के लिए सामान्य रूप से आवश्यक होते हैं। स्त्री-पुरुष विशेष अवसरो पर, यथा होली मे, बारुनी का उपयोग करते है, परतु निशाचर सदा मद-पान करते हैं[७४]।

ख. **वस्त्र**—सूरदास ने बच्चो, स्त्रियो और पुरुषो के लिए जो वस्त्र गिनाये हैं, उनकी सख्या अधिक नही है। बच्चो के लिए काछनी[७५], झगा या झगुली[७६], पिछौरी[७७], बगा[७८] आदि, पुरुषो के लिए कमरी, कामरि[७९], कामरिया[८०] या कामरी[८१], धोती[८२], और पितबर[८३] या पीताबर[८४], और स्त्रियो के लिए अँगिया[८५] (= कचुकि[८६], कचुकी[८७], चोली[८८]), अँतरौटा[८९], चूनरि[९०], चूनरी[९१] या चूनी[९२], निचोल[९३] निलाबर[९४], लहँगा[९५]—दच्छिनचीर

---

५३ सा. १०-२२७। ५४. सा १०-२४१। ५५ सा १०-३०।
५६ सा ८९२। ५७ सा. ३६०४। ५८. सा. १०-३३७। ५९. सा. ३५२९।
६० सा १०-२१७। ६१ सा ४२२८। ६२. सा १९२४। ६३. सा. ९-३६४।
६४. सा ३६०४। ६५ सा ३२४१। ६६. सा. २८६२। ६७. सा ३१५२।
६८ सा. ४१८०। ६९. सा ९-९६। ७० सा ३६०४। ७१. सारा न पृ २७।
७२ सा ३६३९। ७३ सा ३९६। ७४ सा ९-७५। ७५ सा. २८२६।
७६ सा १०-३९। ७७ सा ९-२०। ७८ सा १०-३९। ७९ सा १६१८।
८० सा ४५२। ८१. सा २८२६। ८२ सा ९८३। ८३ सा. २८७७।
८४ सा ३४४०। ८५ सा १०५३। ८६ सा. १६१८। ८७ सा. २८२६।
८८ सा २०१७। ८९. सा १-४४। ९० सा २८३२। ९१. सा. ७८४।
९२ सा २८३१। ९३ सा १०४९। ९४. सा १०५५। ९५. सा. १०४३।

तिपाइ कौ लहँगा[१६]—,(पँचरंग) सारि[१७] या सारी[१८], सूथन[१९] आदि वस्त्रो का सूरदास ने विशेष रूप से उल्लेख किया है। उपरना या उपरैना का उल्लेख स्त्री और पुरुष दोनो के साथ हुआ है, जैसे—

१. (गोपाल) तुम्हारी माया महा प्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौ (हौ)।

+ + +

पहिरे राती चूनरी, सेत **उपरना** सोहै हो[१]।

२. लियौ **उपरना** छीनि, दूरि डारनि अँटकायौ[२]।

३. लकुटी, मुकुट, **पीत उपरैना** लाल काछनी काछै[३]।

इनमे से प्रथम उदाहरण मे 'माया', दूसरे मे 'गोपी' और तीसरे मे श्रीकृष्ण को 'उपरना' या 'उपरैना' ओढे कहा गया है। अतर यह है कि अतिम मे उसके साथ 'पीत' विशेषण है जो पीताम्वर की याद दिलाता है।

ऊपर जिन वस्त्रो का उल्लेख हुआ है, वे ग्राम और नगर के प्राय सभी बच्चो, पुरुषो और स्त्रियो के लिए हैं। विशेष स्थिति मे, वनवासी राम 'बलकल बसन' पहने और 'दृढ फेंट' बाँधे हैं[४]। इसी प्रकार जोगियो के 'कंथा पहरने' का उल्लेख 'सूरसागर' मे है।

पहनने की अन्य वस्तुओ मे, पैरो मे पनही[५] या पांवरि[६], तथा सर पर पगिया[७] और मुकुट[८] का उल्लेख सूरदास ने किया है।

ग. आभूषण —सूर-काव्य मे जिन आभूषणो की चर्चा की गयी है, उनमे मुख्य ये हैं—अंगद[९] (केपूर[१०] या बाजूबद[११]), अँगूठी[१२] (= मुदरी[१३], मुद्रा[१४], मुद्रिका[१५]), कक्न[१६], कठश्री[१७] या कठसिरी[१८], करन-फूल[१९], किंकिनी[२०], कुडल[२१], खुठिला[२२], खुभि[२३] या खुभी[२४], गजदंती[२५], गजमोतिनिहार[२६], घुंघरू[२७] या नूपुर[२८], चुरी[२९] या चूरी[३०], चूरा[३१] या चूरौ[३२], चौकी[३३], छुद्रघटिका[३४],

---

१६. सा. २९०१। १७. सा १०४३। १८ सा. १०-२४। १९. सा. १ ५४।
१. सा १-४४। २ सा १६१८। ३. सा २८२६। ४ सा. ९-५८।
५. सा ९-१९। ६ सा. ९-५३। ७ सा. २८७५। ८. सा २८२६।
९. सा. ४५९। १०. सा ५१२। ११. सा. १५४०। १२. सा. ९-८६।
१३. सा. ९-८३। १४. सा- ९-८८। १५ सा. १०५३। १६ सा. १०४३।
१७. सा. १०४३। १८. सा ११८०। १९ सा १५४०। २०. सा १०-१५१।
२१. सा. ११८०। २२. सा १४७५। २३ सा २८२६। २४ सा १०५५।
२५. सा. २९०१। २६. सा. ११८०। २७. सा. १०५६। २८. सा १०५५।
२९. सा. १०४३। ३०. सा ३२३०। ३१. सा २९०१। ३२ सा. २८२६।
३३. सा. १०४३। ३४. सा. १५४०।

छुद्रावलि [३५], मैखला [३६]), जेहरि [३७], झूमका [३८], टाड [३९] (जराइ कौ) टीकौ [४०], तरिवन [४१] या तरौन [४२], ताटक [४३], तिरनी [४४], तौकी [४५], दुलरी [४६], नकवेसरि [४७], नथ [४८], नौसरिहार [४९], पदिक [५०], पहुँचिया [५१] या पहुँची [५२], पैंजनी [५३], बलय [५४], बहुँटा [५५], बिछिया [५६], बेसरि [५७], माला [५८], मानिकहार [५९], मुक्तामाल [६०], मोतिनिलर [६१], मोतीहार [६२], सीसफूल [६३], हमेल [६४], हारावलि [६५] आदि। इन आभूषणो मे से अधिकाश स्त्रियो के हैं। बच्चो के लिए किकिनी, कुडल, घुंघरू, छुद्रघटिका (छुद्रावलि या मेखला), पहुँची, पैंजनी, मुक्तामाल आदि के अतिरिक्त कठुला [६६] और बघनहा [६७] भी बताये गये है। पुरुषो के आभूषणो मे अगद या केयूर, कुडल, मुद्रिका, मुक्तामाल या मोतीहार मुख्य हैं।

घ व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ—दैनिक जीवन मे उपयोगी जिन वस्तुओ की चर्चा सूर-काव्य मे है, स्थूल रूप से, उनको नौ वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—अ. सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ, आ शासक वर्ग के उपयोग की वस्तुएँ, इ. पात्र, ई. धातु, उ रत्न, ऊ रग, ए सुगधित पदार्थ, ऐ वाहन और ओ अस्त्र शस्त्र।

अ सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ—ईधन [६८], ऊखल [६९], ऐपन [७०], कापरा [७१], किवारा [७२], कुजी [७३], चूल्हा [७४], छुरी [७५], झोरी [७६] या झोली [७७], तारो [७८], तूल [७९], दर्पन [८०], दीप [८१] या दीपक [८२], दोना [८३], दोहनि [८४], पटरी [८५], पतिया [८६] या पाती [८७], पनवारे [८८], परदा [८९], पलँग [९०] या प्रजक [९१], पलिका [९२], पालनौ [९३], पावडे [९४],

---

३५. सा ५१२। ३६. सा. ४५१। ३७ सा. १०४३।
३८ सा १०५७। ३९. सा. ४०६०। ४० सा १५४०।
४१ सा २०२७। ४२. सा १०-२४। ४३. सा. १०४३। ४४ सा. ११८०।
४५ सा. १५४०। ४६. सा ५१२। ४७. सा ३८१५। ४८. सा ३८१५।
४९ सा १५४०। ५० सा ४५१। ५१. सा. ४५१। ५२. सा १०५३।
५३ सा. १०-१५१ ५४ सा १४७५। ५५ सा. १५४०। ५६ सा. १०५८।
५७ सा १०४३। ५८ सा ११८०। ५९. सा. १४७५। ६० सा. १०४९।
६१. सा. ४५१। ६२ सा १४७५। ६३. सा २८४१। ६४. सा. १४७५।
६५ सा. १६१८। ६६. सा १०-१५१ ६७. सा १०-१५१ ६८. सा. ३७८१।
६९ सा ४०९५। ७० सा १०-४०। ७१. सा. १०-४०। ७२. सा. ९-७६।
७३ सा १८७२। ७४. सा. ९९५। ७५ सा २८२६। ७६. सा. २८७२।
७७. सा ३३१२। ७८. सा १८७२। ७९ सा ९-९७। ८०. सा २८२६।
८१ सा २४९५। ८२. सा. २८२६। ८३. सा ९-१६४। ८४. सा. ६१९।
८५ सा ३४९५। ८६. सा ३११०। ८७ सा. २८४०। ८८. सा १०-८९।
८९ सा. १७२८। ९०. सा १-२३९। ९१. सा ९-७५। ९२. सा २६४९।
९३ सा १०-४१। ९४ सा ९-१६९।

पीढा[15], पूतरी[16], पोत[17], प्रतिमा[18], वहनिया[19], मथानी[1], रेसम[2], लकुट[3] या लकुटिया[4], सन[5], सींक[6], सूत[7], सूतरी[8], सेज[9], हिंडोरना[10]।

आ. शासको के उपयोग की वस्तुएँ—छत्र[11], चमर[12] या चँवर[13], चमू[14] या फौज[15], दरवार[16], धुजा[17], पताक[18], बैरख[19], सिंहासन[20] आदि।

इ पात्र—कटोरा[21], कटोरी[22], कमोर[23] या कमोरी[24], कलस[25], कूंडी[26], कोपर[27], गागरि[28], घट[29], झारी[30], थार[31], थालिका[32], माट[33], मटकी[34]।

ई धातु और खनिज पदार्थ—ईंगुर[35], कचन[36] (=कनक[37], सोना[38], हाटक[39], हेम[40]), काँच[41], खरि[42], गेरू[43], ताँबा[44], पारा[45], वदन[46], (सिंदूर[47] या सेंदूर[48]), रोरी[49], रूपा[50] आदि।

उ. रत्न—नीलम[51], पन्ना[52], पिरोजा[53], प्रवाल[54] (=विद्रुम[55], मूँगा[56]), फटिक[57] या स्फटिक[58], वज्र[59] या हीरा[60], मनि[61], मरकत[62], मानिक[63], मुक्ता[64] या मोती[65], लाल[66]।

---

१५. सा. १०-५०। १६. सा. १०-४०। १७. सा. ३६९०।
१८ सा. २८२६। १९. सा. १०-३३७ १. सा १६१८।
२. सा. १०-४१। ३. सा. २८७४। ४. सा. २८९५।
५. सा. ९-९७। ६. सा. १०-२४। ७. सा. ९-९७।
८. सा. ३६९०। ९. सा. २६५०। १०. सा. २८३०।
११. सा. ९-१६०। १२. सा. १६१८। १३. सा ३७६८। १४. सा. २७८५।
१५ सा २७८५। १६. सा. २९०४। १७. सा.९-१६०। १८. सा ९-१५८।
१९. सा. २८६२। २०. सा. १-४०। २१. सा. ३८१५। २२. सा. ३९६।
२३ सा. २८६६। २४ सा. १५४८। २५. सा. २८२६। २६. सा ९-२५।
२७. सा. ९-१६९। २८ सा २८९२। १९. सा ३७८१। ३० सा.१०-२०८।
३१. सा. १०-१७। ३२. सा. ९२२। ३३. सा १०-२४। ३४. सा १६१८।
३५. सा २८५४। ३६. सा १०-४। ३७. सा. १०-४२। ३८. सा. ३:९२।
३९. सा.१०-१५१। ४०. सा १०-२१८। ४१. सा १६१८। ४२ सा ३५७७।
४३ सा. ३१५२। ४४. सा ३०९२। ४५ सा ३२९६। ४६. सा २८३०।
४७. सा. ३१५२। ४८ सा २५१९। ४९. सा. १०-४०। ५०. सा ३०९२।
५१. सा २८३२। ५२. सा. ४१८६। ५३. सा. १०-८४। ५४. सा १०-८४।
५५. सा. २८३२। ५६. सा. ३२३५। ५७. सा. २८३५। ५८ सा. २८३२।
५९. सा. २८४१। ६० सा. १०-४१। ६१. सा. १०-४२। ६२. सा. २८४१।
६३. सा. २८३३। ६४. सा.९-१२४। ६५. सा १०-८४। ६६ सा १०-८४।

ऊ रंग अरुन[६७] (राता या राती[६८], लाल[६९], लोहित[७०]), उज्जवल[७१] या गौर[७२], कुसुभी[७३], धवल[७४] (=सित[७५], सेत[७६], स्वेत[७७]), नील[७८], पियरी[७९], पीत[८०], पीरी[८१], स्याम[८२] या स्यामल[८३], हरित[८४] या हरी[८५] आदि।

ए. **सुगधित पदार्थ**—अरगज[८६] या अरगजा[८७], कपूर[८८], कस्तूरी[८९] या मृगमद[९०], कुमकुम[९१], केसर[९२], चदन[९३], चोवा[९४], फुलेल[९५]। इन सभी पदार्थों का उल्लेख प्राय श्रृगार-सज्जा के प्रसग मे हुआ है। इनके अतिरिक्त जावक[९६], महाउर[९७] या महावर[९८] का उल्लेख भी हुआ है, यद्यपि विशिष्ट सुगधित पदार्थों मे उसकी गिनती नही है।

ऐ **वाहन**—जहाज[९९], नाव[१] या नौका[२], विमान[३], रथ[४] या स्यदन[५] आदि।

ओ **अस्त्र-शस्त्र**—असि[६] (=करवार[७], खड्ग[८]), (लौहजटित) आगर[९], कमान[१०] (=कोदड[११], चाप[१२], धनु[१३], धनुष[१४], पिनाक[१५], सरासन[१६]), कवच[१७] या सनाह[१८], कुत[१९] या नेजा[२०], गदा[२१], गोला[२२], चक्र[२३], छुरी[२४], तूनीर[२५] या निषग[२६], दारू[२७], दिव्यबान[२८], पनच[२९], पलीता[३०], बज्र[३१], बरछी[३२], बान[३३], तीर[३४] (=सर[३५], सायक[३६]),

---

६७. सा २८३२। ६८ सा. २८७३। ६९ सा. २८३१। ७० सा २८६३।
७१. सा १९१२। ७२. सा २८२२। ७३ सा १९९१। ७४ सा. २८४६।
७५. सा २८६९। ७६. सा ७८४। ७७. सा २८३१। ७८. सा २८३१।
७९. सा १०-१५१। ८० सा २८३२। ८१ सा. २८७३। ८२ सा २८३२।
८३ सा २८३३। ८४. सा. १९१२। ८५ सा २८३२।
८६ सा १९०१। ८७. सा. २०१०। ८८ सा ३१५२। ८९ सा. ४२५२।
९० सा ४१८६। ९१ सा २६४७। ९२. सा. ४१८५। ९३ सा १०-४०।
९४ सा २८५४। ९५ सा ३८१५। ९६ सा २५२२। ९७ सा २६२४।
९८ सा ११८०। ९९. सा. ३८१८। १ सा ९-८९। २ सा. १-९९।
३. सा २८३०। ४ सा ९-४६। ५ सा ४१६५। ६ सा २८२६।
७ सा. ४२२१। ८. सा. १-१४४। ९ सा ९-९६। १० सा ४२६७।
११ सा ३०४९। १२. सा ९-१५८। १३ सा ९-४४। १४. सा. ९-५८।
१५. सा ९-९१। १६. सा २८४६। १७. सा २८४७। १८ सा ३३१३।
१९ सा ९-७५। २० सा १९८६। २१. सा. ४२२१। २२ सा. ४२६७।
२३. सा ९-१५८। २४ सा. ३१८५। २५ सा ९-४४। २६ सा. २८४७।
२७ सा ४२६७। २८ सा ९-९६। २९ सा ३०३९। ३०. सा ४२६७।
३१ सा ४१८३। ३२ सा. ४२२१। ३३. सा ४१८३।
३४. सा २२३९। ३५. सा. ९-९१। ३६. सा ९-१५८।

ब्रह्मफाँस[३७], ब्रह्मवान[३८], मुगदर[३९], मुसल[४०], सक्ति[४१], साँग[४२], सिर-स्त्रान[४३], सूल[४४], हल[४५] आदि।

ङ. खेल और व्यायाम - सूरदास के अनुसार कृष्ण और उनके सखा सबसे पहले 'दौड' का खेल खेलते हैं। 'तारी' देकर सब सखा भागते हैं और श्याम उन्हे छूने को दौडते है[४६] कभी कभी वे 'आँखमुदाई' खेलते है[४७]। श्रीकृष्ण की आँख मूँद कर माता यशोदा उसके कान मे बलराम के छिपने का स्थान बता देती हैं, परन्तु श्रीकृष्ण अपनी होड श्रीदामा से मानकर उसी को दौडकर पकड लेते है और उसे 'चोर' बना देते हैं[४८]। गैया चराने जाने पर मैदान मे उन्हे गेंद खेलने की इच्छा होती है और तब श्रीदामा जाकर गेंद ले आता है[४९]। गेद खेलने का ढग भी बिलकुल सीधा-सादा है। एक भागता है दूसरा गेंद मारता है तीसरा रोकता और फिर मारता है, इसी तरह खेल चलता रहता है[५०]। भौंरा-चक-डोरी से भी उनका पर्याप्त मनोरंजन होता है[५१]। बच्चो को पतंग उडाने का भी शौक रहता है। सूरदास ने कृष्ण और उनके सखाओ से पतग तो नही उडवायी है, परन्तु गुडी-डोर[५२] की चर्चा अवश्य की है जिससे स्पष्ट होता है कि उनके समय मे मनोरजन का यह भी एक साधन था।

ये तो हुए श्रीकृष्ण के बाल्यकाल के खेल। युवावस्था मे वे घोडे पर चढ़कर चौगान खेलते हैं। सभी खिलाडी उच्चैश्रवा-जैसे घोडो पर सवार होकर आते है। दो दल बटते हैं और कदुक से खेल शुरू हो जाता है[५३]।

इनके अतिरिक्त हेलुआ या जलकेलि की गणना किशोरावस्था और युवावस्था के खेलो मे की जा सकती है। सूरदास ने इसका वर्णन अनेक पदों मे बडे विस्तार से किया है। रास के उपरात श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ जलक्रीडा करती हैं। किसी को जरा भी भय नही है[५४]। वे परस्पर जल छिडकती हैं[५५]। कृष्ण और राधा 'बाहाँजोरी' खड़े होते हैं, अन्य सखियो मे कोई जाँघ तक जल मे है, कोई कमर, कोई हृदय और कोई गले तक[५६]। जलविहार का विनोदमय सुख सबको पुलकित कर देता है[५७]।

यो तो ऊपर के सभी खेलो से मनोरंजन के साथ साथ व्यायाम भी हो जाता है, परन्तु कस के मल्लो की 'मल्लक्रीडा' मे व्यायाम का भाव जितना है, उतना मनोरजन का नही। बलराम और कृष्ण जब बडे बडे मल्लों को हरा देते हैं तब यह मानना पडता है कि उन्होने भी 'कुश्ती' का अभ्यास किया होगा, यद्यपि सूर ने इसकी चर्चा नही की है। और 'सूरसागर' मे रावण के योद्धा तो लका मे ठौर-ठौर पर 'कुत-असि-बान' का निरंतर अभ्यास करते ही है[५८]।

---

३७. सा. ९-१०४। ३८ सा. ९-९७। ३९. सा. ९-१०४। ४०. सा. ४१८३।
४१. सा. ४१६२। ४२. सा. ४१८३। ४३. सा ९-१५८।
४४. सा. ४१६२। ४५. सा. ४१८३। ४६. सा. १०-२१३। ४७. सा. १०-२३९।
४८. सा १०-२४०। ४९. सा ५३२। ५०. सा. ५३३। ५१. सा. ६६९।
५२. सा. २८८१। ५३. सा. ४१६६। ५४. सा. ११५७। ५५. सा. ११५८।
५६. सा. ११६२। ५७. सा. ११६१। ५८. सा. ९-७५।

च वाणिज्य-व्यवसाय—नागरिक जीवन के चित्रण की ओर अधिक ध्यान न देने के कारण सूरदास ने अपने काव्य मे तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय की चर्चा नही की है। 'दान-लीला' प्रसग के एक पद [५९] मे उन्होने व्यापार-योग्य ऐसी वस्तुओ की एक सूची दी है जो पसारी के यहाँ मिलती हैं और जिनमे अधिकाश मसाले हैं, यथा—अजवाइन, आलमजीठ, कटजीरा, कायफर, कूट, चिरइता, दाख, नारियर, पीपरि, वहेरा, वाइविडग, मिरिच, लाख, लौंग, सुपारी, सेंदुर, सोठि, हर्रे और हीग।

माल [६०] को मोल लेने के लिए पास मे कौडी [६१], टका [६२] या दाम [६३] तो चाहिए ही, एक चीज के बदले मे दूसरी चीज भी, सूरदास के अनुसार, ली जा सकती है, यदि दोनो समान उपयोग या मूल्य की हो। मूली के पत्तो के बदले मुक्ताहल कोई नही दे सकता—

मूली के पातन के क्वैना को मुक्ताहल दैंहै [६४] ?

छ सामान्य लोकव्यवहार—यो तो भोजन के पहले कनक-थार मे हाथ धुलाना [६५]—जैसी सामान्य व्यवहार-सबधी अनेक बातें सूर-काव्य मे बिखरी मिलती हैं, परन्तु इस शीर्षक के अतर्गत केवल दो मुख्य विषयो से सम्बन्धित शब्दो का ही सकलन करना लेखक का अभीष्ट है—अ शिष्टाचार और आ. स्वागत-सत्कार।

अ. शिष्टाचार—दूसरो के प्रति शिष्टाचार-प्रदर्शन के उद्देश्य से, सूर-काव्य मे जिन नमस्कारात्मक शब्दो का प्रयोग किया गया है, उनमे से जुहारा, दडवत, नमस्कार, नमस्ते, पालागन, प्रनाम आदि मुख्य हैं, जैसे—

१ सूर आकासबानी भई तबै तहँ, यहै बैदेहि है, करु **जुहारा** [६६]।
२ देखि सुरूप सकल कृष्णाकृति, कीनी **चरन जुहारी** [६७]।
३ जामवत सुग्रीव बिभीषन करी **दंडवत** आइ [६८]।
४ **नमस्कार** मेरो जदुपति सौं कहियौं परि के पाइँ [६९]।
५ नमो **नमस्ते** बारबार। मधुसूदन गोबिद पुकार [७०]।
६ लछिमन **पालागन** कहि पठयौ, हेत बहुत करि माता [७१]।
७ ये वसिष्ठ कुल-इष्ट हमारे, **पालागन** कहि सखनि सिखावत [७२]।
८ भरत सत्रुहन कियौ **प्रनाम**, रघुबर तिन्है कठ लगायौ [७३]।
९ तब **परनाम** कियौ अति रुचि सौं, अरु सबहिनि करि जोरे [७४]।

उक्त सभी शब्द पूज्य व्यक्तियो के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुए है,

---

५९ सा १५२८। ६० सा. १५२६। ६१ सा १५४५। ६२. सा. १९७२। ६३. सा. १९७२। ६४. सा ४२४७। ६५. सा. ३९६। ६६. सा ९-७६। ६७ सा ८-१४। ६८ सा. ९-१६१। ६९ सा ४१६०। ७० सा ४३०१। ७१. सा ९-८७। ७२ सा. ९-१६७। ७३. सा ९-५५। ७४ सा. ३४८१।

परंतु एक पद मे पुत्र को मनाती हुई यशोदा 'पालागौ' का प्रयोग करती है जिससे खीझी हुई माता के हृदय का व्यग्य प्रकट होता है—

(आछे मेरे) लाल हो, ऐसी आरि न कीजै ।
पालागौं हठ अधिक करौ जनि, अति रिस तैं तन छीजै[७५] ।

वडो को प्रणाम करने पर उनसे आशीर्वाद भी मिलता है। लक्ष्मण के 'पालागन' के उत्तर मे सीता जी 'असीस' देती हैं—

दई असीस तरनि सन्मुख ह्वै, चिरंजीवौ दोउ भ्राता[७६] ।

आ. स्वागत-सत्कार—यो तो सूर-काव्य मे अनेक स्थलो पर स्वागत-सत्कार का वर्णन किया गया है, परतु ऐसे अवसरो पर प्रयुक्त सामग्री की जानकारी के लिए केवल तीन स्थलो की चर्चा करना पर्याप्त होगा—वनवास के पश्चात् अयोध्या लौटने पर श्रीराम का स्वागत, श्रीकृष्ण का सदेश लेकर आनेवाले उद्धव का गोपियो द्वारा स्वागत, और अक्रूर द्वारा श्रीकृष्ण का स्वागत ।

श्रीराम के वन से लौटने पर अयोध्या मे स्वागत का जो आयोजन किया जाता है वह इस प्रकार है—

जब सुन्यौ भरत पुर निकट भूप। तब रची नगर रचना अनूप ।
प्रति प्रति गृह तोरन ध्वजा धूप। सजे सजल कलस अरु क़दलि यूप ।
दधि दूब हरद फल फूल पान। कर कनक थार तिय करति गान ।
सुनि भेरि वेद-धुनि सख नाद। सब निरखत पुलकित अति प्रसाद[७७] ।

\+ \+ \+

दधि फूल दूध कनक कोपर भरि, साजत सौज विचित्र वनाई ।
बरन बरन पट परत पाँवडे, बीथिनि सकुच सुगध सिंचाई ।
पुलकित रोम हरप गदगद स्वर, जुवतिनि मगलगाथा गाई ।
निज मदिर मैं आनि तिलक दै, द्विजगन मुदित असीस सुनाई[७८] ।

उद्धव के व्रज आने पर गोप-गोपियाँ उनके स्वागत का इस प्रकार आयोजन करती हैं—

व्रज घर-घर सब होत बधाइ ।
कचन कलस दूब दधि रोचन लै वृदावन आइ ।
मिलि व्रजनारि तिलक सिर कीनौ, करि प्रदच्छिना तासु[७९] ।

\+ \+ \+

---

७५. सा. १०.१९० । ७६ सा. ९-८७ । ७७. सा. ९-१६६ । ७८ सा. ९-१६९ । ७९. सा. ३४७९ ।

अर्घ आरती साजि तिलक दधि माथैं कीन्यौ।
कचन कलस भराइ और परिकरमा दीन्यौ।
गोप भीर आँगन भई, मिलि बैठी सब जाति।
जलझारी आगैं धरी, पूछत हरि कुसलाति[८०]।

सुफलक-सुत अक्रूर को श्रीकृष्ण के शुभागमन की ज्यो ही सूचना मिलती है, वह—

मिल्यौ सु आइ पाइ सुधि मग मैं बार बार परि पाइ।
गयौ लिवाइ सुभग मदिर मैं, प्रेम न बरन्यौ जाइ।
चरन पखारि धारि जल सिर पर, पुनि पुनि दृगनि लगाइ।
बिबिध सुगध चीर आभूषन, आगैं धरे बनाइ[८१]।

साराश यह है कि परम प्रिय या पूज्य व्यक्ति के शुभागमन पर गृह-तोरण सजाना, जलभरे कचन कलस प्रस्तुत करना, कदलि-यूप बनाना, कनक-थाल या कोपर मे दधि-दूब-रोचन-फल-फूल-पान आदि लेकर युवतियों का मगलगान करना, वेद-पाठ होना, भेरि-शख-ध्वनि करना, बरन बरन के पट-पाँवडे बिछाना, वीथियों को सुगध से सिंचाना आदि आयोजनो की चर्चा सूर-काव्य मे मिलती है। पश्चात् प्रिय या पूज्य व्यक्ति का दर्शन होने पर उसको अर्घ्य देकर, चरणामृत को सिर और दृगो से लगाकर, आरती करके, दधि का तिलक माथे पर लगाकर, 'प्रदच्छिना' या 'परिकरमा' करने का भी उसमे उल्लेख है। अत मे शक्ति और श्रद्धा के अनुसार सुगधि-चीर-आभूषण आदि प्रस्तुत किये जाते थे। निस्सदेह स्वागत का ऐसा उत्साहपूर्ण आयोजन उभय पक्षों का हृदय पुलकित करने मे समर्थ होता है।

ञ **सास्कृतिक जीवन-चर्या सबंधी शब्द**—सस्कृति का सबध मुख्य रूप से समाज की आतरिक विचारधारा से होता है। स्थूल रूप से इसके अतर्गत जन साधारण के सामाजिक, पौराणिक, धार्मिक तथा अन्य विश्वास, पर्व-उत्सव-योजना, सस्कार संबंधी कृत्य, कला-कौशल आदि विषय आते हैं। इनसे सबधित, सूर-काव्य मे प्रयुक्त शब्दावली का सकलन इस उद्देश्य से यहाँ करना अभीष्ट है जिससे कवि के समकालीन हिंदू समाज की सास्कृतिक जीवन चर्या का सक्षिप्त रूपरेखा, उनकी भाषा के आधार पर, प्रस्तुत की जा सके।

क. **सामाजिक विश्वास**— सूरदास ने यो तो समाज-सगठन, वर्ण व्यवस्था या वर्ण-महत्ता आदि के सबध मे कहीं विचार नही किया और —

सत्रु-मित्र हरि गनत न दोइ। जो सुमिरै ताकी गति होइ।

\+ \+ \+

राव-रक हरि गनत न दोइ। जो गावहि ताकी गति होइ[८२]।

जैसे वाक्य लिखकर वर्णो के ऊँच-नीच के भेद को जड-मूल से ही उडा दिया, परतु

---

८०. सा. ४०९५। ८१ सा. ४१६०। ८२. सा २-५।

एक पद में श्रीकृष्ण और कुब्जा के संग की अनुपयुक्तता पर विचार करते करते गोपियो के मुख से उन्होने कहलाया है— काग-हस, लहसुन-कपूर, काँच-कंचन, गेरू-सिंदुर के मग की तरह तो कुब्जा और कृष्ण की सगति अनुपयुक्त है ही, उनका साथ उस तरह से खटकनेवाला है; जैसे —

भोजन साथ सूद्र बाम्हन के, तैसौ उनकौ साथ[८३]।

कवि और भक्त सूर की उदारता को दबानेवाला यह वाक्य ब्राह्मण को श्रेष्ठ और शूद्र को नीच माननेवाली जन-मनोवृत्ति का ही परिचायक है।

ख. पौराणिक विश्वास—सूरदास ने पौराणिक विश्वास के अनुसार श्रीकृष्ण को पर-ब्रह्म का अवतार माना है और उनके लिए अविगत[८४], अविनासी[८५], कला-निधान[८६], जगतगुरु[८७], जगतपिता[८८], जगदीस[८९], जगन्नाथ[९०], जगपाल[९१], दीनानाथ[९२], पुरु-षोत्तम[९३], बिस्वभर[९४], मधुसूदन[९५], सकल गुन-सागर[९६], सुखसागर[९७], सुरसाई[९८], आदि बडे व्यापक अर्थवाले शब्दो का प्रयोग किया है। यो तो 'आदि निराकार' के चौबीस अवतारो को गिनाना वे नही भूले हैं[९९], परंतु श्रीराम और श्रीकृष्ण की एकता की चर्चा उन्होने बडे विस्तार से की है—

इद्रादि देवता स्तुति करते हैं—

जै गोविंद माधव मुकुद हरि। कृपा-सिंधु कल्यान कंस-अरि।
प्रनतपाल केसव कमलापति। कृष्न कमल-लोचन अगतिनि गति।
रामचद्र राजीव नैंन वर। सरन साधु श्रीपति सारगधर।
बनमाली बामन बीठल बल। बासुदेव बासी-ब्रज-भूतल।
खर दूखन त्रिसिरासुर खडन। चरन-चिन्ह दडक भुव मडन।
बकी-दवन बक-बदन बिदारन। बरुन बिषाद नद निस्तारन।
रिषि मख त्रान ताड़का-तारक। बन बसि तात बचन प्रतिपालक।
काली दवन केसि कर पातन। अघ अरिष्ट धेनुक अनुघातन।
रघुपति प्रबल पिनाक-बिभजन। जग हित जनकसुता मन रजन।
गोकुल पति गिरिधर गुनसागर। गोपी रवन रास रति नागर।
करुनामय कपिकुल हितकारी। बालि बिरोधि कपट मृग हारी।
गुप्त गोप कन्या ब्रत पूरन। द्विज नारी दरसन दुख चूरन।
रावन कुभकरन सिर छेदन। तरुवर सात एक सर भेदन।

---

८३. सा. ३१५२। ८४ सा. १-२६९। ८५ सा. १-२६९।
८६. सा. १-७। ८७ सा १-३। ८८. सा. १-३।
८९. सा. १-३। ९०. सा. १०-१६२। ९१ सा १-१६५।
९२. सा. १-२२। ९३ सा. १-२६९। ९४. सा. २६५१। ९५ सा ४२२६।
९६. सा. १-२२१। ९७. सा. १-२२। ९८. सा. १-३०७। ९९. सा. २-३६।

संख चड चानूर सँहारन। सक्र कहै मम इच्छा कारन।
उत्तर क्रिया गीध की करी। दरसन दै सबरी उद्धरी[१]।

पद के एक चरण मे श्रीराम और दूसरे मे श्रीकृष्ण की स्तुतिवाले ऐसे उदाहरण समस्त भक्ति-साहित्य मे बहुत कम मिलेंगे। दोनो की शक्तियो को भी कवि ने एक ही रूप मे देखा है। सीता जी को जिस प्रकार उन्होने 'जगत जननी[२]' कहा है, उसी प्रकार राधा जी को भी 'सेस महेस गनेस सुकादिक नारदादि की स्वामिनि, जगदीस-पियारी, जगत-जननि, जगरानी' आदि बताया है[३]।

इनके अतिरिक्त अनेक पौराणिक प्रसग भी कवि ने लिखे हैं। गोबर्द्धन-प्रसग मे इद्र की पराजय, बाल-वत्स-हरण प्रसग मे ब्रह्मा का भ्रम, मोहिनी-दर्शन-प्रसग मे महादेव का मोह आदि विषयो के द्वारा कवि अपने आराध्य की सर्वश्रेष्ठता इगित करता है। नारद[४] और वेद[५] उसके आराध्य की स्तुति करके इस पौराणिक विश्वास की पुष्टि करते हैं। कवि उनके विराट् रूप की आरती का वर्णन[६] एव अनन्य भक्ति की महिमा[७], नाम-माहात्म्य[८] और प्रभु की भक्त-वत्सलता[९] का भी गान करता है। गुरु[१०], भक्त[११] और सतसग-महिमा[१२] बताने के साथ साथ गगा या विष्णु-पादोदक[१३] और यमुना[१४] की स्तुतियाँ वह सुनाता है और भागवत्[१५], वाराणसी[१६], मथुरा[१७], वृन्दावन[१८], तथा व्रज[१९] के माहात्म्य का भी वर्णन करता है।

इनके अतिरिक्त 'अछै बृच्छ बट'[२०], चद्रमा को राहु का ग्रसना[२१], पूर्ण चद्रमा को देखकर सागर की तरगों का बढना[२२], चद्रमा के रथो मे मृगो का जुता होता[२३], अमृत का देवेंद्र के पास होना और उसकी वृष्टि से मृतको का जी उठना[२४] आदि प्रसग भी प्राचीन आख्यानो से सबधित हैं जिनमे प्रयुक्त शब्दावली से तत्कालीन हिंदू समाज की, पौराणिक प्रसगो के प्रति, विश्वासमयी निष्ठा का सहज ही परिचय मिल जाता है। हनुमान को 'आकाशवाणी'[२५] और कस को 'अनाहतवानी'[२६] सुनायी देना भी पौराणिक विश्वास का फल कहा जायगा। अष्टसिद्धि[२७], उच्चै स्रवा[२८], (धवल बरन) ऐरावत[२९], कल्पद्रुम[३०], कामधेनु[३१] या सुरधेनु[३२], कौस्तुभ मनि[३३], चिंतामनि[३४], नव निद्धि[३५] आदि के

---

१ सा ९८१। २. सा. ९-६०। ३ सा. १०५५।
४ सा ४३०२। ५ सा. ४३००। ६ सा. २-२८। ७ सा २-९।
८ सा १-८९ और १-२३२। ९ सा १-२६७। १० सा ६-५। ११ सा. ३-१३।
१२ सा २-१७। १३ सा ९-१० और ९-१२। १४. सा. १-२२२ और १-२२३।
१५ सा १-२२७ और १-२३०। १६ सा १-३४०। १७ सा ३०९६ से ९७।
१८ सा २-६। १९ सा. ४९०-४९२ और ३४१६। २० सा. ८५४।
२१ सा ९-७५। २२. सा ९-११६। २३ सा. ३३५७। २४ सा. ९-१६३।
२५ सा ९-७६। २६. सा १०-४। २७ सा ३०९२। २८ सा. ४१६६।
२९ सा ९७६। ३०. सा २८३३। ३१. सा १-१६४। ३२ सा ४८७।
३३ सा ११८०। ३४. सा. १-१६४। ३५. सा. ३०९२।

साथ-साथ किन्नर[३६], गधर्व[३७], विद्याधर[३८] आदि देवजातियाँ भी पौराणिक है। पृथ्वी को कमठ, शेषनाग आदि धारण किये हैं[३९], दिशाओ की रक्षा दिग्गज और दिग्पाल करते हैं[४०]—ये विश्वास भी पौराणिक ही है। श्रीकृष्ण की लीला देखने को देवताओ का उपस्थित होना[४१] और प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य की सिद्धि पर फूल वरसाने लगना[४२]—ऐसे उल्लेखो के मूल मे भी पौराणिक विश्वास ही समझना चाहिए।

ग. धार्मिक विश्वास—धर्मप्राण हिंदू समाज आदि से ही आस्तिक रहा है। ईश्वर के अस्तित्व मे ही नही, उसकी ऐसी दयालुता-उदारता आदि मे भी उसका विश्वास रहा है जिससे प्रेरित होकर वह जीव या प्राणी के वडे से वडे पापो को भुलाकर उसको सहर्ष अपना सकता है और उसकी आतरिक कामना के अनुसार सद्‌गति दे सकता है। यही नही, सारी लौकिक विभूति को, धर्म-भाव रखनेवाला व्यक्ति, अपने आराध्य या कुलदेव की ही देन समझता है। सूरदास ने भारतीय जनता की इस मनोवृत्ति को समझा था। इसलिए उनके सभी पात्र ईश्वर की दयालुता मे विश्वास रखते हैं। गोवर्द्धन-पूजा के पूर्व व्रजवासी सुरपति को ही अपना कुलदेव समझते थे। उनकी पूजा का स्मरण कराती हुई माता यशोदा कहती है कि हमारे यहाँ जो कुछ है, सव कुलदेव की कृपा से ही है—

जाकी कृपा बसत ब्रज भीतर, जाकी दीन्ही भई वडाई।
जाकी कृपा दूध-दधि पूरन, सहस मथानी मथति सदाई।
जाकी कृपा अन्न-धन मेरैं, जाकी कृपा नवौ निधि आई।
जाकी कृपा पुत्र भए मेरैं, कुसल रहौ वलराम कन्हाई[४३]।

किसी भी आशातीत लाभ को हिंदू स्त्रियाँ मानवीय पुरुषार्थ का फल न मानकर, सदय दैव की दया-प्रेरित देन अथवा अपने पुण्यो का फल समझती हैं। यही भाव यशोदा की प्रकृति मे मिलता है जव पुत्र होने पर वह कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करती है—

सत सजम तीरथ-व्रत कीन्हे तव यह सपति पाई[४४]।

लौकिक विभूतियो का योग भी ईश्वर को अर्पण करके ही भोगने का हमारे यहाँ विधान है। इसका निर्वाह कम से कम भोजन के पूर्व भगवान का भोग लगाने मे तो किया ही जाता है। महराने से नद जी के यहाँ आया हुआ पाँडे तो इष्टदेव का ध्यान करके भोग लगाता ही है—

घृत मिष्टान्न खीर मिस्रित करि परसि कृष्न हित ध्यान लगायौ[४५]।

अशोकवाटिका मे हनुमान भी फलो का भोजन करने के पूर्व प्रभु को अर्पण कर देते हैं—

---

३६. सा. ११८० । ३७. सा. ४-५ । ३८. सा. १०-६ । ३९. सा. ९-७६ ।
४०. सा. ५७६ । ४१. सा. ८४१ । ४२. सा. ५७९ और १३९६ ।
४३. सा. ८११ । ४४. सा. १०-१६ । ४५. सा. १०-२४८ ।

मनसा करि प्रभुहि अर्पि भोजन करि डाटे[४६]।

इसी प्रकार दैहिक, दैविक और भौतिक सकटो से उद्धार होने पर भी नद या यशोदा, दोनो अपने पुरुषार्थ का गर्व न करके ईश्वर की कृपा या अपने पूर्व जन्म के पुण्यो का ही स्मरण करते हैं। प्रलबासुर के हाथ से जब कृष्ण बचकर आते हैं, तब यशोदा कहती है —

धर्म सहाई होत है जहँ तहँ, स्रम करि पूरब पुन्य पच्यौ री[४७]।

ऐसे ही नद जब वरुण के यहाँ से बचकर आते है, तब भी यशोदा कहती हैं —

अब तौ कुसल परी पुन्यनि तैं[४८]

जहाँ व्रजवासियो को ईश्वर की कृपा पर विश्वास है, वहाँ कुछ भूल-चूक हो जाने पर वे भयभीत भी हो जाते हैं। यशोदा जब कुल-देवता की पूजा भूल जाती है तब उसके कोप से डरती है और तुरत क्षमा मॉग लेती है—

छमा कीजौ मोहिं, हौं प्रभु तुमहिं गयौ भुलाई[४९]।

नद जब हरि-पूजा करके भोग लगाते हैं और देवता को खाता न देख बालक कृष्ण, इस पर उपहास सा करता हुआ, पूछ बैठता है—

कहत कान्ह, बाबा तुम अरप्यौ, देव नही कछु खाइ[५०]।

तब बालक ने देवता का उपहास किया, इससे भयभीत होकर वे कृष्ण से कहते हैं— हाथ जोडो, जिससे सकुशल रहो—

सूर स्याम देवनि कर जोरहु, कुसल रहै जिहिं गात[५१]।

यो तो 'स्रवन कीरतन सुमिरन पाद-सेवन अरचन ध्यान बदन'[५२] आदि भक्ति के विविध रूपो की चर्चा सूर-काव्य मे है, परन्तु व्रजवासियो का विश्वास पूजा, व्रत, स्नान, दान, तीर्थयात्रा, तप आदि मे विशेष रूप से दिखाया गया है।

अ पूजा—इद्र, गोबर्द्धन, शिव, पार्वती, सूर्य और शालग्राम की पूजा की चर्चा सूर-काव्य मे अनेक पदो मे है। इन्द्र की पूजा का चलन व्रज मे गोबर्द्धन की पूजा के पूर्व बताया गया है। इसके लिए नन्द के यहाँ विशेष आयोजन होता है। चारो ओर मगल-गान हो रहा है। प्रात काल की पूजा के लिए सॉझ से ही भाँति-भाँति के नेवज करके धर दिये गये हैं। इद्र की पूजा के लिए यह सारा भोग है, वह अपवित्र न हो जाय, इस डर से उसे छुआछूत से बचाया जाता है[५३]। बच्चो को इतनी समझ नही होती, वे भोग को कही अपवित्र न कर दें, इसलिए यशोदा सारे नेवज, श्याम से बचाकर, सैंतकर रखती है[५४]।

---

४६. सा ९-९६ । ४७ सा. ६०६ । ४८. सा. ९८५ । ४९. सा. ८१४ । ५० सा १०-२६१ । ५१ सा १०-२६१ । ५२ सा. ९-५ । ५३. सा. ८९१ । ५४. सा. ८९३ ।

गोवर्द्धन-पूजा के लिए सभी घरो मे नाना प्रकार के भोजन बनते है। सबके द्वार पर बधाई बजती है। शकटो मे देव-'बलि' सजाकर सब गोवर्द्धन के पास ले चलते है। दधि-लवनी-मधु-मिठाई-पकवान आदि के इतने प्रकार तैयार किये गये है कि कवि उनका वर्णन नही कर पाता और नन्द के घर से तो सामग्री से भरे सहस्र शकट चलते है[५५]। नियत स्थान पर पहुँच कर विप्र बुलाये जाते है और वे 'जग्यारभ' करते है[५६]। द्विज सामवेद का गान करते हैं। सुरपति की पूजा मेटकर गोवर्द्धन को तिलक लगाया जाता है। पश्चात्, उसे दूध से नहलाकर सब 'देवराज' कहते और माथ नवाते है[५७]। दूध के अनन्तर गगाजल से भी उनको स्नान कराया जाता है। अन्त मे व्रजवासी उनका भोग लगाते हैं। इसी प्रकार ठौर-ठौर पर वेदी रचकर गोवर्द्धन की बहुविधि पूजा की जाती है[५८]।

पति या सौभाग्य की कामना से स्त्रियाँ शिव का पूजन करती हैं। व्रजबालाओ के मन मे भी जब श्रीकृष्ण को पति-रूप मे प्राप्त करने की कामना जन्मती है, तब वे गौरी-पति को पूजती है। वे बडे नेम-धर्म से रहती और अनेक प्रकार से उनकी मनुहारि करती हैं। कमल-पुहुप, मालूर-पत्र-फल तथा नाना सुगधित सुमनो से शिव जी की पूजा का आयोजन किया जाता है[५९]।

'सिव-संकर' जब गोपियो की कामना पूरी करते है और उनकी तपस्या का फल देते है अर्थात् जब कृष्ण उनको पति-रूप मे प्राप्त हो जाते है, तो वे पुहुप-पान, नाना फल, मेवा, आदि अर्पण करके यह कहती हुई उनके पैरो पडती है कि त्रिपुरारी ! तुम्हें धन्य है। तुम्हारी पूजा करते ही हमे 'पूरन' फल प्राप्त हो गया[६०]।

पार्वती की पूजा की चर्चा सूरदास ने रुक्मिणी-विवाह के प्रसंग मे की है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए रुक्मिणी 'गौरि-मदिर' मे पूजा करने जाती है और हाथ जोडकर उन्हें बहु विधि मनाती है[६१]। साथ की सखियाँ धूप-दीप आदि पूजा-सामग्री लेकर आयी हैं। कुँअरि ने गौरी का पूजन करके विनती की—'बर देउ जादवराई' और पूजा का उद्देश्य भी वह बहुत सरल भाव से सुना देती हैं—मैं पूजा कीन्ही इहिं कारन[६२]। उसकी बात सुनकर गौरी मुसकाती है और रुक्मिणी प्रसाद पाकर अबिका-मदिर से बाहर आती है[६३]।

बालक कृष्ण को गोद मे खिलाने का सुख भी माता यशोदा 'शिव-गौरि' की सम्मिलित कृपा से मिला समझती है[६४]।

सूर्य की पूजा का उल्लेख यो तो 'सूरसागर' के कई पदो मे है, परतु उसकी विधि विस्तार से नही दी गयी है। माता यशोदा जब कृष्ण के साथ राधा को पहिली बार देखती है, तब इसका सुदर रूप देखकर सविता से विनती करती है—

---

५५ सा. ९०१ । ५६ सा. ८४१। ५७. सा. ९०६। ५८. सा. ८४१ । ५९. सा. ७६६। ६०. सा. ७९८। ६१. सा. ४१८०। ६२. सा. ४१८९। ६३. सा. ४१८१। ६४. सा. १०-८०।

सूर महरि सविता सो विनवति, भली स्याम की जोरी[६५] ।

हरि को 'भरतार' रूप मे पाने की कामना रखनेवाली गोपियाँ भी रवि से विनय करती हैं[६६] । जब उनकी कामना पूरी हो जाती है, तब वे पुन हाथ जोडकर सूर्य को 'पय-अजलि' देती हैं और स्वीकार करती हैं कि तुम्हारे समान फलदाता कोई नही है[६७] । अशोकवाटिका मे सीता जी के सामने पहुँचकर हनुमान, लक्ष्मण को 'पालागन' कहते हैं । सीता जी तब 'तरनि सम्मुख' होकर ही उनको 'असीस' देती हैं[६८] ।

शालग्राम की पूजा नद जी करते है । यमुना मे स्नान करके, झारी मे यमुना-जल भरकर, कज-सुमन लेकर वे घर आते हैं । पैर धोकर वे मदिर मे जाते हैं । उनका ध्यान प्रभु-पूजा मे ही लगा है । वे स्थल लीपते, पात्र माँजते-धोते और विधिवत् पूजा करते हैं[६९] । घटा बजाकर वे देवमूर्ति को नहलाते, चदन लगाते, पट-अंतर देकर भोग लगाते और आरती करते हैं[७०] ।

आ. व्रत —'चद्रायन' और एकादशी—दो व्रतो की चर्चा सूर ने मुख्य रूप से की है । इनमे से प्रथम का तो केवल नामोल्लेख ही है[७१]; द्वितीय का वर्णन विस्तार से है । अबरीष की कथा को लेकर सूरदास एकादशी के निराहार व्रत पर अधिक जोर देते हैं[७२] । नद जी एकादशी का 'बिधिवत, जल-पान-बिवर्जित निराहार' व्रत करते हैं । अपना मन वे सब ओर से हटाकर केवल नारायण मे लगाते हैं । दिन इस प्रकार ध्यान करते बीतता है, रात मे वे जागरण करते हैं । देव-मदिर पाटबर से छाया जाता है, पुहुपमालाओ की 'मडली' बनायी जाती है । चदन से स्थान लीपकर और चौक पूरकर वे शालग्राम को बैठाते है । पश्चात् धूप-दीप-नैवेद्य चढ़ाकर वे आरती करते और माथ नवाते हैं । रात का तीसरा पहर इस प्रकार बिताकर वे महरि से पारण की विधि करने को कहते है । तब वे धोती-झारी लेकर जमुना-तट जाते हैं । वहाँ वे झारी भरकर 'देह-क्रुत' करते, माटी से कर-चरन पखारते, उत्तम विधि से मुखारी करते और तब स्नान के लिए जल मे उतरते है[७३] । आगे नद जी का वरुण के दूतो द्वारा पकड़ा जाना और श्रीकृष्ण द्वारा मुक्त होना वर्णित है । अत मे कवि कहता है—

जो या पद कौ सुनै सुनावै । एकादसि ब्रत कौ फल पावै[७४] ।

इ स्नान —शारीरिक स्वच्छता की दृष्टि से स्नान को भी हमारे यहाँ धर्म का एक अग माना गया है । विशेष स्थानो और अवसरो पर स्नान का विशेष महत्व भी सूरदास ने बताया है । गगा मे स्नान का माहात्म्य बताते हुए कवि कहता है—

गग प्रवाह माहिं जो न्हाइ । सो पवित्र ह्वै हरिपुर जाइ[७५] ।

इसी प्रकार सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र-स्नान का महत्व बताते हुए श्रीकृष्ण यादवो से कहते हैं—

---

६५ सा ७०२ । ६६. सा. ७६७-६८ । ६७ सा ७९८ । ६८. सा. ९-८७ । ६९. सा. १०-२६० । ७० सा १०-२६१ । ७१ सा. २-३ । ७२ सा ९-५ । ७३. सा. ९८३ । ७४. सा. ९८४ । ७५. सा ९-९ ।

बड़ौ परब रबि ग्रहन कहा कहौं तासु बडाई।
चलौ सकल कुरुखेत, तहाँ मिलि न्हैयै जाई[७६]।

गगा, यमुना, सिधु, सरस्वती, गोदावरी आदि नदियो मे स्नान की विशेष महिमा है; परतु सूरदास की सम्मति मे ये सब नदियाँ वहाँ आ जाती है, जहाँ हरि-कथा होती है[७७]।

ई. दान—दान के विविध रूपो का वर्णन 'सूरसागर' मे है। आनंदोत्सवो के दान की चर्चा तो आगे की जायगी, यहाँ विपत्ति से छुटकारा पाने पर कृतज्ञता-स्वरूप दिये गये दान का एक उदाहरण दिया जाता है। यमुना मे स्नान करते समय नद जी को वरुण के दूत पकड ले जाते हैं। श्रीकृष्ण वहाँ से उन्हे छुडा लाते है। तब यशोदा कहती है—

अब तौ कुसल परी पुन्यनि तै, द्विजनि करौ कछु दान[७८]।

उ. तीर्थयात्रा—कुरुक्षेत्र[७९], केदार[८०], गया[८१], नीमसार[८२], बनारस[८३], बारानसी[८४], बेनी[८५] आदि तीर्थ-स्थानो की चर्चा सूरदास ने की है। और ब्रज को तो परम तीर्थ उन्होने माना ही है जिसकी परिक्रमा करने का आदेश श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा को दिया है—

ब्रज परिकर्मा करहु देह कौ पाप नसावहु[८६]।

परन्तु सूरदास की दृष्टि मे तीर्थों मे स्नान आदि का महत्व गोपाल की लीला का गान करने के सामने कुछ नही है—

जो सुख होत गुपालहिं गाऐ
सो सुख होत न जप तप कीन्है, कोटिक तीरथ न्हाए[८७]।

इसी प्रकार सामान्य व्यक्ति की दृष्टि मे तीर्थ-यात्रा का जो कुछ भी महत्व हो, भक्त कवि सूरदास की सम्मति मे तो जहाँ हरि-कथा हो, वहीं सब तीर्थ होते हैं—

सर्व तीर्थ कौ वासा तहाँ। सूर हरि कथा होवै जहाँ[८८]।

ऊ तप—श्रीकृष्ण को पति-रूप मे प्राप्त करने की कामना रखनेवाली गोपियाँ नियमादि की साधना करती और सयमित जीवन बिताती है। उनका 'तप' छहो ऋतुओ मे चलता रहता है वे न 'सीत से भीति' करती है और न उन्हे भूख-प्यास की ही चिंता है। गेह-नेह सबको बिसारकर निरतर तप मे लगे रहने से वे बहुत 'कृस' हो जाती हैं[८९]। छहो ऋतुओ मे वे 'त्रिविध काल' स्नान करती है, नेम से रहती है और 'चतुर्दस निसि' भोग रहित रहकर जागती हैं। मनसा, वाचा और कर्म से वे श्याम का ही ध्यान करती है[९०]।

---

७६ सा. ४२७५। ७७. सा. १ २२४। ७८ सा. ९८५।
७९. सा. ४२७५। ८०. सा. २-३। ८१ सा. २-३।
८२ सा. १-२२८। ८३. सा २-३। ८४. सा १-४०३। ८५. सा २-३।
८६. सा. ४९२। ८७. सा. २-६। ८८. सा. १-२२४। ८९ सा. ७६७।
९०. सा. ७८२।

ए. अन्य—उक्त विषयो के अतिरिक्त समस्त मगलकार्यों में कुलदेव अथवा प्रमुख देवी-देवताओ का स्मरण भी व्रजवासियो की धर्म-भावना का ही द्योतक है। यहाँ तक कि 'सोहिलो' के प्रथम चरण में ही गोरी, गनेस्वर और देवी सारदा से बिनती की जाती है[११]। 'सराध' को भी एक धर्म-कर्म माना गया है जिसके न करने से धर्म की हानि होती है[१२]।

घ सामान्य विश्वास—जन-मनोवृत्ति के पारखी सूरदास ने अपने समकालीन समाज के अनेक ऐसे विश्वासों का उल्लेख अपने काव्य मे किया है जो आज भी साधारणत. मान्य हैं। ऐसे विश्वासो को शकुन-अशकुन, स्वप्न, कवि-प्रसिद्धि और अन्य विश्वास—इन चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

अ शकुन-अशकुन—साहित्य मे शकुन का वर्णन मुख्यत शुभ सूचनाओ का पूर्वाभास कराने के उद्देश्य से होता है। किसी शुभ सवाद के ज्ञात होने के पूर्व शकुनो से पाठक की उत्सुकता बढती है। सूर-काव्य मे भी शकुनो का उल्लेख इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए हुआ है। कौए का बोलना, मृगमाला का दाहिनी ओर दिखायी देना, पुरुषो के दाहने और स्त्रियो के बायें अग फकडना आदि शकुनो की चर्चा सूर-काव्य मे की गयी है।

'सूरसागर' के नवें स्कध मे अशोकवाटिका मे बैठी सीता जी जब पति और देवर के लिए चिंतित हो रही हैं, तभी उनके 'नयन-उर' फडकने लगे और 'सगुन जनायो अग'। इससे उन्हे विश्वास हो जाता है—

आज लहौं रघुनाथ-सँदेसौ, मिटै बिरह-दुख संग[१३]।

और तभी हनुमान वहाँ प्रकट होकर सीता जी को पति और देवर का कुशल-समाचार एव सदेश देते हैं।

वनवास की अवधि समाप्त होने पर माता कौशल्या जब पुत्रों से मिलने के लिए 'सगुनौती' करती हैं, तभी 'सुकाग' उडकर 'हरी डार' पर बैठ जाता है। माता आश्वस्त हो जाती है और अचल मे गाँठ देकर प्रसन्न हृदय से कौए को 'दधि-ओदन' देने और उसकी चोच तथा पखो को सोने के पानी से मढाने की बात कहती है[१४]।

एक विरहणी गोपी के आँगन मे कौए को बोलता सुनकर दूसरी उसे सात्वना देती है—

तेरै आवैंगे आजु सखी, हरि खेलन कौं फागु री।
सगुन सँदेसौ हौं सुन्यौ, तेरै आँगन बोलै काग री[१५]।

कस ने सुफलक-सुत अक्रूर को यह आदेश देकर गोकुल भेजा कि जाकर बलराम और कृष्ण को मथुरा लिवा लाओ। चित्त मे बहुत दुखी होते, कस को भरपेट कोसते और दोनो भाइयो की खैर मनाते हुए अक्रूर गोकुल की ओर चले[१६]। रथ हाँकते ही उन्हें

---

११ सा, १०-४०। १२ सा १-२९०। १३ सा. ९-८३। १४. सा. ९-१६४।
१५. सा. २८५९। १६. सा. २९४३।

दाहिनी ओर 'मृगमाला' के दर्शन हुए। इस शुभ शकुन से वे अत्यंत प्रसन्न और पूर्ण आश्वस्त हो गये—

दाहिनैं देखियत मृग-माल।
मानौ इहिं सकुन अबहिं इहिं बन आजु, इनहिं भुजनि भरि भेटौ गोगोपाल[१७]।

श्रीकृष्ण के कहने से व्रजवासियो को धैर्य देने के लिए उद्धव गोकुल जाते हैं। अभी वे मधुवन से चले ही हैं कि गोपियो को इसका आभास हो जाता है और इसका कारण हैं दो शकुन। पहला, उनके कान के पास आकर एक भौंरा बार-बार गूंजता या गाता है। दूसरा, छत पर बैठे हुए कौओ को जब वे, 'हरि आ रहे हैं?' कहकर उडाती हैं. तब तो वे उडते नही, परतु जब 'हरि का समाचार मिलेगा'? कहकर उडाती हैं, तब वे तुरत उड जाते है। इससे वे निष्कर्ष निकालती हैं—

सखी परस्पर यह कही बातैं, आजु स्याम कै आवत हैं।
किधौं सूर कोऊ व्रज पठयौ, आजु खबरि कै पावत है[१८]।
+ + +
इनि सगुननि कौ यहै भरोसौ, नैननि दरस दिखावै[१९]।
+ + +
आजु कोउ नीकी बात सुनावै।
कै मधुबन तैं नद-लाडिलौ, कैऽब दूत कोउ आवै[१]।

कुरुक्षेत्र तीर्थ मे ग्रहण-स्नान के लिए पहुँचकर श्रीकृष्ण जब व्रजवासियो को भी वही बुला लाने को दूत भेजते हैं, तब गोपियो को अनेक शकुन होते है, जैसे— वायस का गहगहाकर पूर्व दिसि मे बोलना, कुच-भुज-नैन-अधर फडकना और बिना बात के अचल-ध्वज का डोलना'। इन सब शकुनो का फल सुनाती हुई सखी कहती है—

आजु मिलावा होइ स्याम कौ, मानौ सुनि सखी राधिका भोली।
+ + +
सोच निवारि करौ मन आनँद, मानौ भाग दसा विधि खोली[२]।

वर्षों के बिछुडे मित्र श्रीकृष्ण से मिलने को जाते हुए सुदामा जी मार्ग मे चिंतित हैं कि वे मिलेंगे या नही और मिलेंगे तो कैसे, तभी भले सुगुन' होते है और द्वारका पहुँचते ही वे हरि को दरसन' पा लेते हैं[३]।

किसी अनिष्ट की प्रत्यक्ष सूचना मिलने के पूर्व अशकुनो द्वारा उसका आभास कराया जाता है। ऐसा करने से यद्यपि अशुभ सवाद से मिलनेवाला दुख किसी प्रकार कम नही होता, तथापि ये अशकुन उसको सहन करने के लिए कुछ कुछ वातावरण

---

१७. सा. २९४६। १८ सा. ३४५३। १९. सा. ३४५४।
१. सा. ३४५५। २ सा. ४२७६। ३. सा. ४२२७।

तो तैयार कर ही देते हैं। सूरदास की अशकुन-योजना का भी यही उद्देश्य निम्नलिखित उदाहरणो से स्पष्ट होता है।

काली दह के फूल मँगवाने के लिए कस एक दूत नद जी के पास भेजता है और कहला देता है, 'फल न भेजने पर व्रज को उजाड दूँगा'[४]। स्थिति भयानक है, क्योकि यह सर्वविदित है कि फूल लेने जानेवाला वहाँ से जीवित नही लौट सकता और यदि फूल न भेजे गये तो कस न जाने क्या कुदशा कर डालेगा। इसीलिए दूत के वृ दावन पहुँचने के पूर्व ही नद जी को एक अशकुन द्वारा परोक्ष सूचना मिल जाती है कि कोई भयानक विपत्ति आनेवाली है—

महर पैंठत सदन भीतर, छीक बाई धार।
सूर नद कहत महरि सौं, आजु कहा बिचार[५]।

काली दह के फूलो के लिए पिता को चिंतित देखकर कृष्ण वहाँ जाने का निश्चय करते है और श्रीदामा की गेंद लाने के बहाने दह मे भहराकर कूद पडते हैं[६]। साधारण व्यक्ति उस दह से बचकर नही आ सकता, इस कारण कृष्ण के जीवन के लिए आशकित होकर सब सखा हाय हाय कर रोने लगते हैं। तभी निम्नलिखित अशकुन माता यशोदा को इस दुर्घटना की पूर्व सूचना-सी दे देते हैं—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छीकी।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढी, बात नही कछु ठीकी।
आइ अजिर निकसी नँदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।
मजारी आगैं ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन आई।
ब्याकुल भई, निकसि गई बाहिर, कहँ धौं गए कन्हाई।
बाएँ काग, दाहिनै खर-स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई[७]।

नद जी इस समय बाहर थे। उन्होने ज्यो ही घर मे पैर रखा त्योही उन्हे भी अनेक अशकुनो ने चिंतित कर दिया—

देखे नद चले घर आवत।
पैंठत पौरि छीक भई बाएँ, दाहिनैं धाह सुनावत।
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उडान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई[८]।

महाभारत के अत मे द्वारका जाने पर अर्जुन को कृष्ण-सहित समस्त यादवो के क्षय होने की सूचना मिलती है। यह दारुण समाचार सुनकर वे पछाड खाकर गिर पडते हैं। दारुक के बहुत समझाने-बुझाने पर और श्रीकृष्ण का सदेस सुनाने पर अर्जुन अपने साथ अनाथ यादव नर-नारियो को लेकर लौटते हैं। मार्ग मे भीलो से लडाई होती

---

४ सा ५२६। ५ सा. २४ ६. सा ५३९ ७. सा. ५४०। ८ सा ५४१।

है और वे खूब लूट-मार करते है। युधिष्ठिर आदि तक ये सब कुसवाद नही पहुँचे है, परतु निम्नलिखित अशकुन किसी अनिष्टकारी दुर्घटना की आशका से उन्हे चिंतित कर देते हैं—

रोवै बृषभ, तुरग अरु नाग। स्यार द्यौस, निसि बोलै काग।
कंपै भुव, वर्षा नहिं होइ। भयौ सोच नृप-चित यह जोइ[९]।

इ. **स्वप्न**—सूरदास का समकालीन जन-समाज स्वप्नो को भी सर्वथा असत्य या निरर्थक नही समझता। अशोकवाटिका मे सीता जी बहुत दुखी हो रही है तथा हरण की घडी से अब तक पति और देवर की कोई सूचना न मिलने से बहुत चिंतित हैं, तभी त्रिजटा आकर रावण की दुर्दशा के उस दृश्य का वर्णन करती है, जो उसने स्वप्न मे देखा था। अत मे वह बडे विश्वास के साथ कहती है—

या सपने कौ भाव सिया, सुनि कबहुँ बिफल नहि जाइ[१०]।

स्वप्न द्वारा भावी कार्यों की सूचना से सबधित पात्र सकेतित या सभावित घटना के विषय मे कुछ देर सोचने के लिए विवश हो जाते है। आगे चलकर जब वह दृश्य सत्य या प्रत्यक्ष हो जाता है, तब पात्र-पात्री को पूर्व 'स्वप्न' का तुरत स्मरण हो आता है। कालीदह मे कूदने के पूर्व श्रीकृष्ण सोते से झझक पडते हैं और पूछने पर माता से कहते हैं—

सपनैं कूदि परयौ जमुना दह, काहूँ दियौ गिराइ[११]।

दूसरे दिन जब वे सत्य ही कालीदह मे कूद पडते है और रोते-पीटते हुए सखा आकर इसकी सूचना देते हैं, तब माता कहती है—

सपनौ परगट कियौ कन्हाई।
सोवत ही निसि आजु डराने, हमसौं कहि यह बात सुनाई[१२]।

स्वप्न मे यदि कोई देवता कुछ करने का आदेश दे तो साधाणत धर्मभीरु समाज उसके अनुसार काम अवश्य करता है। इद्र की पूजा के आयोजन की सूचना जब सात बरस के बालक कृष्ण को मिलती है, तब वह पिता नद तथा अन्य उपस्थित गोपो से स्वप्न मे 'गोवर्धनराज' के दर्शन होने और उनकी पूजा का आदेश दिये जाने की बात कहता है। यह सुनकर समस्त गोप इद्र की पूजा छोडकर गोवर्धन पूजने को तैयार हो जाते है।

सूर-काव्य मे उन्ही स्वप्नो को सत्य होता दिखाया गया है जो अकस्मात् उस व्यक्ति के सबंध मे दिखायी देते हैं जिसका उस दिन जरा भी ध्यान न हो। इसके विपरीत, कारण-विशेष से जिस सबधी या प्रिय व्यक्ति का निरन्तर ध्यान किया जा रहा हो, वह यदि स्वप्न मे दिखायी दे, तब सबधित दृश्य या घटना के सत्य होने की संभावना पर किसी को विश्वास नही होता। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर दिन-रात उनका ध्यान

९. सा. १-२८६। १०. सा. ९-८३। ११. सा. ५१७। १२. सा. ५४४।

करनेवाली वियोगिनी गोपियो को पहले तो नीद ही नही आती कि स्वप्न दिखायी दें, पर यदि जरा देर को वे सो जाती हैं और प्रियतम के मिलन का कोई दृश्य उन्हे दिखायी देता है तब कभी तो कोयल कूक कर उन्हे जगा देती है[१३], कभी वे स्वय चौंककर उठ बैठती हैं[१४] और कभी स्वप्न मे प्रिय-सयोग-सुख से पुलकित होने के कारण जाग जाती हैं। ऐसे अवसरो पर वियोग-जन्य वास्तविक स्थिति उन्हे और भी विकल कर देती है[१५]।

ई कवि-प्रसिद्धि—कुछ बातें समाज मे ऐसी प्रचलित होती हैं जिनकी सत्यता-असत्यता की परख करने की आवश्यकता न समझकर कवि-वर्ग उनको ज्यो का त्यो स्वीकार कर लेता है। सूर-काव्य मे ऐसी जो कवि-प्रसिद्धियाँ मिलती हैं, उनमे चकवा चकवी या चकई का सरोवर या जलाशय के निकट रहना और रात मे दोनो का वियोग हो जाना[१६], चकोर[१७] या चकोरी[१८] का चद्रमा की ओर देखना अर्थात् चद्रिका का पान करना, चातक या चातकी का बरषा (स्वाती) जल के लिए प्यासा होना[१९], हस का मुक्ताफल-भोगी होना[२०] आदि मुख्य हैं। इसी प्रकार युद्ध मे वीरता से लडकर मरने-वाले वीरो का सूर्यलोक होते हुए स्वर्ग जाना भी कवि-वर्ग मे प्रसिद्ध रहा है—

सुभट मरैं तौ मडल भेदि भानु कौ, सुरपुर जाइ बसावैं[२१]।

उ. कुछ अन्य विश्वास—सूर-काव्य मे जन-समाज, विशेषत स्त्री-समाज, के कुछ ऐसे विश्वासो की भी चर्चा है, जो आज भी सर्वथा लुप्त नही हुए हैं। इनमे से मुख्य मुख्य ही यहाँ सकलित हैं।

बच्चे के ऊपर रुपया, पैसा, गहना आदि निछावर करने के मूल मे स्त्रियो का यह विश्वास है कि इससे बच्चे के भावी रोग-धोग और कष्ट-सकट दूर हो जाते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण की तृणावर्त से रक्षा होने पर जब गोपियाँ 'अभूषन वारि वारि'[२२] देती हैं, तब उनके हृदय मे उक्त भाव ही हिलोरें लेता है।

बच्चे के ऊपर से 'पानी उतार कर पीने' के मूल मे भी ऐसा ही विश्वास है कि इससे उसकी विपित्त टल जाती है। कभी कभी दैवी एव मानवीय आपत्तियो से रक्षा होने पर भी ऐसा किया जाता है। तृणावर्त से बालक कृष्ण की रक्षा होने पर 'पीवति सूर वारि सब (= गोपियाँ) पानी'[२३]।

विशेप अवसरो पर पुत्र के सकट अपने ऊपर ले लेने की कामना रखनेवाली माता भी ऐसा ही करती है। असाधारण सुदरी रुक्मिणी से जब श्रीकृष्ण का विवाह होता है, तब उनकी मनोहर जोडी देखकर माता देवकी 'वारकर पानी पीती और असीस देती' है —

देवकी पियौ वारि पानी, दै असीस निहारती[२४]।

---

१३ सा ३२५९। १४. सा ३२६२ और ३२६५। १५. सा ३२६०-६१। १६ सा १-३३७। १७ सा १-२९९। १८ सा १-१६९। १९. सा ४१८४। २० सा ३५२९। २१ सा ९-१५२। २२ सा १०-७८। २३. सा. १०-७८। २४ सा. ४१८६।

बच्चा जब कोई असभावित या अद्भुत कार्य कर देता है, तब माता-पिता तथा अन्य गुरुजन आशकित होकर उस पर किसी अपदेवता की छाया मान लेते हैं और सयानो' से 'हाथ दिलाते' घूमते है जिससे वह पुन सामान्य स्थिति मे आ जाय। बालक कृष्ण के मुख मे तीनो लोको को और पुत्र के साथ साथ अपने को भी देखकर माता यशोदा बहुत चकित और आशकित होकर घर-घर 'हाथ दिलाती' घूमती है—

घर घर हाथ दिवावति डोलति, बाँधति गरै बघनियाँ[२५]।

बालक कृष्ण जब कुछ अनमना हो जाता है, तब माता यशोदा यह समझ कर कि कही 'नजर' न लग गयी हो, पागल-सी उसे गोद मे लिये 'घर घर हाथ दिवावति' डोलती है[२६]। इसी प्रकार 'नजर' का प्रभाव दूर करने के लिए कभी तो 'राई-लोन' उतारती है[२७] और कभी 'मत्र पढकर' पानी देती है[२८]। राधा को अनमनी देखकर वृषभानु की घरनी भी 'टटकी नजरि' लगने की शका करती है[२९]। जब पता लगता है कि राधा को 'काले ने खाया' है, और बडे बडे 'गारुडी' 'जत्र-मत्र' करके भी उसे जिला नही सके, तब कृष्ण एक 'मत्र' से विषहर का विष दूर करने जाते है[३०]।

बच्चे को अच्छे वस्त्राभूषण पहनाने पर भी 'राई-लोन' उतार दिया जाता है जिससे उसे किसी की नजर न लग जाय। माता यशोदा भी ऐसा ही करती है—

कबहुँ अंग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि[३१]।

अच्छे घराने के बच्चे यदि किसी बाहरी व्यक्ति के सामने अच्छा खाते-पीते हो और वह टोक दे अथवा ललचायी दृष्टि से देख भर ले, तब भी बच्चो को दीठि या नजर लग जाने का डर रहता है। इसीलिए यशोदा कहती हैं—

बाहर जनि कबहुँ कुछ खैयै, दीठि लगैगी काहु[३२]।

ङ. पर्वोत्सव—भारतीय जीवन मे पर्वोत्सवो की अधिकता इस बात की द्योतक है कि वे केवल परलोक की ही चिन्ता नही करते थे, इहलोक के भी सुख भोगना जानते थे। सूरदास के समय मे जीवन को आनदमय बनाने के उद्देश्य से, भगवान की लीला के बहाने, अनेक प्रकार के उत्सवो की योजना की जाती थी। उनके काव्य मे दीपमालिका, होली आदि पर्वो तथा रास, हिंडोरा, फुलमडली, डोल आदि उत्सवो का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। यद्यपि रास-लीला जैसे आयोजनो के मूल मे आध्यात्मिक भाव भी रहा है, परतु सामान्य जनता उतनी गहराई मे न जाकर राम-लीला के ढग पर 'रास' जैसी कृष्ण-लीलाएँ करके उत्साह के साथ उनमे आज भी भाग लेती है। सूरदास ने इन पर्वोत्सवो के लिए जिन-जिन वस्तुओ को आवश्यक समझा है, उनकी सूची और जिस ढंग से उसका आयोजन किया जाता है, उसकी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट है।

---

२५. सा. १०-८३। २६. सा १० २५८। २७. सा. ५४४। २८. सा १०-२५८। २९ सा. ७५२। ३०. सा. ७५८। ३१. सा. १०-११८। ३२. सा. १८७।

अ पर्व—'दीपमालिका' और 'होली', दो पर्वो का वर्णन सूरदास ने विशेष रूप से किया है। दीपमालिका के साथ 'अन्नकूट' या 'गोवर्द्धन-पूजा' भी होती है जिसका सक्षिप्त वर्णन पीछे हो चुका है। मुख्य दिवस दीपमालिका का ही होता है जिसकी दीप्ति सूरदास ने 'कोटि रवि-चद्र के समान' बतायी है। सब घरो के झरोखो आदि मे मणि-मुक्ताओ की झालरें लटक रही हैं। गजमोतियो के चौक पुराये गये हैं जिनके बीच-बीच मे लाल 'प्रबालिका' हैं। व्रज बालिकाओ के साथ राधा जी समस्त शृगार करके कचन थालियो मे झलमल दीप और अन्य सामग्री लेकर, 'करतालिका' पटक पटक कर गाती-गवाती, हँसती-हँसाती, नद जी के द्वार पर पहुँचती हैं[३३]। बलराम और मोहन पिश्ता, दाख, बादाम, छुहारा, खुरमा, खाझा, गूझा मटरी आदि मेवा, मिठाई और पकवान लिये बैठे हैं तथा नाम ले लेकर वे प्रत्येक गोपी-ग्वाल को दे रहे हैं[३४]। 'सरद कुहू निसा' के इस पर्व पर सब आनदित हैं, घर-घर मे थापें दी जा रही हैं और मगलचार हो रहे हैं[३५]।

होली का उत्सव, सूरदास के अनुसार, सरस वसत ऋतु की प्रथम पचमी से ही आरभ हो जाता है। कुमारी राधिका अपनी सखियो के साथ 'छरी' लेकर कमलनयन श्रीकृष्ण और उनके सखाओ पर दौडती है। 'चोवा-चदन-अगर-कुमकुमा' आदि से सुगधित रग पिचकारियो मे भर भरकर छिडका जा रहा है, गुलाल अबीर उडाया जा रहा है, 'ताल-मृदग-बीना-बाँसुरी-डफ' आदि बज रहे हैं। झुम-झूमकर युवक-युवतियाँ, सब 'झूमक' गा रहे हैं और 'तरुनी बाल सयानी', सब गालियाँ भी गा रही हैं[३६]। अवसर पाकर श्याम, राधा पर 'गेंदुक' चलाते हैं, परतु वह मुख पर पट देकर बचा जाती है[३७]। कचन के माट और 'कमोर' सुगधित रगो से भरकर कभी कृष्ण 'बृषभानु की पौरि' जाते हैं[३८] और कभी 'व्रज की बीथिनि बीथिनि' में 'नील-अरुन-सित-पीत' वस्त्र पहने, हो हो करते डोलते हैं[३९]।

होली खेलनेवालो की बारात' का वर्णन भी सूरदास ने किया है जिसमे अनेक खिलाडी 'खरो' पर भी सवार हैं[४०]। गुलाल इतना उडाया जाता है कि 'बादर' लाल हो गये है और 'सिगरे अटा-अटारी' रँग जाते हैं। गालियाँ भी गायी जाती हैं जिनमे नद महर तक का बखान कर दिया जाता है[४१]। उत्तर में गोप भी 'बरसाने' का नाम लेकर 'गारी' देते-दिवाने है[४२]। फाग खेलकर सब 'फगुआ' की माँग करते हैं[४३]। माता यशोदा सब बालाओ को रग-रग की 'पहिरावनि'[४४] तथा मेवा, मिश्री, अनेक रत्न[४५] आदि देती हैं। श्रीकृष्ण भी अपने सखाओ को उनकी इच्छानुसार 'फगुआ' देते हैं[४६]। अत मे सब यमुना मे स्नान करने जाते हैं[४७]। पश्चात्, सब 'सेत-अरुन कोरे

३३. सा ८०९। ३४ सा ८१०। ३५ सा. ८४१।
३६ सा २८५४। ३७ सा. २८५६। ३८ सा २८६६।
३९. सा. २८६९। ४०. सा. २९१४। ४१ सा. २८७८।
४२ सा २८९५। ४३. सा २८९७। ४४. सा २८९९।
४५ सा २९१५। ४६. सा. २९१६। ४७. सा. २९०१।

पाटवर' पहनते और आभूषण धारण करते हैं। द्विजगण दूव-दधि लेकर 'रोचन-रोरी' का तिलक करते है और श्याम 'कचन की बोरी' विप्र और बदीजन को देते है[४८]।

आ. उत्सव—रास, हिंडोरा, फूलमडली और डोल—इन चार उत्सवो का सूरदास ने विशेष रूप के वर्णन किया है। 'सरद निसि' को वृन्दा विपिन मे 'जमुना पुलिन' पर रास आरभ होता है। 'स्याम स्यामा' तथा अन्य व्रज-वालाएँ आदि सभी प्रकार के सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर नृत्य करते हैं[४९]। प्रात काल 'रास रस से स्रमित' श्रीकृष्ण के साथ समस्त गोपियाँ यमुना मे जल-विहार का आनन्द लेती हैं[५०]।

'हिंडोरा' वर्षा ऋतु का उत्सव है। विसकरमा' को बुलाकर हिंडोरना' गढाया जाता है, कचन के खभ हैं, 'मरुव-मयारि' चाँदी की है[५१]।' हिंडोरने मे विद्रुम मुक्ता आदि लटक रहे है[५२]। बैठने के लिए रत्नजटित पटुलियाँ है जिनमे बीच बीच मे विद्रुम, हीरा, लाल आदि जडे हुए हैं। हिंडोरने से मोतियो की झालरें भी लटक रही हैं[५३]। गोप-बालाएँ सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके झुड के झुड झूलने आ जाती हैं[५४]। सखियो मे कोई तो 'झोटा'[५५] देकर झुलाती है, कोई गाती है, कोई सग 'मचती' है, कोई 'मचने' को कहती है, कोई डरती और हा हा करके विनय करती है कोई प्रिय की भुजा पकडकर हिंडोरे से उतार देने को कहती है[५६]। इसी प्रकार गोपी झुलाती हैं और बनवारी गाते हैं[५७]।

'रास' और 'हिंडोरे' का वर्णन तो सूरदास ने विस्तार से किया है, परतु 'फूल' या 'फूलमंडली' और 'डोल' का वर्णन बहुत सक्षेप मे है। 'फूलमंडली' ग्रीष्म का उत्सव है। फूली हुई फुलवारियो मे, सुगधित पुष्पो के बीच आनंद मनाया जाता है। सूरदास ने भी फूलो के फूले हुए कुजो मे, फूलो का महल बनाकर, फूलो की सेज बिछाकर, हर्ष से फूले दपति का 'मगन' होकर विहार करना बताया है[५८]।

डोल' का उत्सव वसत ऋतु मे मनाया जाता है। गोकुलनाथ वृषभानुनदिनी के साथ 'डोल' मे विराजते हैं। सबके वस्त्राभूषण आदि वैसे ही है जैसे 'हिंडोरे' के उत्सव मे वे धारण करते हैं। प्रिय के साथ सब व्रज-सुदरियाँ खेलती हैं, हँसती हैं, गाती हैं और परस्पर मीठे स्वर मे संलाप करती हैं[५९]।

च सस्कार—सूरदास ने अपने काव्य मे मुख्य रूप से नौ सस्कारो—पुत्र-जन्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन, यज्ञोपवीत, विवाह और अन्त्येष्टि—का वर्णन किया है।

अ पुत्रजन्म—राम और कृष्ण, दोनो के जन्म-सस्कारो का वर्णन सूरदास ने किया है—प्रथम का सक्षेप मे और द्वितीय का विस्तार से। राम के जन्म पर सखियाँ

---

४८. सा. २९०८। ४९. सा. ११४८। ५० सा ११५७।
५१ सा. २८३०। ५२. सा. २८३१। ५३. सा. २८३२।
५४. सा. २८३०। ५५. सा. २८३३। ५६. सा. २८३४। ५७. सा २८३५।
५८. सा. २४५६। ५९. सा. २९१९।

मगल गाती हैं, ऋषि अभिषेक कराते हैं और आँगन मे 'सामवेद-धुनि' छा जाती है। महाराज के यहाँ पुत्र जन्म हुआ है, इसलिए अधीनस्थ शासको के यहाँ से 'टीका' आने का भी उल्लेख मिलता है—

रघुकुल प्रगटे हैं रघुबीर।
देस देस तै टीकौ आयौ, रतन कनक मनि हीर[६०]।

अयोध्या के घर घर मे मगल-बधाई होती है। 'मगध बदी सूत' के लिए 'गो गयद हय चीर' लुटाये जाते हैं[६१]। राजा ने दान देते समय 'महा बडे नग हीर' भी नही बचाये अर्थात् सर्वस्व लुटा दिया[६२]।

कृष्ण का जन्मोत्सव-वर्णन अपेक्षाकृत विस्तार से है। आरभ मे 'नार' छेदने की चर्चा है। 'मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ' लेकर भी 'दाई' झगडा करती है[६३]। 'कचन के अभरन', 'मोतिनि थार भरे'[६४] और 'हार-रतन' पाकर ही वह सतुष्ट होती है। तब वह 'नार' छेदकर बधाई देती है[६५]। ताल-मृदग[६६], 'पनब-निसान-रुज-मुरज सहनाई'[६७], 'डफ-झांझ-भेरि-पटह'[६८] आदि बजते हैं। बारिनि बदनवार बाँधती है[६९]। कचन कलश सजाये जाते[७०] हैं। चदन से 'चौक' लीपा जाता है, आरती सँजोकर धरी जाती है। सात सीको से 'सथिया' बनाया जाता है[७१]।

ऋषिगण 'अच्छत-दूब' लिये द्वार पर खडे हैं। गोकुलवासियो मे कुछ तो परस्पर 'हरद दही'[७२] और कुछ 'चोवा-चदन-अबिर' छिडकते हैं[७३]। कुछ सिर पर 'दधि-दूब' धरते हैं[७४] और 'बृद्ध तरुन बाल' सब नाचते हैं। सबने गोरस की कीच मचा रखी है। गोकुल की सारी भूमि लुटाये गये रत्नो से छा गयी है[७५]। स्त्रियाँ समस्त सुदर वस्त्राभूषण धारण करके 'कचन थाल' मे 'दूब-दधि रोचन' लेकर 'बधाई' गाती हुई नद जी के घर जाती हैं[७६]। वहाँ दस-पाँच सखियाँ मिलकर 'मगलगीत' गाती और उत्सव मनाती है[७७]।

नदजी स्नान करके 'कुश' हाथ मे लेकर[७८], सभा के बीच मे सिर पर दूब' धरकर बैठते हैं[७९]। 'नादीमुख' श्राद्ध करके वे 'पितरो' को पूजते और सतुष्ट करते हैं। फिर चदन से विप्रो का तिलक करते है, वस्त्राभूषण पहना कर सबके 'पैर पडते' हैं। ताँबे से खुर, चाँदी से पीठ और सोने से सीग मढी हुई अनगिनती गैयाँ उन्होने ब्राह्मणो को दान मे दी है। पश्चात् इष्ट-मित्र-वधुओ के माथे पर मृगमद मलय कपूर का उन्होने तिलक किया, सबको मणि-मालाएँ पहनायी और वस्त्रादि देकर सतुष्ट किया। कुल-

---

६०. सा ९ १८। ६१. सा ९-१८। ६२ सा ९-१६।
६३. सा. १०-१५। ६४ सा १० १६ व १६-१०। ६५ सा. १०-१८।
६६. सा १०-१९। ६७ सा १०-२२। ६८ सा. १०-२४। ६९ सा १०-१९।
७०. सा १०-२४। ७१. सा १०-२६। ७२ सा १०-१९।
७३. सा १०-२८। ७४. सा. १०-२४। ७५. सा. १०-२१।
७६. सा. १०-२२। ७७. सा ११-२४। ७८. सा १०-२४। ७९. सा. १०-३१।

बंधुओ को भी उन्होने अनेक प्रकार के अवर और साड़ियाँ दी। तदनंतर वंदीजन-मागध सूतवृन्द मे से जिसने जो माँगा, उसे वही दिया और तव—

आए पूरन आस कै सव मिलि देत असीस।
नदराइ कौ लाडिलौ, जीवै कोटि वरीस[८०]।

द्वार पर ढाढी और ढाढिनि 'हुरके' वजाते और मनचाही वस्तु पाकर मस्तक नवाते है[८१]। नद जी के द्वार पर आज जो याचक वनकर आये थे, वे इतनी धन सपत्ति ले गये कि फिर 'जाचक न कहाये'[८२]। अपार दान-सामग्री लेकर मार्ग मे जाते हुए वे ऐसे जान पडते थे जैसे कही के 'भूप' जा रहे हो[८३]।

आ. छठी—यह सस्कार 'सोहिलौ' से आरभ होता है। पास-परोसिने, सखी-सहेलरी, सव एकत्र हो जाती हैं। मालिनि 'तोरना' वाँधती है आँगन मे केले 'रोपे' जाते हैं, सुनार सोने का 'ढोलना' गढकर लाता है ललन की 'आरती' का आयोजन होता है। नाइन महावर लगाती है। 'दाई' को 'लाख टका, झूमका और साडी नेग' मे दी जाती है। विश्वकर्मा वढई ढोलना' गढकर लाता है। कोरे कपडे निकाले जाते हैं। जाति-पाँति के स्त्री-पुरुषो की 'पहरावनी' करके 'काजर-रोरी-ऐपन' से छठी कौ चार' होता है[८४]।

इ. नामकरण—ऋषिराज गर्ग नद-भवन मे पवारते हैं। नद जी उनके चरण धोकर चरणोदक लेते और वडे आदर से 'अरघासन' देते हैं[८५]। गर्ग जी तव 'लगन सोधकर और जोतिष गनिकै' नवजात शिशु के अनेक 'गुन' या 'लक्षण' वताते हैं[८६]। व्रज-वासी उनको सुन-समझकर वहुत आनदित होते हैं[८७]। विप्र-सुजन-चारन वदीजन आदि भी तव नद-गृह आते है और दान-मान पाकर सुखी होते हैं[८८]।

ई अन्नप्राशन—कुछ दिन कम 'पट' मास के होने पर 'अनप्रासन' मस्कार होता है। विप्र वुलाकर 'राशि सोधकर' सुदिन निश्चित किया जाता है। सखियाँ वुलायी जाती है जो नंद जी का नाम लेकर 'गारी' गाती हैं[८९]। उनकी पाँति' की व्रज वधुओ मे कोई ज्योनार करती है, कोई घी के पकवान वनाती है और कोई नाना प्रकार के व्यजन तैयार करती है। अपनी जाति के सव लोगो को नद जी वुलाते हैं और आदर से वैठाते हैं। माता यशोदा उवटन लगाकर कान्ह को स्नान कराती और 'पट भूषन' पहनाती है। पुत्र के तन मे 'झगुली', सिर पर लाल 'चौतनी' और दोनो हाथ पैरों मे चूरा' देखकर माता फूली नही समाती। नंन जी तव वालक को गोद मे लेकर मडली के वीच मे वैठते और उसका मुँह जुठराते हैं—

षटरस के परकार जहाँ लगि लै लै अघर छुवावत।
+ + +
तनक तनक जल अधर पौंछि कै जसुमति पै पहुँचाए[९०]।

---

८०. सा. १०-२७। ८१ सा १०-३१। ८२. सा १०-३३। ८३ सा १०-३५। ८४ सा १०-४०। ८५ सा. १०-८५। ८६. सा. १०-८६। ८७. सा. १०-८७। ८८. सा. १०-८७। ८९. सा. १०-८८। ९०. सा. १०-८९।

इसके उपरांत 'पनवारे परसाये' जाते हैं और सब लोग बड़ी रुचि से भोजन करते हैं[९१]।

उ वर्षगाँठ बालक कृष्ण जब वर्ष भर का होता है, तब प्रथम वर्षगाँठ संस्कार किया जाता है। माता यशोदा बच्चे को स्नान कराती, पोंछती और वस्त्राभूषण पहनाती है। गले मे 'मणिमाला' और सिर पर 'चौतनी' पहने माथे पर 'डिठौना' लगाये, आँख मे अजन डलाये और शरीर पर 'निचोल' पहने बालक 'कलबल' बोलता है[९२]। आँगन चदन से लिपाया जाता है, मोतियो से चौक पूरा जाता है और शुभ घड़ी निश्चित करने के लिए विप्र बुलाया जाता है। 'अच्छत-दूब-दल' 'बँधाकर लाल की गाँठ जुड़ायी जाती है[९३]। व्रज-नारियाँ सु दर तान से मगल गाती हैं और माता बालक की छवि पर 'तृन तोडती' है[९४]।

ऊ **कनछेदन**—कान्ह कुँवर को, 'कनछेदन' के पूर्व बहलाने के लिए, हाथ मे 'सोहारी और गुड की भेली' दी जाती है। सीक से कानों के पास 'रोचना' का चिह्न-सा लगाया जाता है। कचन के दो 'दुर' पहले ही से तैयार करा लिये गये हैं। तब नौआ बहुत शीघ्रता से कान छेद देता है। बालक पर 'मनि-मुकुता' निछावर किये जाते हैं और सारे गोकुल मे सुख-सिघु लहराता है[९५]।

ए **यज्ञोपवीत**—कस-वध के पश्चात् हरि-हलधर का यज्ञोपवीत सस्कार होता है। गर्ग जी से दोनों 'गायत्री' मत्र सुनते हैं। ब्राह्मणो को अनेक धेनु दान मे दी जाती हैं। नारियाँ मगलचार गाती हैं[९६]। लोक-लोक से टीका आता है। 'ढोल-निसान-सख' बजते हैं और माता देवकी हरि-हलधर पर 'रतन-पट-सारी' आदि वस्तुएँ निछावर करती है[९७]।

ऐ **विवाह**—राम-जानकी, वसुदेव-देवकी, राधा-कृष्ण और रुक्मिणी-कृष्ण—इन चार विवाहो का वर्णन सूरदास ने मुख्य रूप से किया हैं। राम का विवाह धनुष-भग के पश्चात् होता है। राजा दशरथ जनक के यहाँ 'बरात' सजाकर पहुँचते हैं, मोतियों से 'चौक' पुराये जाते है, विप्रगण 'बेद-धुनि' करते हैं, युवतियाँ मंगल गाती हैं। विवाह के पश्चात् राम, सखियो के बीच मे बैठी जानकी जी का 'ककन' खोलते हैं। 'कनक-कुडी' मे पूंगीफल-जुत निरमल जल' रखा जाता है। इसमे राम जानकी 'जूप' खेलते हैं[९८]।

देवकी के विवाह का विवरण कवि ने नहीं दिया है। केवल मगलचार के साथ देवकी के विदा होने और दहेज-रूप मे 'हय-गय-रतन-हेम-पाटबर' दिये जाने मात्र की चर्चा की है[९९]।

राधा से कृष्ण के गधर्व-विवाह का वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। उबटन-स्नान-शृगार के पश्चात् 'कुँवरि' 'चौरी' मे लायी जाती है और हरि मोर-मुकुट का मौर धारण करके वर-रूप मे आते हैं। सब गोपियाँ 'नेवते' आयी हैं और वे मिलकर

---

९१ स १०८९। ९२. सा. १०-९४। ९३. सा १०-९५।
९४ सा १०-९६। ९५ सा १०-१८१। ९६. सा. ३०९३।
९७ सा ३०९४। ९८ सा ९-२५। ९९. सा. १०-४।

'मंगल' गाती हैं। नव फूलो का मंडप छाया जाता है, वेदी वनती है जिसमे श्याम-श्यामा वैठते हैं। 'गारियाँ' गायी जाती हैं, 'पाणिग्रहण' होता है और तव 'भाँवरें' पडती हैं[१]। इसके उपरात सखियाँ पहले तो कृष्ण से राधा के 'ककन' की 'गाँठ' खोलने को कहती है और तव राधा से[२]। कृष्ण का मोर-मुकुट इस समय 'सेहरे-'सा वँधा जान पडता है[३]।

रुक्मिणी से कृष्ण के विवाह का वर्णन भी इसी प्रकार विस्तार से है। वर अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणो से सज्जित है। उसके सिर पर 'सेहरा' है और वह चपल घोडे पर सवार है। 'वरात' के लोग भी खूब सजे-सजाये हैं। 'सख-भेरि-निसान' आदि वजते हैं। 'भाट' विरद वोलते है, मुहूर्त शोधकर 'चौरी' रची जाती है। मुक्ताहल से 'चौक' पुराया जाता है।

अब वस्त्राभूषणो से अलकृत करके वधू को उसकी सखियाँ मडप मे लाती हैं। वेद-विधि से कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह होता है। विप्रो को अनगिनती गैयाँ दान मे मिलती हैं, याचक दान पाकर 'अजाची' हो जाते हैं। तव वर-वधू मदिर मे जाते हैं। वहन सुभद्रा आरती उतारती है। माता देवकी 'वारकर' पानी पीती और असीस देती है। युवतियाँ तव दोनो को 'जुआ' खिलाती और अन्य 'कुल-व्यौहार' कराती हैं[४]।

ऋ अत्येष्टि—राजा दशरथ की अत्येष्टि का वर्णन सूरदास ने किया है। उनके 'विमान' के साथ गुरु और पुरजन चलते है। श्मशान पर पहुँचकर 'चंदन-अगर-सुगंध-घृत' आदि से 'चिता' बनायी जाती है। जिस पर राजा का शव रखकर भस्म किया जाता है। इसके वाद 'तिल-अजलि' दी जाती है। दस दिन तक 'जल-कुंभ' और 'दीप-दान' आदि की क्रिया होती है। ग्यारहवें दिन व्राह्मणो को भोजन कराया जाता है और 'नाना विधि' दान दिया जाता है[५]। अत्येष्टि करनेवाले पुत्र भरत ने सर भी मुडाया है। उनका 'मुडित केस-सीस' देखकर राम वहुत दुखी होते हैं[६]।

सीता हरण के अवसर पर, उनका विलाप सुनकर, रावण से युद्ध करनेवाला जटायु जव राम के दर्शन करके और सारा प्रसग सुनाकर मरता है, तव ये अपने हाथ से उसे जलाते हैं[७]। इसी प्रकार शवरी के 'हरि-लोक' सिधारने पर भी राम 'तिल-अजलि' देते हैं[८]।

छ कला-कौशल—वास्तु, मूर्ति, चित्र, सगीत और काव्य—ये पाँच मुख्य कला-भेद हैं। इनमे से प्रथम तीन के सौंदर्य का अनुभव हमे नेत्रेंद्रिय द्वारा होता है और अतिम दो का श्रवणेंद्रिय द्वारा। प्रथम वर्ग मे से वास्तुकला से सवधित शब्दावली सूर-काव्य मे अधिक है। और द्वितीय वर्ग मे से सगीत कला की। अन्य कलाओ मे से 'पाहन-पूतरी'[९], 'प्रतिमा'[१०],

---

१. सा. १०७२। २ सा. १०७३। ३. सा. १०७४।
४. सा. ४१८६। ५. सा. ९ ५०। ६ सा. ९-५२। ७ सा. ९-६६।
८. सा. ९-६७। ९ सा २७८८। १०. सा १०-३४०।

आदि मे मूर्तिकला का, एव पर्वो-त्योहारो के शुभ अवसरो पर दीवार या गच पर विशेष रूप से, एव 'बनमुद्रा घसि कै'[११] अगो पर सामान्य रूप से, वनाये गये चित्रो मे चित्र-कला का अभ्यास माना जा सकता है। गीति[१२], छद, पद आदि काव्यकला के सामान्य अग मात्र सूर-काव्य मे मिलते हैं। नद जी के यहाँ और अयोध्या, मथुरा तथा द्वारका के राजमहलो में कलापूर्ण भवनो का निर्माण एव उनके झज्जो[१३], अट्टालिकाओ, झरोखो[१४], कँगूरो[१५] आदि पर विद्रुम और स्फटिक की पच्चीकारी का काम, कनक या मणिखभ, काँच या कनक के सुदर गच आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वास्तु-कला से है।

सगीत-कला से सम्बन्धित शब्द सूर-काव्य मे सबसे अधिक हैं। राग-रागिनियो और वाद्यो के जितने नाम उन्होने गिनाये हैं, उतने सभवत हिंदी के किसी कवि के काव्य मे नही मिलेंगे। यो तो सूरदास ने 'छह राग, छतीस रागिनी',[१६] 'तीन ग्राम इकईस मूर्छना, कोटि उनचास तान',[१७] सरगम'[१८] आदि सगीत कला से सम्बन्धित अनेक बातें अपने काव्य मे दी हैं, परतु मुख्य रूप से उन्होने रागो और बाजो के नाम ही गिनाये हैं जिनमे निम्नलिखित प्रधान है—

अ. **प्रमुख रागों के नाम**—असावरि[१९] या आसावरी[२०], अहीरी[२१], ईमन[२२], करनाटी[२३], कान्हरो[२४], केतकी[२५], केदारो[२६], गुडमलार[२७], गुनकली[२८], गौड मल्हार[२९], गौडी[३०], गौरी[३१], जैजैवती[३२], जैतश्री[३३], टोडी[३४], देव या देवगधार[३५], देवगिरी,[३६] देशाक[३७], नट[३८], नटनारायन[३९], नायकी[४०], पचम[४१], पुर्वी[४२], प्रभाती[४३], बिभास[४४], विहार या बिहाग[४५], बेलावल या बिलावल[४६], भूपाली[४७], भैरव[४८], मलार[४९], मारू[५०], मालकोस[५१], मालवाई[५२] मेघमालव[५३], रामकली[५४], ललित[५५], श्री[५६], षट[५७], सारग[५८], सूआ[५९], सोरठी[६०] आदि।

---

११ सा १०-२४। १२. सा. वें ३११२। १३ सा २९०२। १४ सा. ८०९। १५ सा. ४३०७। १६ सा १२३८। १७ सा. १३५३। १८. सा. ११५१। १९. सा २८३१। २० सारा. १०१६। २१ सा ३२१७। २२ सारा १०१३। २३ सा २१४०। २४. सारा १०१३। २५ सारा १०१७। २६ सा १०-२४२। २७ सा २८३१। २८ सारा १०१७। २९ सारा १०१५। ३०. सा १२२०। ३१ सा. १२२०। ३२. सारा १०१७। ३३ सारा. १०१६। ३४. सा २८३१। ३५ सारा १०१६। ३६ सारा. १०१६। ३७ सारा १०१६। ३८ सा २१४१। ३९ सा १२२०। ४० सारा. १०१४। ४१ सारा १०१२। ४२ सारा १०१६ ४३ सा १०१८। ४४ सारा १०१५। ४५ सारा १०१४। ४६ सारा १०१५। ४७ सारा १०१३। ४८ सा २८३१। ४९ सा २८०८। ५० सा ३७६८। ५१ सारा १०१२। ५२ सा २८३१। ५३. सारा १०१३। ५४ सारा. १०१७। ५५ सारा १०१२। ५६ सारा. १०१६। ५७ सारा. १०१२। ५८. सा. १२२०। ५९ सा १०१८। ६०. सा २८३१।

आ **बाजे** आउज[६१] या आउझ[६२], अमृतकुडली[६३], उपग[६४], करताल[६५], किन्नरी[६६], गिरगिरी[६७], गोमुख[६८], चग[६९], झाँझ[७०], झालरी[७१], डफ[७२], डिमडिम[७३], ढोल[७४], तुबुर[७५], तूर[७६], निसान[७७] या नीसान[७८], पखाउज[७९], पटह[८०], बाँसुरी[८१], (= वेनु[८२], मुरलिया[८३], मुरली[८४]), बीना[८५], भेरि[८६], महुअरि[८७], मिरदग[८८] या मृदग[८९], मुरज[९०], रबाव[९१], रुज[९२], संख[९३], सुरमडल[९४], हुरका[९५] आदि ।

सूर-काव्य से जो सूचियाँ ऊपर दी गयी हैं, उनसे कवि के समकालीन समाज की सास्कृतिक स्थिति का बहुत-कुछ परिचय सहज ही मिल जाता है । परतु इस सबंध मे इतना ध्यान रखना भी आवश्यक है कि पौराणिक कथा-वार्ता आदि मे समय समय पर सम्मिलित होते रहने से सूरदास ने अनेक वस्तुओ के नाम ऐसे भी दे दिये होगे जो उनके समय मे बहुत लोकप्रिय न होगी । उदाहरण के लिए जितने आभूषण या बाजे सूरदास ने गिनाये हैं, जन-साधारण उन सभी से परिचित रहा हो, यह बहुत आवश्यक नही है । फिर भी इसमे कोई सदेह नही कि व्रज की तत्कालीन सास्कृतिक स्थिति का ज्ञान कराने मे उक्त शब्दावली से पर्याप्त सहायता मिलती है ।

---

६१. सा ९-७५ । ६२ सा २८६७ । ६३ सा. २८८८ । ६४ सा. ११८० ।
६५. सा २८६४ । ६६. सा २८६७ । ६७. सा २९१७ । ६८. सा २८८८ ।
६९. सा २८६६ । ७०. सा ९-७५ । ७१ सा २८६७ । ७२ सा २८६७ ।
७३. सा २९०६ । ७४ सा. २९०६ । ७५ सा २८८८ । ७६ सा १०-४० ।
७७. सा. ११४४ । ७८ सा. ११८० । ७९ सा ९-७५ । ८०. सा. २८८८ ।
८१. सा. २८६७ । ८२. सा ११८० । ८३ सा २८८१ । ८४ सा ११८० ।
८५. सा. ३३५७ । ८६. सा. १०-४० । ८७. सा २८६० । ८८. सा २८२८ ।
८९. सा. ४१८५ । ९०. सा ११८० । ९१. सा. ११८० । ९२. सा २८६० ।
९३. सा. ४१८६ । ९४. सा. २९१६ । ९५. सा. १०-३१ ।

७. उपसंहार

समकालीन और परवर्ती व्रजभाषा-कवियो से सूर की भाषा की तुलना एव अध्ययन का सारांश

सूर के समकालीन व्रजभाषा कवि—व्रजभाषा के जो कवि सूरदास के समकालीन थे, उन्हें दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग मे वल्लभ-सप्रदाय के कवि और उनमें भी विशेप रूप से अष्टछापी कवि आते हैं जिनसे सूरदास का नित्य का परिचय था और दूसरे वर्ग मे वे कवि हैं जिनसे सूरदास का घनिष्ठ सबध नही था।

क **समकालीन अष्टछापी कवि**—अष्टछाप के आठ कवियो मे सूरदास के अतिरिक्त कुभनदास (सवत् १५२५-१६३९), परमानददास (सवत् १५५०-१६४०), कृष्णदास अधिकारी (सवत् १५५२से१६३२ या १६३८तक किसी समय)[१६], नददास (सवत् १५९०-१६३९),चतुर्भुजदास (सवत् १५९७-१६४२),गोविंद स्वामी(सवत् १५६२-१६४२)और छीत स्वामी (सवत् १५६७-१६४२) हैं। इन सबका देहात सवत् १६४२ मे या इसके पूर्व होना माना गया है। इस प्रकार सूरदास के समकालीन तो ये कवि थे ही, निवास भी बहुत समय तक इन सबका एक ही स्थान पर रहा। अतएव इनकी व्रजभाषा मे एक प्रकार से समानता होनी चाहिए। एक दूसरे से जो अतर या विशेषता कवि-विशेष की भाषा मे मिलती है, उसका मूल कारण उसका अध्ययन या उसकी बहुज्ञता ही मान सकते हैं। भाषा के परिमार्जन मे अभ्यास का भी महत्वपूर्ण स्थान है। परतु परिमाण में सूरदास की रचना सबसे अधिक होने के कारण यह नही कहा जा सकता कि इन अष्टछापी कवियो मे से किसी ने भी काव्य-रचना का उनसे अधिक अभ्यास किया था। केवल भाषा-सौंदर्य की दृष्टि से यदि इन कवियो का श्रेणी-विभाजन किया जाय तो इनका क्रम, स्थूल रूप से, इस प्रकार होगा—नददास, परमानददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, कुभनदास और कृष्णदास अधिकारी। इनमे से अतिम पाँच कवियो की भाषा मे कोई ऐसी विशेषता नही है जो सूरदास से बढ़कर कही जा सके। परमानद की भाषा मे अवश्य सरसता, सूरदास से कुछ अधिक है, परतु इसका कारण उनकी रचना का परिमाण मे अपेक्षाकृत कम होना ही जान पडता है। 'परमानद-सागर' मे लगभग दो हजार पद हैं। विभिन्न स्थानो से प्राप्त, परमानददास के नाम से प्रचलित, सभी पदो को यदि सकलित कर लिया जाय तो इनकी सख्या लगभग दो हजार तक पहुँच जाती है[१७]। इतने ही पद यदि सूरदास के चुन लिये जायँ तो निश्चय ही भाषा की सरसता मे वे परमानदास के पदो से घटकर नही होंगे।

---

१६ डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २५४-५५।
१७ डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ३२०।

नंददास की भाषा कुछ ग्रंथो मे अवश्य सूरदास से अधिक साहित्यिक कही जा सकती है जिसमे अनुप्रास का लालित्य एक ओर उसके सौंदर्य की वृद्धि करता है और संस्कृत की कोमलकात पद-योजना दूसरी ओर उसे सौष्ठव प्रदान करती है। यह ठीक है कि भाषा की दृष्टि से नददास के सर्वश्रेष्ठ काव्यभाग की समता करनेवाले अनेक पद सूर-साहित्य मे भी मिल जायँगे, परतु इनके आधार पर व्यापक रूप से यह नही कहा जा सकता कि सूरदास इसी भाषा मे रचना करना चाहते थे। वास्तव मे सूर-साहित्य का आशिक भाग व्रजप्रदेश की उस चलती भाषा मे लिखा गया था जो अपने अनलकृत और अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक रूप मे वहाँ प्रचलित थी और साहित्यिक दृष्टि से जिसका पूरा-पूरा परिष्कार नही हो पाया था। सूरदास ने इसके ठेठ माधुर्य की रक्षा करते हुए उसे साहित्यिक रूप दिया नददास ने सूरदास से प्रेरणा ली और व्रजभाषा के चलते हुए रूप की अधिक चिंता न करके, उसके परिष्कृत रूप को अपनाया और सस्कृत पदावली के साहचर्य से इसे साहित्यिक बनाने का प्रयास किया।

ख **समकालीन अन्य कवि**[९८]—व्रजभाषा के जिन अन्य कवियो ने सूरदास के समय मे रचनाएँ की उनको तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—कृष्ण भक्त, रामभक्त और शेष कवि। प्रथम वर्ग मे गदाधर भट्ट (रचनाकाल सवत् १५८०-१६००), हितहरिवश (रचनाकाल सवत् १६००-१६४०), मीरावाई (सवत् १५५७-१६३०), स्वामी हरिदास (कविताकाल सवत् १६००-१६१७), सूरदास मदनमोहन (सवत् १५९०-१६००), हरीराम व्यास (सवत् १६२० के आसपास) आदि मुख्य हैं। द्वितीय वर्ग मे गोस्वामी तुलसीदास (सवत् १५८९-१६८०) और नाभादास (स० १६५७ मे वर्तमान) को ही सूरदास का समकालीन कहा जा सकता है, यद्यपि इनकी मृत्यु के पश्चात् भी बहुत वर्षो तक वे दोनो जीवित रहे थे। अन्य समकालीन कवियो के तृतीय वर्ग मे कृपाराम (रचनाकाल सवत् १५९८), नरोत्तमदास (सवत् १६०० मे वर्तमान), वीरवल (सवत् १६६० मे वर्तमान), गग (सवत् १६४० मे वर्तमान्), नरहरि (लगभग सवत् १५६२-१६६७) आदि प्रमुख हैं।

उक्त कवियो मे से अधिकाश कवियो की भाषा सूरदास की समस्त रचना से तुलना करने पर, सस्कृत पदावली की प्रचुरता की दृष्टि से भले ही, वढकर मान ली जाय, परन्तु यदि, गोस्वामी तुलसीदास को छोडकर किसी भी कवि की रचना के परिमाण मे सूरदास के पद चुन लिये जायँ, तो किसी भी दृष्टि से उसकी भाषा सूर से वढकर नही मानी जा सकेगी। तुलसीदास की भाषा अवश्य सस्कृत की पदावली और साहित्यिक परिष्कार की दृष्टि से सूरदास से वढकर कही जा सकती है जिसका स्पष्ट कारण यह है कि उनका अध्ययन, साहित्यिक ज्ञान और पाडित्य सूरदास से वढ़ा-चढा था, परन्तु गोस्वामी जी की व्रजभाषा-रचनाओ मे चलती भाषा का वह स्वाभाविक और ठेठ माधुर्य

९८, इन कवियो का समय पं० रामचद्र शुक्ल के 'इतिहास' के आधार पर दिया गया है—लेखक।

उस उपयुक्त अनुपात मे नही दिखायी देता जो सूर की उल्लेखनीय विशेषता है। अवधी के प्रथम प्रतिष्ठित कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदास की उस भाषा की रचनाओ मे जो अन्तर है, एक प्रकार से किसी सीमा तक वही अन्तर सूरदास और गोस्वामीजी की ब्रजभाषा मे कहा जा सकता है। जायसी ने सस्कृत पदावली का सहारा लेकर भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न कभी नही किया, परन्तु सूरदास की रचनाओ मे, इसके विपरीत, पचासो ऐसे पद मिलते हैं, जो तुलसीदास जी की भाषा के समकक्ष निस्सकोच रूप से रखे जा सकते हैं।

सूर के परवर्ती ब्रजभाषा कवि – सूरदास के समकालीन जिन साहित्यकारो का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सभी भक्तिकाल के अतर्गत आते हैं, यद्यपि सबका विषय भक्तकवियो की तरह इष्टदेवो का लीला-गान मात्र नही था। इस युग के अनेक कवि ऐसे भी बच जाते हैं जो विषय की दृष्टि से तो भक्ति-परपरा मे ही आते हैं, परन्तु अवस्था मे वे सूरदास के परवर्ती थे। अतएव भक्ति-परपरा के शेष और सूरदास के पश्चात् होनेवाले रीतिकाल के कवियो को, सामूहिक रूप से, दो वर्गों मे रखा जा सकता है - रीति परपरा वाले शास्त्रज्ञ कवि और इस शास्त्रीय प्रवृत्ति मे सक्रिय रुचि न रखने-वाले भावुक कवि। साहित्य के इतिहासो मे इन कवियो की सख्या दो सौ से अधिक है। यहाँ दोनो वर्गों के चुने हुए कवियो की भाषा-सबधी सक्षिप्त चर्चा ही पर्याप्त होगी।

क **रीति परपरा के कवि**[९९] — सूरदास के परवर्ती इस वर्ग के कवियों मे केशव-दास (सवत् १६१२-७४), चिंतामणि त्रिपाठी (जन्म संवत् १६६६ के लगभग), बिहारीलाल (१६६० से १७२० तक वर्तमान), मतिराम (जन्म सवत् १६७४ के लगभग), भूषण (जन्म सवत् १६७० के आसपास) देव, (जन्म सवत् १७३०), भिखारीदास (कविताकाल सवत् १७८५ से १८१० तक), पद्माकर (सवत् १८१०-१८९० , प्रतापसाहि (कविताकाल सवत् १८८०-१९१० तक) आदि कवि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध मे प्रमुख उल्लेखनीय बात यह है कि ये कवि किसी भी बात को अनलकृत भाषा मे कहना ही नही चाहते हैं। अनुप्रास की सप्रयास योजना के भार से इनकी भाषा प्राय सर्वत्र दबी दिखायी देती है और यमक-श्लेष का चमत्कार दिखाने का कोई भी अवसर पाते ही उसको अपनाने के लिए ये ललक उठते हैं। ऐसे स्थलो पर न तो व्याकरण के नियमो का पूरा पूरा ध्यान इनको रह जाता है, न शब्द-रूपो की विकृति-अविकृति का ही यथोचित विचार ये रख पाते हैं और न भाषा की विशुद्धता-रक्षा के लिए ही विशेष सतर्क रहते हैं। भाषा सभी प्रकार से सजायी-सँवारी होनी चाहिए—यही इनका आदर्श है जिसके लिए सदैव सावधानी से प्रयास करते रहने के फलस्वरूप सजावट या शृगार के साथ-साथ अनुप्रासमयी कोमल पद योजना की दृष्टि से भी इनकी भाषा सूरदास से बढकर ही ठहरती है। परन्तु हिंदी की प्रातीय बोलियों और अरबी-फारसी-जैसी विदेशी भाषाओ के शब्दो का जितना मिश्रण सूरदास की भाषा

---

९९ इन कवियो का समय प० रामचद्र शुक्ल के 'इतिहास' के आधार पर दिया गया है—लेखक।

मे मिलता है उससे कुछ अधिक ही देशी-विदेशी शब्द इस वर्ग के कवियों की भापा मे मिलते हैं। अतएव, स्थूल रूप से, कहा जा सकता है कि सूरदास की भाषा मे यदि ग्रामीण स्वस्थता और सरलता के दर्शन होते है तो रीति-परम्परा के इन कवियो की भाषा में नागरिक जीवन की, विविध प्रसाधनो पर आधारित, गर्वीली सुन्दरता के, जो नवयुग की देन होने पर भी अपनी कृत्रिमता से बार बार ऊब उठती है।

ख. **अन्य परवर्ती कवि**——इस वर्ग मे संत, कृष्णभक्ति और राम-भक्ति-परपरा के प्रमुख कवियो के साथ साथ सूरदास के परवर्ती वे सभी कवि आ जाते है जो भक्तियुग या रीतिकाल मे व्रजभाषा मे काव्य-रचना करके ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इनकी बड़ी लवी सूची मे से केवल रहीम (संवत् १६१०-१६८३), सुदरदास (संवत् १६५३-१७४६), रसखान (रचनाकाल संवत् १६६५-७५), सेनापति (जन्म सवत् १६४६ के आसपास), लाल कवि (रचनाकाल सवत् १७६०-७०), घनआनंद (संवत् १७४६-१७९६), महाराज सावतसिंह 'नागरीदास' (कविताकाल सवत् १७८०-१८२०), चाचा हितवृन्दावनदास (कविताकाल सवत् १८००-४५) आदि प्रतिनिधि कवियो का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इस वर्ग के कवियो का आदर्श वस्तुत सूरदास-जैसे कवियो से मिलता-जुलता था। काव्य के भाव और कला पक्षो मे से रीति-परपरा के कवियो ने द्वितीय की ओर इतना अधिक ध्यान दिया कि प्रथम की स्थान स्थान पर उपेक्षा-सी हो गयी। इसके विपरीत, इस वर्ग के कवि भाव-चित्रण मे इतना अधिक तल्लीन हुए कि कला पक्ष का उन्हे जैसे ध्यान ही न रह गया। फिर भी व्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन तथा सत्य अर्थ मे कवि होने के कारण भावो की अनुगामिनी होकर भी उनकी भापा इस प्रकार निखर उठी कि उसके सहज सौंदर्य के सामने रीति-परंपरा के अनेक कवियो की अलंकृत भाषा की आयास-प्रदत्त आभा भी फीकी सी पड गयी। इस वर्ग के कवियो मे घनआनंद के अतिरिक्त शेष प्राय सभी कवियो की भापा, यदि सूर-साहित्य का चुना हुआ भाग सामने हो तो, अधिक से अधिक उसके समकक्ष ही कही जा सकेगी। घनआनद की भाषा अवश्य सूरदास से अधिक सरस है तथा प्रौढता और परिष्कृति मे भी सूर की अधिकाश भापा उसके समकक्ष नही कही जा सकती।

उन्नीसवी शताब्दी के व्रजभापा-कवियो मे प्रतिनिधि भारतेन्दु वाबू हरिश्चन्द्र माने जा सकते हैं। उनके पश्चात् उल्लेखनीय आधुनिक कवियो मे वाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और श्री 'वियोगीहरि' ही ऐसे हैं जिनका व्रजभाषा के प्रति अनन्य प्रेम रहा है। भारतेंदु जी की व्रजभाषा उतनी सगठित नही कही जा सकती जितनी 'रत्नाकर' और 'वियोगीहरि' जी की भाषा है। सूरदास की अधिकाश रचनाओ मे भी वैसी गठन और प्रौढता नही दिखाती देती, परतु वियोगी हरि का तो नही, 'रत्नाकर' जी का आदर्श वहुत-कुछ सूरदास के परवर्ती रीतिकालीन ग्रथकारो से मिलता-जुलता रहा है, यद्यपि उनका सा उक्ति-वैचित्र्य और सूझ-बूझ का चमत्कारी कौशल उन कवियो में भी कम ही दिखायी देता है। अतएव 'रत्नाकर' जी की रचनाओ मे व्रजभापा का वह प्रसादगुण सपन्न और परिचित रूप नही है जो सूरदास और घनआनद मे है। वियोगी

हरि जी की भाषा मे प्रसादगुण तो सूरदास के समान ही है, परतु मधुरता और सरसता सूर-काव्य की भाषा मे ही अधिक है।

समीक्षा का साराश—यो तो सामान्य भाषा से ही विषय-विशेष के सबध मे कवि के विचारो का परिचय मिल जाता है, परतु काव्यभाषा, इसके अतिरिक्त, तीव्रतम आवेगो की वैसी ही अनुभूति पाठक को भी कराती है जैसी स्वय उसके प्रयोगकर्त्ता के अतस्तल मे उमडती है। जब तक सामान्य भाषा मे यह गुण नही आता, तब तक वह काव्यभाषा का मान्य पद प्राप्त करने की अधिकारिणी नही होती सूरकाव्य जिस भाषा मे रचा गया है, उसमे काव्यभाषा की उक्त विशेपता प्राय सर्वत्र मिलती है। जिन प्रसगो को कवि ने चलताऊ ढग से लिखा है, पाठक या श्रोता भी उनको बडे उदासीन भाव से पढता या सुनता है, उसमे उसको रस नही मिलता। कारण यह है कि ऐसे स्थलो की भाषा सामान्य ही है, काव्यभाषा नही जिसके सामने विशेष दायित्व के निर्वाह का प्रश्न रहता है। परतु जिन प्रसगो मे कवि की अतरात्मा रमी है, जिन विपयो मे लीन होकर वह अपने अस्तित्व को ही कुछ समय के लिए भूल गया है और प.त्रो की हृदयानुभूति से उसकी भावना का तादात्म्य हो गया है, उसकी भाषा वस्तुत काव्य-भाषा है जो पाठक या श्रोता की भी समान भावानुभूति को सजग करने में पूर्ण समर्थ है।

सूरदास के विनय-पदो को गाते गाते पाठक का स्वर दीन, करुण और आर्द्र हो जाता है। बाल-लीला-प्रसग पढते पढते उसका वात्सल्य उमडने लगता है, नद-यशोदा के सुख को अपना सुख समझकर उसका स्वर गद्‌गद् हो जाता है, सयोग शृगार के पदो से उसकी प्रेम-वृत्ति सजग हो जाती है और सुखातिरेक से गोपियो के समान वह अपना भाग्य सराहता है, एव श्रीकृष्ण के प्रवास पर अपने परम प्रिय के वियोग का मार्मिक अनुभव करके कभी नद-यशोदा के साथ बिसूरता है, कभी प्रेमोन्मादिनी गोपिकाओ के साथ निर्मोही प्रेमी पर खीझता है, कभी दुर्दैव को कोसता है और कभी अपनी विवशता पर आँसू बहाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन विषयो के पदो मे जिस भाषा का उपयोग सूरदास ने किया है वह सर्वत्र प्रसगावेग की मद और तीव्र गति के अनुकूल है और उसमे पूर्ण भार-वहन की अपेक्षित सामर्थ्य भी है। फल-स्वरूप, ऐसे स्थलो की समर्थ भाषा कवि की भावाकुलता से पाठक को परिचित कराने के साथ साथ आकुलता की वैसी ही तरंगें इसके मानस में भी लहरा देती है।

और उक्त गुण सूरदास की भाषा मे आ सका केवल उनकी आयासहीनता के कारण। कूट पदो मे उनकी विनोदी प्रवृति ने भाषा के साथ खिलवाड किया है, उसमे जैसे प्रयास की सारी शक्ति उसने समाप्त कर दी है। इन पदो से विज्ञ पाठक चमत्कृत भले ही हो, परतु अभीष्ट अर्थ-प्राप्ति के लिए मानसिक व्यायाम और उद्योग करते करते उसका सर दुख जाता है। अतएव अपने काव्य के भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी स्थलो के लिए सूरदास ने जिस भाषा को स्वीकार किया, वह सर्वथा प्रयास-रहित है। वस्तुत विपय-लीनता की यथार्थ स्थिति मे कवि का ध्यान

भाषा की ओर जाता ही नही। और यदि कभी वह भाषा को सप्रयास अलंकृत करने मे प्रवृत्त होता है तो समझना चाहिए कि कवि की अनुभूति इतनी प्रबल थी ही नही कि उसकी वृत्ति विषय मे पूर्णतया रम सकती। रूप-वर्णन वाले पदो मे भाषा की आलकारिकता भी इस बात का सबल प्रमाण है कि सूर की रचना मे हृदय और मस्तिष्क, दोनो का योग है —हृदय का योग विषय-निर्वाचन मात्र मे और मस्तिष्क का उसके कल्पनाप्रधान चामत्कारिक वर्णन मे। भावपूर्ण पदो की रचना मे, इसके विपरीत, कवि का हृदय-पक्ष इतना प्रधान हो जाता है कि मानसिक सूझबूझ की उछल-कूद मे रुचि लेने अथवा कल्पना का चमत्कार दिखाने की ओर उसका ध्यान जाता ही नही। व्यवहार मे जिस प्रकार हृदय की मुग्धता वाह्याकर्षण की अपेक्षा नही रखती; उसी प्रकार रुचिकर विषय पाकर कवि के हृदय मे उमडने-वाले उद्‌गार भी भाषा के साज-शृगार की प्रतीक्षा नही करते।

भावातिरेक की स्थिति मे रचे गये पदो मे सूरदास ने भाषा की शुद्धता की भी बहुत अधिक चिंता नही की है। तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्‌भव, देशज, देशी-विदेशी, नये-पुराने, किसी भी शब्द से काम लेने मे उन्होने कभी सकोच नही किया है। भाव-व्यजना ही जब कवि का एकमात्र ध्येय होता है, तब किसी प्रकार का प्रतिबध वह अपने ऊपर नही लगाना चाहता। उसे तो सार्थक एव उपयुक्त शब्द चाहिए, वह किसी भी भाषा का क्यो न हो, यद्यपि उसका प्रचलित होना अवश्य आवश्यक है। इस आयासहीनता की स्थिति मे भी सूरदास ने इतना ध्यान बराबर रखा कि कोई अनुपयुक्त अथवा अप्रचलित शब्द उनकी रचना मे न आ जाय। इसके लिए उन्हे शब्दो के रूप भले ही विकृत करने पडे हो, नये तद्‌भव और अर्द्धतत्सम रूप भले ही गढ़ने पडे हो, परतु असमर्थ शब्द का प्रयोग करना उन्हे कभी स्वीकार नही हुआ।

विकासोन्मुख भाषा का प्रवाह वेगवती सरिता के समान होता है जिसका मार्ग सर्वथा परिवर्तित कर देने का प्रयास वुद्धिमानी का नही समझा जा सकता। सूरदास इस रहस्य से अवगत जान पडते हैं। काव्य-रचना के लिए उन्हे जो व्रजभाषा प्राप्त हुई थी, उसमे मौखिक या लिखित, जो भी साहित्य रहा हो, थी वह विकास की प्रारंभिक अवस्था मे ही और एक सीमित क्षेत्र की भाषा ही। उसकी स्वाभाविक मधुरता, सरसता, प्राजलता, लोच आदि गुणो ने भले ही क्षेत्रीय तथा अन्य कवियो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया हो, परतु इसमे सदेह नही कि काव्भाषा बनने की सम्यक सामर्थ्य सूरदास के पूर्व तक, उसे नही प्राप्त हो सकी थी। गूढ-गभीर भावो की व्यजना मे तो वह असमर्थ थी ही नही, उसका न सौंदर्य निखर सका था, और न उसका शब्द-कोश ही भरा-पुरा था। उसका रूप भी अनगढ, मिश्रित और एक सीमा तक अनिश्चित था।

व्रजभाषा की श्री और समृद्धि-वृद्धि के लिए सूरदास ने व्रजभाषा को अपनाकर, उसका रूप निखारा, उसकी मधुरता, सुकुमारता, प्राजलता आदि को प्रत्यक्ष सिद्ध करके क्षेत्र बढ़ाया, उसको लोकप्रिय बनाया और उसको काव्यभाषा के मान्य पद पर प्रतिष्ठित

किया। साथ साथ भाषा का सस्कार परिष्कार करके विषयानुकूल उसके मिश्रित, साहित्यिक और आलकारिक रूपो के विकास मे योग दिया जिससे उसका सौंदर्य निखर आया और वह सभी प्रकार के मनोभावो को अभिव्यक्त करने की शक्ति से सपन्न हो सकी। यही नही, म गीत के सहयोग से सूरदास की व्रजभाषा का नैसर्गिक माधुर्य तो निखरा ही, वह लचीलापन और सौकुमार्य भी उसको प्रदान किया गया जिसके लिए कुछ आधुनिक भारतीय भाषाएँ आज भी लालायित हैं।

समृद्धि-वृद्धि के लिए उन्होने उसके शब्द-भाडार को सभी दृष्टियो से पूर्ण बनाने मे महत्वपूर्ण योग दिया। जनबोली, प्रातीय और देशी-विदेशी भाषाओ के सैकडो पदो, मुहावरो और लोकोक्तियो को अपनाने के साथ साथ अनेक आवश्यक शब्दो का उन्होने निर्माण भी किया। विदेशी प्रयोगो के सबध मे उन्होने निश्चित नीति निर्धारित की कि उनको किस रूप मे अपनाया जाय और उनके आधार पर किस प्रकार नवीन रूपो का निर्माण किया जाय जो व्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुरूप हो। विदेशी शब्दो को निसकोच अपनाकर भी अपनी भाषा पर उनका प्रभाव इतना अधिक उन्होने नही पडने दिया कि वह खटकने लगता। तात्पर्य यह है कि अन्य भाषाओ के शब्द-रूपो को ग्रहण करके भी उन्होने व्रजभाषा की मूल प्रकृति की रक्षा का सदैव प्रयत्न किया। अपनी भाषा मे अन्य बोलियो और विभाषाओ के ऐसे शब्द ही उन्होने सम्मिलित किये जिन्होने सर्वथा उसी के अनुशासन मे रहना स्वीकार कर लिया, जो उसके व्याकरण से शासित होकर ही विभिन्न रूप-रचना के लिए प्रस्तुत हो सके। ऐसे शब्दो मे अधिकाश व्रजक्षेत्र की जनभाषा मे बहुत समय से प्रचलित थे और घुलमिल कर उसी का अग हो गये थे। इस कारण एक तो उनमे 'बाहरीपन' रह ही नही गया था और यदि कुछ था भी तो कवि द्वारा प्रयुक्त होने के पूर्व उसको त्याग देना उन्होने सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

'सूरसागर' मे आदि से अत तक अनेक प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनका वर्णन कवि ने कई कई पदो मे किया है। विषय की समानता रखते हुए सहृदय पाठक इन प्रसंगो से ऊबता नही, उसको प्रत्येक पद मे कुछ न कुछ नवीनता ही मिलती है। जिन गुणो के कारण ऐसे पदो मे यह विशेषता आ सकी, उनमे भाषा का भी प्रमुख स्थान है। कही तो इन पदो का आरभ सूरदास ने नयी तुक से किया है, कही भाषा के मिश्रित, साहित्यिक और आलकारिक रूपो में से एक को छोडकर दूसरे अथवा तीसरे को अपनाया है, कही मुहावरो-कहावतो के प्रयोग से भाषा को लाक्षणिकता प्रदान की है और सबसे बडी बात यह है कि शब्दो की आवृत्ति से वे बराबर बचते रहे हैं। भाषा-सबधी ये चारो विशेषताएँ सूर-काव्य के प्राय समस्त मार्मिक प्रसगो मे देखने को मिलती है। जिस अध कवि को स्व-रचित काव्य सशोधन-परिवर्द्धन के लिए कभी न मिला हो, उसकी स्मरण शक्ति निस्सदेह असाधारण रही होगी, तभी तो वह एक ही प्रसग को कई कई पदो मे लिखकर भी शब्दो और तुको की आवृत्ति से बचा सका। वाक्याशो अथवा उपवाक्यो की आवृत्ति के जो दो-चार उदाहरण इने-गिने पदो मे देखने को मिलते भी है, वे एक तो बहुत सामान्य हैं और दूसरे, उनकी आवृत्ति इतनी बार नही हुई है कि सरलता से पाठक

को उनका पता लग सके। इससे स्पष्ट है कि सूरदास का शब्द-कोश अन्नपूर्णा के भाडार की भाँति सदैव पूर्ण रहता था । शब्द-चयन के लिए मस्तिष्क को टटोलने की आवश्यकता तो उन्हे कभी पडती ही नही थी। अतएव यदि कहा जाय कि भाषा-भाडार की अक्षयता ने सूर-काव्य की रसात्मकता-वृद्धि मे सदैव योग दिया, तो कोई अत्युक्ति न होगी

आशय यह है कि विषय का प्रतिपादन सूरदास ने सदैव ऐसी भाषा मे किया है जो उपयुक्त होने के साथ साथ सभी वर्गों के पाठको के लिए बोधगम्य है। सामान्य और विज्ञ पाठक क्रमश उसके वाच्य और लक्ष्यार्थ से सतुष्ट हो जाते हैं तो भावुक और सहृदय उसकी वक्रता, और व्यग्ययुक्त ध्वनि पर मुग्ध होते है। मुहावरो-कहावतो के प्रेमियो के लिए मनोरजन की पर्याप्त सामग्री उनके काव्य मे विद्यमान है, तो विषयानुकूल भाषा के प्रसाद और माधुर्य गुणो की सरस धाराएँ सभी काव्य रसिको को रससिक्त करके अभीष्ट तृप्ति प्रदान करती है।

यहाँ एक शका का समाधान करना आवश्यक है। अष्टछाप के अन्य आठ कवि सूरदास के समकालीन थे और सभी ने व्रजभाषा मे उत्कृष्ट रचना की है। ऐसी स्थिति मे व्रजभाषा के प्रारभिक विकास, उसकी श्री-समृद्धि-वृद्धि और क्षेत्र-विस्तार का अधिक श्रेय सूरदास को क्यो दिया जाय और क्यो न यह स्वीकार किया जाय कि अष्टछाप के समस्त कवियो के सम्मिलित उद्योग का ही सुफल था व्रजभाषा का वह संस्कार, परिष्कार और विकास जिससे उसका प्रसार-प्रचार बढा और रूप भी अत्यत आकर्षक हो गया ? इस प्रश्न मे बल है, इसमे सदेह नही। यह भी ठीक है कि अष्टछाप के सभी कवियो के आराध्य एक है, वर्ण्य विषय प्राय समान हैं, दृष्टिकोण मे बहुत-कुछ समानता है और शैली भी मिलती-जुलती है, फिर भी अन्य सात कवियो से सूरदास की व्रजभाषा की देन अधिक महत्वपूर्ण है। स्वय कवि सूर ही अपने समवर्गियो से कई बातो मे भिन्न है। पहली बात है सूरदास की अधता जिसने कवि के साथ सबसे बडा उपकार यह किया कि उसे सासारिकता के सभी बधनो और आकर्षणो से हटाकर एक ही केंद्रित विषय मे लीन कर दिया। सूरदास की चमत्कारपूर्ण और अनूठी उक्तियाँ लीनता की देन है जिसके मूल मे उनकी अंधता का वरदान मानना चाहिए।

दूसरी बात है सूरदास की जन्मजात विरक्ति जिसने आरभ से ही उसे स्वात सुखाय काव्य-रचना की प्रेरणा दी, अपनी अकिंचनता पर गर्व करने का बल दिया और सासारिक वैभव की निस्सारता, जीवन की क्षणभगुरता जैसे विषयो पर मनन करने की योग्यता भी प्रदान की। अंधता और विरक्ति के सम्मिलिन योग से वह अध्ययन से भी वंचित रहा जिससे मस्तिष्क से अधिक उसके हृदय का विकास हो गया, तर्कप्रधान बुद्धि की अपेक्षा हृदय की भावुकता प्रधान हो गयी जिससे सगुण लीलाओ मे ही उसकी वृत्ति रम सकी। रचना की अधिकता, विभिन्न विषयों को हृदयगम करने मे सहायक ग्राहक वृत्ति, विविध राग-रागिनियो का अपार ज्ञान आदि अन्य बातें है जिनमे सूरदास अपने समवर्गियो मे आगे है। इन सबका सम्मिलित परिणाम यह है कि सूरदास, कवि के नाते जिस प्रकार उनसे बढकर है, उसी प्रकार भाषा-निर्माता के रूप मे भी। और यही कारण है कि

व्रजभाषा-विकास मे अकेले सूरदास का जितना योग रहा, उतना अष्टछाप के सभी कवि नही दे पाये।

सूरदास की भाषा के सम्बन्ध मे प० रामचद्र शुक्ल ने लिखा है—'सूर मे ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचारधारा आगे बढाने मे कुछ भी योग नही देते, केवल पाद पूर्त्यर्थ लादे गये जान पडते हैं'[1]। इस सम्बन्ध मे निवेदन है कि जो अध'कवि साधन-हीनता के कारण स्वय अपना काव्य लिख न सका हो, न जिसे दूसरे की लिखी प्रति दोह-राने का ही अवसर मिला हो, उसकी रचना मे यदि उक्त दोष हो तो किसी सीमा तक क्षम्य ही समझा जायगा। परतु शुक्ल जी का उक्त कथन, सूरदास के लगभग उन दो सहस्र पदो के सम्बन्ध मे, जो कवि की महत्ता के कारण हैं और स्वय शुक्ल जी ही जिनकी प्रशसा करते नही थकते, ठीक नही कहा जा सकता। शुक्ल जी द्वारा सकेतित उक्त दोष तो वस्तुत उन पदों मे मिलता है जो सूरदास द्वारा सर्वथा अरुचि से लिख दिये गये थे। ऐसे पद कवि की रचना का किसी भी रूप मे प्रतिनिधित्व नही करते और 'कथा-पूर्त्यर्थ' होने के कारण बहुत साधारण हैं। अतएव सूरदास की भाषा मे दिखाये गये उक्त दोष को अधिक महत्व नही दिया जा सकता।

वाबू श्यामसुदरदास ने प्रतिभावान् कवियो की भाषा को भावो की क्रीत दासी'[2] कहा है। इससे तात्पर्य यह है कि भावो के सामने भाषा अनुचरी-सी रहती है और उनकी आवश्यकतानुसार उपयुक्त शब्द अनायास प्रस्तुत हो जाते हैं। वह भावो के सकेत पर ही सेविका की भाँति सदैव प्रस्तुत रहती है। रीतिकालीन अनेक कवियो की भाषा ने अपने मे इतनी चमक-दमक पैदा कर ली है कि कभी कभी पाठक का ध्यान भाव की ओर न जाकर भाषा की ओर ही आकृष्ट हो जाता है। सूरदास की भाषा कभी ऐसा दुस्साहस नही करती, उसे अपने दायित्व और अपनी मर्यादा का सदैव पूरा पूरा ध्यान रहता है।

रीतिकालीन कवियो की भाषा-विषयक विशेषताओ की ओर सकेत करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने एक स्थान पर कहा है—'उसमे ऐसे ऐसे ललित और भाव-व्य जक शब्द मिलते हैं और ऐसे प्रयोग और मुहावरे कि मन यही चाहता है कि पद को केवल शब्द और मुहावरे के लिए याद कर लिया जाय'[3]। सूरदास मे यद्यपि यह विशेषता पचासो पदों मे पायी जाती है और उनकी सैंकडो पक्तियाँ अनायास विशिष्ट प्रयोगो के कारण एक बार पढते ही कठस्थ हो जाती हैं, तथापि न तो केवल भाषा-चमत्कार-वृद्धि के लिए सूरदास ने इनका प्रयोग किया है और न केवल भाषा-चमत्कार-प्रेमियो का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही यह आयोजन किया गया है। सूरदास की वाणी भाव-रूप कृष्ण के लिए गोपियो की सी अनन्यता धारण किये हुए है जिसका सारा सुख उसके निखरने मे, सारा शृगार उसके वोध मे और सारा चयनायास उसके उपयुक्त वनने के लिए है। कोरे चमत्कार प्रेमी-उद्धवो से उसका कभी मेल नही खाता।

---

१ पडित रामचद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १७६।

२ साहित्यालोचन', पृ० ८३।

३. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ४१२।

अंत में विजय भी उसी की होती है और सभी उद्धव भाव-विभोर होकर भाषा की अनन्यता की प्रशंसा करते नही अघाते ।

अपने परम प्रिय आराध्य की जन्मभूमि की भाषा की श्री-समृद्धि और व्यंजनाशक्ति-वृद्धि के लिए इस अंध कवि ने जो अभिनंदनीय कार्य किया, वह साधारण नही था और न सामान्य व्यक्ति के बूते का ही था । अतएव यह देखकर चकित रह जाना पडता है कि सर्वप्रमुख प्राकृतिक देन— नेत्रेंद्रिय—–से वंचित यह अंध कवि अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक किस निष्ठा के साथ काव्य-रचना मे रत रहकर उक्त महान् कार्य का संपादन कर सका । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को श्रीकृष्ण के लीला-गान मात्र के लिए उत्साहित किया था । उनकी आज्ञा का सर्वांशित पालन करने के साथ साथ सूरदास ने श्रीकृष्ण की लीला-भूमि की भाषा को भी अमर कर दिया । अपनी जननी के ऋण से सूरदास किस प्रकार मुक्त हुए, इसका पता तो हमे नही है परन्तु इसमे कोई संदेह नही कि ब्रजभाषा को श्री-स्मृद्धि के साथ अपूर्व गौरव प्रदान करके मातृभाषा के ऋण से वे अवश्य मुक्त हो गये । उनके इस अभिनंदनीय कार्य के सम्बन्ध मे, संक्षेप मे, यही कहना होता है कि ब्रजभाषा को पाकर कवि सूर कृतकृत्य हो गया और ब्रजभाषा उसको पाकर धन्य हो गयी ।

परिशिष्ट एक

सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या

किसी कवि के काव्य मे प्रयुक्त शब्दो की सख्या का पता लगाना मुख्यत दो दृष्टियों से उपयोगी होता है। एक तो इससे स्थान-विशेष की भाषा की स्थिति, शक्ति, और प्रकृति का परिचय मिल जाता है और दूसरे, कवि के भाषा-ज्ञान और भाषा-सबधी उसके दृष्टिकोण का पता चलता है। इन दोनो प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति कवि-विशेष की रचनाओ मे प्रयुक्त शब्दों की सख्या-मात्र दे देने से नही हो सकती। वस्तुत इस प्रकार के अध्ययन के तीन प्रमुख पक्ष हैं—प्रथम, कवि द्वारा प्रयुक्त तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय शब्द-भेदो की सख्या ज्ञात करना, द्वितीय, विभिन्न विषयो पात्रो और भावो के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूप मे तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव देशी विदेशी शब्दो के अनुपात मे अतर ज्ञात करना और तृतीय, यह जानना कि प्रमुख शब्द अथवा उसका विकृत रूप कवि के काव्य मे अप-वाद-स्वरूप, सामान्य और विशेष अथवा सर्वत्र, किस प्रकार प्रयुक्त हुआ है।

उक्त पक्षो को ध्यान मे रख कर किसी कवि की रचना का अध्ययन करना है तो बहुत रोचक और उपयोगी, परतु यदि प्रामाणिक रचना और सुसपादित प्रामाणिक पाठ सुलभ न हो तो अध्येता का कार्य बहुत कठिन हो जाता है, सूरदास के सबध में यह अभाव दोहरा है। पहले तो उनके प्रामाणिक ग्रथों की सख्या मे ही मतभेद है, फिर उनके प्राप्त सस्करणो का पाठ भी सर्वमान्य नही है। नागरी-प्रचारिणी सभा का जो सस्करण कई वर्ष पूर्व निकला था वह तो अधूरा था ही, जो नया और पूर्ण सस्करण सभा की ओर से प्रकाशित हुआ है, उसका पाठ भी बबई, कलकत्ते और लखनऊ के सस्करणो से भिन्न है। अतएव इसके प्रकाशित होने के पूर्व तक तो, हिंदी के इस सर्वोत्तम गीति-काव्य के प्रामाणिक सस्करण की समस्या थी ही, आज भी उसके क्रम और और पाठ से सभी विद्वान् सहमत नही है। उधर 'साहित्यलहरी' और सूरसागर सारावली' की कोई प्राचीन प्रति न मिलने से इनका पाठ तो सर्वथा असपादित है ही, इनकी प्रामाणिकता भी, कुछ विद्वानो की सम्मति मे, सदिग्ध है।

ऐसी स्थिति मे, शब्द-सख्या-सबधी अध्ययन के लिए सुगम मार्ग यही हो सकता है कि नागरी-प्रचारिणी सभा के 'सूरसागर' को, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर' के आदि मे दी गयी 'सूरसागर-सारावली' को और लहरियासराय से प्रकाशित 'साहित्य लहरी, को प्रामाणिक मान लिया जाय। प्रस्तुत प्रबध के अध्ययन के लिए यही किया गया है, यद्यपि, कई स्थलो पर, विशेष कारणो से, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूर-सागर' के अतिरिक्त, नवल किशोर प्रेस के 'सूरसागर' के साथ प्रकाशित 'सारावली' के भी उदाहरण दिये गये हैं।

शब्द-संख्या-अध्ययन के जिन तीन पक्षो का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमे से द्वितीय अर्थात विभिन्न प्रसगो, पात्रो और भावो के अनुसार तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव देशी-विदेशी भाषाओ के शब्दो के अनुपात के सबध में स्पष्ट सकेत प्रस्तुत प्रबध के पाँचवे अध्याय मे स्थान-स्थान पर किये गये है। इसी प्रकार तृतीय अर्थात् किस शब्द का प्रयोग कवि ने विशेष रूप से किया है, किसका सामान्य रूप से, कौन शब्द रूप सूर-काव्य मे सर्वत्र पाया जाता है और कौन अपवादस्वरूप आदि बातें तीसरे और चौथे अध्यायो मे यथावसर कही गयी है। भाषा के शुद्ध साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से वस्तुत इसी प्रकार का निर्देशन रोचक और उपयोगी होता है।

अब रह जाता है प्रथम पक्ष अर्थात् सूरदास द्वारा प्रयुक्त शब्दो की सख्या का प्रश्न। इनकी गणना भी दो प्रकार से होती है। प्रथम के अनुसार केवल मूल रूपो की गणना की जाती है और विकृत रूप उसी के अतर्गत समझ लिये जाते हैं। द्वितीय के अनुसार मूल के साथ-साथ समस्त विकृत रूपो की भी गणना होती है। प्रथम अर्थात् मूल रूपो की गणना, भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करनेवालो के लिए रोचक होती है और विकृत रूपो का सकलन उस वर्ग के पाठको के लिए उपयोगी होता है, जो भाषा-विशेष की प्रवृत्ति और उसके व्याकरण के नियमो से परिचित नही होते और जिन्हे एक शब्द के लिंग, वचन और काल के अनुसार परिवर्तित विभिन्न रूपो को पहचानने मे कठिनाई होती है।

सूर-काव्य मे प्रयुक्त मूल और विकृत रूपो की सम्मिलित सख्या तो लगभग पचीस हजार है, परतु मूल रूप लगभग आठ हजार है। इनमे से आधे के लगभग सज्ञा शब्द है। लगभग एक चौथाई मे विशेषण और अव्यय शब्द हैं और शेष सर्वनाम और क्रिया शब्द हैं। संज्ञा, विशेषण और अव्यय शब्द इस प्रकार की गणना मे उतने महत्व के नही होते जितने सर्वनाम और क्रिया-शब्द होते है। सूर-काव्य मे विभिन्न कारको मे प्रयुक्त विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त मूल और विकृत लगभग सात सौ सर्वनाम[1]-रूपो की सूची पीछे दी गयी है। दस पाँच रूप भले ही उसमे छूट गये हो, यो वह सूची पूर्ण है और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सूरदास ने मूल और विकृत विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त लगभग सात सौ सर्वनामरूपो का प्रयोग अपने काव्य मे किया है[2]।

उक्त गणना के अनुसार सूर-काव्य मे प्रयुक्त मूल क्रिया-रूपो की सख्या लगभग तेरह सौ और उनके विकृत रूपो की सख्या लगभग पाँच हजार है। यद्यपि ये

---

१. प्रस्तुत प्रबध के पृष्ठ १८७, १९३, २०५, २२२-२, २२९, २३५-६, २३९-४०, २४५, २४७, २५२, २५४, २५९-६०, २६९ २७३ और २७४।

२. एक ही सर्वनाम-रूप कारक के जितने भेदो मे प्रयुक्त हुआ है, उसके उतने ही विकृत रूप मानकर उक्त गणना की गयी है। बलात्मक रूप अवश्य छोड दिये गये हैं— लेखक।

परिच्छेद में लिंग, वचन और काल के अनुसार क्रिया के विकृत रूपो के पर्याप्त उदाहरण दिये जा चुके हैं, परतु उनसे मूल क्रिया-रूपो की गणना मे कोई सहायता नही मिल सकती। अतएव सुविधा के लिए यहाँ लगभग एक हजार मूल क्रिया-शब्दो की सूची दी जा रही है जिनके विकृत रूप सूर काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं। इन क्रियाओ मे से अधिकाश रूप अकर्मक हैं। इनमे मे बहुत सी-क्रियाओ के सकर्मक और प्रेरणार्थक रूपो का स्वतत्र प्रयोग भी सूर-काव्य मे हुआ है, परतु उनके भी अकर्मक मूल रूप ही यहाँ दिये गये हैं। जो सकर्मक रूप यहाँ दिये गये हैं, उनमे अधिकाश ऐसे हैं जिनके अकर्मक रूपो का प्रयोग या तो हुआ ही नही है या बहुत कम हुआ है।

अँकुरना, अँगवानना, अँगोछना, अँचवना, अँजोरना, अँटकना, अकनना, अकबकाना, अकरना, अकर्षना अकुचना, अकुलाना, अकूलना, अगियाना, अगोटना, अगोरना, अघाना, अटकना, अटकरना, अटपटाना, अठलाना, अडना, अतुराना, अथवना, अधिकाना, अधीनना, अनखना, अनरना, अनुभवना, अनुमानना, अनुरागना, अनुराधना, अनुसरना, अनुहरना, अनैसना, अन्हाना, अपडरना, अपनाना, अपमानना, अपसोचना, अपसोसना, अपहरना, अभिलाषना, अभिसरना, अमातना, अमाना, अरभना, अरगाना, अरथाना, अरपना, अरबराना, अरराना, अरसना, अराधना, अरुझना, अरुनना, अरोगना, अरोहना, अलगाना, अलसाना, अलापना, अवगारना, अवगाहना, अवतरना, अवराधना, अवरेखना, अवलघना अवलंबना, अवलोकना, अवसेरना, असीसना, अहुटना, अहना।

आँकना, आँचना, आँजना, आचरना, आदरना, आनदना, आनना, आना, आपूरना, आराधना, आसना।

इठलाना, इतराना।

उकठना, उकसना, उखरना, उगना, उगलना, उगाहना, उघटना, उघरना, उचकना, उचटना, उचना, उचरना या उच्चरना, उच्छलना या उछलना, उजरना, उझकना, उठना, उडना, उतरना, उदमानना, उदवना, उद्‌घरना, उधरना, उनवना, उनमानना, उपचारना, उपजना, उपटारना, उपदेसना, उपराजना, उपहासना, उपाटना, उपारना, उपासना, उफनना, उबटना, उबरना, उमँगना, उमचना, उमडना, उमहना, उरझना, उरसना, उलघना, उलटना, उलीचना, उवना, उसरना, उससना।

ऊवना, ऊभना।

ऐंचना, ऐंठना, ऐंडना।

ओछना, ओटना, ओडना, ओढना, ओपना।

औंधना, औटना।

कँपना, कटना, कढना, कतरना, कथना, कदराना, कमाना, करना, करषना, करारना, कराहना, करुआना, करोना, कलपना, कलमलाना, कलोलना, कल्हरना, कसकना, कसना, कहना, कहरना, कांधना, काछना, किचकिचाना, किटकिटाना, किलकारना, कीलना,

कुँभिलाना या कुम्हलाना, कुढना, कुरवारना, कूँजना, कूकना, कूटना, कूदना, कोपना, कोरना, कोसना, कौंधना, क्रीड़ना ।

खडना, खगना, खचना, खटकना, खटाना, खतियाना, खनना, खरचना, खरभरना, खसना, खाना, खिलना, खिसाना या खिसियाना, खीजना या खीझना, खुदना, खुलना, खूँदना, खूटना, खेना, खेलना, खैंचना, खोसना, खोना, खोजना, खोरना, खोलना ।

गँधाना, गँवाना, गँसना, गटकना, गठना, गड़ना, गढ़ना, गनना या गिनना, गमना या गवनना, गरजना, गरना या गलना, गरवना या गरवाना, गरराना, गवाँना, गहगहाना, गहना, गहरना, गाजना, गाना, गिरना, गिलना, गीवना, गुजना या गुजारना, गुनना, गुमकना, गुहना, गुहराना या गोहराना, गूँथना, गूँदना, गेरना, गोना या गोवना, ग्रसना, ग्रहना ।

घटना, घबराना, घमकना, घसना, घहरना, घालना, घिनाना, घिरना, घिसना, घुनना, घुमडना या घुमरना, घुडकना या घुरकना, घुरना, घुलना, घुसना, घूँटना, घूमना, घेरना, घोरना या घोलना ।

चकचौंधना, चखना, चचोरना, चटकना, चटचटाना, चटपटाना, चटाना, चढ़ना, चपना, चपरना, चमकना, चमचमाना, चरचना, चरना, चलना, चसना, चहना या चाहना, चाँपना, चाटना, चापना, चावना, चितना, चितवना, चीतना, चीन्हना, चुत्रना, चुगना, चुचाना, चुचुकारना, चुनना, चुभना, चुराना या चोराना, चुवना, चुसना चुहचुहाना, चूकना, चूना, चूमना, चूरना, चेतना, चोटना-पोटना, चौंकना, चौंधना या चौंधियाना ।

छँटना, छकना, छटकना, छनना, छपना या छिपना, छमना, छरना, छलकना, छलना, छहरना, छाँड़ना, छाना, छाजना, छिटकना, छिडकना या छिरकना, छिदना, छिनना, छिपना, छीटना, छीजना, छीलना, छुटना, छूना, छेकना, छेदना, छोभना, छोडना या छोरना ।

जँचना, जँभाना या जम्हाना, जकड़ना या जकरना, जकना, जगना या जागना, जगमगाना, जटना, जडना या जरना, जताना, जनना, जनमना या जन्मना, जपना, जमना, जरना या जलना, जाँचना, जानना, जाना, जीतना, जीना, जीमना या जेंवना, जुटना, जुठारना, जुडना या जुरना, जुडना, जुतना, जूझना, जोवना या जोहना, जोहारना ।

झँखना, झँपना, झकझोरना, झकना, झगडना या झगरना, झझकना, झटकना, झनकारना, झपटना, झमकना, झमना, झरना, झरहरना, झलकना, झलमलाना, झहनना, झहरना, झाँकना, झिझकारना, झिडकना या झिरकना, झुँझाना या झुंझलाना, झुकना, झुठवना, झुनकना, झुरना, झूमना, झूरना, झूलना, झेरना, झेलना, झोकना ।

टंकोरना, टकटकाना, टकटोरना या टकटोहना, टकराना, टटोलना, टपकना, टरना या टलना, टूटना, टूठना, टेकना, टेरना, टोकना, ढोना, ढोरना ।

ठॅगना, ठटना, ठठकना या ठिठकना, ठठना, ठयना, ठहरना, ठाढना, ठेलना, ठोकना।

डगडोलना, डगमगाना, डटना, डबडबाना, डरना या डरपना, डसना, डहकना, डहना, डाँटना, डाढना, डारना या डालना, डासना, डिगना, डीठना, डुलना या डोलना, डूबना।

ढँढोरना, ढकना, ढकिलना, ढरकना, ढरना या ढलना, ढरहरना ढहना ढीलना, ढुकना, ढुरना, ढूँढना, ढोना, ढोरना।

तकना, तचना, तजना, तडकना या तरकना, तडतडाना या तरतराना तडपना, तनना, तपना, तमकना, तमतमाना, तयना, तरजना, तडफडाना या तरफराना, तरसना, तरहरना, तलना, तलफना, ताकना, ताडना, तानना, ताना तापना, तिनकना या तिनगना, तुतराना या तुतलाना, तुभना, तुलना, तूठना, तूलना, तैरना, तोडना या तोरना, तोषना, तोसना, त्यागना, त्रासना, तृपिताना।

थकना, थपना, थमना, थरथराना, थरसना, थर्राना, थहाना, थिरकना, थिरना।

दडना, दचना, दरकना, दरपना, दरसना, दलकना, दलना, दहकना, दहना, दहरना या दहलना, दाँकना, दागना, दाबना, दिपना या दीपना, दीखना या दीसना, दुखना, दुतकारना, दुबकना, दुरना, दुलराना या दुलारना, दुहना, दूमना, दृढाना, देना, दोपना, दौंचना, दौडना या दौरना, द्रुवना।

धँसना, धकधकाना या धगधागाना, धडकना या धरकना, धधकना, धपना, धरना, धरहरना, धसकना या धसना, धाना या धावना, धापना, धारना, धिरवना या धिराना, धुँगारना, धुकना, धुनना, धुपना, धुरना, धुलना, धूतना, धोना, धौकना, धौंसना, ध्यानना या ध्याना।

नकोटना या नखोटना, नँचना, नचना या नाचना, नजिकाना, नटवना, नमना या नवना, नसना, नाखना, नाटना या नाठना, नाना या नावना, नापना, नारना, निंदना, निकलना या निकसना, निगलना, निग्रहना, निघटना, निचुडना, निदरना, निपजना, निपटना या निबटना, निपाटना, निबरना, निबहना, निभना, निमज्जना, निरखना, निरवारना, निरवहना, निरवारना या निरुवारना, निर्माना, निवारना, निवेरना, निस्तरना, निहारना, निहोरना, नुचना, नेवतना, नोकना, नोवना, न्योतना।

पँवरना, पकडना या पकरना, पकना, पखारना, पगना, पचना, पछडना, पछताना या पछिताना, पछोडना या पछोरना, पजरना, पटकना, पटतरना, पठाना, पडना, पढना, पतिआना, पतीजना या पतीनना, पधारना, पनपना, परखना, परगासना, परचना, परजरना, परतेजना, परबोधना, परसना, परागना, पराना, परिरभना, परिहरना, परेखना, पलटना, पलना, पलाना, पलेडना, पलोटना या पलोवना, पसरना, पसीजना, पहचानना, पहनना, पहुँचना, पाना, पारना, पिघलना, पिछडना, पिटना, पिराना, पिसना, पीना, पीसना, पुकारना, पुचकारना, पुजना, पुरना या पुरवना, पुलकना, पूछना, पेखना, पेरना या पेलना, पैंठना, पैरना, पोंछना, पोतना, पोपना या पोसना, पोहना, पौढ़ना, प्रगटना, प्रचारना, प्रजारना, प्रबोधना, प्रमानना, प्रमसना, प्रहारना।

फंदना, फँसना, फटकना, फटकारना, फटना, फडकना या फरकना, फवना, फरना या फलना, फरहरना, फहरना, फाँकना, फाँदना, फिरना, फिसलना, फुंकना, फुफकारना, फुरना, फुसलाना, फूटना, फूलना, फेंकना, फेरना, फैलना, फोडना।

बकना, बकसना, बखानना, बगरना, बचना, बझना, बटना, बढना, बनना, बनिजना, बरना, बहकना, बहना, बहराना, बाँछना, बारना, बिकलना, बिकसना, बिचरना, बिचलना, बिचारना, बिडरना, बितताना, बिथकना, बिथरना, बिदरना, बिधना, बिनसना बिमोचना, बिमोहना, बिरचना, बिरमना, बिराजना, बिरुझना, बिलपना, बिलमना, बिलसना, बिलोकना, बिलोना, बिसमरना, बिस्तरना, बीधना, बीतना, बुढाना, बेचना, बैठना या बैसना, बोधना, बोलना, ब्यापना, ब्याहना, ब्रीडना।

भजना, भखना या भच्छना, भजना, भटकना, भडकना, भनना, भभरना, भरना, भरभराना या भरहरना, भरमना, भरुहाना, भागना, भानना, भाना, भारना, भापना, भासना, भिड़ना, भिदना, भीगना या भीजना, भुरकना, भुरवना, भुगतना, भूँकना या भूँसना, भुराना, भूँजना, भूनना, भूलना, भेटना, भेजना, भेदना, भेषना या भेसना, भ्रमना, भ्राजना।

मंडना, मँडराना, मचकना, मचना, मचलना, मजना या मज्जना, मटकना, मढना, मथना, मनसना, मनुहारना, मरना, मरोडना, मर्दना, मलना, मल्हराना या मल्हाना, मसकना, मसलना, माँगना, माँचना या माचना, माँडना या माडना, माखना, मातना, मानना, मापना, मिटना, मिलना, मीडना, मुंदना, मुकरना, मुडना या मुरना, मुरकना, मुरछना, मुरझना, मुसकाना या मुसकराना, मूठना, मेलना, मोकना, मोचना मोहना।

रँगना, रजना, रँभाना, रखना, रगडना, रचना, रच्छना, रजना, रटना, रताना, रनना, रपटना, रबकना, रमना, रलना, रसना, रहना, रहसना, राँचना, राँधना, राँभना, राचना, राजना, रातना, राहना, रिंगाना, रिझाना, रिसाना, रीतना, रुँधना, रुकना, रुठना, रुरना, रुसना, रेंगना, रेलना, रोकना, रोना, रोपना, रोरना।

लघना, लखना, लगना, लचकना, लजना, लटकना, लटना, लटपटाना, लडना लदना, लपकना, लपटना, लपेटना, लरखराना, लरजना, ललकना, ललकारना, ललचना, लसना, लहना, लहराना, लहलहाना, लाधना, लाना, लालना, लावना, लिखना, लीपना, लीलना, लुकना, लुटना, लुढकना, लुढना, लुनना, लुभाना, लुरना, लेखना, लेना, लोकना, लोचना, लोटना, लोपना, लोभना, लोरना, लोलना, लौटना।

संकोचना, सचरना, संतापना, सतोपना, सथानना, सभवना, सभारना, सँवरना, संहारना, सकना, सकपकाना, सकसकाना, सकाना, सकुचना, सकेलना, सकोपना, सगुनाना, सचना, सचरना, सजना, सटकना, सतराना, सताना, सधना, सनना, समाना, सरना, सरराना, सरसना, सरापना, सराहना,ससकना, सहना, सहराना, सहारना, साखना, सापना, सालना, सिंगारना, सिधाना या सिधारना, सिमटना, सियराना,

सिरजना, सिराना, सिसकना, सिरहना, सिहाना सीचना सीखना सुघरना, सुनना, सुपनाना, सुमिरना, सुरझना सुलगना, सुहाना सूँघना, सूखना, सूझना, सूलना, सेराना, सोहना सौंपना।

हँकारना, हटकना, हटना, हठना, हनना, हनाना, हयना हरना, हरखना, हरुआना, हलराना, हहरना, हाँकना, हारना, हालना, हिचकना, हिराना हिलकना, हिलाना, हीसना, हुलसना, हूँकना, हेरना, होना।

सूदरास द्वारा प्रयुक्त शब्दो की उक्त गणाना, 'ब्रजभाषा-सूरकोश' के आधार पर की गयी है। इस कोश' का सपादन प्रस्तुत पक्तियो के लेखक ने, लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष, डा० दीदनदयालु गुप्त के निर्देशन मे, आज से दस वर्ष पूर्व आरभ किया था। अतएव उक्त गणना अनुमान पर आधारित नहीं समझनी चाहिए।

परिशिष्ट दो

सूर-काव्य और उसकी संपादन-समस्या

हस्तलिखित साहित्य—

सोलहवी से अठारहवी शताब्दी तक व्रजभाषा-साहित्य के उत्थान का स्वर्णयुग रहा। इन तीन सौ वर्षों के जिन कवियो की कृतियाँ हस्तलिखित रूप मे आज उपलब्ध हैं, उनकी सख्या ही एक सहस्र के लगभग है, तब वास्तविक संख्या तो कही अधिक रही होगी। मुद्रण-कला का प्रचलन होने के पूर्व किसी हस्तलिखित रचना की प्रतियाँ प्राप्त करने के लिए लिपिकारों का मुँह जोहना पडता था। एक तो कुछ लिपिकारो का हस्तलेख वहुत अस्पष्ट और अपठनीय होता था और दूसरे, व्रजभाषा की सामान्य जानकारी भर इनकी योग्यता थी, प्रतिलिपि का कार्य कितने दायित्व का है, इसका ध्यान भी कम ही लोग रखते थे। उन दिनो भारतीय भाषाओ मे सस्कृत को छोडकर अन्य किसी भाषा की शिक्षा आजकल की तरह समान रूप से सारे देश मे नही दी जाती थी; शिक्षा की विधि और उसके रूप पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ही। फिर रचना की मूल प्रति का सभी लिपिकारो को सुलभ रहना भी सभव नही था। फल यह हुआ कि एक ग्रथ की प्रतिलिपियाँ समय समय पर अनेक लिपिकारो द्वारा भिन्न भिन्न स्थानो मे की गयी और उनके पाठ मे इतना भेद हो गया कि उसके मूल रूप का पता लगाना एक जटिल समस्या वन गयी। प्रतिष्ठित साहित्यकारो की रचना मे अपना भी कुछ भाग मिला देने का चाव कुछ लेखको और कवियो मे इतना वढा कि ऐसे प्रक्षिप्त अशो को अलग करके ग्रथकार की मूल रचना प्राप्त कर लेना भी कठिन हो गया। पाठ-सवंधी सवसे अधिक दुर्गति उन रचनाओ की हुई जो गेय काव्य के रूप मे प्रचलित रही। सामान्यत. सभी गायक सगीत-शास्त्र मे पारगत नही होते और जनसाधारण गेय काव्य का आनद सदैव लेता रहा है, अतएव सुर-ताल की सुविधानुसार भिन्न भिन्न रुचि के व्यक्ति गेय काव्य मे निस्सकोच और निरंतर परिवर्तन करते रहे। इन सव कारणो का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवी शताब्दी मे मुद्रण-कला का प्रचलन हो जाने के पश्चात् जव प्राचीन कवियो के ग्रथो को प्रकाशित करने का प्रश्न सामने आया, तव व्रजभाषा के हस्तलिखित ग्रथो के अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव सभी साहित्य-प्रेमियो ने किया जिससे उनके मूल रूप का पता लगाया जा सके और उनके प्रामाणिक सस्करण पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सके।

प्रामाणिक संस्करण की समस्या—

मुद्रण-कला का प्रचलन हो जाने के अनतर प्रमुख प्राचीन कवियो की प्रसिद्ध रचनाओ के शुद्ध सस्करण तैयार करने की ओर हिंदी के विद्वानो का ध्यान गया

तो, परतु विश्वविद्यालयो की ऊँची कक्षाओ मे हिंदी को जब तक स्थान नही मिला, तब तक यह कार्य बडी शिथिल और अनियमित रीति से चला, क्योकि इस ओर प्राय. वे ही साहित्य-प्रेमी प्रवृत्त हुए जो साधनहीन होने पर भी स्वात सुखाय साहित्य-सेवा किया करते थे और यही जिनका व्यसन था। अन्य विपयो के साथ-साथ उपाधि-परीक्षा के लिए हिंदी-साहित्य का अध्ययन भी स्वीकृत हो जाने के पश्चात् इस कार्य मे कुछ तेजी आयी। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, रहीम, बिहारी, देव, भूपण, पद्माकर आदि कवियो की सपूर्ण, सक्षिप्त अथवा प्रमुख रचनाओ के सस्करण धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगे। इस सबध मे सबसे अधिक सतोप की बात यह थी कि डाक्टर श्यामसुदरदास, आचार्य रामचद्र शुक्ल, डा० बेनीप्रसाद, लाला भगवानदीन आदि विश्वविद्यालयो से सबधित विद्वानो के अतिरिक्त सर्वश्री मायाशकर याज्ञिक, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मिश्रबधु कृष्णबिहारी मिश्र, वियोगी हरि, रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक ऐसे साहित्य-प्रेमी भी प्राचीन काव्य-रत्नो का उद्धार करने को प्रवृत्त हुए जो अध्यापन-कार्य द्वारा आजीविका-अर्जन नही करते थे। दूसरी बात यह है कि केवल पाठ्यग्रथ तैयार करना नही, प्राचीन कृतियो को प्रामाणिक ढग से प्रकाशित करना ही इनका प्रमुख उद्देश्य था। इन विद्वानो के सत्प्रयत्न से अधकार मे पडे अनेक रत्न तो प्रकाश मे अवश्य आये, परतु कमी यह बनी रही कि इनके प्रकाशित अनेक सस्करणों का पाठ सर्वसम्मत नही था, यहाँ तक कि सन् १९३७ मे डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने लिखा था कि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा सपादित 'बिहारी-सतसई' को छोडकर ब्रजभापा का कदाचित् कोई भी दूसरा ग्रथ वैज्ञानिक ढग से सपादित होकर अभी तक प्रकाशित नही हुआ है[१]।

सपादको की कठिनाई—

प्राचीन साहित्य के सपादन मे रुचि रखनेवालो के सामने आरभ से ही दो प्रकार की कठिनाइयाँ रही हैं। पहली तो यह कि जिन व्यक्तियो या सस्थाओ के पास प्राचीन हस्तलिखित ग्रथ सुरक्षित हैं, उनकी प्रतिलिपि करने की अनुमति देना तो दूर की बात, उनमे से अधिकाश उनको दिखाने को भी तैयार नही होते। ऐसी स्थिति मे सभी प्रतियों के पाठ सपादको को सुलभ नही हो पाते जिनका परस्पर मिलान करके सभावित मूल पाठ का पता लगाया जा सके। दूसरे, जो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध भी है, विविध स्थानों, विभिन्न समयो और भिन्न-भिन्न योग्यतावाले प्रतिलिपिकारो की कृपा से उनके पाठो मे इतना अतर मिलता है कि मूल या सर्वसम्मत पाठ का पता लगा लेना सरल नही होता। प्राचीन ब्रजभापा-काव्य की जो इनी गिनी हस्तलिखित प्रतियाँ अरबी-फारसी या उर्दू मे लिखी मिलती है, उनकी बात तो जाने दीजिए, एक ग्रथ की देवनागरी लिपि मे लिखी दो प्रतियो मे ही पाठ-सबधी बहुत अतर दिखायी देता है। ऐसे भेदो के उदाहरण देते हुए डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है—'प्राय ज के स्थान पर य तथा ख के स्थान पर मिलता

---

१. 'ब्रजभापा-व्याकरण' का वक्तव्य, पृ० ३।

है। आवश्यकता पड़ने पर ष के लिए भी ष ही लिखा मिलता है, यद्यपि उच्चारण की दृष्टि से कदाचित् उसका उच्चारण भी श के समान स हो गया था। अतस्थ य का निर्देश करने के लिए य अक्षर अनेक हस्तलिखित पोथियो मे पाया जाता है। श और ष, दोनों के स्थान पर प्राय स का ही प्रयोग हुआ है। ज्ञ के स्थान पर प्राय उच्चारण के अनुरूप ग्य मिलता है। व और ब का भेद बहुत ही कम किया गया है। कदाचित् दोनो का उच्चारण ब ही होता था। दत्योष्ठ्य व का निर्देश करने के लिए व़ अक्षर पाया जाता है। इ, ई, ऐ के स्थान पर इि, इी अै का प्रयोग भी अनेक प्रतियो मे किया गया है। अर्द्धचद्र और अनुस्वार मे यद्यपि साधारण भेद किया गया है, किंतु अक्सर नही भी किया जाता है। अनुनासिक व्यजन के पूर्व स्वर पर अनुस्वार के प्रयोग से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस स्वर के अनुनासिक उच्चारण की ओर लेखको का ध्यान उसी समय जा चुका था, जैसे कल्यांन, धाम, स्याम, ज्ञान। कभी-कभी जहाँ अनुस्वार चाहिए वहाँ भी नही लगा मिलता है, जैसे नाँऊँ के स्थान पर नाऊँ। ह्रस्व और दीर्घ ए और ओ के लिए पृथक् लिपि-चिह्न भारत की किसी भी प्राचीन वर्णमाला मे नही मिलते। ऐ और औ व्रज मे व्यवहृत होनेवाले मूलस्वर तथा साधारण सयुक्त स्वर (अ + इ, अ + उ) दोनो ही के स्थान पर व्यवहृत हुए हैं।'[२]

इनके अतिरिक्त स्थान या समय के अतर के कारण शब्दो की वर्तनी मे लिपिकारो ने और भी स्वतंत्रता से काम लिया है। एक प्रति मे राम, काम, नैंक-जैसे शब्द अकारात रूप मे लिखे हैं तो दूसरी मे उन्हे रामु, कामु, नैंकु करके उकारात रूप दे दिया गया है। कुछ शब्दो के एकारात और ऐकारात—जैसे नेक-नैंक, हे-हैं, के-कै आदि—ओकारात और औकारात—जैसे लजानो- लजानौ, आयो-आयौ, को-कौ आदि—तथा निरनुनासिक और सानुनासिक – जैसे कौ-कौं, नैंक-नैंक, कै-कैं आदि—दोना रूप एक ही प्रति मे पाये जाते हैं जिनमे से कौन किस रचना के लिए प्रामाणिक माना जाय, कहना सरल नही है। इसी प्रकार एक ही शब्द के विभिन्न रूपो मे से किसको चुना जाय, यह समस्या सपादको को बराबर उलझन मे डाले रहती है। यदि वे शब्दो को एक रूप देने का प्रयत्न करते है, जैसा स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'विहारी-रत्नाकर' और 'सूरसागर' मे अथवा डाक्टर श्यामसुदर ने 'कबीर-ग्रथावली' का सपादन करते समय किया था, तो भी हिंदी के अनेक विद्वान सहमत नही होते, और यदि अन्य सपादको की तरह शब्दो के विभिन्न रूप रखते है तो भी सबको सतोष नही होता। किसी सस्करण मे भाषा का मिश्रित रूप तो आपत्ति का कारण होता ही है, परतु यदि उसे ठेठ रूप दिया जाय तो भी विद्वानो को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि यह आवश्यक नही कि कवि-विशेष ने ठेठ रूपो का ही प्रयोग किया हो*। ऐसी स्थिति मे सपादक की कठिनाइयो का अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं।

---

२. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ३९-४०।

*डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ४१।

साथ-साथ आर्थिक कठिनाई भी प्राय सभी सपादको के सामने आरभ से रही है। हमारा यह दुर्भाग्य है कि न तो हमारे प्रकाशको की साहित्यिक प्रकाशनो मे इतनी रुचि है कि वे परिश्रम से शोधित ग्रथो का उपयुक्त रूप मे प्रकाशन करके उचित पारिश्रमिक दे सकें, न हिंदी-भाषी जनता मे साहित्य के प्रति इतना प्रेम है कि ऐसे ग्रथो को सोत्साह क्रय कर सके, न हमारी साहित्यिक सस्थाओ की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी है कि ऐसे कार्यों मे लगे व्यक्तियो की पर्याप्त सहायता कर सकें अथवा उनके लिए अपेक्षित साधन ही जुटा सकें और न हमारा शासक-वर्ग ही इन कार्यों को इतने महत्व का समझता रहा है कि ऐसे प्रयत्नो का सम्मान करे अथवा उनके कर्त्ताओ को प्रोत्हासित करने के उद्देश्य से उचित रूप से पुरस्कृत कर सके। अतएव समय-साध्य, व्यय-साध्य और श्रम-साध्य सपादन-कार्य मे प्राय वे ही विद्वान सलग्न रह सके जिनमे साहित्य के प्रति सहज अभि-रुचि थी, साहित्य सेवा जिनके लिए एक व्यसन था, जो साधन-सपन्न थे और जिनको सपादन-कार्य से थोथी ख्याति अथवा आर्थिक लाभ का लोभ नही था।

संपादको का दृष्टिकोण और कार्य—

इसमे कोई सदेह नही कि प्राचीन ग्रथो के सभी सपादको का दृष्टिकोण उसके मूल रूप को प्रकाश मे लाना रहा है, परतु सफलता इने-गिने व्यक्तियो को ही मिल सकी है। इसका कारण यह नही माना जा सकता कि उनका, व्रजभाषा और उसके साहित्य का अध्ययन और ज्ञान अधूरा था अथवा उनमे शोध-सबधी लगन का अभाव था, प्रत्युत वास्तविकता यह है कि प्राय सभी प्रयत्न व्यक्तिगत रूप मे किये गये जिससे प्रत्येक युग की व्रजभाषा की प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन-सबधी सर्वमान्य सिद्धात कभी निश्चित नही किये जा सके। दूसरी बात यह कि सपादन-कार्य मे लगे हुए व्यक्तियों मे से अधिकाश का दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टि से पूर्णत वैज्ञानिक नही था और उनमे से अनेक तो पाश्चात्य भाषातत्वज्ञो द्वारा निर्धारित नियमो को ही हिंदी भाषा के विभिन्न रूपो मे घटित करते तथा उनके उदाहरण ढूंढते रहे। व्यक्तिगति रुचि के अनुसार इन विद्वानो ने प्राचीन पाठो मे से, बिना विशेष माथा-पच्ची किये, एक स्वीकार कर लिया, कभी कभी अर्थ की सगति के लिए अपनी इच्छानुसार उसमे सशोधन भी कर लिये। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो यह पद्धति अनुपयुक्त थी ही, उन स्वर्गीय साहित्य-कारो के प्रति यह कार्य एक अक्षम्य अपराध था और भावी अध्येताओ के लिए इन लोगो ने शोध कार्य-सबधी पथ-प्रदर्शन न करके उनके मार्ग को और भी जटिल बना दिया।

उचित दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता—

तात्पर्य यह कि हिंदी में प्राचीन साहित्य के उद्धारको ने यद्यपि सपादन-सबधी ध्येय का आदर्श रूप अपने सामने रखा अवश्य, तथापि अधिकाश के कार्य को वस्तुत: वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। अनेक पाठो मे से, अर्थ-सगति की दृष्टि से एक को स्वीकार कर लेना अथवा शब्द-विशेष के वर्तनी-सबधी अनेक रूपो मे से एक को विशुद्ध

मानकर उसी के अनुसार सभी वैसे शब्दो मे एकरूपता लाने के लिए निसकोच परिवर्तन कर देना—अधिकाश हिंदी-सपादको की यही प्रणाली आरंभ से रही है। वस्तुत. यह 'सपादन करना नही, ग्रथो को अपने मतानुसार शोध देना हुआ'[3]। वैज्ञानिक सपादन-कार्य इससे कही कठिन है। ग्रथ-विशेप की अधिक से अधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करके, उनमे से कभी प्राचीनतम को और कभी रचयिता के स्थान मे प्राप्त प्रति को आधार मानकर, रचनाकाल की परिस्थिति के अनुसार, भाषा की प्रकृति को ध्यान मे रखते हुए, 'प्रत्येक सदिग्ध शब्द का तुलनात्मक और ऐतिहासिक ढग से अध्ययन करके वह पाठ स्थिर करना जो ग्रथकार ने वास्तव मे लिखा होगा, वैज्ञानिक सपादन कहलाता है'[४]। स्पष्ट है कि इस कार्य मे सफलता पाने के लिए व्यक्ति मे विद्वता के साथ साथ अपार धैर्य और लगन तो अपेक्षित है ही, यदि वह पर्याप्त साधन-सपन्न नही है तो तद्विपयक विद्वानो का सहयोग और किसी प्रतिष्ठित साहित्यिक सस्था का सरक्षण भी कम से कम इस रूप मे आवश्यक हो ही जाता है कि कोरी व्यवसायी मनोवृत्ति वाले प्रकाशको के अस्वीकार कर देने पर वह सपादित ग्रथ के प्रकाशन का व्यवस्थित प्रबध करके सपादक का श्रम सार्थक कर सके। यही कारण है कि व्यक्तिगत रूप से किये गये इने-गिने प्रयत्नो को छोडकर प्राय समस्त सपादन-कार्य नागरी-प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिंदुस्तानी अकेडमी आदि के तत्वावधान अथवा विभिन्न विश्वविद्यालयो के सरक्षण मे ही सपन्न हो सका है।

सूर-काव्य के पाठ की समस्या—

सूरदास जन्माध थे अथवा वाद मे अधे हुए, इस सबंध मे विद्वानो मे भले ही मतभेद हो, परन्तु इस विषय मे प्राय सभी एकमत है कि कवि ने स्वय अपनी रचनाओ की कोई प्रति कभी नही लिखी। वल्लभाचार्य जी से भेट होने पूर्व उन्होने जो विनय-पद रचे थे, उनको उन्होने स्वय लिखा भी था, ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख नही मिलता। जो विद्वान यह मानते हैं कि वे जन्माध थे[५], वे तो कवि के द्वारा लिखे जाने के पक्ष मे हो ही नही सकते, परन्तु जिनका इस विषय मे मतभेद है वे भी इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि रचनाकाल की अवस्था मे सूर अवश्य अधे और कुछ लिखने-पढ़ने में सर्वथा असमर्थ थे[६]। अतएव यह सर्वमान्य है कि सूरदास के रचे पद मित्र या शिष्य सुनते ही लिख लेते थे। एक ही व्यक्ति ने सदैव इन पदो को लिखा नही होगा, फलस्वरुप कवि के समय मे ही पदो के शब्द रूपो मे वर्तनी- सबधी

---

३. डा० धीरेंद्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ४१।

४. डा० धीरेंद्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', वक्तव्य, पृ० ३।

५. (क) महाराज रघुराजसिंह, 'रामरसिकावली', 'सूरदास' शीर्षक प्रसग।
(ख) 'अष्टछाप', कांकरोली, पृ० ४-५।

६. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २०३।

अंतर हो जाना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। स्वय सूरदास किस रूप को मानते थे अथवा किसके प्रति उनकी रुचि विशेष थी, इसका भी प्रश्न उठाना निरर्थक है, क्योकि इसके जानने का कोई साधन उपलब्ध नही है। सूरदास के रचे पदो के, मित्रो या शिष्यो द्वारा समय-समय पर लिखे पाठो का धीरे-धीरे प्रचार बढने लगा। कुछ प्रेमी भक्तो ने उनकी प्रतिलिपियाँ कर या करा ली और कुछ ने केवल कठ करके उनके रस का आस्वादन कर जीवन को सार्थक माना। अनेक गायक भी इन पदो को गा-गाकर आजीविका-अर्जन मे लगे। अतएव, सभव है कि सूर-काव्य के दो पाठ उनके जीवन के अन्तिम-काल मे ही प्रचलित हो गये हो—एक तो लिखित पाठ और दूसरा, कठस्थ पाठ।

क. लिखित पाठ—कवि के मित्रो और शिष्यो द्वारा लिखित सग्रहो की प्रतिलिपियो मे प्राप्त पाठ। ऐसी अनेक प्रतिलिपियाँ वल्लभसप्रदायी मदिरो मे और काव्य-प्रेमियो के पास सुरक्षित रही। भाषा की दृष्टि से ऐसी प्राचीन प्रतियो का पाठ किसी सीमा तक शुद्ध माना जा सकता है।

ख. कठस्थ पाठ—भक्तो और गायको के कठो मे सुरक्षित पाठ। किसी भी कवि के गेय पदो को कठ करनेवाले भक्तो और गायको के उद्देश्य और दृष्टिकोण मे अन्तर रहता है। अतएव इस प्रकार के पाठ भी दो रूपो मे मिलते है—

अ. भक्तो का कठस्थ पाठ—निजी अथवा दूसरो के मनोरजन के लिए तथा मदिर की कीर्तन-सेवा और आध्यात्मिक साधना के लिए अनेक साधु और भक्त प्रतिष्ठित कवियो की रचनाएँ कठ कर लेते हैं। इसी प्रकार सूरदास के पद कठस्थ करके इस वर्ग के व्यक्तियो ने अपने साथ-साथ उनको भी उत्तरी भारत के विभिन्न धर्म-स्थानो मे पहुँचा दिया। कालातार मे यह पाठ भी लिपिबद्ध हुआ। इन कठस्थ पदो के पाठ मे कुछ परिवर्तन तो उच्चारण-सुविधा और अर्थ-सुगमता की दृष्टि से अनजान मे ही होते रहे और कुछ स्थानीय विभापाओ और बोलियो के मिश्रण के कारण धीरे-धीरे होते गये।

आ गायको का कठस्थ पाठ—गायको की मडली मे सुरक्षित कठस्थ पदो के पाठ मे प्राय स्वर और ताल की दृष्टि से समय समय पर परिवर्तन किये गये। राग-रागिनियो के सबध मे गायक-गायिकाओ की रुचि मे सदैव भिन्नता रहती है और सभी सगीतज्ञ दूसरे रागो के पदो को अपने प्रिय रूप मे ढालने का प्रयत्न किया करते हैं। सूरदास के पदो का यह पाठ विभिन्न सगीत-सग्रहो मे प्राप्त है।

सूर-काव्य के सभी प्रतिलिपिकारो के दृष्टिकोण और ज्ञान मे तो स्वाभाविक अन्तर सदैव रहा ही, समय का व्यवधान भी प्राय कम नही था। सामान्य युग मे भी सौ, दो सौ वर्ष के अतर से भापा का रूप बहुत-कुछ बदल जाता है, फिर सोलहवी से अठारहवी शताब्दी तक, सौ-सवा सौ वर्षों को छोडकर, बराबर राजनीतिक उथल-पुथल ही रही। अरबी-फारसी आदि विदेशी भापाओ का प्रचलन भी देश मे दिन-दिन अधिक

होता गया और अकबर के राजत्वकाल मे, फारसी के राजभाषा हो जाने पर, देश की कोई भाषा उसके प्रभाव से न बच सकी। यद्यपि प्रतिलिपिकार का भाषाक्षेत्र-विशेष के इन सब परिवर्तनो से कोई प्रत्यक्ष सबध नही रहता, क्योकि उसे तो प्राप्त रचना या ग्रथ की प्रतिलिपि भर कर देनी होती है, तथापि इस व्यवधान के कारण एक सी प्रकृति न रखनेवाली भाषाओ के पारस्परिक सबध का कुछ न कुछ प्रभाव शिक्षित समाज पर अवश्य पडता है और उसी के अनुसार प्रतिलिपिकारो की भाषा भी परोक्ष रूप से हर पीढी मे कुछ न कुछ परिवर्तित होती रहती है। हस्तलिखित ग्रथो के अधिकाश लेखक प्राय: अपने कार्य का गुरुत्व नही समझते और दायित्व के निर्वाह मे भी बहुत सावधान नही रहते, क्योकि वे जानते है कि मूल पाठ से मिलान करके प्रतिलिपि की शुद्धता-अशुद्धता जाँचने का प्रश्न प्राय नही ही उठता। जिन लेखको ने स्वय अपने लिए प्रतिलिपियाँ तैयार की, उन्होने तो कभी-कभी यहाँ तक स्वतन्त्रता से काम लिया कि स्व-रचित अनेक रचनाएँ भी उनमे निसकोच सम्मिलित कर दी। अतएव कुछ तो उक्त कारणो से और कुछ हस्त-लेख के दोष से समस्त प्राचीन काव्य-साहित्य के समान ही सूर-काव्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियो का पाठ भी बहुत भिन्न और कही-कही तो अस्पष्ट हो गया है।

सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ—

सूरदास के नाम से लगभग दो दरजन ग्रथो का उल्लेख विभिन्न शोध-विवरणो मे हुआ है। अधिकाश विद्वान इन ग्रथो मे से केवल तीन—'सूरसागर', 'सूर सारावली' और 'साहित्यलहरी'—को ही अष्टछापी सूरदास की रचनाएँ मानते हैं। 'सूरसागर' की जो प्रतियाँ आज तक प्राप्त हुई हैं उनमे से कुछ मे लिपिकाल दिया हुआ है और कुछ मे नही। लिपिकालवाली प्रतियो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. सरस्वती-भण्डार, उदयपुर की सवत् १६९७ की प्रति। इस प्रति का विवरण राजस्थानी खोज-रिपोर्ट मे प्रकाशित हुआ है[७]। इसका लिपिकाल 'प्राक्कथन' (पृष्ठ ग) मे सवत् १६९५ दिया हुआ है, परन्तु 'विशेष परिचय' (पृष्ठ १५८) मे १६९७। इस पुस्तकालय की ग्रथ सूची मे 'सूरसागर' की एक प्रति का लिपिकाल सवत् १६९७ दिया हुआ है[८]। अत यही ठीक जान पडता है। यह प्रति राठौर वश की मेडतिया शाखा के महाराज किशनदास के पठनार्थ लिखी गयी थी। इसमे ८१२ चुने हुए पद है। अब तक प्राप्त 'सूरसागर' की समस्त प्रतियो मे कदाचित यही सबसे प्राचीन है।

२. सवत् १७३५ की प्रति। खोजरिपोर्ट[९] मे इसका सरक्षण-स्थान अज्ञात लिखा है और अब यह प्रति भी प्राप्त नही है।

---

७. 'राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज', प्रथम भाग, पृ० १५८।

८. A Catalogue of Mss in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282.

९. 'हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज-रिपोर्ट', सन् १९०६।

३. प० नटवरलाल चतुर्वेदी, कुआँ गली, मथुरा की सवत् १७४५ की प्रति। इसमे दशम, एकादश और द्वादश स्कध ही हैं। १७४५ इसकी पद सख्या है या लिपि सवत्—यह भी स्पष्ट नही होता[१०]।

४ बाबू केशवदास शाह, काशी की सवत १७५३ की प्रति। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सन् १९३४ मे प्रकाशित 'सूरसागर' का पाठ जिन प्रतियो से मिलान करके निर्धारित किया गया था, उनमे यह सबसे प्राचीन मानी गयी है[११]।

५ सरस्वती-भडार, उदयपुर[१२] की सवत् १७६३ की प्रति। इसमे केवल १७० चुने हुए पद हैं। अतएव इसे 'सूरसागर' नही कहना चाहिए। परतु प्राचीन प्रति होने के कारण पाठ-सिद्धात-निर्णय की दृष्टि से यह कुछ काम की हो सकती है।

६ डा० रामप्रताप सिह, बरौली, भरतपुर की सवत् १७९८ की प्रति। इसमे २०९५ पद हैं। दशम स्कध के अतर्गत इसमे केवल १ पद है, परतु बारहवें मे १७४५ पद हैं। जान पडता है कि दशम स्कध के ही पद बारहवें मे मिल गये हैं। यदि ऐसा नही है और बारहवें स्कध की पद-सख्या वास्तव मे ठीक है, तो यह प्रति बडे महत्व की है[१३] और इससे 'सूरसागर' की पद-सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हो जाने की आशा है।

७. वृदावन की सवत् १८१३ की प्रति। इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था[१४]।

८. सवत् १८१६ की प्रति। इसका सरक्षण-स्थान और विवरण अज्ञात है[१५]।

९. श्री गणेश बिहारी मिश्र, (मिश्र-बधुओ मे ज्येष्ठ) जौनपुर की सवत् १८५४ की प्रति। इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था[१६]।

१० श्यामसुदरदास अग्रवाल, मशकगज, लखनऊ की सवत् १८६६ की प्रति। इसमे ३९६४ पद है[१७]। आजकल यह प्रति अग्रवाल जी के उत्तराधिकारी लाला मोहन लाल अग्रवाल के पास है। डा० दीनदयालु गुप्त ने यह प्रति दो बार देखी है[१८]।

---

१० खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६।

११. 'सचित्र सूरसागर', निवेदन, पृष्ठ २।

१२ (क) राजस्थान मे हिंदी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, प्रथम भाग, पृ० २५९।

(ख) A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282-83.

१३ खोज रिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६, पृ० २६९।

१४ 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

१५ खोज रिपोर्ट, सन् १९०६।

१६. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

१७. खोज रिपोर्ट, सन् १९०१, पृ० २९।

१८. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० १६८।

११. वावू कृष्णजीवनलाल, वकील, महावन, मथुरा की सवत् १८६७ की प्रति। इसमे 'दशम स्कध' नही है[१९]। वारहवें स्कध मे १७४५ पद है। जान पडता है, दशम स्कध के पद ही वारहवें मे सम्मिलित हो गये हैं। यदि ऐसा नही है तो ठा० रामप्रतापसिह की तरह यह प्रति भी वहुत महत्वपूर्ण है।

१२. विजावरराज-पुस्तकालय की सवत् १८७३ की प्रति। इसका विशेप विवरण अज्ञात है[२०]।

१३. श्री मातगध्वजप्रसाद सिंह, विसवाँ, अलीगढ की सवत् १८७६ की प्रति। यह दो भागो मे है। प्रथम मे १ से ९ स्कध की कथा ४६२ पदो मे है और दूसरे मे दशम, एकादश और द्वादश स्कधो की कथा १३४२ पदो मे है। इसमे कुल २८०४ पद हैं[२१]।

१४. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की सवत् १८८० की प्रति। इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था[२२]।

१५. राय राजेश्वरवली, दरियावाद की संवत् १८८८ की प्रति। यह फारसी लिपि मे है। इसकी लिखावट सुदर है। अक्षरो के नीचे नुकते नही दिये गये हैं। 'रत्नाकर' जी ने इसका उपयोग किया था और मतभेद के अवमर पर पाठ-निर्धारण मे उन्हे इससे विशेप सहायता मिली थी[२३]।

१६. कालाकाँकर, राज-पुस्तकालय की सवत् १८८९ की प्रति। 'रत्नाकर' जी ने इसका उपयोग किया था[२४]।

१७ पं० शिवनारायण वाजपेयी, वाजपेयी का पुरवा, सिसैया, वहराइच की संवत् १८९९ की प्रति। विशेप विवरण अज्ञात है[२५]।

१८. प० लालमणि वैद्य, पुवार्या, सहारनपुर की संवत् १९०० की प्रति। यह तीन भागो मे है और उपलब्ध प्रतियो मे कदाचित् सवसे वडी है[२६]।

१९. जानीमल खानचद, काशी की सवत् १९९२ की प्रति। यह प्रति पुस्तकाकार है[२७]।

---

१९. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४, सख्या १८५।
२० खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८।
२१. खोज रिपोर्ट, सन्१९१७-१९।
२२. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० १।
२३. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
२४. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
२५ खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५,पृ० १४३३।
२६. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४।
२७. (क) 'सचित्र सूरसागर' का निवेदन, पृ० २।
(ख) 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का निवेदन, पृ० १।

२० नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सवत् १९०९ की प्रति। यह राजा सूवासिंह के पढने के लिए लिखी गयी थी[२८]।

२१ काँकरौली राज-पुस्तकालय की सवत् १९१२ की प्रति। यह पुराने देशी कागज पर लिखी हुई है[२९]।

२२. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की सवत् १९१६ की प्रति। विशेप विवरण अज्ञात है[३०]।

२३ रायकृष्णदास, काशी की सवत् १९२६ की प्रति। यह श्री गयाप्रसाद वैश्य की पत्नी के लिए प० नाथूराम गौड ने लिखी थी[३१]।

'सूरसागर' की उक्त २३ प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमे लिपिसवत् दिया हुआ है जिससे उनकी प्राचीनता का पता लगता है। इनके साथ-साथ इस ग्रथ की ११ ऐसी प्रतियो का भी उल्लेख विविध खोज-विवरणो मे है जिनका लिपिकाल अज्ञात है। इनका सैक्षिप्त ज्ञातव्य परिचय इस प्रकार है —

१ प्राप्तिस्थान—दतिया राज-पुस्तकालय। इस पुस्तकालय मे 'सूरसागर' की दो प्रतियाँ हैं[३२]।

२. प्राप्तिस्थान—भारतेंदु बाबू हरिश्चद पुस्तकालय, चौखभा, काशी। प्रति खडित है; इसमे केवल दशम स्कध का पूर्वार्द्ध है। श्री राधाकृष्णदास ने इस प्रति का उपयोग किया था[३३]।

३ प्राप्तिस्थान—बाबू रामदीन सिंह, बाँकीपुर, पटना। यह प्रति भी अपूर्ण है। इनमे केवल प्रथम से नवम स्कध तक के पद ही हैं। बाबू राधाकृष्णदास ने इसका भी उपयोग किया था[३४]।

४ प्राप्तिस्थान - श्री १०८ महाराज काशिराज बहादुर का पुस्तकालय। दूसरी और तीसरी प्रतियो की तरह यह भी खडित प्रनि है। इसमे दशम उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कधो के ही पद हैं। इसका उपयोग भी बाबू राधाकृष्णदास ने किया था[३५]।

५ प्राप्तिस्थान—प० लालमणि मिश्र, शाहजहाँपुर। इस प्रति से 'रत्नाकर' जी को 'अधिक पद' लिखने मे विशेप सहायता मिली थी[३६]।

---

२८ 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
२९ 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन' पृ० २।
३० 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
३१. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
३२ खोजरिपोर्ट, सन् १९०६ ८।
३३. 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का 'निवेदन', पृ० १।
३४ 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का निवेदन', पृ० १।
३५ 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का 'निवेदन', पृ० १।
३६ 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० १।

६ प्राप्तिस्थान –नागरी प्रचरिणी सभा, काशी। यह प्रति पुस्तकाकार है[३७]।

७. प्राप्तिस्थान—बाबू पूर्णचद नाहर, कलकत्ता। इस पुस्तकाकार प्रति के पाठ अच्छे हैं। 'रत्नाकर' जी को कई अवसरो पर इससे बहुमूल्य सहायता मिली थी। अक्षर कई प्रकार के होने पर भी प्रति सुपाठ्य है[३८]।

८. प्राप्तिस्थान—बाबू श्यामसुदरदास, काशी। यह प्रति अब नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की सपत्ति है[३९]।

९ प्राप्तिस्थान—स्वर्गीय पडित बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०। भट्टजी के पास 'सूरसागर' की दो प्रतियाँ थी; परतु दोनो मे से एक भी पूर्ण नही थी[४०]।

१०. प्राप्तिस्थान—भिगाराज पुस्तकालय, बहराइच। इसमे २१२४ पद है[४१]।

११. प्तिस्थान—सरस्वती-भडार, उदयपुर। इसका विशेप विवरण अज्ञात है[४२]।

सूरदास के सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रथ 'सूरसागर'[४३] के अतिरिक्त 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' नामक दो और ग्रथ उनके बनाये कहे जाते है। 'सूरसारावली' जिस रूप मे लखनऊ और बबई के 'सूरसागरो' के साथ प्रकाशित हैं, वैसी किसी प्रति का पता अभी तक नही लगा है और न तत्सबधी कोई उल्लेख ही किसी खोजरिपोर्ट मे हुआ है। सूरदास के इस नाम के एक ग्रंथ का विवरण राजस्थान की खोजरिपोर्ट मे अवश्य मिलता है[४४], परंतु नाम-साम्य होने पर भी यह ग्रंथ 'सूरसागर' के पदों का ही सग्रह जान पड़ता है, क्योकि 'व्रज तैं पावस पैं न गयी' से आरम्भ होनेवाला पद इसके अंतिम पद के रूप मे उद्धृत किया गया है। सरस्वती-भडार, उदयपुर की ग्रथ-सूची मे 'सूर-सारावली' नामक जिस काव्य का उल्लेख है[४५], सभवत. उसी का विवरण राजस्थानी रिपोर्ट मे मिलता है, क्योकि दोनो का लिपिसवत् १७७५ ही है।

---

३७. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

३८. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

३९. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० ३।

४०. खोजरिपोर्ट', सन् १९२३-२५, पृ० १४३४।

४१. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, पृ० १४३६-३७।

42. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Uda'pur (Mewar), page 282-33.

४३. 'सूरसागर' की उक्त प्रतियो के अतिरिक्त कुछ और प्रतियो का उल्लेख पडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनंदन-ग्रथ' मे प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका स्वरूप" शीर्षक लेख (पृ० १२३-१२९) मे किया है—लेखक।

४४. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित-ग्रंथो की खोज', प्रथम भाग, पृ० १५९।

45. A Catalogue of Mss in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 284-85.

१ 'साहित्यलहरी' की भी किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के प्राप्त होने का उल्लेख किसी खोजरिपोर्ट मे नही है[४६]। दो अपूर्ण कूट-पद-सग्रहो की चर्चा कई स्थानो पर अवश्य हुई है और उनके साथ टीका भी मिलती है। दोनो सग्रहो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

'सूरदास जी के दृष्टकूट' अथवा 'सूर-शतक सटीक'—प्राप्तिस्थान—भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र पुस्तकालय, चौखंभा, काशी। खोजविवरण के अनुसार यह सटीक सग्रह श्री वल्लभ-सप्रदाय के आचार्य, काशीस्थ श्री गोपाल लाल जी के शिष्य बालकृष्ण ने अपने गुरु की आज्ञा से गुजरात माननगर मे प्रस्तुत किया था[४७]। श्री राधाकृष्णदास ने सूरदास जी के सम्बन्ध मे भारतेंदु हरिश्चद्र जी की एक टिप्पणी उद्धृत की है। उसमे भी दृष्टकूटो की एक टीका का उल्लेख किया गया है[४८]। इस ग्रथ की दो सटीक प्रतियाँ काँकरौली विद्याविभाग के पुस्तकालय मे और एक प्रति नाथ-द्वार निज पुस्तकालय मे होने का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने किया है[४९]।

२. सूर-पदावली गूढार्थ—इसका प्राप्तिस्थान और इसके टीकाकार का नाम अज्ञात है। डा० पीताबरदत्त बडथ्वाल के अनुसार यह सूरदास के दृष्टकूटो की विद्वतापूर्ण टीका है जिसमे अनेक पदो के तीन-तीन या चार-चार तक अर्थ दिये गये हैं[५०]।

उक्त तीन प्रमुख ग्रथो के अतिरिक्त सूरदास के नाम से प्राप्त २२ ग्रथो का उल्लेख विविध शोध-विवरणो और अनुसधानपूर्ण ग्रथो मे समय-समय पर हुआ है जिनमे से कुछ निश्चय ही 'सूरसागर' के कवि-रचित नही हैं। अकारक्रम से उनके नाम और सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ एकादशी माहात्म्य – इस ग्रथ की सवत् १९२३ की लिखी एक प्रति प्राप्त हुई है जिसमे लेखक का नाम सूरजदास दिया हुआ है। इस ग्रथ मे ६३ पद्य हैं। खोजरिपोर्ट मे इसका विषय इस प्रकार बताया गया है – प्रथम वदना, तत्पश्चात् सत्यवादी राजा हरिश्चद्र और इनके पुत्र रोहितास की प्रशसा तथा कथा वार्ता आदि का वर्णन है[५१]। अवधी भाषा, दोहा-चौपाई-शैली, गणेश, शारदा आदि तैंतीस देवता और माता-पिता की स्तुति के क्रम आदि को देखते हुए यह ग्रथ सूर-कृत नही जान पडता।

---

४६ 'साहित्यलहरी' अथवा 'दृष्टकूट पद' की कुछ अन्य प्रतियों का उल्लेख पडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनदन-ग्रथ' मे प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका स्वरूप" शीर्षक लेख (पृ० १३०-३१) मे किया है—लेखक।

४७ खोजरिपोर्ट, सन् १९००, स० ६, पृ० २०।

४८ 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) मे 'श्री सूरदास जी का जीवन चरित्र', पृ० ४।

४९ 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ २९४।

50. Report on the search for Hindi Mss. in the Delhi Province for 1931, pages 14 and 45

५१. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८७ बी, पृ० ३७४।

२. (सूरदास-कृत) कबीर—इस छोटी-सी पुस्तक मे होली के कबीरो की शैली मे राधा-रानी के नखशिख का वर्णन है[५२]। जान पडता है कि 'सूरसागर' के ही तत्संबधी पदो को कबीरो की शैली मे राधा-रानी के किसी भक्त ने ढाल लिया है।

३. गोबर्द्धन-लीला—इस प्रति मे ३०० पद है। खोजरिपोर्ट मे इस ग्रथ के जो उद्धरण दिये हुए हैं[५३], वे वेकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' मे २२२ पृष्ठ के कुछ पदो से मिल जाते हैं[५४]। अत यह सूरदास का स्वतत्र ग्रंथ न होकर, उनके स्फुट पदो का सकलन मात्र है।

४. (सूरसागर) दशम स्कध—इस ग्रथ की दो प्रतियो का उल्लेख खोजरिपोर्टों मे है। एक की पद-सख्या खोज रिपोर्ट मे १९१३ दी गयी है[५५], दूसरी प्रति बावू पद्मनरुश सिह (लवेदपुर, बहराइच) के पास है जिसमे १०३ पत्र हैं[५६]। ये ग्रथ वस्तुत. 'सूरसागर' के ही 'दशम स्कध' के सक्षिप्त सस्करण हैं।

५. दशम स्कंध टीका[५७]—इस ग्रथ मे भी 'सूरसागर' के ही पद सकलित है। इसका लिपिकाल अज्ञात है।

६. नलदमयती[५८]—बावू राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' की भूमिका मे इस ग्रथ को सूरदास-कृत लिखा है[५९]। बाद को मिश्रबधुओ ने भी 'नवरत्न' मे इसे उन्ही की रचना कहा है[६०]। परंतु इधर डाक्टर मोतीचद के एक लेख के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि इस काव्य के लेखक 'सूरदास' नाम-धारी होने पर भी 'सूरसागर' के कवि से भिन्न हैं और उनका सबध सूफी संप्रदाय से है[६१]।

७. नागलीला—इस ग्रथ की दो प्रतियो का उल्लेख खोजरिपोर्टों मे है। एक का लिपिसवत् १८८९ है[६२] और दूसरी का १९३४[६३]। दोनो प्रतियो मे सूरदास जी के

---

५२ खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, द्वितीय भाग, स० ४१६ सी, पृ० १४३०।

५३. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६, पृ० ३७२।

५४ 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८१।

५५. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, स० २४४, पृ० ३२४।

५६. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, स० ४१६ जे, पृ० १४३७।

५७. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४ डी।

५८. खोजरिपोर्ट, सन् १९०९-११, 'भूमिका', पृ० ८।

५९. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २६५।

६०. 'नवरत्न', चतुर्थ सस्करण, पृ० २३९।

६१. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ४०, अक २ मे प्रकाशित डा० मोतीचद एम० ए०, पी-एच० डी० का 'कवि सूरदास-कृत नल-दमयती काव्य' शीर्षक लेख, पृ० १२१-१३८।

६२. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६, स० १८७।

६३. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, पृ० ३२४।

कालीय नाग-नाथन-लीला सबधी पदो का सग्रह है। अत इस ग्रथ का भी स्वतत्र महत्व नही है।

८. **पद-संग्रह**—सूरदास के पदो के इस संग्रह की दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—एक जोधपुर के[६४] और दूसरी दतिया के[६५] राज-पुस्तकालय मे है। केवल 'पद' नाम से सूरदास-कृत पदो का एक सकलन उदयपुर के सरस्वती-भडार नामक पुस्तकालय मे है[६६]। इसी प्रकार इस पुस्तकालय की ग्रथ-सूची मे 'फुटकर-पद नाम से एक और सग्रह का उल्लेख हुआ है[६७]। इन सबमे 'सूरसागर' के चुने हुए पद हैं।

९. **प्राणप्यारी**—खोजरिपोर्ट मे यह पूरी रचना उद्धृत है। इसमे ३२ पद हैं और विषय 'श्याम-सगाई' है[६८]। डा० गुप्त ने इसे सूर की सदिग्ध रचना माना है[६९]।

१० **भागवत भाषा**—इस नाम से प्राप्त दो प्रतियो का उल्लेख खोज-रिपोर्टों मे है, एक का लिपिकाल संवत् १७४५ है[७०] और दूसरी का सवत् १८६७[७१]। वास्तव मे यह स्वतत्र ग्रथ नही हैं, 'सूरसागर' का ही व्याख्यात्मक नाम 'भाषा-भागवत' समझना चाहिए।

११ **भँवरगीत**—इस ग्रथ की दो प्रतियो का उल्लेख एक खोजरिपोर्ट मे[७२] और एक अपूर्ण प्रति का सरस्वती-भडार पुस्तकालय की ग्रथ-सूची मे है[७३]। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस नाम की जिन प्रतियो की आलोचना की है[७४], वे संभवत वर्तमान युग मे सकलित हुई हैं। उक्त तीनो प्राचीन प्रतियो मे भी 'सूरसागर' के ही पद सगृहीत हैं।

१२ **मानसागर**—इस नाम के सूर-कृत ग्रथ की एक प्रति का उल्लेख सरस्वती

---

६४ खोजरिपोर्ट, सन् १९०२, स० २९२, पृ० ८२०।

६५ खोजरिपोर्ट, सन् १९०६ ८, पृ० ३२४।

६६ A Catalogue of Mss in the Library of H H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 224-25

६७ A Catalogue of Mss. in the Library of H. H the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 234-35

६८. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६ एफ, पृ० ३७३।

६९ 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय,' प्रथम भाग, पृ० २८२।

७० खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६ ए।

७१ खोजरिपोर्ट, सन् १९१२-१४, सं० १८५ ए, पृ०२३६।

७२ खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, स० ४१६ ए और ४१६ बी, पृ० १४२८-२९।

73 A Catalogue of Mss in the Library of H H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 242-43.

७४. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८६।

भंडार पुस्तकालय की सूची मे है[७५] और दूसरी; डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार, नाथद्वार पुस्तकालय मे है। काँकरौली के पुस्तकालय मे मानलीला' नाम से, स्वतंत्र ग्रथ-रूप मे, इसकी कई प्रतियाँ देखने का भी उन्होने उल्लेख किया है[७६]। सवत् १९९९ के कार्तिक मास की 'व्रजभारती' मे पडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने सपूर्ण 'मानसागर' प्रकाशित किया था जो वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' के पृष्ठ ४०९ से १२ तक के पदो से मिलता है। अतएव 'मानलीला' या 'मानसागर', 'सूरसागर' से उद्धृत एक छोटी सी रचना है।

१३. **राम-जन्म**—इसके कवि का नाम खोजरिपोर्ट मे सूरजदास दिया हुआ है[७७]। अवधी भाषा और दोहे-चौपाई-शैली मे होने के कारण यह ग्रथ 'सूरसागर' के कवि का नही हो सकता।

१४. **रुक्मिणी विवाह**[७८]—इस संग्रह मे श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-विवाह-सवधी पद 'सूर-सागर' से उद्धृत कर लिये गये है।

१५. **विष्णुपद**—संवत् १९०४ की लिखी हुई इस पुस्तक की एक अपूर्ण प्रति मिली है जिसमे श्रीकृष्ण-लीला, यशोदा-नंद का श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य, राधा-कृष्ण-प्रेम आदि विषयो से सबधित पद सकलित है[७९]। 'सूरसागर' से ही इसमे चुने हुए पदो का सग्रह किया गया है।

१६. **व्याहलो**—इसमे राधाकृष्ण-विवाह सवधी २२ पद है। खोजरिपोर्ट मे आदि, मध्य या अत के उद्धरण नही है[८०], इसलिए निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह ग्रथ सूर का है या नही। इसी नाम के और भी तीन ग्रथ खोज मे मिले है—एक, विहारिनीदास-कृत[८१], दूसरा, हितहरिवश-सप्रदाय के ध्रुवदास-कृत[८२] और तीसरा, नारायणदास-कृत[८३]। सूरदास के नाम से प्राप्त ग्रथ के उद्धरण न होने से यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इन्ही तीनो मे से किसी को सूरदास-कृत कह दिया गया है अथवा किसी ने उक्त नाम पसद करके, 'सूरसागर' से तद्विपयक पदो का संकलन करके, उसे ही सूर-कृत प्रसिद्ध कर दिया है।

---

75. A Catalogue of Mss in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 246-47

७६. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

७७. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८७ ए, पृ० ३७४।

७८. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ ई, पृ० १४३२।

७९. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, स० ४१६ डी, पृ० १४३१।

८०. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८, स० २४४ ए, पृ. ३२३।

८१. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २१८ ए।

८२ खोज रिपोर्ट, सन् १९०९-११, स० ७३ एल।

८३ 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय,' प्रथम भाग, पृ० २८२।

१७ **सुदामा-चरित्र**[८४]—इस संग्रह मे सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता-सबधी पद 'सूरसागर' से उद्धृत कर दिये गये हैं।

१८ **सूर पच्चीसी**—ज्ञान-सबधी २५ दोहे इसमे सगृहीत है[८५]। यह पद वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' मे पृ० ३१२ पर 'परज' राग के अतर्गत प्रकाशित है। अतएव यह भी सूरदास का स्वतत्र ग्रथ नही है। इसकी एक प्रति उदयपुर के केवलराम दादूपथी के पास है जो 'वाणी-सग्रह' नामक विविध ग्रथो के एक सकलन मे सगृहीत है[८६]।

१९ **सूर-पदावली**—सूर के पदो के स्फुट सग्रह अथवा 'सूरसागर' के सक्षिप्त सस्करण ही 'सूर-पदावली' के नाम से मिलते हैं। ऐसे बारह सकलन बीकानेर के अनूप-सस्कृत पुस्तकालय मे वर्तमान होने की सूचना श्री अगरचद नाहटा ने दी है जिनमे से ग्यारह मे कृष्ण-चरित् सबधी पद हैं[८७]। उदयपुरी सरस्वती-भडार की ग्रथ-सूची मे भी एक 'पदावली' का उल्लेख है[८८]। इन सब पदावलियो का महत्व 'पद-सग्रहो' के समान ही समझना चाहिए।

२० **सूर-सागर-सार**—खोज-रिपोर्ट के सपादक ने इसे कवि का नया प्रामाणिक ग्रथ माना है[८९], परतु उद्धरण-रूप में जो पद उन्होने दिये हैं वे 'सूरसागर' के नवम स्कंध के ही हैं। इसलिए यह भी स्वतत्र ग्रथ नही, कवि के ३७० पदो का सग्रह मात्र है। डा० दीनदयालु गुप्त ने 'सूर-सागर-सार' को 'सूर-सारावली' का ही परिवर्तित नाम कहा है[९०], परन्तु 'सूर-सारावली' नाम से भी सूरदास के स्फुट पदो के सकलन मिलते है जिनमे से एक का विवरण पीछे दिया जा चुका है। अतएव 'सूर-सागर सार' को 'सूर-सागर' के ही पदो का सग्रह मानना उचित जान पडता है।

२१ **सेवाफल**—इस ग्रथ की दो प्रतियो का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने किया है—एक, नाथद्वार निज पुस्तकालय मे है और दूसरी, कॉंकरोली विद्या-विभाग मे[९१]। उनके विवरण के अनुसार इस ग्रथ मे केवल एक लबा पद है जिसे वे सूर-कृत ही मानते हैं।

---

८४. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, द्वितीय भाग, स० ४१६ ई पृ० १४३२।

८५. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४, स० १८५ बी, पृ० २३२।

८६. राजस्थान मे हिंदी के हस्तलिखित ग्रथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० ५८-५९-६०।

८७. 'व्रजभारती,' वर्ष ९, अक ३ मे प्रकाशित श्री अगरचद नाहटा का 'सूर-पदावली' की प्राचीन प्रतियाँ' शीर्षक लेख, पृ० १९।

88. A Catalogue of Mss in the Library of H H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 282-83

८९. खोज रिपोर्ट, सन् १९०९-११, स० ३१३, पृ० ४२१।

९० 'अष्टछाप और वल्लभसप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

९१. 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

२२. हरिवश-टीका—सूरदास के नाम से इस ग्रथ की सूचना 'कैटेलोगस कैटेलोग्रम'[92] और दक्षिण-कालेज पुस्तकालय, पूना की ग्रथ-सूची[93] मे है। परतु सस्कृत मे होने के कारण यह ग्रथ 'सूरसागर' के अधकवि का नही हो सकता।

इनके अतिरिक्त 'सूर-रामायण', 'दान-लीला', 'सूर-साठी' आदि सूरदास के कुछ ग्रंथों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है और इनमे से कुछ प्रकाशित भी हुए है। वास्तव मे इनमे भी 'सूरसागर' के ही तद्विषयक पद उद्‌वृत कर लिये गये है। परतु स्वतत्र रचना न होने के कारण ही इन सकलनो का महत्व समाप्त नही हो जाता, क्योकि कवि के मूल काव्य के सपादन मे कभी-कभी इनसे वड़ी सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। इतना तो निश्चित ही है कि 'सूरसागर' के जो पद उक्त सकलनो मे दिये हुए है, उनमे से अधिकाश काव्य-कला की दृष्टि से सामान्य कोटि के नही हो सकते। अतएव इनकी सहायता से सूरसागर' के श्रेष्ठ भाग का वैज्ञानिक रीति से सपादन किया जा सकता है और इस कार्य की समाप्ति के साथ साथ पाठ-निर्णय-सवधी जो सिद्धात निश्चित किये जायें, उनके आधार पर शेषाश का सपादन-कार्य सपन्न हो सकता है। वावू राधाकृष्णदास की तो वात दूर, वावू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी अपने सस्करण के सपादन मे इन फुटकर सग्रहो से कोई सहायता नही ली थी। इन पक्तियो के लेखक की सम्मति मे 'दशम स्कघ', 'भागवतभाषा', 'सूर-सागर-सार', 'सूर-पदावली', पद-सग्रह', और 'भ्रमरगीत' जैसे संकलनो से पाठ-निर्धारण मे तो सहायता मिलेगी ही, सभव है, इनमे कुछ नये पद भी मिल जायें। अतएव सूर-काव्य-सपादको के लिए ये ग्रथ सर्वाशत उपेक्षणीय नही है।

सूर-काव्य के प्रकाशित संस्करण—

मुद्रण कला का आविष्कार हो जाने के पश्चात् सूर-काव्य के स्फुट सग्रहो के प्रकाशन की ओर लोगो का ध्यान गया। प्राचीन काव्यो के प्रतिलिपिकारो की मनोवृत्ति और प्रणाली के सवध मे ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि उन्होने सपादको के कार्य को सुगम न करके वहुत कठिन वना दिया था। दूसरी वात यह कि उन्नीसवी शताब्दी के सपादक तो वैज्ञानिक सपादन-पद्धति से परिचित थे ही नही, वीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक उनके दृष्टिकोण मे विशेष परिवर्तन नही हुआ था। फिर भी इन सवके प्रयत्न से इतना लाभ तो हुआ ही कि सूर-साहित्य किसी न किसी रूप मे सर्वसाधारण के लिए ही नही, काव्य-प्रेमियो और आलोचको के लिए भी सुलभ हो गया जिससे प्रामाणिक पाठ-सवधी चर्चा प्रारभ होने लगी और सूर-साहित्य की भाषा तथा कला की आलोचना भी सभव हो सकी।

मुद्रित सूर-साहित्य दो रूपो मे प्राप्त है। एक तो सूर-काव्य के स्वतत्र सग्रह के

92. Catalogus Catalogorum by Theodor Aufrecht, pages 731 & 761.

93. A Catalogue of Samskrit Mss in the Library of the Deccan college, page 603.

रूप मे और दूसरे, विभिन्न कवियो की रचनाओ के साथ पाठ्यग्रथो के रूप मे। पाठ्यग्रथो के सपादको ने प्राय स्वतत्र रूप से प्रकाशित सग्रहो मे से कवियो की रचनाओ को ज्यो का त्यो उद्धृत कर लिया और उनके पाठ-शोधन का कोई प्रयत्न नही किया। अतएव वैज्ञानिक सपादन की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नही है। स्वतत्र रूप से प्रकाशित सूर-पद-सग्रह भी दो वर्गो मे विभाजित किये जा सकते है - प्रथम तो ऐसे सग्रह जो हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर तैयार किये गये है और जिनके सपादको ने थोडा-बहुत पाठ-सशोधन-कार्य भी किया है। दूसरे, वे सग्रह जो प्रथम वर्ग के सपादको के श्रम से लाभ उठाकर सकलित कर लिये गये हैं और जिनके सग्रहकारो ने पाठ-निर्णय या शोध की कोई आवश्यकता नही समझी है।

क. सूरसागर—

सूर-साहित्य के सपूर्ण सस्करणो के प्रकाशन का प्रबध इन सकलनो से पहले ही आरभ हो गया था और वास्तव मे वही महत्व का भी है। सन् १८६४ में लखनऊ के नवल-किशोर प्रेस से 'सूरसागर' का एक सस्करण प्रकाशित हुआ[९४]। इसके प्रथम पृष्ठ पर यह वक्तव्य है—अयोध्यापुरी के महाराजा मानसिंह कायम जग प्रतापी की अनुमति से मुशी नवलकिशोर ने मुशी जमुनाप्रसाद को सयुक्त करके प० कालीचरण से अत्यत शुद्ध करके छपवाया[९५]। इस सस्करण के आदि मे 'सूर-सारावली' भी प्रकाशित है। इस सस्करण मे दो भाग हैं—प्रथम मे भिन्न-भिन्न रागो के अनुसार कीर्तन के पद हैं और द्वितीय मे श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के अतर्गत तत्सबधी पद हैं। इस सस्करण मे स्कधों के अनुसार पदो के न दिये जाने का प्रधान कारण सभवत यह है कि इसका सकलन मुख्यत प्रसिद्ध सगीतज्ञ 'रागसागर' श्रीकृष्णानद व्यास द्वारा सग्रहीत और बगीय साहित्य-परिषद्, कलकत्ता की ओर से तीन बडे भागो मे प्रकाशित 'राग-कल्पद्रुम' नामक ग्रथ मे दिये हुए पदो मे से किया गया है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, 'राग-कल्पद्रुम' विभिन्न राग-रागिनियो के अनुसार सकलित वृहत् सग्रह है जिसमे सूरदास जी के कुछ ऐसे पद मिलते हैं जो अन्य हस्तलिखित प्रतियो मे भी नही पाये जाते। इस दृष्टि से यह सस्करण अवश्य महत्व का है।

इसके पश्चात् भारतेंदु जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होने 'सूरसागर' के पद-सकलन का कार्य आरभ किया। परतु उनके असामयिक देहावसान से यह महत्वपूर्ण कार्य प्रारभ होते-होते ही समाप्त हो गया। पश्चात्, उनकी सकलित सामग्री का उपयोग

---

९४ नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९३४ मे राजसस्करण के रूप मे प्रकाशित 'सूरसागर' के प्रथम खड के आरभ में सहायक ग्रथों की एक सूची दी गयी है। इसमें चौदहवीं सख्यक प्रति सन् १८८९ मे कलकत्ता और लखनऊ, दोनों स्थानो से प्रकाशित बतायी गयी है। मेरे पास लखनऊ की १८६४ की प्रकाशित प्रति है। जान पडता है, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के पास उसका दूसरा सस्करण रहा होगा—लेखक।

९५ 'सूरसागर', नवलकिशोर प्रेस, प्रथम सस्करण, आवरण का वक्तव्य।

उनके सबधी बाबू राधाकृष्णदास ने किया और कई वर्ष के परिश्रम के उपरांत बबई के वेंकटेश्वर प्रेस से 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' का सम्मिलित सस्करण प्रकाशित कराया। बाबू राधाकृष्णदास के इस कार्य का सर्वत्र स्वागत हुआ और सूर की कला काव्यालोचना का प्रिय विषय बन गयी।

परंतु प्राचीन व्रजभाषा और सूर की काव्य-भाषा के अध्ययन मे रुचि रखनेवाले विद्वानो को उक्त संस्करणो से पूर्ण सतोष न हो सका। इसमे सदेह नही कि उन्नीसवी शताब्दी के उस युग मे जब वर्तमान साधनो का सर्वथा अभाव था, उक्त दोनो सस्करणो को तैयार करने मे पर्याप्त श्रम और व्यय करना पडा होगा, परतु एक तो उस समय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ सुलभ न होने और दूसरे, वैज्ञानिक संपादन-कला प्रणाली का ज्ञान न होने के कारण, वे सस्करण न तो व्रजभाषा-अध्ययन की दृष्टि से प्रामाणिक आधार माने जा सकते हैं और न पाठ की शुद्धता की दृष्टि से ही। बंबई के सस्करण की सामग्री के सबध मे कुछ विद्वानो का मत है कि उसमे सगृहीत सभी पद प्रामाणिक रूप से अष्टछापी सूरदास-कृत नही कहे जा सकते[९६]। वास्तव मे बाबू राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' की तीन ऐसी अपूर्ण प्रतियो को अपना आधार बनाया था जो कहने को तो तीन प्रतियाँ थी, परतु वास्तव मे बारहो स्कधो के 'सूरसागर' की एक पूर्ण प्रति ही होती थी जैसा कि उन प्रतियो के विवरण[९७] से स्पष्ट है—

अ. पूज्यपाद श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र जी के पुस्तकालय मे पुस्तको को उलटते-पलटते एक बस्ते मे 'सूरसागर' का केवल दशम स्कध का पूर्वार्द्ध हाथ आया।

इ. इसी बीच बाँकीपुर जाने का सयोग हुआ और वहाँ मित्रवर बाबू रामदीनसिंह जी के यहाँ 'सूरसागर' का प्रथम से नवम स्कध तक देखने मे आया।

उ. दशम उत्तरार्द्ध और एकादश-द्वादश स्कध श्री महाराज काशिराज बहादुर के पुस्तकालय से मँगाया गया।

प्रथम संस्करण के मुद्रित हो जाने के पश्चात् बाबू राधाकृष्णदास को काशी के जानीमल खानचद्र की कोठी मे एक सपूर्ण प्रति होने की सूचना मिली। कोठी के स्वामी श्री गिरिधरदास की कृपा से उक्त प्रति प्राप्त करके उसके आधार पर पाठ का मिलान करने के बाद प्रथम संस्करण के अत मे बहुत से नये पद और पदो के भाग दे दिये गये। सन् १९३४ मे 'सूरसागर' का द्वितीय सस्करण प्रकाशित होने पर वे सब उनमे सन्निवेशित कर दिये गये[९८]। आशय यह कि यह द्वितीय आवृत्ति पहली से बहुत उपयोगी बन गयी। इस आवृत्ति मे एक प्रकार से प्राचीन पाठ सुरक्षित है और अन्य 'शोधित' पाठो की अपेक्षा भाषा-सबधी अध्ययन के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

---

९६ 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८०।

९७. 'सूरसागर', वेंकटेश्वर प्रेस, द्वितीय सस्करण, निवेदन, पृ० १।

९८. 'सूरसागर', वेंकटेश्वर प्रेस, द्वितीय सस्करण, 'निवेदन', पृ० १।

सूर-काव्य के उक्त दोनो सस्करणो[99] के आधार पर 'सूरसागर' के दो सक्षिप्त सस्करण भी प्रकाशित किये गये। एक का सपादन प्रयाग विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग के तत्कालीन प्रोफेसर डा० वेनीप्रसाद ने सन् १९२२ मे किया जिसके दूसरे सस्करण का सशोधन डा० धीरेन्द्र वर्मा ने १९२६ मे और तीसरे का डा० रामकुमार वर्मा ने १९३३ मे किया था। दूसरा सक्षिप्त सस्करण श्री वियोगी हरि जी के सपादकत्व मे हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित किया गया। इन दोनो मे सूरदास जी के चुने हुए सुन्दर पद सकलित हैं जिनसे कवि की काव्य-कला के अध्ययन मे और विविध विषयो के छोटे-छोटे संग्रहो के प्रकाशन मे सहायता मिलती रही है, परन्तु प्राचीन व्रजभाषा-रूप और सामान्य सपादन-सिद्धात निश्चित न होने के कारण दोनो के पाठो मे बहुत अतर हैं। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियो से पाठ का मिलान करने के साधन बवई और लखनऊ के सस्करणो के प्रकाशन-काल मे तो सुलभ नही थे, परन्तु इन सक्षप्ति सस्करणो के सपादको ने भी, सभवत समयाभाव के कारण, प्राप्त और उपलब्ध सामग्री से पूरा-पूरा लाभ नही उठाया जिससे प्रामाणिक पाठ और भाषा के सर्वसम्मत रूप की समस्या पूर्ववत् बनी रही।

'बिहारी-सतसई' का श्री जगन्नाथदास 'रत्नकार' द्वारा सपादित सस्करण जब प्रकाश मे आया तब सभी विद्वानो ने मुक्तकठ से उसकी प्रशसा की। सभवत इसी से प्रोत्साहित होकर 'रत्नकार' जी ने 'सूरसागर' के प्रामाणिक सस्करण का अभाव दूर करने का निश्चय किया था। बिहारी-रत्नाकर' के सपादन का प्रयास तो बहुत-कुछ व्यक्तिगत रूप मे किया गया था, परन्तु 'सूरसागर' के कार्य मे श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने नागरी-प्रचारिणी सभा का सहयोग स्वीकार कर लिया और स्वय भी 'सूरसागर' की लगभग एक दरजन हस्तलिखित प्रतियो[1] का सग्रह करने मे बहुत धन व्यय किया। कई वर्षों के परिश्रम से सूरदास के समस्त पदो की अकारक्रम से सूची बनाकर विभिन्न हस्तलिखित प्रतियो से उनका पाठ मिलाते हुए 'सूरसागर' के तीन चौथाई अश का सपादन उन्होने कर लिया। नागरी-प्रचाणिणी सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' के निवेदन के अनुसार, 'पाठ-शुद्धि के अन्तर्गत छदो का सशोधन, चरणो का क्रम-निरूपण तथा

---

९९ लखनऊ और बवई से प्रकाशित सस्करण के अतिरिक्त प० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनन्दन ग्रथ' मे प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका रूप" शीर्षक लेख (पृ० १२९-३०) मे आगरा, कलकत्ता, काशी, जयपुर और मथुरा से प्रकाशित 'सूरसागर' की कुछ प्रतियो का उल्लेख किया है। उनमे अधिकाश लीथो की छपी हैं। दिल्ली और मथुरा की प्रतियो का प्रकाशन वर्ष उन्होने सन् १८६० दिया है। इस प्रकार वे लखनऊ की प्रति से भी पहले की छपी बतायी गयी हैं—लेखक।

१ जिन प्रतियो का उपयोग इस सस्करण के तैयार करने मे किया गया था, वे सब अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ही थीं, सत्रहवीं शताब्दी या उससे पहले की नहीं—'व्रजभारती', वर्ष ९, अक १, पृ० ८।

पद-प्रयोगो की निश्चित पद्धति का अनुसरण आदि सपादन-सम्बन्धी आवश्यक अग पूरे हो गये थे, परन्तु अभी शेप चतुर्थांश का सकलन करने के अतिरिक्त अनेक पाठो मे से सवसे सुन्दर और उपयुक्त पाठ चुनकर रखना तथा सपूर्ण सपादित अश को अतिम रूप देना बाकी रह गया था कि कराल काल ने उन्हे कवलित कर लिया[२]। सभा को जव यह सारी सामग्री प्राप्त हो गयी तव उसने इसके प्रकाशन का निश्चय किया और इसे समाप्त करने का भार मुशी अजमेरी जी को सौंपा। कुछ समय पश्चात्, उनके कार्य से विरत हो जाने पर सर्वश्री अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', रामचद्र शुक्ल, केशवराम मिश्र, सभा के प्रकाशन मत्री और नन्ददुलारे वाजपेयी की एक समिति वनायी गयी जिसके तत्वावधान मे वाजपेयी जी ने लगभग चार वर्षो मे उक्त कार्य को पूरा किया। ऐसे परिश्रम से सपादित ग्रथ रत्न को नागरी-प्रचारिणी सभा वड़े उत्साह से राज-सस्करण के रूप में सुन्दर और आकर्षक ढंग से प्रकाशित करना चाहती थी; परन्तु आठ खड छपने के पश्चात् अनेक कारणो मे यह योजना स्थगित कर देनी पडी और सीधे-सादे ढग से दो वडे भागो मे सपूर्ण 'सूरसागर' प्रकाशित कर दिया गया। अव तक प्रकाशित इस ग्रंथ के सभी सस्करणो मे सपादन की वैज्ञानिक रीति का निर्वाह वहुत अश मे सभा द्वारा प्रकाशित इसी संस्करण मे किया गया है, यद्यपि शव्द-रूप-सम्वन्वी जिस निश्चित नीति के आधार पर यह कार्य सपन्न हुआ है, उससे सभी विद्वान पूर्णत सहमत नही हैं।

'रत्नाकर' जी के अतिरिक्त दो-एक अन्य विद्वान भी 'सूरसागर' के सपादन मे लगे थे जिनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं मथुरा के श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी। सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करने के लिए उन्होने दूर-दूर के स्थानो की कई यात्राएँ की थी और उन्हे 'सूरसागर' की कुछ प्राचीन प्रतियाँ मिली भी थी जिनमे एक कदाचित् सत्रहवी शताव्दी की भी है। चतुर्वेदी जी ने कार्य तो वहुत ठीक ढग से आरम्भ किया था, परन्तु वाद मे, सभवत. व्यक्तिगत कठिनाइयो और सामूहिक सहयोग के अभाव के कारण, वह असमाप्त रह गया, यद्यपि अव भी वे इसको समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है।

ख. सूर-सारावली—

यह ग्रंथ लखनऊ और वम्वई के 'सूरसागरो के आरभ मे प्रकाशित है। लखनऊ के संस्करण मे तो कोई भूमिका है नही, ववई की प्रति मे भी इस वात का उल्लेख नही है कि वावू राधाकृष्णदास ने किन किन प्राचीन प्रतियो के आधार पर उसका सपादन किया था। शोध-कार्य के विवरणो की जो सूची पीछे दी गयी है, उनमे से किसी मे भी 'सूर-सारावली' की कोई प्राचीन प्रति मिलने का उल्लेख नही है। इधर 'सूरसागर' के साथ-साथ भी 'सारावली' का स्वतत्र रूप से सपादन किसी आधुनिक विद्वान ने सभवत अभी तक नही किया है[३]।

---

२. 'सूरसागर' (राजसकरण), नागरी प्रचारिणी सभा, 'वक्तव्य', पृ० १।

३ प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने लखनऊ और वंबई के 'सूरसागरों' के आरम्भ मे प्रकाशित सूरसारावलियों' के आधार पर इसे स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करा दिया है।

ग .साहित्यलहरी—

इस ग्रथ का 'साहित्यलहरी' नाम से सर्वप्रथम सकलन-सपादन भारतेदु बाबू हरिश्चद्र ने किया था। उनके स्वर्गवास के सात-आठ वर्ष पश्चात् सन् १८९२ मे उसका प्रकाशन बाँकीपुर (पटना) के बाबू रामदीनसिंह ने किया। इस सस्करण के अत मे सूरदास जी का लबा जीवनचरित दिया हुआ है , परतु उसमे यह उल्लेख नही है कि उन्होने किस प्राचीन प्रति के आधार पर उक्त ग्रथ का सपादन किया था। उनके सस्करण के मुखपृष्ठ पर लिखा हुआ 'सगृहीत' शब्द इस बात की ओर सकेत करता है कि 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियो से ही उन्होने इसके पद सकलित किये होगे। परतु वास्तव मे ऐसी बात नहीं है। कारण, भारतेंदु जी के एक प्रकार से समकालीन सरदार कवि (कविता-काल सन् १८४५ से १८८३) की 'सूर के दृष्टकूटो की टीका' उनके सामने अवश्य रही होगी और उसका उन्होने पूरा-पूरा उपयोग भी किया होगा। 'साहित्यलहरी' के उक्त सस्करण मे ११८ पदो की टीका समाप्त करने के पश्चात् लिखा है—'इति श्री कूट पद सूरदास टीका सयुक्त सपूर्णम्'[४]। इसके पश्चात् ४९ पदो की टीका 'उपसहार अक्षर क' के अतर्गत है जिसके आरभ मे यह वक्तव्य है—'इस टीका के सिवाय और भी कुछ भजनो का अर्थ सरदार कवि ने लिखा है, वह मूल अर्थ समेत नीचे प्रकाशित किया जाता है'[५]। इसके अनतर 'उपसहार अक्षर ख' के अतर्गत ४ पद और दिये हुए हैं और इनके आरभ मे 'बाबू चडीप्रसादसिंह सगृहीत'[६] लिखा हुआ है जिससे स्पष्ट है कि ये ४ पद सरदार कवि की प्रति मे नही होगे। 'साहित्यलहरी' का जो नया सस्करण पुस्तक भडार, लहरियासराय से प्रकाशित हुआ, उसमे खड्गविलास प्रेस के ही पद हैं। इसके टीकाकार श्री महादेवप्रसाद ने एक 'व्रजभाषा टीका' के प्रकाशित होने की बात लिखी है[७], परन्तु उसका विशेष विवरण नही दिया है। अनुमान होता है कि उनका आशय सरदार कवि की टीका से ही रहा होगा।

अब प्रश्न यह है कि 'मुनि पुनि रसन के रस लेष' से आरम्भ होनेवाले पद की अतिम पक्ति 'नदनदनदास हित साहित्यलहरी कीन'[८] के आधार पर जब प्राय सभी

---

४ 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चद्र सगृहीत), प्रथम सस्करण, सन् १८९२, पृ० ११७।

५. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चद्र सगृहीत), प्रथम सस्करण, सन् १८९२, पृ० ११८।

६ 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चद्र सगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० १६१।

७ 'साहित्यलहरी', (पुस्तक-भडार) प्रथम सस्करण, सन् १८३९, 'वक्तव्य', पृ० ९।

८ 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चद्र सगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पद १०९, पृ० १०१-१०२।

विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि सूरदास के समय मे ही 'साहित्यलहरी' के पदों का संकलन हो गया था, तब उसकी कोई प्राचीन सपूर्ण प्रति क्यो नही मिलती ? पीछे 'सूरदास जी के दृष्टकूट', 'सूर-शतक सटीक' अथवा 'गूढार्थ पदावली' नाम से सूरदास-कृत कूटपदो के जो संग्रह मिलते है, क्या उनको ही कवि द्वारा संगृहीत 'साहित्यलहरी' का मूल रूप माना जाय ? इन प्रश्नो का निश्चयात्मक उत्तर नही दिया जा सकता और अनुमान यही होता है कि साहित्यलहरी' जिस रूप मे आज उपलब्ध है वह कवि सूर द्वारा सकलित नही हो सकती, अधिक से अधिक उन्होने केवल ११८ पदो का सकलन किया या कराया होगा जो प्राचीन 'शतको' मे मिलते है।

सूरदास के प्रामाणिक ग्रथ—

सूरदास के नाम से प्राप्त प्रकाशित-अप्रकाशित जिन ग्रथो की चर्चा पीछे की गयी है अथवा जिनका नामोल्लेख भर किया गया है, वे अकारक्रम से इस प्रकार हैं—

क्रम सख्या	काव्य का नाम	प्रकाशित-अप्रकाशित
१	एकादशी माहात्म्य	अप्रकाशित
२	कबीर (सूर-कृत)	अप्रकाशित
३	गोवर्द्धन-लीला	अप्रकाशित
४	दशमस्कध-भापा	अप्रकाशित
५	दान-लीला	अप्रकाशित
६	नल-दमयती	अप्रकाशित
७	नाग-लीला	अप्रकाशित
८	पद-सग्रह या पदावली (सूर-कृत)	अप्रकाशित
९	प्राण-प्यारी	अप्रकाशित
१०	भँवरगीत	प्रकाशित
११	भागवतभापा	अप्रकाशित
१२	मान-लीला या मानसागर	अप्रकाशित
१३	राधा-रस-केलि-कौतुहल	प्रकाशित
१४	राम-जन्म	अप्रकाशित
१५	व्याहलो	अप्रकाशित
१६	साहित्यलहरी	प्रकाशित
१७	सूर-पचीसी	प्रकाशित
१८	सूर-रामायण	प्रकाशित
१९	सूर-साठी	प्रकाशित
२०	सूर-सारावली	प्रकाशित
२१	सूर-शतक	अप्रकाशित
२२	सूर-सागर	प्रकाशित

२३	सूर-सागर-सार	अप्रकाशित
२४	सेवाफल	अप्रकाशित
२५	हरिवश-टीका	अप्रकाशित

इनमे से 'गोवर्द्धन-लीला', 'दशमस्कध भाषा', 'दान-लीला', 'नाग-लीला', 'पद-सग्रह' या 'पदावली', 'भँवरगीत', 'भागवत-भाषा', 'मान-लीला' या 'मानसागर' अथवा 'राधा-रस-केलि-कौतूहल'[९], 'ब्याहलो', 'सूर-पचीसी', 'सूर-रामायण', 'सूर-साठी', 'सूर-शतक', 'सूर-सागर-सार', और 'सेवाफल' नामक ग्रथ 'सूर-सागर' अथवा 'साहित्य-लहरी' से सकलित उनके अश मात्र है। 'एकादशी-माहात्म्य', 'नल-दमयती', 'राम-जन्म', और 'हरिवश-टीका' सूर की अप्रामाणिक रचनाएँ हैं[१०]। 'प्राण-प्यारी' उनकी सदिग्ध-रचना मानी जाती है[११]। 'सूरसागर' तो उनकी सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है, परन्तु 'साहित्यलहरी' और 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। मिश्रबन्धु[१२], प० रामचद्र शुक्ल[१३], डा० दीनदयाल गुप्त[१४], और प० नददुलारे वाजपेयी[१५] तथा कुछ अन्य विद्वान[१६] 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' को सूरदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं, परन्तु डा० व्रजेश्वर वर्मा इनसे सहमत नही हैं[१७]।

सूर-कृत ग्रंथो के प्रामाणिक-संस्करणों की आवश्यकता अब भी है—

'सूरसागर', 'साहित्यलहरी' और 'सूर-सारावली' के प्रकाशित सस्करणो की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'सूरसागर' के सपादन मे 'रत्नाकर' जी ने विशेष परिश्रम किया था, फिर भी उसके पाठ और तत्सबधी सिद्धातो से सभी विद्वान सहमत नही हैं। इधर 'सूरसागर' की अनेक पूर्ण-अपूर्ण प्रतियो का और भी पता लगा है जिनका विवरण पीछे दिया गया है। इस सबके आधार पर व्यक्ति-विशेष द्वारा नही, व्रजभाषा-विशेषज्ञो की समिति द्वारा जब 'सूरसागर' का सपादन किया जायगा, तभी उससे सबको सतोष हो सकेगा। इस कार्य के सपादन मे तीन प्रकार की—प्रामाणिक ग्रथ-निर्णय, पाठ-निर्णय

---

९ डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'मानलीला', 'मानसागर' और 'राधा-रस-केलि-कौतूहल'—एक ही ग्रंथ के तीन नाम हैं—'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

१० 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

११ 'अष्टछाप और 'वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

१२ 'हिंदी-नवरत्न', चतुर्थ सस्करण, पृ० २३२।

१३ 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० १९४-९५।

१४ 'अष्टछाप और वल्लभ-सप्रदाय', प्रथम-भाग, पृ० २७८ और २९८।

१५. 'महाकवि सूरदास', पृ० ६१-६२।

१६. (क) श्री पारीख और मीतल, 'सूर-निर्णय', पृ० १४३ और १५२।
(ख) डा० वेनीप्रसाद, 'सक्षिप्त सूरसागर', 'भूमिका', पृ० ९।

१७. 'सूरदास', द्वितीय सस्करण, पृ० ५०।

और क्रम-निर्णय की—कठिनाइयाँ हैं। इनमे से द्वितीय के अतर्गत पद-संख्या-निर्णय की और तृतीय के अंतर्गत 'सूरसागर' के सग्रहात्मक अथवा द्वादश स्कधात्मक रूप-निर्णय की समस्याएँ भी आ जाती है। प्रामाणिक ग्रथ-निर्णय मे 'सारावली' की प्रामाणिकता का प्रश्न कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण है। इस सबध मे प्रस्तुत पक्तियो के लेखक के विचार स्वतत्र रूप से प्रकाशित 'सारावली' की भूमिका मे देखे जा सकते है। पद-सख्या-समस्या के सबध मे यहाँ केवल इतना सकेत करना पर्याप्त जान पडता है कि सूरदास ने सहस्रावधि या लक्षाधिक पदो की रचना की, ऐसा कभी-कभी कहा गया है। वस्तुत इस उल्लेख से सूर के पदो की निश्चित सख्या नही समझनी चाहिए, प्रत्युत ये शब्द हजारो या लाखो अथवा 'हजार या लाख से अधिक' के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं।

'सूरसागर' के क्रम-निर्णय का प्रसग उठाने के पूर्व उसके सपादको को यह निश्चित करना है कि उसका सग्रहात्मक रूप प्रामाणिक है अथवा स्कधात्मक।

नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' सग्रहात्मक है जो नित्य-कीर्तन, बधाई, बाल-लीला, (माटी भक्षण), माखन-चोरी, दामोदर लीला, अघासुर-वध, वत्स-हरण-लीला, राधा-कृष्ण प्रथम मिलन, गोवर्धन लीला, गोचारण-लीला, काली-दमन लीला, दावानल-पान लीला, गोदोहन लीला, स्याम भुवंग-डसन लीला, वस्त्रहरण लीला पनघट-लीला, दान-लीला, अनुराग लीला, मुरली के पद, रासलीला, विनय के पद, मथुरा-गमन-लीला और भ्रमरगीत सबधी पद आदि मुख्य शीर्षको मे विभाजित है और इनमे से कुछ के पुनः उपशीर्षक दिये गये हैं। इस सस्करण का सपादन अयोध्या के महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की देखरेख मे प० कालीचरण ने किया था। इस सस्करण के सग्रहात्मक होने का मुख्य कारण है श्री कृष्णानद व्यास के 'रागकल्पद्रुम' को आधार-रूप मे स्वीकार किया जाना। बबई और काशी से प्रकाशित 'सूरसागर' स्कधात्मक है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ दोनो रूपो की मिलती है।

उक्त विवादग्रस्त विषय के सबध मे प्रस्तुत पक्तियो के लेखक का मत है कि 'सूरसागर' अपने मूल रूप मे 'सग्रहात्मक' रहा होगा और श्रीकृष्ण-लीला के प्रसगो को लेकर रचे गये पद एक साथ ही सगृहीत रहे होगे। यह क्रम वल्लभसंप्रदाय मे कवि के प्रवेश के बाद पचीस-तीस वर्षों तक चलता रहा होगा। पश्चात्, सूरदास द्वारा रचित पदो को श्रीमद्भागवत के क्रम से व्यवस्थित करके, छूटे हुए प्रसंगो को उसमे सम्मिलित करने का सुझाव सूरदास के सामने उपस्थित किया होगा। यह सुझाव सभी दृष्टियो मे उपयुक्त था और कवि की काव्य-प्रतिभा से परिचित सभी व्यक्तियो ने मुक्तकठ से उसका समर्थ ही नही किया, उसकी उपयुक्तता की प्रससा भी की। भक्त कवि सूरदास का तो इसमे दोहरा लाभ था—इष्टदेव के लीला-गान के साथ-साथ सप्रदाय मे मान्य धर्मग्रथ की कथाओ की भाषा मे रचना का पुण्य भी प्राप्त करना। फलत उन्होंने सहर्ष ही उक्त सुझाव के अनुसार पद-रचना आरभ कर दी। इस प्रकार 'सूरसागर' का मूल रूप संग्रहात्मक था और उस रूप मे सूरदास के इष्टदेव की लीला के चुने हुए प्रसगों पर लिखे पद ही थे, यह सग्रहात्मक रूप कवि के रचना-काल के पूर्वार्द्ध की कृति थी।

इस पूर्वार्द्ध काल के अत तक सूर काव्य की जितनी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयी वे सब, और कालातर मे उन प्रतियो से पुन लिखी गयी सभी प्रतिलिपियाँ सग्रहात्मक हैं।

कवि के जीवन के अतिम चतुर्थांश मे 'सूरसागर' के सग्रहात्मक रूप को श्रीमद्-भागवत के क्रमानुसार रूप दिया गया। यह कार्य सूरदास के मित्रो या शिष्यो द्वारा सपन्न हुआ, कवि का योग इसमे इतना ही था कि छूटे हुए प्रमुख प्रसगो का वर्णन उसने चलताऊ ढग से करके क्रम का निर्वाह भर कर दिया। सूर-काव्य का यह अश बहुत साधारण है और उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है कि कवि ने सरुचि नहीं, केवल कहने को वह अश रचा था। 'सूरसागर' का यह रूप स्कधात्मक था और इसकी प्रतियाँ उसी रूप मे आज प्राप्त हैं।

एक शका यहाँ यह उठायी जा सकती है कि 'सूरसागर' का सग्रहात्मक से स्कधात्मक रूप परिवर्तन एक महत्वपूर्ण घटना थी, तब समकालीन साहित्य या वार्ताओ मे उसकी चर्चा क्यो नही की गयी है? इसका समाधान करना कठिन नही है। वल्लभाचार्य, उनके पुत्र अथवा सप्रदाय के जिन अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियो की सूरदास के काव्य मे रुचि थी, वे नित्य कीर्तन, वर्षोत्सव और लीला गान-सबधी स्फुट सकलनो में प्राप्त उनके चुने हुए पदो से सतुष्ट रहते होगे, 'सूरसागर' के स्वरूप का प्रश्न सूरदास के अतरग मित्रो और शिष्यो के बीच प्रसगवश उठा होगा जिसे सूरदास ने मान तो लिया, परतु विशेष महत्व नही दिया, अन्यथा वह रचना इतनी साधारण न होती। यही कारण है कि समकालीन साहित्य मे तद्विषयक कोई उल्लेख नही मिलता। दूसरी बात यह कि वस्तुत: समकालीन साहित्य मे सूरदास की प्रामाणिक जीवनी देने का कही प्रयत्न नही किया गया है, अन्यथा उनकी 'अधता' आज एक विवादग्रस्त बात न होती। तीसरे, समस्त सूर-साहित्य गेय काव्य के रूप मे प्रस्तुत और ग्रहण किया गया था, पारायण-काव्य के रूप मे नही जिससे उसके क्रम या स्वरूप को विशेष महत्व दिया जाता। वार्ताओ मे भी तत्सबधी उल्लेख न मिलने का कारण यही है कि उनमे भक्तो की गुण-चर्चा, भक्ति-महिमा आदि की गाथा है, व्यक्तिगत प्रसगो का सकलन नही।

'साहित्यलहरी' के जो दो सस्करण बाँकीपुर और लहरियासराय से प्रकाशित हुए थे, उनमें प्रथम तो अप्राप्य है और दूसरे मे पदो का सकलन मात्र है, उनके सपादन का कोई प्रयत्न नही किया गया है। अब 'सूरसागर' का एक प्रकार से सपूर्ण सस्करण प्रकाश मे आ गया है, अतएव आवश्यकता है कि सभी कूट पदो का उसमे से सग्रह करके, विषयक्रमानुसार उनका वर्गीकरण करने के पश्चात् यह ग्रथ सपूर्ण कर दिया जाय। इससे तो प्राय सभी विद्वान सहमत हैं कि 'साहित्यलहरी' दृष्टकूट पदो का सकलन है। अतएव सूरदास के सभी कूट-पद एक स्थान पर सकलित कर देने की योजना किसी भी दृष्टि से अनुचित नही कही जा सकती, विशेषकर उस स्थिति मे जबकि कवि द्वारा सगृहीत इस ग्रथ की कोई प्राचीन प्रति आज उपलब्ध नही है।

'सूरसारावली' लखनऊ और बबई मे प्रकाशित 'सूरसागरो' के आरभ मे छपी हुई

है, स्वतत्र रूप से, जहाँ तक इन पक्तियो के लेखक को ज्ञात है, इस ग्रंथ का कोई सस्करण प्रकाश मे नही आया है। इस कार्य की वास्तविक संपन्नता प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो की प्राप्ति पर ही निर्भर है। 'साहित्यलहरी' के पद तो 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियो और सूरदास के स्फुट पद-सग्रहो मे मिल भी जाते है, परतु 'सारावली' की कोई प्राचीन प्रति अभी तक प्राप्त नही हुई है जिसके कारण ही उसे सूर-कृत मानने मे कुछ विद्वानो को आपत्ति है। इन पक्तियो के लेखक को, इस ग्रथ की प्राचीन प्रति न मिलने के कारण, अभी निराश होने की आवश्यकता नही जान पडती। एक तो अभी खोजकार्य ही अल्प हुआ है और दूसरे, 'सारावली' की जो प्रतियाँ दोनो 'सूरसागरो' के साथ मुद्रित हैं, किसी प्राचीन प्रति के आधार पर ही सकलित हुई होगी जो आज उपलब्ध नही है।

सूर-साहित्य-संबधी कई आलोचनात्मक प्रबध इधर प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे उस महाकवि के काव्य मे विद्वानो की बढती हुई रुचि का पता चलता है। फिर भी, इन पक्तियो के लेखक की सम्मति मे, सूर साहित्य और सूर की काव्य-कला का समुचित अध्ययन अभी नही हो सका है। प्रामाणिक सस्करण का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण है। हिंदी के प्राचीन साहित्य के अनुसधान-प्रेमी अध्येता इस पुनीत कार्य मे स्वांत सुखाय संलग्न होगे तभी सूर-काव्य का प्रामाणिक संस्करण प्रकाश मे आ सकेगा और तभी उसका सम्यक् मूल्याकन सभव हो सकेगा।

नामानुक्रमणिका

(क) लेखक

नामानुक्रमणिका

(क) लेखक

(ख) ग्रंथ

(ग) अभिनंदन-ग्रंथ, कोश, खोज-विवरण, ग्रंथ-सूची और पत्र-पत्रिकाएँ।

समाप्त